RAJNITI SHASTRA KE MOOL SIDDHANT

by

Yogendra Mallik

Rs 12.00

प्रकाशक
रामलाल पुरी
संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६
चौड़ा रास्ता, जयपुर
माई हीरां गेट, जालन्धर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
हौज़ खास, नई दिल्ली

मूल्य रुपए १२.००

मुद्रक
सत्य पाल धवन
दी सेण्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस
८०-डी, कमला नगर
दिल्ली-६

विषय-सूची

द्वितीय संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम संस्करण का विद्यार्थी वर्ग व विद्वान अध्यापकवर्ग मे पर्याप्त स्वागत हुआ । विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे विद्वान आलोचको ने पुस्तक की प्रशसा कर मेरे उत्साह को द्विगणित किया । प्रस्तुत सस्करण मे मैं ने विभिन्न सुझावो के अनुसार इधर-उधर थोडा-बहुत परिवर्तन किया है। प्रथम सस्करण मे स्वायत्त शासन पर कुछ नही लिखा गया था लेकिन इस नए सस्करण मे इस विषय पर एक नया अध्याय जोड दिया गया है । मैंने प्रयत्न किया है कि जहाँ कहीं भाषा कठिन थी उसे बदल कर सरल कर दिया जाए । कुछेक अग्रेजी के पारिभाषिक शब्दो को ज्यो का त्यो अपना लिया गया है । वस्तुत ये शब्द हमारे यहाँ काफी प्रचलित हो चुके है, इन्हे अपनी भाषा से निकालना व इनके स्थान पर नए भारी भरकम शब्द बनाना मुझे ठीक नही जचा । शिक्षा मन्त्रालय द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावलि का प्रयोग भी यथासम्भव किया गया है ।

आशा है प्रस्तुत पुस्तक विभिन्न विश्व-विद्यालयो के त्रि-वर्षीय डिग्री कोर्स के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी । यह पुस्तक उनके नए पाठ्यक्रम के अनुसार ही है । मैंने पुस्तक की सामग्री को नहीं घटाया क्योकि मेरा विश्वास है कि विद्यार्थियो द्वारा राजनीति शास्त्र के सम्यक अध्ययन के लिए इतनी विषय वस्तु का होना आवश्यक ही है ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रथम-सस्करण की तरह पुस्तक के द्वितीय संस्करण का भी विद्यार्थियो द्वारा तथा विद्वान अध्यापको द्वारा स्वागत किया जाएगा ।

१६ एम० राजौरी गार्डन,
नई दिल्ली

—योगेन्द्र मल्लिक

निवेदन

हिन्दी मे राजनीति शास्त्र इत्यादि विषयो पर उच्च श्रेणी की पाठ्य-पुस्तको का अभाव है । विश्वविद्यालयो मे हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने के अनन्तर इस अभाव को और भी अधिक अनुभव किया गया । यह पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति की दिशा मे एक प्रयास है ।

विभिन्न विश्वविद्यालयो की बी० ए० कक्षा के विद्यार्थियो की आवश्यकताओं को सामने रख इस पुस्तक की रचना की गई है । मैंने यह प्रयत्न किया है कि इस पुस्तक द्वारा हिन्दी मे राजनीति शास्त्र का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी गम्भीर से गम्भीर राजनीतिक सिद्धान्तो का सरलतापूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकें । अपने अध्यापनकाल मे विद्यार्थियों की जिन आवश्यकताओ को मैंने अनुभव किया उन्हे पूरा करने की जहाँ

भरसक कोशिश की गई है। विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तो का इतिहास बतला उनकी आलोचना भी साथ-साथ दे दी है। अनेक स्थानो पर गम्भीर विषय को सरल बनाने के लिए अपने देश की तथा अन्य देशो की व्यावहारिक राजनीति के अनेक उदाहरण भी दिये गये हैं। विद्यार्थियो की सुविधा के लिए प्रत्येक अध्याय के अन्त मे विभिन्न विश्वविद्यालयो के प्रश्न दिये गये है और साथ ही उनके उत्तर का निर्देश भी कर दिया गया है।

मैंने इस पुस्तक को लिखते हुए अंग्रेजी भाषा की इस विषय की उच्च श्रेणी की अनेक पुस्तको से पर्याप्त सहायता ली है। मैं उन सभी के लेखकों के प्रति कृतज्ञ हूँ।

दो शब्द पुस्तक की भाषा के विषय मे भी कह देना उचित होगा। राजनीति शास्त्र की विषयवस्तु की गम्भीरता के बावजूद भी मैंने भाषा को सरल रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है। अभी हिन्दी मे बहुत से पारिभाषिक शब्द, जो प्रचलित नही हो पाये, विद्यार्थियो तथा अध्यापकों की सुविधा के लिए, उनके अँग्रेजी पर्याय के साथ-साथ दे दिये हैं। सर्वसम्मत पारिभाषिक शब्दो के अभाव मे एक ही शब्द के लिए कुछ स्थानो पर दो-एक विभिन्न शब्द भी इस्तेमाल किये गये है। राजनीति शास्त्र तथा राजनीति विज्ञान को मैंने एक ही अर्थ मे प्रयुक्त किया है।

आशा है यह पुस्तक केवल विद्यार्थियो के लिए ही नही बल्कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन के इच्छुक जनसाधारण के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी। अगर ऐसा हो सका तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूंगा।

पुस्तक की उपयोगिता बढाने के सभी प्रकार के सुझावो को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया जायगा।

पुस्तक को लिखते हुए मुझे अपने मित्रो, प्रियजनो तथा सहयोगियो से पर्याप्त सहायता तथा प्रेरणा मिली है। प्रो० वी० आर० देशपाण्डे तथा प्रो० रामरत्न दुग्गल का मैं विशेष आभारी हूँ उन्होने पुस्तक की विषयवस्तु तथा भाषा सम्बन्धी अनेक सुझाव दिये। प्रो० रामपाल विद्यालकार ने तो सम्पूर्ण पाण्डु लिपि का पर्यालोचन किया और मेरी अनेक प्रकार मे सहायता की, परन्तु वह तो मेरे कुछ इतने निकट है कि उनको धन्यवाद देते हुए भी सकोच अनुभव करता हूँ। विगत वर्ष की बी० ए० कक्षा की छात्राओं का आभार न प्रदर्शित करना भी कृतघ्नता होगी। उन्होंने अपनी वार्षिक परीक्षा की सन्निकटता के बावजूद भी समय निकालकर पुस्तक की प्रेस-कापी तैयार की।

आत्माराम एण्ड सस के उदारमना सचालक श्री रामलाल पुरी के सौजन्य को भी नही भुलाया जा सकता। अपनी प्रथम पुस्तक 'साहित्य-विवेचन' के प्रकाशन के अनन्तर मैं उनके सम्पर्क मे आया और तभी से उन्होने मुझे राजनीति शास्त्र इत्यादि विषयो पर लिखने को प्रोत्साहित किया। इस पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय उन्ही को है।

१९ एम, राजौरी गार्डन
नई दिल्ली

—योगेन्द्र मल्लिक

विषय-प्रवेश

१. हमारे सामाजिक सम्बन्ध और उनका अध्ययन

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह एक आधारभूत वैज्ञानिक सत्य है। समाज से परे या समाज से बाहर हमारे जीवन का कोई मूल्य नही। अपनी सामाजिक प्रकृति की समुचित अभिव्यक्ति के अर्थ वह अनेक सामाजिक सस्थाओ का, अनेक सामाजिक विधि-निपेधो का और अनेक सामाजिक समुदायो का निर्माण करता है। मित्र-मण्डली, परिवार, गाँव, विद्यालय, राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन, बिरादरी, जन या कबीला इत्यादि न जाने कितने ऐसे समुदाय हैं जो उसकी सामाजिक प्रकृति का अभिव्यक्तिकरण है। यही उसके सामाजिक सम्बन्धो का स्वरूप है। इन्हीं सम्बन्धो के समूह को हम समाज कहते हैं।[1] यही सम्बन्ध सामाजिक वातावरण का निर्माण करते हैं और इसी आवेष्टन मे ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। हिन्दी का व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी के Personality शब्द का रूपान्तर है। सामाजिक मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व—यानी उसके विचार—नैतिक तथा बौद्धिक—उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण, स्वभाव इत्यादि तथा सामाजिक चेतना (Social consciousness) उसके सामाजिक आवेष्टन का परिणाम हैं। व्यक्तित्व के मूल मे प्राप्त मानसिक असन्तुलन तथा अस्वास्थ्य (Personality disorganisation) इत्यादि सामाजिक संस्कृति के मूल मे अवस्थित पारस्परिक विरोधो का प्रतिफलन है। यह ठीक है कि व्यक्ति के जीवन के व्यष्टि और समष्टि दोनो ही रूप हैं, परन्तु व्यष्टि के आधारस्वरूप अह (Self) का विकास समाज मे ही सम्भव है, समाज के बाहर नही।

हमारे व्यक्तित्व का आधारभूत यह सामाजिक जीवन वैविध्य-सम्पन्न है, वह बहुपक्षीय है। उसमे पर्याप्त जटिलता है। समाज मे जहाँ एक ओर तो सीधे-सादे समुदाय (Simple Groups) है वहाँ दूसरी ओर अनेक प्रकार से विकसित और जटिल समूह (Complex Groups) भी हैं जो कि हमारी दैनिक जिन्दगी मे गौण (Secondary) हैं परन्तु सामाजिक जीवन मे मुख्य हैं। वस्तुत वे सामाजिक जीवन के विकास, उसके निर्माण और नियन्त्रण का मुख्य आधार हैं। हमारा यह बहुपक्षीय सामाजिक जीवन ही हमारे विभिन्न सामाजिक विज्ञानो की विषय-वस्तु है। विषय-वस्तु की दृष्टि से हम विज्ञानो का वर्गीकरण प्राकृतिक विज्ञान और

---

1 "Society is web of social relationships"—*MacIver*

सामाजिक विज्ञान के रूप मे कर सकते हैं। प्राकृतिक विज्ञान से हमारा तात्पर्य उन विज्ञानो से है जो कि हमारे भौतिक और वाह्य जीवन का अध्ययन करते है, जिनकी मुख्य विषय-वस्तु प्रकृति या भौतिक जीवन (Material life) है। भौतिक विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, रसायनशास्त्र इत्यादि ऐसे ही विज्ञान हैं।

दूसरी ओर सामाजिक विज्ञान विज्ञानो का वह वर्ग है जो कि हमारे सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धो का अध्ययन करता है। जैसा कि हम पीछे भी संकेत कर आये है कि हमारे सामाजिक जीवन के विविध रूप हैं, उसके विविध पक्ष है। इन पक्षो का विभिन्न सामाजिक विज्ञानो द्वारा अध्ययन किया जाता है। समाज मे रहते हुए हम विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध दूसरे सामाजिक प्राणियो से स्थापित करते हैं। जब हम एक परिवार के सदस्य है या जब हम किसी विशेष समुदाय के सदस्य है और उस समुदाय की सदस्यता के परिणामस्वरूप हम अपने सामाजिक जीवन के कर्त्तव्य पूर्ण कर रहे है तो हमारा जीवन समाज-विज्ञान (Sociology) के अध्ययन की विषय-वस्तु बन जाता है। समाज मे रहते हुए जब हम पाप और पुण्य, उचित और अनुचित, प्रगति और अप्रगति इत्यादि ऐसे विषयो का अध्ययन करते हुए अपने सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की मान-मर्यादा को निश्चित करते हैं तो हमारे अध्ययन का विषय नीतिशास्त्र कहलाता है। इसी प्रकार हमारे आर्थिक सम्बन्ध अर्थ-शास्त्र की विषय-वस्तु बन जाते है और जब हम अपने सामाजिक जीवन के विधि-निषेध, शासन-व्यवस्था, नगर-व्यवस्था, राज्य-विधान और दण्ड-व्यवस्था इत्यादि का अध्ययन करते है तो हमारा सीधा सम्बन्ध 'राज्य' से होता है और जो विज्ञान हमारे सामाजिक जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है वह राजनीति विज्ञान कहलाता है। इस प्रकार सभी सामाजिक विज्ञान मानव के सदा परिवर्तित और विकसित होते हुए सामाजिक जीवन के विविध पक्षो का अध्ययन करते है। वैविध्यसम्पन्न सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो का अध्ययन करने वाले सामाजिक विज्ञान ये है—समाज-विज्ञान (Sociology), अर्थशास्त्र (Economics), राजनीति विज्ञान (Political Science), इतिहास (History), नीतिशास्त्र (Ethics), मनोविज्ञान (Psychology) सामाजिक मनोविज्ञान इत्यादि।

प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान अपनी विषय-वस्तु में ही नही अपितु परिणाम और प्रकृति मे भी एक दूसरे से भिन्न है। प्राकृतिक विज्ञान हमारे वाह्य भौतिक जीवन का अध्ययन करते है और यह भौतिक जीवन बहुत ही कम परिवर्तित होता है, वह प्राय सदा एक-सा रहता है। उसमे निश्चयात्मकता (Exactness) होती है, जिसका हमारे सामाजिक जीवन मे अभाव होता है। अत प्राकृतिक विज्ञान के नियम (Laws) निश्चित और सर्वमान्य होते है। देश-काल की प्रकृतिके अनुसार उसमे परिवर्तन नही होता रहता। सापेक्षवाद का सिद्धान्त (Theory of Relativity) या गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त (Law of Gravitation) इत्यादि कुछ ऐसे ही प्राकृतिक विज्ञान के नियम है जो कि सर्वत्र और सर्वदा सत्य है।

परन्तु सामाजिक विज्ञान मे यह निश्चयात्मकता (Exactness) नही।

उसकी बहुत वडी वजह हमारी विषय-वस्तु है। सामाजिक विज्ञानो मे हम जिस विषय-वस्तु का अध्ययन करते हैं वह सदा परिवर्तनशील है। मनुष्य का जीवन वहुत जटिल है। उसकी क्रियाएँ अत्यन्त सूक्ष्म चित्तवृत्तियो द्वारा निर्धारित और चालित होती है। इन चित्तवृत्तियो पर सामाजिक वातावरण और भौगोलिक वातावरण का प्रभाव रहता है। इस प्रकार प्रथम तो मनुष्य की सूक्ष्म चित्तवृत्तियो की पकड वहुत कठिन है फिर उस पर वाह्य-परिस्थितियो का जो प्रभाव रहता है और उसके साथ उसके मानसिक जीवन मे जो परिवर्तन आते रहते हैं वे हमारी सम्पूर्ण अध्ययन-सामग्री को अत्यन्त जटिल वना देते हैं। परिणामस्वरूप हम सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन मे कोई अटल नियम नही वना सकते और न ही उसमे पर्याप्त निश्चयात्मकता ला सकते हैं।

२. राजनीति विज्ञान की विषय-वस्तु

हमारी सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम ही हमारा समाज है। जब हम मिलकर सामाजिक रूप मे—किसी एक प्रदेश मे रहते हैं तो पारस्परिक सम्बन्धो के नियमन के लिए कुछ विधि-विधानो का सृजन करते हैं। प्राचीन काल से ही यह विधि-विधान हमारे सामाजिक जीवन का नियमन करते आये हैं। कभी वे सामाजिक रीति-रिवाज के नाम से पुकारे जाते है तो कभी राजनीतिक कानून या विधि कहलाते है। इसी राजनीतिक विधि-विधान के लागू करने वाला राजनीतिक सगठन (Political organisation) सरकार (Government) कहलाता है जो कि राज्य का एक अभिन्न अग है। **एक निश्चित प्रदेश के भीतर कानून के लिए संगठित जनता को राज्य कहते हैं।**[1] **इस राज्य का विज्ञान ही राजनीति शास्त्र है।**

गार्नर ने राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु के विचार की विवेचना करते हुए लिखा है—"**राजनीति शास्त्र का आरम्भ और अन्त राज्य के ही साथ होता है। सामान्यतया उसकी आधारभूत समस्याओ मे तीन प्रकार की बातें सम्मिलित हैं—प्रथम, राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति का अनुसन्धान, दूसरी, राजनीतिक संस्थाओ के स्वरूप, उनके इतिहास तथा विभिन्न रूपो की विवेचना; और तृतीय इन दोनो के आधार पर राजनीतिक विकास के नियमो का यथासम्भव अनुमान।**"[2] इस प्रकार गार्नर ने राज्य के ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक और तुलनात्मक अध्ययन पर वल देते हुए राजनीतिक सगठन या सरकार के अध्ययन की ओर सकेत नही किया। वस्तुत. गार्नर

---

1 The state is a people organised for law within a definite territory —*Woodrow Wilson*

2 Political science begins and ends with the state In organised way its fundamental problems include, first, an investigation of the origin and the nature of the State, second, an enquiry into the nature, history and forms of political institution, and third, deduction therefrom, so far as possible, of the laws of Political growth and developments—*Garner*

केवलमात्र राज्य को ही राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-वस्तु समझना है। उसी के मत का समर्थन करते हुए जर्मन राजनीति शास्त्री ब्लशली के अनुसार, "राजनीति-शास्त्र उस विद्या को कहते हैं, जिसका सम्बन्ध राज्य के साथ हो और जो यह समझाने का यत्न करती हो कि राज्य के आधारभूत तत्त्व क्या हैं, वह अपने को किन विविध रूपों मे अभिव्यक्त करता है, और उसका विकास किस प्रकार हुआ।"

इसके विरुद्ध लीकाक ने राजनीति शास्त्र का उद्देश्य केवल सरकार (Government) का अध्ययन माना है। परन्तु राज्य की प्रकृति के समुचित अध्ययन के लिए राज्य और सरकार दोनो का ही अध्ययन आवश्यक है। राज्य और सरकार मे साध्य और साधन का सम्बन्ध है। राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति और प्रतिपालन के लिए सरकार पर आश्रित है। बिना राज्य के सरकार का जीवन असम्भव है। अत यह आवश्यक है कि राजनीति शास्त्र मे राज्य के साथ-साथ सरकार का भी अध्ययन किया जाय। इसीलिए राजनीति शास्त्र को राज्य और सरकार का दर्शन और विज्ञान कहते हैं। प्रो० लास्की, गिलक्राइस्ट, गेटल तथा पोलक इत्यादि राजनीति-विशारदो ने राजनीति के विस्तृत स्वरूप का समर्थन किया है।

सर फ्रेड्रिक पोलक (Sir Fredric Pollock) ने राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु के दो भाग इस प्रकार किये हैं—

(१) सैद्धान्तिक राज्य-विज्ञान (Theoretical Politics), और

(२) व्यावहारिक राज्य-विज्ञान (Applied Politics)।

सैद्धान्तिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य के उदय, विकास तथा उसके आदर्श और मूल तत्त्वो का सैद्धान्तिक विवेचन रहता है। सैद्धान्तिक राज्य-विज्ञान के अन्तर्गत (क) राज्य सिद्धान्त, (ख) शासन के सिद्धान्त, (ग) विधि-निर्माण के सिद्धान्त, और (घ) कृत्रिम व्यक्ति के रूप मे राज्य की व्याख्या, ये सब तत्त्व आ जाते हैं।

व्यावहारिक राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत सरकार का सगठन, शासन-व्यवस्था के निर्माण के सिद्धान्त, कानून और उनका निर्माण, कूटनीति, युद्ध-शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का वर्णन रहता है। वस्तुत राजनीति शास्त्र के इस पक्ष के अन्तर्गत उन साधनो व उपायो का विवेचन होता है, जिनके माध्यम से राज्य अपनी सत्ता व शक्ति को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार पोलक के अनुसार राजनीति शास्त्र राज्य और सरकार दोनो का ही सैद्धान्तिक व व्यावहारिक विवेचन करता है।

राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक सत्ता और सगठन, वैयक्तिक स्वतन्त्रता और उसका रक्षण, कानून की प्रकृति और उसका निर्माण, राजनीतिक सस्थाएँ और उन पर राजनीतिक विचारो का प्रभाव इत्यादि सभी का अध्ययन आवश्यक है। प्रो० गेटल के अनुसार "यह विज्ञान राज्य की भूतकालीन स्वरूप की ऐतिहासिक गवेषणा, उसके वर्तमान स्वरूप की विश्लेषणात्मक व्याख्या तथा उसके आदर्श रूप की राजनीतिक एवं नैतिक विवेचना है।" इस प्रकार राजनीति शास्त्र की विषय-वस्तु के मुख्य रूप निम्न प्रकार हुए—

(१) **राज्य का ऐतिहासिक स्वरूप**—राजनीति शास्त्र के इस पक्ष के अन्तर्गत हमने यह देखना है कि राज्य और राजकीय सस्थाओ का विकास किस प्रकार हुआ। राज्य को वर्तमान स्थिति तक पहुँचने मे किन-किन विशेष अवस्थाओ को पार करना पडा। किस प्रकार परिवार, और परिवार से कुल, और कुल से जन या कवीला और जनो से नगर-राज्यो और जनपदो, और जनपदो से वर्तमान राष्ट्रो और साम्राज्यो का विकास हुआ।

इसी प्रकार हमने यह भी देखना है कि राज्य-सत्ता के विकास मे किन तत्वो ने विशेष सहायता दी। किस प्रकार प्रारम्भिक परिवार और कवीलो मे पिता या जन-नायक (सरदार) अपनी राज्य-सत्ता का प्रयोग करते थे। किस प्रकार जादू-टोना, वश-परम्परा और धार्मिक सत्ता के सहयोग से प्रारम्भिक राजाओ ने अपनी राजकीय सत्ता को सुरक्षित और सगठित किया। यही नही ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्ति और राज्य, अधिकार और कर्तव्य इत्यादि विपयो का भी इसी पक्ष के अन्तर्गत सैद्धान्तिक विवेचन होगा।

(२) **राज्य के वर्तमान स्वरूप की विश्लेषणात्मक व्याख्या**—उसके ऐतिहासिक विवेचन पर ही आधारित होगी। राज्य के वर्तमान स्वरूप के समुचित अध्ययन के लिए उसकी ऐतिहासिक गवेषणा अनिवार्य है। किस प्रकार विगत शताब्दियो में राज्य की प्रभुता (Sovereign power) का विकास हुआ और आज किस प्रकार हमारे समाज के अन्य समुदाय (Associations) राज्य की इस सत्ता के प्रति सिर उठा रहे हैं और परिणामस्वरूप किस प्रकार राज्य के कार्य उद्देश्य और प्रकृति सम्वन्धी नवीन सिद्धान्तो का प्रदुर्भाव हो रहा है, यह सव इसी के अन्तर्गत आ जाता है।

(३) **राज्य का आदर्श स्वरूप**—राजनीति शास्त्र राज्य क्या था और क्या है केवल इन्ही प्रश्नो पर ही विचार नही करता। वह मानवीय सस्कृति द्वारा निर्मित नैतिक मूल्यो के आधार पर वर्तमान राज्य की प्रकृति, उसके कार्य इत्यादि का मूल्य निश्चित करता है, उसके दोप और गुण परखता है। साथ ही वह ऐसे नैतिक आदर्श को प्रस्तुत करता है, जिनके आधार पर राज्य के भावी आदर्श स्वरूप की रचना हो सके।

राजनीति शास्त्र मे ऐसे नैतिक-राजनैतिक विचारो का वहुत महत्त्व है। क्योकि प्रारम्भ से ही राज्य के कार्य तथा उसकी प्रकृति का निर्माण ऐसी विचार-पद्धतियो से ही प्रभावित होते आये हैं। सव मुख्य-मुख्य राजनीतिक सिद्धान्त—आदर्श वाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, लोकतन्त्रवाद इत्यादि—किसी न किसी रूप मे राज्य-सत्ता के सगठन, उपयोग और उद्देश्य को प्रभावित करते आये हैं।

अत राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत राज्य के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो पर ही विचार करना होता है। साथ ही उसमे उसकी प्रकृति और कर्तव्यो का ऐतिहासिक और नैतिक विवेचन भी रहता है।

३. राजनीति शास्त्र का विकास

ऊपर हमने राजनीति शास्त्र की विपय-वस्तु का विवेचन किया। इससे पूर्व

कि हम राजनीति शास्त्र के महत्त्व तथा उसकी पारिभाषिक शब्दावली का अध्ययन करें यह उचित होगा कि हम राजनीतिक विचारो के उद्‌भव और विकास का संक्षिप्त ब्यौरा दे दें।

मनुष्य ने राजनीतिक सिद्धान्तो का निर्माण तो चाहे हाल ही में किया हो परन्तु राजनीतिक संस्थाओ के विषय मे उसने उसी दिन से सोचना प्रारम्भ कर दिया होगा जिस दिन कि इनका प्रादुर्भाव हुआ। यह ठीक है कि प्राचीन राजनीतिक विचार विशुद्ध रूप से राजनीतिक नही, क्योंकि प्राचीन काल मे विभिन्न मानव-संस्कृतियां, धर्म, रीति-रिवाज तथा कानून के बीच कोई स्पष्ट भेद न कर पाई। तीनो चीजे एक दूसरे से इतनी सम्बन्धित हैं कि कोई एक लकीर तीनों के बीच नहीं खींची जा सकती। प्रत्येक प्राचीन संस्कृति के सामाजिक जीवन मे धर्म की सत्ता सबसे ऊँची थी। असल मे प्राचीन सामाजिक जीवन धर्म द्वारा इस प्रकार से ढका हुआ था कि जीवन के अन्य पक्ष प्रकाश मे आ ही नही सके।

पूर्व के लोगो ने राज्य और उससे सम्बन्धित समस्याओ पर पाश्चात्यो से बहुत पहले ही विचार प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु उनकी राजनीतिक विचारधारा का विकास एक विशुद्ध और पूर्णत विकसित राजनीति विज्ञान के रूप मे न हो सका। पूर्व के राजनीतिक विचारो का जन्म और विकास मुख्य रूप से हिन्दुओ, यहूदियो और चीनियो मे हुआ। मिसर, वेवीलोनिया, असीरिया तथा फारस मे राजनीतिक विचार-धारा का अधिक विकास न हो सका। परन्तु चीन और भारत मे भी राजनीतिक विचारधाराएँ धर्मशास्त्र, अन्धविश्वास और पुराण (Mythology) से स्वतन्त्र न हो सकी। धार्मिक नेता ही राजनीतिक नेता थे या राजनीतिक नेताओ के विधाता थे। उन्होंने राजनीतिक और धार्मिक निरकुशता का परिपोषण किया और व्यक्ति के विरुद्ध समाज को सर्वशक्तिसम्पन्न बना उसे ही महत्त्व दिया।

भारत मे नगर-राज्य और गणराज्यो का विकास ईसा से २००० वर्ष से भी पहले हो चुका था। अत भारतीय विद्वानो ने यूनानियो से बहुत पहले ही गणतन्त्र, सरकार के सगठन तथा शासक और शासित के अधिकार और कर्त्तव्यो का विवेचन किया था। चाणक्य, शुक्र और मनु इत्यादि ने भी राज्य-विधि और राज्य-शासन के सगठन का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया। परन्तु उनके विचार राज्य-शासन की कला (State-craft) का ही विवेचन प्रस्तुत करते हैं, किसी स्वतन्त्र राजनीतिक विचार-धारा का नही।

वैज्ञानिक रूप से राजनीतिक विचारधारा का प्रारम्भ और विकास पश्चिम मे प्राचीन यूनान के नगर-राज्यो मे ही हुआ। यूनानी राज्य-विज्ञान मे भी मुख्यत ऐसे दो विचारक हैं—प्लेटो और अरस्तू—जो यूरोप के राजनीति शास्त्र के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। शायद ही कोई ऐसा पाश्चात्य विचारक हो जो इन महान प्रतिभासम्पन्न दार्श-निको से अलग-अलग या सामूहिक रूप से प्रभावित न हुआ हो। प्लेटो के विचारो मे काव्य और कल्पना दोनो की प्रधानता है, परन्तु अरस्तू को ही मुख्य रूप से राजनीति शास्त्र को धर्मशास्त्र, अन्धविश्वास और पुराणो से पृथक् कर एक स्वतन्त्र विज्ञान के

रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है। यह ठीक है कि अरस्तू के पश्चात क्रिश्चियन चर्च और विचारधारा का जोर बढ गया और एक बार फिर राजनीति शास्त्र धर्मशास्त्र का एक अश बनकर ही रह गया। परन्तु इटली के सुप्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ मैकियावली ने अन्तिम रूप से राजनीति और धर्मनीति को अलग-अलग कर दिया। आज की राजनीतिक विचारधाराएँ नीति शास्त्र (Ethics) से प्रभावित अवश्य हैं परन्तु वे अपने आप मे स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार राजनीति शास्त्र का विशुद्ध विज्ञान के रूप मे विकास सर्वप्रथम पश्चिम मे ही हुआ।

४. राजनीति शास्त्र का महत्त्व

आजकल कुछ लोग राजनीति शास्त्र को केवल तार्किक और सैद्धान्तिक विवेचन कह उसके अध्ययन को अनावश्यक और व्यर्थ बतलाते है। उनका कथन है कि राजनीति शास्त्र मे बहुत-सी ऐसी कोरी तार्किक और काल्पनिक बातो का वर्णन रहता है, जिनका हमारे वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नही। सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक राजनीति मे बहुत बडा अन्तर वर्तमान रहता है। राजनीतिक सिद्धान्त व्यावहारिक राजनीति के विवादग्रस्त प्रश्नो का सुलझाव प्रस्तुत करने मे असमर्थ हैं। अमेरिकन विचारक एमर्सन ने भी कहा था कि "इस शास्त्र मे कुछ भी नवीन, सत्य और सम्पूर्ण नही है।"

राजनीतिक विचारधारा पर किये गए यह सब आरोप दार्शनिक पद्धति पर ही आरोप जान पडते है। आज के वस्तुवादी, यान्त्रिक और व्यावसायिक समाज मे सैद्धान्तिक अध्ययन की ऐसे हँसी उडाना कोई बडी बात नही। किन्तु विचार-दर्शन और सिद्धान्त हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन की गतिविधि का रूप निर्धारित करते रहते हैं। विचार-दर्शन का हमारे जीवन मे विशेष महत्त्व है। राज्य का आज का रूप, उसके कर्त्तव्य और विधि-विधान या कानून हमारे राजनीतिक विचारो का ही परिणाम हैं। वर्तमान समय की लोकतन्त्र और समाजवाद की राज्य-व्यवस्थाएँ विगत शताब्दियो के एतद्विषयक चिन्तन का ही फल हैं। आज के युग मे हम राज्य को केवल नकारात्मक कार्य ही नही सौंपते या उसे केवल शासन-व्यवस्था कायम रखने और दण्ड देने की मशीन मात्र ही नही समझते अपितु उसे सर्वसाधारण के कल्याण का एक मुख्य साधन समझते हैं। राज्य का वर्तमान क्षेत्र केवल राजनीति ही नहीं अपितु आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भी है। वस्तुत आज का राज्य माता-पिता, नर्स, डाक्टर, शिक्षक, उपदेशक आदि सभी के कार्य एक साथ करता है। राज्य का यह रूप हमारे राजनीतिक चिन्तन का ही फल है।

इस प्रकार राजनीतिशास्त्र राज्य की गतिविधि निर्धारित करता है। आज के लोकतन्त्र के युग मे तो राजनीतिक चिन्तन का महत्त्व और भी बढ गया है। लोकतन्त्र की शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राज्य-शक्ति जनता के हाथ में रहती है। अत यदि जनसाधारण मे राजनीतिक चेतना का अभाव हो या उसे राजनीतिकशास्त्र का ज्ञान ही न हो तो वह राज्य के कर्त्तव्य और उसकी प्रकृति का स्वरूप स्वय

निर्धारित नहीं कर सकेंगे। राज्य-शक्ति उनके हाथ से निकल ऐसे लोगो के हाथ मे चली जायगी जो कि सर्वसाधारण के हित का ध्यान ही नही रखेंगे।

राजनीतिदर्शन हमारे सम्मुख ऐसे नैतिक मूल्यो और मान्यताओ को प्रस्तुत करता है कि जिनके आधार पर हम राज्य के कार्य और कर्त्तव्य का निर्णय कर उसकी सफलता और विफलता को जाँच सकते है। राज्य-सत्ता की अवस्थिति और सचालन के कुछ नैतिक और दार्शनिक आधार होने चाहिएँ। ये आधार राज्य-दर्शन प्रस्तुत करता है, इन आधारो के बिना राज्य केवल दण्ड देने और दबाने की मशीन मात्र बनकर रह जायगा।

राजनीति शास्त्र का अध्ययन राजनीतिक शब्दावली के वैज्ञानिक प्रयोग और उसके विज्ञानसम्मत अर्थों को स्पष्ट करता है। इस प्रकार हमारे राजनीतिक चिन्तन मे और व्यावहारिक राजनीतिक जीवन मे सुनिश्चितता और सुस्पष्टता लाता है।

यह कहना सर्वथा गलत है कि सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक राजनीति मे बहुत अन्तर होता है। इसमे सन्देह नही कि सिद्धान्त और व्यवहार मे अन्तर अवश्य रहता है परन्तु हम यह भी अस्वीकार नही कर सकते कि सैद्धान्तिक राजनीति व्यावहारिक राजनीति का पर्याप्त सीमा तक स्वरूप निर्धारित करती है। वस्तुत प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का एक व्यापक सैद्धान्तिक आधार होता है जिसके आधार पर उस व्यवस्था को युक्तियुक्त और न्यायसगत कहा जा सकता है।

इस प्रकार राज्यदर्शन का हमारे व्यावहारिक राजनीतिक जीवन मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

५ राजनीति शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली

राजनीति शास्त्र का अध्ययन एक विज्ञान के रूप मे हिन्दी मे हाल ही मे प्रारम्भ हुआ है। अत हमारे यहाँ अभी ऐसी पारिभाषिक शब्दावली का अभाव है जो कि सर्वसम्मत और सर्वमान्य हो। हिन्दी मे ही नही अग्रेजी मे भी सर्वसम्मत और सर्वमान्य राजनीतिक शब्दावली का अभाव है। राज्य, सरकार, राजनीति और राष्ट्र इत्यादि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग अनेक अर्थो मे होता है। अत उनके वैज्ञा-नक अर्थ के अभाव मे भ्रम उत्पन्न हो जाने की आशका रहती है। प्राकृतिक विज्ञानो मे अधिकतर पारिभाषिक शब्द सर्वमान्य वैज्ञानिक अर्थो के द्योतक होते हैं। राजनीति शास्त्र ऐतिहासिक दृष्टि से चाहे पुराना हो परन्तु समुचित विकास की दृष्टि से वह आधुनिकतम विज्ञानो मे एक है। यही कारण है कि इसमे वैज्ञानिक तथा सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावली का अभी पूर्ण विकास नही हो पाया।

किसी भी विषय के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह अनिवार्य है कि हम उसमे प्रयोग मे आने वाले आधारभूत शब्दो के वैज्ञानिक अर्थ से परिचित हो।

(१) **राजनीति तथा राजनीति शास्त्र**—सर्वप्रथम हमें राज्य विज्ञान के लिए इस्तेमाल किए गए विभिन्न शब्दो के वैज्ञानिक अर्थ का ज्ञान होना चाहिए। प्राचीन काल से ही राज्य विज्ञान राजनीति के नाम से पुकारा जाता रहा है। राजनीति शब्द

अग्रेजी के Politics शब्द का रूपान्तर है । Politics यूनानी भाषा के Polis शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'नगर अथवा राज्य' । प्राचीन यूनान मे प्रत्येक नगर एक स्वतन्त्र राज्य होता था । यूनानियों के दृष्टिकोण से राजनीति (Politics) मे वह सब कुछ सम्मिलित है, जिसका सम्बन्ध राज्य के जीवन से हो । नगर-राज्यो के राजनीतिक जीवन पर लिखी हुई अपनी पुस्तक का नाम अरस्तू ने इसीलिए राजनीति (Politics) रखा था । इस विस्तृत अर्थ मे प्रयुक्त राजनीति शब्द राजनीति विज्ञान का द्योतक हो सकता है । गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि यदि राजनीति शब्द का प्रयोग उसी अर्थ मे किया जाय जिसमे यूनानी लोग करते थे तो उसमे कोई आपत्ति नही हो सकती ।

जेलिनेक (Jellinck), जेनेट (Janet), एलेक्जेण्डर वेन (Alexander Bain), सर फ्रेड्रिक पोलक (Sir Fredric Pollock) इत्यादि राजनीति विज्ञान की अपेक्षा राजनीति शब्द का ही प्रयोग उचित समझते हैं । पोलक ने राजनीनि शब्द का विस्तृत अर्थ मे प्रयोग करते हुए उसे निम्नलिखित दो भागो मे बाँटा है—

(१) सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics) ।

(२) व्यावहारिक राजनीति (Applied Politics) ।

(१) सैद्धान्तिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य के निम्न पक्षो का अध्ययन रहता है—

(क) राज्य के सिद्धान्त (Theory of the State) ।

(ख) शासन के सिद्धान्त (Theory of Government) ।

(ग) कानून-निर्माण के सिद्धान्त (Theory of Legislation) ।

(घ) कृत्रिम राज्य-व्यक्तित्व सिद्धान्त (Theory of the State as an artificial person) ।

(२) व्यावहारिक राजनीति के अन्तर्गत निम्न पक्ष हैं—

(क) सरकार का वास्तविक रूप (The Form of Goverment) ।

(ख) शासन का सगठन और कार्य-पद्धति आदि (Organisation and the working of Government administration). ।

(ग) कानून और उसका निर्माण (Laws and Legislation) ।

(घ) कूटनीति, युद्ध शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का वर्णन (Diplomacy, Peace, War and International dealings) ।

इस प्रकार सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य का सम्पूर्ण दार्शनिक और व्यावहारिक जीवन शामिल किया जा सकता है । राजनीति का ऐसा विभाजन सुविधाजनक और उपयोगी है । परन्तु आज राजनीति शब्द का प्रयोग अपने प्राचीन अर्थ से विभिन्न एक नवीन अर्थ मे होने लगा है । ब्लशली ने राजनीति और राजनीति शास्त्र शब्द का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'राजनीति (Politics) विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक है, उसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक कार्य तथा संचालन से हैं । परन्तु राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध राज्य के आधार, उसकी सारभूत

प्रकृति, उसके रूप एव विकास से है।"[1]

अत आज राजनीति शब्द के प्रयोग से हमारा मतलब किसी भी देश या राजनीतिक दल की दिन-प्रतिदिन की व्यावहारिक राजनीति से होता है। प्रत्येक प्रजातन्त्र प्रणाली के अन्तर्गत प्रतिनिधियो का चुनाव होता है, राजनीतिक दलो का सगठन किया जाता है, सरकार के पदाधिकारियो का चुनाव होता है। ये सब कार्य देश की दिन-प्रतिदिन की राजनीति के अन्तर्गत शामिल किये जाते हैं। एक देश की राजनीति दूसरे देश की राजनीति से अलग होती है। एक ही देश मे पाये जाने वाले राजनीतिक दलो की भी अपनी-अपनी राजनीति होती है।

फिर प्रत्येक देश की राजनीतिक समस्याएँ विशुद्ध राजनीतिक नही होती। वे अधिकतर राजनीतिक और आर्थिक पक्षो से मिली-जुली होती हैं।

राजनीति शास्त्र तो राज्य सम्बन्धी वस्तुओ और कार्यो का एक वैज्ञानिक अध्ययन है। वह तो राज्य के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष की एक ऐसी विवेचना है कि जिसका नैतिक और ऐतिहासिक आधार है। अत राजनीति शास्त्र का आचार्य राजनीति शास्त्री कहलाता है राजनीतिज्ञ नही। राज्य की विधान-सभाओ के सदस्य तथा राज्य के अन्य पदाधिकारी राजनीतिज्ञ तो हैं परन्तु राजनीति शास्त्री नही। प० जवाहरलाल नेहरू मुख्य रूप से राजनीतिज्ञ है परन्तु प्रो० बार्कर या प्रो० लास्की मुख्य रूप से राजनीति शास्त्री।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज राजनीति शब्द राज्यनीति शास्त्र के लिए पर्यायवाची नही हो सकता, क्योकि उसका प्राचीन, व्यापक और विज्ञानसम्मत अर्थ मे प्रयोग नही होता।

(२) राजनीति शास्त्र तथा राजनीतिदर्शन (Political Philosophy)—राजनीतिदर्शन एक ऐसा शब्द हैं जो कि राजनीति शास्त्र के स्थान पर इस्तेमाल किया जाता है। अनेक अग्रेज और जर्मन विद्वानो का मत है कि राजनीति शास्त्र को विज्ञान न कह दर्शन (Philosophy) कहना चाहिए, क्योकि राजनीति शास्त्र का मुख्य आधार तर्क और कल्पना है वैज्ञानिक अध्ययन नही। और दर्शनशास्त्र उस ज्ञान का नाम है जिसका आधार कल्पना तथा तर्क है। पर्यवेक्षण (Observation) और परीक्षण (Experimentation) नही। जीवन और जगत के विषय मे अनेक तार्किक और कल्पनात्मक व्याख्याएँ दार्शनिको ने प्रस्तुत की है। इसी प्रकार राज्य के जन्म, विकास, उसके कार्य, चरित्र, प्रकृति आदि के विषय मे भी विद्वानो ने तार्किक और काल्पनिक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन ग्रीस, रोम और भारत मे लिखे गये राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थ दार्शनिक तथ्यों से ही पूर्ण हैं उनमे वैज्ञानिक अध्ययन का आधिक्य नही। आधुनिक युग मे भी राज्य की प्रकृति तथा स्वरूप और कार्य विषयक

---

1 Politics is more an art than a science which has to deal with the practical conduct or guidance of the State, whereas Political Science is concerned with the foundations of the State, its essential nature, its forms or manifestations and its development "—*Bluntschli*

की कमी और एक मत का अभाव इसलिए नही कि हमारे पास वैज्ञानिक साधनो का अभाव है या प्रयोगशालाएँ नही। वस्तुत राजनीति शास्त्र मे हम जिस विषय-वस्तु का अध्ययन करते हैं, वह अत्यन्त जटिल (Complicated) है, उसमें स्थिरता नही। हमारा क्षेत्र मानवीय सम्बन्ध है, और मानवीय सम्बन्ध हमारी उन मानसिक वृत्तियो का परिणाम हैं जो क्षण-क्षण मे अपना रूप बदलती रहती है, उनकी गणना (Tabulation) या उनका वर्गीकरण और उनकी यथार्थ पकड हमारे वस के वाहर की वात है, ऐसी अस्थिर विषय-वस्तु का अध्ययन और उस अध्ययन पर आधारित नियम भला स्थिर कैसे हो सकते हैं, वे सर्वकाल और सर्वदेश मे सत्य कैसे हो सकते है ? हमारी मानसिक प्रवृत्तियां अनेक प्रकार के वाह्य आवेष्टन (Environment) ने प्रभावित और विकसित होती रहती है। अत. प्रत्येक देश की भौगोलिक और सास्कृतिक परिस्थितियां विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियो को जन्म देंगी और उन्ही पर विविध राजनीतिक और सामाजिक विधान तैयार होगें। उनमे एकरूपता का अभाव साधारण वात है।

यही कारण है कि हमारे यहाँ प्रयोग सम्भव नही, वैसे प्रयोग जैसे कि वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे होते रहते हैं। सारे विश्व मे एकरूप (Uniform) परिस्थितियो का निर्माण सम्भव नही जव कि प्रयोगशाला मे यह सम्भव है। एकरूप परिस्थितियो के अभाव मे किये गये प्रयोगो द्वारा प्राप्त परिणाम सर्वकालिक और सर्वदेशीय सत्य नही हो सकते।

सामाजिक विज्ञान मे हम जीवित प्राणियो का अध्ययन करते है निर्जीव व जड पदार्थो का नही। मनुष्य सर्वप्रकार से प्रवुद्ध, जीवित, चेतनासम्पन्न और इच्छा-शक्तियुक्त प्राणी है। अतः उस द्वारा रचित सामाजिक विधि-विधान का अध्ययन सरल नही हो सकता। जड पदार्थों के गुण, परिमाण इत्यादि का आसानी से अध्ययन किया जा सकता है।

अत. राजनीति विज्ञान अपनी विषय-वस्तु की अस्थिरता के कारण स्वाभावत. ही अस्थिर है।

राजनीति शास्त्र एक विज्ञान है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नही। क्योकि विज्ञान से हमारा प्रयोजन, जैसा कि डा० गार्नर ने कहा है, किसी विषय के सम्बन्ध मे उस एकीकृत ज्ञान भण्डार से है, जिसकी प्राप्ति विधिवत पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन द्वारा हुई हो और जिनके तथ्यों का परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके क्रमवद्ध वर्गीकरण किया गया हो। इस प्रकार किसी भी विषय का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है, क्योकि विज्ञान का मुख्य आधार अध्ययन की पद्धति है। और अध्ययन की वैज्ञानिक विधि किसी प्रकार के वैज्ञानिक वर्ग की वपौती नही हो सकती। उसे समाज विज्ञान और प्रकृत विज्ञान सभी मे प्रयोग किया जा सकता है। राजनीति मे राज्य तथा सरकार से सम्वन्धित क्रियाओ और तथ्यों को वैज्ञानिक अध्ययन का प्रयत्न किया जाता है, राजनीति तथ्यो का वैज्ञानिक पर्यवेक्षण (Observation) कर, उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर फिर उनका वर्गीकरण

प्रकृति, उसके रूप एव विकास से है।"[1]

अत आज राजनीति शब्द के प्रयोग से हमारा मतलव किसी भी देश या राजनीतिक दल की दिन-प्रतिदिन की व्यावहारिक राजनीति मे होता है। प्रत्येक प्रजातन्त्र प्रणाली के अन्तर्गत प्रतिनिधियो का चुनाव होता है, राजनीतिक दलो का सगठन किया जाता है, सरकार के पदाधिकारियो का चुनाव होता है। ये सब कार्य देश की दिन-प्रतिदिन की राजनीति के अन्तर्गत शामिल किये जाते हैं। एक देश की राजनीति दूसरे देश की राजनीति से अलग होती है। एक ही देश मे पाये जाने वाले राजनीतिक दलो की भी अपनी-अपनी राजनीति होती है।

फिर प्रत्येक देश की राजनीतिक समस्याएँ विशुद्ध राजनीतिक नही होती। वे अधिकतर राजनीतिक और आर्थिक पक्षो से मिली-जुली होती हैं।

राजनीति शास्त्र तो राज्य सम्बन्धी वस्तुओ और कार्यों का एक वैज्ञानिक अध्ययन है। वह तो राज्य के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष की एक ऐसी विवेचना है कि जिसका नैतिक और ऐतिहासिक आधार है। अत राजनीति शास्त्र का आचार्य राजनीति शास्त्री कहलाता है राजनीतिज्ञ नही। राज्य की विधान-सभाओ के सदस्य तथा राज्य के अन्य पदाधिकारी राजनीतिज्ञ तो हैं परन्तु राजनीति शास्त्री नही। प० जवाहरलाल नेहरू मुख्य रूप से राजनीतिज्ञ है परन्तु प्रो० वार्कर या प्रो० लास्की मुख्य रूप से राजनीति शास्त्री।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज राजनीति शब्द राज्यनीति शास्त्र के लिए पर्यायवाची नही हो सकता, क्योंकि उसका प्राचीन, व्यापक और विज्ञानसम्मत अर्थ मे प्रयोग नही होता।

(२) राजनीति शास्त्र तथा राजनीतिदर्शन (Political Philosophy)—राजनीतिदर्शन एक ऐसा शब्द हैं जो कि राजनीति शास्त्र के स्थान पर इस्तेमाल किया जाता है। अनेक अग्रेज और जर्मन विद्वानो का मत है कि राजनीति शास्त्र को विज्ञान न कह दर्शन (Philosophy) कहना चाहिए, क्योंकि राजनीति शास्त्र का मुख्य आधार तर्क और कल्पना है वैज्ञानिक अध्ययन नही। और दर्शनशास्त्र उस ज्ञान का नाम है जिसका आधार कल्पना तथा तर्क है। पर्यवेक्षण (Observation) और परीक्षण (Experimentation) नही। जीवन और जगत के विषय मे अनेक तार्किक और कल्पनात्मक व्याख्याएँ दार्शनिको ने प्रस्तुत की हैं। इसी प्रकार राज्य के जन्म, विकास, उसके कार्य, चरित्र, प्रकृति आदि के विषय मे भी विद्वानो ने तार्किक और काल्पनिक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन ग्रीस, रोम और भारत मे लिखे गये राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थ दार्शनिक तथ्यों से ही पूर्ण हैं उनमे वैज्ञानिक अध्ययन का आधिक्य नही। आधुनिक युग मे भी राज्य की प्रकृति तथा स्वरूप और कार्य विषयक

1 Politics is more an art than a science which has to deal with the practical conduct or guidance of the State, whereas Political Science is concerned with the foundations of the State, its essential nature, its forms or manifestations and its development"—*Bluntschli.*

बहुत सा चिन्तन दार्शनिक आधार पर ही आधारित होता है। दर्शनशास्त्र विश्व का और जीवन का विवेचन करता है, हमारा राजनीतिक जीवन उसी का एक भाग है। अतः राजनीतिशास्त्र इस विशाल ज्ञान समूह का एक उपविभाग मात्र है।

राजनीति शास्त्र का एक मुख्य भाग राजनीतिक संस्थाओ के विकास तथा राज-सत्ता के आधारो का अनुसन्धान करता है, वह राज्य के आधारभूत तत्त्वो का विश्लेषण एव वर्गीकरण कर, राज्य के जन्म, विकास तथा कर्तव्य इत्यादि पर कुछ निश्चित मत प्रकट करता है, और इस प्रकार राजनीति शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष का आधार प्रस्तुत करता है। इसी भाग को दर्शनशास्त्र का प्रमुख भाग माना जाता है।

परन्तु राजनीति शास्त्र और राजनीतिदर्शन मे भेद का स्पष्ट निर्देश कर सकना अत्यन्त कठिन है। दूसरा राजनीतिशास्त्र का जहाँ दार्शनिक आधार है वहाँ वैज्ञानिक भी है। वैज्ञानिक साधन द्वारा हम कुछ निश्चित घटनाओ के अध्ययन से कुछ निश्चित परिणाम (Conclusions) निकालते हैं और उनके आधार पर कुछ ऐसे नियमो के निर्माण का प्रयत्न करते है जो तर्कसम्मत हो, वैज्ञानिक हो और नव दशाओ मे सत्य हों। अनेक राजनीति शास्त्रियो ने इस पद्धति का अनुसरण करते हुए राजनीतिक घटनाओ का और विविध राज्यो के विधानो का अध्ययन कर कुछ निश्चित नियमो की स्थापना का प्रयत्न किया है। प्राचीन ग्रीस के सुप्रसिद्ध राजनीतिक विचारक अरस्तू ने अपने समय के विभिन्न देशो के संविधानो का अध्ययन किया और कुछ ऐसे सिद्धान्तो की स्थापना का प्रयत्न किया जो कि सर्व काल और सर्व देश मे सत्य हो सकें। आधुनिक युग मे भी लार्ड ब्राइस इत्यादि ने विभिन्न देशो का भ्रमण कर वहाँ राजनीतिक संस्थाओ के कार्य को देख उनके संविधानो का अध्ययन कर कुछ ऐसे नियम स्थापित करने का प्रयत्न किया जो कि वैज्ञानिक सत्य सिद्ध हो सकें। आज तो इस पद्धति का बहुत व्यापक रूप मे प्रयोग किया जा रहा है।

दूसरा राजनीति शास्त्र का अध्ययन क्षेत्र राजनीतिदर्शन से कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत है, साथ ही इसका अर्थ भी अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित है। राज्यदर्शन मुख्य रूप से राज्य, उसके विकास, प्रकृति तथा कर्तव्य और नागरिकता तथा नागरिक के कर्तव्य तथा अधिकार और राजनीतिक आदर्शों इत्यादि का अध्ययन करता है। वहाँ राजनीति शास्त्र राज्य के इन पक्षो के अतिरिक्त राज्य और सरकार का संगठन (Organisation) उनका वर्गीकरण, उनका कार्यक्षेत्र, उनका ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत राज्यदर्शन और राज्य विज्ञान दोनो ही आ जाते हैं।

(३) अनेक राजनीति शास्त्र (The Political Sciences)—कुछ फ्रेंच राजनीति शास्त्रियो का कथन है कि राजनीति शास्त्र कोई एक विज्ञान नही बल्कि यह तो विज्ञानो का एक समूह है। राजनीति विज्ञान को केवल एक विज्ञान कहना वास्तविकता से अनभिज्ञ होने का ही परिणाम है। वर्तमान समय मे हमारा राजनीतिक जीवन इतना जटिल और व्यापक हो गया है कि इसके समुचित ज्ञान के लिए केवल एक ही विज्ञान का या एक ही अध्ययन-पद्धति का आश्रय नही ग्रहण किया जा

सकता। इस अनेक प्रकार के राजनीतिक जीवन के विविध पक्षों का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से ही हो सकता है। राजनीति शास्त्र राज्य के इन विविध पक्षों का एक साथ विशेषाध्ययन (Special study) प्रस्तुत नहीं कर सकता। वह तो अनिवार्यत राज्य के एक ही पक्ष से सम्बन्धित है। इस दृष्टिकोण के अनुसार राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन और विधान के अध्ययन करने वाला एक पृथक् विज्ञान है, उसी प्रकार सार्वजनिक राजस्व (Public finance), सार्वजनिक कानून (Jurisprudence), कूटनीति, (Diplomacy) इत्यादि सभी स्वतन्त्र विज्ञान हैं और राजनीति विज्ञान वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे। इन सबका अध्ययन क्षेत्र राज्य के विविध पक्षों से सम्बन्धित है, इस कारण उन्हें राजनीति विज्ञान वर्ग के अन्तर्गत रखना भी सर्वथा असगत होगा।

डा० गार्नर इत्यादि ने विभिन्न विज्ञानों में उचित भेद की अवस्थिति को स्वीकार करते हुए भी राज्य विज्ञान का प्रयोग दोनों वचनों में करना उपयुक्त समझा है। उनका कथन है कि '**जब केवल राज्य की विवेचना करनी हो तो राज्य विज्ञान शब्द का प्रयोग एकवचन में किया जाय और जब उनका प्रयोग राज्य के जीवन के विशिष्ट पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाले सभी विज्ञान जैसे समाज विज्ञान इतिहास, अर्थशास्त्र आदि का वर्णन करने के लिए हो तब उसका प्रयोग बहुवचन में हो।**'[1]

परन्तु राजनीति शास्त्र का यह स्वरूप 'अतिव्याप्ति' दोष से दूषित हो जायगा। इस प्रकार राजनीति शास्त्र राज्य का एक विशेषाध्ययन (Special study) न रह राजकीय जीवन के अनेक पक्षों का अध्ययन बन जायगा। राज्य के अनेक पक्ष हैं जैसे हमारे समाज के है, यह सभी पक्ष राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत नहीं आ सकते। हमारे सामाजिक जीवन के विविध पहलू केवल मात्र समाज विज्ञान की विषय-वस्तु नहीं हो सकते, वे विविध पहलू अनेक स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञानों द्वारा विशेषाध्ययन (Special study) के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र हमारे सामाजिक जीवन के आर्थिक पक्ष का अध्ययन करता है तो नीतिशास्त्र नैतिक पक्ष का और राजनीति शास्त्र राजनीतिक पक्ष का। राज्य के सास्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक पक्षों का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों द्वारा अवश्य किया जाता है। इसे हम अस्वीकार नहीं करते। उन विज्ञानों से राजनीति विज्ञान बहुत कुछ सहायता भी लेता है, परन्तु राज्य की उत्पत्ति, विकास, प्रकृति, उद्देश्य सगठन स्वरूप

---

1 "Without attempting to pass judgement upon the respective merits of the two views, *it is* safe *to say* that either form m· be justified by distinguishing between political science in its s· sense, that is, the science which deals exclusively with the phen· of the State, and *political* science in the wider sense as embr· all the sciences which deal with particular aspect of the Stat· such as sociology, history, economics and others When used former sense, the singular form should be employed, when latter sense, the plural is justifiable"—*Garner*

इत्यादि का विशेषाध्ययन राजनीति शास्त्र ही प्रस्तुत करता है। सार्वजनिक राजस्व इत्यादि स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञान के रूप मे भी ग्रहण किये जा सकते हैं। राजनीति शास्त्र का अध्ययन क्षेत्र केवल राज्य और उसके सगठन तक ही सीमित है।

६. राजनीति शास्त्र—परिभाषा

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य दर्शन और विज्ञान का द्योतक एक मात्र शब्द राजनीति शास्त्र (Political Science) ही है। इससे राज्य सम्बन्धी हमारे समस्त ज्ञान का बोध होता है। समूचा राज्य सिद्धान्त इसके अन्तर्गत आ जाता है। सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक राजनीति दोनो ही इसमे सम्मिलित हैं। फ्रेंच लेखक पॉल जेनेट ने राजनीति शास्त्र की परिभाषा इन शब्दो मे की है "राजनीतिशास्त्र समाज विज्ञान का वह अंग है जो राज्य के मूल आधार और शासन सिद्धान्तो का विवेचन करता है।"[1]

जर्मन लेखक ब्लशली के अनुसार "राजनीति शास्त्र उस विद्या को कहते हैं जिसका सम्बन्ध राज्य के साथ हो, और जो यह समझाने का यत्न करती हो कि राज्य के आधारभूत तत्व क्या हैं; उसका आवश्यक स्वरूप क्या है, अपने को किन विविध रूपो मे अभिव्यक्त करता है, और उसका विकास किस प्रकार होता है।"

अंग्रेज राजनीति शास्त्री सीली का कथन है कि "राजनीति शास्त्र शासन के सिद्धान्तो और कामो का उसी प्रकार विवेचन करता है, जैसे कि सम्पत्तिशास्त्र सम्पत्ति का 'जीव विज्ञान जीवन का, अंकगणित अंको का, और ज्यामिति स्थान व दूरी का।"

७ क्या राजनीति शास्त्र विज्ञान है ?

यह प्रश्न प्रर्याप्त विवादग्रस्त है। अधिकाश राजनीतिक विचारक राजनीति शास्त्र को विज्ञान मानते हैं। प्राचीन ग्रीक विचारक अरस्तू ने राजनीति को न केवल विज्ञान ही अपितु सर्वप्रमुख विज्ञान (Master science) माना है। क्योकि उसके विचार मे राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव-हितकारी हमारे समाज की सर्वप्रमुख सस्था राज्य से है। अरस्तू ने अपने राजनीति शास्त्र विषयक अध्ययन मे वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण भी किया है। बाद के विचारको मे बोदीन (Bodin), हॉब्स (Hobbes) मॉतस्क्यू (Montesquieu), इत्यादि ने भी अरस्तू के विचारो को ही मान्यता प्रदान की। वर्तमान काल मे लेविस, सिजविक, ब्राइस जेलिनेक, ब्लशली इत्यादि भी राजनीतिक अध्ययन को वैज्ञानिक आधार पर आधारित कर राजनीति शास्त्र को एक पूर्ण विज्ञान बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। उन्होने भी इस विषय मे प्राचीन विचारको के मत का अनुसरण किया।

---

1 "Political science is that part of social science which treats of the foundations of the state and the principles of government."—*Paul Janet.*

परन्तु वर्तमान युग के कुछ राजनीतिक विचारकों के मतानुसार राजनीति शास्त्र को विज्ञान की मान्यता नही दी जा सकती। मेटलैण्ड जैसे राजनीति शास्त्री ने भी यहाँ तक लिख डाला है कि "जब मैं किसी एक ऐसे प्रश्न-पत्र को देखता हूँ, जिसके ऊपर 'राजनीति विज्ञान' लिखा होता है तो मुझे उन प्रश्नो पर कोई आपत्ति नहीं होती परन्तु राजनीति के साथ विज्ञान शब्द देखकर मुझे अत्यन्त खेद होता है।"[1]

फ्रेंच समाजशास्त्री अगस्त कॉमते ने राजनीति शास्त्र को विज्ञान स्वीकार न करने के तीन मुख्य कारणों का उल्लेख किया है—

(१) राजनीति शास्त्र की पद्धतियो, इसके सिद्धान्तो तथा निर्णयो के विषय मे विद्वानो के विचार मे भारी मतभेद है।

(२) ज्योतिष इत्यादि अन्य भौतिक और प्राकृतिक विज्ञानो मे भविष्यवाणी सम्भव है, परन्तु राजनीति शास्त्र मे नही।

(३) राजनीतिक अध्ययन मे अविच्छिन्नता तथा क्रमागत विकास का अभाव है।

कॉमते (Comte) के इन आक्षेपो मे सत्य का सर्वथा अभाव हो ऐसी बात नही। इन आक्षेपो मे पर्याप्त सत्य है। इसमे सन्देह नही कि राजनीति शास्त्र मे ऐसे सिद्धान्तो का अभाव है, जिन पर कि सभी राजनीति शास्त्री एकमत हो। यही नहीं राजनीति शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो पर भी मतभेद है। राज्य की कौनसी शासन-प्रणाली सर्वश्रेष्ठ और जन हितकारी है या विधानपालिका (Legislature) के सगठन के लिए एक सदन (Unicameralism) या दो सदन (Bicameral system) की व्यवस्था होनी चाहिए या नहीं इत्यादि प्रश्नो पर राजनीति विशारदो मे गहरा मतभेद है।

राजनीति शास्त्र मे निश्चयात्मकता (Exactness) का अभाव है। ऐसा कोई नियम या सिद्धान्त नही जो सर्वकाल और सर्वदेश मे सत्य हो। गणित मे दो और दो चार होंगे चाहे आप यूरोप मे हो या अमेरिका मे या एशिया मे—यानी ससार के किसी भाग मे हों इन नियमो मे अन्तर सम्भव नही। भौतिक विज्ञान मे गुरुत्वाकर्षण आदि सम्बन्धी सिद्धान्त भी ऐसे ही हैं।

यह भी ठीक है कि राजनीति शास्त्र मे भविष्यवाणी सम्भव नही। हम यह नही कह सकते कि राजनीति के क्षेत्र मे अमुक बात का अमुक परिणाम होगा। न ही राजनीति शास्त्र मे प्रयोग किये जा सकते हैं। भौतिक विज्ञान मे बहुत से परिणाम प्रयोगशालाओ (Laboratories) मे प्रयोग (Experiment) कर निकाले जा सकते हैं, परन्तु राजनीति शास्त्र मे ऐसा सम्भव नही।

निश्चय ही राजनीति शास्त्र भौतिक विज्ञान या रसायन विज्ञान (Chemistry) की भाँति निश्चयात्मक विज्ञान नही। हमारे अध्ययन मे निश्चयात्मकता

1 "When I see a good set of examination questions headed by the word 'Political science' I regret not the questions, but the title"

की कमी और एक मत का अभाव इसलिए नही कि हमारे पास वैज्ञानिक साधनों का अभाव है या प्रयोगशालाएँ नही। वस्तुत राजनीति शास्त्र मे हम जिस विपय-वस्तु का अध्ययन करते हैं, वह अत्यन्त जटिल (Complicated) है, उसमे स्थिरता नही। हमारा क्षेत्र मानवीय सम्वन्ध है, और मानवीय सम्वन्ध हमारी उन मानसिक वृत्तियो का परिणाम हैं जो क्षण-क्षण मे अपना रूप वदलती रहती हैं, उनकी गणना (Tabulation) या उनका वर्गीकरण और उनकी यथार्थ पकड हमारे वस के वाहर की वात है, ऐसी अस्थिर विपय-वस्तु का अध्ययन और उस अध्ययन पर आधारित नियम भला स्थिर कैसे हो सकते हैं, वे सर्वकाल और सर्वदेश मे सत्य कैसे हो सकते हैं ? हमारी मानसिक प्रवृत्तियाँ अनेक प्रकार के वाह्य आवेष्टन (Environment) ने प्रभावित और विकसित होती रहती है। अतः प्रत्येक देश की भौगोलिक और सास्कृतिक परिस्थितियाँ विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियो को जन्म देंगी और उन्ही पर विविध राजनीतिक और सामाजिक विधान तैयार होगें। उनमे एकरूपता का अभाव साधारण वात है।

यही कारण है कि हमारे यहाँ प्रयोग सम्भव नही, वैसे प्रयोग जैसे कि वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे होते रहते हैं। सारे विश्व मे एकरूप (Uniform) परिस्थितियो का निर्माण सम्भव नही जव कि प्रयोगशाला मे यह सम्भव है। एकरूप परिस्थितियो के अभाव मे किये गये प्रयोगो द्वारा प्राप्त परिणाम सर्वकालिक और सर्वदेशीय सत्य नही हो सकते।

सामाजिक विज्ञान मे हम जीवित प्राणियो का अध्ययन करते है निर्जीव व जड पदार्थो का नही। मनुष्य सर्वप्रकार से प्रवुद्ध, जीवित, चेतनासम्पन्न और इच्छा-शक्तियुक्त प्राणी है। अतः उस द्वारा रचित सामाजिक विधि-विधान का अध्ययन सरल नही हो सकता। जड पदार्थो के गुण, परिमाण इत्यादि का आसानी से अध्ययन किया जा सकता है।

अत राजनीति विज्ञान अपनी विपय-वस्तु की अस्थिरता के कारण स्वाभावत ही अस्थिर है।

राजनीति शास्त्र एक विज्ञान है, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही। क्योकि विज्ञान से हमारा प्रयोजन, जैसा कि डा० गार्नर ने कहा है, किसी विपय के सम्वन्ध में उस एकीकृत ज्ञान भण्डार से है, जिसकी प्राप्ति विधिवत पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन द्वारा हुई हो और जिनके तथ्यों का परस्पर उचित सम्वन्ध स्थापित करके क्रमवद्ध वर्गीकरण किया गया हो। इस प्रकार किसी भी विपय का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है, क्योकि विज्ञान का मुख्य आधार अध्ययन की पद्धति है। और अध्ययन की वैज्ञानिक विधि किसी प्रकार के वैज्ञानिक वर्ग की वपौती नही हो सकती। उसे समाज विज्ञान और प्रकृत विज्ञान सभी मे प्रयोग किया जा सकता है। राजनीति मे राज्य तथा सरकार से सम्वन्धित क्रियाओ और तथ्यो को वैज्ञानिक अध्ययन का प्रयत्न किया जाता है, राजनीति तथ्यो का वैज्ञानिक पर्यवेक्षण (Observation) कर, उनका पारस्परिक सम्वन्ध स्थापित कर फिर उनका वर्गीकरण

भी किया जाता है।

हमारे राजनीतिक जीवन मे बहुत-सी ऐसी घटनाएँ होती रहती है जिनका सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण किया जा सकता है और उसके द्वारा बाद मे राजनीतिक सिद्धान्तो का निश्चित रूप भी प्रतिपादित किया जा सकता है। पर्यवेक्षण द्वारा ही अरस्तू ने अपने सिद्धान्त स्थापित किये जिनकी सत्यता मे आज भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। इस प्रकार लार्ड ब्राइस ने आधुनिक काल की प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का पर्यवेक्षण किया और प्रजातन्त्र की सफलता के लिए बहुत से ऐसे सुझाव दिये जो सभी स्थानो पर लागू हो सकते हैं।

यद्यपि हमारे यहाँ प्रयोगशालाओ मे परीक्षण नही होते तथापि हमारे राजनीतिक जीवन मे परीक्षणो का अभाव नही। अनेक कानून नित्य राज्य विधान-सभाएँ बनाती रहती हैं। वास्तविक जीवन मे इस्तेमाल किये जाने पर वे पर्याप्त त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। आवश्यकतानुसार फिर उनमे परिवर्तन किया जा सकता है। सन् १९१९ मे भारत के विभिन्न प्रान्तो मे द्वैध शासन-प्रणाली (Dyarchy) लागू की गई, बाद मे अनुभव से विदित हुआ कि ऐसी शासन-व्यवस्था त्रुटिपूर्ण है। फलत वह परिवर्तित कर दी गई। हमारा वर्तमान सविधान अनेक देशो द्वारा किये गये एतद्विषयक प्रयोगो पर ही आधारित है। इसी प्रकार व्यक्तिवाद, समाजवाद और फैसिज्म इत्यादि विचारधाराओ का राजनीतिक जीवन मे प्रयोग होता रहा और हो रहा है। इस प्रयोग से जो परिणाम निकल रहे है वह स्पष्ट हो रहे हैं। वस्तुत यह सर्वथा सत्य है कि इतिहास राजनीति की विशाल प्रयोगशाला है। इन ऐतिहासिक प्रयोगो के आधार पर ही हम राज ,तिक सत्यो से अवगत हो सकते है, परन्तु यह सत्य सर्वव्यापक सत्य नही हो सकते।

जहाँ तक भविष्यवाणी इत्यादि का सम्बन्ध है वहाँ हम प्राकृतिक विज्ञानो को भी पूरा उतरते हुए नही देखते। प्राकृतिक विज्ञानों मे उदाहरण के लिए ऋतु-विज्ञान (Metorology) को लिया जा सकता है। ऋतुविषयक जो अनेक भविष्यवाणियाँ दिन-रात की जाती है उनमे अधिकाश असत्य साबित होती हैं। इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक विज्ञानो मे भी पूर्ण सत्यो (Absolute truths) का आधिक्य नही, सापेक्ष सत्य (Relative truths) ही अधिक होते हैं।

विषय-वस्तु की वैज्ञानिकता बहुत कुछ हमारे दृष्टिकोण पर भी आश्रित है। **वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में निर्वैयक्तिक (Objective) दृष्टिकोण अनिवार्य है। वस्तुओं के वैज्ञानिक अध्ययन से हमे अपने पूर्व विश्वास को दूर रखना चाहिए। हमें यह देखना चाहिए कि हमारे विश्वास, हमारे विचार कहीं उस वास्तविकता को, उस सत्य को बिगाड न दें जिसे कि हम प्राप्त करने की सोच रहे हैं। वैज्ञानिक के रूप मे हमारा उद्देश्य सत्य की खोज होना चाहिए उसका परिणाम नही।**[1] जहाँ हमारा दृष्टि-

1 'The demand of sciences is simply that we avoid bias in our treatment of them We must always be on our guard lest our personal valuations distort the reality we are seeking to understand,

कोण वैयक्तिक (Subjective) हो जायगा, जहाँ हमारे विचार, उद्देश्य और धारणायें हमारे साथ रहेगी, वहाँ पूर्ण वैज्ञानिक सत्य का अन्वेषण नही हो सकेगा और न ही हमारा अध्ययन वैज्ञानिक कहला सकेगा। सामाजिक संस्थाओ का वैज्ञानिक अध्ययन निर्वैयक्तिक (Objective) दृष्टिकोण से आवश्यक है। सामाजिक और राजनीतिक सस्थाओ के साथ हमारा सान्निध्य (Attachment) होता है, परन्तु भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी की भाँति हमे निरपेक्ष (Impartial) होकर ही अध्ययन करना चाहिए। ऐसे दृष्टिकोण का विकास कठिन अवश्य है परन्तु असम्भव नही हमारी नैतिक और सास्कृतिक धारणाएँ हमे किसी न किसी विशेष राजनीतिक सस्था या वाद का पक्षपाती बना देती हैं या हमारी अपनी धारणाएँ ही उन्हे किसी विशेष रग मे रग देती हैं, और इस प्रकार हम सत्य के अन्वेषण मे सफल नही हो पाते। दूसरा क्योकि राजनीतिक सस्थाएँ हमारे से सम्बन्धित हैं, इसलिए उनके प्रति हमारे मन मे पक्षपात (Partiality) का होना स्वाभाविक भी है। इस कारण हमारा अध्ययन पूर्णरुप से नीतिनिरपेक्ष (Value free) तथा निर्वैयक्तिक (Objective) नही हो सकता। फिर भी हमे इन सवको भेदकर सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करना ही चाहिए।

इस प्रकार राजनीति शास्त्र विज्ञान की विस्तृत व्याख्या के अन्तर्गत आता है। पद्धति की दृष्टि से भी वह विज्ञान है, परन्तु विकास की दृष्टि से अभी तक समस्त सामाजिक विज्ञानो मे सवसे अधिक अपूर्ण और अविकसित है।

८. राजनीति शास्त्र की पद्धतियाँ (Methods of Political Science)

राजनीति शास्त्र की विपय-वस्तु के वैज्ञानिक अध्ययन और उसमे वैज्ञानिक पद्धतियो के अपनाने मे कुछ विशेष वाधाएँ हैं। जैसा कि पहले भी हम कह आए हैं राजनीति शास्त्र मानव के सामाजिक जीवन के एक पक्ष का अध्ययन प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दो मे हमारा अध्ययन विपय नित्य परिवर्तित होने वाला मानव-जीवन है। इसी कारण राजनीतिक घटनाएँ अस्थिर और परिवर्तनशील होती हैं, वे किसी एक निश्चित क्रम का अनुसरण नही करती, अत जिस प्रकार जड पदार्थों के अध्ययन मे हम पर्यवेक्षण द्वारा कुछ परिणाम निकाल सकते हैं, वैसी आसानी से राजनीति शास्त्र मे नही।

दूसरे, राजनीति शास्त्र मे प्रयोगशालाएँ नही और न ही प्रयोगात्मक पद्धति है। अत राजनीति शास्त्र की विपय-वस्तु का अध्ययन यंत्रो के सहयोग से सम्भव नही। मानव-वृत्तियाँ सामाजिक और राजनीतिक जीवन का आधार हैं, उन्हें रासायनिक द्रव्यो की भाँति तोला-नापा नही जा सकता। फिर इन सव परिस्थितियो का अध्ययन हम स्वय करते हैं। हमारा अपना दृष्टिकोण बहुत सी वाह्य परिस्थितियो से प्रभावित होता है। वह कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक और नैतिक तत्वो से प्रभावित होता

---

we must as scientists, care more for truth than for the consequences of truth "—*MacIver*

है, अत वह राजनीतिक विषय-वस्तु को वैयक्तिक (Subjective) दृष्टिकोण से देखता है, उसे अपने रग मे रग लेता है। जब कि वैज्ञानिक का दृष्टिकोण निर्वैयक्तिक (Objective) होता है, वह पारे या गन्धक के प्रति स्नेहपूर्ण या विद्वेषपूर्ण नही होता।

ये सब कठिनाइयाँ एक राजनीति शास्त्री के उत्तरदायित्व को बढा देती है, उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह राजनीतिक जीवन और परिस्थितियो का अध्ययन करता हुआ बहुत सावधानी से काम ले। क्योंकि विषय-वस्तु की जटिलता और निश्चयात्मक स्थितियों के तथा यांत्रिक साधनो के अभाव मे हमारे लिए वैज्ञानिक परिणामो का निकालना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

आधुनिक विचारकों ने राजनीतिक विषय-वस्तु के अध्ययन के लिए अनेक पद्धतियो पर विचार किया है। मिल (J S Mill) ने चार पद्धतियो का जिकर किया है—रासायनिक (Chemical) या प्रयोगात्मक (Experimental), अमूर्त (Geometrical or Abstract), भौतिक (Physical) अथवा मूर्त (Concrete), तार्किक (Deductive) और ऐतिहासिक (Historical)। मिल ने इनमे से पहले दो को गलत या भ्रामक और अन्तिम दो को ठीक माना है।

अगस्त कॉमते ने राजनीतिक अध्ययन की तीन पद्धतियाँ स्वीकार की हैं। पर्यवेक्षण (Observation) प्रयोग (Experiment) और तुलना (Comparison) ब्लशली के अनुसार दार्शनिक पद्धति (Philosophical method) और ऐतिहासिक पद्धति (Historical method) ही राजनीतिक अध्ययन की समुचित रीतियाँ है।

आजकल जिन पद्धतियो को विशेष महत्त्व दिया जाता है, वे निम्न प्रकार से है—

१ प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental method)
२ ऐतिहासिक पद्धति (Historical method)
३ तुलनात्मक पद्धति (Comparative method)
४ दार्शनिक पद्धति (Philosophical method)

(१) प्रयोगात्मक पद्धति—प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental method) का, जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है, राजनीति मे सीमित रूप से ही प्रयोग हो सकता है। राज्य व्यक्तियो का समूह है। उसे प्रयोगशाला मे बन्द कर उस पर परीक्षण नही हो सकते। समाज के सगठन मे उसकी परिस्थितियाँ एवम् अवस्थाओ मे स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन लाना और फिर जीवित, इच्छाशक्तियुक्त, चेतन प्राणियो पर प्रयोग करना एक राजनीति शास्त्री के लिए असम्भव है। राजनीति के क्षेत्र मे बार-बार प्रयोग नही हो सकते, विज्ञान के क्षेत्र मे ऐसा सम्भव है, क्योंकि मनुष्य की कोई भी शक्ति एक ही जैसी अवस्थाओ और स्थितियो को बार-बार उत्पन्न नही कर सकती। फिर राज्य वैज्ञानिक अपनी अध्ययन वस्तु को बाह्य प्रभाव से किसी भी अवस्था मे नही बचा सकता।

फिर भी हमारे व्यावहारिक राजनीतिक जीवन मे जाने-अनजाने मे नित्य नवीन प्रयोग होते रहते है और उनसे हम बहुत-कुछ सीखते रहते है। प्रत्येक नया कानून एक प्रयोग है। व्यवहार मे आने पर वह त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार परीक्षण किये जाने के पश्चात् उसे परिवर्तित किया जा सकता है। राजनीतिक वाद (Political theories) व्यवहार मे इस्तेमाल होने पर संशोधित किये जा सकते है।

दूसरे देशो की सफल राजनीतिक संस्थाएँ अपनाने योग्य हो सकती है, जबकि उनकी असफलताओ से हम पाठ भी पढ सकते है। इस प्रकार के नित्य नये प्रयोगो द्वारा हम राजनीति शास्त्र मे कुछ निश्चित परिणाम निकाल सकते हैं।

(२) ऐतिहासिक पद्धति (Historical method)—राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे ऐतिहासिक पद्धति का बहुत महत्त्व है। इतिहास हमारे राजनीतिक जीवन को प्रकाशित कर उसे यथार्थ रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस पद्धति के प्रतिपादको मे सीली (Seeley) और फ्रीमैन (Freeman) सर्वप्रमुख है। इस पद्धति द्वारा राजनीति शास्त्री अतीत के तथ्यो का अध्ययन कर उनके आधार पर सामान्य नियमो को स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

'प्रत्येक राजनीतिक संस्था का एक इतिहास होता है। उसके वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए और उसके भविष्य का अनुमान लगाने के लिए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन अनिवार्य है। राज्य का उद्भव, विकास और उसके वर्तमान स्वरूप की स्थिति इन सबका ठीक-ठीक ज्ञान इतिहास द्वारा ही सम्भव है।' हमारी शासन-व्यवस्थाएँ अपने वर्तमान स्वरूप तक पहुँचने मे एक लम्बी ऐतिहासिक यात्रा तय कर चुकी हैं। अत इनके स्वरूप को भी समझने मे इतिहास का ही आश्रय लेना पडता है। सर फ्रेड्रिक पोलक के मतानुसार **"ऐतिहासिक पद्धति यह विचार करती है कि संस्थाओ का क्या रूप है, उनका क्या रूप बनता जा रहा है और इस प्रयत्न मे वह संस्थाओ के वर्तमान स्वरूप की व्याख्या करने की अपेक्षा इस बात का अधिक ध्यान रखती है कि उनका भूतकालीन स्वरूप क्या था और वर्तमान स्वरूप कैसे बना।"[1]** इतिहास वर्तमान युग मे हमे रास्ता दिखा सकता है।

परन्तु यह पद्धति अपने आप मे सब प्रकार से पूर्ण नही। सिजविक इत्यादि जर्मन राज्यवैज्ञानिको ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे इसे बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं माना। इसमे कई कमियाँ है और सिजविक के अनुसार इसकी सबसे बडी कमी नैतिक मूल्यो (Ethical standards) का अभाव है। इतिहास अच्छे या बुरे, उचित व अनुचित का निर्णय नही करता। राजनीति मे हम उचित, अनुचित का निर्णय किये बिना नही चल सकते। दूसरे शब्दो मे राजनीति मे नैतिक मानदण्ड (Ethical standards) का होना जरूरी है। यही कारण है आज ऐतिहासिक पद्धति

---

1. 'The Historical method seeks an explanation of what institutions are and are tending to be, more in the knowledge of what they have been and how they come to be what they are, than in the analysis of them as they stand"—*Sir Frederic Pollock.*

को पूर्ण करने के लिए इसका मेल दार्शनिक पद्धति से भी करते है। इतिहास की कमी को पूर्ण करने के लिए दर्शन और नीति शास्त्र का सहयोग आवश्यक बन जाता है।

ऐतिहासिक पद्धति को अपनाते हुए हमे कुछ अन्य बातो का भी ध्यान रखना चाहिए। सर्वप्रथम तो हमे इतिहास द्वारा अपने विचारो या कल्पनाओं के समर्थन का प्रयत्न नही करना चाहिए। इतिहास की घटनाओं को इस प्रकार बिगाडकर प्रस्तुत करने से हमारा अध्ययन वैज्ञानिक नही रहेगा, उसमे पर्याप्त पक्षपात (Partiality) आ जायगा। हमे ऐतिहासिक घटनाओं को एक द्रष्टा (Observer) की तरह ही देखना चाहिए।

लार्ड ब्राइस ने भी थोथी समानताओं (Superficial resemblances) के विरुद्ध चेतावनी दी है। उसका कथन है कि केवल ऊपरी समानताओं के आधार पर किये गये निर्णय अधिकतर भ्रामक और गलत होंगे। हमे सास्कृतिक परिस्थितियो की भिन्नता को कभी नही भूलना चाहिए।

फिर यह बात भी अर्द्धसत्य है कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। इसका दूसरा अश यह भी है कि इतिहास की पुनरावृत्ति कभी नही होती। क्योकि ऐतिहासिक परिस्थितियाँ कभी भी अपने उसी रूप मे पुन घटित नही होती।

कभी-कभी लेखक आदर्श और यथार्थ का मिश्रण कर देते हैं और इतिहास का सहारा लेकर ऐसे सिद्धान्त तैयार करेंगे जो कि स्वप्न-लोक मे ही ठीक साबित हो सकते हो। प्लेटो के आदर्श राज्य (Ideal State) की कल्पना ऐसे ही गलत दृष्टिकोण का परिणाम थी।

(३) तुलनात्मक पद्धति (Comparative method) – तुलनात्मक पद्धति और ऐतिहासिक पद्धति एक दूसरे को पूरक का काम देती है। ऐतिहासिक आधार पर नई और पुरानी राजनीतिक सस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर अनवश्यक तत्त्वो को छोड, कुछ ऐसे नियम स्थापित करने का प्रयत्न करना जो कि सब सस्थाओं पर लागू हो सकें और जो सर्वकाल के लिए पूर्ण या आशिक सत्य भी हो—यही इसका उद्देश्य है। एक ही काल मे प्राप्त होने वाले विभिन्न देशो की एक सी राजनीतिक सस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर कुछ सामान्य सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं। प्राचीन ग्रीस मे अरस्तू ने अपने समय के विभिन्न देशो के लगभग १५० सविधानों का तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन किया और बहुत से परिणामो के साथ एक यह भी परिणाम निकाला कि राज्य-क्रान्तियो का बहुत बडा कारण आर्थिक असमानता (Economic inequality) है। इस सिद्धान्त मे पर्याप्त सत्य है।

अरस्तू के अतिरिक्त वर्तमान युग मे मॉन्तेस्क्यू, तॉकविल तथा ब्राइस इत्यादि राजनीतिज्ञो ने भी इस पद्धति का अनुसरण किया। भारत का सविधान भी विभिन्न देशो के सविधानो के तुलनात्मक अध्ययन का ही फल है। परन्तु तुलनात्मक पद्धति को भी अपनाते हुए हमे पर्याप्त सावधान और सचेत रहना चाहिए। केवल ऊपरी समानताओं के आधार पर तुलना कर हम किसी निर्णय पर नही पहुँच सकते। किन्ही दो राजनैतिक सस्थाओं की तुलना करते हुए हमे उनकी सामाजिक और ऐतिहासिक

परिस्थितियों की भिन्नता को नही भूलना चाहिए।

तुलना को समानता मे भी नही वदल देना चाहिए। राज्य-संगठन और शरीर-सगठन की तुलना अवश्य हो सकती है, जैसे मुख और चाँद की, परन्तु दोनो को एकरूप नही कहा जा सकता। स्पेन्सर इत्यादि विचारको ने राज्य-सगठन की सजीव प्राणी के शरीर से तुलना करते हुए उनमे एकरूपता स्थापित कर दी। राज्य को भी उन्होंने सजीव शरीर (Living organism) मान लिया और उसके आधार पर अनेक भ्रामक सिद्धान्तो का निर्माण किया। दो वस्तुओ मे सादृश्य स्थापित करने का अर्थ यह नही है कि उनमे एकरूपता ही स्थापित कर दी जाये।

(४) **पर्यवेक्षण-पद्धति** (The method of observation)—पर्यवेक्षण पद्धति का आधार है राजनीतिक सस्थाओ और कार्य-विधियो का निकट से अध्ययन और निरीक्षण। मुख्य रूप से यह पद्धति वैयक्तिक अनुभव और निरीक्षण पर आधारित है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे पर्याप्त काल से इसका प्रयोग होता आ रहा है। प्राचीन यूनान मे प्लेटो ने अपने ज्ञान के पूर्ण करने के लिए एशिया माइनर से लेकर दक्षिणी इटली तक का भ्रमण किया और उन देशो की जहाँ तत्कालीन विद्याओ का अध्ययन किया वहाँ उनकी सामाजिक और राजनीतिक दशा का भी पर्यवेक्षण किया। प्लेटो का साम्यवाद और उसकी शिक्षा-पद्धति उसके अपने देश की देन नहीं वह इस विषय मे क्रीट और स्पर्टा से प्रभावित था। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने भी यद्यपि अनेक राज्यो का भ्रमण किया तथापि उसकी दृष्टि नगर राज्यो से वाहर न जा सकी। १८वी सदी के फ्रेंच राजनीति विशारद मॉन्तेस्क्यू ने अपने वैयक्तिक निरीक्षण से पर्याप्त लाभ उठाया। फ्रांस के लुई १४वें के स्वेच्छाचारी शासन-काल मे उसने इंग्लैण्ड का भ्रमण किया और वहाँ की शासन-व्यवस्था का अध्ययन और निरीक्षण किया। वाद मे उसी की तुलना अपने देश के शासन-विधान से की। राजकीय शक्तियो के विभाजन का सिद्धान्त (Theory of separation of powers) उस पर्यवेक्षण का ही फल है।

आधुनिक युग मे लार्ड ब्राइस ने इस पद्धति का समुचित अनुसरण किया है। ब्राइस ने स्विट्जरलैण्ड, सयुक्तराज्य अमेरिका, फ्रांस, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड इत्यादि देशो का भ्रमण कर वहाँ के राज्याधिकारियो से मेल-मुलाकात कर राज्य सस्थाओ की कार्य-विधि का स्वय निरीक्षण किया। तत्पश्चात् अपने वैयक्तिक अध्ययन और निरीक्षण के आधार पर उसने अपने विशाल ग्रन्थ "मॉडर्न डेमोक्रेसीज" (Modern Democracies) और "अमेरिकन कॉमनवैल्थ" (American Commonwealth) की रचना की। इन ग्रन्थो मे उसने इन देशों मे प्रचलित शासन-विधानो का और राजनीतिक सगठनो का तुलनात्मक अध्ययन किया और साथ ही कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाले जो कि सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यो (Democratic States) पर थोडे-बहुत हेर-फेर के वाद लागू किये जा सकते हैं।

यह अध्ययन-पद्धति काफी हद तक यथार्थवादी होती है और राजनीतिक जीवन

के वास्तविक तथ्यो के निकट होती है।

परन्तु इस पद्धति के अनुसरण मे भी पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है। लार्ड ब्राइस ने स्वय ही ऊपरी समानताओ के विरुद्ध चेतावनी दी है। केवल बाह्य समानताओ पर आश्रित परिणाम बहुत कुछ झूठ साबित होगे। दूसरा सांस्कृतिक भौगोलिक और आर्थिक परिस्थितियो के भेद की कभी उपेक्षा नही करनी चाहिए। निरीक्षण द्वारा प्राप्त सामग्री के आधार पर जल्दबाजी मे कभी कोई निर्णय नही करना चाहिए, उसकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल होनी चाहिए और फिर विभिन्न तथ्यो का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार से स्थापित करना चाहिए कि स्वभावत ही कारण और कार्य मे तारतम्य आ जाय।

दार्शनिक पद्धति (Philosophical method)—राजनीति शास्त्र की एक प्रमुख अध्ययन पद्धति है। उपर्युक्त सम्पूर्ण पद्धतियाँ व्याप्तिमूलक (Inductive) हैं। परन्तु यह वियोजक (Deductive) है। व्याप्तिमूलक अध्ययन पद्धतियाँ विशेष अवस्थाओ या घटनाओ के आधार पर सामान्य नियमो (General rules) की रचना करती हैं। परन्तु इसके विपरीत दार्शनिक पद्धति वियोजन (Deductive) होने के कारण निश्चित घटनाओ को अपना आधार नही बनाती अपितु एक नियम, कल्पना या विचार को आधार मान वास्तविक जीवन का अध्ययन करती है। राजनीति मे राजनीतिक घटनाओ या परिस्थितियो का अध्ययन कर यदि हम किसी सिद्धान्त की रचना करते हैं तो हम व्याप्तिमूलक (Inductive) अध्ययन-विधि का अनुसरण कर रहे होते हैं। परन्तु यदि हम किसी विशेष नियम को तो पहले बना लें और तब राजनीतिक परिस्थितियो का अध्ययन करें तो हम सामान्य से विशेष की ओर चलते हुए वियोजक अध्ययन-पद्धति (Deductive method of study) को अपनाते हैं। प्लेटो, रूसो, सिजविक तथा मिल इत्यादि राजनीति विचारको ने दार्शनिक पद्धति का अनुसरण किया है। इन लेखको ने पहले तो अपनी कल्पना के बल पर और नैतिक और दार्शनिक सिद्धान्तो का आश्रय ले कुछ सामान्य सिद्धान्त बना लिये फिर उनके आधार पर ऐसी राजनीतिक और सामाजिक सस्थाओ का चित्रण किया जो कि इन विचारो की प्राप्ति मे सहायक हो सकें। इन्ही निश्चित आधारो पर ही यह इतिहास का अध्ययन भी करती है।

इस पद्धति का एक बडा लाभ यह है कि यह हमारे सम्मुख ऐसे सामान्य नैतिक और दार्शनिक आदर्श प्रस्तुत कर देती है कि जिसके आधार पर हम राज्य के कार्यों का, उसके विभिन्न पक्षो का औचित्य और अनौचित्य जान सकते हैं। राज्य हमारे नैतिक नियमो से स्वतन्त्र नही, उसकी चेष्टाओ को भी नैतिक नियमो के आधार पर अच्छा या बुरा कहा जा सकता है। अच्छाई और बुराई के नापने के मान-दण्ड नीति-शास्त्र और दर्शन ही हमे देते है।

परन्तु इस पद्धति की सबसे बडी कमजोरी कल्पना का आधिक्य है। पुराने और नये युग मे सर्वत्र ऐसे राजनीतिक विचारक मिल जायेंगे जिन्होने कि इस पद्धति का अनुसरण करते हुए ऐसे आदर्श राज्यो का चित्रण किया जो वास्तविकता से दूर केवल

स्वप्न-लोक की ही चीज है। प्लेटो के 'रिपब्लिक' (Republic) मे एक ऐसे ही राज्य का चित्रण है जो कि पृथ्वी की चीज नही और जो मानवीय जीवन मे अप्राप्य है। ऐसे आदर्श का हमारे यथार्थ जीवन मे क्या महत्त्व जो कोरी भावुकता हो, जो कोरा स्वप्न हो। वस्तुत आदर्श के यथार्थ पर आधारित होने मे ही उसका मूल्य है।

निष्कर्ष—ऊपर के अध्ययन से एक बात स्पष्ट है कि कोई भी एक पद्धति अपने आप मे पूर्ण नही। वे एक दूसरे की पूरक बनकर ही पूर्ण बनती हैं। एक समुचित वैज्ञानिक पद्धति यथार्थ और आदर्श के समन्वय पर ही आधारित होगी। ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धतियाँ अपने आप मे अपूर्ण हैं, उनकी पूर्णता दार्शनिक पद्धति के मिश्रण से ही सम्भव है। कोरा यथार्थ अशिष्ट (Vulgar) हो जाता है, आदर्श या नैतिक मूल्य हमारे जीवन के अनुभव के परिणाम हैं, उनके बिना हमारा जीवन अर्थहीन है। और ऐसे आदर्श की भी हमे आवश्यकता नही जिसके पाँव पृथ्वी पर ही न हो और जो आकाश की बात हो। स्वस्थ आदर्श यथार्थ पर ही आधारित होगा उससे ऊपर या परे नही।

Important Questions

	Reference
1 Define "Political Science" and distinguish it from "Politics" and "Political Philosophy" (*P U 1937, 1953*)	Art 5
2 Discuss the scope of Political Science (*Punjab, 1939, Bombay, 1937, 1939*)	Art 2
3 Is Political Science really a science ? (*Punjab, 1937*)	Art 7
4 Discuss the meaning and scope of Political Science (*Punjab, 1956*)	Art 1 & 2
5 Discuss the nature and scope of Political Science and point out whether it is a science or not ?	Art 2 & 5
6 "When I see a good set of examination questions headed by the word 'Political Science' I regret not the questions but the title "—*Maitland* Discuss	Art 7
7 Discuss the different methods of studying Political Science	Art 8
8 Discuss the importance of the study of Political Science	Art 4

राजनीति शास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

(RELATION OF POLITICAL SCIENCE TO OTHER SOCIAL SCIENCES)

१. विभिन्न सामाजिक विज्ञान

पिछले अध्याय मे हमने कहा था कि समाज हमारे सामाजिक सम्बन्धो का समूह है (Society is web of social relationships)। ये सामजिक सम्बन्ध विविध हैं। ये आपस मे इतने अधिक मिले-जुले हैं कि इन्हे एक दूसरे से सर्वथा पृथक कर देना असम्भव नही तो कठिन अवश्य हैं। हमारे सामाजिक जीवन के ये विविध रूप सामाजिक विज्ञानो की विषय-वस्तु है। जिस प्रकार हमारे सामाजिक जीवन के राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरे से सम्वन्धित है, इसी प्रकार इन विभिन्न पक्षो का अध्ययन करने वाले सामाजिक विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास तथा मनोविज्ञान इत्यादि का भी एक दूसरे से घनिष्ठ सम्वन्ध है। इन सब का आधारभूत अध्ययन-विषय एक ही है—मनुष्य का सामाजिक जीवन। राज्य मानव-समाज का एक अग है, अत उसे समाज के अन्य अगो और पहलुओ से सर्वथा पृथक् कर सकना असम्भव है। राजनीतिक जीवन के व्यापक और समुचित अध्ययन के लिए हमे अन्य सामाजिक विज्ञानो का भी ज्ञान होना चाहिए। सब सामाजिक विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। सुप्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान पाल जेनेट (Paul Janet) का यह कथन सर्वथा सत्य है कि **"राज्य विज्ञान का अनेक विज्ञानों से निकट सम्बन्ध है। यथा अर्थशास्त्र के साथ, विधान के साथ—चाहे वह प्राकृतिक विधान हो और चाहे सिद्धयात्मक या विध्यात्मक (Positive) विधान, जिसका विवेच्य विषय है नागरिको के पारस्परिक सम्बन्ध सूत्र। इतिहास के साथ जो उसके लिए आवश्यक तथ्य सुलभ बनाता है, दर्शनशास्त्र के साथ और विशेषकर नीतिशास्त्र के साथ जिससे उसे अपने कुछ सिद्धान्त प्राप्त होते हैं।"** कुछ विद्वानो ने मनोविज्ञान, भूगोल, जाति विज्ञान आदि से भी राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध माना है।

इन सभी विज्ञानो मे परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि इनमे से किसी विज्ञान की स्वतन्त्र स्थिति नही। ऐसा समझना सर्वथा भ्रामक होगा। ये सभी विज्ञान अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र हैं। हमारे सामाजिक जीवन के विविध पहलुओ के विशेषाध्ययन (Specialised study) हैं। इन विविध विज्ञानो का राजनीति से क्या सम्बन्ध है इसकी विवेचना नीचे की जाती है।

१०. राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र (Sociology)

समाज शास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। यही कारण है कि इसे सामान्य रूप से सम्पूर्ण समाज का विज्ञान (Science of society) कहते हैं। हमारे सामाजिक जीवन के विविध पहलू हैं, उनके राजनीति, आर्थिक, नैतिक इत्यादि अनेक रूप है, परन्तु अन्तत. वे सब हैं सामाजिक ही। इन विविध रूप सामाजिक सम्बन्धो का अध्ययन समाजशास्त्र करता है। इसी कारण समाज शास्त्र को सभी सामाजिक विज्ञानो का जनक भी कहते हैं। राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनैतिक समाज (राज्य) का, उसकी सत्ता और संगठन का विकास कब और किस रूप मे हुआ, राज्य और अन्य सामाजिक समुदायो मे क्या सम्बन्ध है, किस प्रकार प्रकृत्या राज्य भी एक समुदाय था या है और किस प्रकार वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है इत्यादि प्रश्नो का उत्तर हमे समाज शास्त्र से ही मिलता है। वस्तुत दोनो मे इतनी समानता है कि कही भी सुनिश्चित विभाजक रेखा खींचना कठिन हो जाता है। रेटजनहावर (Ratzenehofr) ने कहा है कि 'राज्य अपनी प्रारम्भिक स्थिति मे एक राजनीतिक संस्था की अपेक्षा सामाजिक संस्था ही अधिक होता है। यह वास्तव में सत्य ही है कि राजनीतिक तथ्यो का आधार सामाजिक तथ्यो मे है और यदि राज्य-विज्ञान समाज-विज्ञान से भिन्न है तो वह इसी कारण कि उसके विस्तृत क्षेत्र के समुचित विवेचन के लिए विशेषज्ञो की आवश्यकता होती है इसलिए नहीं कि राज्यविज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान के बीच कोई सुनिश्चित विभाजिक रेखा है' समाजशास्त्र का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, वह अपने विषय-वस्तु की दृष्टि से राजनीति शास्त्र से पृथक् और स्वतन्त्र है इन दोनो मे भेद इस प्रकार है—

(१) समाज विज्ञान समाज का शास्त्र है। वह मनुष्य की सम्पूर्ण सामाजिकता का अध्ययन करता है। धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक इत्यादि सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध उसके क्षेत्र मे आ जाते हैं। परन्तु राजनीति शास्त्र का क्षेत्र सकुचित है। वह केवल राजनीतिक सम्बन्धो की ही विवेचना करता है। गिलक्राइस्ट के शब्दो मे "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। राजनीति शास्त्र राज्य का अथवा राजनीतिक समाज का विज्ञान है। समाजशास्त्र मे मनुष्य का एक सामाजिक प्राणी के रूप मे अध्ययन होता है और क्योंकि राजनीतिक संगठन एक विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन है इसलिए राजनीति शास्त्र समाजशास्त्र की अपेक्षा एक अधिक विशिष्ट शास्त्र है।"[1]

(२) राज्य के पूर्व समाज की स्थिति थी। इस समाज की क्या स्थिति थी, इसका क्या संगठन था, समाजशास्त्र इसका जवाब देता है, परन्तु राजनीति शास्त्र नही।

---

1 "Sociology is the science of society. Political science is science of the state or political society, Sociology studies man as a social being, and as political organisation is a special kind of social organisation, political science is more specialised science than Sociology"—*Gilchrist*.

दूसरे शब्दो मे समाजशास्त्र सगठित और असगठित सभी प्रकार के समुदायो का अध्ययन करता है, परन्तु राजनीति शास्त्र केवल राजनीतिक दृष्टि से सगठित समुदायो का ही।

(३) समाजशास्त्र जहाँ आधुनिक राज्यो द्वारा निर्धारित विधि-विधान का अध्ययन करता है वहाँ वह सामाजिक नियमन के साधन विभिन्न रीति-रिवाजो (Customs) और धार्मिक प्रथाओ का भी अध्ययन करता है। परन्तु राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध केवल उन्ही कानूनो मे ही होता है जो कि राज्य द्वारा निर्धारित किए जाते हैं।

(४) राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र मे एक और बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ समाजशास्त्र मे तथ्य कथन की प्रवृत्ति है वहाँ राजनीति शास्त्र मे तथ्य कथन के साथ आदर्श निर्धारण की भी। समाज शास्त्र हमारे आदर्शो से सम्बन्ध नही रखता, वह तो केवल इसी बात का अध्ययन करता है कि समाज क्या है, क्या रहा है। परन्तु समाज विज्ञान यह बताने का यत्न नही करता कि समाज का स्वरूप क्या होना चाहिए। यही कारण है कि समाज विज्ञान एक वर्णनात्मक विज्ञान (Descriptive science) माना गया है और राजनीति एक आदर्श-परक विज्ञान (Normative science)। राजनीति शास्त्र मे नैतिक मूल्यो और आदर्शो कि अवस्थिति होती है। वह यही नही विचारता की राज्य की स्थिति क्या है और क्या रही है वह यह भी बतलाता है कि राज्य की स्थिति क्या होनी चाहिए। वह राज्य के स्वरूप, कर्तव्य, ध्येय और आदर्शो का निर्णय भी करता है। वह विज्ञान के साथ-साथ दर्शन भी है, जब कि समाज शास्त्र कोरा विज्ञान।

इन भेदो के होते हुए भी हमे सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री गिडिंग्ज (Giddings) **के इस कथन को भूलना नहीं चाहिए कि "समाज विज्ञान के प्राथमिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ लोगों को राज्य के सिद्धान्तो का पढ़ना वैसा ही निरर्थक है जैसा न्यूटन द्वारा बताये गए गति के नियमो से अनभिज्ञ व्यक्ति का ज्योतिष पढना।"**

आज तो वस्तुत राजनीत शास्त्र को समाजशास्त्री और समाज वैज्ञानिको को राजनीति विशारद होना चाहिए।

११. राजनीति शास्त्र और इतिहास (History)

इतिहास राजनीति की प्रयोगशाला और पुस्तकालय दोनो ही है। राजनीतिक प्रवृत्तियो तथा राजनीतिक सस्थाओं के समुचित ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ऐतिहासिक अध्ययन की परम आवश्यकता है। इतिहास के अध्ययन से ही हमे पता चलता है कि विभिन्न राजनीतिक सस्थाओ का जन्म और विकास किस प्रकार हुआ और कहाँ तक वे अपने उद्देश्य-प्राप्ति मे सफल हो सकी। सभी मानवीय सस्थाओ की भाँति राज्य का भी ऐतिहासिक आधार है, इसको समझने के लिए इतिहास का अनुशीलन करना ही पडता है। इसी प्रकार इतिहास का भी पर्याप्त अश राजनीतिक है। इतिहास न केवल युद्ध और शान्ति का ही वर्णन करता है वह यह भी बतलाता है कि अमुक काल

मे राजनीतिक परिस्थितियाँ क्या थी, राजनीतिक वाद क्या थे और उनका ऐतिहासिक रूप मे क्या परिणाम हुआ। फ्रास की राज्य-क्रान्ति या रूस की राज्य-क्रान्ति महान् राजनीतिक घटनाएँ हैं, उनके समुचित अध्ययन के लिए हमे उन विचारधाराओ से परिचित होना ही चाहिए जिन्होंने क्रान्तिकारियो को प्रेरणा प्रदान की।

वर्तमान भारत का इतिहास राजनीतिक परिस्थितियो के वर्णन के विना अपूर्ण है। वर्तमान भारत के इतिहास मे क्या हम १६१६ के वैधानिक सुधार या १६३५ का विधान और उसके वाद क्रिप्स-योजना, कैविनट मिशन योजना इत्यादि छोड सकते है, इसी प्रकार क्या कोई इतिहास लेखक १६वी सदी का इतिहास लिखता हुआ साम्राज्य-वाद, व्यक्तिवाद, लोकतन्त्रवाद और साम्यवाद इत्यादि प्रसिद्ध राजनीतिक विचारधाराओ की उपेक्षा कर सकता है? वस्तुत राजनीति और इतिहास दोनो अन्योन्याश्रित हैं। सीली ने ठीक ही कहा है कि "विना राजनीति शास्त्र के इतिहास निष्फल है और विना इतिहास के राजनीति शास्त्र निर्मूल है।"[1] अन्यत्र सीली ने ही कहा है कि "इतिहास के उदार प्रभाव से वंचित होकर राजनीति शास्त्र अशिष्ट हो जाता है और राजनीति शास्त्र से विलग होकर इतिहास कोरमकोरा साहित्य मात्र ही रह जाता है।"[2] परन्तु इस घनिष्ठता का अर्थ यह कदापि नही कि "इतिहास अतीत की राजनीति है और राजनीति वर्तमान का इतिहास है।"[3] दोनो एक दूसरे के पूरक होते हुए भी अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र है। दोनो मे कुछ आधारभूत भेद हैं।

(१) राजनीति और इतिहास प्रकृत्या विभिन्न हैं। राजनीति मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक है और इतिहास वर्णनात्मक। राजनीति मे नैतिक और दार्शनिक आदर्श होते हैं और उनके आधार पर हम विभिन्न राजनीतिक सस्थाओ और घटनाओ का मूल्य निर्धारित करते है। इतिहास केवल वर्णन करता है, वह वर्णन भी आधुनिकतम नही होता। राजनीति आधुनिकतम (Up-to-date) है।

(२) इतिहास मे सभी कुछ राजनीति शास्त्र के काम की चीज नहीं। हमारा तो इतिहास के साथ वही तक सम्बन्ध है जहाँ तक कि वह राजनीतिक सस्थाओ के जन्म और विकास का वर्णन करता है, जहाँ तक वह विभिन्न मतवादो के आधारभूत ऐतिहासिक तथ्यो का वर्णन करता है। कला, साहित्य, भाषा, धर्म इत्यादि का इतिहास राजनीति के लिए कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नही। इसी कारण यह भी कहा जाता है कि इतिहास का राजनीति की अपेक्षा क्षेत्र अधिक विस्तृत है।

(३) इतिहास की विवेचन-पद्धति भी राजनीति शास्त्र से विभिन्न है। इतिहास मे प्रवन्धात्मकता रहती है, विभिन्न घटनाओ का कालक्रम सहित लेखा-जोखा रहता

---

1 "Politics without history has no root,
History without politics has no fruit"—*Seeley*

2 "Politics are vulgar when not liberalised by History and History fades into mere literature when it loses sight of its relations to Politics"—*Seeley*.

3 "History is nothing but past politics and politics is nothing but current History"—*Freeman*

है। परन्तु राजनीति का केवल उन्ही घटनाओ से सम्बन्ध रहता है जो कि राजनीतिक दृष्टि से उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार राजनीति और इतिहास मे केवल विषय-वस्तु का ही अन्तर नहीं, विवेचन-पद्धति, विस्तार और उद्देश्य का भी भेद है। उस भेद के रहते हुए भी राजनीति और इतिहास का कल्याण पारस्परिक आदान-प्रदान मे ही है। बर्गेस का कथन ठीक ही है कि यदि राजनीति शास्त्र और इतिहास को एक दूसरे से पृथक कर दिया जाए तो उनमें से एक मृत नहीं तो लगडा अवश्य हो जाएगा और दूसरा केवल आकाश पुष्प हो जाएगा।

१२. राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र (Economics)

प्राचीन काल मे अर्थशास्त्र राजनीति शास्त्र का एक भाग ही समझा जाता था। प्राचीन ग्रीस के सुप्रसिद्ध विचारक अरस्तू ने अर्थशास्त्र को राजनीति की एक शाखा माना है। भारत मे भी अर्थशास्त्र और राजनीति मे घनिष्ठ सम्बन्धो की उपस्थिति को स्वीकार किया गया है। चाणक्य ने राज्य पर लिखे अपने ग्रन्थ का नाम अर्थशास्त्र रखा था।

आज यद्यपि अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र दोनो अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र हैं तथापि दोनो एक दूसरे को बहुत प्रभावित करते है। आर्थिक परिस्थितियाँ राजनीतिक जीवन के स्वरूप को निर्धारित करती रहती हैं। इसी प्रकार हमारे समाज का आर्थिक जीवन न केवल राजनीतिक विचारधाराओ से प्रभावित होता है अपितु राज्य द्वारा नियन्त्रित भी किया जाता।

प्रारम्भ से ही आर्थिक परिस्थितियो का राजनीतिक जीवन पर प्रभाव स्वीकार किया गया है। राज्य का स्वरूप उसकी शासन-विधि और उसके कर्त्तव्य तथा उद्देश्य आर्थिक परिस्थितियो द्वारा प्रभावित होते रहते हैं। राजनीतिक विचारधाराओ का आधार भी बहुत सीमा तक आर्थिक हो सकता है। प्राचीन ग्रीस के विचारक प्लेटो ने भी अपने आदर्श राज्य की कल्पना मे सम्पत्ति के समूहीकरण की योजना द्वारा आर्थिक सस्थाओ के राजनीतिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव को स्वीकार किया। आधुनिक युग मे कार्ल मार्क्स ने तो हमारे राजनीतिक जीवन मे आर्थिक परिस्थितियो का बहुत महत्त्व माना है। उसका कथन है कि हमारे समाज का सम्पूर्ण राजनीतिक ढांचा आर्थिक परिस्थितियो का प्रतिबिम्ब मात्र है। यह सिद्धान्त तो विवादग्रस्त हो सकता है, परन्तु इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि आर्थिक परिस्थितियाँ हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन का काफी हद तक स्वरूप निर्धारित करती है। आज के बहुत से राजनीतिक सिद्धान्त यथा साम्यवाद, समाजवाद, श्रेणी साम्यवाद (Guild Socialism) इत्यादि मुख्य रूप से आर्थिक समस्याओ से ही सम्बन्धित हैं। औद्योगिक क्रान्ति के अनन्तर तो यह सम्बन्ध और भी अधिक गहरा और स्पष्ट हो गया है। वर्तमान काल की आर्थिक परिस्थितियाँ ही राज्य के प्राचीन निषेधात्मक (Negative) रूप को बदल रही हैं। आज हम समझते हैं कि राज्य का काम

केवल हमारे राजनीतिक जीवन का नियन्त्रण ही नही, उसे हमारे आर्थिक और सास्कृतिक जीवन का भी नियमन करना चाहिए। प्रजातन्त्र का सिद्धान्त और उसकी शासन-प्रणाली हमारी आर्थिक परिस्थितियो के परिवर्तन का ही परिणाम है।

आज के राज्य का आर्थिक स्वरूप भी है। कर-पद्धति, सिक्के (Currency), श्रमिक विवान (Labour legislation), आयात-निर्यात सम्वन्वी कानून, रेल, विजली, व्यापार, उद्योगो का सरकारी नियन्त्रण, अनुवन्ध (Contracts) सस्थान व्यवस्था (Corporation system) का विकास इत्यादि वहुत से ऐसे आर्थिक प्रश्न हैं जिनका सुलझाव और नियमन राज्य द्वारा ही सम्पन्न होता है। आज के प्रत्येक राज्य मे चाहे वह समाजवादी हो या पूंजीवादी, राज्य के आर्थिक कर्त्तव्य नित्य-प्रति वढते चले जा रहे हैं। अमेरिका और इग्लैण्ड जैसे पूंजीवादी देशो मे भी राज्य दिन-प्रतिदिन आर्थिक जीवन मे अधिक से अधिक दखल दे रहा है। रूस, चीन, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया आदि समाजवादी राज्यो मे तो देश की आर्थिक व्यवस्था सर्वथा राज्य के ही नियन्त्रण मे है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र की घनिष्ठता स्पष्ट है परन्तु इन निकट सम्वन्धो के वावजूद भी दोनो अपनी प्रकृति मे एक दूसरे से भिन्न हैं और अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्रण हैं।

(२) राजनीतिशास्त्र का मम्वन्ध, आइवर व्राउन (Ivor Brown) के अनुसार समाज के अंगभूत व्यक्तियों से हैं। अर्थशास्त्र का मुख्यतया वस्तुओ से। व्यक्ति से भी आज का अर्थशास्त्री सम्वन्ध स्थापित कर रहा है, परन्तु साध्य के रूप मे नही सावन के रूप मे ही। अर्थशास्त्र मे व्यक्ति का वर्णन उत्पादक, विक्रेता और उपभोक्ता के रूप मे ही है। राजनीनि शास्त्र मे भी वस्तुओ का अध्ययन होता है परन्तु वही तक जहाँ तक कि वे हमारे नैतिक मूल्यो से सम्वन्धित हैं उससे परे या ऊपर नही।

राजनीति शास्त्र मे नैतिक मानदण्ड है और उन्ही के आवार पर विभिन्न राजनीतिक सस्थाओ का मूल्य निर्वारित किया जाता है। दूसरे शव्दो मे वह आदर्श-परक (Normative) विज्ञान है। परन्तु अर्थशास्त्र मुख्यत व्याख्यात्मक विज्ञान (Descriptive science) है और इमी कारण आदर्शशून्य। वस्तुत इस कथन मे पर्याप्त सत्य है कि अर्थशास्त्री वह व्यक्ति है जो दाम (Price) तो सभी चीजों के जानता है पर मूल्य या महत्त्व (Value) एक का भी नही।

१३ राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र (Ethics)

नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र मानवीय आचरण के अच्छे और वुरे, उचित और अनुचित इत्यादि के मानदण्ड की व्यवस्था करता है। राजनीति शास्त्र का भी मनुष्य के आचरण से सम्वन्व है, वह उचित और अनुचित, अच्छे और वुरे की व्यवस्था करता है। यही कारण है कि दोनो विज्ञान परस्पर सम्वन्वित हैं। राज्य एक सामाजिक सस्था है, नीतिशास्त्र सामाजिक सस्थाओ के उद्देश्य निर्धारित करता है। राजनीति

शास्त्र राज्य का विज्ञान है, इसके उद्देश्य कर्त्तव्य और स्वरूप का निर्धारण करता हुआ वह सदा नीतिशास्त्र की सहायता लेता है। राज्य का आधार नैतिक (Moral) है। वह जन-कल्याण के लिए अवस्थित है। परन्तु जन-कल्याण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर नीतिशास्त्र के सहयोग से ही सम्भव है। अच्छे या बुरे राज्य या राज्य-व्यवस्था के क्या लक्षण है, अच्छे या बुरे नागरिक के क्या गुण और अवगुण हैं इत्यादि प्रश्न भी नीति शास्त्र की सहायता से हो हल किये जा सकते हैं।

राजनीति और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। प्राचीन ग्रीस और भारत मे दार्शनिको ने राजनीति और नीतिशास्त्र मे कभी स्पष्ट भेद ही नही किया। प्राचीन यूनानी विचारक प्लेटो ने तो नीतिशास्त्र मे ही सम्पूर्ण विज्ञानो की अवस्थिति को स्वीकार करते हुए राजनीति को उसी का एक अग माना है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य नैतिक और सरकार का कर्त्तव्य उन नैतिक उद्देश्यो की प्राप्ति है। इसीलिए प्लेटो के अनुसार राज्य के प्रत्येक नागरिक को सद्वृत्तियो मे दीक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था, साम्यवाद, आदर्श राज्य की कल्पना इत्यादि सभी नैतिक आदर्शों से प्रेरित हैं। उसका विश्वास था कि अच्छे राज्य मे ही अच्छे नागरिक तैयार हो सकते है।

यह कहा जाता है कि प्लेटो के पश्चात् उसके शिष्य अरस्तु द्वारा किया गया इनका पार्थक्य इस बात को सिद्ध नही करता कि अरस्तू राज्य की नैतिक मर्यादाओ को स्वीकार नही करता या उसका कोई नैतिक उद्देश्य नही मानता। अरस्तू द्वारा किया गया यह विभाजन बहुत कुछ उस यथार्थवादी अध्ययन-पद्धति का परिणाम है जिसका कि वह अनुसरण कर रहा था। तात्विक दृष्टि से अरस्तू ने राज्य को एक नैतिक सस्था मानते हुए उसके उद्देश्यो की नैतिक दृष्टि से व्याख्या की है। वस्तुत पश्चिमी राजनीति और नीतिशास्त्र मे पूर्ण पार्थक्य स्थापित करने वालो मे मेकियावली ही सर्वप्रमुख है। यह ठीक है कि यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इसका आधार हमे सेंट आगस्टाइन की विचारधारा मे मिल जाएगा। यह कोई आश्चर्य की बात नही कि ईसाई पादरियो ने अपने धार्मिक जोश मे अनजान मे ही एक ऐसी विचारधारा का प्रचलन किया जो अन्तत नीतिशास्त्र और राजनीति का विभेद करा कर ही रुकी। सेण्ट आगस्टाइन ने मानवीय जीवन को लौकिक और पारलौकिक दो विभागो मे विभक्त कर न केवल उसके कर्मों का ही ऐसा विभाजन किया अपितु उसके सामाजिक जीवन का भी बँटवारा कर डाला। अपने ग्रन्थ 'The City of God' मे उसने ईश्वरीय नगर और सासारिक नगर का वर्णन किया है। ईश्वरीय नगर का लौकिक रूप 'चर्च' है। इस प्रकार उसने हमारे आचरण के दो रूप मान लिए—एक तो दूसरे लोक से सम्बन्धित और दूसरा इस लोक से। एक तो धार्मिक, दूसरा राजनीतिक। इन दोनो मे उसने धार्मिक जीवन की महत्ता ही स्वीकार की। हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन यूनान मे जीवन अपने समग्र रूप (Wholeness) मे ग्रहण किया जाता रहा है। उनके अनुसार राजनीतिक जीवन हमारे जीवन के सभी पक्षो को अपने भीतर समाए हुए हैं। आगस्टाइन द्वारा किया गया यह भेद राजनीतिक

और धार्मिक दो प्रकार की नीति-व्यवस्थाओ का जनक साबित हुआ। जब तक चर्च का जोर रहा चर्च की नीति-व्यवस्था चली और जब चर्च का जोर घटने लगा तो राजनीतिक नीति का जोर बढ गया। यह राजनीतिक आचरण-व्यवस्था नीति-निरपेक्ष हो गई, यह आकस्मिक बात नही थी। यह तो उस विचार-परम्परा के विकास का ही परिणाम था जिसे सेण्ट आगस्टाइन ने जन्म दिया। मेकयावली ने नीतिनिरपेक्ष राजनीति को जन्म दिया। उसके अनन्तर तो बोदीन (Bodin), ग्रोशियस (Grotious), हॉब्स (Hobbes), तथा लॉक (Locke) इत्यादि ने उसकी नीति-निरपेक्ष राजनीति का पूर्ण अनुसरण किया। राजनीति और नीतिशास्त्र का पुनर्मिलन हम रूसो (Rousseau) के विचारो मे पाते हैं। प्लेटो और अरस्तू के बाद रूसो ही एक ऐसा विचारक है कि जिसने राज्य को नैतिक संस्था स्वीकार किया और उसके उद्देश्य नैतिक माने। रूसो के विचारो का ही अनुसरण करते हुए काण्ट (Kant), हीगल (Hegal), ग्रीन (T. H Green) इत्यादि आधुनिक विचारको ने राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र को एक दूसरे के निकट ला दिया।

आधुनिक विचारक तो नीतिशास्त्र और राजनीति को एक दूसरे के लिए पूरक समझते ही हैं। आइवर ब्राउन (Ivor Brown) ने कहा है कि "राजनैतिक सिद्धान्तो के अभाव मे नैतिक सिद्धान्तवाद अपूर्ण रह जाता है, क्योकि मानव एक सामाजिक प्राणी है और समाज से पृथक नहीं रह सकता। नैतिक सिद्धान्तो के अभाव मे राजनीतिक सिद्धान्त सारहीन रह जाते हैं, क्योकि उनका अध्ययन और उनके परिणाम मूलत हमारी नैतिक मूल्यो की व्यवस्था पर, हमारी सही और गलत की धारणाओ पर आश्रित रहते हैं।" एक अन्य लेखक का विचार है कि राजनीति शास्त्र और आचार शास्त्र का विभेद दोनो के लिए हितकर नही। नीतिशास्त्र से अलग होकर राजनीति शास्त्र बालू के अस्थिर आधार पर टिकने का प्रयत्न करता है। और नीतिशास्त्र राजनीति से अलग होकर सकीर्ण और कल्पनात्मक हो जाता है।" जार्ज केटलिन और लार्ड ऐक्टन ने भी दोनो के सम्बन्ध की निकटता को स्वीकार करते हुए कहा कि नीतिशास्त्र राज्य के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है और हमारे लिए मूल्य और मानदण्ड। वह हमारा राजनीतिक जीवन मे पथ-प्रदर्शन करता है।

अन्त मे हमे इस निकटता को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पडेगा कि राजनीति और नीतिशास्त्र एक दूसरे से स्वतन्त्र स्थिति भी रखते हैं। राजनीति हमारे बाह्य जीवन का अध्ययन है, वह व्यक्ति के बाह्य जीवन के नियमन के लिए साधन प्रस्तुत करता है। राज्य द्वारा बनाये गये कानून हमारी बाहरी जिन्दगी से ही सम्बन्धित हैं। परन्तु आचारशास्त्र हमारे मन, विचार और अन्त करण की सूक्ष्म वृत्तियो का नियमन तो करता ही है साथ ही साथ बाहरी जिन्दगी के नियम भी सुझाता है।

१४. राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान (Psychology)

मनुष्य के मन की क्रिया-प्रक्रिया का अध्ययन करने वाले शास्त्र को मनो-

विज्ञान कहते है। राज्य मानव-मस्था है, अत यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उम पर मनुष्य की मानसिक क्रिया-प्रक्रिया का प्रभाव पडे। हमारा मामाजिक आचरण मानसिक प्रेरणा का ही फल है। अत राजनीति शास्त्र जब हमारी राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है तो उसे मनोविज्ञान का भी आश्रय लेना पडता है। क्योकि हमारे राजनीतिक, मामाजिक मगठनो का आधार तर्क-बुद्धि के माथ-माथ अन्त-प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ भी हैं। इनके ममुचित ज्ञान के बिना राज्य-मस्थाओ मे होने वाले परिवर्तनो का समझना हमारे लिए कठिन हो जायगा।

व्यावहारिक राजनीतिक जीवन मे तो मनोविज्ञान का और भी अधिक महत्व है। जनता की मानमिक दशा (Psychology) का अनुमान लगाये बिना जब कभी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया गया या जब कभी ऐमे क्रान्तिकारी, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन किये गये जिनके लिए जन-सामान्य मानमिक रूप तैयार नही था, तभी उनका विरोध हुआ और उन्हे निष्फल कर दिया गया। इमी प्रकार एक सफल राजनीतिक नेता के लिए एक मफल मनोवैज्ञानिक होना भी आवश्यक है। जनता की मानसिक स्थिति को समझने वाला नेता ही उसे अपने पीछे चला मकता है। राजनीतिक शासन-प्रणालियाँ भी तभी सफल हो सकती हैं जब कि वह जनता की मानसिक प्रवृत्ति पर आधारित हो।

आज राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे मनोविज्ञान का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ रहा है। बार्कर ने ठीक ही कहा है कि **"मनुष्य के कार्यों की पहेली सुलझाने में मनोविज्ञान का प्रयोग आजकल एक फैशन हो गया है। यदि हमारे पूर्वज जीव-विज्ञान के दृष्टिकोण से विचार करते थे तो हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से।"**[1]

राज्य की समस्याओ पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने वालो मे इग्लैण्ड मे वाल्टर वेजहॉट (W Bagehot), ग्राहम वेलस (Grahm Walles), मैक्डूगल फ्रांस में टार्ड (Traed), दुरखियम (Durkheim), लेबा (Le-Ban) तथा अमेरिका के बाल्डविन (Baldwin) प्रमुख हैं।

इन राजनीतिक मनोवैज्ञानिको का कथन है कि राजनीतिक क्रियाओ मे मनुष्य अपनी तर्क-बुद्धि (Reason) द्वारा नहीं अपितु भाव (Emotion), प्रवृत्ति (Instinct), आदत (Habit), अनुकरण (Imitation), तथा सकेत (Suggestion) द्वारा कार्य प्रवृत्त होता है। अत राजनीतिक क्रियाओ के समुचित अध्ययन के लिए इन मानव-स्वभाव के तत्त्वो के समझने की परम आवश्यकता है।

परन्तु मनोविज्ञान का राजनीति मे प्रयोग कुछ निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत ही हो सकता है। पहले तो हमे यह समझ लेना चाहिये कि मनोवैज्ञानिक जिन मानसिक प्रवृत्तियो (Motive forces) को हमारी क्रियाओ का मूल प्रेरक मानते हैं वे अभी तक सर्वथा अनिश्चित हैं। मानव-मन की व्यवस्था बहुत जटिल (Com-

---

1 "The application of the psychological clue to the riddles of human activity has indeed become the fashion of the day If our fathers thought biologically, we think psychologically."—*E Barker*

plcx) है। वह किसी एक या दो-चार प्रवृत्तियो का परिणाम नही जैसा कि मैक्डूगल तथा वेलस मानते हैं। मैक्डूगल की Instinct theory—मन प्रवृत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त—तो आज स्वीकार ही नही किया जाता। वेलस के इस कथन मे सत्य का पर्याप्त अश है कि हमारे कुछ सामाजिक कार्य तर्क-बुद्धि के आधार पर उचित नही प्रतीत होते और हमारी विधान-पालिकाओ मे अक्सर भीड प्रवृत्ति—Mob Psychology—का ही प्रदर्शन होता है। परन्तु तर्क-बुद्धि का राजनीतिक क्षेत्र मे कुछ महत्त्व ही नही, यह सर्वथा भ्रामक है।

हमारी तथाकथित प्रवृत्तियाँ भी तो सामाजिक वातावरण मे पालित, पोपित और परिवर्द्धित होती रहती हैं। उन सव का समाज मे सस्कार होता रहता है, हम केवल असंस्कृत प्रवृत्तियो के आधार पर ही सस्कृत जीवन का अध्ययन नही कर सकते।

फिर राजनीति शास्त्र मूल्यो और आदर्शों को स्थापित करता है जव कि मनोविज्ञान का अध्ययन तथ्यपूर्ण होता है अत राजनीति शास्त्र अधिकतर दर्शन तथा नीति इत्यादि आदर्शपरक शास्त्रो (Normative sciences) की ओर अधिक झुकता है, मनोविज्ञान की ओर कम।

१५ राजनीति शास्त्र और भूगोल (Geography)

मानव के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पर भौगोलिक तथा भौतिक परिस्थितियो का प्रभाव पडता है, इस वात से सभी राजनीति शास्त्र और समाजशास्त्र के लेखक सहमत हैं। देश के राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर पर्वत तथा नदियाँ, मैदान तथा रेगिस्तान, समुद्र और खनिज पदार्थ इत्यादि की उपस्थिति या अनुपस्थिति का विशेप प्रभाव होता है। इग्लैण्ड ससार मे वहुत देर तक समुद्र की लहरो पर शासन करता रहा है, क्योकि उनके चारो ओर समुद्र की अवस्थिति ने उसे दुनिया की महान् नौ शक्ति वना दिया। औद्योगिक दृष्टि से इग्लैण्ड दूसरे देशो की अपेक्षा शीघ्र उन्नत हो गया इसका वडा कारण औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक खनिज-पदार्थो की वहुलता ही थी। भारत की अध्यात्मप्रधान संस्कृति यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियो का ही परिणाम समझी जाती है। प्राचीन यूनान मे वहुत देर तक स्वतन्त्र नगर राज्य टिक सके और उनके स्थान पर वहुत समय तक एक यूनानी साम्राज्य न वन सका, इसकी वडी वजह यूनान के मुश्किल से पार किये जाने वाले पहाडी प्रदेश थे। अफगानिस्तान और नैपाल दुनिया की प्रगति की दौड मे अपनी भौगोलिक परिस्थितियो के कारण ही पीछे रह गये।

परन्तु कुछ राजनीति-विशारदो ने भौगोलिक परिस्थितियो का प्रत्यक्ष और निर्णयात्मक (Deterministic) प्रभाव स्वीकार किया है। उनका कथन है कि एक विशेष प्रकार का भौतिक वातावरण एक विशेष राज्य-प्रणाली का जन्मदाता होता है। रूसो (Rousseau) के मतानुसार ग्रीष्म जलवायु मे एकतन्त्र स्वेच्छाचारी (Despotism) शासन का विकास होता है। अनि [illegible] त जलवायु मे बर्बरता और

समशीतोष्ण (मध्यम प्रकार की) जलवायु मे सुव्यवस्थित राज्य-पद्धति (Good polity) का विकास होता है। उसने छोटे-छोटे देशो के लिए प्रजातन्त्र और बडे देशो के लिए राजतन्त्र (Monarchy) को उपयुक्त माना है।

मॉन्तेस्क्यू (Montesquieu) ने भी राजनीतिक जीवन और विचारधाराओ पर भौगोलिक परिस्थितियो के निर्णयात्मक प्रभाव को स्वीकार किया है। उसका कथन है कि शीत जलवायु स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के लिए विशेष अनुकूल है। उसके अनुसार गर्म जलवायु निरकुश शासन (Despotism) के लिए और शीत जलवायु जनतन्त्रवाद (Democracy) के लिए विशेष उपयुक्त होता है।

आधुनिक काल मे वलशली, ट्रीटशे, हरिङ्गटन इत्यादि ने वाह्य भौगोलिक परिस्थितियों का हमारे राजनीतिक जीवन पर विशिष्ट प्रभाव स्वीकार किया है।

वकल (Backle) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'सभ्यता का इतिहास' (History of Civilization) मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक प्रवृत्तियो का, उसकी राजनीतिक क्रियाओ और सस्थाओ का निर्माण और विकास मनुष्य की इच्छाशक्ति द्वारा नही अपितु भौतिक तथा भौगोलिक वातावरण के प्रभावस्वरूप होता है। उसने जलवायु, भोजन, धरती तथा प्रकृति के अन्य सामान्य रूपो का मानव के सामाजिक जीवन मे निर्णयात्मक रूप मान लिया है। भौगोलिक परिस्थितियो का इस प्रकार का स्वरूप अतिशयोक्तिपूर्ण है। यह बहुत बढा-चढाकर बतलाया गया है। आज भूगोल का हमारे सामाजिक जीवन मे वह महत्त्वपूर्ण स्थान नही जो प्रारम्भिक युग मे था। भौगोलिक परिस्थितियाँ हमारे जीवन को अप्रत्यक्ष (Indirect) रूप से प्रभावित करती हैं, प्रत्यक्ष रूप से नही, फिर आज तो हमने भौगोलिक परिस्थितियो को बहुत कुछ अपने वश मे कर लिया है। हम प्रकृति के नाना रूपो को अपनी सभ्यता (Technical civilization) मे प्राप्त नवीन साधनो से बहुत कुछ परिवर्तित कर सकते हैं।

यह कहना भी सर्वथा गलत है कि गर्म जलवायु एकतन्त्र और निरकुश शासन के लिए उपयुक्त होता है और शीत प्रजातन्त्र के लिए। प्राचीन ग्रीस और भारत दोनो मे ही गणतन्त्रो का विकास हुआ और मध्यकालीन पूर्व और पश्चिम दोनो मे ही निरकुश राजतन्त्रो का।

हमारे सामाजिक जीवन मे भौगोलिक परिस्थितयाँ निर्णयात्मक रूप मे बहुत काम आती हैं, विशेष रूप से आधुनिक जमाने मे। यदि हम विभिन्न देशो के इतिहास का अध्ययन करें तो हमे यह स्पष्ट हो जायगा कि सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ इतनी शीघ्रता से परिवर्तित होती हैं जितनी कि भौगोलिक परिस्थितियाँ कभी भी नही। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि वैदिक काल से लेकर आज तक भारत की राजनीतिक परिस्थितियो मे अनेक परिवर्तन हो गये, अनेक राजनीतिक व्यवस्थाएँ बनी और मिटी, अनेक राजनीतिक वाद प्रचलित हुए और समाप्त हो गये, परन्तु भौगोलिक परिस्थितियो मे कोई विशेष अन्तर नही पडा। यूरोप मे भी विगत शताब्दियो मे दास-प्रथा, सामन्तवाद, राजतन्त्रवाद, प्रजातन्त्रवाद और अब समाजवाद

इत्यादि शासन-प्रणाली के अनेक रूप और सिद्धान्त प्रचलित हुए परन्तु भौगोलिक परिस्थितियाँ अपने आप मे वही रही, उनमे कोई विशेष परिवर्तन नही हुए।

इस प्रकार राजनीति और भूगोल का सम्बन्ध प्रत्यक्ष नही अप्रत्यक्ष ही अधिक है, विशेषरूप से आज के युग मे।

१६. राजनीति शास्त्र तथा अन्य विज्ञान

राज्य विज्ञान का उपर्युक्त विज्ञानो के अतिरिक्त जीव विज्ञान (Biology), मानव शरीर रचना विज्ञान (Anthropology), गणनाशास्त्र (Statistics), नागरिकशास्त्र (Civics) तथा विधानशास्त्र (Jurisprudence) इत्यादि से भी गहरा सम्बन्ध समझा जाता है। जहाँ तक नागरिकशास्त्र और विधानशास्त्र का सम्बन्ध है वे तो राजनीति शास्त्र के ही भाग समझे जाते हैं। नागरिकशास्त्र बहुत कुछ राजनीति शास्त्र पर ही आधारित है; क्योकि नागरिकशास्त्र मे वर्णित अधिकार और कर्तव्य राज्य और उसके स्वरूप, शासन और उसका सगठन इत्यादि सभी राजनीति शास्त्र मे विस्तारपूर्वक समाविष्ट रहते है।

विधानशास्त्र राजकीय कानूनो का अध्ययन है। राज्य विज्ञान पर ही आधारित है। अत: राज्य विज्ञान मे कानून, उसके विविध स्रोत और रूप सभी सम्मिलित किए जाते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सभी सामाजिक विज्ञान परस्पर सम्बन्धित हैं। वस्तुत ज्ञान तो अखण्ड है, उसका विभाजन तो हम केवल अपने अध्ययन की सुविधा के लिए करते हैं। अत इस अखण्ड ज्ञान का राजनीति शास्त्र एक अग है; वह इन सबसे भली प्रकार से सम्बन्धित है; इसके समुचित ज्ञान के लिए अन्य विज्ञानो का अध्ययन भी आवश्यक है।

Important Questions

	Reference
1. Define the nature and the scope of Political Science and discuss its relations to Economics and Psychology (*Punjab, 1946*)	Arts 12 and 14
2 What is the relation of Political Science with (*a*) History, (*b*) Economics, (*c*) Ethics (*d*) Sociology, (*e*) Psychology (*Ag 1933, 1939, Bomy 1936, 1937, 1941; Cal. 1935, Pun 1938, 1941, 1948, 1950, 1952, 1953*).	Arts 9 to 14

३

राज्य और उसका स्वरूप

(STATE AND ITS CHARACTERISTICS)

१७ राज्य का महत्त्व

राजनीति शास्त्र का अध्ययन विषय राज्य है, अत हमे 'राज्य' शब्द के अर्थ उसकी व्यापकता और उसकी प्रकृति से भली भाँति परिचित होना चाहिए। हमारे सामाजिक जीवन मे व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने का उत्तरदायित्व राज्य पर है। मानवीय सस्कृति के प्रारम्भ मे राज्य का क्या स्वरूप रहा होगा यह कह सकना तो कठिन है, परन्तु जहाँ कही भी सामाजिक सगठन होता है वहाँ किसी न किसी प्रकार की अधिकार शक्ति की स्थापना हो जाती है। यही अधिकार-शक्ति राज्य की नींव है। पुराने कबीलो (Tribes) मे यह शक्ति सरदार या मुखिया (Chief) के पास होती थी और उसके आदेश का पालन सभी सदस्य करते थे। इसी सरदार की शक्ति ही बाद मे विकसित हो राजकीय शक्ति बन गई।

राज्य शान्ति और व्यवस्था को कायम रख जहाँ वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा (Security) का आश्वासन देता है वहाँ सामाजिक सहयोग के लिए उस वातावरण की रचना भी करता है जो कि सस्कृति और सभ्यता के विकास के लिए परमावश्यक है।

राज्य हमारे लिए प्राकृतिक भी है और आवश्यक भी। राज्य प्राकृतिक तो इसलिए है कि वह हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियो का फल है। प्लेटो का यह कथन कि कोई भी मनुष्य स्वत पूर्ण (Self-sufficient) नही है, एक परम सत्य है। हमारी बहुत-सी ऐसी शरीरिक और मानसिक आवश्यकताएँ है जिनकी पूर्ति के लिए हम सामाजिक सम्बन्धो की स्थापना करते है। परिवार की रचना हमारी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही हुई। अनेक परिवारो से मिलकर गाँव और गाँवो के समूह ही (नगर) राज्य के आधार बने। कोई भी परिवार अपने आप मे पूर्ण नही होता, अत अनेक परिवारो के आपस मे सम्बन्धो की स्थापना उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार अनेक मनुष्यो मे सामाजिक सम्बन्धो का। **अरस्तू का कथन है कि जो मनुष्य राज्य मे रहने की आवश्यकता को अनुभव नहीं करता वह या तो देव है और या पशु।** अरस्तु के अनुसार तो राज्य प्राथमिक है। वह व्यक्तियो से भी पहले आता है। इसका अर्थ यह नही कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य का उदय व्यक्तियो से पहले हुआ, अपितु इसका मतलब यह है कि मानसिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले ही हो चुका था। क्योकि वास्तविक राज्य के जन्म से पूर्व ही बौद्धिक दृष्टि से मनुष्य के मस्तिष्क मे राज्य का विचार (Idea) पूर्ण विकसित रूप धारण कर चुका था।

राज्य आवश्यक है, क्योंकि विना राज्य के हम शान्तिपूर्ण व व्यवस्थित जीवन नही विता सकते। वस्तुत विना राज्य के समाज की अवस्थिति ही असम्भव है। कुछ देर के लिए राज्य के विना मानव-जीवन का ख्याल कीजिए। पुलिस, अदालत, न्याय-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था के खत्म होने पर क्या हमारे समाज मे 'मात्स्य-न्याय' नही चल पडेगा ? जैसे छोटी मछली वडी मछली को निगल जाती है, वैसे ही राज्य की अनुपस्थिति मे कमजोर आदमी शक्तिशाली के लिए शिकार ही वन जाएगा। अत. जीवन की सुरक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।

अरस्तू (Aristotle) ने कहा था कि "राज्य का अस्तित्व केवल जीवन के लिए ही नहीं वल्कि उत्तम जीवन के लिए होता है।"[1] दूसरे शब्दो मे राज्य की आवश्यकता केवल इसलिए नही है कि वह हमारी कुछ शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओ को पूर्ण करता है वल्कि इसलिए भी है कि उसके विना सर्वप्रकार से सुखपूर्ण, सुसस्कृत और सुसभ्य जीवन की प्राप्ति भी असम्भव होती है।

१८. राज्य शब्द की व्याख्या

हिन्दी का राज्य शब्द अग्रेजी के State शब्द का पर्यायवाची है। प्राचीन यूनान मे राज्य के लिए पोलिस (Polis) शब्द प्रयोग किया जाता था जिस का अर्थ नगर राज्य (City State) था। प्राचीन यूनान के छोटे-छोटे राज्यो के लिए यह शब्द सर्वथा ठीक था परन्तु आज के विशाल राज्यो के लिए नही। स्टेट शब्द का राज्य के अर्थ मे सर्वप्रथम प्रयोग इटली के राजनीति शास्त्री मेकियावली ने किया था।

अग्रेजी के स्टेट (State) शब्द की भाँति हिन्दी के राज्य शब्द का प्रयोग भी विविध अर्थो मे होता है। क्योंकि 'राज्य' शब्द का राजनीति शास्त्र मे अत्यन्त महत्त्व है अत. इसके वैज्ञानिक अर्थ का हमे अवश्य ज्ञान होना चाहिए।

राज्य शब्द का प्रयोग 'राष्ट्र' 'समाज', 'सरकार' तथा 'देश' इत्यादि के अर्थ मे किया जाता है। जहाँ फ्रास, चीन, भारत और सयुक्त राज्य अमेरिका को हम राज्य कहते है वहाँ वगाल, पजाव, उत्तर प्रदेश हैदरावाद, न्यूयार्क, कैलीफोर्निया इत्यादि को भी राज्य कहा जाता है। भारत और सयुक्तराज्य अमेरिका सघ राज्य (Federation) हैं वगाल, पजावत था न्यूयार्क इत्यादि इन राज्यो के सदस्य (Component units) हैं, स्वतन्त्र राज्य नही। वैज्ञानिक दृष्टि से इन्हे हम राज्य नही कह सकते, क्योंकि इन सवके पास प्रभुता (Sovereignty) का अभाव है, वे अपने अन्दरूनी और वाहरी, मामलो मे पूरी तरह से स्वतन्त्र नही। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत के वहुत से देशी राज्य (Native States) यथा जयपुर, जोधपुर, काश्मीर इत्यादि राज्य (States) कहलाते थे और उनके शासक महाराजा, राजा या नवाव कहलाते थे। परन्तु विशुद्ध राजनीति विज्ञान के अनुसार इन्हे राज्य कहना सर्वथा

1 "The State exists for the sake of good life and not for life only"—*Aristotle*

गलत है। १५ अगस्त, १९४७ से पूर्व तो भारत स्वय एक राज्य नही था, चाहे वह राष्ट्रसघ (The League of Nations) का सदस्य था, क्योंकि भारत और ये अन्य राज्य ब्रिटिश सरकार के अधीन थे और प्रभुता (Sovereignty) हीन थे। राजनीति शास्त्र मे तो केवल प्रभुतासम्पन्न (Sovereign) राज्यो पर ही विचार किया जाता है, अन्य पर नही।

राज्य और सरकार शब्द भी बहुधा समानार्थक शब्दो के रूप मे इस्तेमाल किए जाते है। हम साधारणत कहते हैं कि राज्य को हमारे आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करना चाहिए या धर्म के मामले मे दखल नही देना चाहिए तो दरअसल हमारा मतलब राज्य (State) से न हो सरकार (Government) से होता है। फ्रास के १४वे लुई ने जब यह कहा था कि "मैं ही राज्य हूँ" (I am the State) तो वह स्वय राज्य नही था अपितु राज्य का एक अग—सरकार था। सरकार राज्य का एक हिस्सा है। वह राज्य की इच्छा पूर्ति का साधन है। जिस प्रकार मस्तिष्क को हम शरीर नही कह सकते या एक कम्पनी के डायरेक्टरो के बोर्ड को ही कम्पनी नहीं कह सकते उसी प्रकार एक सरकार राज्य नही कहलाती। राज्य और सरकार का अन्तर हम विस्तार से आगे चलकर स्पष्ट करेगे। यहां तो हमे यही जान लेना चाहिए कि राज्य स्थायी है, परन्तु सरकार बदलती रहती है। इग्लैण्ड मे युद्ध के दौरान मे अनुदार दल (Conservative party) के नेता चर्चिल की सरकार थी परन्तु युद्ध के बाद मजदूर दल (Labour party) के नेता मि० एटली की सरकार बन गई। १५ अगस्त, १९४७ से पूर्व भारत मे ब्रिटिश शासन था बाद मे अग्रेजी सरकार बन गई। सरकार के चरित्र मे अन्तर पड सकता है परन्तु राज्य का रूप हमेशा एक सा रहता है। राज्य सम्पूर्ण जनता से मिलकर बनता है परन्तु सरकार चन्द व्यक्तियो की होती है। राज्य प्रभुता सम्पन्न होता है परन्तु सरकार की शक्तियाँ निश्चित होती है। राज्य के अधिकार हमेशा असीम (Unlimited) समझे गए है परन्तु सरकार के अधिकारो पर सविधान (Constitution) द्वारा बहुत कुछ पाबन्दियाँ लगा दी जाती है। इस प्रकार राज्य और सरकार एक नही इन दोनो मे काफी अन्तर है।

राज्य और समाज भी एक चीज नही। समाज (Society) शब्द बहुत व्यापक है वह हमारे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का प्रतीक है। राज्य हमारे राजनीतिक जीवन का ही नियन्त्रण करता है। इस दृष्टि से राज्य समाज का एक हिस्सा है। दूसरा समाज प्रभुता सम्पन्न (Sovereign) नही, न ही वह शारीरिक दण्ड दे सकता है।

१९ राज्य की परिभाषा (Definition of State)

राज्य की अनेक परिभाषाएँ है, वस्तुत उतनी ही जितने कि राज्य विज्ञान के लेखक। शुल्ज ने साफ ही कहा है कि राज्य के इतने अधिक लक्षण किए गए है कि उनकी सख्या निर्धारित करना भी मुश्किल है। राज्य के स्वरूप और उसकी

प्रकृति के विषय मे पुराने और नये जमाने मे विचारकों के क्या मत थे, इस बात को समझने के लिए हमे उन द्वारा की गई राज्य की विभिन्न परिभाषाओ को जानना चाहिए। पुराने और नये विचारको द्वारा की गई बहुत-सी परिभाषाओ मे मे कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार है—

राजनीति शास्त्र के जनक अरस्तू (Aristotle) ने राज्य की परिभाषा इन शब्दो मे की है, "राज्य परिवारो तथा ग्रामो का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है।"[1]

रोमन विचारक सिसरो ने राज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि "राज्य एक ऐसा बहुसंख्यक समुदाय है जो अधिकारो की सामान्य भावना तथा लाभो मे पारस्परिक सहयोग द्वारा जुड़ा होता है"[2]

ग्रोशियस (Grotious) ने सिसरो के मत का अनुसरण किया है। उसके अनुसार "राज्य ऐसे स्वतन्त्र मनुष्यो का एक पूर्ण समाज है जो अधिकार के उपयोग के लिए तथा सामान्य उपयोगिता के लिए परस्पर बँधे हुए हैं।"

फ्रैंच विचारक वोदीन (Bodin) अरस्तू के मत को स्वीकार करता हुआ कहता है, "राज्य अपनी सामान्य सम्पत्ति सहित परिवारो का एक समुदाय है तथा जो सर्वोच्च सत्ता और विवेक-बुद्धि द्वारा नियन्त्रित है।"[3]

राज्य की आधुनिक सन्तोषप्रद परिभाषा देने वालो मे हालैण्ड, विल्सन, हाल, ब्लशली, गार्नर तथा लास्की प्रमुख है। अंग्रेज विचारक हालैण्ड के मतानुसार "राज्य मनुष्यो के उस समुदाय को कहते हैं, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ हो, और जिसमे किसी एक वर्ग अथवा उल्लेखनीय बहुसंख्यक दल की इच्छा अन्य सबके मुकाबिले में चलती हो।"[4]

विल्सन के मत मे "एक निश्चित प्रदेश के भीतर कानून के लिए सगठित जनता का नाम राज्य है।"[5]

हॉल ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार राज्य की स्थिति का ख्याल करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "स्वतन्त्र राज्य के लक्षण यह है कि उसका

---

1 "The State is a union of families and villages having for its end a perfect and self-sufficient life"—*Aristotle.*

2 "The State is a numerous society united by a common sense of right and mutual porticipation in advantages"—*Cicero*

3 "State is an association of families and their common possessions, governed by a supreme power and by reason"—*Bodin*

4 "The State is a numerous assemblage of human beings, generally occupying a certain territory, among whom the will of majority or of an ascertainable class of presons is, by the strength of such a majority or class, made to prevail against any of their number who oppose it"—*Holland.*

5 "The State is a people organised for law within a definite territory"—*Woodrow Wilson.*

निर्माण करने वाला समाज स्थायी रूप से राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए सगठित है। उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और वह बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होता है।"[1]

ब्लशली के अनुसार "किसी निश्चित प्रदेश के राजनीतिक दृष्टि से सगठित लोगों का नाम ही राज्य है।" (The State is the politically organised people of a definite territory)

गार्नर द्वारा किया गया राज्य का लक्षण सर्वाधिक स्पष्ट और सन्तोष-प्रद है। उसका कथन है कि—

"The State as a concept of Political Science and public law is a community of persons more or less numerous, permanently occupying a definite portion of terriotry, independent or nearly so, of external control and possessing an organised Government to which the great body of inhabitants render habitual obedience

अर्थात्—राजनीतिशास्त्र और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप मे राज्य न्यूनाधिक बहुसख्यक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के निश्चित भाग मे स्थायी रूप से रहता हो, जो बाहरी शक्ति के नियन्त्रण से पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से स्वतन्त्र हो और जिसमे ऐसी स्वतन्त्र सरकार विद्यमान हो जिसके आदेश का पालन नागरिको के विशाल समुदाय द्वारा स्वभावत किया जाता हो।"

प्रो० लास्की ने भी राज्य की परिभाषा इन शब्दों मे दी है—

"राज्य शासक तथा शासित वर्गों मे विभाजित एक प्रादेशिक समाज है जो अपने निश्चित भौगोलिक क्षेत्र अन्य समस्त सस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता का दावा रखता है।"[2]

२० राज्य के आवश्यक तत्त्व ((The essential Characteristics of the State)

ऊपर दी गई राज्य की परिभाषाओं के विश्लेषण के अनन्तर हमे पता चलता है कि राज्यो के लिए निम्नलिखित भौतिक (Physical) और आत्मिक (Spiritual) तत्वो की आवश्यकता है।

(१) जनता (Population)

(२) भू-भाग या प्रदेश (Territory)—यानि निश्चित प्रदेश जहाँ कि

---

1 "The marks of an independent State are that the community constituting it is permanently established for a political end that it possesses a defined territory, and that it is independent of external control"—*Hall*

2 "The State is a territorial society divided into government and subjects, claiming within its allotted physical area a supremacy over all other institutions"—*Laski*

स्थायी रूप से जनता निवास करे।

(३) **राजनीतिक संगठन या सरकार** (Government) जिसके द्वारा राज्य के नियमो की अभिव्यक्ति और निर्माण होता है और साथ ही जो उन्हे लागू भी करती है।

(४) **प्रभुता** (Sovereignty)—जिसके आधार पर राज्य वाह्य और आन्तरिक दृष्टि से असीम राजकीय शक्ति का प्रयोग करता है।

राज्य के प्रथम दो तत्त्व उसके भौतिक पक्ष और पिछले दो उसके आत्मिक पक्ष का निर्माण करते हैं। राज्य का निर्माण इन चारो तत्त्वो की समान उपस्थिति द्वारा ही सम्भव है, किसी एक की भी अनुपस्थिति राज्य को खत्म कर देगी। केवल आबादी, प्रदेश या सरकार अलग-अलग शक्ल मे राज्य की स्थापना नही कर सकते। राज्य का निर्माण वस्तुत जनता, प्रदेश, सरकार तथा प्रभुता के योग से ही होता है।

अब हम राज्य के इन चारो तत्त्वो (Elements) पर पृथक्-पृथक् विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे।

(१) **जनता या आबादी** (Population)—जनसंख्या राज्य का प्रथम तत्त्व है। जनशून्य प्रदेश राज्य का निर्माण नही कर सकते। वस्तुत. जनता के विना राज्य की कल्पना ही असम्भव है। परन्तु एक राज्य के निर्माण के लिए जनसख्या कितनी होनी चाहिए, यह कह सकना अत्यन्त कठिन है। यह तो ठीक है कि एक या दो परि-वार मिलकर किसी राज्य का निर्माण नही कर सकते तथापि इस विषय मे किसी एक निश्चित नियम का निर्धारण करना मुश्किल है। अन्य तत्त्वो की उपस्थिति मे जनसख्या का अन्तर राज्य की प्रकृति मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकता। तो भी प्राचीन लेखको ने राज्य की जनसख्या के निर्धारण के प्रयत्न किये है। प्लेटो (Plato) ने अपनी पुस्तक 'लाज' (Laws) मे आदर्श राज्य की आबादी ५,०४० निश्चित की थी। अरस्तू ने किसी निश्चित सख्या को तो निर्धारित नही किया तथापि उसका विचार था कि जनसख्या न वहुत अधिक हो और न वहुत कम ही। आबादी का परिमाण अधिक से अधिक उतना होना चाहिए कि जिसमे राज्य आत्म-निर्भर (Self-sufficient) हो सके, और कम से कम इतना हो कि शासन ठीक ढग मे और सुविधापूर्वक चलाया जा सके। रूसो (Rousseau) यूनान की प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र प्रणाली (Direct democracy) का समर्थक था अत उनके लिए राज्य की जनसख्या का विशेष महत्त्व था। उसने एक राज्य की जनसंख्या दस हजार निश्चित की है।

परन्तु आज के राज्यो पर जनसख्या विषयक ये प्राचीन नियम लागू नही हो सकते। प्राचीन यूनान के लेखक नगर-राज्यो के युग मे रह रहे थे। अत उनके लिए इस दृष्टिकोण मे सोचना सर्वथा स्वाभाविक था। नगर-राज्यो में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का प्रचलन था। जनता स्वय अपने कानून बनाती थी और स्वय शासक चुनती थी। प्रतिनिधि शासन-प्रणाली (Representative Government)

का प्रचलन न होने के कारण थोडी-थोडी आबादी वाले गणराज्य ही राजनीतिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त समझे गये ।

परन्तु आज तो प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के विकास के कारण थोडी जनसख्या की प्राचीन मर्यादा निरर्थक है। फिर आज के विज्ञान के युग मे यातायात के ऐसे साधनो का विकास हो गया है कि वडे से वडे आवादी वाले देश पर भी आसानी मे शासन हो सकता है। सघ राज्य (Federal Government) और स्थानीय स्वायत्त शासन व्यवस्था (System of Local Self Government) इत्यादि के विकास के कारण जनता और शासको मे सीधा सम्पर्क भी रहता है। आज भी किसी देश की जनसख्या न केवल उसकी सैनिक शक्ति का ही निर्माण करती है अपितु उसके आर्थिक और औद्योगिक निर्माण मे सहायक भी सावित होती है। इस कारण आज के विचारक अधिकतर विशाल जनसख्या वाले राज्यो के समर्थक है। अनेक देशो मे आवादी के वढाने के लिए राजकीय प्रयत्न किये जाते हैं। रूस में अधिक बच्चो की माताएँ राज्य द्वारा सम्मानित की जाती हैं। हिटलर के जर्मनी मे भी जनसख्या वढाने के ऐसे ही अनेक प्रयत्न किये जाते थे ।

आज के देशो की आवादी मे वडा अन्तर है। कुछ राज्यो मे जनसख्या करोडो तक हैं जव कि कुछ मे केवल कुछ हजारो तक ही सीमित है। इस प्रकार आज के जमाने मे जनसख्या के विषय मे हम किसी प्रकार की सैद्धान्तिक या व्यावहारिक पावन्दी नही लगा सकते। आज हम राज्य की जनसख्या के दो रूप पाते है, एक रूप तो नागरिक का है और दूसरा प्रजा का। प्राचीन यूनान मे नागरिकता के अधिकार दासो को प्राप्त नही थे, राज्य की केवल थोडी-सी जनसख्या ही नागरिक कहलाती थी। एक राज्य के सम्पूर्ण निवासी, चाहे उन्हें नागरिकता प्राप्त थी या नहीं, प्रजा कहलाते थे। वर्तमान युग मे नागरिक वे लोग कहलाते हैं जिन्हे राजनीतिक अधिकार—वोट इत्यादि देने के अधिकार—प्राप्त हो। प्रत्येक राज्य मे आवादी का एक वहुत वडा भाग ऐसा होता है जिसे वोट देने का अधिकार प्राप्त नही होता। वहुत से ऐसे विदेशी (Aliens) भी होते है, जो नागरिक तो किसी अन्य राज्य के होते हैं परन्तु रहते दूसरे देशो मे हैं। इस प्रकार एक राज्य की सम्पूर्ण आवादी चाहे उसे राजनीतिक अधिकार प्राप्त है या नही उस राज्य की प्रजा (Subject) कहलाती है। परन्तु आजकल प्रजा शब्द का प्रयोग अरुचिकर (Distasteful) हो गया है, प्रजा शब्द का विशेष सम्बन्ध राजतन्त्र से है। अत आज के लोकतन्त्र के युग मे प्रजा के स्थान में देशज (National) तथा नागरिक (Citizen) शब्द का प्रयोग होने लगा है। आज प्रजा और राजा का भेद समाप्त हो गया है।

भू-भाग अथवा प्रदेश (Territory)—राज्य के भौतिक स्वरूप को पूर्ण करने वाला दूसरा आवश्यक तत्त्व है भूप्रदेश (Territory)। जिस प्रकार बिना जनता के राज्य-निर्माण असम्भव है वैसे ही बिना प्रदेश के भी। एक घुमक्कड कवीला शासन-व्यवस्था से युक्त होता हुआ भी जब तक किसी निश्चित प्रदेश पर वस न जाय तव तक राज्य नही कहला सकता। प्राचीन युग मे जव मनुष्य शिकार

मारकर या मछली पकडकर अथवा भेड-बकरी चराकर अपना निर्वाह करता हुआ खानाबदोश जिन्दगी गुजारता था तब उसने अपने यहाँ कुछ न कुछ नियम —रीति-रिवाज या परम्परा के रूप में बनाए हुए थे, साथ ही उन कबीलो या जनो मे कोई न कोई सरदार या मुखिया भी होता था। इसी प्रकार शासन की लगभग सम्पूर्ण व्यवस्था उनमे रहती थी, फिर भी वे राज्य नही कहे जा सकते थे, क्योकि वे किसी एक निश्चित प्रदेश पर बसे हुए नही थे। जब कभी ये जन या कबीले किसी एक प्रदेश पर स्थायी रूप से बस गये तभी वे जनपद बन गये, तभी से उन्होने राज्य का रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार इन कबीलो ने क्रमश राज्य रूप को प्राप्त किया।

यहूदी विश्व की समृद्ध तथा सुसंस्कृत जातियो मे है। उनकी संख्या और संगठन भी पर्याप्त है। फिर भी वे जब तक एक निश्चित प्रदेश मे स्थायी रूप से बस न गये तब तक राज्य न बन सके। हाल ही मे फलस्तीन (Palistine) मे वे एक प्रदेश पर कब्जा जमा वहाँ बस गये हैं। वही अब इजराइल नाम से यहूदियो का राज्य प्रसिद्ध हो गया है। ब्लशली ने वस्तुत ठीक ही कहा है कि **"जैसे राज्य का वैयक्तिक आधार जनता है उसी प्रकार उसका भौतिक आधार भूमि है। जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नही कर सकती जब तक कि उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो।"**

राज्य विस्तार सीमा के विषय मे लोगो मे पर्याप्त मतभेद है। जहाँ प्राचीन यूनान (Greece) मे छोटे-छोटे गणराज्यो को ही ठीक समझा जाता था वहाँ रोम मे सम्पूर्ण विश्व को भी एक राज्य मे समेटने का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिल जाता है। परन्तु उस काल के विचारक साधारणतया विशाल राज्यो के पक्ष मे न थे। प्लेटो, अरस्तू तथा रूसो इत्यादि सभी ने जिस प्रकार थोडी जनसंख्या वाले राज्यो का समर्थन किया वैसे ही उन्होंने उनके लिए छोटे प्रदेशो को उपयुक्त माना है। उनका विचार था कि विशाल राज्य मे राज्य-प्रबन्ध ठीक-ठीक नही चलाया जा सकता, कानून का लागू करना कठिन हो जाता है, पारस्परिक सम्बन्धो की कमी के कारण जनता मे पारस्परिक स्नेह की कमी होती है, साथ ही उसमे राज्य-भक्ति का भी अभाव रहता है। रूसो और मॉन्तेस्क्यू का मत है कि राज्य-प्रणाली और राज्य-विस्तार मे गहरा सम्बन्ध होता है। रूसो के मतानुसार छोटे राज्य प्रजातन्त्र के उपयुक्त होते हैं और बडे राजतन्त्र के। छोटे राज्य अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली माने जाते है। परन्तु आज प्रदेश के लिहाज से राज्यो के आकार मे बहुत अन्तर है। जहाँ एक ओर सेन मेरिनो (San Marino) जैसे छोटे राज्य हैं जिनका क्षेत्रफल केवल ३८ वर्गमील है वहाँ दूसरी ओर सोवियत रूस जैसे विशाल राज्य हैं जिनका क्षेत्रफल हजारो वर्ग मील है। आज के राज्यो की प्रवृत्ति विस्तार की ओर है। छोटे राज्यो का अस्तित्व सदा खतरे मे रहता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध ने इस बात को साबित कर दिया है कि छोटे राज्य बडे राज्यो की दया पर जीवित रहते है। वैसे उनके लिए पर्याप्त आर्थिक उन्नति कर सकना भी कठिन होता है। वे अन्त-र्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना मे सदा बाधा स्वरूप समझे जाते हैं। यह कहना कि प्रजा-

तन्त्र का विकास केवल छोटे-छोटे राज्यो मे ही सम्भव है, सर्वथा गलत है। सयुक्त-राज्य अमेरिका मे प्रजातन्त्र उतना ही सफल रहा है जितना इगलैण्ड मे। शासन के ठीक तरह से चलाने मे भी आकार विशेष बाधा के रूप मे उपस्थित नही होता। हाँ, इस मे सन्देह नही कि आज राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) की आवश्यकता है, परन्तु उसका अर्थ यह नही कि विशाल राज्यो को तोड छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने चाहिएं। विशाल राज्यो के शासन मे अधिक खर्च भी नही होता।

फिर भी राज्य-प्रदेश का सीमा निर्धारण असम्भव है। राज्य-क्षेत्र से हमारा तात्पर्य केवल भूमि से नहीं उसमे जलवायु तथा आकाश भी आते है। राज्य-क्षेत्र के मे उसकी सीमा के अन्तर्गत आने वाली नदियाँ, तालाब तथा झीलें सभी आ जाते हैं। साधारणतया समुद्रके किनारे से तीन मील का मार्ग राज्य की सीमा के अन्तर्गत आता है, परन्तु युद्ध-काल मे राज्य सीमा इससे भी अधिक बढ जाती है। आकाश मार्ग पर भी प्रत्येक राज्य का अधिकार होता है। उसका दूसरे राज्यो द्वारा प्रयोग केवल अन्तर्राष्ट्रीय विधान और पारस्परिक समझौते द्वारा ही सम्भव है।

राज्य के प्रदेश का राज्य के स्वरूप पर भी विशेष प्रभाव पडता है। भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के प्राकृतिक दृष्टि से असुरक्षित होने के कारण उसे सदा बाह्य आक्रमणो का शिकार बनना पडा। ग्रेट ब्रिटेन और जापान अपनी सामुद्रिक स्थिति के कारण ही ससार की नौ शक्तियाँ बन गई। अमेरिका, रूस तथा चीन इत्यादि की प्रादेशिक विशालता भी उनके महान् राष्ट्र (Great Powers) होने का एक कारण है।

(३) राजनीतिक सगठन या सरकार (Government)—राज्य के आध्यात्मिक तत्त्वो मे सरकार या शासन का प्रमुख स्थान है। एक निश्चित प्रदेश पर बस जाने के अनन्तर भी जनता राज्य नही बन जाती। निश्चित प्रदेश पर बसी जनता के शासन के लिए सरकार का होना आवश्यक है। सरकार के बिना जनता का न तो कोई सगठन होगा और न ही व्यवस्था। इसके अभाव मे समाज मे अराजकतापूर्ण स्थिति हो जायगी। लोगो की जान और माल किसी भी प्रकार की सुरक्षा नही होगी।

सरकार राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति (Expression) और उसकी पूर्ति का साधन है। राज्य तो एक भावात्मक परिभाषा (Abstract term) है, परन्तु सरकार स्पष्टत मूर्त्त सज्ञा (Concrete term) है। सरकार के बिना राज्य की अवस्थिति असम्भव है। सरकार के विविध रूप हो सकते हैं। वह प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, एकतन्त्र (Dictatorship), ससदीय (Parliamentary) या सघात्मक (Federal) आदि कई प्रकार की हो सकती है। चाहे उसका कैसा भी रूप क्यो न हो, सरकार के बिना कोई भी राज्य नही हो सकता। शासन का सचालन ही सरकार का काम नही होता वह जनता की नैतिक (Moral) सास्कृतिक (Cultural), और आर्थिक (Economic) उन्नति के लिए प्रत्येक प्रकार के प्रयत्न कर सकती है। प्रारम्भ मे सरकार का सगठन बहुत सीधा-सादा (Simple) होता था परन्तु आज वह बहुत ही जटिल (Complex) हो गया है। उसके कार्यो की सख्या बढ़

गई है साथ ही उसका संगठन भी पर्याप्त जटिल हो गया है।

साधारण सरकार के तीन प्रमुख भाग होते है—

(क) विधानपालिका (Legislature)

(ख) कार्यपालिका (Executive)

(ग) न्यायपालिका (Judiciary)

इन तीनो विभागो के पारस्परिक सहयोग से सरकार राज्य की इच्छा का निर्माण (Formation), अभिव्यंजन (Expression), और पालन (Execution) करती है।

सरकार मे अपने आदेशो को पालन कराने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए।

(४) प्रभुता—(Sovereignty) केवल जनता, प्रदेश और सरकार मिलकर ही राज्य नही बनते अपितु इन तत्त्वो के अतिरिक्त राज्यो मे प्रभुता (Sovereignty) का होना अनिवार्य है। कोई भी शासन के लिए सगठित एक विशिष्ट प्रदेश की जनता तब तक राज्य नही कहला सकती जब तक कि वह आन्तरिक तथा बाह्य दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र न हो। राज्य मे आदेश देने और उनके पालन कराने की पूर्ण शक्ति होनी चाहिए। इस प्रकार प्रभुता (Sovereignty) के दो रूप हैं—

(क) आन्तरिक प्रभुता (Internal sovereignty)

(ख) बाह्य प्रभुता (External sovereignty)।

आन्तरिक प्रभुता से हमारा मतलब है कि राज्य को अपनी प्रादेशिक सीमा के अन्तर्गत अवस्थित प्रत्येक व्यक्ति और व्यक्तियो के समुदाय एव परिषद् और उनकी चेष्टाओ पर सर्वोच्च अनियन्त्रित एव अमर्यादित (Unlimited) नियन्त्रण (Control) का कानूनी अधिकार प्राप्त हो। राज्य की यह शक्ति राज्य मे स्थित अन्य समुदायो (Associations) मे विभाजित नही की जा सकती, और यही कारण है कि राज्य अन्य सामाजिक समुदायो से भिन्न है, वह उनसे ऊँचा है।

बाह्य प्रभुता से हमारा मतलब राज्य का बाह्य नियन्त्रण से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना है। यदि उस पर कोई अन्य देश कुछ पाबन्दियाँ लगाता है या उसकी वैदेशिक नीति का नियन्त्रण करता है या उसके मामलो पर शासन करता है तो वह राज्य नही कहला सकता। वह उसी राज्य का अंग बन जायगा जो उसका नियन्त्रण करता है।

यही कारण है कि भारत १५ अगस्त, १९४७ से पूर्व राज्य नही था, वह ब्रिटिश साम्राज्य का ही भाग था। इससे पूर्व यद्यपि भारत मे जनता थी, प्रदेश था, सरकार भी थी परन्तु प्रभुता नही थी।

प्रभुता के अभाव मे ही भारत सघराज्य की या सयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A.) की पजाब तथा बगाल या न्यूयार्क व कैलीफोर्निया इत्यादि सघात्मक इकाइयाँ (Units of federation) राज्य नही कहला सकती।

राष्ट्रसंघ (League of Nations) और संयुक्त राष्ट्रसघ (United

Nations Organisation) विभिन्न राज्यो के सगठन हैं, कभी-कभी इन्हे विश्व का सघराज्य (World federation) भी कहा गया है। यह ठीक है कि इन सघो मे कार्यपालिका, विधानपालिका तथा न्यायपालिका इत्यादि के समान रूप सगठन मिल जायेंगे परन्तु फिर भी इन्हे हम राज्य नही कह सकते। सघात्मक शासन के अन्तर्गत प्रभुता (Sovereignty) केन्द्रीय सरकार के पास होती है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वही सरकार उस राज्य का प्रतिनिधित्व करती है।

सयुक्त राष्ट्रसघ के पास प्रभुता (Sovereignty) का अभाव है। वह सदस्य राज्यो को निर्देश तो दे सकता है परन्तु आदेश नही। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्रसघ मे यह शक्ति नही कि वह सदस्य राज्यो पर अपना निश्चय थोप सके या उनसे उनकी इच्छा के विरुद्ध काम करवा सके। सभी राज्य प्रभुतासम्पन्न है, और उनमे से कोई भी अपनी प्रभुता का कुछ भी भाग सयुक्त राष्ट्र को नही सौंपता, सब अपनी इच्छा से उसके सदस्य है, जब चाहे उसकी सदस्यता का त्याग कर सकते है। अत सयुक्त राष्ट्रसघ सर्वथा स्वतन्त्र राज्यो का समुदाय (Association) मात्र है, विश्व राज्य (World State) नही।

कभी कनाडा तथा आस्ट्रेलिया इत्यादि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्यो के राज्यत्व (Statehood) मे सन्देह प्रकट किया जाता था। यह कहा जाता है कि ये राज्य ब्रिटिश उपनिवेश है और ब्रिटिश सम्राट् को अपना सम्राट् मानते है, अत ये राज्य उस प्रकार प्रभुतासम्पन्न नही जैसे कि अमेरिका तथा रूस। परन्तु ऐसा सोचना वस्तुस्थिति के विपरीत है। विगत वर्षो मे इन उपनिवेशो ने अपने आन्तरिक और बाहरी मामलो मे इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है कि वे सयुक्तराज्य अमेरिका और रूस की भाँति राज्य कहला सकते हैं। कनाडा, आस्ट्रेलिया इत्यादि सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य है, वे अपने राजदूत दूसरे देशो मे भेजते है और दूसरे देशो से सब प्रकार की सन्धियाँ कर सकते है। दरअसल इग्लैण्ड की भाँति वे अपने सभी कामो को करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है। सिद्धान्त रूप मे वह इग्लैण्ड के सम्राट् को अपना सम्राट् मानते है परन्तु व्यावहारिक रूप मे वह इग्लैण्ड का सम्राट नही रहता वह तो कनाडा या आस्ट्रेलिया का सम्राट् बन जाता है। क्योकि उसे उन देशो की विधानपालिकाओ (Legislative bodies) की इच्छा के अनुसार ही काम करना होता है।

इस प्रकार इन तत्त्वो के सम्मिलन से ही राज्य का निर्माण होता है। अन्त मे हम कह सकते है कि **"एक निश्चित प्रदेश पर बसी राजनीतिक दृष्टि से सगठित अपने आन्तरिक और बाह्य मामलो में स्वतन्त्र जनता ही राज्य कहलाती है।"**

२१ राज्य तथा समाज (State and Society)

राज्य और समाज समान शब्दो के रूप मे इस्तेमाल किये जाते है। समाज और राज्य मे भेद न करने की प्रथा बहुत पुरानी है। प्राचीन के विचारकों ने राज्य और समाज मे कभी भेद नही किया। प्लेटो और अरस्तू ने राज्य को समाज

ऐसा पहलू नही जो कि राज्य से बाहर हो या जो राज्य द्वारा नियन्त्रित न किया जा सकता हो। मनुष्य जीवन की सार्थकता समाज (राज्य) के लिए अपने स्वार्थों के बलिदान मे ही निहित है। नागरिक और सामाजिक मे या राजनीतिक तथा सामाजिक में उन्होंने कभी फर्क नही किया। प्लेटो और अरस्तू ने ही नही आधुनिक युग के हीगल, ब्रेडले तथा बोसाके इत्यादि आदर्शवादी विचारको के अनुसार भी समाज और राज्य मे कोई अन्तर नही। उन्होने अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर राज्य को दैवीय स्वरूप प्रदान किया और व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को राज्य का गुलाम बना दिया।

पुराने यूनान मे छोटे-छोटे स्वतन्त्र नगर राज्य थे, उनमे आबादी अधिक नही थी, लोगो का आपस मे बहुत हेल-मेल था, जैसे कि छोटी आबादियो मे होना स्वाभाविक है। उनमे प्रत्यक्ष (Direct) और घनिष्ठ (Intimate) सम्बन्ध होते थे, वे एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। अक्सर राजनीतिक कामो के लिए वे एक स्थान पर इकट्ठे होते रहते थे। ऐसे हालात मे उनके राजनीतिक और सामाजिक जीवन मे कोई सूक्ष्म भेद नही था। समाज और राज्य शासन का सगठन भी बहुत सीधा-सादा था, सामाजिक श्रमविभाजन (Division of labour) का अधिक विकास नही हुआ था। समाज मे अलग-अलग विशेष प्रकार के काम करने वाली सस्थाएँ पैदा नही हुई थी। हरेक नगर अपने आप मे राज्य भी था, चर्च भी और विद्यालय भी। ऐसे राज्य मे रहते हुए प्राचीन विचारको के लिए राज्य और समाज मे भेद न करना कोई अास्वाभाविक बात नही थी। मनुष्य अपनी परिस्थितियों से बहुत ऊपर नही उठ सकता।

परन्तु आज राज्य और समाज मे अन्तर न करना एक बहुत बडी भूल होगी। विगत शताब्दियो मे राज्य और समाज मे अभेद मानने के कारण ही अनेक अनर्थ हो गए है। हमारी ही आँखो के सामने हिटलर और मुसोलिनी ने राज्य और समाज मे भेद न करते हुए ऐसे सम्पूर्णतावादी (Totalitarian) राज्यो का संगठन किया जिसमे व्यक्ति, उसके विचार तथा उसकी स्वतन्त्र स्थिति का कोई मूल्य नही था। राज्य और समाज के अन्तर को समझना राजनीति शास्त्र के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। वस्तुत इस अन्तर को समझे बिना राज्य के किसी भी सही सिद्धान्त को निश्चित नही किया जा सकता। राज्य और समाज मे निम्न भेद है—

(१) राज्य की अपेक्षा समाज एक विस्तृत अर्थ का परिचायक है। वह हमारे सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धो का समूह है। राज्य तो हमारे सामाजिक सम्बन्धो के केवल एक वर्ग का ही विषय बनता है। अत राज्य को हम समाज का एक भाग कह सकते हैं।

(२) समाज के भीतर अनेक समुदाय (Associations) होते हैं जो कि मनुष्य की विविध प्रकार की सामाजिक इच्छाओ की पूर्ति करते हैं। ये सस्थाएँ अपने संगठन मे विश्वव्यापी भी हो सकती है। ऐसे ही बहुत से धार्मिक, आर्थिक, सास्कृतिक और राजनीतिक समुदायो की तरह राज्य भी एक समुदाय मात्र है। वह अपनी प्रकृति मे इन सामाजिक समुदायो से भिन्न नही। समाज के अध्ययन मे हमे

इन सब प्रकार के सामाजिक समुदायो का अध्ययन करना होता है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन इन सामाजिक समुदायो के अन्तर्गत तो आ सकता है परन्तु किसी एक के अन्तर्गत नही। समाज की अवस्थिति इस बात को साबित करती है कि मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन राज्य के अधीन नही हो सकता—मनुष्य सम्पूर्ण रूप मे नागरिक नही हो सकता। उसके जीवन के अन्य पहलू भी हैं और ये पहलू अन्य सामाजिक सस्थाओ से सम्बन्धित होते है। मेकावर (*MacIver*) के अनुसार "परिवार चर्च अथवा क्लब इत्यादि कुछ सामाजिक समुदाय ऐसे होते हैं जो राज्य की रचना नहीं होते। न ही वे राज्य से प्रेरणा ही प्राप्त करते हैं। रीति रिवाज, प्रतियोगिता इत्यादि अनेक समाजिक शक्तियाँ ऐसी होती है जिनका राज्य सशोधन अथवा सरक्षण तो कर सकता है परन्तु जिन्हे वह जन्म नहीं दे सकता। इसी प्रकार मित्रता और ईर्ष्या सम्बन्ध कुछ ऐसी सामाजिक प्रेरक शक्तियाँ (Motives) होती है जिनके द्वारा स्थापित सम्बन्ध इतने घनिष्ठ (Intimate) और व्यक्तिगत होते हैं कि राज्य का विशाल यन्त्र उन पर नियन्त्रण नहीं रख सकता।"

(३) समाज के अन्तर्गत सगठित और असगठित सभी प्रकार के समुदाय आ जाते है, परन्तु राज्य के लिए सगठन आवश्यक है। असगठित मनुष्य समुदाय राज्य नही कहलाता। पुराने कबीले या जन जो राजनीतिक तौर पर सगठित नही थे राज्य नही कहलाते थे, यद्यपि वह समाज थे। आज भी अफगानिस्तान और पाकिस्तान के बीच के इलाके मे बसे कबाइली पठान राज्य नही कहलाते।

(४) समाज मे व्यक्ति के आचरण (Conduct) का नियन्त्रण सामाजिक परम्पराओ और रीति-रिवाजो (Customs) द्वारा होता है, जबकि राज्य मे विधानपालिकाओ द्वारा निर्धारित कानूनो द्वारा। सामाजिक रीति-रिवाज को तोडने पर कोई शारीरिक दण्ड नही मिलता, फाँसी नही लटकाया जाता या जेल नही भेजा जाता। समाज तो केवल नैतिक दबाव से ही अपने नियमो को लागू करता है। जो व्यक्ति सामाजिक नियम भग करता है लोग उसकी आलोचना करते हैं। यह जन-निन्दा (Public censure) का भय ही लोगो के सामाजिक नियम पालन करवाता है, परन्तु राज्य के नियमो के उल्लघन से सजा का डर रहता है। राज्य बल का प्रयोग करता है, समाज ऐसा नही कर सकता। बार्कर के शब्दों मे "समाज का क्षेत्र है स्वेच्छापूर्ण सहयोग, सद्वृत्ति उसकी शक्ति है, और विनम्रशीलता उसकी विधि या उपाय है। इसके विपरीत राज्य का क्षेत्र है यान्त्रिक कार्यशीलता। बल प्रयोग मे उसकी शक्ति है और कठोरता या दृढ़ता उसकी विधि या कार्य पद्धति है।"[1]

राज्य की यह सर्वोच्च सत्ता ही उसे समाज से पृथक कर देती है।

(५) ऐतिहासिक दृष्टि से समाज राज्य से पहले आता है। सामाजिक

1 "But roughly we may say that the area of the society is voluntary co-operation, its energy is goodwill and its method is elasticity, which in area of the state is mechanical action, its energy is force and its method is rigidity"—*Barker*

सम्वन्धो के जन्म के वाद ही राजनीतिक शक्ति का विकास हुआ। हम कह सकते हैं कि राज्य का आधार भूमि है, परन्तु किसी एक निश्चित प्रदेश मे वसने से पूर्व मानव-जाति गिरोह वनाकर इधर-उधर घुमक्कड कवीलो के रूप मे फिरती रही है। उस समय चाहे हम उसे राज्य न कहें परन्तु वह समाज तो अवश्य थी।

यह आवश्यक नही कि राज्य का सम्वन्ध हमारी जिन्दगी से वहुत गहरा हो, वह हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्वन्धित हो। अधिकतर हमारे जीवन का स्वाभाविक विकास क्लव, मित्रमण्डली, परिवार इत्यादि समुदायो मे होता है। इन समुदायो मे हमारे सम्वन्ध किसी विशिष्ट श्रेणी के (Categorical) नही होते, इनमे हम मनुष्य रूप मे अपने आपको स्पष्ट अभिव्यक्त करते हैं, इसी कारण इनका सम्वन्ध हमारे जीवन से वहुत गहरा होता है। समाज ऐसे ही समुदायो का समूह है। इसके विपरीत राज्य मे यान्त्रिक और श्रेण्य—Categorical—सम्वन्धो का आधिक्य रहता है, इसी कारण वह समाज विज्ञान की भाषा मे मुख्य (Primary) नही अपितु गौण (Secondary) सस्था कहलाती है।

राज्य और समाज के अन्तर को समझने के अनन्तर हमें यह नही भूलना चाहिए कि इन दोनो का घनिष्ठ सम्वन्ध भी है। राज्य समाज की अवस्थिति की एक शर्त है। राज्य के विना समाज का ढाँचा विखरकर टूट जायगा। वार्कर ने वस्तुत ठीक ही कहा है कि **"समाज की व्यवस्था राज्य द्वारा कायम रहती है; और राज्य इस प्रकार इस व्यवस्था को कायम न रखे तो उसका अस्तित्व ही न रहे।"**

२२. राज्य और सरकार (State and Government)

जैसा कि हम पीछे भी सकेत कर आए हैं कि राज्य और सरकार शब्दो का प्रयोग भी प्राय एक ही अर्थ मे अदल-वदल कर किया जाता है। अत राज्य और समाज की भाँति राज्य और सरकार मे भी विभेद को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। जहाँ हॉव्स ने राज्य व सरकार मे किसी प्रकार का अन्तर नही माना वहाँ लॉक और रूसो दोनो मे स्पष्ट भेद करते हैं।

गार्नर (Garner) ने सरकार की परिभाषा इस प्रकार की है—**"सरकार उस सगठन का नाम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करता है, अपने आदेश जारी करता है और अपने कामो का सम्पादन करता है।"**[1]

प्रो० लास्की सरकार को राज्य का एजेंट कहते हैं। **"उसका अस्तित्व राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता है। सरकार स्वत दवाव डालने वाली सर्वोपरि सत्ता नहीं, वह तो केवल शासन मात्र है जो इस सत्ता के उद्देश्यों को कार्य रूप देता है।"**[2]

---

1 "It is the collective name for the agency, magistracy or organisation through which the will of the state is formulated expressed and realised"—*Garner*.

2 "It exists to carry out the purposes of the state. It is not itself the supreme coercive power, it is simply the mechanism of administration which gives effect to the purposes of that power."—*Laski*.

सरकार के बिना राज्य की कल्पना भी असम्भव है। सरकार ही राज्य की इच्छा-पूर्ति का साधन है। उपर्युक्त परिभाषाओं में राज्य और सरकार का भेद पर्याप्त स्पष्ट है।

(१) सरकार, जैसा कि लॉक और रूसो का विचार है, राज्य की रचना है, वह उसकी देन है। अत जहाँ राज्य के अधिकार और शक्तियाँ असीम और अमर्यादित (Unlimited) है, वहाँ सरकार की सीमित और निश्चित। प्रत्येक राज्य संविधान द्वारा सरकार की शक्तियों को निश्चित व मर्यादित कर देता है। लॉक का कथन है कि सरकार अपनी शक्तियों को जन-समूह (Community) से प्राप्त करती है इसलिए वह कभी भी अमर्यादित नही होती। राज्य के अधिकार और शक्तियाँ मौलिक (Original) हैं परन्तु सरकार की नही वह तो उसे राज्य द्वारा दी जाती है।

(२) राज्य सम्पूर्ण जनसंख्या से मिलकर बनता है, परन्तु सरकार के सदस्यों की संख्या अधिक नही होती, वह सम्पूर्ण जनता को अपने भीतर नही समेट पाती। गार्नर ने सरकार की तुलना बोर्ड आफ डायरेक्टर्स (Board of Directors) से की है, और राज्य की अनेक व्यापारिक साझीदारों से मिलकर बनी कम्पनी से। जिस प्रकार बोर्ड आफ डायरेक्टर्स (Board of Directors) कम्पनी नही हो सकते वैसे ही शासन भी सम्पूर्ण राज्य नही हो सकता डाइरेक्टरों का बोर्ड (Board of Directors) कम्पनी का कारोबार चलाते है परन्तु उनका नियन्त्रण कम्पनी के साझीदार करते हैं, वैसे ही सरकार राज्य का कारोबार चलाती है परन्तु अन्तत वह विधान द्वारा नियन्त्रित की जाती है।

(३) राज्य स्थायी है और सरकार बदलती रहती है। हम पीछे भी बतला आए है कि अनेक कारणों से सभी देशों मे सरकार के रूप मे परिवर्तन होता रहता है। प्रजातन्त्र से राजतन्त्र और राजतन्त्र से कुलीनतन्त्र (Aristocracy) इत्यादि मे सर्वत्र सरकार के स्वरूप मे परिवर्तन देखा जा सकता है। इसी प्रकार सरकार का संघात्मक (Federal) और एकात्मक (Unitary) रूप भी हो सकता है। यही नही एक चुनाव मे यदि मि० एटली ने मजदूर सरकार बना ली है तो दूसरे चुनाव मे उसके हार जाने पर अनुदार दल के नेता मि० चर्चिल अनुदारदलीय (Conservative) सरकार बना लेते हैं। इस प्रकार सरकार का स्वरूप बदलता रहता है। परन्तु राज्य का स्वरूप स्थिर है, उसकी अवस्थिति के लिए जन, स्थल, सरकार और प्रभुता इन चार तत्वों की आवश्यकता है। यह नियम अपरिवर्तनीय है। राज्य स्थिर है, इसका अर्थ यही है कि एक बार राज्य रूप मे संगठित होने पर जनता फिर अराजकतापूर्ण स्थित मे नही आ सकती। राज्य मिट सकता है, उसकी समाप्ति की विधियाँ इस प्रकार है—

(क) एक राज्य का दूसरे राज्य को हरा कर उस पर कब्जा कर उसे अपने राज्य में मिला लेना— उदाहरण स्वरूप इटली से हारने पर अबीसीनिया इटली के साम्राज्य का भाग बन गया था।

(ख) स्वेच्छापूर्वक—इटली के छोटे-छोटे राज्य अपनी इच्छा से इटेलियन राज्य मे शामिल हो गये।

(ग) किसी राज्य के प्रदेश अथवा निवासियो के सर्वथा विनाश से भी राज्य मिट सकता है।

(४) राज्य को आत्मा और सरकार को शरीर भी कह सकते हैं। क्योंकि राज्य तो राज्य विज्ञान की एक अमूर्त्त (Abstract) धारणा (Concept) है और सरकार ठोस मूर्त रूप (Concrete) यन्त्र के समान है।

(५) सरकार अपनी निर्माण प्रकृति मे राज्य से विभिन्न है। राज्य मुख्य रूप से प्राकृतिक समुदाय है। वह हमारी प्रवृत्तियो का परिणाम है। परन्तु सरकार बनावटी (Artificial) है। वह हमारी सजग (Conscious) कोशिशो का फल है। उसके रूप मे होने वाला परिवर्तन भी हमारे अपने प्रयत्नो का ही परिणाम होता है।

३२. राज्य तथा अन्य समुदाय (State and Associations)

मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति केवल राज्य के निर्माण तक ही समाप्त नही हो जाती। उनका स्वाभाविक विकास समाज मे स्थित सैकडो ऐच्छिक समुदायो द्वारा होता है। **प्रो० लास्की ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य एक समुदाय निर्माण करने वाला प्राणी है** (Man is a community building animal)। मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ हैं। उन आवश्यकताओ की पूर्ति वह स्वय नही कर सकता। उनकी पूर्ति के लिए उसे दूसरे सामाजिक प्राणियो का सहयोग लेना पड़ता है और तभी सामाजिक समुदायो की रचना होती है। **किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया गया मनुष्यो का सगठन ही समुदाय** (Association) **कहलाता है।** 'पुराने जमाने मे हमारी सामाजिक जिन्दगी बहुत सीधी-सादी थी, इसलिए उस समय समुदायो की सख्या भी कम थी। परन्तु आधुनिक काल मे जब कि हमारी सामाजिक जिन्दगी मे बहुत जटिलता पैदा हो गई है इन समुदायो की सख्या बहुत बढ गई है। अपने धार्मिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्वार्थो और हितों की रक्षा के लिए हम नित्य-प्रति नये से नये समुदाय बना रहे हैं। चर्च, आर्यसमाज, शिरोमणि अकाली दल, ब्रह्मसमाज, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रोटेरी क्लब, रेड क्रास सोसाइटी, ट्रेड यूनियन, श्रमिक पत्रकार सघ, कालेज टीचर्स यूनियन इत्यादि सभी समुदाय (Associations) हैं। इन समुदायो मे से बहुत से ऐसे समुदाय हैं जिनसे हमारा बहुत गहरा सम्बन्ध होता है, और जिनके बिना हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नही हो सकता। वस्तुत. ये समुदाय हमारी जिन्दगी पर इस तरह से छा गये हैं कि हमारे मे से बहुत से लोगो का यह विचार हो गया है कि इन समुदायों को राज्य के बराबर स्थान देना चाहिए और राज्य की प्रभुता को इनमे बाँट देना चाहिए। यह विषय पर्याप्त विवादग्रस्त है अभी इसे हम आगे के लिए छोड़ देते हैं, आगे चलकर इसका पूर्ण विवेचन करेंगे।

ऐसे समुदायो की कमी नही जिनका सीमा-क्षेत्र एक राज्य तक ही सीमित नही होता। उनके सदस्य एक देश के नही अनेक देशो के लोग होते है। उनका कार्य-क्षेत्र भी अन्तर्राष्ट्रीय होता है। बहुत से राजनीतिक विचारको का यह विचार है कि राज्य की भाँति इन समुदायो का भी अपना व्यक्तित्व है और राज्य मे वे किसी प्रकार भी भिन्न नही।

इसमे सन्देह नही कि राज्य भी अपनी प्रकृति मे एक समुदाय (Association) ही है, परन्तु इस समुदाय के कुछ अपने विशेष लक्षण है, कुछ अपने विशेष कर्त्तव्य और अधिकार है जिनके आधार पर वह दूसरे समुदायो से भिन्न हो जाता है। राज्य और अन्य सामाजिक समुदायो मे जो भेद हैं, वे इस प्रकार रखे जा सकते है—

(१) राज्य और समुदायो की सदस्यता की प्रकृति मे अन्तर होता है। राज्य की सदस्यता अनिवार्य (Compulsory) है और समुदायो की ऐच्छिक (Voluntary), हमारे लिए आवश्यक नही कि हम प्रत्येक समुदाय के सदस्य बनें, परन्तु राज्य का सदस्य बनना अनिवार्य है। कोई भी व्यक्ति बिना राज्य का सदस्य बने नही रह सकता। किसी न किसी देश का नागरिक उसे बनना ही पडता है। एक समुदाय का सदस्य बनने के अनन्तर जब चाहे हम उसकी सदस्यता त्याग सकते हैं। परन्तु राज्य की सदस्यता स्वेच्छापूर्वक नही त्यागी जा सकती।

(२) एक ही समय मे साधारणतया एक मनुष्य एक ही राज्य का नागरिक हो सकता है, दो का नहीं। परन्तु एक ही समय मे एक मनुष्य अनेक समुदायो का सदस्य बन सकता है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिल जाते हैं जब कि एक व्यक्ति एक ही समय मे सैकडो समुदायो का सदस्य हो।

(३) एक राज्य एक निश्चित प्रदेश मे अवस्थित होता है, उसकी एक निश्चित सीमा होती है। परन्तु समुदायो की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। एक समुदाय राज्य की सीमाओ को लाँघ अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है। उसकी शाखाएँ अनेक देशो मे हो सकती है। फिर एक प्रदेश मे एक ही राज्य होता है जब कि एक ही प्रदेश मे अनेक समुदाय हो सकते हैं। हमारे देश मे आर्यसमाज, कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, प्रजा-समाजवादी दल इत्यादि अनेक समुदाय हैं, परन्तु राज्य एक है।

(४) राज्य और समुदायो का एक बडा अन्तर उनके उद्देश्यो की विभिन्नता भी है। समुदाय प्राय एक या एक से अधिक कुछ निश्चित हितो की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु राज्य का उद्देश्य जनता का सामान्य हित है। आर्यसमाज या प्रजा सोशलिस्ट पार्टी एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलते हैं और उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। उसका कार्य केवल कानून और व्यवस्था बनाए रखना ही नही या विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा ही नही, उसका कर्त्तव्य राज्य मे रहने वाली जनता की नैतिक, भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना है।

(५) राज्य समुदायो के अन्दरूनी और बाहरी मामलों का नियन्त्रण,

करता है। अनेक समुदायो के निर्माण आदि की व्यवस्था भी राज्य द्वारा की जाती है। और राजनीतिक तथा आर्थिक इत्यादि सभी प्रकार के समुदायो के सगठन की व्यवस्था राज्य द्वारा नियन्त्रित की जाती है। इस प्रकार का अधिकार यदि राज्य को न दिया जाय तो राज्य मे प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था खत्म हो जाय।

(६) समुदायो की स्थापना निश्चित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए होती है, उन उद्देश्यो को पूर्ण करने पर वे भग किए जा सकते हैं या अपने आप समाप्त हो जाते हैं। बहुत से समुदाय आपसी झगडो के कारण नष्ट हो जाते हैं। परन्तु राज्य सतत और स्थायी समुदाय है। सरकार बदल सकती है, प्रभुता का केन्द्र भी बदल सकता है परन्तु राज्य सदा एक जैसा रहता है, वह नही बदलता।

(७) एक समुदाय मे हम सम्पूर्ण जीवन नहीं बिता सकते। कालेज, स्कूल, क्लब या किसी धार्मिक अथवा सास्कृतिक समुदाय मे हम जिन्दगी की कुछ एक आवश्यकताओ को ही पूर्ण कर सकते है, सम्पूर्ण हितो का पालन वहाँ सम्भव नही। इन समुदायो के बिना भी जीवन यापन सम्भव है, परन्तु राज्य से अलग जीवन बिता सकना सम्भव नही।

(८) राज्य अपने उद्देश्यो का पालन बल-प्रयोग से करवा सकता है, परन्तु अन्य समुदाय ऐसा नहीं कर सकते। प्रत्येक समुदाय के अपने नियम होते हैं और सदस्यो से यह आशा की जाती है कि वे उसका पालन करें, परन्तु उनके उल्लघन का परिणाम शारीरिक दण्ड कभी नही होता। अधिक से अधिक सदस्य की सदस्यता छीन ली जाती है। परन्तु राज्य-नियमो के भग करने का परिणाम सदा शारीरिक दण्ड होता है। समुदाय द्वारा निर्धारित नियमो का पालन लोक-निन्दा के भय से किया जाता है।

(९) राज्य और समुदाय मे सब से बडा अन्तर "अन्तिम और निर्णयात्मक शक्ति" का है। राज्य प्रभुता (Sovereignty) सम्पन्न है परन्तु समुदायो (Associations) के पास ऐसी कोई शक्ति नही। एक राज्य मे मौजूद सभी समुदायो को राज्य की परम सत्ता को स्वीकार करना पडता है। राज्य अपने इस रूप मे सभी समुदायो के पारस्परिक झगडो को निपटाने और उनके आचरण (Conduct) के नियमन के लिए जिम्मेदार समझा जाता है। अपने इसी रूप मे राज्य सर्वोच्च समुदाय है।

२४. राज्य तथा देश (State and Country)

अक्सर राज्य और देश शब्द भी समानार्थक शब्दो के रूप मे प्रयुक्त किये जाते हैं। ऐसा प्रयोग गलत और अवैज्ञानिक है। यह ठीक है कि प्रदेश के बिना राज्य असम्भव है, परन्तु केवल एक प्रदेश पर बसी जनता राज्य नहीं बन जाती। प्रदेश और जनता के अतिरिक्त राज्य के निर्माण के लिए सरकार और प्रभुता की भी आवश्यकता है। एक देश मे यह दोनो तत्त्व जरूरी नहीं वर्तमान हों। देश तो एक भौगोलिक शब्द है, उसका राजनीतिक सगठन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

राज्य की अनुपस्थिति मे भी देश की सत्ता हो सकती है। द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर जर्मनी बहुत समय तक राज्य रूप मे खत्म हो गया जब कि देश रूप मे विद्यमान रहा। युद्ध के बाद उसकी प्रभुता (Sovereignty) समाप्त हो गई थी इस कारण उसका राज्यत्व (Statehood) भी समाप्त हो गया, परन्तु जर्मनी देश के रूप मे वर्तमान रहा। राज्य और राष्ट्र के पारस्परिक अन्तर को हम अगले अध्याय मे स्पष्ट करेंगे।

Important Questions

	Reference
1. Examine the elements of the State (*Punjab, 1953*)	Art 19 & 20.
2 Examine the distinction between (*a*) State (*b*) Government (*c*) Society (*Punjab, 1950, 1951, 1954 and 1966*)	Arts 21, and 22
3 What are the essential attributes of the State ? Say giving reasons, whether Punjab is a State ? (*Punjab, 1950*)	Art 8, 19&20
4 How do you define a State ? Do the following come under your definition of a State ? (*a*) Hyderabad (Deccan) (*b*) New York (*c*) League of Nations Give reasons for your answer (*C U 1936, Agra, 1943, 1942*)	Art 18 & 19
5 Distinguish between the State and Association (*Agra, 1942*)	Art 23.

राज्य, राष्ट्र तथा उपराष्ट्र
(STATE, NATION AND NATIONALITY)

२५. राज्य तथा राष्ट्र शब्दों का प्रयोग

राज्य (State) राष्ट्र (Nation) और उपराष्ट्र या राष्ट्रीय इकाई (Nationality) शब्द हिन्दी और अग्रेजी दोनो भाषाओ मे ही अदल-बदलकर एक दूसरे के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। परन्तु इन तीनो शब्दो के वैज्ञानिक अर्थ मे अन्तर है, यद्यपि हम अपने दैनिक जीवन मे अन्तर को स्पष्ट नही कर पाते। राज्य और राष्ट्र समानार्थक शब्दो के रूप मे अनेक बार प्रयुक्त किये जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर स्थापित 'राष्ट्र सघ' (League of Nations) राष्ट्र सघ न हो राज्य संघ था इसी प्रकार वर्तमान सयुक्त राष्ट्रसघ (United Nations Organisation) भी राष्ट्रो का सगठन न हो राज्यो का ही सगठन है।

राष्ट्र का जातीय और सास्कृतिक स्वरूप होता है, पर यह जरूरी नही कि वह राज्य-रूप मे सगठित हो। राज्य प्रभुता सम्पन्न एक राजनीतिक संगठन है जब कि राष्ट्र का निर्माण जाति, भाषा, रीति-रिवाज तथा धर्म की समानता पर होता है। एक राज्य मे विभिन्न राष्ट्रीयता वाले लोग रहते है, ऐसे राज्य एक राज्य तो अवश्य होगे, परन्तु एक राष्ट्र नही। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व आस्ट्रिया-हगरी एक राज्य के रूप मे सगठित दो राष्ट्र थे। आयर्लेण्ड और इग्लैण्ड एक राज्य अवश्य थे परन्तु एक राष्ट्र नही, आयर्लेण्ड अपने आप मे एक पृथक् राष्ट्र था।

२६ राष्ट्र की परिभाषा

हिन्दी का राष्ट्र शब्द अंग्रेजी के 'नेशन' (Nation) शब्द का पर्यायवाची है, और अग्रेजी शब्द 'नेशन' (Nation) लेटिन के 'नेशियो' (Natio) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'जन्म' अथवा 'जाति'। बर्गेस (Burgess) तथा लीकॉक (Leacock) ने राष्ट्र शब्द के जातीय पक्ष पर बल देते हुए उसकी परिभाषा इन शब्दो मे की है—**"राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बँधी वह जनता है जो किसी अखण्ड भौगोलिक प्रदेश पर निवास करती हो।"[1]**

राष्ट्र के जातीय आधार पर सबसे अधिक बल देने वालो मे वर्तमान काल के नाजी और फासिस्ट दार्शनिक है। परन्तु राष्ट्र को जातीय स्वरूप देना वास्तविकता को विकृत रूप मे पेश करना है। रक्त की पवित्रता या शुद्ध जातीयता जैसी चीजें आज

1 "A Nation is a population of an ethnic unity inhabitating a territory of geographic unity"—*Burgess*

के विश्व मे कहीं नही मिलता। आज की जातियाँ देशान्तर-गमन और अन्तर्जातीय विवाह के कारण बुरी तरह से रक्त-मिश्रण का शिकार बनी हुई है। आज जातीयता के आधार पर या वैसे भी 'राष्ट्र' की परिभाषा दे सकना सरल काम नहीं। क्योंकि राष्ट्रीयता आज मुख्य रूप मे मनोवैज्ञानिक है, वह एक भाव है। राष्ट्रीयता का यह भाव बहुत जटिल है, और अनेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तत्त्वों का परिणाम है। राष्ट्रीयता की 'हम एक हैं' (We-feelings) की भावनाएँ भाषा, सस्कृति, जाति, धर्म, सामान्य राजनीतिक अवस्थाएँ, ऐतिहासिक एकता और भौगोलिक एकता इत्यादि अनेक तत्त्वो का फल है। अनेक उदाहरण ऐसे हैं जहाँ एक साथ ही ये सब तत्त्व मौजूद हैं और ऐसे भी बहुत से राष्ट्र हैं जहाँ इनमे से अनेक तत्त्वो का सर्वथा अभाव है। उदाहरण-स्वरूप स्विस राष्ट्र जातीय तथा धार्मिक एकता के अतिरिक्त भाषा की एकता से भी वचित है, परन्तु फिर भी एक राष्ट्र है। बैल्जियम मे भी सामान्य जाति और भाषा का अभाव है, फिर भी वह एक राष्ट्र है। कनाडा मे भी दो विभिन्न जातियाँ दो विभिन्न भाषाएँ बोलती हैं, दो विभिन्न धर्मों को मानती हैं, परन्तु उनका राष्ट्रीय रूप इन सबके बावजूद भी कायम है। वस्तुत राष्ट्र-निर्माण के लिए समान मानसिक भूमि की ही आवश्यकता है। इसका एक विशेष आध्यात्मिक आधार होना अनिवार्य है। ए० ई० जिमर्न (A E Zimmern) लिखता है कि "धर्म की भाँति राष्ट्रीयता भी वैयक्तिक या आत्मपरक (Subjective) है, मनोवैज्ञानिक है, मन की स्थिति है, एक आत्मिक सम्पत्ति है, एक भावना-पद्धति है, विचार और जीवन है।" इसी लेखक के अनुसार "राष्ट्रीयता मेरे लिए राजीतिक प्रश्न बिलकुल नहीं। यह मुख्य रूप से और आवश्यक रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है।"[1] डा० गार्नर ने राष्ट्र के इसी आत्मपरक रूप पर बल देते हुए राष्ट्र की परिभाषा करते हुए कहा है कि "राष्ट्र सास्कृतिक दृष्टि से सगठित एव एकरूप सामाजिक समुदाय है जो आध्यात्मिक जीवन और उसकी अभिव्यक्ति की एकता के प्रति सचेत तथा दृढ़ सकल्पी होता है।"[2] जनता मे एकता की भावना को उत्पन्न करने वाले तत्त्व जातीय अथवा धार्मिक हो यह आवश्यक नही, ये मुख्य रूप से मानसिक और आध्यात्मिक हो सकते है। इस प्रकार इन लेखको ने 'राष्ट्र' के राजनीतिक पक्ष पर कोई अधिक बल नहा दिया। हेज (Hayes) ने तो यहाँ तक कह डाला है कि "राज्य तत्त्वत राजनीतिक होता है, राष्ट्रीयता प्रधान रूप से सास्कृतिक होती है और केवल संयोगवश राजनीतिक हो जाती है।"

२७ राष्ट्र का राजनीतिक रूप

परन्तु बहुत से राजनीति विज्ञ 'राष्ट्र' की उपर्युक्त परिभाषाओ को स्वीकार नही करते। उनका कथन है कि ये परिभाषाएँ सकुचित हैं और ये राष्ट्र के राजनीतिक

---

1 "Nationality to me is not a political question at all It is primarily and essentially a spiritual question"—*Zimmern.*

2 "A Nation is a culturally homogeneous Social group which is at once conscious and tenuous of its unity of psychic life and expression"—*Garner*

रूप का जिक्र ही नही करती। उनका विचार है कि आज राष्ट्र एक विशिष्ट राजनीतिक अर्थ रखता है जिसका विवेचन भी उतना ही अनिवार्य है जितना कि राष्ट्र के सास्कृतिक और जातीय रूप का। गिलग्राइस्ट का कथन है कि 'राष्ट्र' और राज्य अपने वर्तमान रूप मे एक दूसरे के बहुत निकट हैं – "राष्ट्र वस्तुत व्यक्तियो का सास्कृतिक और जातीय दृष्टि मे सगठित वह समूह है जिसका एक राजनीतिक संगठन होता है या जो स्वतन्त्र राज्य के रूप मे सगठित है।" हेज़ का कथन है कि "एक राष्ट्रीय इकाई **स्वतन्त्रता, एकता, और सत्ता को प्राप्त कर राष्ट्र बन जाती है।**" लॉर्ड ब्राइस ने भी राष्ट्र की कुछ ऐसी ही परिभाषा की है। उसका कथन है कि "राष्ट्र एक **ऐसी राष्ट्रीय इकाई (Nationality) है जो एक राजनीतिक समुदाय के रूप में संगठित हो, और स्वतन्त्र हो अथवा स्वतन्त्र होने की इच्छा रखती हो।**" गेटल ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा है—"**गौण समुदाय का जो राष्ट्रीय इकाई या उपराष्ट्र के नाम से पुकारा जाता है, सामान्य भाव (Common spirit), रीति-रिवाज तथा सामान्य स्वार्थों के एकीकृत होने से उदय होता है, वह राजनीतिक सगठन को प्राप्त कर 'राष्ट्र' (Nation) के नाम से पुकारा जाता है।**" मिल ने भी उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया है।

यद्यपि राज्य और राष्ट्र की निकटता को स्वीकार किया जा सकता है और इससे भी कोई इन्कार नही कि आज के राज्य का आधार भी राष्ट्रीयता ही बन रही है, फिर भी दोनो मे—राज्य और राष्ट्र मे—भेद है। उपर्युक्त राजनीति शास्त्रियो ने राज्य और राष्ट्र मे एकरूपता स्थापित कर दी है। परन्तु राज्य और राष्ट्र एक नहीं। राज्य का एक निश्चित अर्थ है, एक वैज्ञानिक रूप है, परन्तु राष्ट्र के अर्थ मे निश्चयात्मकता और वैज्ञानिकता का अभाव है।

राज्य अनेक राष्ट्रो से मिलकर भी बन सकता है और एक राष्ट्र के आधार पर भी आधारित हो सकता। राज्य की अनुपस्थिति मे भी राष्ट्र की अवस्थिति सम्भव है। राज्य प्रभुता (Sovereign power) सम्पन्न होता है। राष्ट्र के लिए ऐसा अनिवार्य नही। भारत १५ अगस्त १९४७ से पूर्व राज्य नही था परन्तु उसका राष्ट्र (Nation) रूप कायम था। पोलैण्ड का रूस, प्रशा और आस्ट्रिया ने मिलकर बँटवारा कर लिया था, तब पोलैण्ड राज्य रूप मे समाप्त हो गया, परन्तु राष्ट्र रूप मे वर्तमान रहा। राष्ट्र अवश्य ही मुख्य रूप से एक मनोवैज्ञानिक भावना है।

२८. राष्ट्र और राष्ट्रीय इकाई (Nation and Nationality)

अंग्रेजी मे 'नेशन' (Nation) शब्द का अन्य समानार्थक शब्द नेशनेलिटी (Nationality) भी है। 'Nationality' शब्द का हिन्दी मे कोई उपर्युक्त समानार्थक शब्द नही। इसका अनुवाद 'राष्ट्रीयता' किया गया है जो ठीक नही जँचता। क्योकि 'राष्ट्रीयता' शब्द हमारे यहाँ एक विशेष अर्थ रखता है। Nationality शब्द के लिए हम उपराष्ट्र या राष्ट्रीय इकाई शब्द का प्रयोग अधिक सुविधाजनक समझते हैं।

लार्ड ब्राइस का कथन है कि राष्ट्र और राष्ट्रीय इकाई (Nationality) मे राजनीतिक सगठन का ही अन्तर है। जब भी कोई राष्ट्रीय इकाई भाषा साहित्य, रीति-रिवाज इत्यादि सास्कृतिक बन्धनो से बँध अपना एक ऐसा राजनीतिक सगठन कर लेती है जो या तो स्वतन्त्र हो, या फिर स्वतन्त्रता-प्राप्ति की इच्छा से अनुप्राणित हो तो वह राष्ट्र बन जाती है। इस प्रकार एक राष्ट्र, वह उपराष्ट्र या राष्ट्रीय इकाई (Nationality) है जो कि स्वतन्त्र हो चुकी हो। उपराष्ट्र या राष्ट्रीय इकाई राष्ट्र निर्माण रूप मे होती है (A Nationality is a nation in the making)।

परन्तु बहुत से विचारको के मतानुसार राष्ट्र और उपराष्ट्र का अन्तर सगठन का नही अपितु सख्या का है। राष्ट्रीय इकाई थोडे से लोगो से मिलकर बनती है, और एक राष्ट्र बहुत सी राष्ट्रीय इकाइयो से मिलकर बनता है। जहाँ एक राष्ट्र मे अनेक भाषा-भाषी सामाजिक समूह हो तो वे इस राष्ट्र की राष्ट्रीय इकाइयाँ या उपराष्ट्र (Nationality) कहलायेंगे। भारत एक राष्ट्र है परन्तु यहाँ बहुत-सी राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं—गुजराती, बगाली, पजाबी, बिहारी इत्यादि भारत की विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयाँ है। इसी प्रकार ब्रिटिश राष्ट्र का निर्माण स्कॉच तथा वेल्श राष्ट्रीय इकाइयो से मिलकर हुआ है। इसी तरह अन्य राष्ट्रो मे भी छोटी-छोटी इकाइयाँ रहती हैं, उन्हे राष्ट्र तो कदापि नहीं कहा जा सकता, न ही उन्हे 'राष्ट्र निर्माण पथ पर अग्रसर' उपराष्ट्र कह सकते हैं। वे तो राष्ट्रीय इकाइयाँ ही कहला सकती हैं।

ब्लशली ने उपराष्ट्र की परिभाषा ठीक ही की है—उपराष्ट्र वे जन-समूह हैं 'जो विभिन्न व्यवसायो मे लगे हुए हों, वश-परम्पराओ का अनुसरण करने वाले समाज के विभिन्न स्तरो का प्रतिनिधित्व करते हो, समान आदर्शों और रीति-रिवाजो तथा भाषा के समान जातीय एव सास्कृतिक सूत्रो मे बँधे हो तथा समस्त विदेशियो से भिन्न और आपस मे एकता की भावना रखते हो।" प्रत्येक राष्ट्र मे ऐसे समूहो का अभाव नही होता। 'हम एक है' (We-feelings) की जो भावना राष्ट्र मे विशाल जनसख्या मे फैली हुई है, वही भावना एक छोटे जनसमाज मे जब पाई जाती है, तो वह राष्ट्रीय इकाई (Nationality) बन जाती है।

इससे पूर्व कि हम राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए आवश्यक तत्त्वो पर विचार करें, यहाँ यह उचित होगा कि हम सक्षेप से राष्ट्रीयता की भावना के विकास का एक ऐतिहासिक पर्यावलोचन कर ले।

२६ राष्ट्रीयता की भावना का विकास

जातीय या धार्मिक भावनाओ के आधार पर एकत्रित होकर रहने की भावना बहुत पुरानी है। बहुत पुराने समय से ही मनुष्य कबीले या जन (Tribe) बनाकर रहते आये है। इन कबीलो या जनो मे एकता की भावना (We-feelings) आज की छोटी राष्ट्रीय इकाइयो के समान बहुत मजबूत होती थी। जितना छोटा जन या कबीला होगा उतनी ही अधिक उसमे एकता की भावना होगी। युद्ध के समय यह

एकता की भावना तीव्र हो जाती है। प्राचीन युग मे कबीलो मे आपस मे लड़ाई-झगडे होते रहते थे अत बाह्य परिस्थितियाँ ही उनमे एकता की भावना को कायम रखती थी। पुराने ग्रीस मे, ऐथन्स, क्रोरिन्थ तथा स्पार्टा इत्यादि जनपदो का सगठन जन-भावना की एकता पर ही हुआ था। हमारे यहाँ भी शाक्य, शिवि, मालव, आग्नेय इत्यादि जनो ने अपने-अपने जनपद बसाये हुए थे।

परन्तु इन जनो की एकता के आधार पर बने गणतन्त्रो का जीवन बहुत लम्बा न रहा। पूर्व और पश्चिम, सभी जगह बडे-बडे साम्राज्य स्थापित किये गये और पुरानी राष्ट्रीयता की अर्द्धविकसित भावनाओ को कुचल दिया गया। मध्य युग मे सामान्तीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रीय भावनाओ का विकास न हो सका। धर्म और राज्य के झगडे मे प्रारम्भ मे अधिकतर चर्च की ही विजय होती रही। परन्तु धीरे-धीरे स्थिति बदली, पोप की धार्मिक शक्ति पर आक्रमण प्रारम्भ हुए और इधर धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक विचारो (Secular political thoughts) का प्रचार भी बढने लगा। यूरोप मे सास्कृतिक पुनर्जागरण (Renaissance) के अनन्तर स्वतन्त्र चिन्तन का प्रसार हुआ, धार्मिक ग्रन्थ और मूढ विश्वासो के स्थान पर जनता मे विवेक और तर्क (Reason) के आधार पर सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मसलो पर विचार करने की प्रवृत्ति बढी। १५वीं तथा १६वी सदी मे यूरोप के चिन्तन मे उस वैज्ञानिकता और विवेकयुक्त तार्किकता का प्रवेश हुआ जिसका विलोप प्लेटो और अरस्तू की मृत्यु के अनन्तर हो गया था। इस प्रकार इस जमाने मे लोगो के लिए धर्म-निरपेक्ष राजनीति का विकास कोई बडी बात नही थी।

साथ ही इस युग मे एक ऐसा व्यापारी वर्ग भी तैयार हो गया था जो कि सामन्त शासन-व्यवस्था का विरोधी और शक्तिशाली राजतन्त्रो का समर्थक था।

व्यापारिक उन्नति के लिए जिस शान्ति की आवश्कता होती है वह शक्तिशाली राजतन्त्रो के विकास के अनन्तर ही सम्भव नजर आती थी। यही कारण था कि इगलण्ड मे हेनरी सप्तम और फ्रास मे ग्यारहवाँ लुई और स्पेन मे फर्डीनेण्ड पोप के आदेशो का पालन करना अपना कर्त्तव्य नही समझते थे। इन राज्यो मे राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य-व्यवस्था को कायम किया जा रहा था। फिर भी लार्ड एक्टन ने ठीक ही कहा है कि इस जमाने मे राष्ट्रीय इकाइयो (Nationalities) की सत्ता को न तो स्वीकार ही किया जाता था और न ही जनता उनके लिए माँग करती थी। राज्यो की सीमाओ का निर्धारण राष्ट्रीय इकाइयो के हितो के लिए नही होता था, अपितु राजवशो के स्वार्थो के दृष्टिकोण से ही किया जाता था।

इगलैण्ड, स्पेन और फ्रास मे राष्ट्रीय भावनाओ का पर्याप्त विकास हो चुका था। स्पेन मे से विधर्मियो और विदेशियो को निकाला गया और इधर फ्रास पर इगलैण्ड के आक्रमणो के फलस्वरूप जान ऑफ आर्क जैसी देवी का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने फ्रास मे उग्र राष्ट्रीयता को जन्म दिया। १६वीं शताब्दी मे इटली मे मेकियावली का जन्म हुआ। मेकियावली के समय मे इटली की केवल भौगोलिक सत्ता मात्र ही थी। राजनीतिक दृष्टि से इस देश का अनेक छोटे-बडे राज्यों मे विभाजन

हो चुका था, जिसका काम आपस मे लडने के अतिरिक्त कुछ नही था। ऐसे इटली मे पैदा होकर मेकियावली ने उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन किया और इटली की जनता मे राष्ट्रीय भावनाओ के जागरण का असफल प्रयास किया। मेकियावली ने ही सर्वप्रथम एक स्वतन्त्र इटेलियन राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा था। परन्तु उसका स्वप्न स्वप्न ही रहा। इटली ने आस्ट्रिया की अधीनता स्वीकार कर ली। १८ वी सदी के अन्त मे यूरोप के इतिहास मे एक बडी दर्दनाक और लज्जाजनक घटना हुई। रूस, प्रशा और आस्ट्रिया ने मिलकर पोलैण्ड का आपस मे बँटवारा कर लिया। यह बँटवारा न केवल नैतिक नियमो के ही विरुद्ध था अपितु सदा से माने जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भी विरुद्ध था। इस बटवारे ने पोलैण्ड राज्य को तो खत्म कर दिया परन्तु उसकी जनता मे प्रचण्ड राष्ट्रीयता की भावना को जागृत कर दिया। पोलिश राष्ट्रवाद ने सम्पूर्ण यूरोप के सम्मुख राष्ट्रीय एकता का एक नया आदर्श प्रस्तुत किया।

फ्रास की राज्य-क्रान्ति के साथ ही यूरोप मे एक नये युग का उदय हुआ। जहाँ एक ओर फ्रास की क्रान्तिकारी विचारधारा ने प्रजातन्त्र की भावनाओ का प्रसार किया वहाँ दूसरी ओर उसने राष्ट्रीयता के विकास को भी प्रोत्साहन दिया। सम्पूर्ण यूरोप पर फ्रास की प्रभुत्व शक्ति को स्थापित करने की नैपोलियन की चेष्टाओ ने रूस, जर्मनी, इटली तथा स्पेन इत्यादि मे एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया उत्पन्न की। यूरोप के इन सभी देशो मे राष्ट्रीयता की भावनाओ का विकास हुआ। प्रजातन्त्र की भावना ने राज्य भक्ति के स्थान पर राष्ट्र-प्रेम को उत्पन्न किया। जहाँ कही लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के लिए सघर्ष हुआ, वहाँ राष्ट्रप्रेम की भावना सदा साथ रही। कवियो, नाटककारो तथा अन्य साहित्यकारो और कलाकारो ने देश-देश मे राष्ट्रीयता के गीत गाये। जर्मनी मे काण्ट, शिलर, हीगल और फिचे जैसे विचारको ने आदर्शवाद के आश्रय से राष्ट्र-प्रेम की भावना को दार्शनिक रूप दिया। धार्मिक सुधारवाद (Reformation) के जिस आन्दोलन का नेतृत्व लूथर और कालविन ने किया था उसने भी राष्ट्र-प्रेम की भावना के प्रसार मे बडा सहयोग दिया।

नैपोलियन की पराजय के अनन्तर यह आशा की जाती थी कि यूरोप का पुनर्गठन राष्ट्रीयता के आधार पर होगा। परन्तु Holy Alliance के सब सदस्य प्रतिक्रियावादी थे। उनका मुख्य उद्देश्य अपनी गद्दियो को बनाये रखना था। अत उन्होने न केवल प्रजातन्त्र और गणतन्त्र की भावनाओ को कुचलने का प्रयत्न किया अपितु राष्ट्रवाद की भावनाओ को भी दबाना चाहा। परन्तु राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्र की भावनाएँ दब न सकी। इटली, हगरी, जर्मनी तथा पोलैण्ड इत्यादि देशो के राष्ट्रवादी नेताओ ने इग्लैण्ड, फ्रास तथा स्विट्ज़रलैण्ड इत्यादि अपेक्षाकृत उदार देशो मे आश्रय पा राष्ट्र-प्रेम की अग्नि को भडकाए रखा। मेजनी और गैरीवाल्डी जैसे इटेलियन नेताओ ने राष्ट्रवाद को एक क्रियात्मक दर्शन के रूप मे प्रस्तुत किया।

१९ वी सदी मे अनेक नवीन राज्यो का राष्ट्रवाद के नियमो के आधार पर पुनर्गठन हुआ ग्रीस और बल्कान देशो को तुर्कों की गुलामी से आजादी मिली,

वेल्जियम हालैण्ड से पृथक् हो गया। इटली और जर्मनी का पुनर्गठन हुआ, अन्दरूनी दृष्टि से वे एक हो गये। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर तो पोलैण्ड, लटविया, लथुनिया, वल्गेरिया, रूमानिया, हगरी, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, फिनलैण्ड इत्यादि अनेक नवीन राष्ट्रो का जन्म हुआ।

इधर राष्ट्रवाद की यही भावनाएँ एशिया और अफ्रीका के अनेक देशो मे फैल गई थी। प्रथम विश्व-युद्ध के वाद एशिया व अफ्रीका के इन देशो मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के उग्र जन-आन्दोलन प्रारम्भ हुए। इन महाद्वीपो के अनेक देशो मे विदेशी शासन कायम थे और ये यूरोपीय राष्ट्रो के उपनिवेश मात्र थे। द्वितीय विश्व-युद्ध मे धुरी राष्ट्रो के विरुद्ध लडाई लडते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति और इग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री एटलाण्टिक सागर मे एक जलपोत पर मिले उन्होने मित्रराष्ट्रो के युद्ध उद्देश्यो का निर्णय करते हुए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार कर एटलाण्टिक चार्टर के रूप मे उसकी घोषणा की। इस घोषणा द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया कि युद्ध की समाप्ति के अनन्तर प्रत्येक राष्ट्र और उपराष्ट्र को अपने राजनीतिक भाग्य निर्णय का अधिकार प्राप्त होगा।

युद्ध की समाप्ति के अनन्तर यह ठीक है कि इन उद्देश्यो को एशिया पर लागू करने से इन्कार कर दिया गया, परन्तु साम्राज्यवादी देश इस भू-भाग के देशो को अपने अधीन रखने मे सफल न हो सके। इग्लैण्ड को मजवूर हो भारत, वर्मा और सिलोन को छोडना पडा और उसके साथ ही पूर्व मे एक नवीन युग का उदय हुआ। आज एशिया मे भी राष्ट्रो और उपराष्ट्रो को आत्मनिर्णय का अधिकार मिल रहा है।

इस तरह जनो तथा कवीलो मे सगठित मनुष्य जाति धीरे-धीरे अनेक पडाव को लांघती हुई राष्ट्र के आधार पर आधारित विशाल राज्यो के रूप मे संगठित हो रही है।

३०. उपराष्ट्र के प्रमुख तत्त्व (Elements of Nationality)

राष्ट्रीयता की भावनाओ के विकास के अनेक तत्त्व है, इन तत्वो मे मुख्य तत्त्व निम्नलिखित है।

(१) जाति की समानता (Community of race)।

(२) भाषा की समानता (Community of language)।

(३) धार्मिक समानता (Community of religion)।

(४) भौगोलिक एकता (Geographic unity)।

(५) सामान्य राजनीतिक अकाक्षाएँ (Common political aspirations)।

(६) हितो की समानता (Community of interests)।

अव हम इन सव पर पृथक्-पृथक् विस्तारपूर्वक विचार करेगे।

(१) जाति की समानता (Community of race)—जातीय एकता राष्ट्रीय एकता का एक प्रमुख आधार है। वर्गेस तथा लीकॉक तो राष्ट्र का मुख्य-

आधार जातीयता ही मानते हैं। जिमर्न भी इसे बहुत ऊंचा स्थान देता हुआ कहता है कि "राष्ट्रीयता मे एक विशेष प्रकार की सामूहिक आत्मचेतना का भाव मौजूद है जिसमे समान जातीयता का तत्त्व शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।" लार्ड ब्राइस भी इसे राष्ट्र-निर्माण के प्रमुख तत्त्वो मे से एक तत्त्व स्वीकार करते हैं।

परन्तु आज विशुद्ध जातीयता नाम की कोई चीज नही रही। ससार की सभी प्रमुख जातियां रक्त-मिश्रण का ही परिणाम हैं। पिल्जबरी (Pillsbury) ने इसी बात को अनुभव करते हुए कहा है कि "साधारणत राष्ट्रीयता के निर्माण मे जाति का अब कोई महत्त्व नहीं है। किसी भी राष्ट्र मे कोई भी शुद्ध जाति नहीं है। मनुष्य आज सब कहीं वर्णसकर है।" अत जाति को हम राष्ट्र नही मान सकते। राष्ट्रीयता आज एक आध्यात्मिक तत्त्व है, उसका एक मनोवैज्ञानिक आधार है।

विश्व के आज सभी बडे-बडे राष्ट्र कई जातियो के सगम-स्थल बन चुके हैं। स्विट्जरलैण्ड, कनाडा तथा सयुक्त राज्य अमेरिका इसके प्रमुख उदाहरण हैं। स्विट्जरलैण्ड मे जर्मन, फ्रेंच तथा इटेलियन, कनाडा मे इंग्लिश तथा फ्रेंच, और सयुक्त राज्य अमेरिका मे इंग्लिश, फ्रेंच, जर्मन पोलिश इत्यादि नाना जातियो का मिश्रण है। इस प्रकार जातीय एकता का आधार आज कल्पनात्मक ही अधिक है, वास्तविक कम।

फिर भी इतनी बात हमे अवश्य स्वीकार करनी पडेगी कि तीव्र जातिगत भेदभाव राष्ट्रीय एकता को समाप्त भी कर सकते हैं। अत आज यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय भावना की मजबूती के लिए लोगो मे सामान्य उत्पत्ति (Common origin) मे विश्वास हो या वे अपने पुराने जातिगत भेद को भुला चुके हो। आज जाति की समानता को राष्ट्रीय एकता के निर्माण मे अधिक महत्त्व नही दिया जाता।

(२) भाषा की समानता (Community of language) रेम्जे म्योर का विश्वास है कि जाति की अपेक्षा भाषा की एकता राष्ट्र-निर्माण मे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन है। इसके द्वारा जनता के विभिन्न भाग एक दूसरे को समझ सकते हैं और एक ऐसे सामान्य साहित्य और सस्कृति का निर्माण कर सकते हैं जो कि राष्ट्रीय एकता का आधार बन जाते है। एक ही प्रदेश मे रहने वाली जातियो को पहाड और नदियां एक दूसरे से इतना दूर नही करती जितना कि भाषा की अनेकता। आज विभिन्न देशो की जनता के दृष्टिकोण की विभिन्नता की बडी वजह भाषा और सस्कृति की विभिन्नता है न कि भौगोलिक दूरी। एक सामान्य भाषा के अभाव मे एक दूसरे को जानने और समझने मे कठिनाई उत्पन्न होती है और इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना (National consciousness) के प्रसार मे बाधा उत्पन्न हो जाती है।

परन्तु भाषा की एकता भी निरपेक्ष रूप मे जरूरी नही। अनेक ऐसे राज्य हैं जिनकी एक भाषा नही। स्विट्जरलैण्ड मे कोई एक भाषा नही, वहां तीन भाषाओ—फ्रेंच, जर्मन तथा इटेलियन—का प्रचलन है, फिर भी स्विट्ज लैण्ड मे राष्ट्रीय चेतना का अभाव नही। भारत मे अनेक भाषाएं बोली जाती हैं, फिर भी यहां राष्ट्रीय एकता

की कमी नही। बेल्जियम मे भी दो भाषाएँ बोली जाती हैं, परन्तु राष्ट्रीय एकता वहाँ भी विद्यमान है।

केवल भाषा की एकता भी राष्ट्रीय एकता का कारण नही हो सकती। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका मे एक ही भाषा बोली जाती है फिर भी दोनो देशों में एक सामान्य राष्ट्रीयता के विकास की कोई प्रवृत्ति विकसित नही हुई।

इन सब अपवादो की मौजूदगी के बावजूद भी भाषा की एकता सामान्य राष्ट्रीयता के निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसमे कोई सन्देह नही कि भारत मे राष्ट्रीय एकता विद्यमान है, परन्तु भाषा के विभेद के आधार पर आधारित बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र तथा तमिलनाड आदि प्रदेशो मे जो प्रान्तीयता की उग्र भावनाएँ वर्तमान हैं, क्या वह हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए एक जबर्दस्त खतरा नही ? यही कारण है कि हमारे यहाँ हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार कर उसे सम्पूर्ण देश की भाषा बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

पाकिस्तान मे जो राजनीतिक सकट आज उपस्थित है उसका एक बड़ा कारण पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान की भाषाओ की भिन्नता है। बंगला और उर्दू दोनो ही राष्ट्रभाषा बनने का दावा करती हैं। इस स्थिति मे पाकिस्तान के नेता सवैधानिक गुत्थी के सुलझाव मे बहुत कठिनाई को अनुभव करते हैं।

भाषागत भिन्नता के आधार पर ही विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयो का संगठन होता है। अतः राष्ट्रीय एकता के हित मे सामान्य भाषा का विकास बहुत उपयोगी होता है।

(३) धर्म की समानता (Community of religion)—धार्मिक एकता राष्ट्रीय और जातीय एकता का आधार रही है। यहूदी अपने 'उपराष्ट्र रूप' को धर्म की एकता के आधार पर कायम रख सके। सदियो तक यह जाति एक देश से दूसरे देश मे फिरती रही, इसका कोई राजनीतिक सगठन भी नहीं था, मुख्य रूप मे धर्म के आधार पर आधारित एक सामान्य सस्कृति ही इसके पास थी जो इसे एक उपराष्ट्र रूप मे सगठित किये रही। पोलैण्ड, जापान और आयरलैण्ड की राष्ट्रीयता भी धार्मिक एकता से काफी प्रभावित है। तुर्की के अत्याचार के विरुद्ध यूनानी लोग धार्मिक एकता के कारण ही अपने आपको जीवित रख सके। इस प्रकार धार्मिक एकता राष्ट्र-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण भाग लेती रही और धार्मिक मतभेद राष्ट्रीयता का एक बड़ा शत्रु रहा।

आज के युग मे भी धर्म का प्रभाव सर्वथा समाप्त नहीं हो गया। १९वीं शताब्दी मे हालैण्ड और बेल्जियम का विभाजन धर्म की विभिन्नता के कारण ही हुआ। आयर्लैण्ड और अल्स्टर के विभाजन का कारण भी धार्मिक अनैक्य ही था।

प्रोटेस्टेंटो और कैथोलिको की तरह भारत मे भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के अभाव मे एक सामान्य राष्ट्रीयता के विकास मे बहुत कठिनाई उत्पन्न हो गई। आखिर इस धार्मिक मतभेद का परिणाम देश का विभाजन और मुस्लिमप्रधान 'पाकिस्तान' नाम से एक नये राष्ट्र का निर्माण ही हुआ। आज भी हमारे यहाँ धार्मिक मतभेद

से कुछ लोग नाजायज लाभ उठा रहे है। परन्तु धार्मिक कट्टरता और धर्मान्धता कभी भी, किसी भी जाति को उन्नत और महान् नही बना सकती। आज के राजनैतिक जीवन मे धर्म का जोर घटता जा रहा है। रेम्जे म्योर ने ठीक ही कहा है कि "कुछ उदाहरणों मे धार्मिक एकता ने राष्ट्रीय एकता के विकास और सवर्द्धन मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है, दूसरी ओर धार्मिक मतभेद ने राष्ट्रीयता के विकास मे भारी बाधाएँ भी उपस्थित की हैं, फिर भी सम्पूर्ण स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि उपराष्ट्रो के निर्माण मे धर्म का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं।" इसी बात का समर्थन हेज (Hays) ने भी किया है—"अधिकाश रूप मे आधुनिक राष्ट्रीयता, धार्मिक विश्वास या धार्मिक कृत्यो की एकरूपता पर जोर दिए बिना ही फल-फूल रही है।"

इग्लैण्ड, अमेरिका, रूस, चीन इत्यादि महान् राष्ट्रो मे आज धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीयता ही मौजूद है। इग्लैण्ड मे धर्म-सुधार (Reformation) के अनन्तर धार्मिक एकता कभी कायम ही नही हुई, फिर भी राष्ट्रीय भावनाओ का वहाँ कभी ह्रास नही हुआ। जर्मनी तथा स्विट्जरलैण्ड की जनता मे भयकर धार्मिक मतभेद हैं, फिर भी राष्ट्रीय एकता का अभाव नही। रूस, और अमेरिका मे तो धर्म को राजनीतिक जीवन मे प्रवेश का अधिकार ही नहीं।

नवीन वैज्ञानिक युग मे धर्म-सहिष्णुता (Religious tolerance) का प्रसार अधिक हो रहा है। राजनीति मे धर्म को अधिक महत्त्व नही दिया जाता। आज के सभी प्रगतिशील राष्ट्र धर्म-निरपेक्ष (Secular states) राज्य हैं। धार्मिक अन्धविश्वासो पर यकीन करने वाली जनता और धर्म को वैधानिक सगठन का आधार बनाने वाला राज्य हमेशा पिछडा हुआ अर्द्धसभ्य राष्ट्र ही समझा जाता है।

(४) भौगोलिक एकता (Geographic unity)—जनता का एक निश्चित भू-प्रदेश पर निवास उसमे राष्ट्रीय भावनाओ के विकास मे सहायक होता है। यदि एक ही प्रदेश पर बहुत काल से विभिन्न जातियाँ रहती आयें तो कालान्तर मे उनमें पारस्परिक व्यवहार और मेल-जोल उत्पन्न हो जायगा, जिसका परिणाम एक सामान्य सस्कृति और राष्ट्रीयता का निर्माण होगा। दूसरा अपने निवास-स्थान के प्रति भावपूर्ण प्रेम होना एक स्वाभाविक चीज है। प्रारम्भ से ही हम देखते आये हैं कि मनुष्य को अपने गाँव या नगर से एक विशेष ममत्व रहा है, वैसे ही आज के युग मे राष्ट्रीय निवास-स्थान के प्रति होता है। हम अपने देश को 'मातृभूमि, 'पितृभूमि' आदि नाम देकर उसे स्वर्ग से भी श्रेष्ठ कहने के आदी हो जाते हैं। हम अपने ही देश मे नदियों की पवित्रता, तीर्थ-स्थानो की श्रेष्ठता और प्राकृतिक दृश्यो की सुन्दरता का स्मरण करते हुए इसे देवताओ की जन्मभूमि 'देवलोक' से भी श्रेष्ठ मानते आये है।[1] अपने राष्ट्रगान मे इसकी भौतिक एकता का भी गायन करते हैं।

---

१. गायन्ति देवा किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतु भूते,
भवन्ति भूय पुरुषा सुरत्वात्। —विष्णु पुराण

जन्मभूमि के प्रति यह प्रेम सर्वथा स्वाभाविक है। यह ममत्व राष्ट्रीय भावनाओ के विकास मे विशेष सहायक होता है।

परन्तु भौगोलिक एकता के अभाव मे भी राष्ट्रीय भावनाओ के विकास के उदाहरण मिल जाते है। पोलिश लोग प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व अनेक राज्यो मे पृथक्-पृथक् रहते थे, फिर भी उनमे राष्ट्रीय भावनाओ का प्रसार न रुक सका। इसी प्रकार यहूदी भी अनेक देशो मे फैले हुए थे परन्तु उनकी राष्ट्रीयता कभी खत्म नही हुई। परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि पोलिश और यहूदी दोनो जातियो को एक विशिष्ट भौगोलिक प्रदेश से लगाव था और वे उसे प्राप्त करने की आशा से सदा अनुप्राणित रहते थे। पोल लोग पोलैण्ड को अपनी मातृभूमि समझते थे और यहूदी फिलस्तीन को अपना घर।

फिर भी हम यह अस्वीकार नही कर सकते कि भौगोलिक एकता के अभाव मे भी राष्ट्रीय भावनाओ के विकास की सम्भावना है। पाकिस्तान मे भौगोलिक एकता का अभाव है, साथ ही उसमे सांस्कृतिक, जातीय और भाषा सम्बन्धी एकता का भी अभाव है। अत' पाकिस्तान की राष्ट्रीयता धार्मिक भावनाओ के कमजोर होने पर किसी भी दिन खतरे मे पड सकती है। इस प्रकार जहाँ इन तत्त्वो का अभाव हो वहाँ राष्ट्रीय एकता के भग होने का खतरा अवश्य रहता है।

(५) सामान्य राजनीतिक आकांक्षाएँ (Common political aspirations)—आज धर्म तथा जातीयता की अपेक्षा सामान्य राजनीतिक आकाक्षाओ को राष्ट्रीय भावना के विकास मे अधिक महत्त्व दिया गया है। राष्ट्रीय भावनाओ की अभिव्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता या स्वशासन की मांग के रूप मे होती है। एक साधारण राष्ट्रीय इकाई पूर्ण स्वतन्त्रता की भी मांग कर सकती है और स्वशासन की भी। आजकल प्राय सभी प्रमुख उपराष्ट्रो के लिए आत्म-निर्णय (Self-determination) का अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। पोलैण्ड और भारत मे भी सामान्य राजनीतिक भावनाओ ने राष्ट्रीयता के प्रसार मे पर्याप्त सहयोग दिया।

(६) हितो की समानता (Community of interests)—मिल ने उपर्युक्त तत्त्वो की अपेक्षा सामान्य इतिहास और सामान्य संस्कृति को राष्ट्रीय भावना के विकास मे अधिक महत्त्व दिया है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि आज धर्म, जाति, भूगोल इत्यादि की अपेक्षा आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक हितो की समानता और विचार-सामञ्जस्य तथा सामान्य इतिहास राष्ट्रीयता भावनाओ के विकास म अधिक सहायक सिद्ध होता है। राष्ट्रीय मुख्य रूप मे एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक चीज है, इसका विकास उन सामान्य परम्पराओ से होता है जो सूक्ष्म रूप से मनुष्य की आन्तरिक भावनाओ का नियन्त्रण करती हैं। भारत मे अनेक भाषा-भाषी, धर्मावलम्बी और जातियो वाले उपराष्ट्र हैं परन्तु उन सब की एक ऐतिहासिक परम्परा है। ब्रिटिश शासन के दौरान मे सभी ने अपने भेदभाव भुलाकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न किये। उन दिनो के अत्याचार और पीडन ने सभी मे उग्र राष्ट्रीयता की भावनाओं का प्रसार किया। जब कभी किसी देश की जनता किसी

विदेशी राज्य की अधीनता मे रहती है और एक साथ मिलकर सब लोग अत्याचार और अपमान सहते है, तब राष्ट्रीयता की भावनाओ का विकास बडी शीघ्रता मे होता है। । पोलैण्ड, इटली और भारत इसके स्पष्ट उदाहरण है । रूस मे क्रान्ति के अनन्तर जब एकदम बाह्य राष्ट्रो ने आक्रमण किया तो उस समय रूसी जनता मे भी राष्ट्रीय भावना का प्रबल विकास हुआ । युद्ध-काल मे या सकट-काल मे राष्ट्रीय भावनाएँ बहुत तेजी से बढती है ।

गेटल ने ठीक ही कहा है, "**राष्ट्रीयता तो विशेषतया एक मानसिक स्थिति है, यह एक मानसिक प्रवृत्ति तथा रहने, विचार करने एव अनुभव करने की पद्धति है । यह एकता की आत्मिक अनुभूति है जिसके अनेक आधार हैं तथा जो ऐतिहासिक विकास का प्रतिफल है ।**"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म, जाति, भाषा तथा भूगोल इत्यादि की एकताएँ अनिवार्य नही, इनकी अनुपस्थिति मे भी राष्ट्रीय भावनाओ का विकास सम्भव है । परन्तु इतना तो हमे स्वीकार करना ही पडेगा कि इन उपर्युक्त तत्त्वो के सर्वथा अभाव मे भी राष्ट्रीय भावनाएँ कमजोर पड जाएँगी और कालान्तर मे नष्ट भी हो सकती हैं ।

३१ एक राष्ट्र-राज्य या बहुराष्ट्र-राज्य (Mono-national States and Multi-national States)

एक राज्य एक राष्ट्र पर आधारित हो या अनेक राष्ट्रो को मिलाकर एक राज्य का निर्माण किया जाय ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, और इस प्रश्न के उत्तर के विषय मे भी मतभेद है ।

एक राष्ट्र-राज्य के समर्थक अक्सर मिल के इस कथन को उद्धृत करते हैं कि "**स्वतन्त्र सस्थाओ की सामान्य तथा आवश्यक शर्त यह है कि राज्य तथा राष्ट्रीयता की सीमाएँ एक होनी चाहिएँ ।**" इस प्रकार प्रत्येक राज्य जो कि विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयो से मिलकर बना है, उसे इस प्रकार सगठित किया जाना चाहिए कि उसकी प्रत्येक राष्ट्रीय इकाई अपने राजनीतिक भाग्य का निर्माण स्वय कर सके । मिल का यह दृढ विश्वास था कि जहाँ कही कोई राष्ट्रीय इकाई (Nationality) सगठित होकर जोरदार शब्दो मे अपने पृथक् और स्वतन्त्र राज्य सगठन की माँग करे तो उसकी माँग स्वीकार की जानी चाहिए ।

पिछले ५० वर्षो के दौरान मे यूरोप मे जिस आत्म निर्णय (Right of self-determination) के अधिकार को माना गया है, वह मिल द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही आधारित है । इस मत के अनुसार भारत की प्रत्येक राष्ट्रीय इकाई को सगठित होकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का अधिकार प्राप्त होगा । बगाल, पजाब, तामिलनाड, आन्ध्र आदि सभी राष्ट्रीय इकाइयाँ अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग कर सकेंगी । यद्यपि सिद्धान्त रूप से इस मत का कोई भी विरोध नही करता परन्तु व्यावहारिक रूप मे इस मत का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अराजकता के बीज

खो देगा। यदि प्रत्येक छोटी राष्ट्रीय इकाई को स्वतन्त्र राज्य-स्थापना का अधिकार दे दिया जाय तो उसका परिणाम यही होगा कि आज के सभी बडे-बडे राज्यो को भग कर उनके स्थान पर अनेक नवीन राष्ट्रो की स्थापना की जायगी। इग्लैण्ड, फ्रास, जर्मनी, रूस, भारत, चीन इत्यादि राज्य अनेक स्वतन्त्र राज्यो मे विभाजित किये जा सकते है।

दूसरा, आज राष्ट्रीय इकाइयो का इस प्रकार से मिश्रण हो गया है कि उनमे विभाजक रेखा खीचना कठिन है। साथ ही उनका स्वतन्त्र राज्यो के रूप मे सगठन करना भी असम्भव नही तो कठिन अवश्य है।

फिर ये छोटे-छोटे राज्य आर्थिक और राजनीतिक रूप मे सब प्रकार से स्वतन्त्र नही हो पाते। वे प्राय बडे-बडे राज्यो की दया पर ही जीवित रहते है।

द्वितीय विश्व युद्ध ने इस बात को साबित कर दिया है कि छोटे राज्य बड़े राज्यो का मुकाबिला नही कर सकते। हिटलर ने थोडे से दिनो मे मध्य यूरोप के सम्पूर्ण देशो को अपने अधीन कर लिया था।

मिल का यह कथन कि जो देश या राज्य विविध राष्ट्रीय इकाइयो के मिश्रण से बने है उनमे स्वतन्त्र सस्थाओ की अवस्थिति असम्भव-सी है; बिलकुल गलत है। स्विट्जरलैण्ड तथा अमेरिका इसकी निस्सारता के द्योतक हैं। स्विट्जरलैण्ड मे एक नही अपितु तीन-तीन राष्ट्रीय इकाइयाँ वर्तमान हैं, फिर भी वहाँ प्रजातन्त्र का जो स्वाभाविक रुप विकसित हुआ है, तथा अनेक प्रकार की जिन लोकतन्त्रात्मक सस्थाओ का विकास हुआ है वह अन्यत्र नही हो सका। सयुक्त राज्य अमेरिका भी अनेक राष्ट्रीय इकाइयो का सगम है, फिर भी वहाँ स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रात्मक सस्थाओ का पूर्ण विकास हुआ है। सोवियत रुस राष्ट्रीय इकाइयो का अजायबघर कहलाता हैं, परन्तु वहाँ राष्ट्र-निर्माताओ ने राज्य को इस प्रकार सगठित किया है कि सभी राष्ट्रीय इकाइयाँ अपनी सस्कृति, भाषा और ऐतिहासिक परम्परा को सुरक्षित रखने मे समर्थ हैं।

लार्ड ऐक्टन तथा ब्लशली इत्यादि ने बहु राष्ट्रवाद का समर्थन किया है। अनेक राष्ट्रीय इकाइयो के समिश्रण से राज्य मे उदारता और विस्तीर्णता आ जाती है, अनेक सभ्यताओ का मिश्रण होता है। श्रेष्ठ जातियो के साथ रहने से अविकसित जातियाँ भी उन्नत हो जाती हैं और पराजित तथा अर्द्ध मृत से राष्ट्र भी जीवित राष्ट्रो के सम्पर्क मे पुन जी उठते हैं।

कुछ लोगो का मत है कि एक राष्ट्र के आधार पर आधारित राज्यो मे अन्ध राष्ट्रीयता को उत्पन्न किया जाता है। उनमे साम्राज्यवादी धारणाओ का विस्तार होता है और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के भग होने का खतरा रहता है। इसमे सन्देह नही कि राष्ट्रीय भावनाओ की अधिकता युद्धो की जनक होती है।

निश्चय ही राष्ट्रीय इकाइयो के आत्मनिर्णय के अधिकार को हम उस सीमा तक लागू नही कर सकते जहाँ तक मिल ने उसका समर्थन किया है। मिल स्वयं अपने सिद्धान्त की अव्यावहारिकता को स्वीकार करता है और उसे एक **कोरा आदर्श**

ही मानता है । जहाँ कहीं विविध राष्ट्रीय इकाइयाँ (Nationalities) अपनी इच्छा से किसी एक बड़े राष्ट्र का भाग हों वहाँ तो उनके द्वारा स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का प्रश्न उत्पन्न ही नही होता । परन्तु जहाँ कहीं असन्तुष्ट राष्ट्रीय इकाइयाँ हों वहाँ न तो कोई विशेष प्रगति हो ही पाती है और न शान्ति ही कायम रह सकती है । एक असन्तुष्ट राष्ट्रीय इकाई अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए एक जीवित खतरा होती है, ऐसे समय मे उसे जबरदस्ती किसी एक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत नही रखा जाना चाहिए ।

हमारे विचार मे तो आज की राष्ट्रीय इकाइयो की समस्या का सुलझाव इन छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना मे सम्भव नही । छोटी-छोटी राष्ट्रीय इकाइयाँ बड़े राज्यो का भाग बन जहाँ राजनीतिक गौरव प्राप्त करती हैं वहाँ आर्थिक लाभ भी हासिल करती हैं । आवश्यकता इस बात की है कि इन राष्ट्रीय इकाइयो की सस्कृति, भाषा और ऐतिहासिक परम्परा की सुरक्षा की वैधानिक गारटी हो और फिर इन्हे स्वायत्त शासन भी प्राप्त हो । केवल पर्याप्त स्वायत्त शासन के अनुदान द्वारा ही विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयो को सन्तुष्ट रखा जा सका है ।

३२ क्या भारत एक राष्ट्र है ?

भारत क्या एक राष्ट्र है ? ऊपर राष्ट्रीयता के तत्त्वो के विवेचन के अनन्तर हम इस प्रश्न का उत्तर पर्याप्त सरलता से दे सकते हैं । जहाँ तक जाति, सस्कृति, धर्म, भाषा इत्यादि की एकता का प्रश्न है भारत मे ये सब विद्यमान नही । जातीयता की दृष्टि से भारत अनेक जातियो का मिश्रण है । मुख्य रूप से आर्य और द्रविड ये दो जातियाँ ही भारत मे अधिक हैं, परन्तु शक, हूण और मगोल इत्यादि जातियो का भी यहाँ पर्याप्त मिश्रण हो चुका है । इन जातियो मे रक्त की विशुद्धता अन्य देशो की भाँति यहाँ भी अप्राप्य है । इसके अतिरिक्त भारत के विभिन्न सम्प्रदाय अनेक बिरादरियो, वर्णों तथा वर्गो मे विभाजित है । हिन्दुओ का भारत मे बहुमत है परन्तु हिन्दू अपने आप मे ही अनेक वर्णो और जातियो तथा उपजातियो मे बँटे हुए हैं । इन सब मे सामाजिक तथा वैवाहिक सम्बन्धो का अभाव है ।

धर्म की दृष्टि से भी भारत मे अनेकता है । हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, पारसी, सिख, जैन इत्यादि अनेक धर्म यहाँ वर्तमान हैं । इन धर्मों के अनुयायियो मे कोई विशेष मित्रता-पूर्ण सम्बन्धो की अवस्थिति नही । आपस मे पर्याप्त मतभेद है, विशेष रूप से हिन्दुओ और मुसलमानो मे तो पर्याप्त धार्मिक विरोध वर्तमान है । भारत मे लगभग २०० भाषाओ एव उपभाषाओ का प्रयोग होता है । मराठी, बगला गुजराती, तमिल, तेलगू, कन्नड इत्यादि अनेक भाषाओ का अपना-अपना समृद्ध साहित्य है । अभी तक अंग्रेजी ही अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप मे इस्तेमाल की जाती रही है । अभी हिन्दी अंग्रेजी का स्थान नही ले सकी और न ही व्यावहारिक दृष्टि मे यह राष्ट्रीय भाषा ही बन सकी है ।

सास्कृतिक दृष्टि से भी भारत की प्रत्येक भौगोलिक इकाई पर्याप्त स्वतन्त्र

है। बंगाल और पजाब की दो विभिन्न सस्कृतियां हैं, इसी प्रकार उत्तर प्रदेश और आन्ध्र देश की अपनी-अपनी सस्कृतियां है। महाराष्ट्र की अपनी भाषा है, अपना साहित्य है, रहन-सहन का अपना तरीका है और एक दृष्टि से उसका अपना इतिहास भी है जो कि सुदूर पूर्व स्थित आसाम के लोगो से भिन्न है।

भौगोलिक दृष्टि से भारत उत्तर और दक्षिण दो स्पष्ट भागो मे बँटा हुआ है। भारत के इन दोनो भागो के निवासियो मे पर्याप्त अन्तर है। दक्षिण के लोगो का रहन-सहन, उनकी बोल-चाल, उनका साहित्य तथा उनकी सस्कृति उत्तर भारत के निवासियो से पर्याप्त भिन्न है। यही नही जहाँ भारत मे एक ओर सर्वथा सस्कृत और सुसभ्य लोग रहते है, वहाँ दूसरी तरफ आदिम जातियो के ऐसे कबीलो की भी कमी नही जो कि शिकार खेलकर, वनो मे रहकर, वृक्षा तथा पशुओ की खाल पहनकर अपनी जिन्दगी बसर करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी अग्रेजो के आगमन से पूर्व शायद ही कभी सम्पूर्ण भारत बहुत अर्से तक किसी एक राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत रहा हो। भारत मे अनेक स्वतन्त्र राज्यो की अवस्थिति रही है। ये राज्य अक्सर परस्पर युद्ध और लडाई-झगडे मे ही मग्न रहते थे। ऐसी स्थिति मे भारतवर्ष के प्राचीन युग मे एक शक्तिशाली राष्ट्रीय भावना का विकास न हो सका।

भारत मे भाषा, धर्म, जाति इत्यादि की इतनी किस्मे है जितनी कि शायद सारे यूरोप मे नहीं। यही कारण है कि भारत को एक उपमहाद्वीप कहा गया और इसे एक नही अनेक राष्ट्रो का समूह समझा गया है। पाश्चात्य विद्वानो ने तो भारत को कभी एक राष्ट्र नही माना।

परन्तु यह सब भेद बाह्य और ऊपरी है। इन भेदो के नीचे एक ऐसी विशिष्ट सास्कृतिक एकता है जो भारत भूमि की विशेष उपज है। इस बात से हम इन्कार नही करते कि जाति की दृष्टि से भारत के लोगो मे भेद है, भाषा और धर्म की दृष्टि से भी लोगो मे एकता नही। परन्तु यह भेद भारत भूमि के निवासियो को एक-दूसरे से पृथक् नही कर सकते। ये विभेद उस एकता के सामने—जो कि हमारे देश मे वर्तमान है—बहुत मामूली दीखते हैं। इसका एक बडा कारण भारतवर्ष की भौगोलिक एकता है। प्राकृतिक दृष्टि से भारतवर्ष एक ऐसी इकाई है जो कि अपने आप मे सर्वथा पूर्ण है। एशिया के अन्य देशो से पृथक् होने के कारण और अपने आप मे सम्पन्न होने के कारण हमारा देश एक ऐसी सस्कृति को उत्पन्न कर सका जो सभी दृष्टियो से विशुद्ध भारतीय हैं। हमारे पूर्वजो ने देश के एक कोने मे लेकर दूसरे कोने तक ऐसे तीर्थो की स्थापना की जो कि सभी हिन्दुओ के लिए समान रूप से पवित्र हैं। भगवान् शकराचार्य ने भारत की भौगोलिक एकता को ही अपनी दृष्टि मे रखते हुए भारत के चारो कोनो मे अपने मठो को स्थापित किया। प्रत्येक धार्मिक हिन्दू प्रात कालीन स्नान के समय भारतवर्ष की तमाम पवित्र नदियो का स्मरण एक साथ करता है, वह जहाँ गगा और सिन्धु को पवित्र मानता है वहाँ कावेरी और गोदावरी को भी। भारत के हिन्दुओ ने अपनी जन्म-भूमि को देव-भूमि से भी श्रेष्ठ

और पवित्र माना है ।

जातीय दृष्टि से यह ठीक है कि भारत मे आर्य और द्रविडो मे भेद है, परन्तु आज यह भेद केवल मात्र वैज्ञानिको की खोज का ही विषय है । आज वह एक दूसरे मे पर्याप्त घुल-मिल गये है । उनकी सास्कृतिक एकता ने उनके नसल के भेद को समाप्त कर दिया है । शक, हूण, मगोल इत्यादि आक्रमणकारी यहाँ आए, परन्तु आज वह विशाल हिन्दू जाति मे इस प्रकार विलुप्त हो गये है जैसे कि एक विशाल सागर मे अनेक नदियाँ । यह ठीक है कि विदेश से आए मुसलमान हिन्दुओ से पृथक् रहे । वे अपने आपको हिन्दुओ मे न खपा सके । परन्तु अकबर के समय का और उसके बाद का इतिहास बतलाता है कि किस प्रकार ये दोनो महान् जातियाँ एक दुसरे के निकट आई और आपस मे मिलकर एक सामान्य सस्कृति का निर्माण करने लगी । यही सस्कृति हिन्दुस्तानी सस्कृति कहलाती है । भारत मे धर्मो की विभिन्नता भी है । परन्तु वह भेद इतना तीव्र नही जितना कि बताया गया है । भारत के अग्रेज शासको ने "फोडो और शासन करो" (Divide and rule) की नीति का अनुसरण करते हुए बडी चालाकी से भारत के प्रमुख सम्प्रदायो को एक दूसरे का विरोधी बना दिया । बौद्ध और जैन विशाल हिन्दू समाज के ही भाग समझे जाते हैं । सिखो की सस्कृति और जीवन-दर्शन भी हिन्दुओ की सस्कृति के भीतर ही माना जाता है । मुसलमानो और हिन्दुओ मे पर्याप्त काल से सास्कृतिक और सामाजिक आदान-प्रदान चल रहा था जिसने दोनो सम्प्रदायो को पर्याप्त प्रभावित किया और उनके पारस्परिक भेदो को काफी हद तक खत्म कर दिया । मुसलमानो के अनेक फकीर और साधु हिन्दुओ के लिए भी पूज्य बन गये । अनेक रीति-रिवाजो और सामाजिक त्योहारो मे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही भाग लेने लगे । फिर, उत्तर भारत के एक मुसलमान का जीवन, उसके रहन-सहन का ढग और उनकी बोल-चाल दक्षिण भारत के मुसलमान से भिन्न हो गई । पजाब और बगाल के मुसलमानो मे भी ऐसे ही भेद दृष्टिगोचर होते हैं, वे अपने यहाँ के हिन्दुओ के अधिक निकट हैं । भारत के मुसलमान का तुर्की, मिश्र अथवा अरब के मुसलमान से तो कोई मेल ही नही । जातीय दृष्टि से भी भारत के मुसलमान अधिकतर भारतीय जातियो के ही वशज हैं ।

सास्कृतिक और साहित्यक दृष्टि से भी भारत मे एक आधारभूत एकता है । दक्षिण और उत्तर भारत की भाषाओ के साहित्य के प्रेरणा-स्रोत समान हैं । तमिल, तेलगू, कन्नड, मलयालम, गुजराती, मराठी, बगला तथा हिन्दी इत्यादि सभी दक्षिणी और उत्तरी भाषाओं ने महाभारत और रामायण से पर्याप्त साहित्यिक सामग्री एकत्रित की है । वस्तुत भारत की प्राय सभी भाषाओ मे राम और कृष्ण के जीवन की विभिन्न कथाओ का विभिन्न रूपो मे वर्णन उपलब्ध हो जायगा । दक्षिण और उत्तर दोनो मे सस्कृत साहित्य की समान महत्ता रही है, और अब भी है । भारत के इन दोनो ही भागो मे प्राप्त समाजो मे एक आधारभूत समानता है । विष्णु, राम तथा कृष्ण की पूजा उत्तर और दक्षिण दोनो ही प्रदेशो मे होती है । रामानुज, शकर, रामानन्द, वल्लभाचार्य, तुलसी, कबीर, सूर, मीरा, गुरु नानक इत्यादि विद्वानो और

सन्तो का भारत के सभी भागो मे समान प्रभाव और समान सम्मान है।

भारत की सभी प्रमुख भाषाओ और वर्ण लिपियो का जन्म भी एक ही सामान्य स्रोत से हुआ है, भारत की भाषाएँ मुख्य रूप से दो वर्गों—आर्य और द्रविड मे बाँटी जाती हैं, परन्तु आज ये दोनो वर्ग एक दूसरे को पर्याप्त प्रभावित कर रहे हैं। पुराने जमाने मे संस्कृत उत्तर और दक्षिण भारत की सामान्य भाषा थी, आज हिन्दी यह स्थान ग्रहण कर रही है।

वर्तमान भारत की एक सामान्य संस्कृति का विकास और भी अधिक आसानी से हो सकता है। यातायात के सरल साधनो के विकास के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागो को एक दूसरे के निकट आने और समझने का अवसर मिल सकता है। ब्रिटिश राज्य की भारत के लिए सबसे बडी देन भारत का राजनीतिक एकीकरण था। ब्रिटिश शासन ने सम्पूर्ण देश को एक राजनीतिक इकाई बना उसमे दृढ केन्द्रीय शासन की स्थापना की, उसके परिणामस्वरूप ही देश मे सामान्य राष्ट्रीय भावनाओ का प्रसार हुआ। अंग्रेजी के अध्ययन द्वारा उत्तर और दक्षिण भारत के लोग एक दूसरे के विचारो से अवगत होने लगे और पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे। ऐसे ही समय मे हमारे देश मे सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक जागरण का युग प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश शासन मे विदेशियो का ही प्रभुत्व था, भारतीय अपने ही देश मे अपमानित और लाछित होते थे। गुलामी द्वारा उत्पन्न हीनता की इसी स्थिति ने लोगो मे राष्ट्रीय जागरण को उत्पन्न किया। बंगाली, गुजराती, सिन्धी, पजाबी, बिहारी, काश्मीरी सभी अपने-अपने भेदभाव को भूलकर शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से टक्कर लेने के लिए तैयार हो गये। स्वतन्त्रता के इस आन्दोलन मे सभी प्रदेशो और सम्प्रदायो ने समान कष्ट उठाए और सामान बलिदान दिए। इस प्रकार कष्टों का और बलिदानो का यह समान इतिहास भारत के विभिन्न भागो के लोगो मे एकता की भावना को भरता रहेगा।

भारत एक राष्ट्र है, परन्तु इसमे राष्ट्रीय इकाइयाँ अनेक हैं।

भारत की राष्ट्रीयता को सबल और ओजपूर्ण बनाने के लिए हमे अपने देश मे प्राप्त आधारभूत एकता पर जोर देना चाहिए। भाषाओ के भेद और धर्मो के भेद के नीचे छिपी हुई राष्ट्रीय एकता से हमे सभी नागरिको को परिचित कराना चाहिए। हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियो के मेल से बनी संस्कृति के प्रचार और प्रसार के प्रयत्न किए जाने चाहिएँ। अपनी राष्ट्रीय एकता की मजबूती के लिए अपनी राष्ट्रभाषा के विकास का पूर्ण प्रयत्न करना आवश्यक है। एक सामान्य भाषा के अभाव मे देश के विभिन्न भाषा-भाषी भागो मे एकता और मेल कायम नही हो सकता। भाषा की एकता हमारे जैसे विशाल देश मे अत्यन्त आवश्यक है। एक सामान्य भाषा के विकास का अर्थ प्रादेशिक भाषाओ का विनाश नही है, प्रादेशिक भाषाएँ अपने-अपने प्रदेश मे स्वतन्त्र होंगी। अपने इतिहास को भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखना चाहिए। ब्रिटिश शासको ने हमारे इतिहास को विकृत रूप मे प्रस्तुत किया है, उन्होंने हमारे मे प्राप्य

भेदो और भिन्नताओ (Diversities) पर अधिक बल दिया और आधारभूत एकता (Unity) की सर्वथा उपेक्षा की। हिन्दुओ और मुसलमानो के पारस्परिक युद्धो का और पारस्परिक भेदो का बढा चढा कर वर्णन किया। यह सब राष्ट्रीय हित मे नही।

देश की भौगोलिक और सास्कृतिक एकता का परिचय देने के लिए हमे विद्यार्थियो की—और जनसाधारण की भी—यात्राओ की व्यवस्था करनी चाहिए। लोग स्वय अपने देश का भ्रमण कर, विभिन्न ऐतिहासिक और सास्कृतिक केन्द्रो को देख, अपने देश की भौगोलिक एकता से अवगत हो सकें। ऐसे सास्कृतिक मेले और उत्सवो का भी आयोजन किया जाना चाहिए कि जिनके द्वारा लोग विभिन्न प्रदेशो की सस्कृतियो का ज्ञान प्राप्त कर सकें। अपनी शिक्षा-पद्धतियो को इस प्रकार से परिवर्तित करना चाहिए कि भारत के विभिन्न प्रदेशो मे सास्कृतिक आदान-प्रदान बढे। बजाय विदेशी भाषाओ के हमे अपने यहाँ की प्रादेशिक भाषाओ के अध्ययन की आवश्यक रूप से व्यवस्था करनी चाहिए। इस प्रकार के अनेक प्रयत्नो द्वारा ही हम अपनी राष्ट्रीय भावना को कायम रख सकते है। यह राष्ट्रीयता की भावना हमारे लिए जीवन-मरण का प्रश्न है।

इसके साथ ही राजनीतिक रूप मे भी राष्ट्रीय इकाइयो को स्वतन्त्र सास्कृतिक विकास के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। वर्तमान सघशासन (Federal Government) की व्यवस्था इन उद्देश्यो को प्राप्त करने का एक सन्तोषजनक प्रयत्न है।

३३ राष्ट्रीय इकाइयो के अधिकार

नीचे हम राष्ट्रीय इकाइयो (Nationalities) के अधिकारो का विवेचन करेंगे। इन अधिकारो मे से अनेक अधिकार राष्ट्रसघ और सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा भी माने जा चुके हैं।

(१) आत्म-निर्णय का अधिकार—इस अधिकार का जिक्र हम पीछे भी कर आए हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक उपराष्ट्र को अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का अधिकार होना चाहिए। हमने पीछे भी इस अधिकार की सीमाओ का निर्देश किया है, और यह बतलाया है कि यदि इस अधिकार को सख्ती से लागू किया जाय तो उसका परिणाम होगा ससार से बडे-बडे राज्यो का सर्वथा विलोप। अत इस अधिकार का उपयोग बहुत सँभलकर करना चाहिए। जहाँ कही एक राष्ट्र दूसरे किसी राज्य के अधीन हो वहाँ इस अधिकार पर बल दिया जा सकता है। पोलैण्ड, भारत, इण्डोनेशिया, बर्मा इत्यादि देश इस अधिकार के आधार पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर बल दे सकते थे।

अत आज तो अनेक राष्ट्रीय इकाइयो से मिलकर ही एक राज्य की स्थापना होती है। अत इन राष्ट्रीय एकाइयो के अन्य अधिकारो पर ही अधिक बल देना चाहिए।

आत्म-निर्णय के अधिकार को मध्य-युग मे तथा उसके बाद भी आधुनिक युग के प्रारम्भिक भाग मे कभी स्वीकार नहीं किया गया। 'वियना काग्रेस' मे जो कि १८१४ मे वियना मे हुई थी, यह आशा की जाती थी कि राष्ट्रो के इस अधिकार को स्वीकार कर उसके आधार पर यूरोप का राजनीतिक पुनर्गठन होगा। परन्तु 'वियना काग्रेस' मे उपस्थित राजनीतिज्ञ प्रतिक्रियावादी थे, वह राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्रवाद के विरोधी थे, उन्होने इस सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा की। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर यूरोप मे जिन अनेक नवीन राज्यो की स्थापना हुई उनमे से अधिकाश इसी सिद्धान्त के आधार पर ही सगठित किये गये थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर तो एशिया के देशो को भी आत्म-निर्णय का अधिकार थोडी-बहुत हिचकिचाहट के अनन्तर दे दिया गया।

(२) **पृथक् सत्ता का अधिकार**—जहाँ एक राज्य का निर्माण बहुत-सी राष्ट्रीय इकाइयो के मिश्रण से होता है, वहाँ अक्सर छोटी और गौण राष्ट्रीय इकाइयो की सत्ता को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। भारत मे जब ब्रिटिश राज्य था तो यहाँ की विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयो को अनेक प्रकार से मिटाने के प्रयत्न किये गये। चेक तथा स्लोवाक लोग प्रथम विश्व-युद्ध मे पूर्व आस्ट्रिया की अधीनता मे थे, उनकी सस्कृति, भाषा और ऐतिहासिक परम्परा को मिटाने के पूरे-पूरे प्रयत्न किये गये।

इसलिए आज यह आवश्यक समझा जाता है कि प्रत्येक राज्य के संविधान मे इन इकाइयो की पृथक् सत्ता का कानूनी गारटी दी जाय और उन्हे स्वायत्त शासन भी प्रदान किया जाय।

(३) **भाषा की स्वतन्त्रता का अधिकार**—अनेक राष्ट्र-राज्यो मे एक राष्ट्र-भाषा की अवस्थिति सम्भव है। परन्तु इसके साथ दूसरी राष्ट्रीय इकाइयो को अपनी भाषा की रक्षा, उसके प्रयोग और अपने बच्चो को उसके शिक्षण का अधिकार होना चाहिए। हमारे यहाँ हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया है, परन्तु उसके साथ ही प्रादेशिक भाषाओ की स्वतन्त्र स्थिति को भी माना गया। उसके शिक्षण और संवर्द्धन की जिम्मेदारी प्रादेशिक सरकारो पर है। अन्य राष्ट्रीय इकाइयाँ भी अपनी भाषा का प्रयोग कर सकती हैं, उनमे शिक्षा देने के लिए स्कूल और कालेजो की स्थापना की उन्हे स्वतन्त्रता है।

भाषा सम्बन्धी साम्राज्यवाद का प्रचलन प्राय सभी देशो मे पाया जाता है। अक्सर अधीन राष्ट्रो की भाषा को दबाने के प्रयत्न सभी जगह किये जाते हैं। मुसलमान शासको ने भारत की भाषाओ का त्याग कर फारसी इत्यादि विदेशी भाषाओ को राजकीय भाषा बनाया। इसी प्रकार अग्रेजो ने भी भारत मे अग्रेजी को राज-काज की भाषा बनाया और उच्च शिक्षा का माध्यम भी इसे ही रखा।

(४) **सास्कृतिक और धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार**—प्रत्येक सास्कृतिक और धार्मिक अल्पमत को अपनी संस्कृति और अपने धर्म की रक्षा का और उसके पालन का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक जाति के और धार्मिक सम्प्रदाय के अपने रहन-सहन के तरीके, अपना साहित्य और अपने रीति-रिवाज होते हैं जिनका वे पालन

करते हैं। राज्य को उनकी रक्षा करनी चाहिए और बहुमत की इच्छा के अनुसार उन्हे कुचल नही देना चाहिए। आज के प्राय सभी प्रगतिशील राज्यो मे धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार की पूरी-पूरी सुरक्षा रहती है। धार्मिक असहिष्णुता, राजनीतिक और सास्कृतिक दृष्टि से पिछडेपन का लक्षण है।

भारत के सविधान मे सास्कृतिक और धार्मिक स्वतन्त्रता की पूरी पूरी गारटी दी गई है। परन्तु सामाजिक और नैतिक हित के लिए बुरी सामाजिक और धार्मिक प्रथाओ को बन्द करने के लिए राज्य के अधिकार को सर्वथा स्वीकार किया जाता है।

३४ उग्र राष्ट्रवाद की हानियां

१६वी सदी मे राष्ट्रवाद जहाँ एक प्रगतिशील शक्ति थी, जहाँ उसके बल पर लोग एकत्र हो विदेशी राज्यो के जुए को उतार फेंकते थे, वहाँ २०वी शताब्दी मे यूरोप मे इसका इतिहास कोई अधिक गौरवपूर्ण नही रहा। राष्ट्रवाद के नाम पर लोगो को गुमराह किया गया, दूसरे देशो की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया और लाखो व्यक्तियो की जानो और करोडो रुपयो की सम्पत्ति को बरबाद किया गया। आज का राष्ट्रवाद विभिन्न राष्ट्रो मे घृणा उत्पन्न करता है, उनमे आक्रामक प्रवृत्ति को उकसाता है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अशान्ति के बीज बोता है। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर जर्मनी, जापान तथा इटली मे उग्र राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। इन देशो के निवासियो मे यह भावना भरी गई कि वे ससार की श्रेष्ठतम जातियाँ हैं, उनके राष्ट्र विश्व के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र है, और वह ससार पर शासन करने के लिए ही उत्पन्न हुई हैं। जर्मनी मे इस उग्र राष्ट्रीयता का आधार जातीयता था। इसी अन्धी राष्ट्रीयता के फलस्वरूप ही जर्मनी मे सैकडो यहूदी कत्ल कर दिये गये, उनके घर-बार जला दिये गये और उन्हे देश से निकाल दिया गया। इसी उग्र राष्ट्रीयता का ही परिणाम द्वितीय महायुद्ध था जिसमे असंख्य मानवीय जीवनो की आहुति दी गई।

सास्कृतिक क्षेत्र मे तो राष्ट्रीयता एक प्रगतिशील शक्ति के रूप मे काम कर सकती है परन्तु यही राष्ट्रीयता आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे फूट डालती है। जहाँ कही राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होने का प्रयत्न करते हैं, वहाँ अगला कदम वे साम्राज्यवाद और युद्ध की ओर रखते हैं। ऐसी राष्ट्रीयता विशुद्ध रूप से मूढ कट्टरपन है, वह मनुष्य को अन्धा बना देती है, वह जगलीपने की देशभक्ति से अधिक कुछ नही।

एक शिष्ट और सयमित राष्ट्रीयता का आदर्श सह-जीवन (Co-existence) है। उसका आदर्श "जियो और जीने दो" है। ऐसी राष्ट्रीयता मे साम्राज्यवादी प्रवृत्ति नही होती। वह कमजोर और पिछडे देशो को दबाने की प्रेरणा नही देती। ऐसी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के हित मे होती है, उसका उद्देश्य विश्व-शान्ति और विश्व-कल्याण होता है। ऐसी राष्ट्रीयता प्रभुता तथा राज्यो की असीम स्वतन्त्रता में भी यकीन नही करती।

जो राष्ट्रवाद मानवीय समूहो मे घृणा और अविश्वास पैदा करता है, जिसका

उद्देश्य साम्राज्यवाद और युद्ध है, उससे हमे बचना चाहिए। राष्ट्रीयता का उद्देश्य विशुद्ध देश-भक्ति का विकास होना चाहिए। साथ ही हमे मानवतावाद को भी नही भूलना चाहिए। आदर्श राष्ट्रवाद राष्ट्रीय हित और मानवीय हित मे से मानवीय हित को ही ऊँचा और श्रेष्ठ समझता है।

Important Questions

Question	Reference
1 Distinguish between State and Nation (*Agra 1943, Cal 1926, Pat 1944*)	Arts. 25, 26 and 27.
2 Discuss the distinction between (*a*) Nation and (*b*) Nationality (*Punjab, 1955*)	Arts 26, 27 and 28
3 What are the chief elements that go to constitute Nationality? Is any one of them absolutely essential? Distinguish between Nation and Nationality (*Punjab, 1952*) *Or* Discuss the factors that creat a sense of unity in State (*C. U 1954*)	Art 30.
4 Discuss the development of Nationalism	Art 29
5 Is India a Nation? (*Cal. 1937, 1935, 1933*)	Art 32.
6 Explain the influence of Nationality on the formation of States (*Punjab, 1942*)	Art 29.

५

राज्य की उत्पत्ति

(THE ORIGIN OF THE STATE)

३५ राज्य की उत्पत्ति विषयक प्रश्न

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह विभिन्न मानवीय मस्थाओ की उत्पत्ति और विकास विषयक प्रश्न पूछे। परिवार की उत्पत्ति कब और किस ममय हुई ? ममाज का विकास कब, किम समय और कैसे हुआ ? राज्य का जन्म क्यो, किस समय और किम लिए हुआ ? यह सब स्वाभाविक प्रश्न हैं। इन प्रश्नो का सीधा-मादा निश्चित उत्तर दे सकना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है।

राज्य के जन्म का प्रश्न एक रहस्य है। इस प्रश्न का उत्तर इतिहास की सहायता से दिया जाना चाहिए। परन्तु इतिहास यहाँ आकर हमारी कुछ विशेष सहायता नही कर पाता। इतिहास यह तो वतला सकता है कि अमुक देश मे शासन कैसे वदला या अमुक देश मे राज्य का स्वरूप क्या रहा। उसका मुख्य क्षेत्र घटनाओं का वर्णन है, परन्तु इतिहास नही वतला सकता कि 'राज्य' नाम की सामाजिक सस्था का जन्म कव हुआ या मनुष्य मे राजनीतिक चेतना कव उत्पन्न हुई ? और हमारे लिए आधारभूत प्रश्न यही है।

अधिकाश मे इस प्रश्न का उत्तर कल्पना के वल पर ही दिया गया है। आज अवश्य हम समाज विज्ञान, भाषा विज्ञान, जातिशास्त्र, (Ethnology) तथा शरीर रचना विज्ञान (Enthropology) इत्यादि की सहायता से इस प्रश्न को वैज्ञानिक रूप सुलझाने के प्रयत्न करते हैं, तथापि हमारे एतद्विषयक सिद्धान्त अधिकतर कल्पनात्मक और दार्शनिक हैं।

राज्य की उत्पत्ति से हमारा मतलव किसी राज्य विशेष की उत्पत्ति से नही। जव हम इस प्रश्न के उत्तर को खोजने का प्रयत्न करते हैं तो भारतीय, ब्रिटिश या रूसी राज्य विशेष की उत्पत्ति की खोज का प्रयत्न नही करते। हमारा अध्ययन-विषय 'राज्य' नाम की सामाजिक सस्था का जन्म होता है। मानव इतिहास के आकाश मे राज्य का जन्म कव और कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर मे प्राचीन काल से ही अनेक कल्पनाप्रधान दार्शनिक सिद्धान्तो की रचना की गई है, इनमे से प्रमुख यह हैं—

(१) दैवीय उत्पत्ति सद्धिान्त (The Divine origin theory)
(२) शक्ति सिद्धान्त (The Force theory)
(२) सामाजिक अनुवन्ध सिद्धान्त (The Social contract theory)
(४) पितृसत्ताक तथा मातृसत्ताक सिद्धान्त (The Patriarchal and

Matriarchal theories)

आज इनमे से अधिकाश सिद्धान्त असत्य या अर्द्धसत्य सिद्ध हो चुके है, उन्हे अब स्वीकार नही किया जाता। फिर भी इनका अध्ययन आवश्यक है। प्रथम तो इसलिए कि इसके अध्ययन से हमे यह पता चलता है कि राज्य के रूप की प्राचीन काल मे किस प्रकार से व्याख्या की जाती थी। दूसरे, इनके अध्ययन से हमे उन परिस्थितियो का ज्ञान होता है जिनमे से कि राज्य को गुजरना पडा है। तीसरे, राज्य के स्वरूप निर्माण मे भी इन सिद्धान्तों का विशेप योग रहा है। अव हम इन सभी सिद्धान्तो की क्रमश विवेचना करेंगे।

३६ दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त (The Divine origin theory)

यह ससार और इसके विविध पदार्थ किसी दैवीय शक्ति की रचना है; ऐसा मानव-जाति का वहुत पुराना यकीन है। संसार के अन्य पदार्थों की तरह राज्य को भी दैवीय सृष्टि मानने का मत वहुत पुराना है, इतना ही पुराना जितना कि शायद राज्य अपने आप। इस सिद्धान्त के अनुसार मानवीय हित के लिए भगवान् ने स्वय राज्य की सृष्टि की है। वह स्वय राज्य चला सकता है या अपने किसी प्रतिनिधि को नियुक्त कर उस द्वारा शासन-व्यवस्था कायम रख सकता है। राज्य अधिकारियो के आदेशो को तोडना न केवल कानूनी दृष्टि से ही अपराध है, अपितु नैतिक और धार्मिक दृष्टि मे भी। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि समझा गया और उसके आदेश और आज्ञाएँ अपनी प्रकृति मे दैवीय थे। इस कारण उनका पालन प्रजा का धार्मिक कर्त्तव्य था और उनका उल्लघन पाप। जनता का कर्त्तव्य था—राजकीय आदेशो को विना किसी शर्त के पालन करना।

दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का इतिहास और विकास—राज्य की दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त सभी आदिम जातियो की धार्मिक भावनाओ मे पाया जाता है, और इसमे भी कोई सन्देह नही कि प्रारम्भिक शासक 'धर्म-गुरु' और 'राजा' दोनो का ही एक मिश्रित रुप हुआ करते थे। प्राचीन् साम्राज्यो मे राजा लोग अपनी प्रजा की कार्यवाहियो को नियन्त्रित करना अपना ईश्वर-प्रदत्त अधिकार समझते थे।

यहूदी, ईसाई तथा हिन्दू और मुसलिम इत्यादि सभी प्राचीन धर्मों मे राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के अनेक रूप मिल जाते है। यहूदियो का यह विश्वास था कि ईश्वर स्वय राजाओ का चुनाव और नियुक्ति करता है, वह स्वय उन्हे हटाता है, दण्ड देता है और दुष्ट राजाओ की हत्या भी करता है। प्राचीन यूनान मे यद्यपि राज्य को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही विकास माना गया है, तथापि वह उनके धार्मिक स्वरूप को अस्वीकार नही करते। रोम मे राजा को देवता मान उसे पूजनीय समझा गया। मध्यकालीन यूरोप मे जव चर्च और राज्य मे जवरदस्त सघर्ष चल रहा था तव इस सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष मे पर्याप्त वाद-विवाद हुआ। राज्य की दैवीय उत्पत्ति के समर्थको ने सेण्ट पॉल के एक उपदेश को अपना आधार वनाया। सेण्ट पॉल ने एक वार कहा था "प्रत्येक व्यक्ति को दैवीय शक्तियो के अधीन रहना

चाहिए, क्योंकि परमात्मा को छोड़कर अन्य कोई दूसरी शक्ति है ही नहीं। पृथ्वी पर जो शक्ति है वह परमात्मा के द्वारा ही आयोजित की जाती है।" राज्य भी एक शक्ति है, उसकी भी एक सत्ता है, अत उसका स्रोत भी दैवीय शक्ति ही है।

इसके विपरीत चर्च की सर्वोपरि शक्ति को सिद्ध करने के लिए पादरियो ने कहा है कि सिर्फ पोप ने ही इस शक्ति को ईश्वर से प्रत्यक्ष रूप मे प्राप्त किया है। सम्राटो की शक्ति लौकिक (Temporal) है, और वे अपनी शक्ति को पोप से ही अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करते है। परन्तु राजाओ के समर्थको ने पोप की शक्ति को आध्यात्मिक क्षेत्र तक सीमित रख सासारिक मामलों के नियन्त्रण के लिए राज्य को ही सर्वोपरि सत्ता प्रदान की है।

राज्य की दैवीय उत्पत्ति का समर्थन 'धार्मिक सुधार' (Reformation) के नेता लूथर और कालविन ने भी किया।

राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन साधारण जनता और विद्वानो ने इसलिए भी किया था कि वे राज्य की नीव नवीन राष्ट्रवादी भावनाओ के आधार पर रखना चाहते थे।

चर्च और राज्य का झगडा बहुत देर तक न रहा। आखिर चर्च को सासारिक क्षेत्र मे राज्य की सर्वोपरि सत्ता को स्वीकार करना ही पडा। परन्तु इन्ही दिनो विभिन्न देशो मे राजा-प्रजा का सघर्ष प्रारम्भ हो गया। अभी तक लोगो ने राजाओं की दैवीय सत्ता का समर्थन किया था परन्तु अब वे प्रजा के अधिकारो की मांग करने लगे। उनका कथन था कि राज्य की अन्तिम शक्ति का स्रोत प्रजाजन हैं, राजा प्रजा का प्रतिनिधि है, उसे उनके प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे लोक राजसत्ता या लोक-सम्मत प्रभुता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त को विकसित किया गया। ऐसे समय मे राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त ने एक नवीन रूप ग्रहण कर लिया, यह सिद्धान्त अब राजा के दैवीय अधिकार (Theory of the divine right of kings) के नाम से पुकारा जाने लगा। इस सिद्धान्त का प्रयोग जनतन्त्र की भावनाओ को कुचलने और स्वेच्छाचारी निरकुश शासन के समर्थन के लिए किया गया।

इस सिद्धान्त के प्रधान समर्थको मे इग्लैण्ड का प्रथम स्टुअर्ट राजा जेम्स, रार्बट फिलमर और फ्रेंच विचारक बासेट (Bousset) थे। इन लेखको का कहना था कि राजकीय सत्ता (Royal Power) का अनुदान सीधा ईश्वर द्वारा राजा को हुआ है, अतएव राजकीय सत्ता का विरोध पाप है। जेम्स प्रथम ने इस सिद्धान्त का विवेचन बडे विशद् रूप मे किया है। उसका कथन है कि राजा की नियुक्ति ईश्वर द्वारा होती है, वह प्रजाजन का प्रतिनिधि नही। वह दैवीय प्रतिनिधि है, अत उसके अधिकार असीम हैं, वह जनता के प्रति उत्तरदायी नही। वह केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है। उनको अपने कर्मो के लिए कोई सजा दे सकता है तो भगवान ही—और वह भी इस लोक मे नही परलोक में ही। राजा के आदेशो की अवज्ञा स्वय भगवान् की अवज्ञा है। उसके आदेशो का उल्लघन अधार्मिक कृत्य है, वह पाप

हैं। राजा के प्रति विद्रोह का अर्थ है भगवान् के प्रति विद्रोही होना।

जेम्स प्रजा को बुरे से बुरे राजा को स्वीकार करने को कहता है। उसका कथन है जैसे भूचाल, बाढ, महामारियाँ तथा अकाल इत्यादि दैवीय प्रकोप का फल हैं, वह प्रजाजनो के पाप का परिणाम हैं वैसे ही एक दुष्ट और क्रूर राजा भी प्रजा के कुकर्मो का दण्ड है। उसका कथन है, "राजाओ को देवता कहा जाता है तो बिलकुल ठीक कहा जाता है, क्योकि पृथ्वी पर वह ईश्वरीय शक्ति के अनुरूप ही व्यवहार करते हैं।" इसी प्रकार वह अन्यत्र कहता है, **"ईश्वर क्या कर सकता है, इस विषय पर बहस करना जैसे नास्तिकता तथा अधर्म है, इसी प्रकार प्रजा के लिए यह विवाद कि राजा क्या कर सकता है, अथवा यह कहना कि राजा अमुक काम नहीं कर सकता या अमुक काम कर सकता है। वास्तव मे धृष्टता, दुस्साहस तथा निन्दा की बात है।"** फिलमर का मत था कि ईश्वर ने राजकीय शक्ति सृष्टि के प्रारम्भ मे आदम को दी और वशक्रम से उसी शक्ति को जेम्स आदि यूरोपियन सम्राटो ने प्राप्त किया।

भारत मे भी अन्य देशो की भाँति राज्य की उत्पत्ति के विषय मे अनेक कल्पनाएँ की गई है। महाभारत के शान्तिपर्व मे भीष्म पितामह युधिष्ठिर के एक प्रश्न के उत्तर मे राज्य के जन्म के कारणो का विवेचन करते है। कृत युग मे धर्म का शासन था, समाज के सभी सदस्य अपना-अपना धर्म पालन करते थे और एक दूसरे की रक्षा करते थे , परन्तु पाप के उदय होने पर लालच और अधर्म फैल गया, स्त्रियो की अवस्था विगड गई, समाज मे अनाचार फैल गया और दिन-रात झगडे होने लगे। ब्रह्मा ने इस स्थिति को देख मनु को मानव-समाज का सर्वप्रथम शासक नियुक्त किया।

अन्यत्र भी महाभारत मे राज्य के दैवीय स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "राज्य का निर्माण वरुण, इन्द्र, मित्र, अग्नि आदि देवताओ के अश लेकर किया गया है। राजा देवता है, इन्द्र, शुक्र और बृहस्पति है, सबको रास्ता दिखाने वाला है। सबका पूजनीय है।" ऐसे वाक्य वन पर्व और अन्यत्र भी बहुतायत से मिल जाते हैं।

मनु, शुक्राचार्य और चाणक्य ने भी दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

जी० पी० गूच (G P. Gooch) के अनुसार राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धांत के मुख्य मन्तव्य निम्नलिखित हैं—

(क) राजा की नियुक्ति ईश्वर द्वारा होती है।

(ख) राज्याधिकार वशानुक्रम से पिता से पुत्र को प्राप्त होता है।

(ग) राजा अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी नही, और न ही ससार के किसी अन्य अधिकारी के प्रति। वह ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है।

(घ) राजा के आदेशो का विरोध या उसके कार्य की आलोचना पाप है।

राज्य के दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त का प्राचीन युग मे एक महत्त्व था। पुराने समय मे जबकि लोगो मे अभी राजनीतिक चेतना का विकास नही हो पाया

था और समाज मे पर्याप्त अव्यवस्था और अराजकता थी, उस समय इस सिद्धान्त ने लोगो के मनो मे राज्य के प्रति और राजा के आदेशो के प्रति एक धार्मिक निष्ठा और श्रद्धा को उत्पन्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ राजनीतिक दृष्टि से राज्य का पर्याप्त सगठन हुआ, शान्ति और व्यवस्था कायम हुई, लोगो मे कानून और राज्यादेश पालन की प्रवृत्ति का भी विकास हुआ। परन्तु आज के युग मे राज्यो की दैवीय उत्पत्ति मे और राजाओ के दैवीय अधिकारो मे कोई यकीन नही करता। इस बुद्धिवादी युग मे प्रत्येक तथ्य की वैज्ञानिक व बुद्धिवादी समीक्षा की जाती है। यह सिद्धान्त उस समीक्षा पर खरा नही उतरता। आज हम यह यकीन करते है कि राज्य तथा परिवार इत्यादि सभी सामाजिक सस्थाएँ मनुष्य की अपनी सृष्टि है, वह किसी दैवीय शक्ति की उपज नही। दैवी शक्तियो को मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक सस्थाओ से कोई मतलब नही होगा। दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त एक ऐसी निरकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्था का समर्थन करता है जिसको आज के प्रजातन्त्र के युग मे हम किसी प्रकार युक्तिसगत नही कह सकते। वशानुक्रम से राज्य-शक्ति का पिता से पुत्र के हाथ मे जाना आज किसी भी प्रकार से उपयुक्त नही ठहराया जा सकता। जेम्स इत्यादि का यह विचार रहा है कि प्रजा सदा भूखी प्रतिभासम्पन्न और सर्वप्रकार से योग्य राजा का पुत्र भी वैसा ही सुयोग्य हो, यह आवश्यक नही।

आज कोई भी ऐसी शासन-व्यवस्था जो कि प्रजाजनो को सम्पत्ति (Consent) पर आधारित न हो उचित नही समझी जाती।

गिलक्राइस्ट के अनुसार राज्य की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के पतन के निम्नलिखित कारण हैं—

(क) सामाजिक अनुबन्ध (Theory of Social contract) सिद्धान्त का उदय और उसके अन्तर्गत जन-सहमति (Consent) पर जोर दिया जाना।

(ख) अध्यात्मप्रधान धर्म-शक्ति (Spiritual) के विपरीत सासारिक शक्ति की प्रमुखता दूसरे शब्दो मे चर्च और राज्य का पृथक्करण।

(ग) प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो के प्रचार से निरकुश शासन के सिद्धान्त का विरोध।

३७ शक्ति सिद्धान्त (The Force theory)

राज्य की एकपक्षीय और भ्रामक व्याख्या करने वाले सिद्धान्तो मे शक्ति सिद्धान्त का भी विशेष स्थान है। इसके अनुसार राज्य विशिष्ट शारीरिक शक्ति का परिणाम है। (The state is the result of superior physical force)। प्रत्येक समाज मे निर्बल तथा बलवान मनुष्य होते हैं। बलवान व्यक्ति निर्बलो को पराजित कर उन पर शासन स्थापित कर लेते हैं, उन्हे अपने आदेश पालन के लिए मजबूर कर लेते हैं। ऐसा मनुष्य ही जन-नायक बन जाता है। वह एक कबीले

या जन पर अपना शासन जमा दूसरे कबीलो पर अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न करता है। मनुष्यो मे शुरू से ही सत्ता प्राप्ति की इच्छा (Lust for power) तो रही है। अतः ऐसा प्रयत्न स्वाभाविक ही है। जब एक शक्तिशाली कबीला (Tribe) दूसरे कबीलो को जीत अपने अधीन कर लेता है और एक निश्चित प्रदेश पर बस जाता है तभी राज्य का जन्म होता है।

प्राचीन ग्रीक और भारतीय जनपदो और बाद मे साम्राज्यो की स्थापना सैनिक शक्ति से ही हुई थी। इसी प्रकार वर्तमान साम्राज्यो की स्थापना का आधार भी उच्चतर सैनिक शक्ति ही है। लीकॉक के अनुसार "**हमे राज्य का जन्म मनुष्य द्वारा मनुष्य के बन्दी तथा दास बनाए जाने मे, अपेक्षाकृत निर्बल जनपदों की पराजय तथा पराधीनता मे और साधारणतया उच्चतर पशुबल द्वारा प्राप्त स्वार्थपूर्ण स्वामित्व मे खोजना चाहिए।**" जनपद से राज्य, राज्य से समाज का उन्नतिशील विकास इसी प्रक्रिया का परिणाम मात्र था।

जेंक्स (Jenks) ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ पालिटिक्स' (History of Politics) मे लिखा है कि यह सिद्ध करने मे जरा भी मुश्किल नही कि आधुनिक राजनीतिक समाजो का मूल सफल युद्ध मे है। इस सिद्धान्त के अनुसार युद्धो मे ही राज्य का जन्म होता है, युद्ध से ही राजा की प्राप्ति होती है (War begets the king)।

इस कथन की पुष्टि हम अपने प्राचीन ग्रन्थो मे भी प्राप्त करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण मे असुरो और देवो के युद्धो का जिक्र आता है। देवता असुरो से लडाई मे हार गये। उन्होने कहा हम लोग 'अराजतया' अर्थात् राजा न रखने के कारण हारे हैं। हमको राजा बनाना चाहिए ('राजनम् करवामहे')। इस तरह युद्ध के फलस्वरूप राजा की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है कि एक बार देवो और असुरो मे युद्ध हुआ। प्रजापति ने अपने बडे लडके इन्द्र को छुपा दिया कि कहीं बलवान असुर उसे मार न डालें। देवता प्रजापति के पास जाकर बोले कि "राजा के बिना युद्ध करना असम्भव है।" यज्ञ करके उन्होने इन्द्र से राजा बनने की प्रार्थना की। उपर्युक्त कथा-प्रसगो से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे यहाँ भी परम्परा से यह विश्वास चला आ रहा था कि युद्ध की आवश्यकताओ से ही राजा की सृष्टि होती है।

आज शक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादको का कथन है शक्ति केवल ऐतिहासिक रूप से ही राज्य का आधार नही अपितु आज के राज्य की शासन-व्यवस्था शक्ति केवल मात्र शक्ति के सहारे ही टिकी हुई है। सभी जगह कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए बल प्रयोग करना पडता है। नागरिक अपनी-अपनी सीमा मे रहे, इसी लिए पुलिस की व्यवस्था रहती है। एक देश दूसरे देश को सहज मे ही हडप न जाय, इसीलिए प्रत्येक राज्य अपनी सैनिक शक्ति का सगठन करता है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी 'मात्स्य न्याय' ही चल रहा है। शक्तिशाली राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को अपने वश मे करके रखते हैं, वस्तुत उनका जीवन, उनका अस्तित्व ही बडे राष्ट्रो

की दया पर निर्भर है। शक्ति का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ऐसा प्रदर्शन ही उसे राज्य की मूलभूत सत्ता के महत्त्वपूर्ण आधार के रूप मे प्रस्तुत करता है।

शक्ति सिद्धान्त की विभिन्न व्याख्याएँ—शक्ति सिद्धान्त का प्रयोग जहाँ एक ओर राज्य की ऐतिहासिक व्याख्या के रूप मे किया गया है। वहाँ दूसरी ओर राज्य के अस्तित्व के औचित्य को सिद्ध करने और उसकी प्रकृति के विभिन्न रूपो को प्रकाशित करने के लिए भी किया गया है। अनेक राजनीतिक विचारको ने राज्य विषयक अपनी धारणाओ के समर्थन के लिए भी इस सिद्धान्त का उपयोग किया है।

मध्य युग मे जब चर्च और राज्य मे सघर्ष चल रहा था तो चर्च के अनेक धार्मिक अधिकारियो ने राज्य को बदनाम करने के लिए इस सिद्धान्त का एक विशेष रूप मे प्रयोग किया। उसका कथन था कि राज्य का आधार पाशविक शक्ति (Brute force) है जब कि चर्च ईश्वर की रचना है, अत चर्च राज्य से श्रेष्ठ है। पाशविक शक्ति पापमूलक है, राज्य भी पाप पर आधारित है, अत जनकल्याण के लिए इसका चर्च के अधीन रहना आवश्यक है।

इसके विपरीत ससार के पुराने और नये सभी अराजकतावादियो ने राज्य की पाशविक शक्ति के आधार पर आधारित होने के कारण निन्दा की है। उनका कथन है कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियो के विपरीत है। राज्य का मुख्य लक्षण है शक्ति-प्रयोग। अपने बल-प्रयोग द्वारा ही वह अन्यायपूर्ण राजनीतिक सस्थाओ की रक्षा करता है, लोगो मे स्वाभाविक और सहज सहयोग के स्थान पर दण्ड के भय से अनिच्छत सहयोग की स्थापना करता है। अत 'मनुष्य के स्वाभाविक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए राज्य को जितना जल्दी हो सके खत्म कर देना चाहिए। राज्य के स्थान पर ऐसे ऐच्छिक समुदायो का विकास होना चाहिए जिनका आधार स्वाभाविक सहयोग है।

राज्य का आधार शक्ति है, अत वह बुराई है। परन्तु यह बुराई आवश्यक है। इसके बिना सामाजिक जीवन सम्भव नही। व्यक्तिवादी विचारक इसलिए राज्य को थोडे से थोडे काम देने के हक मे हैं। उनका कथन है कि राजकीय शक्ति व्यक्ति के लिए हितकर नही, वह उसकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता पर एक निश्चित पाबन्दी है, वह उसके व्यक्तित्व के विकास मे बाधा है। परन्तु यह आवश्यक भी है क्योकि इसकी अनुपस्थिति मे स्वार्थी मनुष्य आपस मे लड मरेगे। यही कारण है कि मिल इत्यादि व्यक्तिवादी विचारको ने राज्य के कर्त्तव्यो की सख्या थोडी से थोडी रखी है। शक्ति सिद्धान्त की एक अन्य व्याख्या स्पैन्सर तथा जर्मन विचारक लुडविग के लेखो मे भी मिलती है। इनका विचार है कि शक्ति का शासन एक प्राकृतिक नियम है। 'सबल द्वारा निर्बल का शासन' यह हमारे जीवन का आधारभूत सत्य है। वस्तुत इस व्याख्या के मूल मे डार्विन के प्राणीशास्त्र विषयक कुछ नियम उपस्थित है। **स्पैन्सर ने प्राणीशास्त्र विषयक नियम 'उपयुक्ततम की अवस्थिति' (Survival of the fittest) को समाज पर लागू किया है।** उसका कथन है कि जिस प्रकार हमारे विश्व के पशु जगत मे वही प्राणी बच पाते हैं और विकास-क्रम मे अपनी सन्तति पीछे छोड जाते हैं जो

शक्तिशाली होते हैं, इसी प्रकार समाज मे भी असीमित प्रतियोगिता (Unlimited competition) द्वारा उपयुक्ततम व्यक्तियो का ही चुनाव होना चाहिए। स्पेन्सर के विचार मे राज्य एक आवश्यक बुराई है। वह एक अनैतिक व अस्वाभाविक सस्था है। समाज मे इस कारण राज्य की अवस्थिति कम से कम होनी चाहिए और उसे व्यक्तियो की प्रतियोगितामयी क्रियाओ का नियन्त्रण नही करना चाहिए। स्पेन्सर के अनुसार राज्य को निर्वनो की रक्षा नही करनी चाहिए, बीमारो की दवा-दारू का प्रवन्ध नहीं करना चाहिए, स्कूल और कालेज नही खोलने चाहिएँ। प्रकृति की दौड मे जो लोग भी पीछे रह जाते है, दव जाते हैं, मर जाते हैं उन्हे मरने दो, नष्ट होने दो। इन्हे बचाया नही जा सकता। प्रकृति का नियम है कि शक्तिशालियो के सामने शक्तिहीनो की पराजय होती है।

ओपनहाइमर (Oppenheimer) इत्यादि मार्क्स के अनुयायियो ने शक्ति के सिद्धान्त की व्याख्या अपने वर्ग सघर्ष (Class struggle) के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए की है। उनका कथन है कि राज्य शक्ति पर आधारित है। इसकी शक्ति एक शोषण के साधन के रूप मे प्रयुक्त की जाती है। प्रत्येक राज्य विभिन्न आर्थिक वर्गों मे विभाजित होता है, जो वर्ग आर्थिक शक्ति को अपने हाथ मे रखता है वही राज्य की शक्ति का प्रयोग भी अपने हित के लिए करता है। केवल राजकीय शक्ति के वल पर ही वर्तमान युग के पूँजीपति मजदूरो का शोषण करने मे समर्थ है। अत मार्क्स का विचार है कि इस राज्य को खत्म कर इसकी जगह पर शोषणहीन सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का सगठन होना चाहिए।

आलोचना—इस सिद्धान्त मे सत्य का अश जरूर है, इस से हम इन्कार नहीं कर सकते। शक्ति (Force) राज्य के निर्माण मे और उसे कायम रखने के प्रधान तत्त्वो मे से एक है, यह सर्वमान्य वात है। आजकल के वैज्ञानिक अनुसन्धान से यह नतीजा निकला है कि युद्ध मे शक्ति को एकत्र करने की, एक नेता रखने की आवश्यकता से ही ससार मे शासन या राज्यत्व का आरम्भ हुआ था। आज भी राज्य की आन्तरिक एकता वनाये रखने और वाह्य आक्रमणो से रक्षा के लिए शक्ति का सगठन जरूरी है। शक्ति-सगठन के विना राज्य ध्वंसात्मक शक्तियो का शिकार हो सकता है। उसकी सत्ता ही खत्म हो सकती है।

परन्तु इन सवके मानने का मतलब यह कदापि नही कि केवल मात्र शक्ति के आधार पर ही राज्य का सगठन हुआ और केवल शक्ति ही राज्य के स्थायित्व का कारण है। शक्ति तो राज्य-निर्माण का एक तत्त्व है। परन्तु यह सब से महत्त्व-पूर्ण तत्त्व नहीं। शक्ति के अतिरिक्त, रुधिर सम्बन्ध, पारिवारिक सम्बन्ध, धर्म, काम और हितो की एकता इत्यादि अनेक तत्त्वों ने राज्य के निर्माण मे सहयोग दिया। आज की समाजशास्त्रीय खोजे यह सिद्ध करती है कि प्रारम्भिक कबीलो मे या जनपदो (Tribes) मे भाषा, रुधिर और धार्मिक विश्वासो की एकता इत्यादि ऐसे तत्त्व थे जिनका महत्त्व उनके सगठन मे शक्ति से कही अधिक था। लीकॉक ने वस्तुत. ठीक ही कहा है कि "शक्ति सिद्धान्त की भूल यह है कि जो वस्तु समाज विकास में

केवल एक तत्त्व रही है उसे यह एक मात्र नियामक तत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान दे देता है ।"[1]

कोई भी सामाजिक व्यवस्था केवल शक्ति के आधार पर नहीं टिक सकती। प्रत्येक प्रकार की शक्ति के प्रयोग का कोई न कोई नैतिक औचित्य सिद्ध किया जाना चाहिए। "न्याय और औचित्य से विहीन शक्ति अपने सर्वोत्तम रूप मे भी क्षणस्थायी (Temporary) ही होती है, न्याययुक्त शक्ति राज्य का स्थायी आधार बनती है।" बोदीन ने ठीक ही कहा है कि "केवल शक्ति डाकुओ के गिरोह का सगठन कर सकती है, राज्य का नहीं।"[2] ससार मे क्रान्तियो का इतिहास बतलाता है कि जब कभी भी कोई राज्य-व्यवस्था या समाज-व्यवस्था केवल मात्र पाशविक शक्ति (Brute force) के आधार पर स्थापित की गई तभी वह जनता द्वारा बदल दी गई। फ्रास, रूस, चीन इत्यादि देशो की राज्य-क्रान्तियाँ इस तथ्य का प्रमाण हैं। हमारे अपने ही देश मे ब्रिटिश साम्राज्य जनता की सहमति (Consent) पर आधारित नही था और यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार को भारत छोडना पडा।

वस्तुत राजकीय व्यवस्थाएँ और सामाजिक सस्थाएँ शक्ति के सहारे इतनी देर नही टिकती जितनी कि जनता की इच्छा पर, उसकी सहमति पर। प्रत्येक कानून के पीछे जनता की राय होती है। प्रत्येक व्यवस्था के पीछे एक नैतिक बल होता है। यही कारण है कि आज हम ग्रीन (T H Green) के उस कथन मे सत्य का पर्याप्त अश पाते हैं कि "इच्छा न कि शक्ति राज्य का आधार है।"[3] गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि "शारीरिक दबाव की शक्ति राज्य का एक असूल है, परन्तु उसका सार नहीं। यदि वह राज्य का सार बन जाय तो उसकी मौजूदगी तभी तक होगी जब तक वह शक्ति बनी रहे। शक्ति का विचारहीन प्रयोग सभी क्रान्तियो का कारण बना है। राज्य का स्थायी आधार नैतिक बल है।"

केवल दण्ड भय से ही राजकीय कानूनो का पालन नही किया जाता। राज्य की अधिकाश जनता इनकी उपयोगिता को स्वीकार कर या अपनी आदत के वशीभूत हो इन नियमो का अनुसरण करती है।

हमारे जीवन मे आपसी सहयोग (Co-operation) का अत्यन्त महत्त्व है। केवल शक्ति के बल पर ही हम सामाजिक जीवन मे कुछ नही प्राप्त कर सकते। यह हमारा आपस का सहयोग ही है जिसके बल पर हम विशाल मानवीय सस्कृति और सभ्यता का निर्माण कर सके है।

स्पेन्सर इत्यादि ने जिन सिद्धान्तो को समाज पर लागू किया है और जिस

1 "The theory of force errs in magnifying what has been only one factor in the evolution of society into the sole controlling force" —*Leacock*

2 "Superior force may make a band of robbers but not a State" -*Bodin*

3 "Will not force to is the basis of State"—*T H Green*

पाशविक शक्ति का गुणगान किया है वह समाज मे अप्राप्य है। इस प्रकार की शक्ति राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अशान्ति और युद्ध के बीज वोयेगी। इस सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप मे अपनाये जाने पर विश्व के कमजोर, गरीब और शक्तिहीन मनुष्य वलवान और धनी मनुष्यो के शिकार-मात्र वन जायेंगे।

वस्तुत. राज्य केवल पूँजीभूत शक्ति ही नही, वह उससे पर्याप्त ऊपर है। उसका उद्देश्य शक्ति का सचय नही, जैसा फिचे, नीत्शे और ट्रीटस्के इत्यादि जर्मन विचारको का मत था। उसका उद्देश्य ग्रीन के शब्दो मे **आत्म-ज्ञान** (Self realisation) के लिए उचित परिस्थितियो की रचना करना है। उसका उद्देश्य मनुष्य का पूर्ण आत्मविकास करना है। एतदर्थ राज्य को अशिक्षा, निर्धनता, अज्ञान, कुविचार, कुप्रथाओ इत्यादि को दूर करना है, और सहयोग की भावना का विकास करना है, अर्थात् उसे राजकीय शक्ति का प्रयोग किसी नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करना है, तभी उसका कुछ औचित्य है, अन्यथा नही।

३८. सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त (Social Contract theory)

सामाजिक समझौते या अनुबन्ध का सिद्धान्त (Social Contract theory) राजनीतिक ज्ञान के इतिहास मे विशेष महत्त्व रखता है। इस सिद्धान्त का प्रयोग जहाँ एक ओर राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप मे किया गया है, वहाँ दूसरी ओर इसका प्रयोग शासक और शासित के सम्बन्धो की विवेचना के लिए भी किया गया है, यही कारण है कि इसका व्यावहारिक प्रभाव वहुत व्यापक रहा।

यह सिद्धान्त इस धारणा पर काम करता है कि राज्य एक वनावटी चीज है, इसकी रचना मनुष्यो ने आपस मे मिलकर पर्याप्त विचार-विनिमय के अनन्तर स्वेच्छापूर्वक की। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक निम्नलिखित वातो पर सहमत हैं—

(१) प्राकृतिक अवस्था (State of nature)।

(२) सामाजिक समझौता या अनुवन्ध (Social contract)।

इस सिद्धान्त के प्राय सभी प्रतिपादक इस वात पर सहमत हैं कि मानव इतिहास मे एक ऐसा समय था जव न तो कोई राज्य था और न राजनीतिक विधान। कुछ विचारको के अनुसार यह अवस्था न केवल प्राक् राजनीति (Pre-political) ही थी अपितु प्राक्-सामाजिक (Pre-social) भी। प्राक्-सामाजिक से उनका अर्थ है समाज-विहीन स्थिति। इन प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यो का जीवन प्राकृतिक विधान (Law of nature) के द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। यह प्राकृतिक विधान क्या था, इस विषय मे इस सिद्धान्त के समर्थको मे एकमत नही। प्राकृतिक अवस्था (State of nature) मे मानवीय जीवन का क्या स्वरूप था, इस विषय मे भी पर्याप्त मतभेद है। हॉब्स (Hobbes) के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य का जीवन अत्यन्त असुविधाजनक और असह्य था। स्वभाव मे आक्रामक, स्वार्थी और लालची होने के कारण वे सदा आपस मे लडते रहते थे। लोगो की जान, माल और इज्जत किसी की भी सुरक्षा (Security) नही होती थी। लॉक (Locke) और रूसो

(Rousseau) के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में लोगों का जीवन सुख और शान्तिपूर्ण था। पारस्परिक कलह का अभाव था। लॉक के अनुसार लोगों के पारस्परिक व्यवहार का नियन्त्रण प्राकृतिक विधान के नियमों के अनुसार होता था। परन्तु प्राकृतिक विधान की व्याख्या के विषय में लोगों में मतभेद था। दूसरा, उसको लागू करने के लिए कोई विशेष अधिकारी नहीं था, परिणामस्वरूप प्राकृतिक अवस्था में लोगों का जीवन असुविधाजनक हो गया। रूसो के अनुसार मनुष्य समाज में तर्क-बुद्धि (Reason) और वैयक्तिक सम्पत्ति (Private property) के विकास के फलस्वरूप प्राकृतिक अवस्था असह्य और असुविधाजनक हो गई। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में मानवीय जीवन की स्थिति चाहे जो रही हो किसी न किसी कारण से वह असुविधाजनक हो गई, इस बात को सभी विचारकों ने माना है।

इस स्थिति का अन्त सभी ने आवश्यक माना है। अतः सभी ने मिलकर जानबूझकर समझौता (Agreement) या अनुबन्ध (Contract) किया और इस प्रकार प्राकृतिक स्थिति को समाप्त कर राजनीतिक संस्था (Body politic) का निर्माण किया। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। 'प्राकृतिक अधिकारों' (Natural Rights) का उपभोग करते हुए, वे जो चाहते कर सकते थे। परन्तु समझौते के अनन्तर उनकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता सामाजिक स्वतन्त्रता के रूप में बदल गई। उनके असीम अधिकार निश्चित और मर्यादित हो गये। प्राकृतिक अधिकारों का स्थान नागरिक अधिकारों (Civil Rights) ने ले लिया। सामाजिक सदस्य के रूप में मनुष्य के जीवन की, उसकी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की सुरक्षा की जिम्मेदारी राज्य पर आ पड़ी। इस प्रकार मनुष्य ने जहाँ बहुत कुछ छोड़ा वहाँ सामाजिक सदस्य के रूप में बहुत कुछ प्राप्त भी किया।

सामाजिक अनुबन्ध (Social contract) —की विभिन्न रूप से व्याख्या की गई है। हॉब्स के अनुसार व्यक्तियों ने आपस में समझौता कर आत्मशासन के अधिकार को छोड़ किसी एक व्यक्ति या परिषद् को प्रभुता सम्पन्न बना दिया। जिस व्यक्ति या परिषद को यह सत्ता प्राप्त हुई वही प्रभु हो गया, वही राजा बन गया और शेष उसकी प्रजा। इसके विपरीत लॉक ने सामाजिक समझौते के दो रूप माने हैं। प्रथम समझौता जनता अपने संगठित रूप में करती है और राजनीतिक संस्था को स्थापित करने का फैसला करती है।

दूसरा समझौता सामाजिक संगठन (Community) में और शासक में होता है। लॉक के मतानुसार जनता ने अपने प्राकृतिक अधिकार किसी राजा या परिषद् को नहीं सौंपे अपितु समाज को ही उनका समर्पण किया। राजा या शासक के अधिकार निश्चित हैं। वह जनता का प्रतिनिधि है और अपनी सीमा से बाहर जाने पर पदच्युत किया जा सकता है। रूसो (Rousseau) भी लॉक से इस बात में सहमत है कि प्रभुत्व शक्ति (Sovereign power) का अन्तिम स्रोत जनता है, समाज है, न कि राजा या शासक। शासक के अधिकार तो सीमित हैं, असीम नहीं। लॉक ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को इतिहासिक रूप में सत्य माना है, परन्तु अन्य

विचारक इसे केवल कल्पना मानते हैं, परन्तु इसमे निहित दार्शनिक सत्य को स्वीकार करते हैं।

अनुबन्ध सिद्धान्त का इतिहास (History of Social Contract Theory)—सामाजिक समझौते का सिद्धान्त बहुत पुराना है, शायद इतना ही पुराना जितना कि राज्य अपने आप। पूर्व और पश्चिम के दोनो राजनीतिक विचारो मे इस सिद्धान्त का जिक्र मिल जाता है। पहले हम देखें कि पश्चिम मे इसका सबसे पहले किसने जिक्र किया।

यूनान मे प्लेटो से पूर्व सॉफिस्ट विचारक थे। उन्होने ज्ञान के अन्य क्षेत्रो की भाँति राजनीतिक विज्ञान पर भी अपने विचार प्रगट किये है। राजनीतिक क्षेत्र मे सॉफिस्ट प्लेटो और अरिस्टाटल (अरस्तू) के विपरीत व्यक्तिवादी है। उन्होंने मनुष्य के हित को ही सर्वप्रमुख माना है। उन्होंने अपने राजनीति-दर्शन को मनुष्य की मनोवृत्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित किया है। वे मानते थे कि मनुष्य अपने स्वभाव से ही लालची और स्वार्थी (Selfish) होता है। बिना किसी लोभ के मनुष्य के लिए कोई भी काम करना मुश्किल है। हॉब्स ने भी मनुष्य प्रकृति का ठीक ऐसा ही अध्ययन प्रस्तुत किया है। **राज्य मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध है।** यह प्राकृतिक नही, एक समझौते का परिणाम है। समाज मे बल-प्रयोग होता था, सभी मनुष्य स्वार्थी थे। अत. या तो निर्बल मनुष्यो ने अपने आपको बलवानो के जुल्म के विरुद्ध सगठित किया या फिर बलवानो ने आपस मे समझौता कर निर्बलो पर शासन का निश्चय कर राज्य व्यवस्था को कायम किया। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) मे न्याय तथा धर्म (Justice) का विवेचन करते हुए सॉफिस्टो की बडी कडी आलोचना की है। उसका तथा अरस्तू का यह मत था कि राज्य-व्यवस्था का सगठन सर्वथा स्वाभाविक है, वह मनुष्य प्रकृति के विपरीत नही। प्लेटो और अरस्तू के उत्तराधिकारियो मे व्यक्तिवाद अधिक प्रचलित रहा। एपीक्यूरियन्स (Epicureans) भी व्यक्तिवादी हैं। उनके अनुसार मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है, वह उदार नही, सकीर्ण और सकुचित प्रवृत्ति वाला है। राज्य के अभाव मे मनुष्य कष्ट उठाता है, अत. वह आपस मे समझौता कर राज्य स्थापना करते हैं। कानून का पालन मनुष्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही करता है। न्याय पारस्परिक हित-सिद्धि की परम्परा के अतिरिक्त कुछ नही। न्याय अपने आप मे कुछ नही, वह पारस्परिक समझौते पर ही आश्रित है।

स्टोइक्स (Stoics) ने भी राज्य के विषय मे एपीक्यूरियन्स के मत का ही अनुसरण किया है। राज्य उनके लिए एक आवश्यक बुराई है, उससे बचा नहीं जा सकता। राज्य के अनुबन्ध सिद्धान्त को मानते हुए उन्होंने प्राकृतिक विधान (Natural Law) की बुद्धिसगत व्याख्या की है।

रोम के राजनीतिक विचारकों मे अनुबन्ध सिद्धान्त का सैद्धान्तिक रूप से विवेचन नहीं मिलता, उनके वैधानिक विवेचन से ही हम उनके एतद्विषयक विचारों से अवगत होते हैं। उनके मतानुसार राजनीतिक सत्ता का मूल स्रोत जनता है।

जनता की राय पर ही राज्य का सम्पूर्ण ढांचा कायम है। अनुबन्ध तो शासक और शासित के बीच है, वह राज्य की उत्पत्ति का कारण नही। परन्तु यदि सरकार या शासन (Government) उत्तरदायित्व को पूर्ण करने मे असमर्थ हो तो इसका अर्थ यह नही कि जनता उसे पदच्युत कर सकती है। दूसरे शब्दो मे उसका विश्वास था कि एक बार समझौता हो जाने पर जनता को उसे तोड़ने का कोई अधिकार नही। यहाँ रोमन विचारको का दृष्टिकोण हॉब्स से काफी मिलता है। परन्तु हॉब्स तो राज्य को अनुबन्ध का परिणाम मानता है। रोमन विचारक ग्रीक विचारको की भाँति उसे स्वाभाविक मानते है, इतना स्वाभाविक और प्राकृतिक कि उसके जन्म का विवेचन वे आवश्यक ही नही समझते। हाँ हॉब्स की भाँति वे शासक को निरकुश अधिकार अवश्य देते हैं। मध्य युग की सामन्तवादी व्यवस्था का थोडा बहुत आधार समझौता (Contract) भी माना जाता है। चर्च के धार्मिक अधिकारियो ने भी अनुबन्ध सिद्धान्त का समर्थन किया है। उनमे कुछ का विचार था कि राजा जनता की मर्जी से ही शासक बनता है। वह यदि जनता के मत के विरुद्ध जाता है तो जनता को उसे हटाने का या पदच्युत करने का अधिकार है। थॉमस एक्वीनॉस (*Thomas Acquinas*) के भी कुछ ऐसे ही विचार थे।

इस सिद्धान्त का प्रचार १६वी, १७वी और १८वी सदी मे बहुत बढ गया। इग्लैण्ड मे रिचर्ड हूकर (*Richrad Hooker*) ने अपनी राजनीति सम्बन्धी पुस्तक मे राज्य की उत्पत्ति, सामाजिक अनुबन्ध, कानून और राजतन्त्र इत्यादि विविध विषयो पर अपने विचार अभिव्यक्त किये। हूकर का कथन था कि राजा अनुबन्ध का परिणाम है। इसकी आज्ञा का पालन हमारा कर्त्तव्य है। इस अनुबन्ध मे परिवर्तन करने के लिए या इसे भग करने के लिए सर्वसम्मत्ति की आवश्यकता है। ऐसा असम्भव होने पर ही राजनीतिक अवज्ञा को अनुचित और अनैतिक ठहराया गया। हूकर समाज को कृत्रिम (Artificial) नही मानता, राज्य सम्बन्धी अनुबन्ध मानव की सामाजिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

हूकर के अतिरिक्त ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotious) ने भी अपने लेखो मे सामाजिक अनुबन्ध और प्राकृतिक विधान (Natural Law) का विवेचन किया है।

१७वी और १८वी शताब्दी मे अग्रेज विचारक हॉब्स, लॉक और फ्रेंच विचारक रूसो ने इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। इन तीनो विचारको के लेखो मे अनुबन्ध सिद्धान्त का वैज्ञानिक विवेचन मिलता है। परन्तु रूसो के पश्चात् अनुबन्ध सिद्धान्त का पतन प्रारम्भ हो गया। इस पतन का बहुत बडा कारण राज्य की नैतिक और वैज्ञानिक धारणाओ का प्रचलन था। एक ओर तो ह्यूम, बेन्थम, मॉन्तेस्क्यू इत्यादि ने तार्किक और ऐतिहासिक पहलू के आधार पर इसका खण्डन किया, दूसरी ओर हीगल तथा ग्रीन इत्यादि जर्मन और अग्रेज आदर्शवादी विचारको ने नैतिक आधार पर।

प्राचीन भारत का अनुबन्ध सिद्धान्त—राज्य की उत्पत्ति के अनुबन्ध सिद्धान्त का

विवेचन हमे भारतीय राजनीति शास्त्र मे भी मिल जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व मे राजनीतिक विचारो का विवेचन मिलता है। लॉक की तरह ही महाभारतकार ने भी राज्योत्पत्ति से पूर्व एक ऐसी आदर्श स्थिति का चित्रण किया है जिसमे न कोई राज्य था न कोई राज्य विधान; न कोई दण्डनायक और न कोई दण्ड-विधान। इस युग मे धर्म का राज्य था। सभी अपने-अपने धर्म का पालन करते और धर्म प्रजा की पालना करता। परन्तु यह आदर्श स्थिति बहुत देर तक न रह सकी। धीरे-धीरे मनुष्यो मे धर्म-भावना का विनाश होने लगा, लोभ और मोह का विस्तार हुआ, अशान्ति बढ गई, अनाचार फैल गया। ऐसी अवस्थाओ मे शासन व्यवस्था के लिए राज्य सस्था की आवश्यकता महसूस की गई। मनुष्यो ने परस्पर विचार-विनिमय कर एक समझौता किया और राजा की नियुक्ति की।

चाणक्य ने भी अपने 'अर्थशास्त्र' मे इस सिद्धान्त का जिक्र किया है। चाणक्य के अनुसार प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) मे कोई नियम और कोई शासन नही था, केवल मात्स्य-न्याय था। जैसे बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है वैसे ही बलवान दुर्बलो को दबाया करते थे। ऐसी स्थिति मे सबने मिलकर मनु को अपना राजा चुन लिया, और अपने धान्य का छठा भाग तथा पण्य और सुवर्ण का दसवाँ भाग उन्हे भागधेय के रूप मे देने की व्यवस्था की। राजा का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा की जान, माल और इज्जत की रक्षा करना था। इसी प्रकार बौद्ध और जैन साहित्य मे भी इस सिद्धान्त का जिक्र किया गया है।

आलोचना—अनुबन्ध सिद्धान्त का प्रभाव बहुत व्यापक रहा। जहाँ हॉब्स के विचार आस्टिन (Austin) के प्रभुता विषयक सिद्धान्त (Theory of Sovereignty) के आधार बने वहाँ लॉक और रूसो के विचार फ्रेंच और अमेरिकन क्रान्तियो के जनक कहे जा सकते है। अनुबन्ध सिद्धान्त की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसने राज्य को जनता की सहमति (Consent) पर आधारित बतलाया है। राज्य को इसने मानवीय सस्था माना और परम्परा से चले आते दैवीय सिद्धान्त का खण्डन किया। राजाओ के दैवीय अधिकारो के सिद्धान्त को सर्वथा मिथ्या माना।

लॉक और रूसो के सिद्धान्तो ने ही नवयुग की जनतन्त्रवादी विचारधारा को जन्म दिया। राज्य और राज्य-सत्ता का आधार जनमत है, अत राजकीय शक्ति जन-हित मे ही इस्तेमाल होनी चाहिए। सरकार राज्य नही, राजा लोग जनता के प्रतिनिधि है, उनकी शक्तियाँ प्रजा की देन हैं। वह अनियमित राज्य-सत्ता इस्तेमाल नही कर सकते। अयोग्य राजाओ को पदच्युत करने का अधिकार जनता को है। इस प्रकार इस सिद्धान्त ने राज्य-सत्ता का औचित्य एक नये दृष्टिकोण से पेश किया। परन्तु ऐतिहासिक और दार्शनिक दृष्टि से इस सिद्धान्त को सर्वथा मिथ्या ठहराया गया है। १८वी तथा १९वी शताब्दी मे डेविड ह्यूम, बेन्थम, बर्क, आस्टिन, हेनरी मेन, ग्रीन, ब्लन्शली तथा पोलक इत्यादि राजनीति शास्त्रियो ने इस सिद्धान्त की कडी आलोचना की। ग्रीन (T. H. Green) ने यदि इसे 'कल्पना से अधिक कुछ

नही माना' तो बेन्थम ने इसे मनोरंजन के हित 'वृथा बकवाद' माना है। इस सिद्धान्त को निम्नलिखित आधारो पर अस्वीकृत किया जाता है—

(१) समझौते को एक कल्पना या वृथा बकवाद मानने का एक बहुत बडा कारण इसके ऐतिहासिक आधार की कमी है। आज तक यह नही साबित किया जा सका कि यह समझौता कब किस समय और किन लोगो मे हुआ। वस्तुत यह सोचना सर्वथा भ्रम है कि किसी समय मनुष्य समाज से पृथक् रहा या अराजक स्थिति मे रहा। मानव प्रकृति मूल रूप से सामाजिक है। समाज मे रहना मनुष्य का धर्म है। समाज से पृथक् मनुष्य की कल्पना असम्भव है। मनुष्य मे ही क्यो अपितु जीव-जन्तुओ—वानरो तथा वनमानुषों इत्यादि मे भी यह प्रवृत्ति मिल जाती है। अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे चाहे कोई राजकीय सत्ता नही फिर भी वे समुदाय बना कर रहते है। गिरोह बांधकर रहने की प्रवृत्ति (Herd instinct) पशुओ मे भी है और मनुष्यो मे भी।

वस्तुत राज्य हमारे लिए वैसे ही प्राकृतिक है जैसे परिवार। वह हमारी बहुत-सी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओ का परिणाम है। मालवर्ग ठीक ही कहता है कि **राज्य व्यक्तियों के बीच स्वेच्छा से किए समझौते से नहीं बना। मनुष्यो को उन सामाजिक आवश्यकताओ मे मजबूर होकर राज्य मे रहना पडा जिससे वह बच नहीं सकता था।**

अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थको द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था का कभी मानवीय इतिहास मे अस्तित्व ही नही रहा। वह कोरी गप्प मात्र है। कभी-कभी अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थन मे *May flower compact (1630)* तथा *Providence Agreement (1632)* का उल्लेख किया जाता है। यह समझौते यूरोपियन प्रवासियो ने अमेरिका पहुँच कर किये थे और इन द्वारा परस्पर मिलकर राज्य स्थापना की थी।

परन्तु इन उदाहरणो को देते हुए हम यह भूल जाते है कि यह सब लोग जिन्होने यह समझौते किये वे संस्कृत और सुसभ्य देशो से आ रहे थे। वह राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओ के प्रकार, उनके कार्य इत्यादि से भली प्रकार परिचित थे। उनके लिए परस्पर विचार-विमर्श कर राजनीतिक संस्थाओ का निर्माण करना कोई असम्भव बात नही। परन्तु अराजक अवस्था मे रहते हुए उन मनुष्यो के लिए जिन्होने कभी किसी राजनीतिक संस्था को देखा ही नही, राज्य जैसी जटिल और पर्याप्त विकसित सामाजिक संस्था का निर्माण सर्वथा असम्भव है। यह बात हमारी तर्क-बुद्धि मान ही नही सकती। समझौते के लिए तो पर्याप्त राजनीतिक चेतना चाहिए और यह राजनीतिक चेतना उनमे थी ही नही, और यदि थी तो वह कभी राज्य के बिना रह ही नही सकते थे।

(२) यह सिद्धान्त इस बात को मानकर चलता है कि आदि-युग मे हमारे जीवन की इकाई (Unit) पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति (Individual) था। यह व्यक्ति अपने आप मे सर्वथा पूर्ण और स्वतन्त्र था। इसलिए स्वतन्त्र व्यक्तियो ने ही

परस्पर मिलकर समझौता कर राज्य की रचना की। परन्तु समाज विज्ञान की वर्तमान खोजो ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य का आरम्भिक जीवन सामूहिक (Joint) अधिक था और व्यक्तिपरक (Individualistic) बहुत कम। व्यक्ति किसी न किसी परिवार, कबीले या समुदाय का सदस्य था, उनसे पृथक् किसी भी अवस्था मे वह नही रहा। उसके जीवन का अधिकाश भाग राज्य द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। अत प्रारम्भिक समाज की इकाई व्यक्ति न हो परिवार या कबीला था।

(३) राज्य का जन्म सर्वथा आकस्मिक भी नही कहा जा सकता। ऐसा मानना मानव इतिहास के सर्वथा विपरीत है। मानव इतिहास यह बतलाता है कि हमारी सामाजिक सस्थाओ का विकास धीरे-धीरे हुआ। परिवार, कुल, कबीले और फिर राज्य, मानव के सामाजिक जीवन के विकास का क्रम कुछ ऐसा ही रहा होगा।

(४) प्रारम्भिक मानव-जीवन मे व्यक्ति के जीवन का नियन्त्रण परम्परा से चले आये रीति-रिवाजो से होता था। उसका जीवन इन नियमो से, जो व्यक्तिपरक न हो साम्प्रदायिक (Communal) होते थे, जकडा हुआ था।

(५) सर हेनरी मेन तथा ड्युग्वी (Duguit) इस सिद्धान्त को वैधानिक और समाजशास्त्रीय दोनो ही दृष्टियो से मिथ्या मानते है। मेन का कथन है कि अनुबन्ध एक कानूनी सस्था है, इसका विकास मानव-जीवन के प्रारम्भ मे नही, अपितु बहुत बाद मे हुआ। अत ऐतिहासिक दृष्टि से पहले राज्य और उसके नियम और फिर समझौते की भावना उत्पन्न हुई। इसी कारण मेन ने इस सिद्धान्त को सर्वथा निस्सार माना है।

(६) ड्युग्वी का कथन है कि इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पडता है कि प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य मे समझौते की भावना थी। यह असम्भव है, क्योकि जो मनुष्य समाज मे नही रहते उनमे समझौते और उससे उत्पन्न जिम्मेदारियो की कोई भावना हो ही नही सकती।

(७) समझौता पहले हुआ और राज्य की स्थापना बाद मे। परन्तु किसी भी समझौते का तब तक कोई अर्थ नही जब तक कि वह किसी बाह्य शक्ति द्वारा लागू न किया जाता हो। राज्य की शक्ति के उदय से पूर्व ही किये गये इस अनुबन्ध का पालन राज्य कैसे करवा सकता है? वह तो उस अनुबन्ध का फल है। वे लोग जो सब प्रकार से असामाजिक थे एक ही दिन मे सामाजिक कैसे बन गये?

जो समझौता हमारे पुरखो ने किया था, वह हमारे पर कैसे लागू हो सकता है? इस प्रकार अनुबन्ध सिद्धान्त की ऐतिहासिक और वैधानिक तौर पर कडी आलोचना की गई। इस कारण इसके बहुत से समर्थको ने इसे दूसरे रूप मे भी प्रस्तुत किया। इसका यह रूप दार्शनिक कहलाता है। काण्ट तथा फिचे इत्यादि विचारक इस सिद्धान्त के इस पक्ष को मानने वाले है। उनका कथन है कि ऐतिहासिक रूप मे यह सिद्धान्त अर्थहीन है, परन्तु दार्शनिक रूप मे यह एक महत्त्वपूर्ण सत्य को सिद्ध करता है। वर्तमान लोकतन्त्र शासन, शासित और शासक के पारस्परिक समझौते

पर ही आधारित है। इस समझौते के टूटने पर जनता विद्रोह कर सकती है, वह शासन का रूप बदल सकती है। दूसरे शासन-व्यवस्था एक निश्चित मर्यादा के अनुसार ही चलनी चाहिए, अमर्यादित रूप मे नही। राज्य और जनता दोनो की मर्यादाएँ इस इकरारनामे (Contract) मे शामिल होती हैं।

परन्तु अनुबन्ध सिद्धान्त की यह व्याख्या भी निम्नलिखित कारणो से अस्वीकृत की गई है—

(१) इसमे सन्देह नही कि राज्य नाम की सामाजिक संस्था मनुष्य की इच्छा पर ही आधारित है उसके विपरीत नही। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि राज्य एक अप्राकृतिक संस्था है, या वह एक ज्वॉयण्ट स्टाक कम्पनी (Joint Stock Company) की तरह है जिसे जब चाहे हम बदल दे या भग कर दे। वह हमारी प्रकृति का परिणाम है, हमारी आवश्यकताओ का फल है। अंग्रेज विचारक बर्क ने सर्वथा ठीक कहा है, **"यदि राज्य को एक प्रकार की साझेदारी ही मान लिया जाए, तो भी यह ऐसी साझेदारी नहीं है जैसी काली मिर्च, कहवा आदि के व्यापार में होती है—जो इच्छानुसार समाप्त की जा सकती है, यह साझेदारी सम्पूर्ण विज्ञान की साझेदारी है, सभी कलाओं की साझेदारी है, समस्त सद्‌गुणों की साझेदारी है और सब प्रकार की शक्ति की साझेदारी है। और क्योकि ऐसी साझेदारी का लाभ एक-दो पीढियो मे ही नहीं प्राप्त किया जा सकता, इसलिए वह साझेदारी जो जीवित हैं उनके जो मर चुके है उनके, और जो आगे जन्म लेंगे उन सबके बीच है।"**

राज्य एक ऐच्छिक (Voluntary) समुदाय नही। इसकी सदस्यता वैसे ही आवश्यक है, जैसे परिवार की। हम परिवार मे उत्पन्न होते है, अत परिवार की सदस्यता जन्मजात है, इसी प्रकार राज्य की नागरिकता भी अनिवार्य है, उसका अपनी इच्छा से त्याग नही कर सकते। राज्य यदि एक कम्पनी या फर्म की तरह हो तो इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह आजादी है कि वह चाहे तो इसका सदस्य रहे और चाहे तो अलग हो जाय।

(२) राज्य का ऐसा सिद्धान्त बहुत खतरनाक है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जब चाहे राज्य के प्रति विद्रोह कर दे, जब चाहे राज्य के विरुद्ध खडा हो जाय। अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थक यह भूल जाते है कि राज्य हमारी भक्ति का भी विषय है। उसके साथ हमारे ऐसे ही भावात्मक सम्बन्ध है जैसे कि परिवार के साथ। अत राज-भक्ति समझौते का विषय नही हो सकती।

(३) राज्य का उद्देश्य महान् नैतिक उद्देश्य है, उसका काम एक या दो उद्देश्यो की प्राप्ति नही। उसका सम्बन्ध समग्र मनुष्य जीवन से है। जिस प्रकार माता-पिता बच्चो का पालन-पोषण करते है वैसे ही राज्य का कार्य भी जनकल्याण है। कम्पनी या फर्म का उद्देश्य एक या दो स्वार्थो की सिद्धि है राज्य का ऐसा उद्देश्य नही होता।

(४) अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थको का कथन है कि राज्य से पूर्व जो कुछ

वर्तमान था वह सब प्राकृतिक (Natural) था, जो कुछ बाद मे आया वह सब अस्वाभाविक है, बनावटी (Artificial) है। अत राज्य से पूर्व के विधान प्राकृतिक विधान कहे गये। राज्य के पूर्व के अधिकार प्राकृतिक अधिकार और राज्य के पूर्व की स्वतन्त्रता प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty)। बाद के राजनीतिक अधिकार और राजनीतिक विधान सब बनावटी है।

दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ यह हुआ कि हमारी बर्बर अवस्था स्वभाविक थी और हमारी सस्कृति और सभ्यता बनावटी। पिछले जमाने मे जगलो मे रहना, और वृक्षो की छाल पहनकर रहना स्वाभाविक और प्राकृतिक है और मकानो और शहरो मे सुसस्कृत रूप मे रहना अस्वाभाविक और कृत्रिम है। यह सम्पूर्ण धारणा भ्रामक तथा अवैज्ञानिक है। हमारा सुसस्कृत और सभ्य जीवन भी उतना ही स्वाभाविक है जितना कि पुराने जमाने का बर्बर जीवन। राज्य हमारी उसी प्रकृति का फल है जिसकी पुराने जमाने की बर्बरता।

(५) अधिकारो के सम्बन्ध मे भी अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थको की कडी आलोचना की गई है। यह कहना कि प्राकृतिक अवस्था मे अधिकार और स्वतन्त्रता की अवस्थिति थी, बिलकुल गलत है। अधिकार और स्वतन्त्रता, यह सापेक्ष तत्त्व है। कानून के अभाव मे अधिकारो की और स्वतन्त्रता की सत्ता सम्भव ही नही। प्राकृतिक अवस्था की स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता नही अपितु अराजकता थी। अधिकार हमारी नैतिक आवश्यकताओ तथा राजनीतिक चेतना के फल हैं। अत समाज से स्वतन्त्र रूप मे न तो अधिकारो की सत्ता ही सम्भव है और न स्वतन्त्रता की ही। अधिकार की अवस्थिति सामाजिक स्वीकृति पर ही सम्भव है।

इस प्रकार राज्योत्पत्ति के अनुबन्ध सिद्धान्त की आलोचना सभी दृष्टिकोणो से की गई। ऐतिहासिक, वैधानिक और दार्शनिक सभी दृष्टियो से इसे त्रुटिपूर्ण पाया गया। अनुबन्ध सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक विधान तथा प्राकृतिक अधिकार की डेविड ह्यूम ने बहुत कडी आलोचना की। उसका कथन है कि प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य इतना समझदार नही था कि वह अनुबन्ध जैसी जटिल व्यवस्था की रचना करता। उसके कथनानुसार राज्य सत्ता जनता की सहमति पर आधारित नही। यह तो सैनिक विजय का फल है। राज्य के अधिकारियो की आज्ञा इसलिए नही मानी जाती कि वह हमारी सहमति (Consent) पर आधारित है। वस्तुत इसके कई कारण है। प्रथम, हम अपनी आदतो (Habits) की वजह से राजकीय नियमो का पालन करते हैं, दूसरा इसलिए कि हम मानते हैं कि यह हमारे हित मे है। हम समझते हैं कि इनकी एक विशेष उपयोगिता है। उनके बिना समाज की और सामाजिक जीवन की सत्ता सम्भव नही। इसलिए ह्यूम के अनुसार राज्य का आधार उपयोगिता (Utility) है सहमति (Consent) नही।

३६ पितृसत्ताक तथा मातृसत्ताक सिद्धान्त (The Patriarchal and the Matriarchal theories)

आज राज्य एक ऐतिहासिक सस्था समझी जाती है, इसका विकास आकस्मिक

नही अपितु शताब्दियो मे हुआ। परन्तु राज्य ने विकास की अपनी इस लम्बी यात्रा मे प्रारम्भ मे क्या रूप अख्तयार किया इस विषय मे लोगो मे मतभेद है। पितृसत्ताक सिद्धान्त (The Patriarchal theory) इसी प्रारम्भिक अवस्था की प्रमुख व्याख्या है।

सर हेनरी मेन का कथन है कि समाज की उत्पत्ति ऐसे परिवारो के सम्मिलन से हुई जो कि एक कुलपिता से (Patriarch) सम्बद्ध थे या जो सबसे वृद्ध पुरुष के नियन्त्रण मे रहते थे। मेन के अनुसार परिवार अपने प्रारम्भिक रूप मे छोटे-छोटे समूह थे, जिसमे पति, पत्नी तथा सन्तान मिलकर रहते थे। धीरे-धीरे एक से अनेक परिवार बने, और वे सब वृद्ध पिता के सरक्षण और नियन्त्रण मे एक साथ रहने लगे। ऐसे परिवारो मे पिता की आज्ञा ही अन्तिम आज्ञा होती थी, झगडो के निपटारो मे उसी का फैसला अन्तिम फैसला होता था, वह पूजा का, अधिकार का, शासन का, मर्यादा व धर्म का सभी का स्रोत था।

यह परिवार मिलकर कुल (Clan) बन गये। इनमे सभी सदस्य रक्त-बन्धन से बँधे हुए सबसे बडे पुरुष की अधिकार सत्ता को स्वीकार करते थे। यही कुल-कबीले (Tribes) बन जाते है, कबीले ही राज्य का आधार बनते हैं। विकास की इन स्थितियो मे मुख्य सयोजक शक्ति रक्त के बन्धन ही रहे और पितृ-सत्ता की प्रमुखता रही। हेनरी मेन के शब्दो मे "प्रारम्भिक इकाई एक ऐसे परिवार की है जो सबसे बडे पूर्व पुरुष के सामान्य प्रभुत्व मे बँधी हुई है। इन परिवारो से मिलकर वश या कुल बनता है। कुलो से मिलकर कबीला या जनपद और कबीलो से राज्य बनता है।" लीकॉक भी इस विकास-क्रम को इस प्रकार रखा है—"पहले एक गृहस्थी, फिर पितृसत्ताक परिवार, फिर एक समान जाति के पुरुषो का कबीला और अन्त मे एक राष्ट्र सामाजिक क्रम का निर्माण इस आधार पर हुआ।"[1]

सर हेनरी मेन ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि यहूदियो, यूनानवासियो, रोम-वासियो तथा भारतीय परिवारो के उदाहरण द्वारा की है। इन सभी देशो मे ऐसे परिवार मिल जाते है जो कि वर्तमान काल मे एक परिवार न कहला परिवारो के समूह ही कहलाएँगे। इन सयुक्त परिवारो मे सभी निकट-दूर के सम्बन्धी आ जाते है। ऐसे सयुक्त परिवारो के मुखिया ही राज्य-सभा मे प्रतिनिधि बनते थे। चीन, मिश्र इत्यादि पूर्वी देशो मे भी ऐसे ही परिवारो की अवस्थिति के उदाहरण मिलते हैं। इनमे पिता का अपने पारिवारिक सदस्यो पर असीम अधिकार होता था। पुराने फिलस्तीन (Palestine) मे पिता अपनी लडकियो को बेच सकता था और रोम मे वह अपने बच्चो की जिन्दगी का मालिक था। सीनेट (Senate) का अभिप्राय वृद्धो की ससद है जब कि नगरपालिकाओ के सदस्य आज भी नगरपिता (City fathers) कहलाते है। फ्रेंच विचारक बोदीन (Bodin) राज्य परिषद मे केवल परिवारो के

---

1 "First a household then a patriarchal family, then a tribe of persons of kindered descent and finally a nation—so runs the social series erected on this basis"—*Leacock*

मुखिया को ही स्थान देता है, और उसे ही वोट का हक भी है। अरस्तू ने भी राज्य की उत्पत्ति कुलो से मानी है। वह कहता है, "सबके पहले परिवार या कुल का जन्म होता है, जब अनेक कुल मिल जाते हैं, और उनके संगठन का मतलब अपनी रोज की आवश्यकताओ को पूरा करने की अपेक्षा काफी विस्तृत हो जाता है, तो गाँव का जन्म होता है। जब अनेक गाँव मिलकर अपना संगठन बनाते हैं, और यह संगठन इतना पूर्ण और विशाल बन जाता है कि लगभग आत्म-निर्भर हो जाता है तो राज्य का जन्म होता है।" हमारे यहाँ भी जनपदो का विकास कुलो से ही हुआ है। आग्नेय, मालव, वज्जि, अन्धक, वृष्णि, मुद्रक, कोशल इत्यादि ऐसे अनेक जनपद अपने प्रारम्भिक रूप मे जातीय समुदाय थे।

पितृसत्ताक सिद्धान्त के आधारभूत तत्त्व निम्नलिखित है—

(१) स्थायी वैवाहिक सम्बन्ध और मनुष्य का परिवार बनाकर रहना।

(२) राज्य का विकास परिवार से हुआ है। परिवारो के मिलने से कुल और कुल से जनपद और जनपद ही राज्य के आधार हैं।

(३) राज्य-सत्ता का मूल स्रोत पितृसत्ताक परिवार के प्रधान मुखिया की वह असीमित शक्ति थी जिसके अन्तर्गत परिवार के सभी सदस्य आ जाते थे।

आलोचना—निस्सन्देह पितृसत्ताक सिद्धान्त राज्य-निर्माण की महत्त्वपूर्ण स्थिति की ओर निर्देश करता है, परन्तु राज्योत्पत्ति की बहुत सीधी-सादी व्याख्या है। प्रारम्भिक सामाजिक समुदाय अपने संगठन मे इतना सरल नही था जितना कि इस सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं। सामाजिक संस्थाओ के विकास मे केवल रक्त सम्बन्ध या पारिवारिक सम्बन्ध ही आधारभूत रहे हो, ऐसी बात नही। इन तत्त्वो के अतिरिक्त राज्य-निर्माण मे अनेक अन्य तत्त्वो का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दूसरा वर्तमान युग के समाजशास्त्रियो ने पितृसत्ताक परिवार को सभी जगह नही पाया। न ही इसे परिवार का आदि रूप माना जाता है। मैक्लैनन (Mac-Lannan) तथा जेंक्स (Jenk) इत्यादि ने परिवार के प्रारम्भिक रूप को मातृसत्ताक (Matriarchal) माना है।

वे हेनरी मेन के सामाजिक विकास-क्रम को भी नही मानते। उनका विचार है कि प्रारम्भिक समाज की मूलभूत इकाई (Unit) वैयक्तिक परिवार नही था, अपितु कबीला या जन (Tribe) था।

जन से कुलो का विकास हुआ और तदनन्तर परिवार का जन्म हुआ। वंशानुक्रम का प्रारम्भ पिता से नही अपितु माता से होता है। मॉर्गन का कथन है कि बहुत से प्रमाणो से यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रारम्भिक परिवार का मुखिया कोई वृद्ध पुरुष न हो वृद्धा-स्त्री होती थी, पितृसत्ताक परिवार से पूर्व मातृसत्ताक परिवार की सद्स्थिति थी।

मातृसत्ताक सिद्धान्त—(The Matriarchal theory) इस प्रकार मातृसत्ताक सिद्धान्त के अनुसार आरम्भ मे निश्चित तथा स्थायी विवाह सम्बन्धो का अभाव था। अधिकतर लोग रेवड (Pack) बनाकर रहते थे, उनमे विभिन्न टोटम

(ग्वउ या विशेष चिन्ह) के ग्वउ मिलते और स्त्री और पुरुष स्वाभाविक प्रकृति के वश हो समागम करते। बच्चे अपने पिता को नही जानते थे और माता के परिवार मे रहते थे। मातृसत्ताक परिवार के मुख्य आधार निम्न थे—

(क) स्थायी और निश्चित वैवाहिक सम्बन्धो का अभाव ऐसी अवस्था मे वशानुक्रम माता से ही शुरु किया जाता था। बच्चो का पालन-पोषण माता के परिवार मे होता था पिता के परिवार मे नही। माता अपने परिवार के साथ रहती। कभी-कभी उसका अस्थायी पति अतिथि के रूप मे उसके परिवार मे आता और चला जाता।

(ख) मातृसत्ताक परिवार मे सत्ता (Power) पति के हाथ मे नही अपितु पत्नी के परिवार के किसी पुरुष सम्बन्धी के हाथ मे होती थी। कभी यह सत्ता माता के बडे भाई के हाथ मे होती जैसे कि मलाया मे होता है, तो कभी माता-पिता के हाथ मे, जैसा कि अमेरिका के रेड इडियन्स के कुछ कबीलो मे पाया जाता है। बहुत से समाजशास्त्री मातृसत्ता और सम्पत्ति पर माता के अधिकार को अधिक महत्त्वपूर्ण नही समझते। मेकाइवर (MacIver) का कथन है कि मातृसत्ता प्रधान परिवार की अवस्थिति मे पर्याप्त सन्देह है। हाँ, वह ऐसे परिवार की अवस्थिति अवश्य मानता है जिसमे वशानुक्रम माता से प्रारम्भ होता हो। मातृसत्ताक परिवारो की अवस्थिति भारत की द्रविड जातियो तथा मलाया और आट्रेलिया के मूल निवासियो मे है। मातृसत्ताक परिवार के अनन्तर पितृसत्ताक परिवार का विकास हुआ। मातृसत्ताक परिवार के विलोप का कारण हमारी आर्थिक परिस्थितियो का परिवर्तन है। घुमक्कड या खानाबदोश जिन्दगी के खत्म होने पर जब पशु-पालन तथा कृषि-व्यवस्था का जन्म हुआ तो उसके साथ ही स्थायी वैवाहिक सम्बन्ध और वैयक्तिक परिवारो का विकास भी हुआ है। मातृसत्ताक परिवार के समर्थको के अनुसार समाज विकास का क्रम इस प्रकार है—

(१) कबीला (Tribes)।
(२) कुल (Clans) कबीले के विभाजन के अनन्तर उत्पन्न हुआ।
(३) घराने (House holds) का विकास कुलो से हुआ।
(४) परिवार विकास-क्रम मे घरानो के पश्चात् और सबसे अन्त मे आता है।

आलोचना—मातृसत्ताक परिवार के उदाहरण ससार की अनेक आदिम-असभ्य जातियो मे मिल जाते है, परन्तु इसे सर्वव्यापी नही कहा जा सकता।

हम पहले ही कह आए है कि सामाजिक विकास का स्वरूप इतना सरल नही जितना कि इन सिद्धान्तो के समर्थक मानते हैं। फिर परिवार और राज्य सगठन, स्वरुप तथा कार्यो मे एक दूसरे से बहुत भिन्न है। अत राज्य को परिवार का एक विस्तृत रूप समझना सर्वथा गलत है। पारिवारिक और राजकीय सत्ता और उनकी प्रकृति मे बहुत अन्तर है।

हमारा प्रारम्भिक राजनीतिक जीवन अनेक तत्त्वो द्वारा नियन्त्रित किया जाता था, केवल पारिवारिक सम्बन्धो द्वारा ही नही। अन्त मे हमे यह मानना पडेगा कि यह सिद्धान्त राजनीतिक कम और समाजशास्त्रीय अधिक है। इसका

उद्देश्य समाज का विकास और उद्भव ढूंढना है न कि राज्य क

४० विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

राज्योत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तो का विवेचन ऊपर किया गय जसे कि हम देख ही चुके हैं इनमे कोई भी सिद्धान्त अपने आप मे सन्तोषजनक और सही नही। राज्य, जैसा कि डाक्टर गार्नर ने कहा है, "न तो दैवीय सस्था है न ही मनुष्यकृत, और न ही यह शारीरिक शक्ति का फल है तथा न ही परिवार का विस्तृत रूप।"[1] आज राज्योत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त को ही स्वीकार किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति किसी निश्चित समय पर अथवा किसी निश्चित योजना के अनुसार नही हुई, न ही उसके प्रारम्भ की कोई निश्चित ऐतिहासिक तिथि है। विकासवादी सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि राज्य हमेशा हमारे साथ रहा है। समाज के प्रारम्भिक अविकसित रूप में भी राजनीतिक सत्ता की अवस्थिति अवश्य थी। परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि प्राचीन राजनीतिक सस्थाओ का स्वरूप आज की राजनीतिक सस्थाओ से बहुत भिन्न है। इसका विकास धीरे-धीरे हुआ, अचानक नही।

मनुष्य की सघ प्रेमी प्रवृत्ति का उल्लेख हम कर चुके हैं। इसी सघ प्रेमी प्रवृत्ति का परिणाम है, विभिन्न समुदायो की रचना। कुछ निश्चित समानताओ के आधार पर या सामान्य स्वार्थो के आधार पर सगठित अनेक समुदाय पुराने और नये समाज मे हमे मिल जाते हैं। ऐसे समुदाय रुधिर सम्बन्ध (Kinship), स्थान (Locality), आयु (Age), लिंगभेद (Sex), पेशा (Occupation) तथा पद (Status) इत्यादि के आधार पर सगठित किये जाते है। इनमे सगठन और नियमन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, यही विभिन्न प्रकार के राजनीतिक सगठनो का आधार बन जाती है। प्रारम्भिक अवस्था मे इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति बहुत सीधे और भद्दे (Crude) रूपो मे होती है, धीरे-धीरे इसका विकास हुआ। राज्य भी अपने प्रारम्भिक रूप मे पर्याप्त सरल और सीधा था। इसका विकास धीरे-धीरे हुआ। आज तो राज्य शायद मानव-समाज की सबसे अधिक जटिल, विकसित और सस्कृत सस्था है।

विकासवाद के अनुसार राज्य-निर्माण मे निम्न तत्त्वो का विशेष महत्त्व है—

(१) रुधिर सम्बन्ध (Kinship)।

(२) धर्म (Religion)।

(३) युद्ध (War)।

(४) राजनीतिक चेतना (Political consciousness)।

अध्ययन की सुविधा के लिए हमने इन विभिन्न तत्त्वो को पृथक्-पृथक् रखा है, परन्तु वस्तुत यह सब तत्त्व एक दूसरे मे घुले-मिले हैं, उनको पृथक् नही किया

---

1 "The state is neither the handiwork of God, nor the result of superior force nor the creation of resolution or convention, nor a mere expansion of family."—*Garner*

जा ना ता। यह ठीक है कि देश-काल के भेद मे इन तत्वो की उपस्थिति और मात्रा मे कुछ अन्तर रहा हो परन्तु राज्य-निर्माण मे सब सामान्य रूप से अवश्य उपस्थित रहे है।

यह सब तत्त्व हमारे जीवन की स्थायी और मौलिक शक्तियाँ हैं, इन्ही से राज्य-निर्माण के लिए आवश्यक एकता का विकास होता है। यह मनुष्य की अपनी प्रकृति का परिणाम है। यही हमारे सामान्य हितो और आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन हैं और इन्ही से राज्य के आत्मिक (Subjective) स्वरूप का निर्माण होता है।

(१) रुधिर सम्बन्ध (Kinship)—यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकृत की जाती है कि प्रारम्भिक सामाजिक सम्बन्धो मे रुधिर सम्बन्धो का विशेष महत्त्व था। रेवड या टोलियो मे तो अवश्य ही रक्त-सम्बन्धो के आधार पर एकता आधारित थी। सब अपने आपको एक पुरुष की सन्तान समझते थे। परिवार, चाहे उसका प्रारम्भिक स्वरूप कुछ भी क्यो न रहा हो, राज्य का आधार है। पितृसत्ताक (Patriarchal) परिवार मे ज्येष्ठ पुरुष या पिता (Patriarch) की विशेष स्थिति, उसके अधिकार उस द्वारा पारिवारिक जीवन का नियमन राजकीय जीवन के लिए आवश्यक ट्रेनिंग का विद्यालय ही समझा जा सकता है। परन्तु राज्य की उत्पत्ति प्रत्यक्षत पितृसत्ताक परिवार मे हुई, ऐसा आज नही माना जाता। पारिवारिक स्थिति मे सत्ता का आधार वैयक्तिक था, स्वार्थ सार्वजनिक नही वैयक्तिक थे, नागरिकता का अभाव था। हाँ, परिवारो के मिलन से कुलो और कबीलो का निर्माण हुआ और यही राज्य के आधार बने। कबीलो की एकता का एक बडा आधार रुधिर की एकता थी। कबीलो मे जो जीवन मौजूद था उसे राज्य का आधार कहा जा सकता है। प्रत्येक कबीले मे एक सरदार हुआ करता था, जिसके हाथ मे सेना, न्याय तथा धर्म तीनो के अधिकार केन्द्रित थे। कबीलो के पारस्परिक युद्धो मे यह अपने कबीले का नेतृत्व करता था। शासन मे यह सार्वजनिक हित की अपेक्षा अपने सहयोगियो के हित का ही अधिक ध्यान रखता था।

प्राचीन गणराज्यो मे जातीय एकता की भावना मुख्य होती थी। आज की राष्ट्रीयता की भावना के पीछे भी रुधिर की एकता की भावना—जो बहुत कुछ कल्पनात्मक है—काम करती है।

गेटल का कथन है कि **"पितृसत्ताक परिवारो के चिन्ह प्रारम्भिक राज्यों मे वर्तमान थे तथा उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन मे पितृसत्तात्मक परिवार के कुछ नियमों तथा सगठनो को ग्रहण कर लिया था। रुधिर सम्बन्ध के बन्धन से परस्पर अधीनता और एकता (Salidarity) के भाव प्रबल होते हैं जिनका रहना राजनीतिक जीवन के लिए आवश्यक है।"**

रुधिर सम्बन्धो के आधार पर आधारित समाज के कुछ अपने विशिष्ट पहलू-थे, गेटल के अनुसार यह इस प्रकार हैं—

(क) समाज का आधार प्रादेशिक (Territorial) न होकर वैयक्तिक

(Personal) था। सामुदायिक सदस्यता का आधार सामान्य वास-स्थान नही अपितु वास्तविक या काल्पनिक रुधिर सम्बन्ध थे। ऐसे समुदाय किसी एक प्रदेश से बँधे हुए नही होते थे, वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से और सुविधापूर्वक आ-जा सकते थे। इसलिए कहा गया है कि प्रारम्भिक शासक अपनी प्रजा के शासक होते थे, अपनी धरती या प्रदेश के नही।

(ख) प्रारम्भिक समाज का रूप निपेधात्मक (Exclusive) था। वाहर के लोग शत्रु समझे जाते थे, विदेशी लोग गोद लेकर या गुलाम वनाकर ही समुदाय मे प्रवेश पा सकते थे।

(ग) ये समाज-प्रतियोगिता की भावना से रहित (Non-competitive) थे, सामाजिक रीति-रिवाज और प्रथाएँ ही सामाजिक जीवन का नियन्त्रण करती थी। प्रगति या परिवर्तन सम्बन्धी विचार वुरे समझे जाते थे।

(घ) यह समाज सामूहिक या सामुदायिक (Communal) था। इस समाज की आधारभूत इकाइयां (Basic units) व्यक्ति न होकर गुट या समूह थे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता या स्वच्छन्दता का कोई स्थान नही था। स्वाधीनता का अर्थ समुदाय की स्वाधीनता थी न कि व्यक्ति की। सहयोग और अन्योन्याश्रय सम्बन्ध (Interdependence) ही समाज के आदर्श थे।

(२) धर्म (Religion)—प्रारम्भिक समाज मे धर्म का भी उतना ही महत्त्व था जितना कि रुधिर सम्बन्धो का। जनो या कवीलो के पर्याप्त विकसित और विशाल हो जाने पर रुधिर सम्बन्धो के वन्धन कमजोर पडने लगे। परिवारो तथा जातियो की एकता खतरे मे पड गई। ऐसे समय मे धर्म-भावना ने इन विशृंखल होती हुई जातियो को वचा लिया। प्रारम्भ मे धर्म का केन्द्र-विन्दु पितरो की पूजा (Ancestor worship) थी। पितरो की पूजा की भावना के साथ-साथ वीर-पूजा की भावना भी काम करती थी। कवीलो के पारस्परिक युद्धो मे वीर-गति पाने वाले लोगो की पूजा तो होती ही होगी, उनकी वीरता की कहानियां भी जातीय धरोहर वन जाती थी। पितर-पूजा ने लोगो मे एक जातीयता की भावना को भी जीवित रखा।

धर्म और रुधिर सम्बन्ध का घनिष्ठ सम्बन्ध तो इसी वात से पता चलता है कि जाति या कवीले के मुखिया न केवल राजनीतिक नेता ही होते थे वे धर्म-पूजा के अधिकारी भी होते थे। परिवार या कुल के सम्पूर्ण धार्मिक कृत्य उन्ही के आदेशानुसार होते थे।

धीरे-धीरे पितर-पूजा का स्थान प्रकृति-पूजा ने ले लिया। प्रकृति के शक्ति-चिन्ह सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु इत्यादि सभी देवताओ के पद पर आसीन कर दिये गये और पितरो की आत्माओ के साथ-साथ उनकी पूजा भी की जाने लगी। विधर्मी लोग वुरी दृष्टि से देखे जाते थे, उन्हे एक प्रकार से शत्रु समझा जाता था। विभिन्न धार्मानुयायी कवीलो मे युद्ध भी होते थे। धर्म ने लोगो मे पर्याप्त एकता उत्पन्न की।

राजा या शासक का स्थान इस समय महापुरोहित या मुख्य धर्माधिकारी ने

ग्रहण कर लिया, या यूँ कहना चाहिए कि राजा ही मुख्य धर्माधिकारी बन गया।

धर्म ने प्रारम्भिक सामाजिक जीवन मे बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया था। जहाँ उसने एक ओर लोगो मे एकता उत्पन्न की वहाँ दूसरी ओर उसने लोगो मे राज्य और शासन के प्रति श्रद्धा और भक्ति की भावना को उत्पन्न किया। केवल शारीरिक शक्ति के बल पर ही प्राचीन काल के निरकुश शासन नहीं टिक सकते थे। धर्म ने लोगो मे विश्वास उत्पन्न किया कि राजा दैवीय शक्ति के प्रतिनिधि हैं और उनके आदेश भगवान के आदेश हैं। उनका उल्लघन पाप है। राजा का कोप देवता का कोप है, उस द्वारा किये गये अत्याचार प्रजा के अपने पाप-कर्मों के फल हैं। इस प्रकार के विचार प्राचीन भारत, मिश्र, सुमेरिया तथा यूरोप मे भी मिल जाते हैं। इस प्राचीन अराजक स्थिति मे धर्म ने शासन और व्यवस्था कायम रखने मे मदद की। गेटल ने लिखा है कि **"प्रारम्भिक धर्म स्थानीय (Local) और संकीर्ण था। राज्य-विस्तार या विजय के कारण जातियो के प्रसार के साथ-साथ रुधिर सम्बन्ध के बन्धन और पूर्वजों की पूजा भी कम होती गई, यद्यपि आदिम समाज मे बहुधा सामान्य उत्पत्ति की बाथाएँ और गोद लेने की भी प्रथा थी। विस्तृत प्रदेश तथा विभिन्न जातियों के तथा राज्य के प्रादेशिक आधार के लिये प्रकृति-पूजा विशेष उपयोगी थी, और इसके विकास ने प्राचीन पारिवारिक पूजा-प्रथा के अवशेष तथा जातीय वीरो की गाथाओ से मिलकर, एक सामान्य राष्ट्रीय धर्म का काम किया जिसने सरकार और कानून को भी प्रमाणित किया।"**

(३) युद्ध (War)—युद्ध की आवश्यकताओ से भी राजा की उत्पत्ति हुई, इसका जिक्र हम पीछे भी कर आये हैं। पीछे हमने देखा है कि किस प्रकार देवासुर सग्राम मे देवता पराजित हो कहते हैं कि हम लोग 'अराजतया' अर्थात् राजा न रखने क कारण हारे हैं। हम को राजा बनाना चाहिए (राजनम् करवामहे)। प्राचीन परिवार या कुल जो रक्त सम्बन्धो पर आश्रित थे वे सगठित रूप मे कबीले का रूप तभी अख्तियार कर सके जब या तो बाहर से आक्रमण का खतरा हुआ या फिर किसी नेता ने उन्हे युद्ध के लिए सगठित किया। वैसे भी हमारे मे सत्ता-प्राप्ति की इच्छा (*Lust for power*) रहती है। पुराने जमाने के आदिम समाज मे ये प्रवृत्ति और भी अधिक मजबूत थी, अत इसकी अभिव्यक्ति सैनिक सगठन और युद्धो मे स्वाभाविक ही थी। युद्ध के फलस्वरूप एकता का आधार प्रादेशिक हो गया। जातीयता का महत्त्व कम हो गया। एक ही प्रदेश के रहने वाले लोग चाहे उनका पद या सामाजिक स्थिति कुछ भी हो, युद्ध के समय एक हो जाति या कबीले के लिए एक नेता के नेतृत्व मे लडते थे। इस प्रकार युद्ध ने सर्वप्रथम राजनीतिक एकता को जन्म दिया।

एक प्रदेश पर अधिकार कर उसमे किसी नेता की अधीनता स्वीकार करने से ही जनपद का जन्म हुआ।

(४) **राजनीतिक चेतना** (Political consciousness)—रुधिर सम्बन्ध, धर्म तथा युद्ध की भाँति राजनीतिक चेतना का भी राज्य-निर्माण मे विशेष

महत्त्व है। राजनीतिक चेतना से कुछ ऐसे उद्देश्यो की अवस्थिति का ज्ञान होता है जिनकी प्राप्ति के लिए राजनीतिक सगठन की आवश्यकता हो। सबसे बडी आवश्यकता थी सगठन और नियमन (Regulation) की। मनुष्य के आर्थिक जीवन के विकास के साथ नियमन की यह आवश्यकता और भी अधिक बढ गई। ज्यो-ज्यो मनुष्य ने अपनी घुमक्कड जिन्दगी को छोड पशु-पालन और कृषि जैसे व्यवसायो को अपनाना शुरू किया त्यो-त्यो हमारे सामाजिक जीवन की जटिलता बढती गई। पहले तो सामान्य शत्रु के विरुद्ध सगठन होता था, उसका उद्देश्य केवल सामूहिक जीवन की रक्षा था। परन्तु अब आबादी बढ जाने से तथा वैयक्तिक सम्पत्ति के विकास के कारण मनुष्य के आर्थिक जीवन के नियमन की आवश्यकता भी महसूस की जाने लगी। इधर भूमि पर बस जाने से श्रम का विभाजन भी हुआ, विभिन्न वर्ग बन गये, वैयक्तिक परिवार भी स्थापित हो गये। इस तरह जीवन का सामाजिक पहलू भी पर्याप्त जटिल हो गया। इन्ही उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए राज्य की आवश्यकता को अनुभव करने का नाम ही तो राजनीतिक चेतना है। राजनीतिक संगठन का काम व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा, परिवार और विवाह सम्बन्धो का नियमन, समाजिक शान्ति और बाह्य आक्रमणो से रक्षा, कानून का बनाना और लागू करना हो गया।

सामाजिक और आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ राजनीतिक चेतना जहाँ विकसित हुई वहाँ विशुद्ध और सुसस्कृत भी हो गई। प्रारम्भ मे वह सीधे-सादे राजनीतिक सगठन मे अभिव्यक्त हुई, धीरे-धीरे हमने अपनी विवेक-बुद्धि से काम लिया, इसके सगठन मे आवश्यक परिवर्तन किये और इसके उद्देश्यो की सख्या को बढा इसके नैतिक और सास्कृतिक कर्त्तव्यो को भी स्वीकार किया। ऐसी राजनीतिक चेतना के फलस्वरूप ही आज राज्य सर्वोच्च सामाजिक समुदाय माना जाता है।

इस प्रकार विकासवाद का सिद्धान्त हमारे उस प्रश्न का उत्तर देता है जो कि हमने इस अध्याय के प्रारम्भ मे किया था। हमने ऊपर देख लिया है कि इस प्रश्न का उत्तर सीधा और सरल नही हो सकता और न ही कोई सीधी-सरल व्याख्या मानी जा सकती है। राज्य दैवी सस्था नही फिर भी राज्य के विकास मे इस विचार का महत्त्व रहा। राज्य केवल शक्ति का परिणाम नही, फिर भी शक्ति राज्य-सगठन का एक प्रमुख तत्त्व है। राज्य केवल व्यक्ति की सहमति पर आधारित नही फिर भी हम मानते हैं कि वह हमारी राजनीतिक चेतना का परिणाम है। राज्य केवल परिवार का विस्तृत रूप नही परन्तु राज्य-निर्माण मे रुधिर सम्बन्धो का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, इस प्रकार विकासवाद का सिद्धान्त सभी अर्द्धसत्य सिद्धान्तो के सत्याश को ग्रहण कर हमारे प्रश्न का एक सन्तोषजनक और वैज्ञानिक उत्तर देता है।

Important Questions

Reference

1 Critically discuss the theory of Divine Origin of the State — Art 36
(All. 1933, 1930, Pb 1955, 1951)

2 State and criticise the theory of force regarding the origin of the State
(*Pb 1940, 1936, 1954 , All 1933 ; Cal 1944, 1942, 1938, 1930*

Or,

"Will, not force is the basis of the State" Art 37
(*P U 1939*)

3 Carefully examine the doctrine of Social Contract How far does it furnish the true explaination of the Origin of the State ?
(*Ag 1939, 1936, Pb 1943, 1940, 1937, 1935, Nag 1943, 1935 , Bom 1938*)

Or,

"The contract theory of the State is bad history, bad law and bad philosophy" Comment (*Pb 1954*) Art 38

4 Describe in outlines the Patriarchal and Matriarchal theories of the origin of society (*Pb 1943, 1935, Mad 1947*) Art 39

5 Discuse the Evolutionary theory of the origin of the State (*Bom 1941, 1927, Nag 1943, Pb 1952, 1934, 1935*)

Or,

Comment on the statement that the State in based neither on force, nor or contract, but on natural instinct of co operation (*Ag 1943*)

Or,

Discuss the theory of the origin of the State which you regard as most satisfactory (*Pb 1955*)

Or,

"The State is not an invention, it is a growth , an evolution, the result of a gradual process running through out the known history of man" Discuss —*Leacock* Art 40

6 Examine the main *speculative theories* of the origin of the State and state the elements of truth contained in each (*Pb 1952*) Arts 36 37, 38, 39 and 40

राज्य का उत्पत्ति (२)

४१. हॉब्स, लॉक तथा रूसो के अनुबन्ध सिद्धान्त (Social Contract theories of Hobbes, Locke and Rousseau)

राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तो का अध्ययन हम पीछे विस्तारपूर्वक कर चुके है। हम देख चुके हैं कि अनुवन्ध सिद्धान्त (Theory of Social Contract) का राज्योत्पत्ति विपयक सिद्धान्तो मे क्या महत्त्व है। हॉब्स, लॉक तथा रूसो इस सिद्धान्त के प्रवल समर्थक हैं। इन्होने इस सिद्धान्त का वहुत विशद विवेचन किया है। इनके विचार राजनीति शास्त्र मे विशेप महत्त्व रखते है अत इस अध्याय मे हम इन विचारको के दर्शन का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

४२. थॉमस हॉब्स (Thomos Hobbes 1528-1679)

हॉब्स के राजनीतिक विचार उसके अपने समय की राजनीतिक परिस्थितियो का परिणाम हैं। हॉब्स के जीवन-काल मे इग्लैण्ड मे गृह-युद्ध चल रहा था। स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम के विरुद्ध जनता विद्रोही हो उठी थी, राज्य-व्यवस्था विशृ खल हो गई थी। हॉब्स अपने राजा के पुत्र चार्ल्स द्वितीय के साथ, जिसका वह शिक्षक था, फ्रास चला गया। वहाँ उसे राजतन्त्र के अन्तर्गत अपेक्षाकृत शान्ति और व्यवस्था के दर्शन हुए। उसने अनुभव किया कि राजा-विहीन प्रजा अव्यवस्था का मूल कारण है। राज्य और व्यवस्था की स्थापना केवल राजतन्त्र मे ही सम्भव है।

हॉब्स ने 'अनुवन्ध सिद्धान्त' की व्याख्या राज्य के जन्म और उसके विकास के अध्ययन के लिए नही की थी, उसका तो उद्देश्य था इग्लैण्ड की जनता के लिए राजभक्ति के एक नये आधार को प्रस्तुत करना। उस समय एक ओर तो जनता अपने अधिकार मागती थी, दूसरी ओर राजतन्त्र के समर्थक राजा के दैवीय अधिकारो की दुहाई देते थे। दैवीय अधिकारो (Divine Rights of Kings) का सिद्धान्त वहुत अरसे तक लोगो को कावू मे न रख सका, अत हॉब्स ने निरकुश राजतन्त्र के समर्थन मे अपने अनुवन्ध सिद्धान्त को पेश किया।

हॉब्स प्रथम अग्रेज दार्शनिक था जिसके राजनीतिक दर्शन का सम्पूर्ण यूरोपीय महाद्वीप पर प्रभाव पडा, उसके दर्शन की सर्वत्र चर्चा की गई। उसने समाजशास्त्र, दर्शन तथा गणित आदि का गम्भीर अध्ययन किया था। राज्यशास्त्र के विवेचन मे उसने इतिहास का सहारा नही लिया, अपने असूल वनाकर उनके अनुसार उसने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। दूसरे शब्दो मे उसके अध्ययन मे कल्पना का अधिक प्रयोग हुआ, इसी कारण उसकी अध्ययन-पद्धति वियोजक (Deductive) है।

हॉब्स का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवायथन' (Leviathan) है।

मनुष्य प्रकृति—हॉब्स के दर्शन का आधार मानव-प्रकृति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। उसके मतानुसार मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति (Motivating force), स्वार्थ-सिद्धि (Self-interest) और आत्मरक्षा (Self-preservation) है। हमारी सम्पूर्ण क्रियाओ का स्रोत आत्मरक्षा की भावना है। उसका मुख्य उद्देश्य अपनी शक्ति को बढाना, यश प्राप्त करना और अपने जीवन को सुरक्षित रखना है। वह सब कुछ उचित है जो इन उद्देश्यो की प्राप्ति मे मदद करता है और जो इनके विरुद्ध है, उसमे रुकावट है, वह बुरा है। मनुष्य की शक्ति प्राप्त करने की इच्छा (Lust for power) असीम है, वह कभी तृप्त नही होती, वह उसकी मृत्यु के साथ ही खत्म होती है।

प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)—ऐसे निपट स्वार्थी मनुष्य ही राज्य के उत्पन्न होने से पूर्व प्रकृति की अवस्था मे रहते थे। प्राकृतिक अवस्था मे प्रत्येक मनुष्य इन्ही इच्छाओ से प्रेरित किया जाता था। शारीरिक और मानसिक शक्तियो मे सभी बराबर थे। अत सभी एक-दूसरे से डरते थे, एक-दूसरे से लडते-झगडते थे। किसी भी नियामक शक्ति (Regulating power) के अभाव मे मनुष्य के जीवन की सुरक्षा का सर्वथा अभाव था। आपस मे लोगो मे विश्वास नही था। वे निपट असामाजिक थे। बिना वजह के मार-काट करते थे, एक-दूसरे को खत्म करने की कोशिश करते थे, इस डर से कि अगर वे खत्म नही करेंगे तो उनकी अपनी जिन्दगी खतरे मे पड जायगी। अत सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था के अभाव मे सम्पत्ति, कृषि, उद्योग, कला, साहित्य, सस्कृति तथा सभ्यता का विकास ही न हो सका। **"लोगों की जिन्दगी सूनी, दरिद्र, गन्दी, पाशविक तथा छोटी थी।"**[1] न्याय-अन्याय, अच्छे और बुरे, धर्म तथा अधर्म का ज्ञान मनुष्य मे पैदा ही नही हुआ था। कानून और व्यवस्था के अभाव मे ऐसा हो सकना सम्भव भी नही था। हॉब्स के इस प्राकृतिक अवस्था के वर्णन का कोई ऐतिहासिक आधार नही। यह तो कल्पना मात्र है। हाँ, उसका विश्वास था कि राज्य के या प्रभुशक्ति के अभाव मे ऐसा सम्भव है। गृह-युद्ध के दौरान मे ऐसी स्थिति रहती ही है।

समझौता और राज्य की उत्पत्ति—यदि मनुष्य केवल स्वार्थी और असामाजिक प्राणी होता तो शायद राज्य की स्थापना कभी हो ही न सकती। वह विवेक-युक्त (Rational) प्राणी है। इच्छा (Desire) और विवेक (Reason) उसकी प्रकृति के दो भाग हैं। अपनी विवेक-बुद्धि के बल पर ही वह समाज-निर्माण की ओर अग्रसर हो सका है।

हॉब्स के विचार मे यहाँ दो परस्पर विरोधी तत्त्व मिलते हैं। एक ओर तो मनुष्य सर्वथा असामाजिक विवेकहीन प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है और दूसरी ओर समाज-निर्माण के लिए उसे विवेकयुक्त माना गया है। समाज-स्थापना से पूर्व उसकी पहली अवस्था थी। यदि वह विवेकपूर्ण प्राणी था तो वह बिना

1 "The life of man in the State of Nature was solitary, poor, nasty, brutish and short."—*Hobbes.*

समाज के रह ही कैसे सकता था ?

अस्तु, जैसा भी हो। हॉब्स यह मानता है कि मनुष्य विवेकशील स्वार्थी प्राणी है, वह आत्मरक्षा के लिए विवेकपूर्वक समाज की स्थापना करता है। अत आत्मरक्षा की प्रवृत्ति से प्रेरित हो प्रत्येक व्यक्ति सोच-विचारकर एक सामाजिक समझौता करने के लिए तैयार हो जाता है। इस समझौते द्वारा राज्य की स्थापना कर वह अपने जीवन की सुरक्षा को सम्भव समझता है।

इस प्रकार सबने मिलकर समझौता कर अराजक दशा को खत्म किया। प्रथम उन्होंने आपस मे मिलकर यह समझौता किया कि वह सर्वसम्मति से एक ऐसी शक्ति उत्पन्न करें, जो सब पर शासन करे, सबसे अपनी आज्ञा मनवा सके। फिर, इस समझौते के परिणामस्वरूप उन्होने एक व्यक्ति को या व्यक्तियो के एक समुदाय (Assembly of men) को अपनी सारी शक्तियाँ, अपने सब अधिकार जो वे प्राकृतिक अवस्थाओ मे अपने पास रखते थे, सौंप दिये। इस प्रकार हॉब्स के मतानुसार यह अनुबन्ध प्राकृतिक अवस्था को खत्म करने वाले लोगो के बीच ही परस्पर हुआ न कि जनता और शासक से बीच। यह समझौता शासक की स्थापना के हेतु ही लोगो मे हुआ। हॉब्स ही के शब्दो मे यह समझौता इस प्रकार हुआ—"जैसे हरेक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति से कहे कि मैं अपने स्वयं के शासन के अधिकार को इस एक व्यक्ति को या इस समिति को सौंपता हूँ, बशर्ते कि तुम भी मेरी तरह अपना यह अधिकार इसी व्यक्ति या समिति को सौंपने के लिए तैयार हो।"[1]

समाज और राज्य दोनो ही इस समझौते के फल हैं। राज्य प्रभुता सम्पन्न संस्था है, व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकार अपने शासक को सौप देते हैं, उन्हे राज्य के या शासक के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नही। शासक निरकुश, जनता के प्रति अनुत्तरदायी और निष्पक्ष और सब प्रकार से स्वतन्त्र है। एक बार जनता उसे सब अधिकार सौंपकर वापस नही ले सकती, इसलिए जनता को उसके प्रति विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं। हॉब्स राज्य और सरकार मे भेद नहीं करता। अत: सरकार का परिवर्तन भी हॉब्स के मतानुसार राज्य को उलट सकता है।

शासक को कानून बनाने के असीम अधिकार प्राप्त है, धर्म तथा दैवीय विधान (Divine laws) भी उनकी असीम शक्ति पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं लगाते।

प्रभुता (Sovereignty)—समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न शासक की प्रभुत्वशक्ति (Sovereign power) के निम्नलिखित लक्षण है—

(१) जिस समझौते के परिणामस्वरूप समाज और प्रभुतासम्पन्न शासक (Sovereign) का जन्म हुआ वह व्यक्तियो मे आपस मे था, राजा उसमे शामिल

1 "As if every man should say to every man; I authorise and give up my right of governing myself to this man, or to this Assembly of men on this condition, that thou give up, thy Right to him, and authorise all his Actions in like manner."—*Hobbes.*

नही हुआ था, वह उसका परिणाम था। वे सब प्रकृत अधिकार जो प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य भोग रहे थे वे राजा को सौंप दिए गये। परन्तु राजा क्योकि इस समझौते का भागीदार नही था इसलिए वे अधिकार किसी को नही सौंपता। उसके अधिकारो मे कोई परिवर्तन नही होता। राजा प्रजा के प्रति उत्तरदायी नही था। प्रजा को उसकी हर उचित-अनुचित आज्ञा का पालन करना चाहिए।

(२) शासक की शक्तियाँ अपरिमित (Unlimited) हैं, इसलिए उसके अधिकार पर किसी प्रकार की पाबन्दी नही लग सकती। कोई भी वैधानिक पाबन्दी कानूनी तौर पर भी ठीक नही हो सकती। केवल प्राकृतिक विधान ही एक पाबन्दी है, परन्तु प्राकृतिक विधान क्या है इसका निर्णय वह अपने आप करता है।

(३) प्रजा द्वारा रचित शासक प्रजा को कोई नुकसान नही पहुँचा सकता, क्योकि वह उन्ही का नुमायन्दा है। उसके कार्य गैरकानूनी नही हो सकते, क्योकि वह स्वय कानून का स्रोत है, और वह स्वय उन कानूनो की व्याख्या करता है। कानून प्रजा के आचरण का नियमन करते हैं, उसके आचरण का नही।

(४) राजा को प्रजा दण्ड नही दे सकती, अगर ऐसा करती है तो वह सरासर अन्याय है।

(५) सम्पत्ति राजा का अनुदान है अत वह सम्पत्ति तथा कर सम्बन्धी कानून बना सकता है। वह युद्ध की घोषणा कर सकता है और न्याय सम्बन्धी निर्णय भी दे सकता है।

(६) शासक प्रजा को भाषण की स्वतन्त्रता दे सकता है और वह खत्म भी कर सकता है।

(७) राजा प्रजा को बाह्य और आन्तरिक हमलो से बचाने के लिए जिम्मेदार है, इन्ही कर्त्तव्यो के पालन के लिए ही उसकी रचना की गई है।

(८) राजा या शासक राज्य-सत्ता की अन्तिम सर्वोच्च और एकाकी अवस्था का प्रतीक है। सिवा आत्मरक्षा के लिए कोई भी व्यक्ति अन्य अवस्थाओ मे उसकी आज्ञा का उल्लघन नही कर सकता।

(९) राज्य या शासक की प्रभुता के विरुद्ध भगवान के आदेशो को नही रखा जा सकता, क्योंकि हॉब्स के अनुसार ईश्वर-आदेशो की व्याख्या भी वही करता है। यदि राजा अनुबन्ध की परवाह नही करता तो भी प्रजा उसको कुछ नही कह सकती। राजा ही दण्ड, मान, इज्जत तथा यश प्रदान करने और पारितोषिक देने का अन्तिम स्रोत है।

(१०) प्रभुता अविच्छेद्य (Inalienable) और अविभाज्य (Indivisible) है। अपनी प्रभुता को वह किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को नही सौंप सकता। जिस प्रकार हम अपने जीवन को दूसरो को सौंपकर जिन्दा नही रह सकते, वैसे ही राजा भी प्रभुता को किसी अन्य को देकर प्रभुता सम्पन्न नही रह सकता। प्रभुता के विभाजन का अर्थ है उसे नष्ट करना।

यह प्रभुता किसी एक व्यक्ति में भी रह सकती है और व्यक्तियो के एक

समूह मे भी ।

निष्कर्ष—इस प्रकार हॉब्स ने एक ऐसे निरकुश शासक की कल्पना की जो कि न केवल सर्वसत्तासम्पन्न ही है अपितु निरकुश और अनुत्तरदायी भी । व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उसकी सम्पत्ति, उसका जीवन, उसके अधिकार, सब कुछ उसके अधीन है । वस्तुत हॉब्स अराजक अवस्था की अपेक्षा निरंकुश से निरकुश शासक को भी अच्छा समझता है । जनता गुलामी मे रह सकती है, परन्तु राजा की अनुपस्थिति मे नही, तब राज्य नही रहता, हमारी सामाजिक स्थिति खत्म हो जाती है । शासक की उपस्थिति मे ही समाज और राज्य सम्भव हैं ।

समाज या राज्य हैं व्यक्ति की सुरक्षा के गुलाम ही, वे किसी महान् उद्देश्य की प्राप्ति के अर्थ जन्म नही लेते । हॉब्स वस्तुत पूर्ण उपयोगितावादी है । राज्य की शक्ति और उसके अधिकार के औचित्य का केवल एक आधार है; वह यह कि राज्य व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा की गारण्टी है । राज्य की आज्ञाओ के पालन का केवल एक बुद्धिसम्मत कारण है कि वह हमारे हित मे है, हमारे लिए उपयोगी और लाभदायक है । समाज केवल व्यक्तियो का समूह मात्र है, उसका नैतिक आधार नही, उसका कोई नैतिक उद्देश्य नही ।

इस प्रकार का भावविहीन सूखा परन्तु क्रान्तिकारी व्यक्तिवाद हॉब्स की अपने युग के राजनीति शास्त्र को सबसे बडी देन थी । उस द्वारा किया गया राजतन्त्र का समर्थन राजतन्त्रवादियो को बहुत महँगा पडा । हॉब्स ने राज-शक्ति की भावनाओ पर कुठाराघात किया । उसने परम्परा से चली आई विचार-पद्धति और राजनीतिक उद्देश्यो को सर्वथा ठुकरा दिया । राज्य एक बडे 'देव' (Leviathan) की तरह है, उसे कोई चाहता नही, कोई उसका भक्त नही, वह एक आवश्यक बुराई मात्र है ।

यही वजह है कि हॉब्स की अपने समय मे भी और उसके बाद भी बडी कटी आलोचना की गई ।

आलोचना—हॉब्स के अपने जमाने के सभी वर्गों के प्रतिनिधियो ने उसकी आलोचना की । उसने राजतन्त्र के हक मे लिखा था, उनका उद्देश्य इलैण्ड मे स्टुअर्ट राजाओं की सत्ता को बचाना था । परन्तु राजतन्त्रवादी उसकी दलीलो से इतना चिढ गये कि वह उसका नाम लेना भी मुनासिब नही समझते थे । क्लैरेण्डन (Clarendon) ने कहा था, काश ! हॉब्स ऐसी दलीलो से अपने राजकीय शिष्य के समर्थन के लिए कभी पैदा ही न होता । उसी ने अन्यत्र कहा—"मैंने कभी कोई ऐसी अन्य पुस्तक नहीं पढी जिसमें इतना राज्य-द्रोह तथा धर्म-द्रोह हो ।" हॉब्स के जमाने के राजतन्त्र के समर्थक अभी दैवीय अधिकार के सिद्धान्त से आगे नही बढ सके थे ।

हॉब्स के विचार से चर्च-अधिकारी तथा साधारण जनता तो नाराज थी ही । जहाँ धर्माधिकारियो को उसने राज्य के नजदीक ही नही आने दिया वहाँ साधारण जनता को उसने राज्य या राज्य-सत्ता का गुलाम ही बना दिया ।

आज तो हॉब्स की आलोचना अनेक प्रकार के तर्कों तथा तथ्यों के आधार पर की जाती है। जैसा कि पहले ही हम देख चुके हैं हॉब्स मनुष्य की एक निश्चित मनोवैज्ञानिक विवेचना के अनन्तर अपने राज्य-सिद्धान्तों का निर्माण करता है। परन्तु हॉब्स का मनोवैज्ञानिक अध्ययन त्रुटिपूर्ण है। मनुष्य को उसने सर्वथा स्वार्थी और असामाजिक प्राणी के रूप में चित्रित किया है। उसमें उसने केवल दुर्गुण ही पाये हैं, अच्छाइयाँ नहीं। यही कारण है कि उसने ऐसे बुरे और स्वार्थी मनुष्य के लिए ऐसे निरंकुश शासन की कल्पना की। मनुष्य प्रकृति की यह व्याख्या एकांगी (Onesided) है, मनुष्य में परोपकार और सेवा की वृत्ति होती है। यही नहीं मनुष्य-प्रकृति अपने आप में बहुत जटिल है। सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना केवलमात्र भय या स्वार्थ-साधना के लिए नहीं की जाती।

फिर, हॉब्स अगर इस प्रकार से मनुष्य को स्वार्थी और झगड़ालू चित्रित करता है तो वह एक ही दिन में अपनी इस प्रकृति को छोड़, समाज का निर्माण कर उसमें सर्वप्रकार से शान्तिपूर्ण नागरिक कैसे बन जाता है? हॉब्स का कथन है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है, और विवेक के परिणामस्वरूप ही उसने राज्य की रचना की। परन्तु यदि वह विवेकशील प्राणी है तो वह समाज या राज्य के बिना रह ही कैसे सकता था? इस प्रकार प्रो० सेबाइन (Sabine) के अनुसार हॉब्स के विचार परस्पर विरोधी हैं।

अरस्तू के उस कथन को कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, हम कभी नहीं भूल सकते। आज के समाज विज्ञान की खोजें इस बात की पुष्टि करती हैं। आपस का सहयोग उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति उसके मानवीय समाज में ही नहीं अपितु पशु-समाज में भी देखी जा सकती है। हॉब्स के सम्पूर्ण तर्क का आधार सर्वथा एकाकी व्यक्ति (Isolated individual) है। उसके अनुसार प्रारम्भिक प्राकृतिक स्थिति में ये व्यक्ति एक दूसरे से अलग रहते थे। परन्तु ऐसा सोचना सर्वथा भ्रामक और गलत है। व्यक्ति कभी भी किसी भी समय एकाकी रूप से नहीं रहा। प्रारम्भिक जीवन में तो सामूहिक जीवन का और भी अधिक महत्त्व था। जैसा कि हम पीछे भी लिख आए हैं व्यक्ति किसी सम्प्रदाय, ग्रुप-परिवार या कबीले (Tribe) का सदस्य होता था। हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक स्थिति मानवीय इतिहास में कभी नहीं रही, वह गप्प मात्र है।

हॉब्स के निरंकुश शासन की कल्पना भी हमारी विवेक-बुद्धि को ठीक नहीं जँचती। उसका कथन है कि प्राकृतिक अवस्था से निकलते ही मनुष्य ने अपने सम्पूर्ण अधिकार राजा को सौंप दिये यह बात तर्कसंगत नहीं। एकदम स्वार्थी और सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्ति अपने सभी अधिकारों को किस प्रकार एक ही व्यक्ति को सौंप सकते हैं? और फिर वे किस प्रकार इस बात पर राजी हो सकते हैं कि राजा जो चाहे करे और प्रजा चुप बैठी रहे?

हॉब्स के अनुसार राज्य, समाज और सरकार में कोई अन्तर नहीं। राजा के खत्म होने पर राज्य खत्म हो जाता है, सरकार के विरुद्ध खड़े होने का अर्थ है राज्य

के विरुद्ध जाना। परन्तु हम पीछे ही देख चुके है कि राज्य, समाज और सरकार ये तीनो चीजें अलग-अलग है। सरकार राज्य का एक साधन है, उसकी शक्तिया निश्चित और मर्यादित है। राजा के खत्म होने पर समाज खत्म नही होता। यह कहना भी बिलकुल गलत है कि प्रभुता सम्पन्न शासक के अभाव मे राज्य तथा समाज कायम ही नही रह सकते। मध्य युग मे प्रभुता किसी एक व्यक्ति के हाथ मे नही होती थी, वह राजा, चर्च और सामन्तो मे विभाजित होती थी। ऐसी अवस्था मे राज्य और समाज की मौजूद थे। राज्य की शक्ति की भी सीमाएँ है, धर्म तथा देशीय रीति-रिवाज सभी राजकीय सत्ता पर पाबन्दियाँ हैं। कोई भी शासक इनके विरुद्ध नही जा सकता। हॉब्स का कथन है कि कानून का स्रोत शासक है। परन्तु यह मत केवल वर्तमान काल पर ही लागू हो सकता है, पुराने जमाने पर नही। पुराने जमाने मे कबीलो मे या बिरादरियो मे बहुत-सी ऐसी अलिखित प्रथाएँ तथा रीति-रिवाज होते थे जो न केवल व्यक्ति अपितु शासक के व्यवहार का भी नियन्त्रण करते थे। ये रीति-रिवाज किसी शासक विशेष की रचना नही होते थे। केवल भय के कारण शासनादेश को मानने की बात भी गलत है। राज्यादेशो का पालन हम एक नही अपितु अनेक प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभावो के फलस्वरूप करते हैं। दण्ड का भय तो मामूली चीज है। अनेक बार लोग उच्च उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए अपने जीवन तक की बलि देने को तैयार हो जाते हैं। अनेक बार अन्यायपूर्ण कानूनो और आदेशो का शान्तिपूर्ण ढग से भी उल्लघन किया जाता है। अत कानून और शासनादेश का पालन अक्सर हम इसलिए करते हैं कि हम समझते है कि वे हमारे हित मे हैं, वे सामाजिक व्यवस्था के कारण हैं और सामाजिक व्यवस्था हमारे सभ्य और सुसंस्कृत जीवन की पहली शर्त है। सर हेनरी मेन का कथन है कि कानूनो का पालन आदत के कारण भी किया जाता है।

हॉब्स का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त अत्यन्त सकुचित है। उसका कोई नैतिक स्वरूप नही। वह पुलिस-राज्य मात्र है, जिसका मुख्य कर्तव्य शासन-व्यवस्था कायम रखना, अपराधियो को दण्ड देना है। उसका कोई नैतिक कर्तव्य नही। जनता की नैतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना उसके लिए आवश्यक नहीं। वह तो एक आवश्यक बुराई मात्र है।

इस प्रकार हॉब्स के राजनीतिक विचारो का व्यावहारिक प्रयोग वैयक्तिक स्वतन्त्रता और उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए बहुत खतरनाक साबित हो सकता है।

इन सबके बावजूद भी हम यह नही भूल सकते कि हॉब्स ने राजनीति शास्त्र को अनेक नई चीजें दी हैं। अध्ययन-पद्धति की ही दृष्टि से हॉब्स अपने युग मे बहुत आगे है। उसकी अध्ययन-पद्धति वैज्ञानिक है। उसकी तर्क-शक्ति बड़ी निर्मम है। उसने प्रत्येक व्यवस्था को तर्क-बल पर कसा और तभी उसका प्रतिपादन किया। धर्म तथा नीति निरपेक्ष राजनीति शास्त्र का जैसा विकास उसके ग्रन्थो मे मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं।

ऑस्टिन तथा बेन्थम ने अपने प्रभुता (Sovereignty) सम्बन्धी सिद्धान्त

के आधार हॉब्स के राज्य-दर्शन मे प्राप्त किये। वस्तुत वर्तमान युग के उपयोगिता-वादी व्यक्तिवाद का जनक हॉब्स कहा जा सकता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार शान्त मन और वुद्धि से राज्य के सम्पूर्ण नैतिक आधारो को एक ओर रख उसने उसे वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा का गुलाम वना दिया। राज्य की क्यो आवश्यकता है ? क्योकि वह हमारे जीवन की सुरक्षा की गारण्टी है। राज्य का क्या कर्त्तव्य है ? वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा। इसी से राज्य शुरू होता है और यही खत्म हो जाता है।

इस प्रकार उसके विचार आगे आने वाले विचारको के लिए प्रेरणा-स्रोत वन गये।

४३. जॉन लॉक (John Locke 1632-1708)

हॉब्स की भाँति लॉक के राजनीतिक विचार भी उसकी अपनी परिस्थितियो के परिणाम है। लॉक का उद्देश्य भी राज्य और उसकी उत्पत्ति का विवेचन नही था, उसका उद्देश्य था १६८८ मे इग्लैण्ड मे हुए ग्लोरियस रिवोल्यूशन (The Glorious Revolution) का औचित्य सिद्ध करना। हॉब्स और लॉक की समस्याओ मे अन्तर है। हॉब्स की समस्या थी शान्ति और व्यवस्थायुक्त राज्य की स्थापना, लॉक की समस्या थी ऐसे राजतन्त्र का समर्थन और औचित्य सिद्ध करना जो वैधानिक हो, जो सीमित शक्तियो से युक्त हो—१६८८ की क्रान्ति के अनन्तर स्थापित राजतन्त्र ऐसा ही था। लॉक ने स्वय इस वात को स्वीकार किया है।[1]

लॉक ने हॉब्स द्वारा प्रतिपादित असीम प्रभुता (Sovereignty) के सिद्धान्त का खण्डन किया और साथ ही फिलमर (Sir Robert Filmer) द्वारा तथा एग्लिकल चर्च द्वारा समर्थित दैवीय अधिकार के सिद्धान्त की भी कडी आलोचना की।

लॉक के शासनविषयक दो निवन्ध प्रसिद्ध हैं। पहले निवन्ध मे उसने फिल्मर द्वारा राजतन्त्र के समर्थन मे लिखी 'Patriarcha' नामक पुस्तक की आलोचना की और दूसरे निवन्ध मे राज्य, शासन और प्रभुता की विवेचना की।

मानव-प्रकृति तथा प्राकृतिक अवस्था—हॉब्स की भाँति लॉक ने मानवीय जीवन के दो भाग किये हैं—(१) अराजक अवस्था या प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) और (२) राज्य का प्रादुर्भाव। परन्तु इन दोनो अवस्थाओ के विवेचन मे हॉब्स तथा लॉक के दृष्टिकोण मे पर्याप्त अन्तर है।

लॉक मनुष्य को एक झगडालू और असामाजिक प्राणी नही मानता। उसका कथन है—मनुष्य स्वभाव से ही शान्तिप्रिय है, वह सहयोग और सामाजिक सहायता चाहता है। अत लॉक द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था मे अशान्ति नही, लडाई-झगडे

---

1 "To establish the throne of our great restorer, our present King William and make good his title in the consent of the people"

—*Locke*

नही । हॉब्स तथा लॉक के प्राकृतिक अवस्था के वर्णन मे भी पर्याप्त अन्तर है । लॉक की प्राकृतिक अवस्था "शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहायत और सहयोग की अवस्था है" । उस समय प्राकृतिक विधान (Law of Nature) विद्यमान थे, सभी लोग उनका पालन करते थे । ये प्राकृतिक नियम विवेक-बुद्धि पर आधारित है, वे आन्तरिक नैतिकता के नियम है । इन्ही के आधार पर जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारो का उपभोग किया जाता था ।

प्रकृत-विधान पर आधारित कुछ प्राकृतिक अधिकार भी हैं । इन प्राकृतिक अधिकारो को प्रत्येक मनुष्य प्राकृतिक अवस्था मे अपने व्यक्तित्व का एक भाग समझता था । जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार मौलिक अधिकार हैं, इन्हे कोई भी मनुष्य किसी अन्य व्यक्ति के भरोसे नही छोड सकता । हॉब्स के अनुसार मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियाँ ही उसके प्राकृतिक अधिकार हैं ।

इस प्रकार प्रो० लास्की के शब्दो मे लॉक की प्राकृतिक अवस्था राज्य-हीन अवश्य थी परन्तु समाज-हीन नही । वह प्राक्-राजनीतिक (Pre-political) अवश्य है परन्तु प्राक्-सामाजिक (Pre-Socical) नहीं ।

परन्तु इस अराजक दशा मे कुछ असुविधाएँ थी, जिस कारण यह आवश्यक हो गया कि राज्य-हीन अवस्था को खत्म कर, राज्य का निर्माण किया जाय । ये असुविधाएँ इस प्रकार हैं—

(१) पहली असुविधा यह थी कि प्राकृतिक विधान का कोई निश्चित और निष्पक्ष व्याख्याकार नही था । प्रत्येक व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार उसकी व्याख्या करता और उसका अनुसरण करता । ऐसी हालत मे अराजक अवस्था मे पर्याप्त गडबड पैदा हो गई और व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार असुरक्षित हो गये ।

(२) यदि कोई व्याख्याकार मिल भी जाता तो उसके द्वारा किये गये निर्णय को लागू करने वाला कोई नही था ।

लॉक के शब्दो मे यह कमियाँ इस प्रकार हैं—

(क) एक व्यवस्थित, निश्चित, प्रतिष्ठित विधान का अभाव ।

(ख) एक निश्चित और निष्पक्ष न्यायाधीश का अभाव ।

(ग) दण्ड देनेवाली या निर्णय को कार्यान्वित करने वाली सगठित शक्ति का अभाव ।

समझौता तथा राज्य की स्थापना—यही कारण है कि अन्तत. अराजक स्थिति को खत्म कर समझौते द्वारा राज्य-निर्माण किया गया । इस समझौते के दो रूप है—सामाजिक तथा राजनीतिक । प्रथम समझौता तो जनता मे आपस मे होता है और दूसरा जनता तथा शासक मे । राजनीतिक अनुबन्ध द्वारा सरकार की सृष्टि की जाती है जिसके प्रधान अग विधानपालिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) हैं । जनता अपने सम्पूर्ण अधिकार शासनतन्त्र को नही सौंपती । उसे केवल वही अधिकार सौंपे गये है जितने कि उक्त असुविधाओं का निवारण किया जा सके । तदनुसार राज्य का काम विधान

का निर्माण, उसकी व्याख्या और उसको कार्यान्वित करना है। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारो की रक्षा है।[1] ये अधिकार राज्य की शक्तियो पर पाबन्दियो के रूप मे है। सरकार के अधिकार सीमित हैं, उसकी स्थिति भी वैधानिक है। हॉब्स की भाँति वह उसे अपरिमित (Unlimited) अधिकार नही सौंपता। न ही हॉब्स की भाँति लाक किसी असीम शक्ति-सम्पन्न प्रभु (Sovereign) की रचना करता है।

लाक समाज और सरकार मे भी स्पष्ट अन्तर करता है। समाज तो सम्पूर्ण व्यक्तियो का समूह है, जब कि सरकार उस समाज का एजेण्ट मात्र। सरकार या शासन की समाप्ति का मतलब समाज की समाप्ति नही होती। एक सरकार के खत्म होने का अर्थ है दूसरी सरकार का चुनाव।

लॉक के मतानुसार शासनतन्त्र (Government) एक ट्रस्ट (Trust) की भाँति है। उसका एक निश्चित उद्देश्य है, एक निश्चित विधान है। इस विधान को तोडने वाले ट्रस्ट के सदस्यो को हटाया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई शासक अपने निश्चित कर्तव्यो का पालन नही करता अथवा व्यक्ति के मौलिक और प्राकृतिक अधिकारो के अपहरण की कोशिश करता है अथवा राज्य-शासन को जन-हित मे नही चलाता या वह स्वेच्छाचारी तथा निरकुश हो जाता है, तो जनता उसे हटा सकती है, और उसके स्थान पर अन्य शासक का चुनाव कर सकती है। इस प्रकार लॉक ने ग्लोरियस रिवोल्यूशन (Glorious Revolution) के फलस्वरूप जेम्स द्वितीय के हाथ से राज्य-शक्ति को छीनकर विलियम के हाथ मे दे देना सर्वथा उचित और समझौते की शर्तों के अनुसार माना है।

इस प्रकार लॉक जनता को राज्य-क्रान्ति का अधिकार देता है। हॉब्स ने यह अधिकार प्रजा को नही दिया।

लॉक के राजनीतिक विचारो तथा उस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यो मे यदि कोई सर्वसत्तासम्पन्न अधिकारी है तो वह जनता है। जनता ही अन्तिम रूप से राज्य के तथा शासन के रूप का निर्धारण करती है। इस प्रकार यदि कही प्रभुता राज्य मे है तो वह जनता मे है। इस प्रकार लॉक ने सर्वप्रथम जनसम्मत प्रभुता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त का निर्माण किया।

हॉब्स की भाँति उसने प्रभुता का कोई निश्चित और निर्णयात्मक रूप हमारे सामने प्रस्तुत नही किया। कहा जाता है कि प्रभुता अविभाज्य और अविच्छेद्य होनी चाहिए, परन्तु लॉक ने ऐसा नही माना।

लॉक के अनुसार यह न तो सर्वोच्च सत्ता ही है और न अविभाज्य। वह

---

1 "Each individual contracts with each to unite into and constitute a Community The end for which this agreement is made is the protection and preservation, in the broad sense of the word—*i e*, of life, liberty and estate—against the dangers both from within and without the Community"—*Locke*

जनता और शासको मे बँटी हुई है। उसका वास्तविक प्रयोग सरकार द्वारा होता है, परन्तु यदि सरकार जनता का विश्वास खो बैठे तो वह फिर जनता के पास लौट आती है। इस प्रकार जनता को सरकार बदलने का विशेषाधिकार प्राप्त है। लॉक के अनुबन्ध सिद्धान्त की विशेषताओं को इस प्रकार रखा जा सकता है।

(१) मनुष्य शान्तिप्रिय सामाजिक प्राणी है अतः प्राकृतिक अवस्था मे उसका जीवन लडाई-झगडे से भरपूर नही था, अपितु पारस्परिक सहयोग और विश्वासपूर्ण था। हाँ, कुछ असुविधाओं के फलस्वरूप उसे समझौते द्वारा खत्म करना पडा।

(२) यह समझौता दो प्रकार का है, सामाजिक और राजनीतिक। राजनीतिक समझौते द्वारा शासनतन्त्र (Government) की रचना की जाती है।

(३) सरकार एक ट्रस्ट की तरह है, उसके अधिकार सीमित तथा निश्चित हैं। व्यक्ति उसे अपने सम्पूर्ण अधिकार नही सौंप देता। उसका मुख्य कर्तव्य व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारो की रक्षा करना है।

(४) लॉक समाज और सरकार मे भेद करता है। सरकार की समाप्ति का अर्थ समाज का खात्मा नही।

(५) सरकार के तीन मुख्य कर्तव्य है—कानून बनाना, उन्हे लागू करना और उनकी व्याख्या करना। तदनुसार राज्य के तीन भाग हैं—विधान-पालिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) इन तीनों के पृथक्-पृथक् कार्य हैं। इस प्रकार लॉक शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) की नीव रखता है।

(६) प्रभुता लॉक के अनुसार जनता मे होती है। सरकार ट्रस्ट की तरह है। उसके कार्य निश्चित और मर्यादित है। यदि वह अपनी सीमा मे बाहर जाय तो जनता उसे भग कर एक नयी सरकार बना सकती है।

लॉक का व्यक्तिवाद—लॉक के दर्शन के उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि उसके राज्य की आधारभूत इकाई व्यक्ति (Individual) है। राज्य का निर्माण ये स्वतन्त्र व्यक्ति ही मिलकर करते हैं। यह उन्ही की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन मात्र है, और यदि वे उससे सन्तुष्ट नहीं तो उसे भग भी कर सकते है।[1] वॉहन ने ठीक ही कहा है कि "लॉक की व्यवस्था मे हर वस्तु व्यक्ति के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है, हरेक वस्तु को इस प्रकार बनाकर रखा गया कि व्यक्ति की प्रभुता हर तरह से सुरक्षित रहे।"

वह प्रथम तो प्रभुता की बात ही नहीं करता और यदि कोई उसकी राज्य-व्यवस्था मे सर्वोपरि सत्ता है भी तो वह व्यक्ति के पास है। व्यक्ति के अधिकार

1 Men 'agreed to join and unite into a Community for their comfortable, safe and peaceable living, amongst one another in a secure enjoyment of their properties and a greater security against any that were not before it'.—*Locke*

राज्य-सत्ता पर पावन्दी का काम करते हैं। वे उसके मौलिक अधिकार है, जिन्हे राज्य समाप्त नही कर सकता, वस्तुत राज्य का काम उनकी रक्षा करना है। प्रो० डनिंग (Dunning) ने ठीक ही कहा है "व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न समाज के अधिकारो को ठीक उसी प्रकार मर्यादित करते हैं जिस प्रकार प्राकृतिक अवस्था मे एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार दूसरे व्यक्ति के अधिकारो को सीमित करते हैं।"

वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार ही बहुत सर्वव्यापी अधिकार है। उसके निर्माण मे भी राज्य का कोई हाथ नही, जब कि राज्य का विलोप हो सकता है उसका रूप तबदील किया जा सकता है, परन्तु वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार नही छीना जा सकता।

लॉक राज्य को वैयक्तिक अधिकारो का रखवाला बना उसे कोई नैतिक आधार नही देता और न ही उसे कोई नैतिक कर्तव्य ही सौंपता है। वह केवल मात्र पुलिस राज है।

आलोचना—लॉक के अनुवन्ध सिद्धान्त की अनेक प्रकार से आलोचना की गई है। लॉक ने जिस प्राकृतिक अवस्था का चित्रण किया है, वह ऐतिहासिक कसौटी पर खरी नही उतरती। प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य नैतिक नियमो का पालन करता है। उसका जीवन सुखी, सम्पन्न और विवेकपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति के पास सम्पत्ति है, जीवन यापन के अन्य साधन है। लोगो मे परस्पर मेल है, उनमे सहयोग की भावना काम करती है। इस प्रकार का सुनहरी चित्रण जिन्दगी के कठोर तथ्यो से मेल नही खाता। यदि यह मान लिया जाय कि वस्तुत यह स्थिति सत्य रूप मे रही है तो फिर राज्य-स्थापना की क्या आवश्यकता थी? ऐसी स्थिति की मौजूदगी वर्तमान समाज को नैतिक दृष्टि से गिरा हुआ साबित करती है, जो कि सत्य के सर्वथा विपरीत है।

लॉक का अनुवन्ध सिद्धान्त भी विश्वसनीय नही। प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य मे इतनी राजनीतिक चेतना कहाँ थी कि वह विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सहित शासनतन्त्र की कल्पना कर ले? लॉक के राज्य का नियामक तत्त्व व्यक्ति है, सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्ति। उसी की सुरक्षा का वह गुलाम है। उसका कोई नैतिक उद्देश्य नही। लॉक की राज्यविषयक व्याख्या बहुत ही सकुचित और त्रुटिपूर्ण है। राज्य केवल व्यक्तियों का ही समूह नही, वह बनावटी भी नही। वह हमारी स्वाभाविक आवश्यकताओ का परिणाम है। उसका काम केवल सुरक्षा का या रखवाली करना ही नही, उसका आधार नैतिक है, उसके उद्देश्य नैतिक हैं।

लॉक के अनुवन्ध-सिद्धान्त मे भी पर्याप्त त्रुटियाँ हैं। वह यह नही स्पष्ट कर पाता कि उस द्वारा प्रस्तुत सामाजिक समझौता समाज की स्थापना करता है या सरकार की।

लॉक के सिद्धान्त के अनुसार तो राज्य की स्थिति बडी दुविधापूर्ण तथा अस्थिर रहती है। व्यक्ति को या व्यक्तियो के एक समूह को यह पूर्ण अधिकार है

कि वह जब चाहे राज्य की आज्ञाओ को किन्ही भी आधारो पर अस्वीकार कर दें और राज्य को उलटा दें। इस प्रकार राज्य का जीवन सदा व्यक्ति की दया पर निर्भर होगा। मानव-जाति के इतिहास के उप.काल से लेकर अब तक ऐसे बहुत कम उदाहरण मिलेंगे जबकि राज्य की स्थापना केवल सहमति (Consent) के आधार पर हुई हो। आधुनिक राज्यो का आधार अनेक प्रकार के विभिन्न तत्त्व है।

लॉक द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक विधान तथा प्राकृतिक अधिकार की धारणाएँ भी दोषपूर्ण हैं। वे न तो इतिहास के आधार पर ही और न दर्शन के आधार पर ही ठीक उतरती हैं। अधिकारो की व्यवस्था समाज से बाहर या समाज से पहले सर्वथा भ्रामक और अयथार्थ है।

इन कमियो के होते हुए भी हम लॉक के व्यापक प्रभाव की उपेक्षा नही कर सकते। यह ठीक है कि लॉक मे मौलिकता की कमी है, यह भी ठीक है कि उसमे हॉब्स जैसी निर्मम तार्किकता भी नहीं, तथापि यह अस्वीकार नही कर सकते कि उसके विचार राजनीति शास्त्र मे विशेष महत्त्व रखते हैं। **उसकी सबसे बड़ी देन है व्यक्ति के अधिकारों की महत्ता, लोक सम्मत्त प्रभुता (Popular sovereignty) का सिद्धान्त तथा प्राकृतिक अधिकारो की व्याख्या। लॉक वस्तुतः लोकतन्त्र का दार्शनिक है। उसके सिद्धान्त प्रजातत्र के जनक हैं।** हॉब्स की तरह उसके सिद्धान्त अपने समय के प्रतिकूल नही थे। लॉक के सिद्धान्त जिस उद्देश्य के प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत किये गये थे उसमे सफल हुए।

लॉक के विचारो के आधार पर ही मॉण्टेस्क्यू ने अपने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का निर्माण किया। इग्लैण्ड के उपयोगितावादी दर्शन का सूत्रपात भी एक दृष्टि से लॉक ने ही किया था। बैन्थम की उपयोगितावादी नीति (Utilitarian theory) के बीज लॉक के दर्शन मे मिल जाते हैं। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के जनक रूसो के विचार लॉक से बहुत प्रभावित थे। यही नही, अमेरिकन सविधान के जनक भी लॉक के व्यक्तिवादी दर्शन से बहुत प्रभावित हुए।

इस प्रकार हॉब्स की अपेक्षा लॉक का प्रभाव बहुत व्यापक रहा। आज भी हम चाहे लॉक के सिद्धान्त को मानें या न माने परन्तु इतना अवश्य मानते हैं कि किसी भी उच्च तथा प्रगतिशील राज्य-व्यवस्था का आधार जनता की सहमति (Consent) ही हो सकती है।

४४. रूसो (Rousseau)

हॉब्स तथा लॉक की भाँति रूसो भी अपने युग की देन है। उसका दर्शन, उसकी विचारधारा अपने युग की सम्पूर्ण विषमताओं का प्रतिनिधित्व करती है। रूसो अपने युग मे रहता हुआ भी अपने युग की विचारधाराओं का ही गुलाम नहीं रहा। उसने कल्पना के बल पर बहुत लम्बी उडान की। वस्तुत. वह दार्शनिक की अपेक्षा साहित्यिक अधिक था, उसका दर्शन कल्पनात्मक काव्य अधिक हो गया है। उसमें हॉब्स, लॉक तथा ह्यूम जैसी तार्किकता नही। वह भावुक है और बुद्धिवाद का

विरोधी। परन्तु अपनी स्वाभाविक चेतना के आधार पर उसने ऐसे विचारो का प्रतिपादन किया है जो कि हॉब्स और लॉक के विचारो से किसी प्रकार भी कम महत्त्व-पूर्ण नही।

उसके सिद्धान्त भ्रान्त धारणाओ, परस्पर विरोधी विचारो और विषमताओ से भरे पडे हैं, फिर भी वे हॉब्स और लॉक दोनो से ही अधिक प्रभावोत्पादक और लोकप्रिय सिद्ध हुए। उसके विचारो का प्रभाव केवल फ्रांस या यूरोप तक ही सीमित नही रहा अपितु सुदूर अमेरिका तक पहुँचा। फ्रास की राज्य-क्रान्ति का तो वह जनक माना जाता है। वर्तमान युग की प्रजातन्त्रवाद और व्यक्तिवाद की विचारधाराओ को भी उसने पर्याप्त सीमा तक निर्धारित किया। जर्मनी के आदर्शवादी विचारक काण्ट और हीगल अपने वहुत से विचारो के लिए रूसो के ऋणी है।

अपने राजनीतिक विचारो मे रूसो हॉब्स, लॉक तथा मॉन्तेस्क्यू के अतिरिक्त प्राचीन यूनानी और रोमन विचारको से भी पर्याप्त प्रभावित हुआ। प्राचीन यूनान के कल्पनावादी विचारक प्लेटो से तो उसने वहुत कुछ सीखा। प्राचीन यूनान की प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की शासन-व्यवस्था को वह आदर्श मानता था। ग्रोशियस और पफण्डोर्फ के राजनीतिक विचारो ने भी उसे प्रभावित किया।

मनुष्य स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था—सभी अनुवन्धवादी विचारको की तरह रूसो ने भी मनुष्य-स्वभाव और राज्य-विहीन प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) का विवेचन किया है। रूसो हॉब्स के विपरीत मानव-स्वभाव का सामाजिक, शान्तिप्रिय और परोपकारी मानता है। मनुष्य वुराई का शिकार हो सकता है, परन्तु यह वुराई उसका स्वभाव नही। यह वाह्य वस्तु है और इसे हटाया जा सकता है।

प्राकृतिक अवस्था के वर्णन मे रूसो हॉब्स की अपेक्षा लॉक के अधिक निकट है। राज्य-स्थापना से पहले जो अराजक स्थिति थी वह आदर्श थी, सव प्रकार से पूर्ण थी और सामाजिक अनुवन्ध के वाद स्थापित सामाजिक अवस्था से कही अधिक अच्छी थी। अपनी पुस्तक *'The Origin of Inequality'* मे इस राज्य-हीन अवस्था का उसने वहुत सुन्दर मनमोहक चित्र प्रस्तुत किया है। परन्तु रूसो सदा ही इन विचारो पर स्थिर नही रहा, एतद्विषयक उसके विचार वदलते रहे हैं।

रूसो के अनुसार राज्य की स्थापना से पूर्व प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य वहुत सुखी था। उसे कोई चिन्ता नही थी, वह वनो मे रह कन्द-मूल खा अपना जीवन विताता। वस्त्र का उसे ध्यान नही था, शिकार मे मारे जानवरो का खालें पहनकर रहता था या फिर वस्त्र-हीन ही घूमता। भाषा का ज्ञान उसे नही था, न ही उसने कभी कुछ सोचा ही। उसका जीवन अधिकतर भावनाओ और मूल प्रेरणाओ (Primary instincts) पर ही आधारित होता था। वह सव प्रकार से आत्म-निर्भर, सन्तुष्ट और प्रसन्न था। इस प्रकार रूसो का प्राकृतिक मनुष्य एक विवेक-हीन भद्र वनचारी (Noble savage) था।

परन्तु यह आदर्श राज्य-हीन अवस्था बहुत दिन न टिक सकी, अनेक कारणों से इसका विलोप हो गया। जनसंख्या की वृद्धि, वैयक्तिक सम्पत्ति की व्यवस्था के विकास और मनुष्य मे विवेक-बुद्धि के पैदा होने के साथ ही यह सुनहली अवस्था खत्म हो गई। स्थायी परिवार व्यवस्था के जन्म के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का जन्म हुआ। श्रम-विभाजन (Division of labour) की व्यवस्था समाज का एक स्थायी और निश्चित रूप बन गई। कृषि-व्यवस्था का विकास हुआ और इस प्रकार भू-सम्पत्ति का जन्म हुआ। समानता खत्म हो गई, लोगो मे भेदभाव बढ गये, अमीर और गरीब के वर्ग बन गये, 'मेरी और तेरी' की भावना का विकास हुआ और इस प्रकार अशान्ति और अव्यवस्था फैल गई।

रूसो का यह विवेचन ऐतिहासिक नही कल्पनात्मक है। यद्यपि यह अवश्य स्वीकार किया जाता है कि हॉब्स तथा लॉक की अपेक्षा रूसो का प्राकृतिक अवस्था का वर्णन तथ्य के अधिक निकट है। हॉब्स तथा लॉक के विपरीत उसने सामाजिक विकास मे मनुष्य की तर्क-बुद्धि (Reason) को कतई महत्त्व नही दिया, वह उसे प्राकृतिक मनुष्य के स्वभाव का तत्त्व ही स्वीकार नही करता।

समझौता तथा राज्य की उत्पत्ति—इस प्रकार इस कष्टपूर्ण अराजक स्थिति को समाप्त करने के लिए राज्य संस्था की आवश्यकता अनुभव की गई। रूसो के सामने मुख्य प्रश्न वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकार का सामाजिक व्यवस्था और नियन्त्रण के साथ मेल बिठाना था। उसे यह सिद्ध करना था कि सामाजिक व्यवस्था वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षक और पोषक है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अनुबन्ध सिद्धान्त का आश्रय लिया गया। अनुबन्ध द्वारा मनुष्य स्वेच्छापूर्वक राज्य का निर्माण करते हैं। रूसो के मतानुसार सभी व्यक्तियो की सहमति राज्य-व्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक है क्योकि सहमति (Consent) पर आधारित राज्य-सत्ता ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षक और पोषक हो सकती है।

अनुबन्ध द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाधीनता तथा अधिकार समाज को सौंप देता है। समाज व्यक्तियो से ही मिलकर बना है अत व्यक्ति इसका अग बनकर उसे पुन. प्राप्त कर लेता है। रूसो के शब्दो मे—"हम मे से प्रत्येक अपने व्यक्तित्व तथा अपनी सभी शक्तियों को सामान्य इच्छा को सौंप देता है और अपनी सामूहिक सत्ता के रूप मे हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण शक्ति का अविभाज्य अग मानते हैं।"[1] व्यक्ति राज्य को अपने सम्पूर्ण अधिकार सौंप देता है, अपने पास कुछ भी नही रखता, और क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार समाज को सौंपता है, इस कारण सभी अपनी स्थिति मे बराबर हो जाते हैं। व्यक्ति ही सामूहिक रूप से समाज का निर्माण करते

---

1. "Each of us (men) puts his person and all his natural power in common under the supreme direction of the general will and, in our corporate capacity, we receive each member as an indivisible part of the whole "—*Rousseau*

है इस कारण वह इस सामूहिक शक्ति के बराबर साझीदार हैं। उसके अधिकार उसके पास रहते हैं। परन्तु वह उसकी वैयक्तिक स्थिति के फल नही अपितु उसकी नागरिकता के फल है। समाज-स्थापना से पूर्व उनकी रक्षा की जिम्मेदारी किसी पर नहीं थी परन्तु अब उनकी समाज द्वारा रक्षा की जाती है। इस प्रकार रूसो के तर्क से यह सिद्ध हुआ, क्योंकि राज्य व्यक्ति की सहमती (Consent) पर आधारित है और राज्य-शक्ति का प्रत्येक व्यक्ति बराबर का साझीदार है अत उसकी स्वतन्त्रता और उसके अधिकार सर्वथा सुरक्षित है।

समझौता व्यक्तियो के वैयक्तिक और सामाजिक स्वरूप के बीच होता है। क, ख, ग इत्यादि व्यक्ति मिलकर एक ऐसे समुदाय का निर्माण करते हैं जिसके अग क, ख, ग हैं। अत क, ख, ग इत्यादि व्यक्तियो ने ही अपने सामूहिक रूप समाज को अपने अधिकार सौपे।

इस प्रकार रूसो एक ओर जहाँ हॉब्स का अनुसरण करता हुआ असीम प्रभुत सम्पन्न राज्य की सृष्टि करता है, दूसरी ओर लॉक के पथ का अनुसरण कर इस प्रभुता को वह प्रजा मे निहित करता है। राज्य-सत्ता वस्तुत जन-सत्ता ही है। राज्य-सत्ता का प्रयोग जनता के हित मे होता है और जनता की सहमति से होता है।

सामान्य इच्छा (General Will)—रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त (Theory of General will) राजनीति शास्त्र को उसकी सबसे बडी देन है। इस सिद्धान्त ने वर्तमान युग की राजनीतिक विचारधारा को बहुत प्रभावित किया है। नूतन आदर्शवादी काण्ट, हीगल, ग्रीन, ब्रेडले तथा बोसाके इत्यादि सभी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का किसी-न-किसी रूप मे अनुसरण करते हैं।

ऊपर हम देख चुके हैं कि अनुबन्ध (Contract) के परिणामस्वरूप जिस समूह का सगठन हुआ वह अपने स्वरूप और सगठन मे असाधारण है। वह अपनी इच्छा और व्यक्तित्व से युक्त है। यह इच्छा क्या है ? यह सामान्य इच्छा (General will) है और राज्य की सम्पूर्ण शक्तियो का स्रोत है। परन्तु इस सामान्य इच्छा (General will) का स्वरूप क्या है ? इसका समझना जरूरी है।

सामान्य इच्छा (General will) समाज की इच्छा (Will) है, परन्तु न ही तो वह 'सबकी इच्छा' (Will of all) है, और न ही वह 'बहुमत की इच्छा' (Will of majority) है। सामान्य इच्छा समाज की वह नैतिक इच्छा है जो सबके हित मे होती है।

सामान्य इच्छा (General will) के इस नैतिक रूप को समझने के लिए हमे रूसो द्वारा किये गये मनुष्य की भावनाप्रधान इच्छा (Actual will) तथा यथार्थ इच्छा (Real will) के भेद को समझ लेना चाहिए। रूसो के अनुसार प्रत्येक मनुष्य की इच्छा के दो रूप हैं। उसकी भावनाप्रधान इच्छा (Actual will) अविवेकपूर्ण, अस्थिर, स्वार्थपरक, सकुचित और आत्मविरोधी होती है। भावनाप्रधान इच्छा (Actual will) समाज हित की बजाय वैयक्तिक हित का ही ध्यान रखती है, इसका आधार वैयक्तिक स्वार्थ है।

इसके विपरीत यथार्थ इच्छा (Real will) का आधार तर्क-बुद्धि, समाज-हित तथा विचारपूर्ण चिन्तन है। यह आदर्श और नैतिक इच्छा है। यह वैयक्तिक हित और सामाजिक हित मे समरसता (Harmony) स्थापित करती है। यह अस्थायी नही, यह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का हित सोचती है। यथार्थ इच्छा ही मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता का आधार है।

सामान्य इच्छा समाज के व्यक्तियो की इन्ही वास्तविक इच्छाओ का समन्वय (Synthesis) है। इस प्रकार सामान्य इच्छा का आधार व्यक्तियो के उच्चतम गुण, उनकी उच्चतम नैतिकता है। समाज अपने स्वरूप मे नैतिक इसी कारण है, क्योकि वह इस नैतिक और आदर्श इच्छा से युक्त है।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के परिणाम—

(१) मनुष्य की तरह राज्य भी सावयविक (Organic) है।

(२) सावयविक राज्य का स्वरूप नैतिक है और वह अपने व्यक्तित्व और इच्छा से युक्त है।

(३) सबके हित के साथ वैयक्तिक हित का सयोग स्थापित करने वाली सामान्य इच्छा कानून और विधान का अन्तिम स्रोत है।

(४) विराट् सामान्य इच्छा व्यापक रूप से न्यायशील होगी।

(५) समाज के सम्पूर्ण नागरिक सामान्य इच्छा के अन्तर्गत आ जाते हैं। अत सामान्य इच्छा व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के स्वरूप की न्याय के आधार पर परीक्षा कर सकती है।

(६) सामान्य इच्छा सदा ही जनहित मे होती है।

सामान्य इच्छा (General will) की कुछ अपनी विशेषताएँ है। सर्वप्रथम, क्योकि सामान्य तर्क-बुद्धि पर आधारित है, उनमे आत्मविरोध नही, अत. वह ऐक्यकारी है। वह अविच्छेद्य है, क्योकि यदि उसे विभाजित कर दिया जाय तो वह सामान्य इच्छा न रहकर वर्गीय या दलीय इच्छा हो जायगी। सामान्य इच्छा स्थायी है, क्षणभगुर नही, न ही उसमे परिवर्तन की कभी कोई गुजाइश है, वह तर्क-बुद्धि पर आधारित है और सदा जनहित मे है अत उसका ऐसा होना असम्भव नही। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने जीवन को देकर जीवित नही रह सकता उसी प्रकार सामान्य इच्छा भी किसी को सौंपी नही जा सकती।

रूसो के अनुसार राजकीय प्रभुता का निवास-स्थान सामान्य इच्छा है। अत उसके मतानुसार प्रभुता असीम, अविभाज्य, अमर्यादित, शाश्वत, व्यापक तथा अविच्छेद्य और परम पूर्ण है। हॉब्स तथा रूसो के प्रभुता विषयक विचारो मे साम्य है। हॉब्स की भाँति रूसो को प्रभुता (Sovereignty) भी असीम शक्ति-सम्पन्न है। परन्तु रूसो की प्रभुता का अन्तिम स्रोत जनमत है, वह उसे हॉब्स की तरह किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियो के समूह मे नही रखता अपितु सम्पूर्ण जनता को ही इसका साझीदार बना देता है। दूसरा, हॉब्स राज्य और सरकार मे भेद नही कर पाता, परन्तु रूसो सरकार को राज्य का केवल एजेण्ट मात्र मानता है और उसे

लाक की भांति केवल निश्चित अधिकार सौंपता है। इस प्रकार रूसो, हॉब्स तथा लॉक दोनों के दर्शन के गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है

आलोचना—रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना अनेक प्रकार से की गई है। सर्वप्रथम तो उसका यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा त्रुटिपूर्ण है। यह अमूर्त्त और सकीर्ण है। व्यवहार मे सामान्य इच्छा का 'सबकी इच्छा' से भेद कैसे किया जा सकता है ? सामान्य इच्छा न तो सब की इच्छा ही है न वह बहुमत की इच्छा है और न ही अल्पमत की। सामान्य इच्छा का आधार सामान्य इच्छा स्वय ही है। व्यावहारिक रूप मे सामान्य इच्छा केवल बहुमत की इच्छा मात्र ही बनकर रह जाती है।

सामान्य इच्छा का आधार भावप्रधान इच्छा (Actual will) और यथार्थ इच्छा (Real will) के विभाजन पर आधारित है जो सर्वथा भ्रामक और अवैज्ञानिक है। रूसो के अनुसार हमारी इच्छा का वह अश जो कि जन-हित के पक्ष मे है वास्तविक है और दूसरा अवास्तविक। वैयक्तिक इच्छा का ऐसा विभाजन सम्भव नही। हमारी वास्तविक और अवास्तविक इच्छाएँ दोनो ही हमारे व्यक्तित्व का अखण्ड भाग है, वह सम्पूर्ण इकाई (unit) है।

फिर सामान्य इच्छा का आधार 'सामान्य हित' और नैतिकता है। 'सामान्य हित' के स्वरूप का निर्धारण कर सकना असम्भव है। वह परिस्थितियो और व्यक्तियो के साथ बदलता रहता है। आज के 'जनहित' की कल्पना भविष्य मे निरर्थक हो सकती है। मेरी 'जनहित' की परिभाषा आप से भिन्न हो सकती है। 'जनहित' की दुहाई देकर राज्य बडे से बडा अत्याचार कर सकता है।

रूसो की असीम अधिकारसम्पन्न प्रभुता की धारणा बहुत खतरनाक है। उसका परिणाम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का विनाश होगा। सामान्य इच्छा सदा ठीक होती है, वह सदा जनहित मे होती है और वह व्यक्ति की उच्चतम आदर्श तथा नैतिक इच्छा पर आधारित होती है। ऐसी अवस्था मे व्यक्ति के लिए राज्य के आदेश का पालन उसका राजनीतिक ही नही अपितु नैतिक कर्तव्य है। और जो व्यक्ति राजकीय कानूनो को तोडता है, वह अपनी नैतिक इच्छा के और अपने हित के विरुद्ध जाता है। ऐसी अवस्था मे यदि राज्य व्यक्ति पर बल प्रयोग करता है तो वह उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण न कर उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता को बढाता है। इस प्रकार रूसो के इस सिद्धान्त का परिणाम राज्य की परले दर्जे की निरकुशता की स्थापना होगा। हॉब्स ने तो केवल वैधानिक रूप से राज्य की असीम शक्ति को उचित ठहराया, परन्तु रूसो के सिद्धान्त के अनुसार वैधानिक तौर पर ही नही बल्कि नैतिक रूप से भी राज्य की अनिश्चित शक्ति सर्वथा उचित समझी जायगी। रूसो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का राज्य अधिकार के साथ सामरस्य (Harmony) स्थापित करना चाहता था, परन्तु अनजान मे ही वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता को राज्याधिकार की वेदी पर बलि चढा देता है।

हीगल, बोसाके तथा ब्रेडले इत्यादि नूतन आदर्शवादियो ने रूसो के सामान्य

इच्छा के सिद्धान्त के इसी पक्ष के आधार पर ही, निरकुश राज्य-शासन का समर्थन किया है। बाद के फासिस्ट राज्यो ने जन-हित के नाम पर ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके अधिकारो का जबरदस्ती अपहरण किया।

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बडे-बडे राज्यो पर लागू नही हो सकता। आज की अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली भी इसके लिए उपयुक्त नहीं, उसका आदर्श प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र शासन प्रणाली है, जिसकी मौजूदगी छोटे-छोटे नगर-राज्यो मे ही मुमकिन है, राष्ट्रीयता के आधार पर आधारित बडे राज्यो मे नहीं।

रूसो के दर्शन की अनेक अन्य आधारो पर भी आलोचना की जाती है। उसके विचारो मे असगति और आत्मविरोध की भरमार है। प्रारम्भ मे तो वह बडे जोरदार शब्दो मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन करता है, परन्तु अन्त मे वह व्यक्ति को समाज का और उसकी सामान्य इच्छा का दास बना देता है।

रूसो मे मौलिकता का अभाव है, परन्तु दूसरो की बात को अपना बनाकर कहने मे वह बहुत चतुर है। रूसो की राज्य के कानून (State-Law) की परिभाषा अनुबन्ध की व्याख्या तथा प्रभुता की धारणा भी त्रुटिपूर्ण है।

परन्तु उपर्युक्त आलोचना के बावजूद भी हम रूसो की राजनीतिक देन तथा उसके प्रभाव की व्यापकता की उपेक्षा नही कर सकते। प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् रूसो ही सर्वप्रथम राजनीति विचारक था जिसने राज्य को नैतिक स्वरूप प्रदान किया और उसे मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का फल माना। ग्रोशियस, हॉब्स तथा लॉक इत्यादि सभी ने राज्य को एक अप्राकृतिक परन्तु आवश्यक यन्त्र मान उसे व्यक्ति के अधिकार और उसकी सुरक्षा का गुलाम बना दिया। परन्तु रूसो प्लेटो के दर्शन का अनुसरण करता हुआ राज्य को उच्चतम नैतिक संस्था मानता है। रूसो के आदर्श का अनुसरण करते हुए ही टी० एच० ग्रीन ने कहा था—"शक्ति नहीं बल्कि इच्छा राज्य का आधार है।"[1]

रूसो ने ही राज्य के जन-कल्याणकारी रूप की स्थापना की, राज्य और सरकार में स्पष्ट भेद निर्देशित किया, राज्य के राष्ट्रीयता के आधार की पुष्टि की और प्रजातन्त्र की नीव रखने मे बहुत सहायता की। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसकी सुरक्षा, रूसो के सामने यही प्रमुख उद्देश्य थे, और जितना व्यापक और शक्तिपूर्ण समर्थन रूसो ने इन का किया उतना शायद ही अन्य किसी ने किया हो। रूसो के विचारो के प्रभाव की व्यापकता का हम पीछे उल्लेख कर आये हैं। वस्तुत वर्तमान युग की बहुत कम ऐसी विचारधाराएँ हैं जो कि रूसो के प्रभाव से रहित हो।

४५. हॉब्स, लॉक तथा रूसो

ऊपर हमने इन तीनो दार्शनिको की विचारधाराओ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन तीनो मे समानताएँ भी हैं और अन्तर भी। रूसो हॉब्स तथा लॉक

1. "Will, not force, is the basis of the State"—*T.H Green.*

लॉक की भाँति केवल निश्चित अधिकार सौंपता है। इस प्रकार रूसो, हॉब्स तथा लॉक दोनो के दर्शन के गुणो को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है

आलोचना—रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना अनेक प्रकार से की गई है। सर्वप्रथम तो उसका यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा त्रुटिपूर्ण है। यह अमूर्त्त और सकीर्ण है। व्यवहार मे सामान्य इच्छा का 'सवकी इच्छा' से भेद कैसे किया जा सकता है ? सामान्य इच्छा न तो सव की इच्छा ही है न वह वहुमत की इच्छा है और न ही अल्पमत की। सामान्य इच्छा का आधार सामान्य इच्छा स्वय ही है। व्यावहारिक रूप मे मामान्य इच्छा केवल वहुमत की इच्छा मात्र ही वनकर रह जाती है।

सामान्य इच्छा का आधार भावप्रधान इच्छा (Actual will) और यथार्थ इच्छा (Real will) के विभाजन पर आधारित है जो सर्वथा भ्रामक और अवैज्ञानिक है। रूसो के अनुसार हमारी इच्छा का वह अश जो कि जन-हित के पक्ष मे है वास्तविक है और दूसरा अवास्तविक। वैयक्तिक इच्छा का ऐसा विभाजन मम्भव नही। हमारी वास्तविक और अवास्तविक इच्छाएँ दोनो ही हमारे व्यक्तित्व का अखण्ड भाग हैं, वह सम्पूर्ण इकाई (unit) है।

फिर सामान्य इच्छा का आधार 'सामान्य हित' और नैतिकता है। 'सामान्य हित' के स्वरूप का निर्धारण कर सकना असम्भव है। वह परिस्थितियो और व्यवितयो के साथ वदलता रहता है। आज के 'जनहित' की करपना भविष्य मे निरर्थक हो सकती है। मेरी 'जनहित' की परिभाषा आप से भिन्न हो मकती है। 'जनहित' की दुहाई देकर राज्य वडे से वडा अत्याचार कर सकता है।

रूसो की असीम अधिकारसम्पन्न प्रभुता की धारणा वहुत खतरनाक है। उसका परिणाम व्यवित-स्वातन्त्रय का विनाश होगा। सामान्य इच्छा सदा ठीक होती है, वह सदा जनहित मे होती है और वह व्यवित की उच्चतम आदर्श तथा नैतिक इच्छा पर आधारित होती है। ऐसी अवस्था मे व्यवित के लिए राज्य के आदेश का पालन उसका राजनीतिक ही नही अपितु नैतिक कर्तव्य है। और जो व्यक्ति राजकीय कानूनो को तोडता है, वह अपनी नैतिक इच्छा के और अपने हित के विरुद्ध जाता है। ऐसी अवस्था मे यदि राज्य व्यक्ति पर वल प्रयोग करता है तो वह उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण न कर उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता को वढाता है। इस प्रकार रूसो के इस सिद्धान्त का परिणाम राज्य की परले दर्जे की निरकुशता की स्थापना होगा। हॉब्स ने तो केवल वैधानिक रूप से राज्य की असीम शक्ति को उचित ठहराया, परन्तु रूसो के सिद्धान्त के अनुसार वैधानिक तौर पर ही नही वल्कि नैतिक रूप से भी राज्य की अनिश्चित शवित सर्वथा उचित समझी जायगी। रूसो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का राज्य अधिकार के साथ सामरस्य (Harmony) स्थापित करना चाहता था, परन्तु अनजान मे ही वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता को राज्याधिकार की वेदी पर वलि चढा देता है।

हीगल, वोसाके तथा ब्रेडले इत्यादि नूतन आदर्शवादियो ने रूसो के सामान्य

इच्छा के सिद्धान्त के इसी पक्ष के आधार पर ही, निरंकुश राज्य-शासन का समर्थन किया है। बाद के फासिस्ट राज्यो ने जन-हित के नाम पर ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके अधिकारो का जबरदस्ती अपहरण किया।

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बडे-बडे राज्यों पर लागू नही हो सकता। आज की अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली भी इसके लिए उपयुक्त नही, उसका आदर्श प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र शासन प्रणाली है, जिसकी मौजूदगी छोटे-छोटे नगर-राज्यो मे ही मुमकिन है, राष्ट्रीयता के आधार पर आधारित बडे राज्यो मे नही।

रूसो के दर्शन की अनेक अन्य आधारो पर भी आलोचना की जाती है। उसके विचारो मे असगति और आत्मविरोध की भरमार है। प्रारम्भ मे तो वह बडे जोरदार शब्दो मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन करता है, परन्तु अन्त मे वह व्यक्ति को समाज का और उसकी सामान्य इच्छा का दास बना देता है।

रूसो मे मौलिकता का अभाव है, परन्तु दूसरो की बात को अपना बनाकर कहने मे वह बहुत चतुर है। रूसो की राज्य के कानून (State-Law) की परिभाषा अनुबन्ध की व्याख्या तथा प्रभुता की धारणा भी त्रुटिपूर्ण है।

परन्तु उपर्युक्त आलोचना के बावजूद भी हम रूसो की राजनीतिक देन तथा उसके प्रभाव की व्यापकता की उपेक्षा नही कर सकते। प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् रूसो ही सर्वप्रथम राजनीति विचारक था जिसने राज्य को नैतिक स्वरूप प्रदान किया और उसे मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का फल माना। ग्रोशियस, हॉब्स तथा लॉक इत्यादि सभी ने राज्य को एक अप्राकृतिक परन्तु आवश्यक यन्त्र मान उसे व्यक्ति के अधिकार और उसकी सुरक्षा का गुलाम बना दिया। परन्तु रूसो प्लेटो के दर्शन का अनुसरण करता हुआ राज्य को उच्चतम नैतिक संस्था मानता है। रूसो के आदर्श का अनुसरण करते हुए ही टी० एच० ग्रीन ने कहा था—"शक्ति नहीं बल्कि इच्छा राज्य का आधार है।"[1]

रूसो ने ही राज्य के जन-कल्याणकारी रूप की स्थापना की, राज्य और सरकार मे स्पष्ट भेद निर्देशित किया, राज्य के राष्ट्रीयता के आधार की पुष्टि की और प्रजातन्त्र की नीव रखने मे बहुत सहायता की। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उनकी सुरक्षा, रूसो के सामने यही प्रमुख उद्देश्य थे, और जितना व्यापक और शक्ति-पूर्ण समर्थन रूसो ने इन का किया उतना शायद ही अन्य किसी ने किया हो। रूसो के विचारो के प्रभाव की व्यापकता का हम पीछे उल्लेख कर आये है। वस्तुत वर्तमान युग की बहुत कम ऐसी विचारधाराएँ हैं जो कि रूसो के प्रभाव से रहित हो।

४५. हॉब्स, लॉक तथा रूसो

ऊपर हमने इन तीनो दार्शनिको की विचारधाराओ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन तीनो मे समानताएँ भी हैं और अन्तर भी। रूसो हॉब्स तथा लॉक

1 "Will, not force, is the basis of the State"—*T.H Green.*

दोनो से ही प्रभावित है। वह हॉब्स के अनुबन्ध-सिद्धान्त को मानता है तथा उसके अनुसार ही राज्य को असीम प्रभुता (Sovereign power) प्रदान करता है। दूसरी ओर वह लॉक का अनुसरण करता हुआ प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करता है, सरकार और राज्य मे भेद करता है और प्रभुता को जन-सत्ता बनाकर हॉब्स के प्रभु का सिर ही काट डालता है।[1] लॉक तथा रूसो ने सरकार को सीमित अधिकार ही दिए हैं, परन्तु हॉब्स ने ऐसा नही किया। रूसो और लॉक दोनो ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को महत्त्व देते हैं और उसकी सुरक्षा के लिए प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु हॉब्स राज्य को सर्वथा निरकुश शक्ति प्रदान कर व्यक्ति के अधिकारो को सर्वथा राज्य के अधीन कर देता है। परन्तु लॉक और रूसो मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। रूसो व्यक्ति के जीवन के नागरिक पक्ष पर अधिक बल देता है जब कि लॉक, और हॉब्स भी, उसके वैयक्तिक पक्ष पर।

Important Questions

	Reference
1 Examine the views of Hobbes and Rousseau on the origin of the State and the nature of Sovereignty (*U P 1953*)	Arts 42, 44 and 45
2 Examine the Doctrine of Social Contract as expounded by Hobbes and Locke How far does it furnish the true origin of the State? (*Pb 1948*)	Arts 42 and 43
3 How do Hobbes, Locke and Rousseau differ from one another in their interpretations of the social contract theory and its implications? (*Ag 1940, Cal 1950, 51, Punjab 1938*)	Arts 42, 43, 44 and 45
4 "Rousseau tries to combine the theories of Hobbes and Locke" Elucidate	Arts 44 and 45

---

1 "Rousseau's sovereign is Hobbes' Leviathan with its head chopped off"

राज्य का विकास

(EVOLUTION OF STATE)

४६ राज्य का विकासशील स्वरूप

पीछे हम राज्योत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तो का विवेचन कर आए है और यह देख चुके है कि उनमे से कोई भी एक अपने आप मे पूर्ण नही। राज्य न ही तो अप्राकृतिक है और न ही किसी निश्चित समय या काल मे निर्मित किया गया है। शताब्दियो के विकास के अनन्तर अनेक स्थितियो को पार करता हुआ राज्य अपनी वर्तमान स्थिति मे पहुँच सका है। इस विकास-काल मे अनेक तत्वो ने राज्य-निर्माण मे सहयोग दिया। हमारी स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति, रुधिर सम्बन्ध, धर्म तथा राजनीतिक चेतना इनमे विशेष महत्व के है।

राज्य एक विकासशील सस्था है, यह बात तो सभी मानते है। परन्तु यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि इस विकास का स्वरूप क्या रहा है। न तो राज्य की उत्पत्ति ही एक प्रकार से हुई और न उसका विकास निश्चित क्रमागत रूप से हुआ। प्राकृतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के विभेद के कारण विभिन्न स्थानो पर विभिन्न रूपो मे राज्योत्पत्ति हुई। परिणामस्वरूप परिस्थिति तथा काल-भेद के अनुसार राज्य का जन्म विभिन्न रूपो मे हुआ। उनके शासकीय और वैधानिक रूप भी देश तथा काल-भेद के अनुसार एक दूसरे के अनुरूप नही। ऐसी स्थिति मे राज्य विकास का एक निश्चित और क्रमागत रूप निर्धारित कर सकना कठिन है। हमे विकास के इस सम्पूर्ण इतिहास मे एक निश्चित रूप-रेखा का अभाव मिलेगा। हम यह नही कह सकते कि सभी राज्यो ने राज्य-विकास की एक-सी ही स्थिति पार की है। परन्तु फिर भी साधारण रूप से वर्तमान काल के राष्ट्रीय राज्य (National State) को जिन स्थितियो को पार करना पडा और विभिन्न रूपो को ग्रहण करना पडा उनका एक निश्चित क्रम हम इस प्रकार रख सकते हैं—

आदिवासी राज्य (The Tribal State)
पूर्वी साम्राज्य (The Oriental Empire)
ग्रीक नगर राज्य (The Greek City State)
रोमन विश्व साम्राज्य (The Roman World Empire)
सामन्त राज्य (The Feudal State)
आधुनिक राष्ट्रीय राज्य (The National State)

४७. आदिवासी राज्य (The Tribal State)

राज्य का प्रारम्भिक रूप बहुत सरल था, उनमे आज की सी जटिलता नही

४६. ग्रीक नगर-राज्य (The Greek City State)

राज्य विकास की दूसरी स्थिति ग्रीक नगर-राज्य हैं। यूरोप मे जाकर वसे आर्यो ने एजीअन (Aegean) तथा भूमध्य सागर के तटो पर छोटे-छोटे नगर-राज्यो की स्थापना की जिन द्वारा राजनीतिक सत्ता का एक नवीन और युग-विघायक रूप हमारे सम्मुख आया।

इन प्रदेशो की भौगोलिक स्थिति एशियायी साम्राज्यो से पर्याप्त भिन्न थी। यूनान, जहाँ कि नगर-राज्यो के विभिन्न रूपो का विकास हुआ, पर्वतो और समुद्र के कारण अनेक घाटियो और द्वीपो मे बँटा हुआ है। जलवायु समशीतोष्ण है, उपज विविध और वहुरगी है। समुद्र के कारण एशियायी आक्रमण से पूर्ण सुरक्षा थी, साथ ही समुद्र ने इन नगर-राज्यो के व्यापारिक मार्गो को खोल दिया। देश के अन्तर्गत न तो वडे-वडे पहाड थे, न ही वडी-वडी नदियाँ थी। अन्य प्राकृतिक वाधाओ की भी अनुपस्थिति थी। इस रूप मे वहुमुखी सभ्यता का विकास वडी सुविधा से इन प्रदेशो मे हो सका। पशुपालक खानावदोशो तथा कृपक जातियो दोनो की ही खूवियाँ सामुद्रिक यूनानी लोगो मे मिल जाती थी उनमे इसी कारण गतिशीलता थी। धर्म के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सकुचित और परम्परावादी नही था, उनका धर्म प्राकृतिक था, जीवन का दृष्टिकोण भी ऐसा ही था। देवताओ से उन्हे विशेष भय नही था।

पितृ-सत्ताक कवीलो ने मिलकर पहाड की तलहटियो मे गाँव वसाए और सुरक्षा के लिए रक्त सम्वन्धो की एकता या वशगत एकता को छोड प्रादेशिक प्रेम (Local patriotism) को जन्म दिया। यही भावना यूनानी नगर राज्यो की प्रारम्भिक शक्ति का मुख्य कारण थी।

इस अवस्था मे यूनान के विभिन्न नगर राज्यो मे विविध राजनीतिक सगठनो का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ मे कुलीनतन्त्र (Aristocracy) कुछ मे राजतन्त्र तो कुछ मे प्रजातन्त्र (Democracy) का प्रचलन था। केवल स्पार्टा ही अपने राज्य सगठन मे अपरिवर्तनशील और रूढिवादी रहा। एथेन्स मे प्रजातन्त्र का प्रचलन था और यही प्लेटो और अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीतिक मसलो पर गम्भीर विचार किया।

प्राचीन ग्रीक राजनीतिक विचारको ने राज्य और समाज मे कभी कोई अन्तर नही किया। उन्होने मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को राज्य के अन्तर्गत ही शामिल किया है और उसे मनुष्य की सस्कृति, सभ्यता, विचार और दर्शन, कला और साहित्य सभी के विकास का परमावश्यक साधन माना है। यूनानी विचारको ने वैयक्तिक जीवन की उच्चता तथा पूर्णता राज्य के अन्तर्गत मानी है, उससे वाहर नही। व्यक्ति और राज्य के सम्वन्ध अटूट समझे जाते थे। नागरिको मे राज्य के प्रति पर्याप्त श्रद्धा होती थी, वे राजनीतिक जीवन मे भाग लेना अपने जीवन का परम उद्देश्य मानते थे।

परन्तु प्राचीन नगर-राज्य मे अनेक दुर्गुण भी थे। उनका आधार कोई विशेष प्रगतिशील और स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था नही थी। दास-प्रथा ही उनकी राज-

नीतिक व्यवस्था का मुख्य आधार थी, इसी कारण पारस्परिक द्वेष और अविश्वास की भावना मौजूद रहती थी। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत दलबन्दी के कारण जन-जीवन मे अनेक बुराइयाँ घर कर गई थी। दूसरी बडी त्रुटि स्थानीय देश-भक्ति थी, इसी भावना का ही परिणाम था कि नगर-राज्य अपने आपको एक महान् राष्ट्र के रूप मे संगठित न कर सके। उसका दृष्टिकोण प्राय अत्यन्त सकुचित था, वह नगर-राज्यो से ऊपर उठ एक महान् राष्ट्र की कल्पना न कर सके। युद्धो के कारण उनकी आन्तरिक शक्ति सर्वथा क्षीण हो गई और जब मेसीडोन (Macedon) के फिलिप और उसके पुत्र सिकन्दर (Alexander) और तत्पश्चात् रोमन लोगो के आक्रमण हुए तो ये उनके सामने न टिक सके। इन हमलावरो ने ग्रीक नगर-राज्यो का एकीकरण (Unification) तो अवश्य कर दिया परन्तु यूनान की प्राचीन शासन-प्रणालियो और विचार-पद्धतियो का विलोप हो गया।

यूरोपीय इतिहास के उस काल मे विकसित इन राज्यो का मानवीय इतिहास मे एक विशेष महत्त्व है। इन्ही राज्यो मे ही सर्वप्रथम राज्य के नैतिक आधार, वैयक्तिक स्वतन्त्रता और स्वायत्त शासन के बहुमूल्य सिद्धान्तो की रचना की गई।

ग्रीस के नगर-राज्यो मे राज्य-विकास राजतन्त्र (Monarchy) से कुलीन-तन्त्र (Aristocracy), कुलीन तन्त्र से अत्याचारी शासन (Tyranny) और आखिर मे अत्याचारी शासन से प्रजातन्त्र (Democracy) के रूप मे हुआ।

भारतीय गणराज्य—प्राचीन यूनान की तरह प्राचीन भारत मे भी छोटे नगरो मे या गाँवो के समूहो मे गणराज्यो की अवस्थिति का वर्णन मिल जाता है। इन गणराज्यो के दो प्रकार थे। एक तो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct democracy) के सिद्धान्तो पर आधारित थे। इनमे सम्पूर्ण नागरिक एक सभा मे एकत्रित हो अपने राज्य के सचालन के लिए राजकीय कर्मचारियो का चुनाव करते।

दूसरे प्रकार के गणतन्त्रो मे परिवारो के मुखिया मिलकर राज्य-कार्य का सचालन करते थे। कही-कही राजाओ का चुनाव भी होता था और उनको सलाह देने के लिए जनता द्वारा निर्वाचित या सैनिक सामान्तो से युक्त सभा समितियो की व्यवस्था रहती थी।

परन्तु प्राचीन भारत मे इन राज्यो के आधार पर व्यक्तिवादी तथा प्रजातान्त्रिक विचारधाराओ का विकास न हो सका।

५० रोम का विश्व-साम्राज्य (The Roman World Empire)

ऊपर हम बतला चुके हैं कि किस प्रकार ग्रीक नगर-राज्यो के पतन के अनन्तर सिकन्दर ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस विशाल साम्राज्य मे उसने पूर्वी ढग पर निरकुश शासनतन्त्र का विकास किया, परन्तु उसकी मृत्यु के कुछ काल बाद ही उस द्वारा स्थापित सम्पूर्ण साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

राज्य-विकास का केन्द्र ग्रीस से हटकर रोम पहुँच गया। रोम यूनान के पश्चिम में टाइबर नदी के तट पर स्थित एक नगर-राज्य था यूनान या भारत मे

मे बाँट दिया गया और इन सूबो का शासन रोम द्वारा नियुक्त शासको (Pro-Consuls) द्वारा होता था। ये सूबे अपने आन्तरिक मामलो के नियन्त्रण और नियमन मे पर्याप्त स्वतन्त्र होते थे। परन्तु इनके शासको को सदा महा अभियोग (Impeachment) लगाए जाने का भय रहता था।

रोम के नागरिको के पास किसी ऐसी शक्ति का अभाव था कि जिस के द्वारा वे अपने अधिकारो की रक्षा कर सकते। वास्तविक शक्ति सैनिक अधिकारियो के पास थी और अन्त मे एक महात्वाकाक्षी जूलियस सीजर नामक सैनिक वहाँ का अधिनायक वन वैठा, और उसी ने रोम की परम्परागत प्रजातन्त्र प्रणाली को भी समाप्त कर डाला। यह सिद्धान्त विलुप्त हो गया कि सम्राट् प्रजा का प्रतिनिधि है और उसके अधिकार प्रजा द्वारा दिए हुए है। इसके विपरीत सम्राट की नई स्थापित की गई सत्ता के धार्मिक अनुमोदन के लिए राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त (Divine origin theory) का विकास हुआ। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मान उसकी पूजा का विधान भी किया जाने लगा।

इस साम्राज्यवादी दृष्टिकोण के फलस्वरुप प्राचीन व्यक्तिवादी और प्रजातन्त्रीय मर्यादाएँ नष्ट हो गईं। यूनान के वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा जनतन्त्र के सिद्धान्तो का गला घोट दिया गया। उनका स्थान एकता और प्रभुता ने ले लिया। स्थानीय स्वशासन के स्थान पर केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का विकास हुआ।

रोमन साम्राज्य की सबसे बडी राजनीतिक देन सुव्यवस्थित व सुशासित शासन-प्रणाली का निर्माण है। यूरोप के एक बहुत बडे भाग पर लगातार १,५०० वर्ष तक रोम ने शासन किया और शान्ति और व्यवस्था कायम रख एक नई मानवीय सस्कृति का विकास किया। बाद के बहुत से धार्मिक तथा राजनीतिक सगठनो को रोमन साम्राज्य के सगठनो के आधार पर सगठित करने के अनेक प्रयत्न किये गए।

इसमे सन्देह नही कि रोमन लोग ग्रीक लोगो की तरह रचनात्मक प्रतिभासम्पन्न नही थे। साहित्य, कला और सगीत के क्षेत्र मे उनकी देन नगण्य है। परन्तु राजनीतिक विधान और व्यवस्था के वे निस्सन्देह जनक कहे जा सकते हैं। राज्य के विधान उपनिवेशो की शासन-व्यवस्था तथा नगरपालिकाओ की शासन-व्यवस्था के सगठन इत्यादि मे आज भी रोमन आदर्श अनुकरणीय समझे जाते हैं। फिर भी हमे यह बात मानने से कोई इन्कार नही कि रोमन लोग स्थायी मूल्यवान राजनीतिक दर्शन के सिद्धान्तो की सृष्टि न कर सके।

रोम के लोगो ने ही प्रभुता, (Sovereignty) नागरिकता के सिद्धान्त और अनेक जातियो के शासन के लिए शासन-व्यवस्थाओ की रचना की। राष्ट्रीय विधान या कानून विषयक उनकी देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

रोम के पतन के अनेक कारण थे। इनमे से कुछ मुख्य-मुख्य इस प्रकार रखे जा सकते हैं—(१) गुलामो की सख्या का आधिक्य, (२) एकता के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विनाश, (३) शासन मे लोकप्रिय तत्त्वो का और देश-भक्ति की भावना का अभाव, (४) उच्च वर्गों का नैतिक पतन, (५) साम्राज्य के आर्थिक

आधार की शिथिलता, (६) सम्राटो के उत्तराधिकार नियमो का अभाव, (७) सहारक बीमारियाँ, और (८) बर्बर जातियो के आक्रमण। इस प्रकार यह विशाल साम्राज्य अपनी ही घुन लगी व्यवस्थाओ का शिकार हुआ।

५१. सामन्त राज्य (The Feudal State)

तीसरी सदी मे ट्यूटन बर्बरो (Teutonic barbarians) के प्रबल आघातो के फलस्वरूप रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। रोमन साम्राज्य के पतन के अनन्तर जिस व्यवस्था का जन्म हुआ उसमे किसी भी प्रभुत्व सत्ता (Sovereign power) का अभाव था। छोटे-छोटे सरदारो की भरमार थी और वही जागीरदार या ठाकुर (Land lords) बन जनता पर शासन करने लगे। रोमन-युग के साम्राज्यवाद के पतन और वर्तमान युग के राष्ट्रीय राज्यो के प्रादुर्भाव के बीच के परिवर्तन काल को सामन्तिक राज्यो का युग कहते हैं।

केन्द्रीय राज्य के पतन के अनन्तर रोम के और साम्राज्य के विविध भागो के सेनापतियो और शक्तिसम्पन्न नेताओ ने विविध प्रदेशो पर अपना अधिकार जमा अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया। यह सरदार या सेनापति अपने प्रदेशो को अपने साथियो तथा सहयोगियो मे बाँट दिया करते। यही लोग सामन्त कहलाते थे। ये सामन्त अपने इलाके के स्वय स्वामी होते और अपनी जागीर को काश्तकारो तथा नौकरो मे बाँट देते। राजा के साथ या मुख्य सामन्त के साथ इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता था। जब कभी राजा को आवश्यकता होती तो ये कुछ सेना और भेंट लेकर उसकी सेवा मे उपस्थित हो जाते। इन्हे कोई निश्चित टैक्स या कर नही देना पडता था। सामन्त लोग अपनी-अपनी जागीर के शासन के स्वयं जिम्मेदार होते। किसी सर्वमान्य प्रभुता का सर्वथा अभाव था। 'राज्य' वस्तुत. समाज मे विलुप्त हो गया। प्राचीन रोमन साम्राज्य की सामान्य प्रभुता की कल्पना अब कल्पनामात्र ही रह गई। समाज मे एक ऐसी व्यवस्था का जन्म हुआ कि जिसमें सम्राट् का या राजा का स्थान स्थानीय भू-स्वामी या जागीरदार ने ले लिया और उसकी शासकीय व्यवस्था का आधार वैयक्तिक भक्ति (Personal loyalty) हो गई।

समाज का आर्थिक और व्यावसायिक (Occupational) नियन्त्रण निगम (Guilds) के हाथ मे केन्द्रित हो गया। ये निगम (Guilds) अपने अन्दरूनी मामलो के नियन्त्रण मे बहुत सीमा तक स्वतन्त्र होते और कभी-कभी सामन्तो से भी टक्कर ले लेते।

इधर अनेक प्रतापी जागीरदार और सामन्त अपने राजा के या सामन्त मुखिया के प्रति विद्रोही हो अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करते, अनेक सामन्त पारस्परिक कलह मे लीन रहते, परिणामस्वरूप सामन्त-युग मे अनवरत अशान्ति, अव्यवस्था और युद्ध का बोलबाला रहता। यही कारण है कि इस युग को प्राय. अराजकता और अव्यवस्था का युग कहते हैं।

सामन्त-युग की राजनीतिक व्यवस्था का आधार वस्तुतः ट्यूटन जाति की

राजनीतिक सस्थाएँ ही हैं। ट्यूटन लोग ही रोमन साम्राज्य के पतन के अनन्तर यूरोपीय सस्कृति पर काबू पा चुके थे। ट्यूटन लोगो के यहाँ आर्थिक जीवन अभी अपनी अर्द्धविकसित अवस्था मे था, उनकी सस्कृति ग्रामीण और कृषिप्रधान थी, नागरिक और व्यावसायिक सभ्यता का विकास नही हो पाया था। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, स्वायत-शासन और वैयक्तिक भक्ति (Personal loyalty) यह इनकी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के मुख्य आधार थे। फलत रोमन साम्राज्य के पतन के अनन्तर उन्होंने रोम के केन्द्रीकरण सम्बन्धी आदर्शों और प्रभुता के सिद्धान्त के विपरीत अपनी सस्कृति के आधारभूत व्यक्तिगत भक्ति (Personal loyalty), स्वतन्त्रता और स्थानीय स्वशासन पर अधिक बल दिया। सामन्तीय राजनीतिक और सामाजिक सस्थाएँ इन्ही सिद्धान्तो पर आधारित थी।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही कि सामन्त-युग मे व्यवस्था और शान्ति का सर्वथा अभाव था। इसमे सन्देह नही कि 'राज्य' नाम की सस्था का लगभग विलोप हो चुका था, और सम्राट् और 'राजा' भी वास्तविक अर्थ मे पुराने शब्द हो चुके थे, फिर भी इन सामन्तीय सस्थाओ ने यूरोपीय जीवन मे पर्याप्त समय तक शान्ति और व्यवस्था को बनाए रखा।

रोमन साम्राज्य के पतन के अनन्तर समाज मे शान्ति और व्यवस्था को बनाए रखने मे रोमन कैथोलिक चर्च (Roman Catholic Church) ने भी विशेष सहयोग दिया। रोमन कैथोलिक चच मे भी रोमन साम्राज्य की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति मौजूद थी। रोम और पश्चिमी यूरोप के एक बडे भाग मे ईसाई धर्म का विस्तार हो गया था, धीरे-धीरे ईसाई धर्म उन प्रदेशो मे फैल गया जहाँ रोमन साम्राज्य रह चुका था। रोमन कैथोलिक चर्च के नियन्त्रण का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था। उसने न केवल धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन का ही नियन्त्रण किया अपितु सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का भी पर्याप्त सीमा तक नियमन किया। रोम के पोप ने ही शार्लमेगन (Charlemagne) को पवित्र रोमन सम्राट् की पदवी प्रदान की थी।

परन्तु चर्च राजनीतिक सस्थाओ के स्वस्थ विकास मे बाधक सिद्ध हुआ। चर्च अधिकारियो की हमेशा यह इच्छा रही कि यूरोप मे कोई शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति उत्पन्न न हो जो कि चर्च से अधिक सर्मथवान हो। चर्च का हित सामन्तीय पद्धति की मौजूदगी मे ही था। शक्तिशाली राजनीतिक सस्थाओ के अभाव मे रोमन पोप ही सम्पूर्ण ईसाई-जगत का सम्राट्-सा बना हुआ था। लोगो मे अन्ध श्रद्धा थी। वह राजनीतिक नेताओ की अपेक्षा धर्म-गुरुओ मे अधिक विश्वास करते थे। फलस्वरूप राज्य के स्थान पर चर्च की प्रभुता स्थापित हो गई।

१५वी और १६वी शताब्दियो मे चर्च के प्रभाव मे कमी हो गई। इसके अनेक कारण थे। अनेक देशो मे राष्ट्रीयता के आधार पर आधारित राज्यो का निर्माण शुरू हुआ, सामन्तीय पद्धति समय के प्रतिकूल हो गई, शक्तिशाली राजनीतिक शक्तियो का आविर्भाव हुआ। पोप-पद के उम्मीदवारो के पारस्परिक झगडो से पोप की शक्ति और

प्रतिष्ठा को विशेष धक्का लगा। इधर व्यावसायिक कुलीन वर्गों (Mercantile and Commercial aristocracy) का जन्म हुआ और अनेक समृद्ध नगरो मे प्रजातन्त्र के आधार पर शासन-व्यवस्था का प्रचलन हो गया। पोप की शक्ति को सबसे बडा धक्का प्रोटेस्टैंट सुधारवाद के आन्दोलन से लगा।

५२. राष्ट्रीय राज्य (The National State)

यूरोप मे वर्तमान युग का प्रारम्भ सास्कृतिक पुनरुत्थान (Renaissance) और धार्मिक सुधार के आन्दोलन (Reformation) से माना जाता है। यूरोप के सास्कृतिक जीवन मे इन दो आन्दोलनो का विशेष महत्त्व है। सास्कृतिक जागरण के फलस्वरूप न केवल कला, साहित्य और सगीत इत्यादि मे ही परिवर्तन हुए अपितु दर्शन और चिन्तन के आधारभूत असूलो मे भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्लेटो और अरस्तू के बाद प्रथम बार मनुष्य ने सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ का शुद्ध तार्किक विवेचन प्रारम्भ किया। अनेक सदियो बाद पहली बार मनुष्य की धर्म-बुद्धि का स्थान विवेक-बुद्धि और तर्क न लिया। अध्ययन-विधियाँ वैज्ञानिक और धर्म-निरपेक्ष हो गईं।

धार्मिक सुधार के आन्दोलन ने भी चर्च की शक्ति पर घातक चोटें की और वर्तमान राष्ट्रीय राज्यो के विकास मे परम सहयोग दिया। चर्च-अधिकारी दम्भ, अभिमान और भौतिक वासनाओ के शिकार हो चुके थे। जनता मे भी अन्ध परम्परा चल रही थी। धर्म-सुधार के नेता लूथर और कालविन ने स्थान-स्थान पर जनता को पोप की मनमानी के विरुद्ध चेतावनी दी। व्यक्तिगत विवेक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की महत्ता पर जोर दिया। व्यक्ति और भगवान के सम्बन्धो मे धर्माधिका-रियो के हस्तक्षेप को अनावश्यक दम्भ मात्र माना। उन्होने पोप की अपेक्षा राजा की शक्ति और स्वतन्त्रता का समर्थन किया और जनता को पोप के आदेशो की बजाय राजा के आदेशो को मानने के लिए प्रेरित किया।

इन्ही दिनो अनेक स्थानो पर व्यावसायिक वर्गों का प्रादुर्भाव हो गया। व्यापारी वर्ग शान्ति और व्यवस्था चाहता था। इसका हित निरकुश राजतन्त्र की स्थापना मे था, वे सामन्तीय पद्धति के शत्रु थे, फलस्वरूप इन्होने पोप और सामन्तो के विरुद्ध सर्वत्र ही धर्म-निरपेक्ष (Secular) राष्ट्रीय राज्यो की स्थापना मे सहयोग दिया।

एक ही प्रदेश मे अनेक सदियो तक एक साथ रहने के और एक धर्म और रीति-नीति के पालन के फलस्वरूप अनेक देशो की जनता मे सामान्य धर्म विश्वास, सामान्य इतिहास, सामान्य भाषा तथा सामान्य सभ्यता और संस्कृति का विकास हो गया। इन प्रदेशो मे दूसरे शब्दो मे राष्ट्रीय भावनाओ की नीव पड गई। अत. उन प्रदेशो मे जनता राजा को ही अपनी राष्ट्रीय भावनाओ का प्रतीक समझने लगी। सर्वप्रथम इगलैण्ड, फ्रास और स्पेन मे पोप की प्रभुता की उपेक्षा करते हुए स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यो की नीव पडी। इन्ही देशो के शासको ने सर्वप्रथम पोप के अभिमान-पूर्ण आदेशो की अवहेलना और उपेक्षा की। राजाओ ने इन सभी देशो मे स्थायी

सेनाओ का सगठन किया और अनेक युद्धो मे पराजित सामन्त वर्ग को अपने अधीन कर लिया। अब इनकी सत्ता अपने सामन्तो और सरदारो की सहायता पर अवलम्बित न रही।

चर्च और राज्य के इस मुकाविले मे राज्य की उच्चता को सिद्ध करने के लिए राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गई। धर्म-सुधार के नेताओ ने घोषित किया कि "जो भी राजकीय सत्ता है वह ईश्वरद्वारा नियुक्त है"। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया। उसके आदेश ईश्वरीय आदेश माने गये। उनका उल्लघन पाप समझा गया। उसका आज्ञा-पालन एक धार्मिक कर्त्तव्य माना गया। इन धार्मिक आधारो पर सम्राट् के असीम अधिकारो का समर्थन किया। रूस, जर्मनी इत्यादि देशो मे भी इग्लैण्ड तथा फ्रास की भाँति निरकुश राजतन्त्र की स्थापना हो गई।

परन्तु राजाओ की निरकुश सत्ता वहुत दिन तक न टिक सकी। राजनीतिक विचारो मे परिवर्तन हुए, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ वदली और राज्य के दैवीय आधार के स्थान पर मानवीय आधार माने गये। वैज्ञानिक चिन्तन और औद्योगिक परिवर्तनो के फलस्वरूप जनता मे जाग्रति उत्पन्न हुई और वह राजाओ और कुलीनो के विशेषाधिकारो (Privileges) के त्याग और अपने अधिकारो की माँग करने लगी। औद्योगिक परिवर्तनो के फलस्वरूप नागरिक सभ्यता का विकास हुआ, अनेक नये औद्योगिक केन्द्रो की स्थापना हुई, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के नवीन आधार सामने आये और मजदूरो का एक विशाल वर्ग प्रत्येक देश मे तैयार हो गया। कुलीनो की महत्ता घट गई। हॉब्स, लॉक तथा रूसो इत्यादि विचारको ने विभिन्न दृष्टिकोणो से व्यक्तिवाद और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन किया। उन्होंने स्पष्ट शव्दो मे स्वीकार किया कि राजकीय शक्ति का आधार व्यक्ति है, राज्य कानून उसकी स्वीकृति पर आधारित है। राजा अपनी शक्तियो का प्रयोग प्रजा की सहमति से कर सकता है। इग्लैण्ड मे लॉक ने ग्लोरियस रिवोल्यूशन (Glorious Revolution) के फलस्वरूप स्थापित सीमित अधिकारसम्पन्न राजतन्त्र का समर्थन किया और राजा की शक्ति का मूल स्रोत जन-सहमति माना। रूसो ने जनसम्मत प्रभुता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त की स्थापना कर फ्रास मे क्रान्ति के बीज वो दिये।

प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो के विपरीत राजाओ के दैवीय अधिकारो (Divine rights of kings) के सिद्धान्त को भी प्रस्तुत किया गया। परन्तु समय और परिस्थितियो के आवेग के सामने यह न टिक सका। प्रजातन्त्र का विकास सर्वप्रथम इग्लैण्ड मे हुआ, तत्पश्चात् फ्रास मे राज्य-क्रान्ति हुई और सम्राट् के निरकुश शासन को उखाड फेंका गया। धीरे-धीरे प्रजातन्त्र और राष्ट्रवाद की यह लहर सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप मे फैल गई। सम्राटो को प्रजा के सामने झुकना पडा और अपने बहुत से अधिकारो का परित्याग कर अपनी वैधानिक स्थिति से ही सन्तुष्ट रहना पडा।

१९वी तथा २०वी शताब्दी मे यूरोप मे सर्वत्र धर्म-निरपेक्ष राज्यो की स्थापना हो गई। सामन्तीय प्रवृत्तियाँ समाप्त हो गई, प्रजातन्त्र के विभिन्न रूपो का विकास

हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के अनन्तर पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोप मे अनेक राष्ट्रीय राज्यो की स्थापना की गई। विश्व-युद्ध की समाप्ति पर सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन के प्रबल अनुरोध पर 'राष्ट्रीय इकाइयो' के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार किया गया, और उसी के आधार पर यूरोप के मानचित्र का निर्माण हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर तो इस सिद्धान्त का पालन एशिया तथा अफ्रीका के देशो मे भी हुआ।

आज के राष्ट्रीय राज्य अपनी रूपरेखा और सगठन मे न केवल रोमन-साम्राज्य से ही भिन्न हैं वे प्राचीन काल के गणतन्त्र राज्यो से भी भिन्न हैं। इनमे जनसख्या प्राचीन काल के सभी साम्राज्यो से अधिक है, प्रजा के राजनीतिक अधिकार भी अधिक हैं। इन राज्यो की सबसे बडी विशेषता एकता और स्वतन्त्रता का मेल है। यह ऐक्य वर्तमान युग की राष्ट्रीयता का फल है जिसका आधार भाषा, सस्कृति, कला, साहित्य, इतिहास-परम्परा तथा राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों की एकता है। ये राज्य सब प्रकार से सुसगठित और सुव्यवस्थित है।

५३ राज्य का भविष्य

सामाजिक और राजनीतिक सस्थाओ के विकास मे राष्ट्रीय राज्य अन्तिम सीढी नही। विकास की सम्भावना सदा बनी रहती है। वस्तुत यह कहना अधिक सत्य होगा कि विकास अवश्यम्भावी (Inevitable) है। प्राचीन युग के आदी राज्य से वर्तमान राष्ट्रीय राज्य तक पहुँचने मे इस सस्था को अनेक पडावो को पार करना पडा। प्रारम्भ मे इसका स्वरूप और सगठन अत्यन्त सरल था, इसके निश्चित कर्त्तव्य थे और कुछ निश्चित अधिकार थे। परन्तु आज का राज्य अपने स्वरूप और सगठन मे पर्याप्त जटिल (Complex) हो गया है।

विगत दो-तीन सदियो मे राज्य शासन के संगठन और उसके कर्त्तव्यो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। प्रारम्भ से राज्य मुख्य रूप से शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए ही जिम्मेदार था, आर्थिक क्षेत्र मे भी राज्य के कर्त्तव्य सीमित थे। परन्तु आज राज्य के कर्त्तव्य-क्षेत्र की सीमा बहुत विस्तृत हो गई है। राज्य का मुख्य कर्त्तव्य वैयक्तिक जीवन की नैतिक तथा भौतिक पूर्णता के लिए प्रयत्न करना है, एतदर्थ आज राज्य नैतिक, सास्कृतिक और आर्थिक सभी प्रकार के कर्त्तव्यो के पालन मे सलग्न है।

राज्य के आन्तरिक स्वरूप और कर्त्तव्य मे ही केवल अन्तर हो, यह बात नही। राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो मे भी पर्याप्त अन्तर पड गया है। अरस्तू ने भले ही राज्य और समाज मे कोई अन्तर न माना हो और उसे सब प्रकार से पूर्ण मान लिया हो, इसी प्रकार आस्टिन ने चाहे उसको वैधानिक दृष्टि से सर्वोच्च मान लिया हो, फिर भी आज राज्य और समाज मे एकत्व नही माना जाता और न ही उसे सब प्रकार से पूर्ण और सर्वोच्च कहा जा सकता है।

अपूर्णता और अन्योन्याश्रयता (Inter-dependence) मनुष्य जीवन के प्रमुख अग हैं। हमारे सामाजिक सम्बन्ध इसी अपूर्णता को दूर करने के प्रयत्न मात्र हैं। राज्य मानवीय सस्था है, वह अपने आप मे पूर्ण नही हो सकती। अत आज के युग मे विभिन्न राज्यो के सम्बन्ध अनिवार्य रूप से शत्रुतापूर्ण ही नही हो सकते उनमे मित्रता और सहयोग अनिवार्य है।

विगत युगो की असाधारण ज्ञान-विज्ञान की उन्नति ने यह काम और भी सरल कर दिया है। एक जमाना था जब कि एक जगह से दूसरी जगह जाना आसान नही था, अनेक बाधाएँ थी, इसलिए समाज और राज्य स्वयपूर्ण बनने का प्रयत्न कर सकते थे। परन्तु आज तो यातायात के साधनो (Means of communication) ने हमे एक दूसरे के बहुत निकट ला दिया है। हमारी सभ्यता का स्वरूप भी कुछ ऐसा ही हो गया है कि प्रत्येक देश को एक-दूसरे पर किसी न किसी चीज के लिए आश्रित रहना पडता है। आज के राज्यो का एक-दूसरे से पृथक् रह सकना असम्भव है।

वस्तुत आज की हमारी सभ्यता और सस्कृति की जीवन-रक्षा तभी सम्भव है जब कि हम एक-दूसरे पर विश्वास करें और एक-दूसरे से सहयोग करें। एटम बम जैसे शस्त्रो के आविष्कार के अनन्तर किसी राज्य के साम्राज्य स्थापना के स्वप्न या युद्ध मे जीतने के स्वप्न केवल मात्र स्वप्न ही हो सकते है, और कुछ नही। रूस और अमेरिका की शक्ति ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि राज्य की प्रभुता का सिद्धान्त केवल सिद्धान्त ही है, व्यावहारिक जीवन मे उसका कोई महत्त्व नही। आज फ्रांस, इटली, जापान, पाकिस्तान, ईरान इत्यादि देश यदि प्रभुता सम्पन्न हैं तो वह केवल सिद्धान्त रूप से ही, व्यावहारिक रूप से नही। उनका आन्तरिक और बाह्य जीवन विभिन्न राजनीतिक गुटो द्वारा सचालित होता है। यह हाल केवल इन्ही राज्यो का ही नही है अपितु अधिकाश राज्य आज इसी स्थिति मे हैं।

अत भविष्य मे राज्य की सीमाएँ बहुत विस्तृत हो जायेंगी और वे स्वायत्त-शासनपूर्ण तक विश्व-राज्य का स्वरूप धारण कर लेंगे। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर स्थापित राष्ट्रसघ (The League of Nations) और द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर विश्व मे शान्ति स्थापना के प्रयत्नो का फल सयुक्त राष्ट्रसघ (United Nations Organisation) राज्य के भावी स्वरूप की ओर सकेत करते हैं। यह ठीक है कि यह सगठन अपने आप मे पूर्ण नही और इनमे अनेक कमियाँ हैं, परन्तु हम इस बात से इन्कार नही कर सकते कि विश्व की नैतिक और आर्थिक शक्तियाँ हमे इसी ओर लिये जा रही हैं। वस्तुत मानवीय सस्कृति और सभ्यता का बचाव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, सद्भावना और विश्वास पर आश्रित है, सर्वथा स्वतन्त्र राज्य मानव-समाज के आज के सबसे बडे शत्रु हैं।

Important Questions

	Reference
1 Describe the evolution of the National State (*Pb. 1951 Sept.*)	Art 52
2. Trace the evolution of the National State from primitive communities (*Pb. 1950 Sept.*)	
3 Trace the process by which the primitive tribal communities have been developed into modern political communities (*Pb. 1949*)	Art 52
4. Trace the evolution of the State from the primitive time to the present day. (*Pb. 1947*)	Arts 47 to 52

राज्य-प्रभुता

(STATE SOVEREIGNTY)

५४ प्रभुता की महत्ता

राज्य-प्रभुता का सिद्धान्त राजनीति शास्त्र के सर्वप्रमुख सिद्धान्तो मे से एक है। परन्तु इस सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप और 'प्रभुता' शब्द के वास्तविक अर्थ के विषय मे पर्याप्त मतभेद और भ्रम है। इस शब्द के वास्तविक अर्थ और इन सिद्धान्तो के वास्तविक स्वरूप को समझना हमारे लिए अवाश्यक है।

हिन्दी का प्रभुसत्ता' 'प्रभुता' या 'प्रभुत्व' शब्द अग्रेजी के सावरेनटी (Sovereignty) शब्द का अनुवाद है। अग्रेजी का यह शब्द लेटिन भाषा के Superanus शब्द से निकाला है जिसका अर्थ है 'सर्वोच्च । प्रत्येक राज्य मे किसी ऐसे एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का होना आवश्यक है जो राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहने वाले सभी मनुष्यो या मनुष्य-समुदायो को आदेश दे सके और आवश्यकता पडने पर उन आदेशो के पालन करवाने के लिए वल-प्रयोग कर सके। वह व्यक्ति या व्यक्ति-समूह जो इस प्रकार के आदेश दे सकता हैं, प्रभुसत्ताधारी है। उसके आदेश कानून कहलाते हैं।

प्रभुता राज्य का एक विधायक तत्त्व है। इसी के आधार पर राज्य और विभिन्न मानवीय समुदायो मे भेद किया जाता है। अक्सर प्रत्येक मानवीय समुदाय का अपना सगठन होता है, अपने नियम होते हैं और अपना प्रदेश भी हो सकता है, परन्तु उनके पास प्रभुता का अभाव होता है। मानवीय समुदाय के नियम वास्तविक अर्थ मे कानून नही कहला सकते, क्योकि उन नियमो का पालन वल-प्रयोग से नही हो सकता, दूसरे शब्दो मे वल-प्रयोग का अधिकार केवल मात्र प्रभुता-सम्पन्न राज्य को ही है। अत समुदायो का सगठन, उनका आन्तरिक जीवन, उनकी आकाक्षाएँ, सभी का वहुत बडी सीमा तक राज्य द्वारा नियन्त्रण किया जाता है।

५५ प्रभुता की परिभाषा (Definition of Sovereignty)

प्रभुता की अनेक परिभाषाएँ दी गई है। इन परिभाषाओ मे अनेक अपूर्ण हैं। वह केवल प्रभुता के एक ही पक्ष पर बल देती हैं, फिर भी इन परिभाषाओ का ज्ञान हमारे लिए आवश्यक है। फ्रेंच विचारक वोदीन ने सर्वप्रथम प्रभुता की विवेचना करते हुए उसकी परिभाषा इन शब्दो मे की है—

"राज्य को अपने नागरिकों तथा प्रजाजनो पर जो सर्वोच्च शक्ति प्राप्त होती

है और जो कानून द्वारा भी सीमित नहीं की जा सकती, वही प्रभुता है।"[1]

अन्य विद्वान ग्रोशियस ने प्रभुता की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"जिसके कार्य किसी दूसरे के अधीन न हो और जिसकी इच्छा का कोई उल्लघन या अतिक्रमण न कर सके, ऐसे किसी व्यक्ति मे मौजूद सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति प्रभुता होती है।[2]

पोलक (Pollock) के अनुसार "प्रभुता वह शक्ति है जो न तो क्षणिक है और न किसी दूसरे द्वारा दी गई है और न वह किन्हीं ऐसे नियमों के अधीन है जिन्हे वह बदल न सके।"[3]

वर्गेस के अनुसार "राज्य के सब व्यक्तियों व व्यक्तियों के समुदायो के ऊपर जो मौलिक, अखण्ड और असीम शक्ति है वही प्रभुता है।"[4]

विलोवी (Willoughby) ने "राज्य की सर्वोच्च इच्छा को प्रभुता माना है।"[5]

सुप्रसिद्ध फ्रेंच समाजशास्त्री ड्युग्वी (Duguit) के मतानुसार "प्रभुता राज्य के आदेशदायिनी शक्ति है, वह राज्य रूप मे सगठित राष्ट्र की इच्छा है। वह राज्य के अन्तर्गत निर्बाध रूप से आदेश देने का अधिकार है।"[6]

ऊपर दी गई परिभाषाओ द्वारा राज्य की प्रभुता का स्वरूप ठीक-ठीक रूप से स्पष्ट हो जाता है। यह बात सर्वमान्य है कि राज्य मे वह शक्ति है जिसके बल पर वह अपने प्रदेश मे स्थित सभी व्यक्तियो और व्यक्ति-समुदायो का नियन्त्रण करता है। प्रो० लास्की ने सर्वथा सत्य कहा है कि "राज्य अपने प्रदेश मे स्थित सभी व्यक्तियों तथा व्यक्ति-समुदायों को आदेश देता है, परन्तु वह इसमे किसी भी द्वारा आदिष्ट नहीं किया जाता।"[7]

---

1. "Sovereignty is the supreme power of in State over citizens and subjects, unrestrained by law"—*Bodin.*

2 "Sovereignty is the supreme political power vested in him whose acts are not subject to any other and whose will cannot be overridden"—*Grotious.*

3 "Sovereignty is the power which is neither temporary nor delegated nor subject to particular rules which it can not alter nor answerable to any other power on earth"—*Pollock*

4 "Sovereignty is the original, absolute and unlimited power over the individual subjects and over all associations"—*Burgess*

5 "Sovereignty is the supreme will of the State"—*Willoughby.*

6 "Sovereignty is the commanding power of the State, it is the will of the nation organised in the State, it is the right to give unconditional orders to all individuals in the territory of the State"
—*Duguit.*

7 "The State issues orders to all men and all associations within (its) area, it receives orders from none of them."—*Laski.*

५६. प्रभुता के सिद्धान्त का विकास (Development of the Theory of Sovereignty)

जिस अर्थ मे आज हम प्रभुता (Sovereignty) शब्द का प्रयोग करते हैं, वह निश्चय ही आधुनिक है। पुराने युग मे राज्य की सर्वोच्च सत्ता के विषय मे पर्याप्त अस्पष्टता है। फिर भी हमे अरस्तू के राजनीतिक विचारो मे यदि प्रभुता का नही तो 'राज्य की सर्वोपरि सत्ता का वर्णन अवश्य मिल जाता है। यह 'सर्वोच्च सत्ता' एक व्यक्ति के हाथ मे भी रह सकती है, एक वर्ग के पास भी और अनेक व्यक्तियो के समूह मे भी। अरस्तू के वाद स्टोइक (Stoics) दार्शनिको ने राज्य का अनुवन्ध सिद्धान्त स्वीकार कर राज्य को कानून की रचना माना है। उनकी दृष्टि मे "कानून ही राज्य का रचयिता है, वही सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न है।"[1]

रोमन राजनीति शास्त्रियो ने प्रभुता' के सिद्धान्त की उपेक्षा की है। उनके यहाँ राज्य न हो एक साम्राज्य था। ऐसी अवस्था मे प्रभुता सम्वन्धी सिद्धान्त के विकास की आवश्यकता ही नही समझी गई। कानून वनाने की क्षमता केवल उन्होने राजा मे ही स्वीकार की है, क्योकि वह उसे ही जनता का प्रतिनिधि मानते थे। वास्तविकता राजसत्ता, उनके दृष्टिकोण के अनुसार जनता मे ही रहती है, जनता सामूहिक रूप से राजा को सौंप देती है। अत वैधानिक दृष्टि से राजा ही प्रभुता सम्पन्न है।

मध्ययुगीन सामन्तीय समाज-व्यवस्था के फलस्वरूप राज्य की अवस्थिति वास्तविक अर्थ मे थी ही नही। सर्वोपरि सत्ता के तीन दावेदार थे—चर्च, राज्य और सामन्त वर्ग। सेण्ट आगस्टाइन (St Augustine) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'सिटी ऑफ गॉड' (City of God) लिख चर्च की नैतिक उच्चता को सावित किया और यह सिद्ध किया कि राज्य आध्यात्मिक दृष्टि से चर्च से वहुत नीचे है। उसने राज्य को पाप का परिणाम माना है। फलत बाद मे आने वाले सभी ईसाई विचारको ने राज्य के विपरीत चर्च को ही नैतिक और भौतिक दृष्टि से एक उच्च सस्था स्वीकार किया। मध्ययुगीन यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास चर्च और राज्य के सघर्ष का इतिहास है।

यही नही राज्य का एक और भी प्रतिद्वन्द्वी था—वह थी सामन्तशाही। सामन्त-व्यवस्था के फलस्वरूप राजकीय सत्ता कभी भी केन्द्रित न हो पाई। राज्य-सत्ता सामन्तो मे तथा राजा में बँटी हुई थी, राजा सामन्तों के मामलो मे दखल नही दे सकते थे।

१. स्टोइक दार्शनिको के और आधुनिक युग के समाजशास्त्री ड्युग्वी (Duguit) के विचारो में वहुत साम्य है। ड्युग्वी तथा क्रैव दोनो ही कानून की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करते हैं, राज्य की नही। राज्य को वह कानून की रचना मात्र मानते है। (विशेष अध्ययन के लिए राजकीय कानून विषयक अध्याय को देखें)

ऐसी व्यवस्था मे एक ओर तो दैवीय कानूनो का बोलबाला था, जनता को उन्ही मे विश्वास था; दूसरी ओर सामन्तीय व्यवस्था के फलस्वरूप राज्य के प्रति भक्ति (Loyalty) का आधार वैयक्तिक था। राजा की उच्चता केवल नाम मात्र की ही रही।

मध्य युग की समाप्ति के अनन्तर राष्ट्रीय राज्यो का निर्माण प्रारम्भ हुआ। पारस्परिक युद्धो के कारण सामन्तिक सरदारो की राजनीतिक स्थिति मे बहुत परिवर्तन हो गया, युद्ध के नए साधनो के विकास के कारण सैनिक दृष्टि से भी राजा के लिए उनकी विशेष महत्ता न रही। धार्मिक सुधार की लहर के और चर्च अधिकारियो की पारस्परिक कलह के परिणामस्वरूप चर्च भी पर्याप्त शक्ति-हीन हो गया। ऐसी परिस्थितियो मे महत्त्वाकाक्षी राजाओ को अपनी शक्ति बढाने का अवसर मिल गया और अनेक देशो मे उन्होने ऐसे राज्य स्थापित कर लिए जो कि प्रभुता सम्पन्न कहे जा सकते थे।

इन राज्यो मे सम्पूर्ण राजकीय सत्ता केन्द्रित हो गई। राज्य-सत्ता के इस केन्द्रीकरण का फल ही वर्तमान काल का प्रभुता सिद्धान्त है।

फ्रास मे धार्मिक मतभेद के फलस्वरूप राज्य-सत्ता का अस्तित्व खतरे मे पडा हुआ था। प्रोटेस्टैण्ट और कैथोलिक लोगो मे बहुत अधिक फूट थी, वह राजा को भी धर्म के मामलो मे खीचते थे। ऐसे समय मे फ्रास के राष्ट्र-प्रेमी विधान शास्त्रियो ने राजा की सर्वोपरि सत्ता के सिद्ध करने के लिए प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त की रचना की। १६ वीं सदी मे जीन बोदीन (Jean Bodin) प्रथम फ्रेंच विचारक थे जिन्होंने इस सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन किया। उन्होने अपनी पुस्तक 'Republic' मे अपने प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की है, 'नागरिको और प्रजाजनो पर ऐसी सर्वोच्च शक्ति जो कानून द्वारा नियन्त्रित न हो।" उन्होंने प्रभुता को इस प्रकार से उच्च, पूर्ण, असीम, अबाध और अविभाज्य माना है। बोदीन सम्राट् को असीम अधिकार दे सर्वथा निरंकुश बनाने का प्रयत्न करता है।

राजकीय प्रभुता के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष का निर्माण करने का श्रेय डच विचारक ग्रोशियस (Grotious) को है। उन्होंने राजकीय प्रभुता को बाह्य और आन्तरिक दृष्टि से सर्वथा स्वतन्त्र माना है। परन्तु वह उसे अन्यय राष्ट्रो के कानून के अधीन भी मान लेता है। ग्रोशियस वस्तुत मुख्य रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित था। उसने राष्ट्रो की समानता के सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया और उन्हे अपने आन्तरिक और बाह्य मामलो मे समान रूप से स्वतन्त्र माना।

ग्रोशियस प्रभुता का स्रोत जनता को मानता है, परन्तु उसका वास्तविक अधिकारी सरकार को समझता है। उसने प्रभुता को अविभाज्य और अखण्ड नहीं माना, न ही वह शासक को असीम और अबाध अधिकार देता है।

आधुनिक समय के प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त का आधार हॉब्स के एतद्विषयक विचार हैं। वह प्रभुता को अविभाज्य, पूर्ण, सर्वव्यापी, स्थायी तथा मौलिक और

अविछेद्य मानता है। प्राकृतिक स्थिति से निकलकर मानव ने अपने सम्पूर्ण अधिकार शासक (Sovereign) को सौंप दिए। यह समझौता अपरिवर्तनीय था, अत एक बार प्रभुता की रचना के अनन्तर उसका विनाश सम्भव नही। हॉब्स के विचारो के आधार पर ही आधुनिक युग मे बेन्थम और आस्टिन ने अपने-अपने प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्तो की रचना की।

हॉब्स का समर्थन हम रूसो के विचारो मे भी मिलता है। वह भी प्रभुता को अखण्ड, अविभाज्य और निर्बाध तथा असीम मानता है। परन्तु वह हॉब्स के विपरीत प्रभुता की अवस्थिति एक व्यक्ति मे नही अपितु सम्पूर्ण समाज में मानता है। एक राजनीतिक समाज मे प्रभुता का प्रगटीकरण जनता की सामान्य इच्छा (General will) द्वारा होता है।

लॉक (Locke) का प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त हॉब्स तथा रूसो से भिन्न है। वस्तुत लॉक के विचारो मे असीम शक्ति सम्पन्न प्रभुता का वर्णन नही मिलता। वह तो 'सर्वोच्च सत्ता' (Supreme power) शब्द का ही प्रयोग करता है।

आधुनिक युग मे 'प्रभुता' के विकास का श्रेय बेन्थम और आस्टिन को है। आस्टिन ने अपनी पुस्तक 'Lectures on Jurisprudence' मे कानूनी प्रभुता का विश्लेषण करते हुए यह माना है कि प्रत्येक राज्य मे ऐसे निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय का रहना अत्यावश्यक है, जिसके हाथो मे कानूनी दृष्टि से असीम और अखण्ड सत्ता रहे। ऐसे प्रभु के आदर्श ही कानून कहलाते हैं।

आस्टिन ने शारीरिक बल की उच्चता को निर्णायक तत्त्व माना है और प्रभुता को नैतिक औचित्य या न्याय से ऊपर समझा है। लोक-इच्छा का उससे कोई सम्बन्ध नही। रूसो की भाँति वह उसे जनसामान्य की नैतिक इच्छा (General will) का परिणाम नही समझता।

वैधानिक दृष्टि से आस्टिन की प्रभुता सम्बन्धी परिभाषा आज भी विधान शास्त्र (Jurisprudence) का मुख्य आधार समझी जाती है। परन्तु इधर बहु-समुदायवादियो (Pluralists) ने आस्टिन की प्रभुता की धारणा का तीव्र प्रतिवाद किया है और उसे वास्तविक सामाजिक जीवन के तत्वो के सर्वथा विपरीत माना है। पुराने राजनीतिक विचारको ने प्रभुता को राजा मे निहित माना है। उन्होंने शासन की सत्ता (Governmental authority) और राज्य-सत्ता (State authority) मे भेद नही किया। यही कारण है कि उनके प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त भ्रामक हैं, परन्तु आस्टिन ने इस अस्पष्टता को दूर कर दिया और प्रभुता को राज्य-सत्ता का प्रमुख तत्त्व माना।

५७. प्रभुता के विभिन्न अर्थ (Different Meanings of Sovereignty)

प्रभुता का सिद्धान्त राजनीति शास्त्र का एक प्रमुख सिद्धान्त है, परन्तु प्रभुता के वास्तविक अर्थ के विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है।

अन्तराष्ट्रीय विधान के लेखको ने प्रभुता के दो पक्ष—आन्तरिक प्रभुता तथा वाह्य प्रभुता—माने हैं। प्रत्येक राज्य मे कोई एक व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय ऐसी सर्वोच्च स्थिति मे होता है कि वह अपनी सीमा मे स्थित सभी व्यक्तियो तथा व्यक्ति-समुदायो को आदेश दे सके और उन्हें अपने आदेश मनवाने के लिए बल प्रयोग कर सके।[1] इस प्रकार आन्तरिक प्रभुता से सम्पन्न प्रत्येक राज्य अपने आन्तरिक मामलो मे सर्वथा स्वतन्त्र होता है और वह अपने सम्पूर्ण नागरिको पर और उनके समुदायो पर असीम राज्य-सत्ता का प्रयोग करता है। वाह्य प्रभुता से हमारा मतलब राज्य की युद्ध-घोषणा, शान्ति सम्बन्धी तथा अन्य राज्यो से सम्बन्ध बनाये रखने की शक्ति से है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सभी पाबन्दियाँ राज्य की सहमति से ही लागू की जाती हैं, वह उसकी सर्वोपरि सत्ता पर कानूनी पाबन्दियाँ नही और न ही वे उसकी सर्वोपरि सत्ता का किसी प्रकार का खण्डन करती हैं। अत सभी राज्य पारस्परिक सम्बन्धो की स्थापना और नियमन मे पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

राज्य की वाह्य प्रभुता (External sovereignty) सम्बन्धी धारणा त्रुटिपूर्ण समझी जाती है। राजनीति-विशेषज्ञो का मत है कि प्रभुता की धारणा सविधानशास्त्र (Constitutional law) की धारणा है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान (International law) की नही। अत इस धारणा से राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो की व्याख्या नही हो सकती। यह धारणा गार्नर के शब्दो मे भयानक और अनर्थकारी है। वाह्यप्रभुता के स्थान पर हमे स्वाधीनता (Independence) शब्द का प्रयोग करना चाहिए। बहुत से विचारको के अनुसार वाह्य नियन्त्रण (External control) से मुक्ति ही वाह्य प्रभुता (External sovereignty) है। आन्तरिक मामलो मे स्वतन्त्र राज्य को वाह्य मामलो मे भी स्वतन्त्र होना चाहिए, तभी वह राज्य कहला सकता है।

नाम मात्र की प्रभुता (Nominal sovereignty)—प्रभुता के अनेक प्रयोगो मे नाम मात्र की प्रभुता भी एक है। नाम मात्र की प्रभुता से उन शासको का बोध होता है जो किसी समय मे वास्तविक प्रभुसत्ताधारी शासक थे परन्तु अब नही रहे, उदाहरणार्थ इगलैण्ड का सम्राट कानूनी रूप से आज भी सम्पूर्ण राजकीय शक्ति का स्रोत समझा जाता है परन्तु वस्तुत वह केवल नाम मात्र का ही शासक है, इसकी सम्पूर्ण शक्तियो का प्रयोग उसके मन्त्रियो द्वारा किया जाता है। हाँ, एक समय अवश्य रहा है जब कि वह प्रभुतासम्पन्न सम्राट् था। अब तो वह पुराने रिवाज के मुताबिक ही 'प्रभु' कहलाता है।

राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण के फलस्वरूप इग्लैण्ड, फ्रांस तथा स्पेन इत्यादि देशो मे निरकुश राजतन्त्र का विकास हुआ और राजा ही प्रभुता का स्रोत समझा जाने लगा। परन्तु शीघ्र ही जनता मे राजनीतिक चेतना का उदय हुआ और प्रजा-

---

1. "It issues orders to all men and all associations within (its) areas, it receives order from none of them."—*Laski*

तन्त्र के विचारो का प्रसार हुआ। जन-सामान्य सम्राटो की असीम शक्ति के प्रति विद्रोही हो गये, वह शासन मे स्वय भागीदार बनने के लिए आन्दोलन करने लगे। प्रारम्भ मे राजाओ के दैवीय अधिकारो के सिद्धान्त द्वारा राजाओ की असीम और अबाध प्रभुता का समर्थन किया गया। बार-बार यह साबित करने का प्रयत्न किया गया कि राजाओ की प्रभुत्व शक्ति ईश्वरीय देन है और वह सब प्रकार से मानवीय बाधाओ से परे हैं।

परन्तु सांस्कृतिक पुनर्जागरण के अनन्तर वैज्ञानिक विचारधारा का उदय हुआ, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ का तर्क और बुद्धि के बल पर परीक्षण किया जाने लगा। अन्तत ऐसे राजनीतिक आन्दोलनो की विजय हुई जिसमे राजकीय शक्ति की पराजय और जनता की विजय हुई। राजाओ की शक्तियाँ वैधानिक साधनो द्वारा सीमित और निश्चित कर दी गईं। वे अपने मन्त्रियो और विधान-सभाओ के आदेशो पर कार्य करने लगे। इस प्रकार नाम मात्र की प्रभुता का जन्म हुआ।

आज तो सम्राटो को सरकार का एक भाग मात्र समझा जाता है, और सरकार प्रभुता सम्पन्न राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है। अत वह प्रभुता का स्रोत नही।

वैध (कानूनी) प्रभुता (Legal sovereignty)—प्रभुता के वैधानिक (कानूनी) रूप की व्याख्या विधानशास्त्र (Jurisprudence) के अनुसार की जाती है। यह प्रभुता के सम्बन्ध मे वकील के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रभुता का आशय उस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह से होता है जिसे वैधानिक रूप से अन्तिम आदेश देने की शक्ति प्राप्त हो। कानूनी प्रभु की शक्ति सदा असीम और अबाध होती है। वह दैवीय विधान, नैतिक सिद्धान्त और जनमत द्वारा सीमित नही की जा सकती। यह शक्ति एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति समूह मे निवास करती है, इसके आदेश कानून कहलाते हैं और न्यायालय उन्ही का अनुसरण करते हैं, इन आदेशो की अवज्ञा करने वाला व्यक्ति राज्य द्वारा दण्डित किया जाता है।

वैध प्रभुता सर्वप्रसिद्ध उदाहरण इगलैण्ड की सम्राट् सहित पार्लियामेण्ट (ससद) (King in Parliament) है। कानूनी दृष्टि से पार्लियामेण्ट की शक्ति असीम और अबाध है। वह सर्वशक्तिमान (All powerfull) है। डायसी (Dicey) का कथन है कि "**पार्लियामेण्ट इतनी सर्वशक्तिमान है कि कानूनी रूप से एक बच्चे को बालिग घोषित कर सकती है; मृत्यु के बाद भी किसी व्यक्ति को राजद्रोह का अपराधी बना सकती है; वह किसी अवैध बच्चे को वैध करार दे सकती है, अथवा यदि वह उचित समझे तो किसी भी आदमी को अपने ही मामले मे न्यायाधीश बना सकती है**"।[1]

---

1 Legally the British Parliament is so omnipotent that "it can adjudge an infant of full age, it may attaint a man of treason after

कानूनी प्रभुता का विस्तृत विवेचन हमे आस्टिन के विचारो मे मिलता है।

राजनीतिक प्रभुता (Political Sovereignty)—परन्तु कानूनी प्रभुता की असीम और अबाध सत्ता की उपस्थिति केवल विधानशास्त्र मे ही सम्भव है, वास्तविक जीवन मे नही। कही भी किसी भी राज्य मे कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह निरकुश शासन नही करता और न ही असीम शक्ति का प्रयोग करता है। उसकी इच्छा का स्वरूप निर्धारण अनेक प्रकार के प्रभावो से होता है। आज के प्रजातन्त्रवादी राज्यो मे सर्वोच्चसत्तासम्पन्न विधानपालिकाएँ भी जन-सामान्य की इच्छा की उपेक्षा नही कर सकती। अतः आज वैधानिक प्रभु से भी महत्त्वपूर्ण एक अन्य प्रभु है—जिसे राजनीतिक प्रभु कहते हैं। डायसी (Dicey) ने भी कहा है कि **"जिस प्रभु को वकील लोग स्वीकार करते हैं, उसके पीछे एक दूसरा प्रभु रहता है, जिसके सामने वैधानिक प्रभु को सिर झुकाना पडता है।"**[1] इसको इन्होंने राजनीतिक प्रभुता माना है। यह प्रभुता जनमत द्वारा या किसी अन्य प्रकार से अभिव्यक्ति ग्रहण करती है। प्रो० गिलक्राइस्ट ने इसे राज्य की उन प्रभावशाली शक्तियों का समूह माना है जो कानून की निर्माता हैं।[2]

परन्तु राजनीतिक प्रभुता की एक निश्चित परिभाषा कर सकना असम्भव है। वह अनिश्चित और भ्रामक है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रवादी राज्यो मे राजनीतिक और कानूनी प्रभुता मे कोई अन्तर नही होता, परन्तु अप्रत्यक्ष (Indirect) प्रजातन्त्र मे राजनीतिक और वैधानिक प्रभुता एकरूप नही होती, इस कारण कानूनी पण्डित इसकी अवस्थिति को स्वीकार ही नही करते। प्रभुता का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण "निश्चित और सगठित होना" है। राजनीतिक प्रभुता को कुछ विद्वान राज्य की सम्पूर्ण आबादी, कुछ जनमत तथा कुछ निर्वाचको के साथ एकरूप मानते है। परन्तु विश्लेषण करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि कानून की दृष्टि से इनकी कोई अवस्थिति नही। किसी भी देश की जनता सम्पूर्ण रूप से राज्य-शासन मे भागीदार नही होती, न ही सभी को मताधिकार होता है और न ही वह अन्य किसी प्रकार से प्रभु (Sovereign) के निश्चय को प्रभावित कर सकते हैं। जनसामान्य मे सगठन का भी अभाव होता है।

राजनीतिक प्रभुता को निर्वाचको या मतदाताओ मे अवस्थित भी माना जाता है। ग्रेट ब्रिटेन की पार्लियामेण्ट जनता की प्रतिनिधि सस्था है। उसका समय-समय पर चुनाव होता रहता है। ऐसी अवस्था मे उसके लिए अपने निर्वाचको के मत की उपेक्षा करना कठिन है। साधारण रूप से आज सभी जगह जहाँ प्रजातन्त्र का प्रचलन

---

death, it may legitimise an illegitimate child, or, if it sees fit, make a man a judge in his own case".—*Dicey*,

1 "Behind the sovereign which the lawyer recognises, there is another sovereign to whom the legal sovereign must bow"—*Dicey*

2 "Political sovereign is the sum total of influences in a State which lie behind the law"—*Gillchrist*

है, विधानपालिकाएँ (Legislative bodies) असीम और अबाध शक्ति का उपयोग नही कर सकती। उनके असली स्वामी मतदाता हैं। परन्तु मतदाताओ का न तो कोई सगठन होता है और न ही उनका अपना कोई निश्चित मत। उनकी धारणाएँ प्रचार के अनेक साधनो—प्रैस, प्लेटफार्म और राजनीतिक दल इत्यादि—से प्रभावित होती हैं। ऐसी हालत मे वास्तविक प्रभुता जनता मे न होकर जनमत को प्रभावित करने वाले इन साधनो मे ही अवस्थित होगी। इस प्रकार विविध प्रभावो के वश मे होने के कारण निर्वाचकमण्डल प्रभु नही कहला सकता।

निर्वाचकमण्डल की तरह जनमत (Public opinion) भी अनिश्चित और भ्रामक हैं। जनमत क्या है? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता। जनमत के स्वरूप-निर्धारण मे भी बहुत से साधन प्रयुक्त किये जाते हैं। अन्तिम रूप मे इन्ही प्रभावपूर्ण साधनो को ही जो कि वस्तुत अनिश्चित विविध और भ्रमपूर्ण हैं—प्रभुता सम्पन्न कहना पडेगा।

कानूनन-जनमत या निर्वाचकमण्डल की इच्छाओ की तब तक कोई कीमत नही जब तक कि उसकी अभिव्यक्ति कानूनी साधनो द्वारा नही होती। राजनीतिक प्रभु और वैध प्रभु (Legal sovereign) मे सघर्ष होने पर वैध प्रभु की सत्ता ही मान्य होगी। राजनीतिक प्रभु के आदेशो की उच्चता और न्याय्यता के बावजूद भी वकील और न्यायालय केवल कानूनी प्रभु की अवस्थिति और उसके आदेशो को ही स्वीकार करते हैं।

यही कारण है कि बहुत से राजनीतिक विचारक राजनीतिक प्रभुता की अवस्थिति को ही स्वीकार नही करते। गेटल के मतानुसार **"कानूनी प्रभुता के पीछे किसी राजनीतिक प्रभुता की खोज का प्रयत्न प्रभुता की सम्पूर्ण धारणा को ही नष्ट कर देता है और वह अपने ऊपर पडने वाले प्रभावो की एक सूची मात्र रह जाता है।"**[1]

कानूनी तथा राजनीतिक प्रभुता का सम्बन्ध—राजनीतिक प्रभुता की धारणा की इस आलोचना के बावजूद भी हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि प्रत्येक राज्य मे वैध प्रभु की इच्छा के निर्माता अनेक ऐसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव काम करते हैं, जिन्हें चाहे एक वकील स्वीकार न करे परन्तु जिनकी उपस्थिति और शक्ति मत्ता को कोई अस्वीकार नही कर सकता। ऐसी अवस्था मे स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि वैध प्रभुता और राजनीतिक प्रभुता मे क्या सम्बन्ध है? प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की प्रणाली द्वारा शासित राज्य मे वैध प्रभु और राजनीतिक प्रभु मे कोई अन्तर नहीं होता। अप्रत्यक्ष (Indirect) प्रजातन्त्र मे जन-प्रतिनिधि विधान-निर्माता होते है। ऐसी अवस्था मे जन-प्रतिनिधियो से निर्मित विधानपालिकाएँ तो वैध प्रभु कहलाएंगी और जनता या निर्वाचकमण्डल राजनीतिक प्रभु।

---

1 "Any attempt to find a 'political sovereign' at the back of the legal soverign destroys the value of the entire concept and reduces sovereignty to a mere catalogue of influences"—*Gettell*

लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाओ के फलस्वरूप कोई भी प्रतिनिधि सभा जनमत की अवहेलना नही कर सकती। यदि विधानपालिका और जनमत मे पारस्परिक कलह हो तो राजनीतिक विद्वेष या विद्रोह का भय रहता है। जनता की शक्ति, उसके संगठन और प्रभाव की अवहेलना कर वैधप्रभु जीवित रहने की कामना नही कर सकता। किसी भी राज्य के व्यवस्थापूर्ण शासन के लिए दोनो मे पारस्परिक सहयोग की अवस्थिति अनिवार्य है। प्रोफेसर रिची (Ritchie) ने ठीक ही कहा कि **"श्रेष्ठ शासन की समस्या अधिकाश में कानूनी प्रभु तथा राजनीतिक प्रभु के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या है।"** बहुत से राजनीतिक विचारको का तो यह कथन है कि कानूनी प्रभु और राजनीतिक प्रभु मे कोई यथार्थ अन्तर नही। वह वस्तुत एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। असगठित अवस्था मे जनमत राजनीतिक प्रभु की स्थिति मे है, सगठित रूप धारण कर वही कानूनी प्रभु बन जाता है। ऐसी अवस्था मे प्रभुता का विभाजन नहीं हो पाता। राजनीतिक प्रभु के और वैधानिक प्रभु के पारस्परिक सम्बन्धो को और भी अधिक स्पष्टता से समझने के लिए हम ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का उदाहरण ले सकते हैं। ब्रिटेन मे सम्पूर्ण वैधानिक शक्तियाँ इसी सस्था मे निहित हैं। कानूनी दृष्टि से इसकी शक्तियो पर कोई भी प्रतिबन्ध नही। फिर भी यह सस्था कोई भी ऐसा नियम नही बनायेगी जो कि जनमत के विरुद्ध हो। इसी प्रकार इसके सम्पूर्ण आदेशो को इस सस्था को वैधानिक रूप देना पडेगा। जनता द्वारा ही निर्वाचित होकर यह सस्था भला जनता के आदेशो के विपरीत कैसे जा सकती है? इस अवस्था मे पार्लियामेण्ट की बजाय निर्वाचकमण्डल को ही राज्य की सर्वोपरि सत्ता माना जा सकता है।

लोकसम्मत प्रभुता (Popular sovereignty)—लोकसम्मत प्रभुता का सिद्धान्त १६वी तथा १७वी शताब्दियों मे विकसित हुआ। इस समय यूरोप के प्राय सभी राज्यो मे निरकुश राजतन्त्रो का बोलबाला था। जनता का शोषण होता था, प्रत्येक प्रकार से पिछडी हुई होने के कारण वह पददलित और पराजित-सी थी। परन्तु इन्ही दिनो स्वेच्छाचारी शासको के विरुद्ध घोर असन्तोष फैला हुआ था। ऐसी अवस्था मे रूसो इत्यादि विचारको ने लोक सम्मत प्रभुता के सिद्धान्त का विकास किया। इस सिद्धान्त के समर्थको ने राज्य-शक्ति का अन्तिम स्रोत जनता को स्वीकार किया। अपने मत के समर्थन मे उन्होंने प्राकृतिक विधान (Law of Nature,) प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) और अनुबन्ध सिद्धान्त (Theory of social contract) का आश्रय लिया। रूसो से पूर्व मार्सिलियो आफ पदुआ (Marsiglio of Padua), विलियम आफ ओकम (William of Ockam) एल्थ्यूसियस (Althusis) इत्यादि ने राजतन्त्र के विरोध मे लोकसम्मत प्रभुता के सिद्धान्त की स्थापना की। परन्तु वस्तुत रूसो ने ही सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का व्यापक प्रचार किया और बडे जोर-शोर से यह साबित करने का प्रयत्न किया कि वास्तविक राज-सत्ता जनसामान्य मे निहित है, किसी एक राजपुरुष या राजसभा मे नहीं। रूसो के लोकसम्मत प्रभुता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त का परिणाम

ही फ्रास की राज्य-क्रान्ति थी, उसी के आधार पर ही सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान मे जनसामान्य के अधिकारो की घोषणा की गई। धीरे-धीरे इस सिद्धान्त का सम्पूर्ण विश्व मे प्रचलन हो गया और आज लार्ड आइम के शब्दो मे यह लोक-राज्य का आधार एव आदर्श समझा जाता है।

परन्तु अपनी सर्वप्रियता के बावजूद भी यह सिद्धान्त पर्याप्त भ्रामक और दोषपूर्ण है। जितना ही इसके स्वरूप को निश्चित किये जाने का प्रयत्न किया जाता है उतना ही यह अस्पष्ट नजर आता है। राजनीतिक प्रभुता की सम्पूर्ण अपूर्णताएँ इसमे भी विद्यमान है। यह अनिश्चित है कि 'जनता' से क्या तात्पर्य है? इस सिद्धान्त के समर्थक इसका कोई उत्तर नही दे पाते। जनता से तात्पर्य राज्य की आवाल वृद्ध सम्पूर्ण आबादी से भी हो सकता है, परन्तु इस अर्थ मे जनता किसी भी अर्थ मे प्रभुता सम्पन्न नही हो सकती। राज्य की सम्पूर्ण आबादी राज्य-शासन मे हिस्सेदार नही होती। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, वोट देने का अधिकार भी सम्पूर्ण आबादी के एक विशिष्ट भाग को होता है, सबको नही। निर्वाचकमण्डल राजनीतिक नेताओ, धर्माधिकारियो, सामन्तो या भूस्वामियो के प्रभावान्तर्गत हो सकते हैं। इसी प्रकार जनसामान्य की इच्छा का निर्माण भी अनेक वाह्य प्रभावो से होता है।

प्रोफेसर गेटल का यह विचार सर्वथा युक्तियुक्त है कि एक असगठित जन-समुदाय किसी भी रूप मे राज्य की सर्वोच्च सत्ता का सचालक नहीं हो सकता। राज्य-सत्ता का प्रयोग कानूनी तरीको से ही सम्भव है। यदि जनमत किसी कानूनी-प्रभु से असन्तुष्ट है तो वह उसका परिवर्तन कर पुन सगठन कर सकता है। यदि हम कहे कि सब काल मे ही प्रभुता जनता के हाथ मे रहती है तो इसका अर्थ हुआ राज्यसत्ता सदा जनता की दया पर निर्भर है। ऐसी हालत मे राज्य मे कानून और व्यवस्था बनाये रखना असम्भव हो जायेगा, सदा ही क्रान्ति या विद्रोह का भय रहेगा। जन-सामान्य की इच्छा और उसका प्रभाव अस्वीकार नही किया जा सकता परन्तु उसे राज्य की सर्वोच्च सत्ता मान लेने का अर्थ राज्य की कानूनी सत्ता का नाश ही होगा। प्रभुता का कानूनी और सगठित होना अनिवार्य है। जनसामान्य मे सगठन का अभाव होता है और जनसामान्य की इच्छा कानून तभी बनती है जब उसे कानूनी साधनो द्वारा प्रगट किया जाता है। अव्यवस्थित लोकमत चाहे कितना भी प्रभावोत्पादक और शक्तिशाली क्यो न हो, तब तक प्रभुता का रूप धारण नही कर सकता जब तक कि कानूनी साधनो द्वारा प्रगट नही किया जाता।

आज के प्रजातन्त्र के युग मे हम यही कह सकते हैं कि लोक सम्मत प्रभुता का अर्थ जनमत (Public opinion) ही है। यह ठीक है कि लोकसम्मत प्रभुता का स्वरूप निर्धारण कठिन है, परन्तु जनमत के प्रभाव की अवहेलना नही की जा सकती। इस सिद्धान्त की महत्ता इस बात मे है कि यह राज्य को और उसकी शक्ति को जनसत्तात्मक आधार देता है। यह इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि जन-सहमति के बिना किसी भी राजकीय व्यवस्था का देर तक टिक सकना सम्भव नही। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न पर जनमत का जल्दी से जल्दी जान लेना

राजनीतिक व्यवस्था के ही हित मे है। डा० आशीर्वादम के अनुसार इस सिद्धान्त मे निम्नलिखित सत्यांश हैं—

(१) सरकार का अस्तित्व अपने हित के लिए नही होता। जनहित ही उसका उद्देश्य है।

(२) जान-बूझकर जनमत को दबाने से या कुचलने से क्रान्ति की सम्भावना बनी रहती है।

(३) जनमत के प्रगट करने के कानूनी किन्तु सरल साधनो की व्यवस्था रहनी चाहिए।

(४) जल्दी-जल्दी चुनाव करके तथा स्थानीय स्वायत्त शासन (Local self-government), जनमत-संग्रह (Referendum), प्रस्तावाधिकार (Initiative) और जन प्रतिनिधि के वापस बुलाने के अधिकार (Recall) द्वारा सरकार को जनमत के प्रति अधिक प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होना चाहिए।

(५) राजकीय सत्ता का प्रयोग सरकार द्वारा सवैधानिक (Constitutional) तरीको से होना चाहिए, मनमाने ढग से नही।[1]

कानूनी और यथार्थ प्रभुता (Dejure and Defacto sovereignty)—प्रभुता के दो अन्य रूप भी हैं जिनमे प्राय भेद किया जाता है, यह भेद हैं—कानूनी (Dejure) और यथार्थ (Defacto) प्रभुता। कानूनी प्रभुता का आधार सविधान (Constitution) है। वह कानून के आधार पर आदेश जारी करता है और जनता द्वारा उन्हे पालन करवाने की क्षमता रखता है। यथार्थ प्रभुता वह है जिसके आदेशो का पालन वास्तव मे जनता करती है, परन्तु उसकी सत्ता का कानूनी आधार नही होता। वह व्यवहार रूप मे प्रभु होता है।

इन दोनो का भेद युद्ध या क्रान्ति के समय स्पष्ट हो जाता है। अगर कही क्रान्ति हो जाती है और बलपूर्वक वैध प्रभु के अधिकारो को छीनकर कोई अन्य व्यक्ति या व्यक्ति-समूह राज्य-सत्ता पर कब्जा कर लेता है और अन्तिम आदेश देने लग जाता है तो वह वैध प्रभु न होता हुआ भी वास्तविक प्रभु कहलाता है। वास्तविक प्रभुता शारीरिक बल पर या धार्मिक अथवा राजनीतिक शक्ति पर आधारित हो सकती है। इस प्रभुता के अनेक रूप हो सकते हैं। वह धर्माधिकारी, राज्य-शक्ति अपहरणकर्त्ता, पुरोहित, सैनिक-अधिनायक या परिषद् किसी भी रूप मे हो सकती है।

वास्तविक प्रभुता को कानूनी नही कहा जा सकता, क्योकि प्रभुता का मुख्य लक्षण आदेश देने और पालन करवाने की शक्ति है। अपनी सत्ता को स्थिर बना लेने पर और पर्याप्त समय तक राज्य की आबादी पर पूर्ण नियन्त्रण रखने मे सफल होने पर वास्तविक प्रभु ही वैधानिक प्रभु बन जाता है।

प्राय. राज्यो मे वैधानिक और वास्तविक प्रभु एक रूप ही होते हैं, क्रान्ति या राजकीय परिवर्तन के अनन्तर ही दोनो मे भेद उपस्थित होता है।

वास्तविक प्रभुता के अनेक उदाहरण वर्तमान युग के इतिहास मे मिल जाते

1. देखिए डा० आशीर्वादम् लिखित "Political Theory" पृष्ठ २३०।

हैं। १६१७ मे रूस मे क्रान्ति के फलस्वरूप जार के शासन को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर लेनिन के नेतृत्व मे वोल्शविक पार्टी ने शासन स्थापित कर लिया। वहुत समय तक रूस की वास्तविक प्रभुता तो कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ मे रही जव कि कानूनी प्रभु जार ही माना जाता रहा। कम्युनिस्ट शासन की स्थिरता के फलस्वरूप उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वैधानिक प्रभु मान लिया गया और वही वहां की कानूनी प्रभुता हो गई।

अनेक वार वास्तविक प्रभु की वैवानिक सत्ता अन्य देशो की स्वीकृति और कानूनी मजूरी (Legal recognition) पर भी आधारित होती है अर्थात जव तक उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वैधानिक मजूरी न मिल जाये वह राज्य का वास्तविक प्रभु रहता हुआ भी अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार वैध प्रभु नही वन पाता।

वास्तविक प्रभु के वैध वनने के अनेक उदाहरण वर्तमान इतिहास मे मिल जाते हैं। अभी हाल मे मिश्र मे जनरल नजीव के नेतृत्व मे वादशाह फारूक के विरुद्ध सैनिक विद्रोह हुआ था। फलस्वरूप वादशाह फारूक को सिहासन-हटा कर देश से निर्वासित कर दिया। इस तरह वैध प्रभु का स्थान जनरल नजीव और उसके साथियो ने वास्तविक प्रभु के रूप मे ग्रहण कर लिया। नवीन शासन के स्थिर होने पर उसे अन्य देशो द्वारा भी मान्यता (Recognition) मिल गई और शीघ्र वह मिश्र का कानूनी प्रभु हो गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के खत्म होने पर चीन मे साम्यवादी दल ने च्याग और उसके दल को निकाल वाहर किया और अपना शासन सम्पूर्ण देश पर स्थापित कर लिया। च्याग की सरकार ने भागकर फारमोसा मे शरण ली। आज चीन मे वास्तविक प्रभुता साम्यवादी दल के हाथ मे है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे रूस और अमेरिका के पारस्परिक सघर्ष के फलस्वरूप चीन की साम्यवादी सरकार को अभी तक वहुत से देशो ने केवल वास्तविक प्रभु ही स्वीकार किया है, वैधप्रभु च्याग की राष्ट्रवादी सरकार ही समझी जाती है। राष्ट्रो के अन्य दल ने चीन की मौजूदा साम्यवादी सरकार को चीन राज्य का वास्तविक और वैधप्रभु दोनो ही रूपो मे स्वीकार कर लिया है। चीन की साम्यवादी सरकार की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह निश्शक होकर कहा जा सकता है कि निकट भविष्य मे सयुक्त राज्य अमेरिका आदि राज्यो को भी उसे वधप्रभु के रूप मे स्वीकार करना ही पड़ेगा, और यह अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के यथार्थ तत्त्वो के सर्वथा अनुकूल ही होगा।

इस प्रकार वास्तविक प्रभु के कुछ समय बाद वैधप्रभु वन जाने की सदा ही सम्भावना रहती है।

५८. प्रभुता की विशेषताएँ (Characteristics of sovereignty)

प्रभुता की विभिन्न विशेषताओ का हम निम्न प्रकार से विवेचन कर सकते हैं—

(१) स्थायित्व (Permanence)—राज्य के समान प्रभुता भी स्थायी है।

जब तक राज्य है तब तक प्रभुता भी है। राज्य के आन्तरिक संगठन मे हेर-फेर हो सकता है, प्रभुताधारी शक्ति का भी अन्त हो सकता है, परन्तु प्रभुता मे कोई अन्तर नही आता, वह राजा की मृत्यु के साथ खतम नही हो जाती। एक राष्ट्रपति या राजा के पद त्याग करने पर अथवा पदच्युत होने पर प्रभुता तुरन्त दूसरे पदाधिकारी के हाथ मे चली जाती है।

वर्तमान युग मे लोकतन्त्रात्मक राज्यो मे सरकारो मे परिवर्तन होता रहता है, कभी किसी एक दल की सरकार होती है तो कभी दूसरे की। इस परिवर्तन मे प्रभुता की अटूट गति मे किसी प्रकार की रुकावट नही होती। ब्रिटेन मे लोग प्राय. कहते हैं—'सम्राट् मर गया है; सम्राट् दीर्घजीवी हो' (The King is dead, long live the King) इस द्वारा प्रथम सम्राट् से तो नाशवान राज्याधिकारी का बोध होता है, जब कि दूसरे सम्राट् शब्द द्वारा राज्य की स्थायी प्रभुता का।

(२) अविच्छेद्यता (Inalienability)—प्रभुता राज्य की सर्वोच्च सत्ता है, उसका सार है, उसका जीवन है। उसके बिना राज्य का जीवन विनष्ट हो जाता है, राज्यत्व समाप्त हो जाता है। लाइबर (Lieber) का कथन है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य आत्म-विनाश के बिना अपने जीवन को अपने शरीर से विलग नही कर सकता ठीक उसी प्रकार राज्य भी आत्म-विनाश के बिना प्रभुता को उपहार-स्वरूप हस्तान्तरित नही कर सकता।

एक राज्य जब कभी अपने किसी प्रदेश के एक भाग को दूसरे राज्य को सौंप देता है, तो वह उस पर अपने सम्पूर्ण अधिकार खो बैठता है, वह दूसरे राज्य का एक अभिन्न भाग बन जाता है। परन्तु अपने प्रदेश मे राज्य की प्रभुता सर्वथा सुरक्षित रहती है।

(३) मौलिकता (Originality)—अनेक राजनीति-विशारदो का कथन है कि राज्य की प्रभुता ईश्वरप्रदत्त है। कुछ एक का कथन है कि वह जनता द्वारा राज्य को सौंपी गई है। ग्रोशियस, वुल्फ तथा हॉब्स इत्यादि का यह विचार था कि वह प्रारम्भिक समझौते द्वारा जनता ने राज्य को या सम्राट् को सौंप दी। रोमन विचारको ने भी सम्राट् की प्रभुता का अन्तिम स्रोत जनता को ही माना है। परन्तु ऑस्टिन इत्यादि का विचार है कि राज्य की प्रभुता सर्वथा मौलिक है, वह किसी द्वारा उसे दी नही गई। यदि ऐसा न माना जाय तो उसका अर्थ यह है कि राज्य से भी ऊपर कोई अन्य शक्ति वर्तमान है, इस अवस्था मे राज्य की सर्वोच्च सत्ता का विनाश हो जायगा।

(४) परमपूर्णता (Absoluteness)—राज्य की प्रभुता परमपूर्ण और असीम है, उसे किसी भी प्रकार सीमित या मर्यादित नहीं किया जा सकता। वस्तुत धरती पर ऐसी कोई सत्ता नही जो उसका नियमन और नियन्त्रण कर सके। यदि कोई अन्य शक्ति उसकी शक्ति का नियन्त्रण करती है तो वही शक्ति प्रभु कहलायेगी।

राज्य की इस परमपूर्ण और असीम प्रभुता के दो रूप हैं। प्रथम तो राज्य

मे प्राप्त सभी व्यक्ति और व्यक्ति-समूह राज्य द्वारा नियन्त्रित किये जाते हैं। प्रभुता पर लगाई गई पावन्दियाँ स्वय आरोपित होती हैं, वह किसी अन्य द्वारा लागू नही की जाती। धर्म, न्याय, औचित्य, नैतिक सिद्धान्त और नियम, रीति-रिवाज इत्यादि सभी प्रभुता के नियामक कहे जाते हैं, इसी प्रकार ईश्वरादेश या दैवीय नियम और प्रकृत विधान प्रभुता के नियन्त्रणकर्त्ता कहलाते हैं। परन्तु कानूनी दृष्टि से उनकी मौजूदगी राज्य की इच्छा से ही सम्भव है, बिना राज्य की मर्जी के वह जीवित नही रह सकते।

इसी प्रकार प्रभुता को वाह्य पावन्दियो से सीमित भी बतलाया जाता है। यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय विधान के नियम और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के नैतिक नियम सभी राज्य की वाह्य प्रभुता को नियन्त्रित करते है। परन्तु यह विचार भी भ्रामक है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ऐसी कोई शक्ति नही जो इन नियमो को लागू कर सके, जो राज्य को नियम-पालन के लिए मजबूर कर सके। उनकी मान्यता तभी तक है जब तक कि राज्य चाहे।

इसी प्रकार राज्य की प्रभुशक्ति कानून की दृष्टि से सर्वथा असीम और पूर्ण है। हाँ, वह स्वय-अपनी शक्ति-सीमा निर्धारित कर सकता है।

(५) सर्वव्यापिता (Universality or All comprehensiveness)—प्रभुता की एक अन्य बडी विशेपता सर्वव्यापकत्व है। इस अर्थ मे प्रभुता, राज्य के अन्तर्गत आने वाले सम्पूर्ण प्रदेश, उनमे स्थित व्यक्ति तथा व्यक्ति समुदाय या सघ सभी पर अवाध रूप से लागू होती है। उसके नियन्त्रण से छूट का दावा उनमे कोई भी नही कर सकता। हाँ, राज्य अपनी इच्छा से अनेक व्यक्तियो या व्यक्ति-समूहो को अपने नियन्त्रण से वाहर रख सकता है। यही कारण है कि विदेशी राज-दूतावास तथा राजदूत राज्य-शक्ति के नियन्त्रण से मुक्त होते है। जब कभी कोई अन्य देशीय सम्राट्, राष्ट्रपति या उच्च राज्य-प्रतिनिधि अस्थायी रूप से किसी अन्य राज्य की यात्रा कर रहा होता है या निवास करता है तो वह उस राज्य के कानूनो नियन्त्रण से मुक्त होता है। परन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि राज्य-नियन्त्रण से यह अस्थायी मुक्ति केवल मात्र अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार (International courtesy) का ही परिणाम है, जिसे राज्य जब चाहे हटा सकता है।

(६) अविभाज्यता (Indivisibility)—प्रभुता की पूर्णता, असीमता और सर्वव्यापिता का ही परिणाम अविभाज्यता है। गेटल ने ठीक ही कहा कि **"यदि प्रभुता परमपूर्ण नहीं तो किसी राज्य का कोई अस्तित्व नहीं यदि प्रभुता विभाजित है तो एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व हो जाता है।"**[1] जेलिनेक का कथन है कि विभाजित खण्डित, क्षीण, सीमित तथा सापेक्षक प्रभुत्व प्रभुत्व भावना के सर्वथा विपरीत है। प्रभुता की विशेषता उसकी एकता है।

---

1 "If sovereignty is not absolute, no State exists, if sovereignty is divided, more than one State exists" —*Gettell*

एक से अनेक मे पहुँचने पर उसकी सर्व श्रेष्ठता विनष्ट हो जाती है। मध्य युग मे राज्य की प्रभु शक्ति विभाजित थी। राजा, सामन्त और पोप सभी अपने-आपको प्रभुता के अधिकारी समझते थे, और यही कारण था कि उस युग मे राज्य नामक सस्था का ही अभाव था।

आज बहुसमुदायवादियो (Pluralists) का यह विचार है कि समाज का संगठन संघात्मक है, राज्य भी एक सघ या समुदाय (Association) की भाँति है, अत वह असीम प्रभुता का अधिकारी नही। प्रभुता राज्य और समुदायो मे विभाजित है। परन्तु यह धारणा सर्वथा मिथ्या और भ्रामक समझी जाती है। सामाजिक सघो (Associations) को राज्य के बराबर मान लेने से और राज्य-शक्ति को उनमे बाँट देने से प्रभुता टुकडे-टुकडे हो जायगी, राज्य में अराजकता फैल जायगी, सम्पूर्ण व्यवस्था और शान्ति खत्म हो जायगी। राज्य अपनी इसी शक्ति के बल पर ही व्यक्ति और व्यक्ति-समुदायो के आपसी सम्बन्धो का नियन्त्रण करता है और राज्य मे शान्ति और व्यवस्था बनाये रखता है।

परन्तु सघ-राज्य (Federations) मे प्रभुता के विभाजन को तो आज बहुत से राजनीति-विशारद मानते हैं। ए० एल० लोवेल (A L Lowell) ने बडे जोरदार शब्दो मे कहा था कि "एक ही प्रदेश मे दो प्रभुओ का अस्तित्व सम्भव है जो कि एक ही प्रजावर्ग को विभिन्न विषयों में अपने-अपने आदेश देते हैं।"[1] संयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रभुता के विभाजन को माना जाता है, यह कहा जाता है कि इस सघ राज्य मे दो प्रभुशक्तियाँ है। संघ राज्य तो अपने क्षेत्र मे प्रभु है और राज्य अपने क्षेत्र मे, दोनो एक दूसरे के क्षेत्र में दखल नही दे सकते। हैमिल्टन तथा मेडीसन ने इसी मत का समर्थन किया था। १७९२ मे सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले मे इस बात को स्वीकार किया कि सयुक्त राज्य अपने राष्ट्रीय मामलो मे सर्वथा स्वतन्त्र है और राज्य अपने-अपने सुरक्षित विषयो (Residuary powers) मे। ताकविल, हर्ड, विलस तथा कूले और स्टोरी जैसे राजनीति-विशारदो और न्यायाधीशो ने भी इसी मत का समर्थन किया। परन्तु विधानशास्त्रियो ने संघराज्य की इस विभाजित प्रभुत्व की कल्पना का सर्वथा खण्डन किया है। उनका कथन है कि संघ राज्य मे वस्तुत. प्रभुशक्ति सविधान को परिवर्तित करने वाले साधन मे स्थित है। उनका उपयोग न तो राज्य ही करते हैं और न सघीय सरकार ही। संघीय सरकार और राज्य सरकारें दोनो मिलकर ही उनकी अभिव्यक्ति करती हैं। यह कहा जाता है कि संघ मे और राज्यो मे राजकीय विषयो का विभाजन है, प्रभुता का नही। प्रभुता का प्रगटीकरण अवश्य अलग-अलग क्षेत्रो मे अलग-अलग साधनो द्वारा होता है। केल्हून (Calhoun) ने इस विषय पर विचार करने के अनन्तर इस प्रकार कहा है "प्रभुता

---

1. "There can exist within the same territory two sovereigns issuing commands to the same subjects touching different matters'
Lowell.

एक समग्र वस्तु है, उसके विभाजन करने का अर्थ है उसे नष्ट करना। किसी भी राज्य मे प्रभुता सर्वोपरि शक्ति है और आधी प्रभुता कहना उतना ही असगत और हास्यास्पद है जैसे आधा वर्ग या आधा त्रिभुज कहना।"[1]

५६. आस्टिन का प्रभुता सिद्धान्त (Austin's theory of sovereignty)

प्रभुता के सिद्धान्त के विकास-क्रम का दिग्दर्शन हम पीछे करा आये हैं। हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार विभिन्न अवसरो पर विभिन्न राजनीति-विशारदो ने प्रभुता की व्याख्या की और उसके विभिन्न लक्षण दिये। परन्तु वैधानिक प्रभुता की वैज्ञानिक और विशुद्ध व्याख्या का श्रेय सुप्रसिद्ध अग्रेज विधानशास्त्री जॉन आस्टिन को दिया जाता है। जॉन आस्टिन अपने विचारो मे हॉब्स तथा बेन्थम की एतद्विषयक धारणाओ से प्रभावित थे। बेन्थम की तरह उनका प्रमुख उद्देश्य विधानशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावलि का रूप स्थिर करना और कानून की तर्कसगत व्याख्या करना था। हमें यह नही भूलना चाहिए कि आस्टिन के प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त का राजनीति शास्त्र से प्रत्यक्ष और मुख्य सम्बन्ध नही या उसकी रचना राजनीति शास्त्र के विचार से नही की गई। परन्तु इस कारण उसके एतद्विषयक विचारों की महत्ता किसी भी प्रकार कम नही हो जाती। वस्तुत राजनीति शास्त्र के सम्पूर्ण इतिहास मे पाये जाने वाले एतद्विषयक विचारो की जितनी स्पष्ट व्याख्या आस्टिन द्वारा की गई है वैसी अन्यत्र कही नही मिलती, यही कारण है कि हम आस्टिन की प्रभुता सम्बन्धी धारणा की यहां विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे। कानून की व्याख्या करते हुए उसने प्रभुता की इस प्रकार परिभाषा की है—**"यदि कोई निश्चित मानव, जो उच्च और श्रेष्ठतम है, जो उसी प्रकार के किसी अन्य श्रेष्ठतम व्यक्ति से आदेश प्राप्त करने का अभ्यस्त नहीं, एक निश्चित समाज के बड़े भाग से आमतौर पर अपने आदेशों का पालन करवाने का अभ्यासी है, तो वह उस समाज मे प्रभु है, और वह समाज उस श्रेष्ठतम मानव सहित राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज है।"[2]**

इसी प्रकार कानून की परिभाषा करते हुए आस्टिन ने कहा कि **"उच्च सत्ताधारी व्यक्ति अपने से निम्न सत्ता रखने वाले व्यक्ति को जो आदेश देता है उसे कानून कहते हैं।"[3]**

निष्कर्ष—आस्टिन द्वारा की गई प्रभुसत्ता की इस परिभाषा से अनेक

---

1 'Sovereignty is an entire thing, to divide it is to destroy it It is the supreme power in a State and we might just as well speak of half a square or half a triangle as of half a sovereignty' —*Calhoun.*

2 "If a determinate human superior, not in a habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in the society, and the society (including superior) is a society political and independent"
—*Austin*

3 "Law is a command given by a superior to an inferior"
—*Austin.*

निष्कर्ष निकाले गये है, जिन्हे हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) प्रत्येक राज्य मे प्रभुता एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय मे स्थापित होनी चाहिए। दूसरे शब्दो में प्रभुता 'सामान्य इच्छा' (General will) या दैवीय इच्छा (Divine will) अथवा जनमत (Public Opinion) मे नही रह सकती। क्योकि यह सभी अनिश्चित और अस्पष्ट हैं।

(२) निश्चित व्यक्ति या समुदाय मे स्थित प्रभुता किसी अन्य भौतिक या दैवीय शक्ति द्वारा नियन्त्रित नही की जाती। प्रभु की शक्ति असीम और अबाध होती है। वह अविवेकपूर्ण, असत्य और अनैतिक कार्य भी कर सकता है।

(३) प्रभुता ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय मे स्थापित होनी चाहिए कि जिसकी ओर स्पष्ट रूप से सकेत किया जा सके।

(४) प्रभुशक्ति के आदेशो का पालन समाज की आबादी के एक बडे अश द्वारा होना आवश्यक है। जहाँ समाज के अधिकाश भाग द्वारा अभ्यस्त रूप से प्रभु के आदेशो का पालन न होता हो, वहाँ प्रभुता का अस्तित्व असम्भव है।

(५) शासक के आदेश कानून होते हैं और उनका उल्लघन दण्डनीय है। प्रजा के अधिकार शासक के आदेश द्वारा निर्धारित होते हैं। राज्य शक्ति के विरुद्ध प्रजा को कोई अधिकार प्राप्त नही होता।

आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना—आस्टिन के सिद्धान्तो की बडी कडी आलोचना की गई है। प्रो० लॉस्की का विचार है कि यदि प्रभुता सम्बन्धी सम्पूर्ण सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया जाये तो इससे राजनीति शास्त्र को स्थायी लाभ होगा। हेनरी मेन (Henry Maine), हेनरी सिजविक (Henry Sidgwick) तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनेक समर्थको का मत है कि आस्टिन का सिद्धान्त अत्यन्त भ्रामक और अनिष्टकारी है। समाजविज्ञान के अध्येता इसे सर्वथा असत्य मानते हैं। यथार्थवादी इसे केवल कानूनी कल्पना कहकर उडा देते हैं। नीचे हम आस्टिन के सिद्धान्त पर किये गये अनेक आक्षेपो का सक्षिप्त विवेचन करेंगे—

(१) **असीम और अबाध सत्ताधारी व्यक्ति का अभाव**—आस्टिन का विचार है कि प्रत्येक राज्य मे किसी न किसी ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय की अवस्थिति रहती है जो कि असीम और अबाध शक्ति का प्रयोग करता है। यह विचार ऐतिहासिक और राजनीतिक विवेचन करने पर सर्वथा असत्य सिद्ध होता है। प्रत्येक राज्य मे अनेक ऐसी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव शक्तियाँ कार्य करती हैं जिनकी अवहेलना कोई भी बडे से बडा राज्याधिकारी नही कर सकता।

सर हेनरी मेन ने इस विषय मे सिख राजा रणजीतसिंह का उदाहरण प्रस्तुत किया है। महाराजा रणजीतसिंह निरकुश शासक था, उसके आदेश की अवहेलना का अर्थ मृत्यु-दण्ड या अंग-भंग होता था। फिर भी उसने कभी भी आस्टिन के अर्थों मे आदेश द्वारा कानून का निर्माण नही किया। उसकी प्रजा का आचरण परम्परागत रीति-रिवाज द्वारा होता था। वह स्वयं भी उन धार्मिक और राजनीतिक रीति-रिवाजों के विरुद्ध नही जा सकता था।

भारतीय इतिहास के प्राचीन और मध्य युग के निरकुश शासक भी धार्मिक रीति-नीति और पुरोहित वर्ग के आदेशो की अवहेलना करने का साहस नही कर सकते थे। हेनरी मेन ने यह भी कहा है कि "पाश्चात्य देशो मे भी कोई शासक, वह चाहे जितना निरकुश क्यो न हो, समुदाय के सम्पूर्ण इतिहास की उपेक्षा नही कर सका है।"

(क) प्रो० लॉस्की ने वास्तविक ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर यह सिद्ध किया है कि **"कहीं भी किसी भी प्रभु ने कभी असीमित अधिकार शक्ति का प्रयोग नहीं किया। हमेशा ऐसे अधिकार प्रयोग करने का परिणाम संरक्षणों की स्थापना ही हुआ है।"**[1]

उनका कथन है कि इग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे प्रभुतापूर्ण शक्ति-सम्पन्न हो, परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र मे उसकी शक्ति सीमित है। **"कानूनी दृष्टि सम्राट् सहित पार्लियामेण्ट जनमत की अवहेलना कर सकती है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह केवल इसी शर्त पर कर सकती है कि ऐसा करने पर सम्राट् और पार्लियामेण्ट दोनों ही समाप्त हो जायेंगे।"**[2]

(ख) वैयक्तिक हित की दृष्टि से भी राज्य की असीम प्रभुशक्ति का सिद्धान्त अत्यन्त खतरनाक है। यह राजकीय तानाशाही का समर्थन करता है और वैयक्तिक हित की अवहेलना करता है। यह सिद्धान्त शक्ति (Force) को राज्य का प्रमुख तत्त्व मान लेता है और वैयक्तिक सहमति (Individual consent) का तिरस्कार करता है। राज्य का उद्देश्य वैयक्तिक और सामूहिक हित है, उसका मुख्य कर्त्तव्य बल-प्रयोग नही सेवा है। ऐसे असीम अधिकारसम्पन्न प्रभु की कल्पना एक अराजक युग मे तो ठीक हो सकती है या उस राज्य के लिए उपयुक्त हो सकती है, जिसका काम सेवा-सुश्रूषा न हो केवल मात्र दण्ड देना है, परन्तु वर्तमान युग के राज्यो के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योकि वर्तमान राज्य का उद्देश्य शक्ति-प्रदर्शन नही अपितु समाज-कल्याण है।

(२) **प्रभुता अविभाज्य नहीं** (Sovereignty is not indivisible)—प्रभुता की अविभाज्यता का भी खण्डन किया जाता है। इस मत के समर्थन मे इग्लैण्ड, सयुक्त राज्य अमेरिका और भारत की विधानपालिकाओं के उदाहरण दिये जाते हैं। ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत राजकीय शक्ति और कर्त्तव्य का विभाजन मिल जाता है। सम्राट् हाउस ऑफ लार्ड्स (House of Lords) और हाउस ऑफ कॉमन्स (House of Commons) राज्य के तीन

---

1 "No sovereign has anywhere possessed unlimited power, and in attempt to exert it has always resulted in the establishment of safeguards"—*Laski*

2 "Legally. ....the King in Parliament may outrage public opinion, practically, it can do so only on the implied conditions that it ceases as a consequence, to be the King in Parliament"—*Laski*

पृथक् भाग हैं; और तीनों ही सर्वोपरि सत्ता मे हिस्सेदार है।"

(क) डायसी ने यह बात बहुत स्पष्ट रूप मे कही है कि ब्रिटेन मे कानूनी प्रभु के अतिरिक्त राजनीतिक प्रभु भी है और इस प्रकार उसने प्रभुता को दो रूपो मे बाँट दिया। आस्टिन भी राजनीतिक प्रभुता की सत्ता को स्वीकार करता है। हम पीछे देख चुके हैं कि किस प्रकार आज के प्रजातन्त्रवादी राज्यो मे राजकीय शक्ति जनता द्वारा नियन्त्रित की जाती है। कोई भी व्यक्ति, जिसे आज के राजनीतिक सगठन का थोडा-सा भी परिचय है वह यह अस्वीकार नही कर सकता कि राज्य-शक्ति कभी अनियन्त्रित और असीम नही हो सकती। इसका अनुत्तरदायी रूप पुराने जमाने की बात है, अत आज के प्रत्येक कानूनी प्रभु को राजनीतिक प्रभु के सम्मुख झुकना पडता है। प्रत्येक राज्य मे कानूनी प्रभु के साथ-साथ राजनीतिक प्रभु की अवस्थिति को भी स्वीकार किया जाता है। आस्टिन ने इस सिद्धान्त द्वारा जनमत की अवहेलना कर प्रजातन्त्र का ही अपमान किया है।

(ख) जैसे कि हम पीछे भी देख चुके है सयुक्त राज्य अमेरिका मे न तो संघीय कांग्रेस और न ही राजकीय विधानपालिकाएँ इस स्थिति मे हैं कि वह अबाध और असीम प्रभुता का प्रयोग कर सके। राजकीय शक्तियो का इस ढग से बँटवारा किया गया है कि सघीय सरकार और राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र हैं। वह एक-दूसरे के मामलो मे हस्तक्षेप नही कर सकती। इस प्रकार सम्पूर्ण सघीय राज्यो मे प्रभुता का विभाजन रहता है।

(ग) प्रभुता की अविभाज्यता के मुख्य आलोचक आज के बहुसमुदायवादी (Pluralists) है। प्रो० लास्की, मैकाइवर, कोल इत्यादि ने राज्यीक असीम और अविभाज्य शक्ति का खण्डन करते हुए उसे राज्य और समुदायो मे विभाज्य बतलाया है। राज्य अपनी प्रकृति मे और कर्तव्यो मे भी सामाजिक सघो और समुदायो से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं। तमाम धार्मिक तथा सांस्कृतिक समुदाय जनसगठन तथा कर्तव्य-क्षेत्र मे राजकीय नियन्त्रण से स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक समुदाय का अपना व्यक्तित्व है, अपनी इच्छा है और अपने नियम है, वे राज्य द्वारा नहीं बनाये गये। ऐसी अवस्था मे वैयक्तिक जीवन मे उनका वही स्थान है जो राज्य का, बल्कि कुछ क्षेत्रो मे वह राज्य से भी महत्त्वपूर्ण हैं। बहुसमुदायवादियों का कथन है कि प्रभुता राज्य मे और इन समुदायो मे विभाजित रहती है। कोई भी राज्य असीम और अविभाज्य प्रभुता का प्रयोग नहीं कर सकता।

(३) **प्रभुता मे निश्चयात्मकता का अभाव**—आस्टिन का कथन है कि प्रभु-शक्ति किसी एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय मे अवस्थित होनी चाहिए। उसने अपने कथन के समर्थन मे इग्लैण्ड के पार्लियामेण्ट सहित सम्राट् (The King in Parliament) का उदाहरण दिया है। इसमे सन्देह नही कि इग्लैण्ड मे वैधानिक प्रभुता सम्राट् और पार्लियामेण्ट के दोनो सदनो मे स्थित है। जो बिल दोनो सदन पास कर दें वह सम्राट् की सहमति प्राप्त कर कानून बन जाते हैं। परन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि देशो मे जहाँ लिखित विधान है और शासन-व्यवस्था

सघात्मक है, प्रभुता का खोज निकालना आसान काम नही। प्रो० लास्की ने तो उसे एक असम्भव जोखम (Impossible adventure) कहा है।

सयुक्त राज्य अमेरिका मे कहा जाता है कि प्रभुता का स्रोत सविधान है, परन्तु सविधान को एक निश्चित (मानवीय) समूह कहना दुस्साहस मात्र है। जैसे कि पहले देखा जा चुका है सघात्मक व्यवस्था के फलस्वरूप सविधान के अन्तर्गत राजकीय शक्तियो का सघ सरकार मे और राज्य सरकारो मे विभाजन कर दिया गया है। दोनो को ही सीमित शक्तियाँ प्राप्त हैं और दोनो सविधान के अनुसार ही कार्य कर सकती हैं। सविधान के सशोधन के निम्न प्रकार हैं—

(क) काग्रेस (सघीय विधानपालिका) दो-तिहाई बहुमत से किसी सवैधानिक सशोधन को प्रस्तुत कर सकती है, परन्तु वह तब तक कानून नही बन सकता जब तक कि कम से कम तीन चौथाई राज्य-विधान पालिकाएँ उसे स्वीकार न कर लें।

(ख) दो-तिहाई राज्य विधानपालिकाओ की प्रार्थना पर एकत्रित राज्यो की एक विशेष सभा मे सविधान सम्बन्धी सशोधन प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु वह सविधान का भाग तभी बनेगा जब कि तीन-चौथाई राज्य-विधानपालिकाएँ स्वीकार कर लें।

(ग) काग्रेस दो तिहाई वोट से सविधान सम्बन्धी सशोधन प्रस्तुत करे और तीन-चौथाई राज्यो का विशेष सम्मेलन इसे स्वीकार कर ले, तो वह सविधान का भाग बन जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न समयो पर इस प्रकार के विभिन्न समूहों द्वारा सविधान सशोधित हो सकता है। इस स्वरूपविहीन सदा परिवर्तित होते रहने वाली सस्था को हम निश्चित किस प्रकार कह सकते हैं, इसे निश्चित सस्था कहना भाषा का दुरुपयोग ही है।

स्विट्ज़रलैण्ड मे सविधान सम्बन्धी सशोधन पर अन्तिम स्वीकृति के लिए जनमत-सग्रह होता है, और जनता द्वारा स्वीकृत होने पर ही वह कानून बन सकते हैं। ऐसी अवस्था मे स्विट्ज़रलैण्ड मे प्रभु शक्ति का स्रोत जनता को स्वीकार किया जायेगा, और आस्टिन के मतानुसार जनता प्रभु नही कहला सकती, क्योकि न तो उसका कोई सगठन ही है और न वह एक निश्चित समुदाय है।

इस प्रकार इग्लैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशो मे प्रभुता का कोई निश्चित (Determinate) रूप नही मिलता।

(४) **कानून राज्य का आदेश मात्र नहीं** (Law is not merely a command of the sovereign)—आस्टिन के मतानुसार राज्यादेश ही कानून हैं। विधानशास्त्र के ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याकारों ने उपर्युक्त मत की तीव्र आलोचना की है। सर हेनरी मेन के मतानुसार कानून को किसी भी दृष्टि से सर्वोच्च सत्ता का आदेश नही माना जा सकता। प्रत्येक समाज मे अनादिकाल से अनेक ऐसी प्रथाएँ और परम्पराएँ चलती आ रही हैं जिसे किसी भी प्रभु ने आदेश रूप मे जारी नही किया, ये नियम हमारे समाज के धार्मिक और नैतिक स्तर के

प्रतिविम्ब होते हैं। कोई भी शासक इनके परिवर्तन मे तब तक समर्थ नही होता जब तक कि जनता की सत्य, औचित्य, न्याय और नैतिकता की भावनाओ मे परिवर्तन न हो जाय। ऐसे नियमो का पालन जनता स्वयं अपनी इच्छा से करती रहती है, दण्ड-भय से नही।

प्राचीन काल के समाज के लिए तो आस्टिन का कानून सम्बन्धी सिद्धान्त सर्वथा गलत है। प्राचीन काल के समाजो मे किसी निश्चित और असीम शक्ति-सम्पन्न प्रभु को खोज निकालना असम्भव-सी बात थी। वस्तुत. प्राचीन समाजो के लिए यह ठीक ही कहा गया है कि उनमे राजा का प्रभुत्व नही था बल्कि प्रथा और परम्परा का शासन था। राजा भी प्रथाओ और परम्पराओ की अवहेलना नही कर सकता था।

आज भी भारत की आम जनता मे बीसियो ऐसे नियम माने जाते हैं जिनका आधार राजकीय आदेश नही अपितु परम्परागत निष्ठा-भावना है।

आज के इग्लैण्ड मे भी अनेक ऐसी सविधानीय प्रथाएँ विद्यमान हैं जो कि पार्लियामेण्ट, सम्राट् और न्यायालयो द्वारा समान रूप से स्वीकृत की जाती है, किन्तु जो कभी भी सम्राट् द्वारा आदेश रूप मे प्रचलित नही की गई। आस्टिन ने इसी को दृष्टिकोण मे रखकर कहा था कि "सम्राट् जिस बात की अनुमति देता है वह भी आदेश ही है।"[1] परन्तु आश्चर्य है कि जिसे सम्राट् बदल न सके वह उसका आदेश कैसे हो गया!

सर हेनरी मेन ने ठीक कहा है कि "कानून जनता के साथ ही बढ़ता और विकसित होता है। कानून किसी निरंकुश कानून-निर्माता की इच्छा के परिणाम की बजाय समाज की विविध, प्रगतिशील, मन्द व दीर्घकालीन शक्तियों का परिणाम है।"[2] कानून की समुचित व्याख्या के लिए हमे उसके सामाजिक और ऐतिहासिक स्वरूप से भी अवगत होना चाहिए।

आस्टिन ने कानून को केवल आदेश मानकर उसके शक्ति-तत्त्व पर अनावश्यक बल दिया। कानून का पालन भय से ही नही किया जाता। हम अभ्यास, आदत और स्वार्थवश भी राजकीय आदेशो का पालन करते हैं।

फ्रेंच समाजशास्त्री ड्युग्वी (Duguit) कानून को हमारे सामाजिक जीवन का परिणाम मानते हैं। उनका कथन है कि हम कानून का पालन इसलिए करते हैं कि यह समाज के हित मे हैं उनके बिना सामाजिक व्यवस्था का कायम रह सकना असम्भव है। एक अन्य विचारक क्रेब (Krabbe) का कथन है कि यह हमारे औचित्य तथा अनौचित्य ज्ञान के परिणाम हैं। चोरी करना बुरा है, यह हमारे

1 "Whatever the sovereign permits he commands"—*Austin*

2. "Law grows as the people grow, develops with the people Law is the result of varying, progressive, slow and lengthy formation by society rather than of the arbitrary will of a law giver"
—***Henry Maine***

युद्ध की भयकरता और भी बढ गई है। राज्यों की शक्ति पर नियन्त्रण न होने के कारण वह अपने मामूली स्वार्थों के लिए अथवा अपनी प्रभुता को बनाये रखने के लिए ही युद्ध छेड सकते हैं।

प्रो० लास्की का यह कथन विचारणीय है कि "अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि मे एक स्वतन्त्र तथा प्रभुता-सम्पन्न राज्य का विचार मानवीय सुख-समृद्धि के लिए घातक है। एक राज्य को दूसरे राज्य के साथ किस तरह बरतना चाहिए, यह ऐसा विषय है जिसके निर्णय करने का अधिकार किसी एक राज्य को नहीं हो सकता। राज्यों का सामान्य जीवन उनकी सामान्य सहमति का विषय है। इग्लैण्ड को यह फैसला स्वय ही नहीं करना चाहिए कि वह कौन से अस्त्र-शस्त्र रखे व किन लोगो को बाहर से आकर अपने प्रदेशो मे बसने दे। ये ऐसे विषय हैं जिनका समग्र मानव-समाज के जीवन से सम्बन्ध है, इनकी व्यवस्था के लिए एक विश्व संगठन की आवश्यकता है।"[1]

प्रो० लास्की का यह कथन आज की विश्व की स्थिति को देखते हुए पूर्णतया सत्य है। विश्व-शान्ति और मानवीय हित मे राज्यो की असीम प्रभुशक्ति का नियन्त्रण अनिवार्य है। अनेक मसले है जो कि सम्पूर्ण मानवता से सम्बन्धित है, किसी एक राज्य की इच्छा पर उनको छोड नही देना चाहिए। आज एटम बम्ब और हाइड्रोजन बम्ब के नये से नये परीक्षण किये जा रहे हैं, पर क्या ये परीक्षण केवल रूस या अमेरिका पर ही असर रखते है? नही इनके साथ सम्पूर्ण मानवता का जीवन सम्बन्धित है। ऐसे मसलो का हल अन्तर्राष्ट्रीय सघ द्वारा ही होना चाहिए।

यद्यपि सैद्धान्तिक रूप मे भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, अमेरिका तथा रूस इत्यादि सभी देश बराबर है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से इनकी स्थिति मे बहुत अन्तर है। अणु-शक्ति के विकास के अनन्तर तो वस्तुत रूस और अमेरिका ही वास्तविक अर्थ मे स्वतन्त्र देश रह गये है, अन्य राज्य केवल नाममात्र को प्रभुता धारी हैं। क्या आज पुर्तगाल, फ्रास, इटली या बेल्जियम की कोई स्वतन्त्र स्थिति है? इसी प्रकार क्या आज बल्गारिया, रूमानिया तथा हगरी आदि की कोई सार्वभौम सत्ता है? शक्ति की दृष्टि से रूस और अमेरिका इतने अधिक आगे बढ चुके है कि आज पाकिस्तान, लका या इराक तथा ईरान इत्यादि देशो की पूर्ण प्रभुता की घोषणा करना हास्यास्पद ही है।

अत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राज्य की प्रभुता न केवल घातक ही है अपितु वह अव्यावहारिक भी है।

---

1. "The notion of an independent sovereign State is, on the international side, fatal to the well-being of humanity. The way in which a State should live its life in relation to other States is clearly not a matter in which that State is entitled to be the sole judge The common life of States is a matter for common agreement between States England ought not to settle what armaments she will erect, or the immigrants she will permit to enter These matter affect the common life of the peoples, and they imply a unified world organised to administer them"—*Laski*

सामाजिक ज्ञान का फल है और इसी कारण हम समाज मे ऐसे कानून बनाते हैं जो चोरी के लिए दण्ड देते है। इन लेखको का विचार है कि राज्य कानून का निर्माता नही अपितु कानून का परिणाम है। प्रत्येक राज्य की शक्ति कानून द्वारा निर्धारित की जाती है। एक अन्य फ्रेंच विचारक शार्ल बेनोआ ने भी कानून को राज्य की शक्ति का निर्णायक बतलाया है। उनका कथन है कि कानून ही राज्य की शक्ति को मर्यादित करता है, वह उसके कर्तव्यो को कानूनी और गैरकानूनी ठहराता है।

इन सब आलोचनाओ मे पर्याप्त सत्य है, इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता। केवलमात्र राज्य ही कानून का स्रष्टा नही, आस्टिन का ऐसा विचार एकागी और भ्रामक है। विविध सामाजिक और राजनीतिक प्रभावो की अवहेलना नही की जा सकती।

आस्टिन के विचार आवश्यकता से अधिक सैद्धान्तिक है, वह कानूनी सत्य की खोज मे रहा। परन्तु कानूनी सत्य राजनीतिक असत्य भी हो सकता है यह हमे नही भूलना चाहिए।

(५) **प्रभुत्व-धारणा घातक है**—आन्तरिक दृष्टि से अगर इस राज्य की सर्वोच्च सत्ता को मान भी लें तो भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसे किसी भी रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। बोदीन तथा हॉब्स के समय राज्य के राष्ट्रीय रूप का विकास हो रहा था, राष्ट्रीय हित मे सुसगठित और ऐक्यपूर्ण राज्यो की व्यवस्था आवश्यक थी, अत तत्कालीन परिस्थितियो मे राज्य की असीम प्रभु शक्ति को उचित ठहराया जा सकता था। आज की परिस्थितियां बहुत बदल गई हैं। औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप मानवीय सस्कृति ने एक नया रूप धारण कर लिया है, वह आज देशीय और राष्ट्रीय होने के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिक है। ससार के विविध राज्य आज एक दूसरे के सन्निकट आ चुके है। आर्थिक दृष्टि से ससार के राज्य जितना आज एक दूसरे पर आश्रित है उतना पहले कभी नही थे। वस्तुत अरस्तू का यह कथन कि कोई भी मनुष्य अपने आप मे पूर्ण नही राज्यो पर और भी अधिक सच्चाई के साथ लागू होता है। राज्य मनुष्य-समाज के ही भाग है, वे अपने आप मे पूर्ण नही हो सकते। कोई भी राज्य आज के युग मे सर्वथा अपने आप मे ही नही रह सकता। विश्व के प्राकृतिक स्रोतो के समुचित प्रयोगो के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है, परन्तु राज्य-प्रभुता इस सहयोग मे बाधक है।

राजनीतिक सहयोग मे तो राज्य-प्रभुत्व बाधक है ही वह विश्व-युद्धो का भी कारण है। **नारमन एँजेल** (Nor man Angel) **ने अपनी पुस्तक** "Unseen Assassins" **में राज्य प्रभुता को प्रमुख हत्यारों मे माना है।** प्रभुतासम्पन्न होने के कारण प्रत्येक राज्य अपने पडोसी राज्य के साथ मनमानी कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बलशाली राज्य कमजोर राज्यों को दबा लेते हैं। परिणाम-स्वरूप युद्ध शुरू हो जाते है, और आज के युद्धो का प्रभाव एक देश तक ही सीमित नही रहता। दूसरा वह प्रलयकारी बन चुके है। वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र की उपस्थिति मे

युद्ध की भयकरता और भी बढ गई है। राज्यो की शक्ति पर नियन्त्रण न होने के कारण वह अपने मामूली स्वार्थो के लिए अथवा अपनी प्रभुता को बनाये रखने के लिए ही युद्ध छेड सकते हैं।

प्रो० लास्की का यह कथन विचारणीय है कि "अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक स्वतन्त्र तथा प्रभुता-सम्पन्न राज्य का विचार मानवीय सुख-समृद्धि के लिए घातक है। एक राज्य को दूसरे राज्य के साथ किस तरह बरतना चाहिए, यह ऐसा विषय है जिसके निर्णय करने का अधिकार किसी एक राज्य को नहीं हो सकता। राज्यो का सामान्य जीवन उनकी सामान्य सहमति का विषय है। इग्लैण्ड को यह फैसला स्वयं ही नहीं करना चाहिए कि वह कौन से अस्त्र-शस्त्र रखे व किन लोगो को बाहर से आकर अपने प्रदेशो मे बसने दे। ये ऐसे विषय हैं जिनका समग्र मानव-समाज के जीवन से सम्बन्ध है, इनकी व्यवस्था के लिए एक विश्व संगठन की आवश्यकता है।"[1]

प्रो० लास्की का यह कथन आज की विश्व की स्थिति को देखते हुए पूर्णतया सत्य है। विश्व-शान्ति और मानवीय हित मे राज्यो की असीम प्रभुशक्ति का नियन्त्रण अनिवार्य है। अनेक मसले है जो कि सम्पूर्ण मानवता से सम्बन्धित है, किसी एक राज्य की इच्छा पर उनको छोड नहीं देना चाहिए। आज एटम बम्ब और हाइड्रोजन बम्ब के नये से नये परीक्षण किये जा रहे हैं, पर क्या ये परीक्षण केवल रूस या अमेरिका पर ही असर रखते है? नहीं इनके साथ सम्पूर्ण मानवता का जीवन सम्बन्धित है। ऐसे मसलो का हल अन्तर्राष्ट्रीय सघ द्वारा ही होना चाहिए।

यद्यपि सैद्धान्तिक रूप मे भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, अमेरिका तथा रूस इत्यादि सभी देश बराबर हैं, परन्तु वास्तविक दृष्टि से इनकी स्थिति मे बहुत अन्तर है। अणु-शक्ति के विकास के अनन्तर तो वस्तुत रूस और अमेरिका ही वास्तविक अर्थ मे स्वतन्त्र देश रह गये है, अन्य राज्य केवल नाममात्र को प्रभुता धारी हैं। क्या आज पुर्तगाल, फास, इटली या बेल्जियम की कोई स्वतन्त्र स्थिति है? इसी प्रकार क्या आज बल्गारिया, रूमानिया तथा हंगरी आदि की कोई सार्वभौम सत्ता है? शक्ति की दृष्टि से रूस और अमेरिका इतने अधिक आगे बढ चुके है कि आज पाकिस्तान, लका या इराक तथा ईरान इत्यादि देशो की पूर्ण प्रभुता की घोषणा करना हास्यास्पद ही है।

अत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राज्य की प्रभुता न केवल घातक ही है अपितु वह अव्यावहारिक भी है।

---

1. "The notion of an independent sovereign State is, on the international side fatal to the well-being of humanity The way in which a State should live its life in relation to other States is clearly not a matter in which that State is entitled to be the sole judge The common life of States is a matter for common agreement between States England ought not to settle what armaments she will erect, or the immigrants she will permit to enter These matter affect the common life of the peoples, and they imply a unified world organised to administer them"—*Laski*

निष्कर्ष—फ्रेंच विचारक ड्यूग्वी (Duguit) ने प्रभुता के विकास का विश्लेषण करते हुए बताया कि इस सिद्धान्त का प्रारम्भ १६वी सदी मे हुआ। तब राज्य अपने आन्तरिक संगठन मे सरल था। उसके कार्य थोडे से थे—वे भी केवल रक्षा और कानून-व्यवस्था बनाये रखने से ही सम्बन्धित थे, तब तो वह आदेश दे सकता था। परन्तु आज उसका स्वरूप बदल गया है। आज का राज्य सभी कल्याणकारी कर्तव्यो को पूर्ण करता है। उसके कर्तव्यो की सीमा बहुत विस्तृत हो गई है। अत उसके स्वरूप की व्याख्या १६वी सदी के पुराने सिद्धान्त द्वारा नही की जा सकती।

राज्य प्रभुता के सिद्धान्त की इस आलोचना के बावजूद भी हमे यह बात स्वीकार करनी ही पडेगी कि कानून की दृष्टि से प्रत्येक राज्य मे किसी न किसी व्यक्ति-समुदाय की सर्वोच्च सत्ता विद्यमान रहती है। आस्टिन का सिद्धान्त सभी प्रकार के राज्यो पर समान रूप से लागू नही होता। परन्तु आज के राज्य की शक्ति इतनी समृद्ध है कि वह निश्चय ही हमारे आन्तरिक जीवन का पर्याप्त नियन्त्रण करता है। आस्टिन मुख्य रूप से विधानशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली पर विचार कर रहा था, उसका क्षेत्र राजनीति दर्शन नही था। राजनीति दर्शन के अनुसार तो उसका सिद्धान्त निश्चय ही त्रुटिपूर्ण है।

६०. बहुसमुदायवाद (Pluralism)

बहुसमुदायवाद के सिद्धान्त का विकास प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर राज्य की असीम प्रभुता की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं राज्य की असीम और अबाध प्रभुता के सिद्धान्त का विकास बोदीन, ग्रोशियस, हॉब्स, रूसो तथा आस्टिन इत्यादि ने किया। उन्होने कानून की दृष्टि से राज्य की इच्छा को व्यक्ति और व्यक्ति-समुदायो से उच्च माना।

इस कानूनन प्रभु को नैतिक और आध्यात्मिक उच्चता प्रदान करने का श्रेय जर्मनी के आदर्शवादी (Idealist) विचारको को है। ग्रोशियस, हॉब्स तथा आस्टिन इत्यादि प्रभुतावादियो ने राज्य को हमेशा ठीक और गलती न करने वाला नही माना, उन्होंने उनकी वैधानिक उच्चता स्वीकार की, नैतिक और आध्यात्मिक नही। न ही उन्होने उसे (नैतिक दृष्टि से) सर्वथा उत्तरदायित्व-हीन माना। परन्तु जर्मनी के आदर्शवादी विचारको ने राज्य की कानूनी प्रभुता को नैतिक प्रभुता का रूप दे उसे सब प्रकार से उच्च मान उसकी सत्ता का विरोध एक अनैतिक कार्य मान लिया। जर्मन-विचारक हीगल का विचार था कि राजनीतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से राज्य व्यक्ति और व्यक्ति-समुदायो से ऊँचा है। उसकी सत्ता का विरोध अविचारणीय है। उसकी इच्छा सदा जनहित मे होती है। वस्तुत हीगल राज्य को पृथ्वी पर दैवीय शक्ति के रूप मे देखता है। जिस प्रकार इंग्लैण्ड मे कहा जाता है कि "**सम्राट् कोई भूल नहीं कर सकता** (King can do no wrong), **हीगल का भी ठीक यही विचार था कि राज्य कोई भूल नहीं कर सकता।** बहुसमुदायवाद राज्य की इस कानूनन और

नैतिक उच्चता के विरुद्ध एक स्पष्ट प्रतिक्रिया है।

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान मे राज्य की शक्तियो का बहुधा केन्द्रीकरण हो गया था। राष्ट्रवाद के नाम पर जनता को बहुत बलिदान देने पडे, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अपहरण हो गया, नैतिक और आध्यात्मिक पराधीनता का प्रसार हुआ। राज्यो की विधान-सभाएँ बहुमत द्वारा शासित होती, अल्पमत को कुचला जाता। वस्तुत. इन सभाओ मे विभिन्न आर्थिक और राजनीतिक मामलो का शुद्ध बौद्धिक विवेचन नही हो पाता था, दलगत स्वार्थो के कारण सत्य को कुचल दिया जाता और असत्य का प्रसार होता। विश्व के अर्थ-संकट ने तो संसदीय सरकारो को बिलकुल पगु बना दिया। इस हालत मे बहुसमुदायवाद के विकास द्वारा राज्य की शक्तियो के विकेन्द्रीकरण की माँग की गई।

राज्यो की विधान-परिषदो मे प्रादेशिक प्रतिनिधित्व होता है। बहुसमुदायवादी इसे त्रुटिपूर्ण मानते है। उनका कथन है कि इस प्रकार एक तो बहुमत की निरकुशता स्थापित हो जाती है और दूसरे समाज के विभिन्न स्वार्थो का प्रतिनिधित्व नही हो पाता। वह प्रादेशिक प्रतिनिधित्व (Territorial representation) के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional representation) को जारी करना चाहते हैं।

आज राज्य के कार्य-भार मे वृद्धि हो गई है परन्तु शक्ति का विकेन्द्रीयकरण नहीं हो पाया। फलस्वरूप राज्य किसी भी कार्य को कुशलतापूर्वक नहीं कर पाता। मैकाइवर का कथन है कि सर्वसामर्थ्यवान राज्य (Omnipotent State) का अर्थ अयोग्यता और असामर्थ्य है। राज्य-कार्य मे कुशलता लाने के लिए राज्य-शक्तियो का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है।

इस प्रकार वैयक्तिक स्वातन्त्र्य राज्य कर्तव्य-पालन मे कौशल तथा लोक-तन्त्रात्मक सस्थाओ के समुचित विकास के लिए बहुसमुदायवादी राज्य-सगठन मे पर्याप्त परिवर्तन चाहते हैं। एतदर्थ बहुसमुदायवादी राज्य प्रभुत्व का खण्डन करते है, परन्तु अराजकवादी या साम्यवादियो की तरह वह राज्य का विनाश नही करना चाहते। वह तो वर्तमान राज्य को उसकी प्रभुता से वियुक्त कर उसे अन्य सामाजिक सघो के बराबर बना देना चाहते है। उनका कथन है कि राज्य प्रभुता का सिद्धान्त आज पुराना हो चुका है, १६वी या १७वी सदी मे उसकी उपयोगिता थी परन्तु आज नहीं। ए० डी० लिडसे का कथन है कि "अगर हम यथार्थ तथ्यो की ओर देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि राज्य की प्रभुता का सिद्धान्त खत्म हो चुका है।"[1]

प्रो० लास्की का कथन है कि कानूनी प्रभुता के सिद्धान्त को राजनीति-दर्शन के लिए उपयुक्त सिद्ध करना असम्भव है।[2] प्रो० बार्कर भी कहते हैं कि "कोई भी

---

1 "If we look at the facts it is clear enough that the theory of the sovereign State has broken down —A D Lindsay

2 "It is impossible to make the legal theory of sovereignty valid for political philosophy" —Laski

राजनीतिक सिद्धान्त इतना निष्प्राण और निष्फल नहीं हो गया जितना कि प्रभुता सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त।"[1] क्रेव का तो कथन है कि "प्रभुता की धारणा को राजनीति शास्त्र से निकाल ही देना चाहिए।"[2]

राज्य और समुदाय का प्रकृति-साम्य—राज्य प्रभुता के खण्डन का मुख्य कारण राज्य और समुदायो का प्रकृति-साम्य है। प्रो० लास्की ने मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए बड़े स्पष्ट शब्दो मे इस बात पर बल दिया है कि राज्य अपनी प्रकृति मे सामाजिक समुदायो से किसी प्रकार भी भिन्न नही। राज्य समाज नही, अपितु समाज का एक भाग है। समाज मे उसकी मुख्यता आवश्यक है, परन्तु मुख्यता का अर्थ सर्वश्रेष्ठता नही। मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है। वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अनेक समुदायो और सघो को रचता है। ये सब सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक और अन्य अनेक प्रकार के हो सकते है। इनमे से बहुत से समुदाय तो राज्य से भी पहले मौजूद थे, जैसे परिवार, धार्मिक ग्रुप इत्यादि, वे राज्य-रचित नही। उनका जन्म बिना राज्य-प्रयास के हुआ है। राज्य भी अपनी प्रवृत्ति मे इन समुदायो की भाँति ही एक सामाजिक समुदाय है।

मेकाइवर ने हमारे स्वार्थों को दो भागो मे बाँटा है। एक तो मुख्य स्वार्थ (Primary interests) है **और दूसरे गौण स्वार्थ** (Secondary interests)। **राज्य हमारे मुख्य स्वार्थों का प्रतिनिधि नहीं, वह हमारे जीवन के बाह्य प्रकार से सम्बन्धित है, आन्तरिक से नहीं। दूसरे शब्दो मे इसका क्षेत्र हमारी बाहरी जिन्दगी है, इस कारण हमारे दैनिक जीवन मे उसके साथ हमारे घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हो पाते।** इसके विपरीत वह परिवार, क्लब, साहित्य-गोष्ठी, ट्रेड यूनियन इत्यादि को प्रमुख स्वार्थो से सम्बन्धित मान प्रमुख-समुदायो (Primary groups) मे रखता है। इन समुदायो मे हमारे व्यक्तित्व का बहुत सहज और स्वाभाविक विकास होता है। उनके बिना हमारा जीवन अपूर्ण और अपरिपक्व रह जाता है। जितनी घनिष्ठता से हम परिवार, क्लब या चर्च से सम्बन्धित होते है उतना राज्य से नही। हमारे दैनिक जीवन मे इन सघो का अधिक महत्त्व है, और राज्य का उतना नही, यद्यपि दोनो आवश्यक है। जैसा कि प्रो० लास्की ने दर्शाया है अनेक बार इन समुदायो मे और राज्य मे टक्कर होने पर हम राज्य की बजाय सघो का पक्ष लेगे। दूसरे शब्दो मे **हमारी समुदाय भक्ति** (Group loyalty) **राज्य भक्ति** (State loyalty) **से ज्यादा टिकाऊ और महत्त्वपूर्ण होती है।**

प्रो० लास्की का ही कथन है कि हमारे सामाजिक जीवन के अनेक पक्ष है, वे सभी पक्ष राज्य के नियन्त्रण मे नही रखे जा सकते। हम केवल नागरिक ही नहीं

---

1 "No political common place has become more arid and unfruitful than the doctrine of the sovereign State"—*E Barker*

2 "The notion of sovereignty must be expunged from political theory"—*Krabbe*

एक परिवार, राजनीतिक दल, क्लब और चर्च के भी सदस्य हैं, और कई अवस्थाओं में हमारे जीवन में प्रथम रूप की बजाय द्वितीय रूप की अधिक महत्ता होती है। वर्तमान समाज में तो इन संघों की संख्या बहुत बढ़ गई है, वह वैयक्तिक जीवन में महत्त्वपूर्ण हो चुके हैं। वर्तमान युग के विशाल सामाजिक संगठनों में व्यक्ति बहुत कुछ अपने आपको अकेला (Isolated) सा महसूस कर सकता है, क्योंकि इन सामाजिक संगठनों में यन्त्रवत गौण सम्बन्धों (Secondary relations) का विस्तार अधिक है और व्यक्तिपरक घनिष्ठ सम्बन्धों का अभाव। विशाल सामाजिक संगठन में व्यक्ति बड़ी मशीन के केवल एक पुर्जे की तरह रहता है। ऐसी अवस्था में उसके आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति इन छोटे-छोटे समूहों में होती है जो कि प्रत्येक राज्य में सैकड़ों की संख्या में मिल जाते हैं। वर्तमान युग में उसके स्वाभाविक जीवन के प्रकृत विकास की सम्भावना इन समुदायों में अधिक है।

प्रो० लास्की का यह मत सर्वथा उचित है कि **"समाज संघात्मक है, इस कारण उसका संगठन भी संघ-प्रणाली पर होना चाहिए।"**[1] राज्य को प्रभुता प्रदान कर उसे सर्वोच्च पद देना न उचित है और न ही तर्कसंगत।

बहुसमुदायवाद के सिद्धान्त का विकास—बहुसमुदायवाद के सिद्धान्त के प्रेरणा-स्रोत मध्य युग के व्यापारिक और व्यावसायिक संघ (Guilds) हैं। जर्मनी के गिरके (Gierke) और इंग्लैण्ड के मेटलैण्ड (Maitland) ने मध्य युग की स्वायत्त शासनसम्पन्न संस्थाओं (Corporations) का अध्ययन किया। ये समुदाय या संघ स्वायत्त शासनाधिकारसम्पन्न थे और अपने सदस्यों पर पर्याप्त नियन्त्रण रख सकते थे। अनेक बार इनमें से कुछ संघों ने राज्यों से भी टक्कर ली। गिरके और मेटलैण्ड ने इन संघों को स्वाभाविक और प्रकृत माना है। उनका कथन है कि ये राज्य की रचना नहीं और इनमें से अनेक तो राज्य स्थापना से पूर्व ही वर्तमान थे। इन सभी का अपना वैसा ही यथार्थ व्यक्तित्व है, वैसी ही यथार्थ इच्छा है जैसी कि राज्य की। इनके अपने नियम हैं और अपने संगठन, जो कि राज्य से पर्याप्त स्वतंत्र हैं। राज्य संगठन में इन समूहों की पृथक् सत्ता को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिये।

ब्रिटेन के मनोविज्ञानवेत्ता प्रो० मैक्डूगल (McDougall) ने भी प्रत्येक समुदाय के सामूहिक व्यक्तित्व की सत्ता को स्वीकार करते हुए उनके विकास के लिये स्वतन्त्रता का समर्थन किया है।

वर्तमान युग में कुछ समाज विज्ञानवेत्ताओं ने परम्परागत प्रजातन्त्र-व्यवस्था की आलोचना करते हुए राज्य के पुनर्गठन की मांग की। फ्रेंच समाजशास्त्री एमली दुर्खिम विधान-सभाओं के प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर किये गये संगठन के विरुद्ध है। वह पुराने समय की तरह के व्यावसायिक (Occupational) तथा कार्य के आधार पर संगठित समुदायों की पुनः स्थापना चाहता है। प्रत्येक शिल्पीसंघ (Guild) को अपने सदस्यों के अधिकारों

1. "Society is federal authority must be federal also."—*Laski*

और कर्तव्यो को निश्चित कर सकने का अधिकार होना चाहिए। साथ ही राज्य-विधानपालिकाओ मे इन विभिन्न आर्थिक और व्यावसायिक सघो को प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए ।

कुछ विचारको ने कुछ विशिष्ट सघो के लिए स्वायत्त शासन (autonomy) का समर्थन किया है। डा० फिगिस (Figgis) ने राज्यधिकारियों द्वारा समाज के आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सघो के आन्तरिक मामलो मे दखल देने की प्रवृत्ति की कडी आलोचना की है। डा० फिगिस ट्रेड यूनियन और चर्च के स्वशासन के प्रबल समर्थक है। वह इनके स्वाभाविक विकास को स्वीकार करते है, और इनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का समर्थन करते है। वह प्रभुता के सिद्धान्त को एक ससादरणीय अन्ध विश्वास मात्र मानते है ।

पाल बांकर (Paul Boncour) भी व्यवसायिक समुदायो की स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। वह राज्य मे दो प्रभुओ की स्थापना देखना चाहते हैं—एक राष्ट्रीय जो राष्ट्रीय मामलो का नियन्त्रण करे और दूसरा सघीय जो विशेष स्वार्थो का निर्णायक हो ।

जी० डी० एच० कोल समाज से प्रभुता का सर्वथा विलोप चाहते हैं। यदि राज्य को रखना ही है तो उसके कर्त्तव्य राजनीतिक ही होने चाहिएँ, समाज के आर्थिक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नही होना चाहिए। सम्पूर्ण समाज को वे दो भागो मे बाँटते है, एक उत्पादक (Producers), दूसरे उपभोक्ता (Consumers ये दोनो मिलकर राज्य की प्रभुता का उपयोग करेंगे। उत्पादको का श्रमसघ के रूप मे विभिन्न उद्योग-धन्धो मे बाकायदा सगठन रहेगा, उपभोक्ता अपना पृथक् सगठन रखेंगे। राष्ट्र की विधानपालिका व्यावसायिक आधार पर चुनी जाएगी न्यायपालिका सविधान की व साधारण कानून की व्याख्या करेगी। दो सघो के पारस्परिक कलह को निपटाने के लिए एक दवाव डालने वाली सस्था की अवस्थिति अवश्य स्वीकार की गई है ।

प्रो० लॉस्की राज्य की कानूनी और नैतिक उच्चता को स्वीकार नही करते वह राज्य के कर्त्तव्यो का अन्तिम निरीक्षक व्यक्ति को समझते हैं। राज्य के प्रति निष्ठा या भक्ति व्यक्ति की अपनी आत्मा की आवाज पर अवलम्बित होनी चाहिए। यदि व्यक्ति की आत्मा स्वीकार करे कि राज्य की व्यवस्था न्याय, सदाचार तथा औचित्य के सिद्धान्तो के विपरीत है तो उसे यह अधिकार है कि वह राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर सके और उसके आदेशो का उलघन कर सके। वह राज्य को असीम और अबाध शक्ति सौंपने के विरुद्ध है। राज्य-शक्ति का प्रयोग कुछ विशेष शर्तों और पाबन्दियो के आधीन ही हो सकता है, सर्वथा निरकुश रूप मे नही। उनका कथन है कि असीमित और गैरजिम्मेदार राज्य का सिद्धान्त मानवता के कल्याण से मेल नही खाता। राज्य-व्यवस्था का सगठन इस ढग से किया जाना चाहिये कि सघो को पूरा-पूरा स्वायत्त शासन प्राप्त हो और राज्य मानवीय स्वार्थो का एक मात्र प्रतिनिधि न हो जाय। राज्य ही हमारी सामाजिक प्रवृत्ति का एकमात्र परिणाम नही

समाज में प्राप्त अन्य समुदाय भी समान रूप से हमारी सामाजिकता के परिणाम हैं। अत: वे प्रभुता के संघ और राज्यों में बाँटे जाने के समर्थक हैं।

मेकाइवर, बार्कर तथा लिण्डसे इत्यादि ने भी राज्य की प्रभु-शक्ति की आलोचना की है, और उसे विभाज्य माना है। मेकाइवर ने अपनी पुस्तक 'Modern State' और 'Society' में राज्य की प्रकृति की बड़ी विशद विवेचना की है। वह प्रकृत्या राज्य को संघों (Associations) से भिन्न नहीं मानता। यद्यपि वह यह स्वीकार करता है कि उसके कर्तव्य दूसरे सामाजिक समुदायों से भिन्न होते हैं। वह राज्य को केवल मात्र सामाजिक सम्बन्धों की सम्पूर्ण व्यवस्था में एकता स्थापित करने का ही कार्य सौंपता है। बार्कर यद्यपि संघों के व्यक्तित्व-सिद्धान्त को नहीं मानता फिर भी वह यह अवश्य स्वीकार करता है कि वर्तमान राज्य-व्यवस्था में संघों को पर्याप्त स्वशासन प्राप्त होना चाहिए। लिण्डसे (A. D. Lindsay) राज्य को संघों पर उतना अधिकार देना चाहते हैं जितना कि नागरिक देने को तैयार हों। वह राज्य तथा संघ किसी के व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं करते।

राज्य प्रभुता का बहुसमुदायवादियों ने अन्तर्राष्ट्रीयता और कानून के आधार पर भी खण्डन किया है, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रभुता किस प्रकार घातक हो सकती है और किस प्रकार कानून राज्य का आदेश मात्र ही नहीं, इस विषय पर हम पीछे पर्याप्त लिख आए हैं। उनको यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

गेटल ने बहुसमुदायवादियों के सम्पूर्ण सिद्धान्त को संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार रखा है—"बहुसमुदायवादी राज्य की असाधारणता से इन्कार करते हैं। उनका विचार है कि दूसरे संघ भी (राज्य के) समान ही महत्त्वपूर्ण और प्रकृत हैं। ये समुदाय अपने मामलों में उतने ही प्रभुतापूर्ण हैं जितना राज्य अपने मामलों में। वे इस बात पर विशेष बल देते हैं कि व्यवहाररूप में राज्य अनेक बार अपनी इच्छा को अपने भीतर स्थित समुदाय के विरोध पर लागू नहीं कर सकते। वे इस बात से इन्कार करते हैं कि केवल शक्तिसम्पन्न होने के कारण राज्य उच्चाधिकारसम्पन्न भी है। वे उन सब समुदायों को बराबर अधिकार देते हैं जिनके प्रति व्यक्ति निष्ठावान हैं और जो समाज में महत्त्वपूर्ण कर्तव्य पालन करते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक संघ प्रभुता-सम्पन्न है। राज्य एक अविभाज्य इकाई नहीं, राज्य सर्वोच्च नहीं, (और उसके अधिकार) असीम नहीं।"[1]

---

1 'The pluralists deny that the State is a unique organisation, they hold that other associations are equally important and natural. they argue that such associations for their purpose are as sovereign as the State is for its purpose. They emphasize the inability of the State to enforce its will in practice against the opposition of certain groups within it. They deny that the possession of force by the State gives it any superior right. They insist on the equal rights of all groups that command the allegiance of their members and that perform valuable functions in society. Hence sovereignty is possessed by many associations. It is not an indivisible unit the State is not supreme or unlimited—*Gettell*

आलोचना—बहुसमुदायवाद के सिद्धान्त मे निश्चय ही पर्याप्त सत्यांश है। राज्य की निरकुशता के विरुद्ध इन्होंने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और अधिकारो की महत्ता का जोरदार समर्थन किया है। आस्टिन के कानूनी प्रभु को नैतिक रूप देकर हीगल इत्यादि आदर्शवादियो ने एक ऐसे सर्वशक्तिसम्पन्न राज्य की स्थापना का समर्थन किया, जो कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और अधिकार को कुछ भी महत्त्व नही देता था। वे राज्य की बलि-वेदी पर व्यक्ति के अधिकारो को कुर्बान कर देते हैं। बहुसमुदायवाद इस विचारधारा के प्रति एक प्रशसनीय प्रतिक्रिया कही जा सकती है।

१९वी शताब्दी मे व्यक्तिवादी विचारको ने राज्य के विरुद्ध व्यक्ति को रखा था, और उसके हित समर्थन मे राज्य-शक्ति के नियन्त्रण का समर्थन किया। परन्तु उनका दृष्टिकोण भ्रामक और अवैज्ञानिक था। बहुसमुदायवाद ने राज्य और व्यक्ति समुदाय को बराबर रखा है। नागरिक के व्यक्तित्व का विकास सघ या समुदायो से बाहर सम्भव नही, विशेष रूप से वर्तमान समाज के जटिल सगठन मे इन समुदायो का व्यक्ति जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। अत राज्य सगठन मे उनको समुचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। सामाजिक सघो तथा समुदायो मे सगठित व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा का यह निश्चय ही एक सद्प्रयत्न है।

इसमे भी कोई सन्देह नही कि यदि सम्पूर्ण प्रभुत्वशक्ति राज्य मे स्थापित कर दी जाय और राज्य को हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने का अधिकार हो तो हमारी वैयक्तिक स्वतन्त्रता सदा राज्य की दया पर निर्भर रहेगी। असीम राज्य-शक्ति का परिणाम अधिनायकतन्त्र की स्थापना होगा। ऐसे खतरो से बचने के लिए राज्य की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है।

राजकीय सत्ता का केन्द्रीकरण भी अनेक बुरे परिणामो का जनक हो सकता है। राजकीय शक्ति के समुचित प्रयोग के लिए उस पर नियन्त्रण अनिवार्य है। अनियन्त्रित शक्ति का सदा दुरुपयोग होता है। दूसरे, राज्य-शासन मे यथोचित कौशल लाने के लिए शक्ति का बँटवारा होना ही चाहिए। जिस प्रकार श्रम विभाजन प्रगतिशील समाज-व्यवस्था का द्योतक है, ठीक वैसे ही राज्य के कर्तव्यो का बँटवारा भी उन्नतिशील राज्य-व्यवस्था के लिए आवश्यक है। आज के युग मे किसी भी राज्य के लिए सघो की महत्ता को अस्वीकार कर सकना असम्भव है। व्यावसायिक चुनाव और सघात्मक व्यवस्था की योजना वस्तुत विचारणीय है। परन्तु बहुसमुदायवादियो का दृष्टिकोण बहुत-कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसमे सन्तुलन का अभाव है। उन्होंने हीगल के असीम प्रभुता सम्पन्न राज्य की जोरदार आलोचना की है, परन्तु उसके साथ ही वह यह भूल जाते हैं कि हीगल के अनुयायियो को छोडकर अन्य सभी राज्य की सत्ता पर नैतिक और बौद्धिक पाबन्दियो को स्वीकार करते हैं। हॉब्स, रूसो और आस्टिन सभी राज्य की शक्ति को नैतिक और व्यावहारिक दृष्टि से सीमित मानते हैं।

सघ और समुदाय सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु इतने अधिक महत्त्वपूर्ण नही कि वह राज्य का स्थान ग्रहण कर सकें। ये

सभी समुदाय राज्य के भीतर ही मौजूद रह सकते हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण प्रभुतासम्पन्न राज्य द्वारा सम्भव है, अन्यथा नहीं।

बहुसमुदायवादी यद्यपि अराजकतवादी नहीं, परन्तु उनके सिद्धान्त का व्यावहारिक परिणाम अराजकता के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। सभी समुदायों को बराबर की स्थिति में रखने से और नियन्त्रण रखने वाली शक्ति के अभाव में क्या समाज में मात्स्य न्याय नहीं फैल जायगा? क्या दो समुदायों के पारस्परिक कर्तव्य क्षेत्र में कभी संघर्ष उत्पन्न नहीं होगा? इनके पारस्परिक विरोध का कौन निपटारा करेगा? हमें यह नहीं भूलना चहिए कि हमारे सामूहिक जीवन का आधार राज्य की नियन्त्रण शक्ति है, उसके अभाव में सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था बालू की दीवार की तरह ढह जायगी। फिर समाज में सैकड़ों समुदायों के पारस्परिक कार्य-क्षेत्र और स्वार्थों में संघर्ष सम्भव है। इस संघर्ष का निपटारा उच्च शक्ति सम्पन्न राज्य ही कर सकता है।

समुदाय अपनी प्रकृति और कर्तव्यों में भी राज्य के समान नहीं। राज्य एक आवश्यक समुदाय है, उसकी सदस्यता हमारे लिए अनिवार्य है। समुदाय चन्द एक स्वार्थों से सम्बन्धित होते हैं। उनका सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन या उसके सम्पूर्ण स्वार्थों से नहीं होता। राज्य का सम्बन्ध हमारे सम्पूर्ण जीवन और हमारे विविध स्वार्थों से है। मिस फालेट ने ठीक ही कहा है कि "राज्य विभिन्न समुदायों से नहीं बन सकता, क्योंकि किसी भी समुदाय या संघ द्वारा मेरे सम्पूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। आदर्श राज्य सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करता है। नागरिकता किसी भी व्यवसायात्मक समुदाय की सदस्यता से बहुत ऊपर है। राजनीति में सम्पूर्ण मनुष्यत्व की आवश्यकता होती है। आदर्श राज्य अपने में लोगों को लीन नहीं करता। राज्य व्यक्तियों का समावेश करता है, अर्थात् व्यक्तियों का उसमें उचित स्थान रहता है। सच्चा राज्य अपने में सभी प्रकार के वर्ग और हित के लोगों को एकत्रित करता है और विभिन्न भक्तियों के एकीकरण की कोशिश करता है। मेरी आत्मा का निवास-स्थान राज्य ही है।"[1] केवल मिस फालेट ही नहीं अन्य बहुसमुदायवादी भी राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उसे प्रभुता सम्पन्न भी स्वीकार कर लेते हैं। बहुसमुदायवाद के प्रबल समर्थक प्रो० लास्की भी राज्य के सम्पूर्ण विनाश के हक में नहीं। वह राज्य और समुदाय में भेद स्वीकार करते हुए राज्य को वह संघ मानते हैं जो कि मनुष्य के नागरिक रूप के अधिकारों की रक्षा करता है। अन्यत्र वह राज्य को समाज

---

1 "The State cannot be composed of groups because no group nor any number of groups can contain the whole of me, and the ideal State demands the whole of me. My citizenship is something bigger than my membership in the vocational group. We want the whole of man in politics. The ideal unified State is not all absorptive. It is all inclusive. The ture State must gather up every interest within itself. It must take our many loyalties and find how it can make them one. The home of my soul is the State."—*Follet.*

की सुरक्षित शक्ति के रूप मे देखता है जिसका काम विभिन्न समुदायो की कार्य-वाहियो का नियन्त्रण और नियमन करना है ।

पाल वाकर (Paul Boncour) सामाजिक हित और राष्ट्रीय एकता का एक मात्र प्रतिनिधि राज्य को ही मानता है । उसके अनुसार राज्यो का काम समुदायों के पारस्परिक सघर्ष को रोकना और नागरिको के हित की रक्षा करना है । गिरके (Gierke) राज्य की विशेष स्थिति को स्वीकार करता है और यह मानता है कि इसकी इच्छा सम्पूर्ण जनहित का प्रतिनिधित्व करती है ।

वार्कर ने भी स्वीकार किया है कि चाहे हम धर्म सघ या व्यावसायिक संघो की महत्ता को कितना ही क्यों न मानें तो भी हमें राज्य को उच्च शक्ति के रूप में पर्याप्त अधिकार देने ही पडेगे ।

वहुसमुदायवादियो की एक और वडी कठिनाई यह है कि वह यह नही स्पष्ट कर पाते कि सघ-प्रणाली पर आधारित समाज मे राज्य के क्या कर्तव्य होंगे ? दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि यद्यपि वह राज्य को समाप्त करने के पक्ष मे नही परन्तु उसके कर्तव्य क्या हो, यह नही वता पाते । निश्चय ही वे राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण के हिमायती हैं, इस बात के औचित्य से आज इन्कार भी नहीं किया जा सकता । परन्तु विकेन्द्रीकरण का अर्थ राज्य-शक्ति का विलोप तो नही है। राज्य की प्रभुशक्ति मे और राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण मे कोई मौलिक विरोध नहीं । सघ-प्रणाली के आधार पर समाज-व्यवस्था की स्थापना के वावजूद भी प्रभुता सम्पन्न राज्य रह सकता है । वहुसमुदायवाद का यह कथन तो सत्य है कि राज्य नैतिक दृष्टि से सर्वोच्च नही, वह दैवीय सगठन नही, उसकी असीम और अवाध शक्ति नही, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि राज्य की कानूनन उच्चता और नियन्त्रण-शक्ति को ही सर्वथा अस्वीकार कर दिया जाय । शान्ति और व्यवस्था के रूप मे प्रत्येक राज्य मे वैधानिक दृष्टि से ऐसे सगठन की परम आवश्यकता रहती है जो कि सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न माना जाय ।

Important Questions

		Reference
1 Discuss the characteristics of Sovereignty	*(Pb 1954 (Supp), Calcutta 1948, 1933, 1928)*	Art 58
2 What is Pluralism ? Discuss	*(Pb 1954)*	
3 "To divide Sovereignty is to destory it" Discuss the nature of Sovereignty	*Pb (1953)*	Art 60 Art 58
4 Define Sovereignty and distinguish between 'Legal' 'Political' and 'Popular' Sovereignty	*(Pb 1952)*	Art 57
5 Critically examine Austin's theory of Sovereignty	*(Pb 1951, 1950, 1946, Ag 1938, All 1930, Nag 1942)*	Art 59
6 What do you understand by Sovereignty ? What are its implications, regarding the internal and external relations of the State ?	*(Pb 1950, 1947)*	Arts 55, and 57
7 Distinguish between De Jure and De Facto Sovereignty	*(Cat 1951)*	Art 57
8 Give a brief history of the doctrine of Sovereignty	*(All 1934, Bombay 1953)*	Art 56

राज्य-प्रकृति
(NATURE OF THE STATE)

राज्य की प्रकृति क्या है या उसका कैसा स्वरूप है ? राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धो की क्या स्थिति है ? ये कुछ ऐसे विचारणीय प्रश्न हैं कि जिनके उत्तर राज्य-विज्ञानवेत्ताओ ने विभिन्न प्रकार से दिये हैं। इस अध्याय मे हम व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धो की विवेचना करने वाले विभिन्न सिद्धान्तो पर विचार करेंगे।

६१. राज्य का सावयव सिद्धान्त (The Organic theory of the State)

राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धो के विवेचन के लिए रचित सिद्धान्तो मे यह एक प्रमुख सिद्धान्त है। राज्य का सगठन एक शरीर के समान है और जिस प्रकार शरीर और उसके विभिन्न अग परस्पर सम्बन्धित होते है, ठीक वैसे ही राज्य और व्यक्ति भी परस्पर सम्बन्धित है। जिस प्रकार एक शरीर मे विभिन्न अग होते हैं और वे अन्योन्याश्रित होते है, वैसे ही राज्य अनेक व्यक्तियो से मिलकर बनता है, वे सब परस्पर सम्बन्धित होते हैं और अन्त मे अपने जीवन के लिए सम्पूर्ण समाज-शरीर पर आश्रित होते है। गार्नर के अनुसार **"सावयव सिद्धान्त एक प्राणि-वैज्ञानिक धारणा है जो राज्य को एक शरीरधारी व्यक्ति मानती है। उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियो को जीवकोष (cells) के समान समझती है, और राज्य तथा व्यक्तियो के बीच ठीक उसी प्रकार अन्योन्याश्रित सम्बन्धो की कल्पना करती है, जैसा शरीर और उसके अगो के बीच होता है।"**[1] इस सिद्धान्त की रचना मुख्य रूप से सविदा सिद्धान्त के परिणामो को गलत साबित करने के लिए की गई। सविदा सिद्धान्त (Theory of social contract) राज्य को एक बनावटी (Artificial) और अप्रकृत (Unnatural) सगठन मात्र मानता है। उसके अनुसार राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध यन्त्रवत् (Mechanical) है। राज्य एक यन्त्र की तरह कार्य करता है और व्यक्ति इस विशाल यन्त्रो को अपनी इच्छानुसार चलाते हैं।

सावयव सिद्धान्त का प्रयोग कुछेक विचारको ने तो केवल उपमा के रूप के

1 "It is a biological conception which describes the State in terms of natural science views the individuals who compose it as analogous to the cells of a plant or animal, and postulates a relation of interdependence between them and society such exists between the organs and parts of a biological organism and the whole structure '—*Garner*

किया। उन्होने राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धो की स्पष्ट व्याख्या के लिए व्यक्ति-शरीर और समाज-शरीर को एक जैसा माना। दूसरी ओर अनेक विचारक राज्य को दरअसल एक शरीरधारी प्राणी मानते हैं, वे उसे उसी प्रकार जीवनसम्पन्न मानते हैं जैसे मनुष्य या पशु को। कुछ विचारक तो उसे देवी-देवता का रूप दे उस पर लिंग-भेद का भी आरोप करते हैं। जर्मन विचारक ब्लशली राज्य को पुल्लिंग और चर्च को स्त्रीलिंग मानता है। मानवीयकरण (Personification) की यह प्रवृत्ति पिछली कुछ सदियो मे बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है। फलत सभी राज्यो और राष्ट्रो को कोई न कोई दैवीय या मानवीय स्वरूप प्रदान किया ही गया है।

सावयव सिद्धान्त का विकास (History of the organic theory)—राज्य का सावयव सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितना कि राज्य दर्शन। सभी युगो मे किसी न किसी रूप मे इस सिद्धान्त का विवेचन मिल जाता है। प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के विचारो मे एतद्विषयक धारणा का बडा स्पष्ट विवेचन मिलता है। प्लेटो के समय मे अनेक राजनीतिविशारद राज्य-व्यवस्था को अप्राकृतिक मानते थे। वे राज्य की यन्त्रवत स्थिति मे यकीन करते थे। प्लेटो राज्य को शरीरधारी प्राणी के समान मानता है। वह कहता है कि राज्य एक विशालकाय व्यक्ति के समान है, वह इच्छा और व्यक्तित्वसम्पन्न है। मानवात्मा को उसने तीन गुणो से सम्पन्न माना है। ये गुण हैं—बुद्धि, (Wisdom) साहसत (Courage) तथा इच्छा (Desire)। इन तीनो गुणो के समन्वय और सहयोग से ही मानवात्मा स्थितप्रज्ञ और धर्मयुक्त हो सकती है। राज्य मे भी मानवात्मा के तीन गुणो के प्रतिरूप तीन वर्ग हैं, ये वर्ग हैं—शासक, योद्धा और श्रमिक। इन तीनो के पारस्परिक सहयोग से ही राज्य मे धर्म (Justice) की स्थापना सम्भव है। उसके शिष्य अरस्तू ने भी मानव-शरीर के सगठन मे और राज्य-सगठन मे समानता को स्वीकार किया है।

रोमन विचारक सिसरो (Cicero) भी प्राचीन यूनानी विचारधारा से प्रभावित था। उन्होंने शासन की तुलना आत्मा से की है। जिस प्रकार आत्मा मनुष्य-शरीर पर शासन करती है, ठीक वैसे ही शासक राज्य-शरीर पर शासन करता है।

प्राचीन भारत मे भी अनेक विचारको ने मनुष्य शरीर सगठन की और राज्य सगठन की तुलना की है। भारतीय समाज चार वर्गों मे विभाजित है। ये वर्ग हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन चार वर्गों की मनुष्य शरीर के चार भागो से तुलना की गई है। यजुर्वेद के एक मन्त्र के अनुसार समाजरूपी शरीर का मुख ब्राह्मण हैं, भुजाएँ क्षत्रिय हैं, पेट या जाँघें वैश्य तथा पैर शूद्र हैं।"[1] अन्यत्र शुक्र नीति तथा महाभारत मे भी राज्य शरीर और मनुष्य-शरीर की तुलना कर व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धो की व्याख्या की गई है।

(२) वर्तमान युग मे सावयव सिद्धान्त का विकास—मध्यकालीन यूरोप के

1 ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीन् बाहू राजन्य कृत।
उरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

भी अनेक विचारको ने राज्य और मानव-शरीर की तुलना की है। अनेक ईसाई विचारको ने चर्च को जीवित प्राणी के सदृश माना है। इसी प्रकार थॉमस एक्वीना (Thomas Acquinas), जॉन ऑफ सैलिसबरी (John of Salisbury) मार्सिलियो (Mars igilio), ओकहम (Oerkham), और अलथ्यूसियस (Althusis), इत्यादि ने भी समाज' राज्य और अन्य सामाजिक सघो की तुलना मनुष्य शरीर मे की है।

आधुनिक युग के प्रारम्भ मे यद्यपि हॉब्स और रूसो ने सामाजिक सविदा सिद्धान्त की रचना की और समाज को एक अप्राकृतिक (Artificial) रचना माना तो भी उन्होंने सावयव सिद्धान्त को अनेक स्थान पर उपमा के रूप मे इस्तेमाल किया। हॉब्स ने राज्य को एक बडे शरीर वाला दानव माना है, यद्यपि यह एक कृत्रिम दानव ही है। अपनी शक्ति मे वह मनुष्य से बहुत ऊपर है। रूसो राज्य की कार्य-पालिका और विधानपालिका को क्रमश. राज्य का मस्तिष्क और हृदय मानता है। वह राज्य तथा मानव-शरीर दोनो ही मे बल तथा इच्छा की प्रेरणा शक्ति की मौजूदगी स्वीकार करता है।

वर्तमान युग के प्रारम्भ मे डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त (Theory of evolution) का बहुत प्रचार हुआ। सामाजिक जीवन और सस्थाओ के विकास-क्रम का इसी सिद्धान्त द्वारा अध्ययन किया गया। १६वी तथा १७वी सदी मे सविदा-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि राज्य एक बनावटी और अप्राकृतिक रचना है। १९वी सदी मे इस सिद्धान्त का तीव्र विरोध हुआ और विकासवाद के सिद्धान्त का आश्रय ले राज्य के सावयव सिद्धान्त की बडे जोर-शोर से पुन. स्थापना की गई। इस सिद्धान्त द्वारा यह साबित करने का प्रयत्न किया गया कि राज्य मनुष्य-प्रकृति के क्रमिक और आवश्यक विकास क्रम का फल है। प्रारम्भ मे जर्मनी मे इस सिद्धान्त का विशेष प्रचलन हुआ। क्रौज (Krause), वेट्ज (Waitz), गोरेज (Gorres), तथा जकरिया (Zacharia), इत्यादि अनेक विचारको ने इसका जबरदस्त समर्थन किया। इनके अतिरिक्त जर्मनी के आदर्शवादी विचारक हीगल, फिचे, (Fitche) तथा नीत्शे वगैरह ने भी यूनान के प्राचीन राजनीतिक विचारको का अनुसरण करते हुए राज्य को व्यक्तित्वसम्पन्न मान व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रित (Interdependent) सम्बन्धो की व्याख्या की।

जर्मन विचारको मे ही ब्लन्शली भी राज्य के सावयव सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। परन्तु ब्लन्शली ने राज्य और मानव-शरीर की तुलना बहुत बढा-चढा कर की है। जैसा कि हम पीछे देख आये हैं। वह राज्य को न केवल जीवात्मासम्पन्न शरीर ही समझता है अपितु उस पर लिंग-भेद का भी आरोप करता है। ब्लन्शली का कथन है कि "जैसे एक तैलचित्र तैल बिन्दुओ का संग्रह मात्र नहीं है, उससे कुछ अधिक है, जैसे एक प्रस्तर मूर्ति पत्थर के टुकडो का संग्रह मात्र नहीं है, और जैसे मनुष्य जीव-कोष और रुधिर-कोषो का संग्रह मात्र नहीं बल्कि उससे कुछ अधिक है, उसी

प्रकार राष्ट्र नागरिको का समूह मात्र नहीं, और राज्य केवल वाह्य कानूनो का सग्रहमात्र ही नहीं, उससे कुछ अधिक है ।"[1]

अग्रेज विचारक हर्वर्ट स्पैन्मर सावयव सिद्धान्त के समर्थको मे प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त आस्ट्रिया के अलवर्ट रायल, जर्मनी के गिरके (Gierke), फ्राम के अगस्त कामते तथा इंगलैण्ड के मेटलैण्ड ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

६२. स्पैन्सर का राज्य विषयक सावयव सिद्धान्त (Spencers Theory of State Organism)

राज्य के सावयव सिद्धान्त का हर्वर्ट स्पैन्सर (Herbert Spencer) ने वडा विशद विवेचन किया है। उन्होने अपने ग्रन्थ 'Principles of Sociology' मे डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त का अनुमरण करते हुए प्राणिशास्त्र के अनेक नियमो को सामाजिक विकास पर लागू किया है ।

समाज को स्पैन्सर एक प्राकृतिक शरीर के समान मानता है। उसका विचार है कि दोनो एक दूसरे से अपने सगठन और आवश्यक लक्षणो मे भिन्न नही ।

(१) जिस प्रकार एक शरीर जीव-कोषो (cells) के सगठन से वनता है, राज्य भी व्यक्तियो से मिलकर वनता है। दोनो रूपो मे अग शरीर के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।

(२) राज्य शरीर और प्राणि शरीर अपने विकास-क्रम मे एक जैसे नियम या गति का अनुमरण करते हैं। दोनो का विकास कीटाणु (Germs) के रूप मे होता है। दोनो ही अपने सगठन मे सरल और एक जैसे होते हैं। जैसे-जैसे उनका विकास होता है वैसे-वैसे उनमे असमानता और जटिलता वढती जाती है। जिस प्रकार प्राणि-शरीर अपने प्रारम्भिक रूप मे वहुत सरल था ठीक वैसे ही समाज शरीर भी अपने सगठन में वहुत सरल था। जीवो मे जो सबसे निम्न श्रेणी के थे उनके पृथक्-पृथक् कार्यो को सम्पन्न करने के लिए पृथक् अग नही थे। उनके न तो पृथक उदर थे, न फेफडे और न आँखें और कान। उनके सगठन मे एक ही जीवकोष होता था और वही यह सब कार्य सम्पन्न कर देता था। अगर हम उस प्राणि-शरीर का आज के मनुष्य शरीर से मुकावला करे तो यह हमे वहुत ही उन्नत और अपने सगठन मे जटिल नजर आयेगा। मनुष्य शरीर मे विशिष्ट कामो के सम्पन्न करने के लिए विशिष्ट अग हैं। यहाँ श्रम विभाजन (Division of labour) है ।

समाज का प्रारम्भिक सगठन भी वहुत सरल था। प्रारम्भिक समाज भी

---

1 "As an oil painting is something more than a mere aggregation of drops of oil, as a state is something more than a combination of marble particles, as a man is something more than a mere quantity of cells and blood corpuscles, so the nation is something more than a mere aggregation of citizens, and the State is something more than a mere collection of external regulations "—*Bluntschli*

'एक ही प्रकार के वर्ग से बना हुआ होता था, या वे सभी शिकारी होते या सभी औजार बनाने वाले या योद्धा अथवा कुटीर-निर्माता होते। विभिन्न प्रकार के कामों को सम्पन्न करने के अर्थ विभिन्न वर्गों का अभाव होता अथवा यूं कहिए कि श्रम-विभाजन (Division of labour) का अभाव था। आज का समाज अपने संगठन में बहुत जटिल है, पूर्ण श्रम-विभाजन है। अलग-अलग कार्य करने के लिए अलग-अलग वर्ग हैं, वे अपने क्षेत्र में निपुण हैं। आज सैनिक, वैधानिक, शासकीय, व्यापारिक तथा व्यावसायिक कर्तव्यों के पालन के लिए विभिन्न वर्ग हैं, जो अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में निपुण हैं। इस प्रकार प्राणि-शरीर और समाज शरीर अपने संगठन के विकास में एक जैसे नियमों का अनुसरण करते हैं।

(३) प्राणि-शरीर के अंग प्रत्यंग एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। प्रत्येक अंग के ठीक-ठीक कार्य सम्पन्न करने पर ही शरीर का स्वास्थ्य और बल कायम रहता है। किसी भी एक अंग की बुरी अवस्था शरीर के अन्य अंगों की शक्ति-हीनता का कारण बन जाती है। ठीक इसी प्रकार राज्य की शक्ति व समृद्धि भी राज्य में प्राप्य विविध मनुष्यों व वर्गों के स्वास्थ्य, सामर्थ्य और शक्ति पर आश्रित है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के ठीक-ठीक काम न करने पर शरीर को हानि पहुँचती है, उस प्रकार समाज के वर्गों के पारस्परिक सहयोग के अभाव में सामाजिक जीवन पंगु हो जाता है।

(४) प्राणि-शरीर में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। पुराने जीवकोष और रुधिरकोष नष्ट होते रहते हैं, उनका स्थान नये जीवकोष और रुधिरकोष लेते रहते हैं। समाज शरीर में वृद्ध, रोगी तथा अनुपयुक्त व्यक्ति मर जाते हैं और उनका स्थान नये व्यक्ति ले लेते हैं। इस प्रकार प्राणि-शरीर और समाज शरीर दोनों ही अपने को कायम रखते हैं।

(५) प्राणि-शरीर किसी एक जीवकोष या अंग पर आश्रित नहीं होता, हाथ काट देने से शरीरान्त नहीं हो जाता। ठीक इसी प्रकार समाज में कोई एक व्यक्ति, वर्ग या समुदाय ही राज्य के जीवन का कारण नहीं है उसके नष्ट होने पर भी राज्य कायम है।

शरीर-संगठन और राज्य-संगठन की समानताएँ—स्पेन्सर ने केवल समाज-शरीर और प्राणि-शरीर के विकास क्रम की ही एकता का वर्णन नहीं किया, उसने दोनों के संगठन में भी समानता को पाया है। जिस प्रकार शरीर में पोषण, वितरण और नियमन की तीन प्रक्रियाएँ होती हैं, राज्य में भी उन्हीं के अनुरूप तीन प्रक्रियाओं की अवस्थिति रहती है। प्राणि-शरीर में मुख, पेट तथा आँतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर का पोषण होता है, इन्हीं द्वारा अन्न पेट में जाता और पचता है। राज्य में भी पोषण-व्यवस्था (Sustaining system) रहती है और इस व्यवस्था के आधार-कृषि और उद्योग व्यवस्था हैं।

शरीर में नसें सभी अंग-प्रत्यंग में खून पहुँचाती हैं और इस प्रकार उनकी शक्ति को कायम रखती हैं। ठीक इसी तरह यातायात के साधन रेल, सड़कें तथा

डाक-तार इत्यादि राज्य-शरीर मे नसो का काम देते है। इम प्रकार शरी
राज्य दोनों मे ही वितरण व्यवस्था (Distributary system) रहती है।

प्राणि-शरीर मे नियमन व्यवस्था (Regulating system) का
दिमाग है। वह हमारी शरीर-चेष्टाओ का नियन्त्रण करता है, इसी के ममा
राज्य मे सरकार (Government) रहती है। मरकार राज्य गरीर मे व्यवि
व्यक्ति-समूह की चेष्टाओ का नियन्त्रण करती है।

राज्य-संगठन में पूर्ण एकता सम्भव नहीं—इन मभी तुलनाओ से
ने यह सिद्ध किया कि राज्य सावयव है। परन्तु यह स्वीकार करता है कि
शरीर और समाज शरीर के मगठन और प्रकृति मे अन्तर है। प्राणि
(Animal organism) का स्वरूप निश्चित होता है, उमके अग-प्रत्यग
मे जुडे हुए होते है, वह अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही रखते, वह शरीर के
(Mechanical) भाग है। इस प्रकार शरीर अपने सगठन मे स्थूल (Conc
होते हैं और राज्य के अग **सूक्ष्म और चेतन** (Discrete) होते हैं। रा
अग व्यक्ति आपस मे जुडे हुए नही होते, वे एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं।

ममाज शरीर और व्यक्ति शरीर मे दूसरा वडा अन्तर चेतना-के
अवस्थिति के सम्बन्ध मे है। व्यक्ति शरीर मे **चेतना शरीर के एक छोटे**
मे केन्द्रित होती है और वही शरीर का ज्ञान-केन्द्र होती है, परन्तु **समाज शरीर**
चेतना-केन्द्र (Centre of common consiousness) का अभाव होता है।
व्यक्ति अपने ज्ञान या चेतना-केन्द्र से युक्त होता है।

स्पेन्सर के विचारो का निष्कर्ष—व्यक्ति शरीर और समाज शरीर मे
यह मूलभूत भेद स्पेन्सर के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वह इन्ही भेदो के
पर अपने व्यक्तिवाद के सिद्धान्त की पुष्टि करता है। वह नही मानता
भेदो की अवस्थिति में राज्य का सावयव सिद्धान्त वेकार हो जाता है, उसका
ही नही रहता। वह तो समाज के शरीर सगठन को स्वीकार करता हुआ अ
भेदों को भी मानता हुआ अपने विशिष्ट परिणाम निकालता है।

शरीर का सगठन इस प्रकार का है कि उसमे शरीर-कल्याण से सर्भ
का कल्याण सम्भव है। परन्तु समाज शरीर मे चेतना-केन्द्र के अभ
और विखरे हुए सगठन के कारण सामूहिक हित का सवाल ही नही पैदा
प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण मे ही सामाजिक कल्याण है। अत प्रत्येक व्यि
अपने हित साधन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ममाज व्यक्ति-कल्याण के लिए
है आत्म-कल्याण के लिए नही।

स्पेन्सर के ये विचार आत्म-विरोधी हैं। अपने इन निष्कर्षो द्वारा
के सावयव सिद्धान्त को ही खत्म कर डालता है।

६३ सावयव सिद्धान्त की आलोचना

राज्य का सावयव सिद्धान्त १९वी सदी के व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया है

पहले ही देख चुके हैं कि संविदावादियों की राज्य के बनावटी होने की धारणा के विपरीत इन्होंने राज्य को मनुष्य के शरीर की भाँति सर्वथा प्रकृत माना है। उन्होंने राज्य को ऐतिहासिक माना है और विकासवाद का परिणाम कहा है। व्यक्ति और राज्य को अन्योन्याश्रित मान व्यक्ति तथा समाज-विरोध विषयक भ्रान्त धारणा को इसके समर्थकों ने दूर किया। इस सिद्धान्त द्वारा यह साबित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया कि व्यक्ति और समाज एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते, इन दोनों का मेल अप्राकृतिक और आवश्यक बुराई नहीं, यह सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार १९वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद द्वारा फैलाई अनेक भ्रान्तियों को इस सिद्धान्त ने खत्म कर दिया। इस सिद्धान्त को जब कभी केवल तुलना के रूप में इस्तेमाल किया गया और जब कभी इसे समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या के लिए उदाहरणस्वरूप पेश किया गया तो यह सर्वथा उपयुक्त रहा। इसमें कोई दोष नहीं माना गया। यह निश्चय ही एक सत्य है कि समाज और व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं, समाज की व्यक्तियों से परे कोई अवस्थिति नहीं हो सकती, उसका व्यक्तियों से पृथक् कोई जीवन नहीं। प्राचीन विचारकों ने इस सिद्धान्त को इसी रूप में प्रस्तुत किया था। उन्होंने समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्ठता का ही प्रदर्शन इस द्वारा किया।

यह सिद्धान्त तभी बेतुका और बेकार हो जाता है जब कि इसे उदाहरण या उपमा के रूप में इस्तेमाल न कर एक वास्तविकता मान लिया जाता है। इस स्थिति में ही इस सिद्धान्त की निम्नलिखित प्रकार से आलोचना की जाती है—

(१) समाज को शरीरधारी मान व्यक्ति को उस शरीर के जीवकोष (Cells) स्वीकार करना बिलकुल अर्थहीन और असंगत-सी बात है। समाज के व्यक्तियों को और शरीर के जीवकोषों (Cells) को समान नहीं माना जा सकता। शरीर के जीवकोष निष्प्राण हैं, वे इच्छा-युक्त नहीं, उनके शरीर के भीतर घूमने-फिरने तथा सोचने-समझने की कोई सम्भावना नहीं, न ही उनमें ऐसा करने की शक्ति है। वे तो शरीर के यांत्रिक भाग (Mechanical parts) हैं। इसके विपरीत समाज के सदस्य व्यक्ति हैं, जो जीवित हैं, इच्छा और संकल्प शक्तिसम्पन्न हैं। वे बौद्धिक और नैतिक स्वतन्त्रता युक्त होते हैं। उनमें विचार करने की शक्ति और उस विचार-शक्ति की अनुप्रेरणा पर कार्य करने की स्वतन्त्रता भी है। ऐसी अवस्था में वे समाज शरीर के केवल मात्र यांत्रिक भाग (Mechanical parts) नहीं हो सकते।

व्यक्ति और जीवकोषों (Cells) की इस विभिन्नता को सामने रख स्पेन्सर ने राज्य की सावयवता का खण्डन कर दिया है।

(२) शरीर से अलग उसके अंगों का स्वतन्त्र जीवन सम्भव नहीं। हाथ को शरीर से काट देने पर उसका नष्ट हो जाना लाजमी है। एक डाल वृक्ष से काट देने पर सूख जाती है। परन्तु राज्य से अलग होकर व्यक्ति जीवित रह सकता है, चाहे उसका जीवन पूर्ण और सब प्रकार से सम्पन्न भले ही न हो।

(३) समाज शरीर और राज्य शरीर के जन्म के ढंग भी एक नहीं। प्राणि

शरीर दो प्राकृतिक शरीरो के सयोग से जन्म ग्रहण करता है। राज्य शरीर का जन्म इस ढग से नही हो पाता। एक व्यक्ति असमर्थ होने पर, वृद्ध होने पर अथवा रोग-ग्रस्त होने पर मृत्यु का ग्रास बनकर सदा के लिए नष्ट हो जाता है, परन्तु राज्य के विकास-क्रम पर शैशव, यौवन, प्रौढत्व और वृद्धत्व इत्यादि प्रक्रियाओ को लागू नही किया जा सकता। न ही वह मानव-शरीर के सदृश नष्ट ही होता है। समाज मे होने वाले परिवर्तन अत्यन्त सूक्ष्म और अलक्ष्य होते हैं, उनकी सही-सही नाप-जोख असम्भव है।

(४) शरीर के विकास-क्रम और समाज के विकास-क्रम मे अन्तर होता है। शरीर का विकास भीतरी सयोजन द्वारा होता है। अगो का विस्तार और विकास मानव की इच्छा-शक्ति से स्वतत्र बहुत हद तक बाहर से होता है और उस विकास-क्रम का नियन्त्रण नही होता। वातावरण के अनुसार उसमे जो परिवर्तन होते हैं, वे भी भीतर से होते हैं, बाहर से आरोपित नही होते।

परन्तु राज्य शरीर स्वय विकासशील नही। उसका विकास उसके अगो—व्यक्तियो—की इच्छा शक्ति द्वारा निर्धारित होता है। प्राणि शरीर के विकास को उसके अग निर्धारित नही करते। राज्य, उसकी व्यवस्था, उसका सगठन और स्वरूप सभी हमारी इच्छा के अनुसार परिवर्तित होते रहते है। समय तथा परिस्थितियो की माँग के फलस्वरूप हमारी आवश्यकताएँ परिवर्तित होती रहती हैं और उन्ही के अनुरूप राज्य-व्यवस्था भी बदलती रहती है। आज राज्य का जो स्वरूप है, उनके जो कर्त्तव्य हैं, उनके सगठन की जो व्यवस्था है, वह हमारी परिवर्तित होती हुई आवश्य-कताओ का ही फल है।

(५) राज्य का सावयव सिद्धान्त केवल असगत और बेतुका ही नही अपितु खतरनाक भी है। राज्य को शरीर मान लेने पर व्यक्तियो के अधिकारो की कोई स्थिति नही रहती। सम्पूर्ण शरीर के हित मे अगो के क्या अधिकार हो सकते हैं? हाथ या पाँव के सम्पूर्ण शरीर के मुकाबले मे क्या अधिकार हैं? क्या उनकी स्वतन्त्र अवस्थिति हो सकती है? क्या उनका स्वतन्त्र जीवन हो सकता है? ठीक इस प्रकार राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे कहा जा सकता है। हीगल, ब्लशली इत्यादि ने राज्य के मुकाबले मे व्यक्ति और उसके अधिकारो की कोई महत्ता नही समझी। हिटलर और मुसोलिनी ने भी राज्य के सावयव सिद्धान्त को स्वीकार कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके अधिकारो का अपहरण किया, इस सिद्धान्त के आधार पर समाज-हित के नाम पर अनेक मनमानियाँ की गई हैं।

(६) फिर, यह सिद्धान्त न तो व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो की कोई सन्तोपजनक व्याख्या ही कर पाता और न ही राज्य के कर्त्तव्यो की एकमत विवेचना ही करता है। स्पैन्सर ने इस सिद्धान्त द्वारा व्यक्तिवाद का समर्थन किया और राज्य के कर्त्तव्यो की सख्या को घटा दिया, जब कि दूसरे विचारको ने इस द्वारा [illegible] कर्त्तव्य सौंपे।

इस सिद्धान्त का मूल्य तुलना के रूप मे ही है। अन्य रूप मे वह व्यक्ति हित के विरुद्ध जाता है और उससे लाभ की बजाय हानि की ही अधिक सम्भावना रहती है।

६४. राज्य का संविदा सिद्धान्त (Contract theory of the State)

राज्य के सावयव सिद्धान्त के विपरीत राज्य का समझौतावादी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्रचार १८वीं सदी मे हुआ था, हॉब्स, लॉक तथा रूसो इसके विशेष समर्थको मे है। हम पीछे राज्योत्पत्ति के सिद्धान्तो का विवेचन करते हुए इस सिद्धान्त का पर्याप्त विवरण कर आये हैं। यहाँ हम इस सिद्धान्त के कुछ एक पक्षो को ही दोहरायेगे। इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य तो राज्योत्पत्ति के प्रश्न का निर्णय करना ही था, परन्तु साथ ही यह शासित और शासक के सम्बन्धो पर भी प्रकाश डालता है।

इस सिद्धान्त के समर्थको का कथन है कि राज्य एक बनावटी चीज (Artificial creation) है, वह प्राकृतिक सस्था नही। राज्य के पैदा होने से पूर्व प्राकृतिक अवस्था मे रहते हुए मनुष्य ने कुछ असुविधाएँ अनुभव की। उन्ही को दूर करने के लिए राज्य नामक सस्था का निर्माण किया गया। यह एक यान्त्रिक रचना है इसका आधार वैयक्तिक सहमति है। इसकी अपनी कोई इच्छा नही, अपना कोई व्यक्तित्व नही और न ही कोई अपने अधिकार हैं। इसके सगठन का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति-कल्याण है।

व्यक्ति राज्य के द्वारा निर्मित कानूनो का अनुसरण केवल स्वार्थ-वश करता है। उसकी राज्य-भक्ति का मुख्य आधार राज्य द्वारा समाजोपयोगी कर्त्तव्यो का पालन है। राज्य यदि वैयक्तिक अधिकारो की रक्षा नही कर सकता या वह हमारे जीवन की रक्षा नहीं कर सकता तो नागरिक राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यो से स्वतन्त्र हो जाता हैं।

आलोचना—पीछे हम इस सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना कर आये है। राज्य हमारे सचेतन प्रयत्नो का फल नही, वह कोई बनावटी चीज नहीं, वह केवल व्यक्तियो का ढीला-ढाला समूह मात्र नहीं। राज्य का अपना स्वरूप है और अपना व्यक्तित्व है। वह उसी प्रकार प्राकृतिक है जैसे परिवार और अन्य सामाजिक सघ। सामाजिक समझौते की भावना खतरनाक है। वह प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यो का निर्णायक बना डालती है। राज्य के कर्त्तव्यो के औचित्य और अनौचित्य का वह स्वय परीक्षक हो जाता है। ऐसी अवस्था मे राज्य की अवस्थिति ही खतरे मे पड़ जाती है।

राज्य केवल हमारी स्वार्थ-भावना का ही परिणाम नहीं, वह केवल हमारी अनुमति पर ही आश्रित नहीं, उसकी सदस्यता और राजभक्ति समझौते का परिणाम नही। राज्य हमारी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओ का परिणाम है। राज्य नियमो का पालन हम किसी समझौते के कारण नहीं करते, वह तो हमारी

सामाजिक प्रवृत्ति का फल है।

वर्तमान युग के लगभग सभी विचारकों ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। सर हेनरी मेन इसे सर्वथा निस्सार मानता है, ग्रीन इसे कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता, वुल्जे इसे सर्वथा 'मिथ्या' कहता है।

६५. राज्य का शक्ति सिद्धान्त (Force theory of the State)

राज्य को शारीरिक शक्ति का परिणाम मानने वालों के अतिरिक्त कुछ अन्य विचारक राज्य को शक्ति-व्यवस्था मानते हैं। राज्य केवल शक्ति के आधार पर टिका हुआ है और इसका सबसे बड़ा लक्षण शारीरिक बल की उच्चता है। राज्य-सगठन का आधार शक्ति-सचय की प्रवृत्ति है। वर्तमान युग मे जर्मन विचारको ने इसे दार्शनिक रूप दिया है। उन्होंने न केवल शक्ति को राज्य का एक नियामक तत्त्व ही माना अपितु उसका सर्वोच्च गुण भी कहा। राज्य का कर्त्तव्य शक्ति-वर्द्धन है। युद्ध राज्य के लिए उसी प्रकार आवश्यक माने गये जैसे स्त्री के लिए मातृत्व।

मध्य युग मे इटेलियन विचारक मेकियावली ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रचार किया। इन दिनों जर्मन विचारक त्रीत्शके (Treitsehke), नीत्शे (Neitzche) तथा हीगल के अन्य अनुयायियो ने इसका जोरदार समर्थन किया।

राज्य की अन्य एकपक्षीय व्याख्याओ की तरह यह सिद्धान्त भी भ्रामक और अनर्थकारी है। शक्ति राज्य के आवश्यक तत्त्वो मे से एक है, इसमे सन्देह नही। परन्तु यह राज्य का सार कभी नही कहला सकती। राज्य का उद्देश्य शक्ति-सचय या युद्ध नही, अपितु जन-सेवा है। केवल पाशविक शक्ति के आधार पर आधारित समाज-व्यवस्था चिरस्थायी नही हो सकती, केवल शक्ति का पोषण पशुपन है। शक्ति-सचय भी किसी उद्देश्य के लिए किया जाता है। राज्य-व्यवस्था का आधार हमारी सत्प्रेरणाएँ, सामाजिक प्रवृत्तियाँ और अनेक मिश्रित भावनाएँ हैं। विवेक मनुष्य को युद्धो से दूर, व्यवस्था, शान्ति और समृद्धि की ओर ले जाता है। मनुष्य की विवेकशीलता ही उसको पशुओ से पृथक् करती है। शक्ति सिद्धान्त शारीरिक बल और युद्ध पर जोर दे, मानव-बुद्धि और विवेक का अपमान करता है। विश्व-शान्ति और व्यवस्था की दृष्टि से भी यह सिद्धान्त अत्यन्त हानिकारक है।

६६ विधानशास्त्र के अनुसार राज्य का सिद्धान्त (The Juridical theory of the State)

विधानशास्त्र के पण्डितो ने भी राज्य प्रकृति की व्याख्या की है। उनके अनुसार राज्य एक ऐसी सस्था है जिसका कार्य कानून बनाना, उनकी व्याख्या करना और उनको लागू करना है। विधानशास्त्री भी राज्य की कानूनी प्रकृति की विभिन्न दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या करते हैं। आस्टिन और उसके समर्थको का जो कानून की शास्त्रीय व्याख्या मे यकीन करते हैं, यह कहना है कि राज्य ही एक मात्र कानून का स्रोत है। उसी के आदेश कानून कहलाते हैं, और उनका उल्लघन

करने वाला राज्य द्वारा दण्डित होता है। न्यायालय केवल उन्हें ही कानून मानते हैं जो राज्य द्वारा आदेश के रूप में जारी किया गया हो।

विधानशास्त्र के ऐतिहासिक व्याख्याकारों का मत उपर्युक्त मत से कुछ भिन्न है। उनका कथन है कि कानून केवल राज्य के आदेश मात्र ही नहीं होते, न ही वे केवल राज्य द्वारा रचे जाते हैं। वे कानून की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए उसे समाज की आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियों की उपज समझते हैं। प्रत्येक देश का विधान अनेक परम्परागत प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा व्यावहारिक नियमों के सम्मिलन से बना है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने भारत तथा ब्रिटेन के वर्तमान कानून के अनेक उदाहरण दिये हैं।

फ्रांस के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री ड्युग्वी कानून की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि कानून राज्य की सृष्टि नहीं। वह राज्य से भी पूर्व वर्तमान था। कानून, उनके मतानुसार, हमारी सामाजिक जिन्दगी का नतीजा है। सामाजिक जिन्दगी के ठीक-ठीक चलाने के लिए बहुत से असूल बन जाते हैं, इन असूलों का आधार हमारा जिन्दगी का अनुभव होता है। हमारे जीवन के नैतिक तथा व्यावहारिक सिद्धान्त होते हैं। राज्य उन्हें मान्यता भर प्रदान करता है, उनकी रचना नहीं करता। जो कानून राज्य बनाता भी है वे भी लोगों के मौजूदा नैतिक और सामाजिक आदेशों के ही अनुरूप होते हैं।

क्रेब और ड्युग्वी दोनों ही राज्य को कानून की रचना मात्र मानते हैं।

कानून और राज्य की जो भी स्थिति हो, इतनी बात तो सभी मानते हैं कि राज्य का मुख्य कर्त्तव्य कानून को लागू करना है।

राज्य का कानूनी व्यक्तित्व—क्या राज्य को एक आत्म-चेतना और संकल्प-शक्ति युक्त व्यक्ति माना जा सकता है? मध्यकालीन लेखकों ने इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर दिया। उन्होंने राज्य के एक काल्पनिक या कृत्रिम व्यक्तित्व (Artificial person) की अवस्थिति को स्वीकार किया है।[1] उनके मतानुसार राज्य के अपने अधिकार हैं, उसके अपने स्वार्थ हैं, अतः जो कोई उन पर आक्रमण करता है, राज्य उन पर मुकदमा चला सकता है। राज्य के विरुद्ध भी मुकदमा चलाया जा सकता है। न्यायालय राज्य के विरुद्ध कार्यवाही भी कर सकते हैं। इसी प्रकार उन्होंने चर्च को भी व्यक्तित्वसम्पन्न माना।

आधुनिक विचारकों में जर्मनी के गिर्के (Gierke) राज्य व्यक्तित्व के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने प्राचीन विचारकों की इस आधार पर आलोचना की कि वे राज्य को केवल काल्पनिक व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। उनका विचार है कि राज्य का व्यक्तित्व एक वास्तविकता है, वह बनावटी नहीं। यही नहीं वह समाज के अन्य संघों

1. १९वीं शताब्दी में भी अनेक विधानशास्त्रियों ने राज्य के व्यक्तित्व की स्वीकृति स्वीकार की है। इन विचारकों में स्थाल (Stall) स्टेन (Stein), गर्बर (Gerber) तथा [illegible] और जेलिनेक इत्यादि प्रमुख हैं।

और समुदायो के भी वास्तविक व्यक्तित्व को स्वीकार करता है और उन्हे इच्छा और सकल्प शक्ति युक्त मानता है।

ब्लशली ने राज्य के व्यक्तित्व को यथार्थ मानते हुए उसे व्यक्ति के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र और ऊँचा माना है। नागिरको की अपनी इच्छा और व्यक्तित्व होता है, परन्तु इन सभी की सामूहिक इच्छाएँ राज्य की इच्छा नही होती। राज्य की इच्छा स्वतन्त्र है। राज्य मे एक ही काल के व्यक्तियो की इच्छाएँ शामिल नही होती, वह तो राष्ट्र की अनेक पीढियो की इच्छाओ का प्रतिनिधित्व करता है। अत' यह आवश्यक नही कि उसकी इच्छा किसी युग विशेष की जनता की इच्छा को ही प्रकट करे, वह उससे भिन्न भी हो सकती है। वस्तुत जर्मन विचारको के अनुसार राज्य की इच्छा ही वास्तविक इच्छा है, राज्य का व्यक्तित्व ही वास्तविक व्यक्तित्व है। वह अमर और अमिट है।

समीक्षा—राज्य-व्यक्तित्व के सिद्धान्त की कडी आलोचना लेफर और ड्युग्वी ने की है। ड्युग्वी इसे एक पुराना आध्यात्मिक भाव मात्र मानते है और आज के सामाजिक जीवन मे इसका कोई मूल्य नही समझते। ड्युग्वी के मतानुसार तो यह कोरी कल्पना है, इसमे वास्तविकता से तनिक भी मेल नही। लेफर भी इसे जीवन की वास्तविकता के विपरीत मानते हुए अस्वीकार करते हैं।

परन्तु इस मत मे कुछ सत्य अवश्य है, वह निरा अवास्तविक नही। जर्मनी मे इस मत को जिस रूप मे स्वीकार किया गया है, वह अन्यत्र स्वीकार नही किया जाता। अन्यत्र कानूनशास्त्री राज्य के व्यक्तित्व को व्यक्ति अधिकार से ऊपर नही मानते। वे यह स्वीकार नही करते कि राज्य का कोई ऐसा व्यक्तित्व है जो अपने आप मे स्वतन्त्र है, राज्य के सभी व्यक्तियो से ऊपर या श्रेष्ठ है। वे तो राज्य के व्यक्तित्व को केवल मात्र कानूनी स्वीकृति देते है। कानून राज्य को ही नही अन्य भी बहुत से ऐसे समुदाय है जिनके व्यक्तित्व को स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ कालेज, यूनिवर्सिटी, ज्वायण्ट स्टाक कम्पनी और अन्य व्यापारिक तथा शिक्षा-सस्थाएँ कानून की दृष्टि मे व्यक्ति है। राज्य के व्यक्तित्व मे वास्तविकता भी है। क्योकि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसके अपने अधिकार और अपनी जिम्मेदारियाँ है।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही कि राज्य का कोई ऐसा व्यक्तित्व है जो कि नागरिको से ऊपर या स्वतन्त्र हो। राज्य केवल कानून की दृष्टि मे अपने सगठन, अपने अधिकारो तथा कर्त्तव्यो के फलस्वरूप व्यक्ति कहलाता है। राज्य के वैधानिक स्वरूप के साथ-साथ उसके नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप को भी स्वीकार करना चाहिए।

६७ राज्य का उपयोगितावादी स्वरूप (Utilitarian view of the State)

१८वी शताब्दी मे राजनीतिक उपयोगितावाद का इग्लैण्ड मे जन्म हुआ।

इस विचारधारा के प्रवर्तक बेन्थम (Jeremy Bantham) कहलाते हैं। परन्तु बेन्थम से पूर्व भी इंग्लैण्ड मे यह सिद्धान्त एक नैतिक विचारधारा के रूप मे मिल जाता है। इसे स्पष्ट और व्यवस्थित रूप देकर राजनीति मे इस्तेमाल करने का श्रेय अवश्य ही बेन्थम को दिया जाना चाहिए।

यह मुख्य रूप से एक नैतिक सिद्धान्त है, और इसका मनोवैज्ञानिक आधार है। मनुष्य की क्रियाप्रेरक शक्तियो का विश्लेषण करते हुए बेन्थम उनके दो प्रमुख स्रोत स्वीकार करते हैं। ये दो स्रोत हैं—(१) सुख-प्राप्ति और (२) दुःख से बचने की इच्छा। प्रत्येक मनुष्य सुख या आनन्द खोजता है और दुःख से बचना चाहता है। नैतिक दृष्टि से वह चीज अच्छी है जिससे सुख का अनुभव होता है और वह चीज बुरी होती है जो दुःख जनक हो। जीवन के अन्य प्रेरणा-स्रोत भी हो सकते हैं, परन्तु उन सबसे ऊपर और महत्त्वपूर्ण है जीवन मे सुख या आनन्द की कामना।

आनन्दवाद या सुखवाद का यह सिद्धान्त नया नही। इससे पूर्व भी पश्चिम मे सुखवादी विचारधारा मिल जाती है। प्राचीन यूनान मे अनेक आनन्दवादी विचारक हुए हैं, उदाहरणार्थ एरिस्टिपस (Aristippus) के विचार आनन्दवाद से भरे पडे हैं। इसी प्रकार एपिक्यूरस के सिद्धान्तो मे भी आनन्दवाद का अत्यन्त महत्त्व है।

हमारे यहाँ भारत मे भी आनन्दवाद के दो रूप मिल जाते हैं, एक तो आध्यात्मिक आनन्दवाद है जिसने 'आत्मनस्तु कामाय' मे ही सर्वसुख की प्राप्ति मानी है। यह आनन्द भौतिक आनन्द नही, लोकोत्तर आनन्द है। इस आनन्द की प्राप्ति योगी और सिद्ध जन के लिए ही सम्भव है। बेन्थम या उपयोगितावादियो का आनन्द इस श्रेणी का आनन्द नही।

बेन्थम का आनन्दवाद भौतिक आधार पर खडा है। उसका प्रतिरूप हमारे यहाँ चार्वाक दर्शन मे मिल जाता है। उपयोगितावादी सुख और आर्थिक सुख कामना भौतिक सुखवाद (Hedonism) पर आधारित है। परन्तु बेन्थम का सुखवाद व्यावहारिक और सामाजिक है, जहाँ कि आर्थिक सुखवाद मे असामाजिकता और उच्छृंखलता थी।

सुखवाद का व्यावहारिक प्रयोग—जैसा कि हम ऊपर ही लिख आए हैं बेन्थम का सुखवाद व्यवहारिक है वह सामान्य जीवन मे इस्तेमाल किया जा सकता है। मनुष्य, बेन्थम के अनुसार, एक स्वार्थी जीव है, वह अपने सुख-दुख की भावना से कार्य-प्रवृत्त होता है। परन्तु क्योकि उसका सुख केवल वैयक्तिक ही नहीं सामाजिक भी है, अतः वह सामाजिक संस्थाओ के संगठन और नियन्त्रण पर भी आश्रित है। प्रत्येक व्यक्ति के सुख के साथ अन्य व्यक्तियो का भी सुख बँधा हुआ है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है अतः वह समाज मे रहता हुआ अपनी क्रियाओ का इस प्रकार संचालन करता है कि सभी को सुख की प्राप्ति हो।

राज्य की उपयोगिता इसी मे है कि वह वैयक्तिक और सामाजिक सुख को बढ़ाए। उपयोगितावादियों के मतानुसार राज्य का उद्देश्य अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख (Greatest happiness of the greatest number)

की अनुभूति है। उसे ऐसे कानून बनाने चाहिए जिससे कि समाज मे अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति हो सके।

इस प्रकार राज्य एक उपयोगितावादी (Utilitarian) संस्था है। वह न तो एक रहस्यमय व्यक्ति (Mystical entity) ही है और न ही वह एक ऐसा बनावटी यन्त्र है कि जिसकी रचना केवल मात्र व्यक्ति के प्रकृत अधिकारो की रक्षा के लिए की गई हो। राज्य की कार्यवाहियो का मानदड उपयोगिता (Utility) है न कि प्रकृति-नियम (Natural Laws)। प्रकृत अधिकार या दैवीय आदेश, अन्तरात्मा की आवाज अथवा कोई अमूर्त्त सिद्धान्त (Abstract principle) कोरे दार्शनिक या काल्पनिक मानदड के आधार पर राज्य के सगठन, उस द्वारा बनाए कानून और व्यवस्थाओ की उपयोगिता को नही माना जा सकता। राज्य व्यक्तियो का समूह मात्र है। उसका उद्देश्य व्यक्ति-सुख की अभिवृद्धि करना है अत उसके कार्यो की माप-जोख उपयोगिता के सिद्धान्त पर होनी चाहिए—हमे देखना चाहिए कि उनसे सामाजिक हित की अधिक से अधिक अभिवृद्धि होती है या नही।

उपयोगितावाद की देन—इग्लैण्ड के व्यावहारिक जीवन मे उपयोगितावाद की कुछ अपनी देन है। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के अनन्तर इग्लैण्ड मे कुछ ऐसी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई थी जिनका हल तत्कालीन राजनीतिक दर्शन से सम्भव नही था। प्राचीन समझौतावादी विचारको ने जिन प्रकृत अधिकारो (Natural rights) की व्यवस्था की थी, और जिस प्रकार से उनका प्रयोग किया जा रहा था, वह सामाजिक हित मे नही था। इन्ही अधिकारो के आधार पर वैयक्तिक सम्पत्ति और उद्योगवाद मे सरकारी हस्तक्षेप न केवल अनावश्यक ही माना जाता था, अपितु वह नैतिक दृष्टि से अनुचित भी समझा जाता था। उपयोगितावादियो ने ऐसे राजकीय विधि-विधानो का उपयोगिता की दृष्टि से समर्थन किया जिनका उद्देश्य आर्थिक नियन्त्रण था।

उपयोगितावादियो ने कानून तथा दण्ड-व्यवस्था के सुधार, पार्लियामेट के निर्वाचन-क्षेत्र विस्तार के लिए मताधिकार सम्बन्धी सुधार, खानो तथा मिलो मे काम करने वाले मजदूरो के सुधार के अनेक प्रशसनीय प्रयत्न किए।

राजनीतिदर्शन को भी उपयोगितावादियो की विशेष देन है। उन्होने सविदावाद और आदर्शवाद दोनो द्वारा फैलाई गई भ्रान्तियो का खण्डन किया, राजनीतिक और वैधानिक शब्दावली को स्पष्ट रूप दिया। यही नही बेन्थम के विचारो के आधार पर ही आस्टिन ने राज्य प्रभुता (State sovereignty) के सिद्धान्त की रचना की। यह सिद्धान्त आज के विधानशास्त्र का आधार है। उपयोगितावादियो ने राज्य के विपरीत व्यक्ति-हित की महत्ता पर बल दिया और राज्य के दैवीय व्यक्तित्व को अस्वीकार कर उसे व्यक्ति-हित का सरक्षक माना।

उपयोगितावादी राज्य कर्त्तव्यो को जाँचने के लिए एक निश्चित मानदण्ड देते है, उसी के आधार पर हम राज्य द्वारा निर्धारित नियम और कानून व्यवस्था की

उपयोगिता को भी जांच सकते हैं। उपयोगितावाद की सबसे बड़ी विशेषता उसका व्यावहारिक सुधारवाद है।

आलोचना—(१) इन विशेषताओं के रहते हुए भी उपयोगितावाद की कड़ी आलोचना की जाती है। उपयोगितावाद का दार्शनिक आधार बहुत उथला है, उसमें गम्भीरता का अभाव है। वह मानव जीवन की ऊपरी सतह तक ही रह जाता है उसके भीतर नहीं पहुँच पाता। जेम्स सेठ (James Seth) के अनुसार "जीवन का आनन्द-वादी सिद्धान्त बहुत सरल और स्पष्ट है, पर वह सरलता, दृष्टिकोण की व्यापकता और गहराई की कीमत पर मिली है। इसका आधारभूत सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक सरल है।"[1]

(२) मानव-जीवन की क्रियाप्रेरक शक्तियों (Motivating forces) की समस्या बहुत जटिल है, उनकी कोई सीधी और सरल व्याख्या सम्भव नहीं। बेन्थम तथा अन्य उपयोगितावादी इस सम्बन्ध में इस सरलता के शिकार हो गये हैं। उन्होंने बहुत सीधे और सरल रूप में मनुष्य की क्रिया-प्रवृत्तियों की व्याख्या कर डाली है। मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य केवल मात्र सुख की अभिलाषा के ही फल नहीं होते, वे अनेक प्रकार की जटिल और उलझी हुई प्रवृत्तियों के फल हैं। सुख प्राप्ति की इच्छा के अतिरिक्त क्षमा, दया, प्रेम, परोपकार इत्यादि अनेक रागानुराग हमारी मूलभूत क्रिया प्रवृत्तियों में निश्रत रहते हैं।[2]

(३) उपयोगितावादी आनन्द की केवल मात्रा (Quantity) पर ही अधिक जोर देते हैं उसके गुणात्मक पक्ष (Qualitative aspect) की उपेक्षा करते हैं। उनके लिए कम और अधिक का महत्त्व है, उच्चतर और निम्नतर का कोई महत्त्व नहीं। हम यह भूल नहीं सकते कि काव्य-पाठ के आनन्द में तथा रसगुल्ले खाने के स्वाद में कोई अन्तर ही नहीं। आनन्द की आत्मिक और शारीरिक भूमि में अन्तर आवश्यक और स्वाभाविक है।

(४) फिर आनन्द की अनुभूति वैयक्तिक होती है, सामूहिक नहीं। समूह या समाज के पास कोई मन नहीं या कोई अनुभूति का सामान्य केन्द्र नहीं, अन्तिम रूप से सामाजिक सुख या आनन्द वैयक्तिक सुख या आनन्द से परे कुछ नहीं। यदि वह इससे ऊपर कुछ है तो इसका अर्थ है कि समाज व्यक्तियों का समूह मात्र ही नहीं वह और कुछ भी है, क्योंकि उसमें सुख और आनन्द अनुभव करने की शक्ति है। सुख को उपयोगितावादी ऐन्द्रिय मानते हैं। ऐन्द्रिय मनुष्य ही हो सकता है समाज नहीं।

---

1. "The hedonistic theory of life purchases its simplicity and lucidity at the expense of depth and comprehensiveness of view Its formula is too simple." *James Seth*

2. मनुष्य की क्रियाप्रेरक शक्तियों के विषय में फ्रायड, एडलर, युग, रसल इत्यादि ने विभिन्न और परस्पर विरोधी मत प्रगट किये हैं। यह विषय अपनी गम्भीरता के कारण किसी सरल सिद्धान्त द्वारा हल नहीं हो सकता।

(५) उपयोगितावादी मनुष्य को एक पूर्ण बौद्धिक प्राणी मानते हैं । उनका विचार है कि वह एक बुद्धिसम्पन्न स्वार्थी प्राणी है । परन्तु यह विचार नितान्त गलत है । सेवाइन का कथन है कि मनुष्य को इतना अधिक बुद्धिसम्पन्न स्वार्थी प्राणी समझना गलत है जितना कि उपयोगितावादी मानते हैं । वह अपने सुख-दुःख का अनुमान और उनके परिणामो का पूरा पूरा लेखा-जोखा नही कर सकता ।

आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओ ने तो मनुष्य की क्रियाप्रेरक शक्तियो को अबौद्धिक (Irrational) माना है । **ग्राहम वेलस (Graham Wallas) तथा मैक्डूगल (Mcdouggall) दोनो ही मनुष्य-कार्यो को बुद्धि-प्रेरित न मान भावना प्रेरित मानते हैं ।** उन्होंने राजनीतिक और अन्य सस्थाओ के कार्य मे भी इसी अबौद्धिक प्रवृति की प्रधानता स्वीकार की है । मनुष्य को सर्वथा स्वार्थी समझना भी गलत है । उसके व्यक्तित्व का परम विकास तो तभी होता है जब कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठ सामाजिक हित के लिए अपने जीवन की आहुति भी देने को उद्यत हो जाता है ।

(६) सुख क्या है ? आनन्द क्या है ? यह एक ऐसा पेचीदा सवाल है कि जिसका कोई भी ऐसा सीधा और सरल जवाब सम्भव नही जैसा कि उपयोगितावादी समझ बैठते हैं । प्रत्येक देश तथा काल की परिस्थितियो के अनुसार 'आनन्द' और सुख की परिभाषा बदलती रही है । ऐसी स्थिति मे आनन्दवाद राज्य का एक स्थायी उद्देश्य कैसे हो सकता है ।

(७) अनेक बार 'उपयोगिता' के नाम पर व्यक्ति-हित को बहुत ही अधिक हानि पहुँचाई जाती है । 'समाज-हित', 'राष्ट्र-हित', 'सामूहिक उपयोगिता' की आड मे क्या-क्या अनर्थ नही हुए ? 'उपयोगिता', 'सुख' और 'आनन्द', 'प्रगति' इत्यादि धारणाएँ वैयक्तिक (Subjective) होती है । वह व्यक्ति समुदाय के साथ बदलती रहती है । इस अर्थ मे इस सिद्धान्त मे अनिश्चितता और अस्पष्टता है । हालोवेल (Halowell) का कथन सर्वथा सत्य है कि **"बेन्थमवाद एक ऐसा उदारतावाद है जो निरकुशता के लिए बहुत ही अनुकूल है ।"**[1]

इस प्रकार उपयोगितावाद मे अनेक दोष हैं कि जिस वजह से शीघ्र ही इस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त राज्य और समाज के सर्वथा अनुपयुक्त हो गये । इस सिद्धान्त मे भौतिकता का आधिक्य और नैतिकता का अभाव था । जीवन और समाज की एकपक्षीय भौतिक व्याख्या निश्चय ही एक जाग्रत समाज को बहुत देर तक प्रभावित नही कर सकती थी । व्यक्ति और राज्य सम्बन्धो की भी केवल उपयोगिता के आधार पर ही व्याख्या नही की जा सकती, न ही अधिकारो को हम केवल राज्य की कानूनी रचना ही स्वीकार कर सकते हैं । राज्य भी केवल व्यक्तियो का समूह मात्र नही । सविदावाद को अस्वीकार करते हुए भी वे उससे ऊपर नही उठ सके । आस्टिन का प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त भी आज वास्तविक राजनीति के लिए सर्वथा

1 "Benthamism is a liberalism that is congenial to tyranny"

अनुपयुक्त माना जाता है। बेन्थम, मिल तथा उसके पुत्र जान स्टुअर्ट मिल ने व्यक्तिवादी राज्य का समर्थन किया वह आज सर्वथा अस्वीकार किया जाता है योगितावाद का सही अर्थ तो समूहवाद था, परन्तु उसको व्यक्तिवाद मे परिण उन्होने इसे सर्वथा अव्यावहारिक बना दिया।

उपयोगितावाद की इस आलोचना के बाद भी हमे यह मानने मे कोई हिचाहट नही कि आज की राजनीति मे भी इस सिद्धान्त के कुछ मूल तत्त्व कि किसी रूप मे मिल ही जाते है। अधिकतम सख्या के अधिकतम लाभ का सि आज भी किसी न किसी रूप मे राज्य की क्रियाओ का एक मानदण्ड म जाता है।

६८. राज्य का वर्गवादी सिद्धान्त (Class character of the Sta

मार्क्स और उसके साम्यवादी अनुयायी राज्य की प्रकृति की वर्गवादी व करते है। यह उपर्युक्त सभी प्रकार की व्याख्याओ से भिन्न है। कार्ल मार्क्स के नुसार राज्य एक वर्ग-व्यवस्था है। इसकी शक्ति के आश्रय से एक वर्ग दूसरे व शासन करता है। वास्तविक राज्य-शक्ति आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्ग के ह रहती है, और वह राज्य-शक्ति को अपने स्वार्थ की वृद्धि और दूसरे वर्ग के ' के लिए इस्तेमाल मे लाता है। इसके कार्य न्याय पर आधारित नही होते, आधार शक्ति या शारीरिक बल है न कि जन-सहमति।

प्रिंस क्रोपाटकिन तथा बाकुनिन इत्यादि अराजकतावादी और सोरेल व सिण्डीकेलिस्ट भी उपर्युक्त मत का समर्थन करते है। उनका कथन है कि अनैतिक, अप्राकृतिक और अनावश्यक है। मनुष्य के व्यक्तित्व का समुचित रि राज्य के अन्तर्गत सम्भव नही, वह तो राज्य की अनुपस्थिति मे ही सम्भव हो है। वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य की देन नही, न ही कभी राज्य मे उसकी अ सम्भव है। राज्य वस्तुत. व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सबसे बड़ा शत्रु समझा जाता है

कम्युनिस्ट, अराजकतावादी और सिण्डीकेलिस्ट सभी राज्य का अन्त है। साम्यवादी कुछ देर के लिए राज्य को कायम रखेंगे, परन्तु अन्तत वह स्वाभाविक विलोप अनिवार्य समझते है। अराजकतावादी और सिण्डीकेलिस्ट के एकदम बाद 'राज्य' नाम की सस्था को सदा के लिए खत्म कर देना जरूरी समझ

राज्य के वर्गवादी सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन तो हम आगे ही क यहाँ तो हम इतना कह देना चाहते है कि यह सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण और भ्राम मार्क्स और उसके अनुयायियो की राज्य प्रकृति विषयक धारणा किसी विशेष के लिए तो ठीक हो सकती है, परन्तु 'राज्य मात्र' का ही ऐसा रूप हो यह गलत है। वस्तुत. उनका दृष्टिकोण एक अस्वस्थ राज्य के लिए ठीक हो सक पूर्ण स्वस्थ राज्य के लिए नही। यह कहना भी बिलकुल गलत है कि व्यक्ति-स्व की वास्तविक अनुभूति राज्य के बाहर सम्भव है, राज्य के भीतर नही। ऐसा

वस्तुत वह परिस्थितियाँ बनाता है जिनमे बलवान और निबल एक साथ रह सकते है, और एक साथ एक जैसे अधिकारो का उपयोग कर वास्तविक स्वतन्त्रता की अनुभूति करते हैं। राज्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का शत्रु न हो उसका सरक्षक है।

६६. राज्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

वस्तुत राजनीतिशास्त्र के अध्ययन मे मनोविज्ञान का प्रयोग उसी प्रकार से महत्त्वपूर्ण है जिस प्रकार से प्राणीशास्त्र का। यदि हम यह मानकर चलें कि मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है और उसकी सामाजिक और राजनीतिक क्रिया-विधियो के अध्ययन के लिए उसकी मन प्रवृत्तियो का अध्ययन पर्याप्त उपयोगी होता है तो हम देखेंगे कि प्राय सभी राजनीतिक विचारको ने मानव-प्रवृत्ति के किसी न किसी पक्ष पर बल दे अपने राजनीतिक सिद्धान्तो को रचा। प्लेटो, अरस्तू, मेकयावली, हॉब्स, लॉक तथा रूसो इत्यादि सभी इस तथ्य के उदाहरण हैं, उन्होने अपने सिद्धान्त मनुष्य की प्रवृत्तियो के अध्ययन पर आधारित किये।

परन्तु वर्तमान युग मे राजनीति मे मनोविज्ञान का प्रवेश कुछ दूसरे ढग का है। वह राज्य के स्वरूप के किसी ऐसे विशिष्ट सिद्धान्त की स्थापना नही करता जैसे कि आदर्शवाद या उपयोगितावाद करते हैं। वह तो वस्तुत आदर्शवाद और उपयोगितावाद की तार्किकता की एक प्रतिक्रिया है। इन दिनो मनुष्य के राजनीतिक और सामाजिक चरित्र की व्याख्या मे मनोविज्ञान का प्रयोग एक आम बात हो गई है। बार्कर का कथन है कि **"अगर हमारे पूर्वज प्राणीशास्त्र के दृष्टिकोण से सोचते थे तो हम मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से विचार करते हैं।"**[1]

वर्तमान युग मे राजनीति मे मनोविज्ञान का प्रयोग करने वालो मे बेजहॉट (Bagehot) सर्वप्रथम हैं। बेजहॉट ने अपनी पुस्तक Physics and Politics मे राजनीतिक समाज मे दो प्रकार की मुख्य प्रवृत्तियाँ मानी हैं—(१) अनुकरण की प्रवृत्ति और (२) विचार-विमर्श की प्रवृत्ति। अनुकरण-प्रवृत्ति तो सामान्यतया सभी समाजो मे प्राप्त हो जाती है, परन्तु विचार-विमर्श की प्रवृत्ति केवल कुछ एक प्रगतिशील समाजो मे ही मिलती है। सामाजिक इतिहास को भी वह दो युगो मे बाँटता है, एक तो सैनिक शक्ति का युग, जिसमे अनुकरण-प्रवृत्ति की प्रधानता थी, दूसरा तर्क युग, जिसमे विचार-विमर्श की प्रमुखता होती है।

राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ के अध्ययन मे मनोविज्ञान के प्रयोग का गम्भीर प्रयत्न तो वस्तुत ग्राहम वेलस (Graham Wallas) द्वारा किया गया है। वेलस ने अपनी पुस्तक 'Human Nature in Politics' मे यह साबित करने की कोशिश की है कि हमारा राजनीतिक और सामाजिक आचरण बहुत कम अशो मे बुद्धि या तर्क (Reason) का परिणाम होता है। हमारे आचरण का अधिकाश भाग अबौद्धिक (Irrational) क्रियाप्रेरक शक्तियो का

---

1 "If our fathers thought biologically we think psychologically"—*Barker*

परिणाम होता है। इनके नाम हैं अभ्यास (Habit), सहज वृत्ति (Instinct), संकेत (Suggestion) तथा अनुकरण (Immitation) है।

ग्राहम वेलस का कथन है कि वर्तमान लोकतन्त्र के युग मे जनता राजनीतिक क्रियाओ मे सोच-समझकर प्रवृत्त नही होती। अधिकाश मे वह सकेतो तथा नारो का अनुसरण कर भावावेश मे राजनीतिक कार्य करती है। जनमत का निर्माण राजनीतिक नेता जनता के दिमाग को अपील कर नही करते अपितु उनकी भावुकता उभारकर करते हैं।

अपने सामूहिक राजनीतिक जीवन मे एक नागरिक ऐसे-ऐसे कार्य करता है, जिस पर बाद मे अगर वह ध्यानपूर्वक विचार करे तो बहुत लज्जित हो। जनतन्त्र के अन्तर्गत सामाजिक और राजनीतिक जीवन के प्रत्येक पक्ष मे अबौद्धिक तत्त्वो की प्रधानता रहती है और सोच-समझ का अभाव होता है। केवल निर्वाचक और जनसाधारण ही अपने कर्त्तव्यो का पालन भावावेश मे आकर नही करते, अपितु पार्लियामेंट भी इसी प्रकार की अबौद्धिक और तर्कशून्य प्रवृत्तियो का शिकार हो जाती है।

ग्राहम वेलस जनतन्त्र का विरोधी नही। उसका विचार है कि निर्वाचन नियमो की कठोरता, शिक्षा के प्रसार तथा ज्ञान की वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यापक दृष्टिकोण के विकास की सम्भावना है। प्रजातन्त्र की एक और बडी विशेषता यह है कि यह शासन-व्यवस्था जन-सहमति पर आधारित है। जन-सहमति के अभाव मे शासनतन्त्र बिगड जाता है।

मैक्डूगल का 'समाज मन' का सिद्धान्त (Group mind theory of Mc-Douggall)—ग्राहम वेलस की तरह मैक्डूगल भी अबौद्धिक तत्त्वो को प्रधानता देता है और तर्क-शक्ति को गौण समझता है। इसी आधार पर उसने आदर्शवादी और उपयोगितावादी सिद्धान्तो की कडी आलोचना की है। उसके विचारानुसार मनुष्य मे तर्क-बुद्धि की मात्रा थोडी होती है और अबौद्धिक तत्त्वो की प्रधानता होती है। मैक्डूगल ने मनुष्य की क्रियाप्रेरक शक्तियो (Motivating forces) का नाम सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts) रखा है। मनुष्य की तर्क-बुद्धि इन सहज प्रवृत्तियो द्वारा नियन्त्रित की जाती है, वह इनका शासन नही करती।

मैक्डूगल का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त समाज-चेतना का है। उसका कथन है कि बहुत से व्यक्तियो के सम्मिलन से जिस समुदाय का निर्माण होता है वह समुदाय भी अपना एक व्यक्तित्व और मन रखता है जो कि व्यक्तियो के व्यक्तित्व और मन से ऊपर होता है। एक समुदाय मे मनुष्य अपनी तर्क-बुद्धि की प्रेरणा पर आचरण नही करता वह समुदाय-मन (Group mind) की प्रेरणा पर कार्य करता है। इस समुदाय-मन का रूप हमे एक भीड या गिरोह की कार्यवाहियो के सचालन मे स्पष्ट नजर आ जाता है। ऐसे ग्रुपो मे मनुष्य समुदाय रूप से अपने दूसरे साथियो के साथ ऐसे-ऐसे कार्य करता है कि जिनको वह कभी भी अपने दैनिक जीवन मे करने को उद्यत नही होगा। अक्सर हम देखते हैं कि दगा-फसाद के समय मनुष्य की

तर्क-बुद्धि काम करना छोड देती है, और अच्छे-भले आदमी भी ऐसे-ऐसे काम करते है जिन्हे कि वैयक्तिक जीवन मे वे कभी भी करना पसन्द नही करेंगे।

आज की लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाओ मे राजनीतिक नेता इस समुदाय-मन को ही अपील करते है।

इसी प्रकार विलियम ट्राटर (William Trotter) ने भी मनुष्य मे समुदाय (Crowd) के मन के अनुसरण करने की प्रवृत्ति मानी है।

आलोचना—इसमे सन्देह नही कि मनोविज्ञानवेत्ताओ ने हमारे राजनीतिक जीवन मे तर्क-बुद्धि के अतिरिक्त हमारी सहज प्रवृत्तियो, अबौद्धिक तत्त्वो या भाव तत्त्वो की महत्ता को सिद्ध कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हम इस बात से इनकार नही कर सकते कि हमारे दैनिक राजनीतिक जीवन मे, राजनीतिक नेता हमारी भावनाओ को उभारने का प्रयत्न करते है। इसी प्रकार जन-समूह मे हमारे आचरण की क्या प्रवृत्ति होती है, किस प्रकार तर्क को छोड हम भावावेश मे बुरे से बुरे काम कर डालते है, और किस प्रकार क्रान्ति या विद्रोह के समय जनता का आचरण होता है। इन सबका यथार्थ मनोवैज्ञानिक विवेचन कर मनोविज्ञानशास्त्रियो ने राजनीतिक जीवन के अबौद्धिक पक्ष की ओर हमारा ध्यान खीचा है।

इसी प्रकार उनके इस कथन मे भी पर्याप्त सत्य है कि हमारे समाज का आधार तर्क ही नही, रीति-रिवाज, परम्परा, अभ्यास, अनुकरण, रागानुराग तथा अन्य मनोभाव भी है।

परन्तु मनोविज्ञानवेत्ता हमारे सामाजिक जीवन की वैसी ही एकागी और अपूर्ण व्याख्या करते है जिस प्रकार आदर्शवादी और उपयोगितावादी। उन्होने अबौद्धिक शक्तियो का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है, वह सोच-समझ सकता है। हमारे सामाजिक जीवन मे तर्क की उससे कही अधिक महत्ता है जितनी कि मनोविज्ञानवेत्ता मानते है। वस्तुत हमारे सामाजिक आचरण मे तर्क और भाव दोनो का ही मिश्रण रहता है।

राज्य-भक्ति और राष्ट्रीय एकता का आधार केवल अबौद्धिक तत्त्व ही नही हो सकते। समाज का सगठन केवल सकेत या अनुकरण पर आधारित नही। राजनीतिक जीवन में अनेक नैतिक मूल्य वर्तमान रहते है, वह हमारी गति-विधि निर्धारित करते है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक मनुष्य प्रकृति के निम्न तत्त्वो के आधार पर उच्च तत्त्वो की व्याख्या का असफल प्रयास करते है।

७०. राज्य की आदर्शात्मक व्याख्या (The Idealist theory of the State)

राज्य प्रकृति की एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या आदर्शवादी व्याख्या भी है। इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन तो हम राज्य के कार्य-क्षेत्र की व्याख्या के समय करेंगे। यहाँ तो हम सक्षेप से इस सिद्धान्त द्वारा की गई राज्य प्रकृति की व्याख्या विषयक

मतो का ही विवरण देंगे।

राज्य की आदर्शवादी व्याख्या बहुत पुरानी है। प्राचीन ग्रीक विचारक प्लेटो और अरस्तू के विचार से इस सिद्धान्त का प्रारम्भ माना जाता है। ग्रीक विचारकों ने मनुष्य को स्वभावत सामाजिक मान राज्य को एक प्राकृतिक संस्था माना है। उनका विचार था कि राज्य मनुष्य के मस्तिष्क की सृष्टि है। प्लेटो कहता है, "राज्य और कुछ नहीं, मानव-मस्तिष्क का विस्तृत रूप ही है। राज्य की उत्पत्ति वृक्षो अथवा चट्टानो से नहीं होती, वे उन मनुष्यो के मस्तिष्क से उत्पन्न होते हैं जो उनमे निवास करते हैं।"[1] इस प्रकार राज्य की प्रकृति के ज्ञान के लिए उनके विचारात्मक स्वरूप का समझना आवश्यक है। प्लेटो और अरस्तू राज्य को अपने आप मे सर्व प्रकार से पूर्ण एक विशालकाय व्यक्ति के समान समझते हैं। उसका सगठन मनुष्य शरीर (Human organism) की तरह है। वे समाज और राज्य को एक रूप समझते है। वर्तमान युग की आदर्शवादी विचारधारा का जनक रूसो को कहा जा सकता है। रूसो राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है। वह कहता है कि राज्य की अपनी एक इच्छा होती है। यह इच्छा समाज के सदस्यो की नैतिक या आदर्श इच्छाओ से युक्त होती है। वह व्यक्ति के वास्तविक हित को प्रगट करती है। राज्य की इच्छा हमेशा ठीक होती है, वह सदा जनहित मे होती है। रूसो के इस सामान्य इच्छा (General will) के सिद्धान्त के आधार पर ही वर्तमान युग मे काण्ट तथा हीगल ने आदर्शवादी राज्य की कल्पना की। जर्मन विचारको का प्रभाव इगलैण्ड पर भी पडा और इगलैण्ड के टी० एच० ग्रीन, वोसांके तथा ब्रैडले (Bradley) इत्यादि ने भी राज्य की आदर्शवादी कल्पना का समर्थन किया।

आदर्शवादी विचारधारा का परिपक्व रूप हीगल के विचारो मे मिलता है। हीगल रूसो का अनुसरण करता हुआ राज्य को उच्चतम नैतिक संस्था मानता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति राज्य के अतर्गत ही सम्भव है, राज्य के बाहर नही। राज्य एक पूर्ण विकसित व्यक्ति के समान है। यह नैतिक शरीर है, उसकी एक नैतिक इच्छा है, व्यक्ति इस नैतिक शरीर का एक अविभाज्य अग है। राज्य व्यक्ति की उच्चतम इच्छा की अभिव्यक्ति करता है, अत राज्य नियमो को मानकर ही मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति कर सकता है। राज्य व्यक्ति-कल्याण के लिए नहीं अपितु आत्म-कल्याण के लिए अवस्थित है। राज्य को हीगल एक प्रकार की दैवीय शक्ति मानता है। वह कहता है कि राज्य तो पृथ्वी पर भगवान के 'साक्षात स्वरूप' के सदृश है। व्यक्ति को उसकी पूजा करनी चाहिए। राज्य के प्रति विद्रोह अनैतिक है। व्यक्ति का सब से बडा कर्तव्य राज्य की उन्नति के लिए प्रयत्न करना है। राज्य के लिए उसे अपने जीवन तक का बलिदान कर देना चाहिए।

आलोचना—राज्य की आदर्शात्मक व्याख्या की बडी आलोचना की जाती है।

---

1. "The State is nothing but human mind writ large States donot come out of oak or rock They result from the mind of the people that live in them"—*Plato*

यह कहा जाता है कि आदर्शवादी विचारधारा अयथार्थ है। उसका जीवन की वास्तविकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं। राज्य को नैतिक संस्था मानते हुए भी उसे अपने आप में अन्त नहीं मान सकते। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति-कल्याण है, आत्म-कल्याण नहीं। अतः राज्य को असीम और अबाध अधिकार नहीं सौंपे जा सकते। राज्य हमेशा ही ठीक नहीं होता, वह हमेशा ही अपने कार्यों में किसी उचित नीति का पालन करने वाला नहीं होता।

राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और उसके अधिकारों को नष्ट कर देता है, वह व्यक्ति जीवन की कोई कीमत नहीं समझता। ऐसी अवस्था में यह सिद्धान्त स्वस्थ राज्य-व्यवस्था का आधार नहीं बन सकता।

निष्कर्ष—ऊपर हमने राज्य विषयक अनेक अर्द्ध-सत्य सिद्धान्तों का विवेचन किया है। राज्य की केवल एक ही सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या करना भ्रामक और असत्य है। राज्य मानवीय संस्था है, उसके मानवीय स्वरूप को समझने के लिए हमें अपने जीवन की विविधता को नहीं भूलना चाहिए।

Important Questions

	Reference
1 "The organismic theory of the State is neither a satisfactory explanation of the nature of the State nor a trustworthy guide to the State activity" Discuss (*Pb 1953*)	Arts 61, 62 and 63
2 Carefully examine the organic theory of Herbert Spencer and point out the chief-weaknesses in Spencer's arguments (*Pb 1942*)	Arts 62 and 62
3 State and discuss the origin and development of the Organic Theory of the State	Art 61
4 Make critical evaluation of the Utilitarian Theory of the State	Art 67
5 What do you understand by the Idealistic Theory of the State ? How far it is true to the real facts of social life	Art 70
6 Describe the psychologists' conception of State	Art 69

कानून

LAW

७१ कानून शब्द का परिचय

कानून शब्द अंग्रेजी शब्द 'लॉ' (Law) का हिन्दी पर्यायवाची है। साधारण बोलचाल मे और वैज्ञानिक अर्थ मे भी 'कानून' शब्द अनेकार्थक है। जब हम किसी भी एक ऐसे नियम की ओर संकेत करते हैं जो निश्चित रूप और एकरूप है और जिसका पालन साधारणतया होता है या किया जाता है, तो वह कानून कहलाता है। यह कानून शब्द की एक विस्तृत व्याख्या है। इसके अन्तर्गत प्राकृतिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी प्रकार के कानून आ जाते है।

हम प्राकृतिक जीवन मे कुछ ऐसे नियम देखते हैं जो निश्चित और एकरूप हैं और जिनका पालन नित्य होता है। ऐसे नियमो को हम प्राकृतिक कानून (Physical law) कह सकते हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of gravitation) इत्यादि ऐसे ही भौतिक नियम हैं जो कि अपरिवर्तनीय हैं, और सम्पूर्ण विश्व मे एकरूप हैं।

परन्तु हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे कानून शब्द का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ मे नही होता। सामाजिक जीवन मे कानून से हमारा अभिप्राय उन नियमो से होता है जो हमारे जीवन का नियमन करते हैं। यदि ये नियम हमारे आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित हैं यानी हमारी क्रियाप्रेरक शक्तियो और हमारी इच्छाओं या उद्देश्यों से सम्बन्धित हैं तो वह नैतिक नियम (Moral laws) कहलाते हैं। यदि ये नियम हमारे बाह्य जीवन से सम्बन्धित हैं तो ये सामाजिक और राजनीतिक कानून कहलायेंगे।

सामाजिक और राजनीतिक कानून भी प्रकृति मे एक दूसरे से भिन्न हैं। सामाजिक नियम परम्परागत रीति-रिवाज, फैशन तथा रूढियो पर आधारित होते हैं। उनकी मान्यता लोकमत तथा समाज की नैतिक चेतना द्वारा दी जाती है। फलत. उनको तोडने या उल्लंघन करने का नतीजा शारीरिक दण्ड नही होता। अक्सर सामाजिक नियम तोड़ने पर समाज द्वारा हमारे आचरण की आलोचना की जाती है या उपहास उड़ाया जाता है। यह ठीक है कि कभी-कभी सामजिक नियमों के तोड़ने का दंड बहुत सख्त हो सकता है, परन्तु वह मृत्यु-दण्ड या जेल नही होता, अधिक से अधिक समाज हमे अपनी सदस्यता से वंचित कर सकता है, हमारा बाइकाट कर सकता है। दहेज-प्रथा, अन्तर्जातीय विवाहों का निषेध, विधवा-विवाह का निषेध

इत्यादि बहुत से सामाजिक नियम हमारे हिन्दू समाज मे मिल जाते हैं। इन नियमो के पालन कराने के लिए कोई शारीरिक दण्ड-व्यवस्थ नही, केवल लोकमत के आधार पर ही समाज मे इनका अनुसरण होता रहता है। सामाजिक नियम अधिकतर अप्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था के बनाये रखने मे मदद करते है।

सामाजिक कानून के विपरीत राजनीतिक कानून वे नियम होते हैं जिन्हें राज्य द्वारा जारी किया जाता है और जिन्हें राज्य ही लागू करने के लिए उत्तरदायी होता है। राजनीतिक नियमो की सबसे बडी विशेषता उनकी उच्चता होती है। क्योकि उनको लागू करने वाली राजकीय शक्ति और दण्ड व्यवस्था होती है।

राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे हम केवल राजनीतिक कानूनो का ही विवेचन करते हैं। अत यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल राजनीतिक कानून मे ही है। राजनीतिक कानून की अनेक व्याख्याएँ की गई हैं। नीचे हम इन व्याख्याओ का विवरण देंगे।

७२. कानून की शास्त्रीय व्याख्या (Classical version of law)

पीछे हम कानूनी प्रभुता के रूप पर विचार कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि आस्टिन इत्यादि कानूनी प्रभुता के समर्थक, कानून को राज्य का आदेश मात्र मानते हैं। आस्टिन से पूर्व बोदीन, हॉब्स तथा बेन्थम भी उपर्युक्त विचार का ही समर्थन कर चुके थे। इस विचार के अनुसार प्रत्येक राज्य मे एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न होता है। उसी के आदेश कानून कहलाते हैं। इन आदेशो के भग करने का परिणाम शारीरिक दण्ड होता है। दण्ड के भय से ही नागरिक राज्य नियमो का पालन करते हैं। इस प्रकार राज्य की शारीरिक शक्ति की उच्चता का आधार कानून की सबसे बडी विशेषता है। इस विशेषता के अभाव मे कोई भी नियम 'कानून' नही कहला सकता और चाहे वह जो कुछ हो।

नवीन लेखको मे हालैण्ड (T F Holland) तथा विलोबी (W. W Willoughby) इस सिद्धान्त के विशेष समर्थको मे से हैं।

७३. कानून की ऐतिहासिक व्याख्या (Historical version of law)

कानून की उपर्युक्त व्याख्या का विरोध सर हेनरी मेन और सेविनी (Sevigny) ने किया है। आज एफ डबल्यू. मेटलैण्ड (F W. Maitland) और सर फ्रेडरिक पोलॉक (Sir Frederic Pollock) भी कानून की शास्त्रीय परिभाषा का खण्डन करते हैं। वे कानून की शास्त्रीय व्याख्या को बहुत सकुचित समझते हैं। उनका कथन है कि यह जरूरी नही कि कानून एक निश्चित प्रभुता के आदेशो का ही फल हो। कानून को केवल मात्र राजकीय आदेश मानना बिलकुल गलत है। कानून तो प्रगतिशील, परिवर्तनशील तथा दीर्घकालीन सामाजिक परिस्थि-तियो का परिणाम है। दूसरे शब्दो मे हम कानून की तब तक कोई भी उचित व्याख्या नही कर सकते जब तक कि उसकी उत्पादनकर्त्ता ऐतिहासिक परिस्थितियो का अध्ययन न कर लें। प्रत्येक समाज की अपनी धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक आवश्य-

कताएँ होती हैं, इन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कानून बनाये जाते है। राजकीय प्रभुता तो कानून का केवल औपचारिक (Formal) स्रोत मात्र है, वास्तविक नही। अत कानून का अध्ययन ऐतिहासिक परिस्थितियो के सदर्भ से ही होना चाहिए।

सर हेनरी मेन ने कानून के तीन जन्म स्रोत माने है—

(१) परम्परागत रीति-रिवाज (Customs and conventions)

(२) जन-सहमित (Public consent)

(३) कनूान निर्माण की योग्यता वाली निश्चित राजनीतिक सत्ता (The definite political authority competent to make law)

उपर्युक्त प्रथम दो कानून निर्माण के वास्तविक स्रोत (Material sources) हैं, जब कि अन्तिम केवल औपचारिक (Formal) स्रोत है। जन-परम्पराएँ वैधानिक स्वीकृति प्राप्त करने पर ही वास्तविक कानून बनती हैं।

हेनरी मेन, आस्टिन के इस मत का भी समर्थक नही कि कानून राज्य की रचना है, राज्य तो केवल परम्परागत रीति-रिवाजो को मान्यता दे उन्हे कानून स्वीकार करता है। हेनरी मेन का विचार है कि जनसामान्य कानून का पालन दण्ड के भय मात्र से ही नही करता, राज्य-शक्ति की उच्चता ही उसके पालन कराने का कारण नही। लोग कानून का पालन बहुत कुछ अभ्यासवश करते हैं और बहुत कुछ इसलिए करते हैं कि उनकी नैतिक धारणा के अनुकूल होता है।

७४ कानून की समाजवैज्ञानिक व्याख्या (The sociological version of law)

ड्युग्वी, क्रैब तथा लॉस्की इस विचारधारा के प्रबल समर्थक हैं। वे राज्य की सर्वोच्च सत्ता को नही मानते और न ही उसे कानून का स्रोत समझते हैं। कानून के शास्त्रीय सिद्धान्त को वह एक अयथार्थ और उथला सिद्धान्त मानते हैं। कानून की समाजवैज्ञानिक व्याख्या अधिकाश मे मनोविज्ञान, समाजविज्ञान तथा व्यवहारवाद (Pragmatism) के व्यावहारिक दर्शन पर आधारित है।

ड्युग्वी का कथन है कि कानून सामाजिक शक्तियो का प्रतिफल है। राज्य मे निश्चित और सगठित विधानपालिकाएँ हो सकती हैं, परन्तु उनके आदेश मात्र कानून नही बन जाते। कानून हमारी सामाजिक आवश्यकताओ का परिणाम है। उनका पालन भय से नही किया जाता, अपितु स्वार्थवश किया जाता है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, वह जानता है कि सामाजिक जिन्दगी तभी सम्भव है जब कुछ नियमो या असूलो का पालन किया जायगा। इन नियमो या असूलो की अनुपस्थिति मे समाज मे अराजकता फैल जायगी, संस्कृति और सभ्यता खत्म हो जायगी। अत सामाजिक एकता (Social solidarity) के उद्देश्य को सामने रखते हुए हम कानून का पालन करते हैं। ड्युग्वी कानून की परिभाषा इस प्रकार करता है, "आधारभूत अर्थ मे कानून चरित्र-पालन के नियमो के उस समूह को कहते हैं जिसका पालन साधारण

मनुष्य सामाजिक जिन्दगी से प्राप्त सम्पूर्ण लाभों के सरक्षण और सवर्द्धन के लिए करता है।"[1]

क्रेव कानून के नैतिक पक्ष पर अधिक वल देता है। उसका कथन है कि कानून राज्य से स्वतन्त्र और उच्च है। राज्य का वास्तविक रचियता कानून है, न कि राज्य कानून का। इस प्रकार वह राज्य की सर्वोच्च सत्ता की अवस्थिति को सर्वथा अस्वीकार करता है। कानून का स्रोत हमारी न्याय और औचित्य की ज्ञान भावना (Sense of Right) है। अत कानून हमारी नैतिक धारणा का परिणाम है। जिसको हम बुरा समझते है कानून उसे दूर करने का प्रयत्न करता है और जो हमारी नैतिक धारणा के अनुसार उचित है, कानून उसे निर्धारित करने का प्रयत्न करता है। क्रेव का मत है कि हम कानून का पालन दण्ड के भय से नहीं करते, बल्कि, क्योकि कानून उचित और न्यायसगत है, वह हमारी नैतिक धारणा पर आधारित है, इसी कारण कानून का पालन किया जाता है।

लॉस्की की कानून की व्याख्या उपयोगितावाद पर आधारित है। उसका कथन है कि कानून का आधार व्यक्ति की सहमति है। कानून का पालन इसलिए किया जाता है क्योकि वह हमारी कामनाओ की पूर्ति मे सहायता करता है। कानून हमारे कल्याण का साधन है, यही कारण है कि हम उसका आचरण करते हैं। क्रेव तथा लॉस्की दोनो का ही यह विचार है कि यदि कानून हमारे कल्याण का पोषक न हो निरकुश हो जाए, तो व्यक्ति को राज्य-व्यवस्था के विरोध और कानून के उल्लघन का अधिकार है।

निष्कर्ष—कानून की उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त दार्शनिक और तुलनात्मक नामक दो अन्य व्याख्याए भी की गई हैं, परन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नही।

कानून की ठीक-ठीक व्याख्या इन तीनो सिद्धान्तो के मिश्रण से ही सम्भव है। इन तीनो का अलग-अलग प्रयोग इसकी समुचित व्याख्या नही कर पाता। इसमे सदेह नही कि कानून की तीनो प्रकार की धारणाओ मे पर्याप्त सत्य है, परन्तु वह पूर्ण नही। वे कानून के विविध पक्षो को ही उपस्थित करती हैं। निश्चय ही कानून केवल मात्र राज्यादेश ही नही हो सकता, वह परिवर्तनशील है, समाज की परिवर्तित होती हुई आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के अनुसार उसमे परिवर्तन होते रहते हैं। समाज की नैतिक धारणा, उसका न्याय व औचित्य ज्ञान तथा जनमत सभी कानून के रूप को निश्चित करते हैं। रीति-रिवाज तथा परम्परा की भी कोई राज्य अवहेलना नही कर सकता।

परन्तु इन सबके बावजूद भी हमे यह मानना पडेगा कि जनमत और नैतिक धारणाएँ आज के युग मे तब तक कानून नही बन सकती जब तक कि वे विधान-

---

1 "Laws, in the fundamental sense, are the rules of conduct which normal men know they must observe in order to preserve and promote the benefits derived from life in society"—*Duguit*

पालिकाओं द्वारा आदेश रूप मे जारी न की जाएँ। आज कानून का मुख्य स्रोत विधानपालिकाएँ हैं, रीति-रिवाज और परम्परा का स्थान आज राज्य विधान-पालिकाओं द्वारा रचित अधिनियम ले रहे हैं।

कानून का पालन निस्सन्देह हम अभ्यासवश और स्वार्थवश भी करते हैं, परन्तु राज्य-दण्ड का भय भी कानून-पालन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रत्येक समाज मे कुछ न कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हे नैतिक धारणाएँ कानून-पालन के लिए प्रेरित नही करती। उन्हे गैर कानूनी और समाज-विरोधी कार्यो को करने मे रोकने का एक तरीका है—वह तरीका है राज्य-दण्ड। राज्य-दण्ड के बिना बहुत मे कानून केवल नैतिक नियम मात्र ही रह जायेंगे और उनका बार-बार उल्लघन होता रहेगा। राज्य-दण्ड की व्यवस्था समाज मे एकता, सगठन, शान्ति और व्यवस्थ को बनाये रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते है कि कानून की तीनो व्याख्याएँ एक-दूसरे की पूरक हैं और इन तीनो के मेल से ही हम कानून की प्रकृति से वास्तविक रूप मे परिचित हो सकते हैं।

७५ कानून की परिभाषा

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हमारे लिए कानून की एक निश्चित परिभाषा करना आसान हो जाता है। आस्टिन के कानूनविषयक शास्त्रीय दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए हालैण्ड ने कानून की परिभाषा इस प्रकार की है, "कानून आचरण का वह साधारण नियम है जो केवल बाह्य आचरण को ही पहिचानता हो और किसी निश्चित सत्ता द्वारा लागू किया जाता हो, और यह सत्ता मानवीय हो, तथा मानवीय सत्ताओं में भी वह हो, जिसे राजनीतिक समाज में सर्वोच शक्ति-सम्पन्न माना जाता हो। या संक्षेप मे एक प्रभुतासम्पन्न राजनीतिक शक्ति द्वारा लागू किये जाने वाले बाह्य आचरण के सामान्य नियम को कानून कहा जा सकता है।[1]

हालैण्ड के विपरीत विल्सन (Wilson) ने कानून के ऐतिहासिक तथा विकासवादी पक्ष पर बल देते हुए कानून की परिभाषा इन शब्दो मे की है, "कानून सुस्थापित विचारधारा तथा अभ्यास का वह अंश है जो शासन की सत्ता व शक्ति द्वारा समर्थित सामान्य नियमो के रूप मे सुस्पष्ट तथा वैधानिक स्वीकृति प्राप्त कर

1 "A law is a general rule of action taking cognizance only of external acts, enforced by a determinate authority, which authority is human and among human authorities is that which is paramount in a political society, or briefly, a law is a general rule of external action enforced by a sovereign political authority."—*Holland*

चुका है।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि कानून हमारे वाह्य सामाजिक जीवन के नियामक वह परम्परागत अथवा राज्य-निर्मित्त लिखित तथा अलिखित नियम हैं जिनको लागू करने का उत्तरदायित्व राज्य पर होता है।

कानून के लिए आवश्यक तत्त्व—उपर्युक्त परिभाषाओ मे हम यह परिणाम निकालते हैं कि कानून के लिए निम्नलिखित तत्त्वो की उपस्थिति आवश्यक है—

(१) कानून को केवल नागरिक समाज मे ही लागू किया जा सकता है।

(२) कानून का निर्माण समाज मे स्थित सर्वोच्च राज्य-सत्ता द्वारा होता है।

(३) कानून उस नियम-सग्रह का नाम है जिसको व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो तथा व्यक्ति-समुदायो के आचरण के नियमन के लिए राज्य द्वारा लागू किया जाता है।

(४) कानून के ये विभिन्न नियम केवल मात्र हमारे वाह्य आचरण का नियमन करते हैं, उनका हमारी आन्तरिक प्रवृत्तियो, कार्य-प्रेरक शक्तियो तथा मन के विचारो से कोई सम्बन्ध नही होता।

७६ कानून के स्रोत (Sources of law)

अग्रेज विधानशास्त्री हालैण्ड के मतानुसार कानून के निम्नलिखित छः स्रोत हैं—

(१) रीति-रिवाज (Customs), (२) धर्म (Religion), (३) न्यायालयो के निर्णय (Judicial decisions), (४) शास्त्रीय व्याख्याएँ (Legal commentaries), (५) औचित्य व न्याय-निर्णय (Equity), और (६) कानून-निर्माण (Legislation)।

अब हम इन सब पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

(१) **रीति-रिवाज** (Custom) कानून का सब से पुराना स्रोत समझा जाता है। रीति-रिवाज सामाजिक आचरण के उन नियमो को कहते हैं जिनका पालन समाज के अधिकाश भाग द्वारा होता है। इन रीति-रिवाजो का जन्म अभ्यास सफल अनुभव, उपयोगिता अथवा न्याय-व्यवस्था की सामान्य आकाक्षा से हो जाता है। अनेक बार इन रीति-रिवाजो का जन्म अचानक हो जाता है और अनेक वार परिवार, कवीले अथवा किसी समुदाय के परम्परागत व्यवहार (Usage) इसके आधार वन जाते हैं। परन्तु कोई भी निश्चित रूप से यह नही कह सकता कि कब और कैसे

---

1 "Law is that portion of the established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules backed by the authority and power of government"

—*Woodrow Wilson.*

रीति-रिवाजों का प्रचलन हो गया। सामान्यतया हम यही कह सकते है कि ये रीति-रिवाज हमारी सामाजिक प्रवृत्ति के परिणाम हैं। इनका पालन अधिकतर उनकी उपयोगिता तथा जन-सामन्य की अमनपसन्द इच्छा से होता है।

अविकसित अथवा अर्द्धविकसित पुराने समाज मे परम्परागत व्यवहार नियमों तथा रीति-रिवाजो का विशेष महत्त्व था। ऐसे समय मे समाज-व्यवस्था सरल थी लोगो के जीवन की आवश्यकताएँ अधिक नही थी, अत यही नियम उनके सामाजिक आचरण की व्यवस्था करते थे। वस्तुत यह ठीक ही कहा जाता है कि पुराने समाज मे सम्राटो के शासन की वजाय रीति रिवाज और परम्परागत व्यवहार-नियमो का शासन होता था। सम्राट् या गांव अथवा कवीले के मुखिया केवल इन रीति-रिवाजो के व्याख्याकार ही थे।

धीरे-धीरे वे परम्पराएं धार्मिक, दैवीय तथा अलौकिक शक्तियो के आधार को ग्रहण कर सामाजिक रूढियाँ बन गई, जिनकी उपेक्षा अधार्मिक कृत्य या पाप समझा जाने लगा।

राजनीतिक अर्थ मे रीति-रिवाज कानून नही कहलाते परन्तु कोई भी राज्य उनकी अवहेलना नही कर सकता। जब कभी राज्य किसी लोकप्रिय परम्परा या रिवाज पर आक्रमण करता है तो जनता उसका कडा विरोध करती है। लोकमत के परिवर्तन के अनन्तर ही परम्पागत रिवाजो को राजकीय सहायता से वदला जा सकता है। वहुत से रिवाज राज्य द्वारा मान्यता प्रदान किये जाने पर कानून वन सकते है। इस प्रकार प्राय सभी राज्यो मे कानून का अधिकाश भाग परम्परागत रीति-रिवाजो पर आधारित होता है। इग्लैण्ड का 'कॉमन लॉ' (Common law) परम्परागत रीति-रिवाज पर ही आधारित है।

(२) धर्म (Religion)—धर्म तथा रीति-रिवाज का चोली-दामन का-सा घनिष्ठ सम्वन्ध रहा है। हम ऊपर ही कह चुके है कि पुराने रीति-रिवाज धीरे-धीरे धार्मिक आधार को पाकर धार्मिक दृष्टि से अनुलघनीय हो गये। राज्य-संस्था के विकास मे धर्म का विशेष हाथ रहा है। पुराने समाज के 'पुरोहित राजा' (Priest King) की व्यवस्था इस मत के समर्थन के लिए पर्याप्त है।

धर्म ने प्रत्यक्ष रूप मे भी कानून-निर्माण मे सहायता की है। अनेक ऐसे राजकीय नियम जारी किये गये जिनका प्रत्यक्ष आधार धर्म था। पुराने धर्माधिकारियो ने भी अनेक ऐसे धार्मिक नियमो की रचना की जो कि वाद मे राज्य-नियमो के वरावर हो गये। प्राचीन रोमन कानून धर्म पर आधारित था। हिन्दुओ की सामाजिक व्यवस्था मनु, पराशर तथा याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित धार्मिक नियमो पर आधारित है। मुसलमानो का कानून भी शरीयत का आश्रय लेकर चलता है।

(३) न्यायालयो के निर्णय (Judicial decisions) प्रो० गेटल का कथन है कि राज्य का जन्म कानून निर्माता के रूप में नहीं, बल्कि रूढ़ियों की व्याख्या

तथा उन्हें लागू करने वाले के रूप मे हुआ।"[1] परम्परागत रीति-रिवाज सामाजिक जीवन का नियमन करते आ रहे थे परन्तु उनके स्थिर और स्पष्ट रूप के अभाव मे अनेक वार अनेक झगडो के निपटारे मे कठिनाई पडती थी। अनेक वार ऐसे भी झगडे उत्पन्न हो गये जिनका निर्णय किसी भी मौजूदा रीति-रिवाज से सम्भव नही था। ज्यो-ज्यो समाज के सगठन मे जटिलता उत्पन्न हो गई, रीति-रिवाज और धर्म मे भी पर्याप्त पार्थक्य हो गया। फलत यह कठिनाई और भी वढ गई, ऐसी अवस्था मे कानून निर्माण का एक अन्य स्रोत सामने आया। प्राय रीति-रिवाज की व्याख्या सम्वन्धी झगडो का निर्णय सम्प्रदाय या समाज के पुरोहितो, वृद्धो या सरदारो या पचो से कराया जाता। ये लोग या तो परम्परागत रीति-रिवाज की वदली हुई परिस्थितियो के अनुकूल व्याख्या करते या रीति-रिवाज के अभाव मे अपनी न्याय-वुद्धि के अनुसार निर्णय देते। यह निर्णय भविष्य के लिए परम्परा का रूप धारण कर कानून वन जाते। जव कभी ऐसे ही झगडे समाज या राज्य के सम्मुख आते तो न्यायाधीश उनका फैसला करते हुए इन पहले किए गए निर्णयो का जिक्र करते, और उन्ही को अपने फैसले का आधार वनाते।

न्यायालयो के निर्णय केवल पुराने समाज मे ही कानून-निर्माण के स्रोत रहे हो और वर्तमान समाज मे उनका महत्त्व न हो, ऐसी वात नही। वर्तमान समाज मे चाहे कानून पर्याप्त निश्चित और सुव्यवस्थित हो गये हैं तथापि समय-समय पर न्यायाधीश उनकी व्याख्या कर उनका विस्तार करते रहते है। प्राय प्रत्येक राज्य में जहाँ कानून लिखित तथा अलिखित किसी भी रूप मे विद्यमान हो, न्यायाधीश उसकी व्याख्या कर उसका वदली हुई परिस्थितियो के अनुसार सशोधन और विस्तार करते हैं।

(४) **शास्त्रीय व्याख्याएँ** (Legal commentaries)—प्रत्येक राज्य मे विद्वान वकीलो और विधानशास्त्रियो के कानूनविषयक मतो का आदर किया जाता है, और न्यायाधीश लोग अपने निर्णय देते हुए उनके विचारो का स्थान-स्थान पर आदरपूर्वक जिक्र करते है। इग्लैण्ड मे कोक (Coke) ब्लैक्स्टोन (Blackstone) तथा कैंट (Kent) की कानून सम्वन्धी शास्त्रीय व्याख्याओ का और हमारे यहाँ मनु, पराशर तथा याज्ञवल्क्य और उन पर भी की गई कुल्लूकभट्ट तथा मिताक्षरा इत्यादि की टीकाएँ कानून-निर्माण का महत्त्वपूर्ण स्रोत समझी जाती हैं इन लोगो ने परम्परागत रीति-रिवाजो का सग्रह किया और अनिश्चित तथा अस्पष्ट परम्पराओ की व्याख्या की। यही नही उन्होंने कानून सम्वन्धी अमूर्त्त सिद्धान्तो का विवेचन कर ऐसे तर्कपूर्ण सामान्य सिद्धान्तो की स्थापना की जो कि आज भी कानून-निर्माताओ का पथ-प्रदर्शन करते हैं।

(५) **औचित्य तथा न्याय-निर्णय** (Equity)—यह भी 'न्यायाधीश निर्णय' का

---

1 "The State arose not as the creator of law, but as the interpreter and enforcer of custom"—*Gettell*

ही एक प्रकार है। जहाँ न्यायाधीश मौजूदा कानून की व्याख्या करता है वहाँ न्याय-निर्णय द्वारा वह कानून की मौजूदा कमियों को पूरा भी करता है। अनेक ऐसे झगडे न्यायालय के सामने आ सकते हैं जिनका फैसला मौजूदा कानून से नहीं किया जा सकता। उस समय न्यायाधीश अपनी न्याय-बुद्धि से (Sense of Justice) से निर्णय कर कानून का विस्तार करता है। यह कानून को लचीला बनाने का एक प्रकार है। जब कानून बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार नहीं बदल पाता उस समय इस साधन द्वारा बिना किसी औपचारिक तरीके को अपनाये कानून को बदला जा सकता है।

कानून परिवर्तन के इस साधन का आधार निष्पक्षता, न्याय-बुद्धि तथा व्यावहारिक समानता है।

(६) कानून-निर्माण (Legislation)—आज कानून-निर्माण का सर्वप्रमुख स्रोत विधानपालिकाएँ (Legislative bodies) हैं। कानून-निर्माण के अन्य सभी स्रोतों का स्थान आज कानून-निर्माण ने ले लिया है। परम्परागत रीति-रिवाज, न्यायिक निर्णय (Judicial decisions) इत्यादि कानून निर्माण के अनिश्चित प्रकार धीरे-धीरे विधान-पालिकाओं द्वारा बनाये गये स्पष्ट कानूनों द्वारा स्थानान्तरित किए जा रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म, सदाचरण के नियम तथा रीति-रिवाज सभी आज भी कानून-निर्माण को प्रभावित करते हैं। परन्तु वे अब कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष स्रोत न रहकर अप्रत्यक्ष प्रभावमात्र है। कानून के संग्रह (Codification) और लिखित रूप ग्रहण करने के फलस्वरूप न्यायिक निर्णयों (Judicial decisions) का विस्तार भी सीमित हो गया है। कानून सम्बन्धी शास्त्रीय व्याख्याओं का प्रयोग विभिन्न वैधानिक मामलों के वाद-विवाद में ही किया जाता है।

हमने ऊपर कहा है कि आज कानून का मुख्य स्रोत व्यवस्थापिका सभाएँ हैं, परन्तु कानून-निर्माण के साधन सदा एकरूप नहीं रहे, उनके स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन काल में नगर शासक (Magistrate) धार्मिक पुरोहित, कबायली सरदार (Feudal chief) और सर्वप्रिय राजा लोग कानून बनाने वाले अधिकारी होते थे। परन्तु आज तो जनता द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका सभाएँ ही मुख्य रूप से कानून निर्माण करती हैं। कहीं-कहीं जनता स्वयं प्रजातन्त्र के प्रत्यक्ष साधनों (Direct methods of democracy) द्वारा कानून-निर्माण में हिस्सा लेती है। प्रथम प्रकार की व्यवस्था का जन्म स्थान इंगलैण्ड है, जब कि स्विट्ज़रलैण्ड ने कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधनों का विकास किया।

आज कानून का आधार जनमत है। व्यवस्थापिका सभाएँ तो कानून-निर्माण का औपचारिक स्रोत ही समझी जाती हैं। उनका समय-समय पर चुनाव होता रहता है, अतः वे जनमत की अवहेलना किसी भी हालत में नहीं कर सकतीं। इसके साथ कानून की प्रकृति में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। पहले कानून-निर्माण केवल शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए होता था परन्तु आज वह समाज-कल्याण का एक सुन्दर साधन है। यह परिवर्तन राज्य के कर्तव्यों की प्रगति

के वदल जाने का ही फल है।

७७ कानून के प्रकार (The various kinds of law)

कानून का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। शासक और शासित के सम्वन्धो को दृष्टि मे रखते हुए प्रो० गेटल कानून का विभाजन इस प्रकार करते हैं—

(१) व्यक्तिगत कानून (Private Law), जो व्यक्ति व्यक्ति के पारस्परिक सम्वन्धो का नियमन करता है।

(२) सार्वजनिक कानून (Public Law), जो राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन करता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law), जो राज्यो के पारस्परिक सम्वन्धो को नियमित करता है।

व्यक्तिगत कानून (Private Law) के अन्तर्गत राज्य का कार्य एक सरक्षक का कार्य है, वह नागरिको के अधिकारो की रक्षा और उनके पारस्परिक झगडे का फैसला करता है। सार्वजनिक कानून राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्वन्धो और अधिकारो का निर्णय करता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र राज्यो के पारस्परिक सम्वन्ध हैं।

प्रो० हालैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता को न मानते हुए कानून के केवल सार्वजनिक कानून और व्यक्तिगत कानून दो ही प्रकार माने हैं।

कानून का वर्गीकरण जन्म-स्थान के आधार पर भी किया जाता है। इस आधार पर कानून का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

(१) **सवैधानिक कानून** (Constitutional Law)—सवैधानिक कानून राज्य की शासन-व्यवस्था का आधार होता है। वह राज्य के कर्त्तव्य, राज्य-शासन का सगठन, उसके विभिन्न अगो के पारस्परिक सम्वन्ध और शासितो के अधिकारो तथा शासक और शासित के सम्वन्धो का नियमन करता हैं। सविधान के अनेक रूप हो सकते हैं, वह लिखित भी हो सकता है और अलिखित भी। आजकल प्राय अधिकाश सविधान लिखित ही होते हैं। अमेरिका, भारत तथा रूस इत्यादि राज्यो के सविधान लिखित हैं। ग्रेट ब्रिटेन का सवैधानिक कानून अधिकाश रूप से अलिखित है।

सवैधानिक कानून का निर्माण भी विभिन्न प्रकार से होता है। अधिकाश मे उनका निर्माण सविधान निर्माण के लिए ही आयोजित सविधान समितियो द्वारा होता है, जैसा कि अमेरिका और भारत मे हुआ। इन दोनो राज्यो मे सविधान निर्माण विशेष सविवान समितियो द्वारा हुआ, जिन्हे कि उनके एतद्विषयक कार्य समाप्त करने पर भग कर दिया गया।

ग्रेट ब्रिटेन के सवैधानिक कानून का निर्माण किसी एक विधान परिषद् द्वारा नही हुआ, जैसा कि अमेरिका और भारत मे हुआ। उसका विकास ऐतिहासिक परिस्थितियो का परिणाम है। उसका आधार परम्परागत समझौते, रीति-रिवाज, न्यायिक निर्णय और अनेक व्यवस्थाएँ है।

सवैधानिक कानून का स्वरूप जो भी हो, वह किन्ही भी परिस्थितियों का परिणाम क्यों न हो, वह एक राज्य के राजनीतिक और शासकीय जीवन का आधार होता है।

(२) साधारण कानून (Ordinary Law)—सविधान द्वारा स्थापित विधानपालिकाओं द्वारा निर्मित कानून विधि (Statutes) या साधारण कानून कहलाते है। राज्य जहाँ सवैधानिक कानून की रचना है वहाँ वह साधारण कानून का जन्मदाता भी है। साधारण कानून नागरिक तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धो के नियमन के अतिरिक्त नागरिको के पारस्परिक सम्बन्धो का भी नियमन करता है।

राज्यो की विधानपालिकाएँ साधारण कानून का उद्गम-स्रोत होती हैं।

(३) अध्यादेश (Ordinances)—कानून का एक अन्य प्रकार अध्यादेश कहलाता है। इसकी व्यवस्था अस्थायी रूप से सकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए की जाती है। साधारणतया प्रत्येक राज्य मे व्यवस्थापिका सभाएँ ही कानून बनाती हैं, परन्तु उनके अधिवेशन की अनुपस्थिति मे सकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिए कार्यपालिका (Executive) को स्थायी कानून बनाने का अधिकार होता है। अध्यादेश जारी करने का एक दूसरा मकसद शासकीय सुविधा भी हो सकता है।

(४) सामान्य कानून (Common Law) की व्यवस्था इंग्लैण्ड मे है। यह इग्लैण्ड की वैधानिक व्यवस्था का एक विशेष अग है। इसका आधार परम्परागत रीति-रिवाज और व्यवस्था है न कि विधानपालिका के आदेश। अलिखित और परम्परा पर आधारित होने के बावजूद भी न्यायालय इन्हे मान्यता प्रदान करते है और उनको अनेक मुकदमो के फैसलो मे भी लागू करते है।

(५) प्रशासकीय कानून (Administrative Law)—प्रशासकीय कानून का फ्रास तथा यूरोपीय महाद्वीप के पश्चिमी भाग के अनेक राज्यो मे प्रचलन है। डायसी ने इसकी परिभाषा इन शब्दो मे की है—"प्रशासकीय कानून से उस व्यवस्था से मतलब है जिसके द्वारा राज्य के सभी अधिकारियो की स्थिति उनकी जिम्मेदारी का, राज्य के प्रतिनिधि सरकारी अधिकारियो के साथ अपने सम्बन्धो मे नागरिको के अधिकारो तथा उत्तरदायित्वो का, और इन अधिकारो तथा जिम्मेदारियो को प्रभावोत्पादक बनाने की प्रक्रिया का निर्णय और नियमन किया जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जहाँ एक ओर अधिकारियो की क्षमता को निश्चित किया जाता है वहाँ नागरिको को ऐसे प्रतिकार भी बतलाए जाते हैं जिन द्वारा वह अपने अधिकारो की रक्षा कर सकते हैं।"[1] प्रशासकीय कानून साधारण नागरिक और सरकारी अधिकारियो मे भेद करता है। जब कभी साधारण नागरिक को सरकारी

---

1 "It is that part of public law which fixes the organisation and determines the competence of the administrative authorities and indicates to the individual remedies for the violation of its rights."
—*Gettell.*

अधिकारी के प्रति कोई शिकायत होती है या जब कभी सरकारी अधिकारियों के अपराधो की समीक्षा की जाती है तो वह साधारण न्यायालय तथा साधारण कानून द्वारा न होकर प्रशासकीय कानून और प्रशासकीय न्यायालयो द्वारा ही की जाती है।

प्रशासकीय कानून का निर्माण किसी विधानपालिका द्वारा नहीं होता, इसका आधार राज्यादेश और अधिकाश मे न्याय-निर्णय होते हैं।

कानून के उपर्युक्त प्रकारो के अतिरिक्त दण्ड-विधान और दण्डविधि (Criminal law and procedure) की व्यवस्था भी की जाती है। सामाजिक शान्ति और व्यवस्था के भग करने-कराने वाले कार्यो को राज्य अपने विरुद्ध अपराध समझता है, अत इनके लिए एक निश्चित दण्ड व्यवस्था रहती है, इसे ही दण्ड-विधान और व्यवस्था कहते हैं।

कानून के सभी प्रकार जिनका प्रचलन और प्रयोग, राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत किया जाता है **राष्ट्रीय कानून** (National Law) या **म्यूनिसिपल कानून** (Municipal Law) कहलाते है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)—राष्ट्रीय कानून या म्युनिसिपल कानून के विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो की व्यवस्था करता है। राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा इसका क्षेत्र विस्तृत और व्यापक है। कानून के इस प्रकार का विवेचन हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक करेंगे।

मैकाइवर (MacIver) ने अपनी पुस्तक 'Modern State' मे कानून का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—
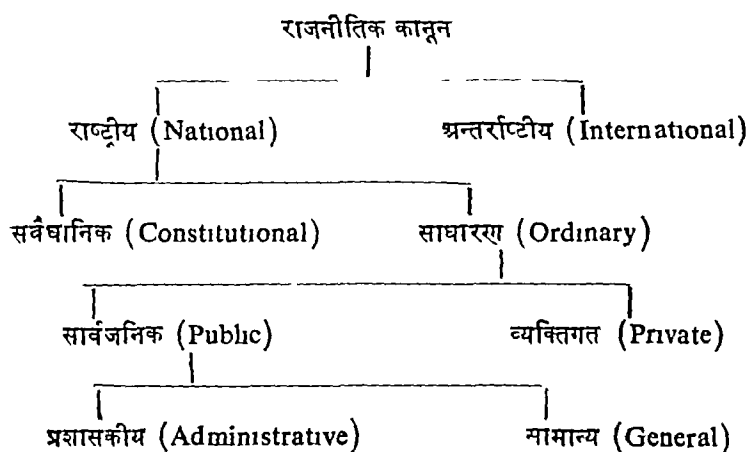
७८ कानून का विकास

पाश्चात्य तथा भारतीय **कानून-व्यवस्था का विकास-क्रम** एक नहीं। दोनो मे पर्याप्त भेद है। विश्व की महान **कानून पद्धतियों तथा विधि-सग्रहो** का विकास पूर्वी

साम्राज्यो मे हुआ है। परन्तु पश्चिम मे कानून-व्यवस्था के विकास के मुख्य दो स्रोत हैं—ट्यूटोनिक तथा रोमन कानून। पाश्चात्य जगत की वर्तमान कानून-व्यवस्था का जन्म ५वी सदी मे ट्यूटोनिक और रोमन राज्य-पद्धतियो के एक हो जाने के फल-स्वरूप हुआ।

रोमन-विजेता जहाँ कही गये वही वे अपनी कानून-व्यवस्था भी साथ लेते गये, यद्यपि उन्होंने विभिन्न प्रदेशो की स्थानीय कानून-व्यवस्था को कभी खत्म नहीं किया। रोमन और ट्यूटोनिक कानून अपनी प्रकृति मे एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं। रोमन लोग राज्याधिकारियो के आदेश को ही कानून स्वीकार करते थे, जब कि ट्यूटोनिक कानून का आधार वैयक्तिक था, वह रीति-रिवाज के आधार पर बना था और प्रत्येक परिवार या कबीले के अनुसार उसमे भेद होते थे। रोमन कानून एक सगठित राज्य का आधार था और वह सभी नागरिको पर सामान्य रूप से लागू होता था, परन्तु ट्यूटोनिक कानून मे सर्वमान्यता और व्यापकता का अभाव था, वह अलिखित और अस्पष्ट था, तथा प्रत्येक कबीले (Tribe) के साथ उसका स्वरूप बदलता रहता था। ट्यूटोनिक कानून मे अनेक परस्पर विरोधी व्यवस्थाएँ साथ-साथ मिल जाती थी।

सामन्तवादी समाज-व्यवस्था के जन्म के साथ ही रोमन कानून ने ट्यूटोनिक कानून-व्यवस्था पर उच्चता स्थापित कर ली। रोमन कानून-व्यवस्था की उच्चता के अनेक कारण थे, एक तो यूरोप के उच्च वर्गों मे लेटिन भाषा का प्रचलन था फलत. लेटिन भाषा मे लिखित रोमन कानून का अध्ययन सर्वत्र उच्च वर्ग मे किया जाता था। दूसरा रोमन साम्राज्य के विनष्ट हो जाने पर भी रोमन कानून की महत्ता और उच्चता को बर्बर राजाओ ने स्वीकार कर लिया था। फिर रोमन कानून विधि-संग्रह (Code) के रूप मे मिल जाता था।

सामन्त व्यवस्था के प्रचलन के फलस्वरूप और रोमन कानून की सर्वप्रियता के परिणामस्वरूप कानून का पुराना वैयक्तिक आधार खत्म हो गया और उसका स्थान प्रादेशिक आधार ने ले लिया, अत. अब यह माना जाने लगा कि एक निश्चित प्रदेश मे रहने वाले सभी व्यक्ति एक ही कानून के अधीन होते हैं।

रोमन कानून-व्यवस्था के विस्तार मे चर्च का भी विशेष हाथ रहा है। रोमन चर्च-व्यवस्था का आधार रोमन साम्राज्य व्यवस्था और कानून दोनो ही थे। चर्च शिक्षा का केन्द्र था, उसने आर्थिक और धार्मिक दोनो प्रकार की कानून-व्यवस्थाओ के विकास और प्रचलन मे सहयोग दिया।

उधर ११वी सदी के अन्त तक रोमन कानून के अध्ययन की अनेक व्यवस्थाएँ की गई। बोलोग्ना विश्वविद्यालय (University of Bologna) ने इस दिशा मे विशेष कार्य किया। इसी विश्वविद्यालय के अनेक विद्यार्थियो ने पहले-पहल इटली के विभिन्न नगर-राज्यो मे प्राचीन रोमन कानून मे लोगो की अभिरुचि को जागृत किया। यही से फ्रास, स्पेन तथा हालैण्ड के नागरिक भी कानून मे शिक्षा पाकर अपने देश को लौटे। यहाँ तक कि ट्यूटोनिक कानून व्यवस्था का घर इग्लैण्ड भी इस-

प्रभाव से अछूता न रहा। इन सभी प्रदेशो मे राष्ट्रीय शक्ति के विकास के फलस्वरूप राज्य-व्यवस्था केन्द्रीकृत हो रही थी फलत. वकील और विधानशास्त्रियो ने सभी जगह 'राजा के कानून' (King's Law) के मत का समर्थन किया।

पाश्चात्य कानून-व्यवस्था के विकास मे नैपोलियन द्वारा आयोजित विधि-सग्रह (Code Napoleon, 1804) का विशेष स्थान है। इस कोड का आयोजन मुख्य रूप से रोमन कानून फ्रांसीसी रीति-रिवाज तथा विधानशास्त्रियो के विचारो पर किया गया था। इसी विधि-सग्रह के आधार पर बेल्जियम, हालैण्ड, इटली तथा स्पेन इत्यादि देशो मे कानून-व्यवस्था की गई।

यूरोप के अन्य देशो से भौगोलिक स्थिति की विभिन्नता के फलस्वरूप इग्लैण्ड कानून-व्यवस्था का विकास उसी प्रकार नही हुआ जैसा अन्यत्र हुआ। इग्लैण्ड की कानून-व्यवस्था का आधार ट्यूटोनिक रीति-रिवाज हैं। बहुत काल तक रोमन शासन के अन्तर्गत रहने के फलस्वरूप वह रोमन प्रभाव मे भी अछूता नही रहा। चर्च इत्यादि धार्मिक सस्थाओ ने रोमन कानून के प्रभाव को अधिक व्यापक रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, परन्तु अग्रेज न्यायाधीशो ने इस प्रभाव को बहुत सीमा तक रोके रखा। इग्लैण्ड की कानून व्यवस्था के विकास मे वहाँ के न्यायाधीशो द्वारा दिए गए न्याय निर्णयो का भी बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ है। रीति-रिवाज की व्याख्या कर अग्रेज न्यायाधीशो ने जहाँ कानून का विस्तार किया वहाँ उसे परिवर्तित होती हुई परिस्थितियो के अनुकूल भी बनाया। न्याय-निर्णय न्यायाधीश द्वारा बनाए गए कानून बन गये। इस प्रकार अग्रेजी कानून-व्यवस्था मे रोमन कानून की अपेक्षा पर्याप्त लचीलापन (Flexibility) था। वह अलिखित होने के कारण और न्यायाधीशो के निर्णयो पर आधारित होने के कारण बदलते हुए हालत के अनुसार बदला जा सकता था, परन्तु रोमन कानून सग्रह-बद्ध होने के कारण शीघ्र नही बदल सकता था। अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया, कनाडा, भारत व सीलोन इत्यादि भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेश भी अग्रेजी कानून-व्यवस्था से पर्याप्त सीमा तक प्रभावित है।

पाश्चात्य कानून-व्यवस्था प्राचीन यहूदी न्याय-व्यवस्था से भी प्रभावित है। प्राचीन ईसाई धर्म व्यवस्था के विकास मे और उसके नियमो मे पुरानी यहूदी सामाजिक व्यवस्था के अनेक तत्त्व मिल जाते हैं। वही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पाश्चात्य न्याय-व्यवस्था को प्रभावित करते है।

वर्तमान स्थिति मे यूरोपीय महाद्वीप के मुख्य-मुख्य देशो मे तो रोमन कानून व्यवस्था का अधिक प्रचलन है, परन्तु ग्रेट ब्रिटेन मे ट्यूटोनिक और रोमन कानूनो का सम्मिश्रण मिल जाता है।

भारत मे कानून व्यवस्था का विकास—प्राचीन भारतीय कानून-व्यवस्था का आधार धर्म-व्यवस्था थी। भारतीय जीवन मे धर्म की सदा ही प्रधानता रही है, अत प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का जन्म धर्म से ही माना जाता है। यह यकीन किया जाता है कि हिन्दू कानून व्यवस्था का प्रारम्भ वेद द्वारा निर्धारित व्यवस्था से हुआ और उसका आधार वैदिक युग के रस्मो-रिवाज हैं। परन्तु बदलती हुई परिस्थितियो

के अनुसार वे बदलते रहे । स्मृतिकारो ने उनकी व्याख्या इस प्रकार की कि उनके आदि रूप और बाद के रूप की पारस्परिक तुलना ही मुश्किल हो गई । इसी प्रकार स्मृतिकारो के साहित्य का भी बार-बार पर्यालोचन होता रहा और बदलते हुए हालात के अनुसार उनका रूप बदलता रहा । हिन्दू-कानून व्यवस्था का आधार इस प्रकार धर्म, रस्मो-रिवाज और विधानशास्त्रियो की व्याख्याएँ हैं ।

भारतीय न्याय-व्यवस्था को दूसरा बडा अनुदान इस्लाम की कानून-व्यवस्था से भी मिला है । वस्तुत ब्रिटिश शासन की स्थापना तक हमारे यहाँ इन दोनो सम्प्रदायो के सदस्यो के सामाजिक जीवन का नियमन इन दोनो प्रकार की कानून-व्यवस्थाओ के अनुसार होता रहा । अब भी इस व्यवस्था मे विशेष परिवर्तन नही हो पाया । मुस्लिम कानून-व्यवस्था का आधार कुरान तथा उन पर की गई अनेक टीकाएँ हैं । हिन्दू कानून-व्यवस्था की अपेक्षा मुस्लिम कानून अधिक विस्तृत और व्यापक है ।

ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की स्थापना के अनन्तर भारतीय कानून का संग्रहकरण (Codification) हुआ और पाश्चात्य कानून-व्यवस्था से प्रभावित हो वह पर्याप्त स्पष्ट भी हो गया । वर्तमान कानून के आधार जहाँ प्राचीन काल से चले आ रहे धार्मिक रस्मो-रिवाज हैं वहाँ विधानपालिकाओ द्वारा पास किए गए अनेक अधिनियम भी हैं ।

७९ कानून मे परिवर्तन के कारण

कानून-व्यवस्था कभी एक-सी नही रह सकती, उसमे परिवर्तन आवश्यक है । ऐसा सम्भव है कि कभी-कभी कानून का बाह्य रूप तो न बदला हो, ऊपर से देखने मात्र से सर्वथा अपरिवर्तित और गतिविहीन लगता हो, फिर भी आन्तरिक दृष्टि से उसमे बहुत परिवर्तन हो जाते हैं, वस्तुत. कहना चाहिए कि वह सर्वथा ही बदल जाता है । फिर भी प्राचीन समाज मे कानून-व्यवस्था मे परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होते थे, विशेष रूप से उस स्थिति मे तो परिवर्तन बहुत ही कम हो पाते थे जब कि यह समझा जाता था कि कानून भगवान के आदेश हैं, वे दैवीय विधान हैं । इन सबके होते हुए भी परिवर्तन हुए । जब कभी विभिन्न प्रकार के जनसमुदायो का सामूहिक सम्मिश्रण हुआ तो उनके फलस्वरूप सामाजिक-व्यवस्था और रस्मो-रिवाज भी बदल गये । ऐसे सम्मिश्रण प्राय. युद्ध मे पराजित होने पर किसी कबीले के पराधीन होने पर होते थे । यदि विजित कबीला उच्च संस्कृतिसम्पन्न हुआ तो उसने पराजित समुदाय की व्यवस्थाओ को पर्याप्त परिवर्तित किया । अन्यथा दोनो ही एक दूसरे को अपनी क्षमता के अनुसार प्रभावित करते रहे ।

विविध लोगो के शान्तिपूर्ण सम्पर्क से भी कानून-व्यवस्था मे परिवर्तन हुए हैं । बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियो के अनुसार कानून-व्यवस्था बदल नही पाती थी, वह अक्सर पीछे रह जाती थी, ऐसी अवस्था मे पुराने कानूनो की नई परिस्थितियो के अनुसार व्याख्या की जाती थी । यह व्याख्या प्राय. बडे-बूढे लोग करते और उनका

आधार उनकी अपनी न्याय-बुद्धि होती। धीरे-धीरे न्यायालयो के विकास के फलस्वरूप कानून-व्यवस्था की व्याख्या का उत्तरदायित्व न्यायाधीशो पर आ पडा। किसी लिखित कानून-व्यवस्था के अभाव मे उन द्वारा किये गये निर्णय सामाजिक न्याय-व्यवस्था के आधार वन जाते थे।

इस प्रकार कानून सग्रहकर्त्ताओ ने भी कानून के रूप को सशोधित और परिवर्द्धित किया। अक्सर एक समय पर समाज मे एक ही प्रकार के झगडो के निपटाने के लिए दो या दो से भी अधिक परस्पर विरोधी व्यवस्थाएँ मिल जाती या अनेक ऐसी पुरानी व्यवस्थाएँ मिल जाती जो अव सर्वथा मूल्य-विहीन हो चुकी थी। इनके विरोध को खत्म कर और आवश्यक रस्मो-रिवाज का त्याग कर समन्वयात्मक कानून-व्यवस्था का निर्माण कानून के पण्डितो द्वारा किया जाता था। कानूनशास्त्रियो ने प्राचीन कानूनो का सग्रह करते हुए अपनी विवेक-बुद्धि से काम लिया होता था, अत वे जाने-अनजाने मे अनेक ऐसे नवीन कानूनो की व्यवस्था कर डालते जिनका कि पहले कभी प्रचलन नही था परन्तु जिनकी आवश्यकता अवश्य थी। यही विचार धर्म की स्वीकृति प्राप्त कर कानून वन जाते।

आज के युग मे शासन तथा विधान-निर्माण, कानून-निर्माण के मुख्य स्रोत हैं। राजकीय कार्यो के वढ जाने के कारण कानून-निर्माण विशेषज्ञो का कार्य हो गया है। अत उसकी व्यवस्था कार्यपालिका तथा विधानपालिका दोनो द्वारा ही होती रहती है। युद्ध-काल या सकट-काल मे कार्यपलिका कानून-व्यवस्था मे अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने मे सफल हो जाती है, कार्यपालिका द्वारा निर्मित वहुत से कानून तो अस्थायी होते हैं, परन्तु उपयोगी सावित होने पर उनमे से अनेक स्थायी रूप धारण कर लेते हैं।

कानून-व्यवस्था के परिवर्तन का एक मुख्य कारण जनमत भी है। स्विटजरलैण्ड इत्यादि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र द्वारा शासित देशो मे जनमत का प्रभाव वहुत स्पष्ट और शक्तिशाली होता है। प्रजातन्त्र शासन प्रणाली द्वारा शासित सभी राज्यो मे जनमत कानून परिवर्तन का कारण वन जाता है।

८०. कानून तथा सदाचरण (Law and Morality)

कानून तथा सदाचरण दोनो क्रमश राजनीति तथा नीतिशास्त्र के अध्ययन विषय हैं। हम पीछे राजनीति तथा नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्वन्धो की घनिष्ठता पर विचार कर चुके हैं। समाज और राज्य ऐसे व्यक्तियो के समुदाय हैं जिनके जीवन के कुछ न कुछ उद्देश्य हैं। राज्य का उदय केवलमात्र जीवन-रक्षण के लिए ही नही अपितु उसे सव तरह से नैतिक दृष्टि से पूर्ण और सम्पन्न वनाना है। राज्य अपने लिए कार्य नही करता, उसका उद्देश्य व्यक्ति समूह का नैतिक और भौतिक कल्याण हैं। कानून राज्य के उद्देश्य-प्राप्ति के साधन हैं, अत वे निश्चय ही सदाचरण के नियमों से सम्वन्वित होते हैं।

कानून तथा सदाचरण मे भेद—परन्तु कानून तथा सदाचरण मे विषय-

वस्तु तथा प्रकृति की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। नीचे हम इस अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

सदाचरण का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वे मनुष्य जीवन के आन्तरिक—बाह्य पक्ष का—भी नियमन करते हैं। उनका सम्बन्ध हमारे विचार, उद्देश्य, क्रिया प्रेरणा स्रोत तथा कार्यों से है। वे जहाँ मनुष्य के कार्यों की प्रकृति का विश्लेषण कर उसको अच्छे व बुरे वर्ग मे रखते हैं, वहाँ वे उनके प्रेरणा स्रोतों का भी अध्ययन करते हैं।

परन्तु कानून का सम्बन्ध हमारे बाह्य जीवन से है। उसका सम्बन्ध हमारे उन कार्यों से है जिनका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है। उसका हमारी भावनाओं और अन्तरिक क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नही। झूठ बोलना, क्रोध, मिथ्याचार, ईर्ष्या इत्यादि सभी अनैतिक कार्य है, परन्तु जब तक कानून भग नही होता और दूसरे किसी सामाजिक सदस्य को कोई वास्तविक नुकसान नही होता तब तक वे गैर-कानूनी कार्य नही कहला सकते।

नैतिक नियमो का पालन व्यक्ति अपने सद् और असद्विवेक के अनुसार करता है अथवा सामाजिक आलोचना के भय से। झूठ बोलना बुरा है, समाज मे झूठे आदमी की निन्दा होती है, उसे बुरा समझा जाता है, इस भावना से वह सत्य-वादन सम्बन्धी नैतिक नियम का पालन करता है। नैतिक नियमो के तोड़ने पर कोई भी दण्ड नही दिया जाता। हाँ, समाज निन्दा या सामाजिक बहिष्कार हो सकता है। कभी-कभी समाज निन्दा और सामाजिक बहिष्कार बहुत भयकर रूप धारण कर लेते है, परन्तु कानून तोड़ने वाले आदमी को उसके अपराध के अनुसार राज्य द्वारा शारीरिक दण्ड दिया जाता है। यह कानून की एक प्रमुख विशेषता है। कानून का पालन दण्ड-भय से किया जाता है, उसका बल राज्य-बल है।

नैतिक नियम आचरण के ऐसे नियमो को निर्धारित करते हैं जिनका उल्लंघन सदा ही बुरा समझा जाता है, परन्तु कानून का आधार सुविधा है। यही कारण है कि प्रत्येक अनैतिक कार्य गैर कानूनी नही होता और न ही प्रत्येक गैर-कानूनी कार्य अनाचरणपूर्ण होता है। मिथ्याचार, ईर्ष्या-द्वेष तथा क्रोध इत्यादि अनैतिक है परन्तु गैर-कानूनी नही। इसी प्रकार सड़क पर दाहिने ओर गाड़ी चलाने के नियम का उल्लघन गैरकानूनी हो सकता है, परन्तु अनैतिक नही। नैतिक नियमो का उल्लघन किसी भी अवस्था मे उचित नही, परन्तु अनेक बार कानूनी कार्यवाही करने के लिए नैतिक नियमो को भग किया जाता है और उन्हे गैरकानूनी नही कहा जाता है। विश्वासघात एक अनैतिक कार्य है, परन्तु जब तक उस द्वारा समाज के किसी अन्य सदस्य को शारीरिक या अन्य प्रकार से नुकसान नही पहुँचाया जाता तब तक वह गैरकानूनी नही हो सकता।

नैतिक नियम अस्पष्ट और अनिश्चित होते है, प्रत्येक समुदाय या सम्प्रदाय अथवा व्यक्ति के साथ नैतिक नियमों की धारणा बदलती रहती है। समय और स्थान के अनुसार भी उनमें परिवर्तन होते रहते है। हमारे पूर्वजों की नैतिक मान्यता

मे और हमारी नैतिक धारणा मे वहुत अन्तर है। यही नही एक ही काल और एक ही स्थान मे रहने वाले लोगो की सदाचरण की धारणा भी परस्पर नही मिल पाती। उदाहरणार्थ भारत मे रहने वाले विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो की अपनी-अपनी नैतिक धारणाएँ हैं। वस्तुत **नैतिकता एक वैयक्तिक (Subjective) धारणा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शिक्षा और अपने सस्कारो के आधार पर अच्छे-बुरे का निर्णय करता है।** यही कारण है कि मेरी मदाचरण की धारणा मेरे मित्र, भाई या माता पिता के विचारो से आवश्यक नही कि मेल खावे। मामाजिक नैतिकता भी विषयगत (Objective) नही हो सकती। वह समाज या राष्ट्र की आत्मा का ही प्रतिविम्व होगी और निश्चय ही अन्य राष्ट्र या समाज के सदाचरण सम्वन्धी विचारो से भिन्न होगी। **परन्तु कानून में ऐसी विभिन्नता तथा ऐसी परस्पर विरोधी बातें नहीं मिल पातीं। वह समाज के सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू होता है, उनमे सार्वभौमिकता** (Universality) है। कानून नैतिक नियमो की अपेक्षा वहुत स्पष्ट होते हैं, जहाँ कही सशय या भ्रम हो वहाँ उपयुक्त अधिकारियो द्वारा स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

राज्य मनुष्य को **नैतिक उच्चता की प्राप्ति में सहायता अवश्य कर सकता है, परन्तु उसे कानून द्वारा नैतिक नहीं बना सकता।** कानून कुछ भी क्यो न हो हमारे आन्तरिक विचारो को नियन्त्रण नही कर मकता, वे उसकी पकड से परे हैं।

कानून तथा नैतिकता के पारस्परिक सम्वन्ध—इन सव भेदो के होते हुए भी नैतिकता और कानून का घनिष्ठ सम्वन्ध है, ऊपर भी हम यह दर्शा चुके हैं। दोनो का उद्देश्य मनुष्य जीवन का नियमन है, उसे पूर्ण और उच्च वनाना है। पुराने समय मे यह सम्वन्ध और भी अधिक घनिष्ठ थे। आज के जीवन मे भी हम प्राय सभी सामाजिक सस्थाओ के उद्देश्य को नैतिक समझते हैं और उनकी सफलता और विफलता के अनेक मानदण्डो मे नैतिक नियमो को भी एक महत्त्वपूर्ण मानदण्ड मानते हैं।

कानून का आधार हमारी उचित-अनुचित की धारणा होती है। क्रेव ने ठीक ही कहा था कि **कानून का उदय जनता की नैतिक भावना और सामाजिक वातावरण से होता है।** उनका विश्वास था कि कानून का हमारी न्याय-भावना (Sense of justice) पर आधारित होना लाजमी है। आज कानून और सदाचरण मे हम दो प्रकार के सम्वन्धो की अवस्थिति को स्वीकार करते हैं, वे है—स्वीकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative)।

स्वीकारात्मक दृष्टिकोण की भी हम दो प्रकार की व्याख्या कर सकते हैं। प्रथम व्याख्या के अनुसार तो **कानून को सर्वप्रियता के लिए यह आवश्यक है कि वह हमारी नैतिक धारणा के अनुकूल हो।** दूसरे कानून का उद्देश्य हमारे लिए ऐसी परिस्थितियो को उत्पन्न करना होना चाहिए कि जिनकी उपस्थिति मे हम अपने व्यक्तित्व के नैतिक पक्ष का पूर्ण विकास कर सकें। अगर कानून हमारे लिए प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य वना देता है तो वह ऐसी ही परिस्थितियो के विकास मे सहयोग

देना है। नकारात्मक रूप मे ऐसे कानून की रचना नहीं होनी चाहिए कि जिस द्वारा हमारी नैतिक धारणाओं पर आघात हो। जो कानून हमारी नैतिक धारणा के विपरीत हो उसका पालन नही होता, उसका सदा विरोध होता है, और अधिक तनातनी होने पर जनता ऐसे कानूनो के परिवर्तन के लिए हिंसात्मक कार्यवाही पर भी उतर आती है।

अक्सर यह कहा जाता है कि नैतिकता की अपेक्षा कानून अधिक प्रगतिशील होता है। वह ऐसी सामाजिक बुराइयो को दूर करने का प्रयत्न करेगा जिनके विनाश के लिए अभी जनता की नैतिक भावना तैयार नहीं। सती-प्रथा, दास-प्रथा इत्यादि अनेक ऐसी सामाजिक प्रथाएँ थी, जिन्हे तत्कालीन जनता का पर्याप्त नैतिक समर्थन प्राप्त था, परन्तु जिन्हे शिक्षित तथा उदार विचारो वाले लोग अनैतिक तथा अमानवीय समझते थे। फलत कानून द्वारा ऐसी प्रथाओं के नष्ट करने के लिए व्यवस्था की गई, धीरे-धीरे जनता ऐसी सामाजिक बुराइयों का विरोध अपना नैतिक कर्त्तव्य समझने लगी। इस प्रकार यहाँ कानून ने नैतिक नियमो के परिवर्तन का मार्ग तैयार किया।

कभी-कभी जनमत को इस प्रकार तैयार कर लिया जाता है कि वह पुराने नैतिक नियमो के परिवर्तन के लिए विना विरोध तैयार हो जाता है या उसके परिवर्तन के लिए आंशिक रूप से सहमत हो जाता है। छुआछूत की प्रथा हमारे यहाँ प्रवल नैतिक आधार पर आधारित थी, और अन्य किसी भी समय उसको नष्ट करने के प्रयत्न का जबरदस्त विरोध होता, परन्तु देश के नेताओ ने हमारे यहाँ ऐसे जनमत को तैयार कर लिया कि आज उसे गैरकानूनी करार देने मे सरकार को किसी भी प्रकार के विरोध का सामना नही करना पडा।

अनेक वार राज्य को जनता के नैतिक मत के थोड़े-बहुत विरोध का भी सामना करना पडता है। ऐसी अवस्था मे राज्य को ऐसे कानून लागू करने में हिचकिचाहट नहीं करनी चाहिए, जो जनता के हित मे हो। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब कि कानून सार्वजनिक हित मे हो और उसका थोडा-बहुत विरोध मात्र ही हो। परन्तु एक अप्रिय कानून को लागू कर सरकार राज्यादेश की अवज्ञा की भावना को भी पैदा कर सकती है और बार-बार ऐसा करने मे राज्य-शक्ति के जनसत्तात्मक आधार के खत्म होने की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था मे सामाजिक कल्याण की अपेक्षा हानि ही अधिक रहती है।

अन्त मे हमे टी० एच० ग्रीन के शब्दो मे इस बात को स्वीकार करना पडेगा कि राज्य कानून द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक हित से सम्बन्धित या सामाजिक नैतिकता को प्रभावित करने वाले कार्यो को करने के लिए व्यक्ति को विवश कर सकता है। हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक और भौतिक कल्याण है, एतदर्थ उसे कानून को उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इस्तेमाल मे लाना चाहिए।

८१. अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)

कानून का वर्गीकरण करते हुए हमने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी जिक्र किया था। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति का विवेचन करेंगे।

राज्य मानवीय समाज का एक भाग है, वे अपने ही जैसे अन्य भागो से पृथक् और स्वतन्त्र नही। व्यक्ति अपने आप मे पूर्ण नहीं होता, अपने जीवन को सुख-सम्पन्न बनाने के लिए उसे अन्य सामाजिक सदस्यो का सहयोग प्राप्त करना पडता है। इसी प्रकार मनुष्य के राजनीतिक समुदाय भी अपने आप मे पूर्ण नहीं होते, उन्हे भी पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता रहती है। अत सभी राज्य अन्योन्याश्रित होते हैं। आज के युग मे वह अन्योन्याश्रयता और भी अधिक बढ गई है। औद्योगिक और यान्त्रिक उन्नति ने विभिन्न राज्यो मे वर्तमान दूरी को खतम कर दिया है और उन्हे एक दूसरे पर अधिक से अधिक आश्रित होने के लिए मजबूर कर दिया है। पुराने जमाने मे भी राज्यो मे पारस्परिक सहयोग होता था और उनके पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन भी होता था। आज राज्यो के यह पारस्परिक सम्बन्ध और भी अधिक बढ गये हैं।

राज्यो के इन पारस्परिक सम्बन्धो के नियमन करने वाले नियमो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहा जाता है। जिस प्रकार राज्य के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियो को कुछ नियमो का पालन करना पडता है इसी प्रकार विभिन्न राज्य भी अपने पारस्परिक सम्बन्धो की स्थापना मे कुछ नियमो का अनुसरण करते है। इन नियमो का सम्बन्ध युद्ध-परिचालन, शान्ति-स्थापन, कूटनीतिक सम्पर्क, युद्धकाल मे तटस्थ-राज्यो के अधिकार, एक देश के नागरिको का दूसरे देश मे रहने का अधिकार इत्यादि से होता है।

राजनीति शास्त्र मे इन नियमो का विशेष महत्त्व है, क्योकि राजनीति शास्त्र राज्य के केवल मात्र आन्तरिक पक्ष का ही अध्ययन नही करता अपितु राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का, उनकी प्रकृति का भी विश्लेषण करता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) राजनीति शास्त्र का एक स्वतन्त्र भाग है।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वस्तुत कानून है?—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति के सम्बन्ध मे यह प्रश्न अक्सर पूछा जाता है। राज्यसत्ता की उच्चता तथा अबाधता को स्वीकार करने वाले लेखको ने **अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून मानने से इन्कार किया है, और उसे केवल अन्तर्राष्ट्रीय सदाचरण के नियमो** (Rules of International morality) **के अतिरिक्त कुछ नहीं माना,** जर्मन विचारक हीगल तथा जेलिनेक का यही विचार था। उनका विचार था कि अन्तराष्ट्रीय कानून या अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ जिन नियमो की रचना करते हैं, उनका पालन राज्य स्वय अपनी इच्छानुसार करते हैं, उनका पालन बल-पूर्वक नही कराया जा सकता। इन नियमो का मूल्य तभी तक है जब तक कि राज्य उन्हे मानें, प्रत्येक राज्य इन नियमो की अवहेलना

करने में स्वतन्त्र है। हिटलर, मुसोलिनी इत्यादि तानाशाहों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय विधान को खेल के नियमों से अधिक महत्त्व नहीं दिया।

पुराने विचारकों में हॉब्स तथा पफण्डोर्फ (Pufendorf) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून नहीं मानते। बेन्थम, आस्टिन और प्रो० हालैण्ड का भी यही विचार है। लार्ड सैलिसबरी (Salisbury) ने हाउस ऑफ लार्डस में भाषण देते हुए उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया था। उसका कथन है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून उस अर्थ में कानून नहीं जिस अर्थ में हम 'कानून' शब्द का प्रयोग करते हैं। यह तो पाठ्य-पुस्तकों के लेखकों के पूर्वाग्रह का ही फल है। यह किसी भी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किया जा सकता और इस कारण इसके लिए कानून शब्द का प्रयोग करना बहुत हद तक निरर्थक और भ्रामक है।"[1] इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन के न्यायालय यह स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई भी नियम किसी भी ब्रिटिश न्यायालय द्वारा तब तक मान्यता प्राप्त नहीं कर सकता जब तक ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा उसे कानून का रूप देकर राज्य में जारी न कर दिया जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध आक्षेप—ऑस्टिन इत्यादि शास्त्रीय विधान-शास्त्रियों का मत है कि कानून एक निश्चित उच्च राज्याधिकारी का आदेश है। उसका पालन राज्य-बल द्वारा होता है और उसे भंग करने वाले को राज्य द्वारा सजा दी जाती है। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय विधान को कानून कह सकना सर्वथा असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान किसी भी निश्चित उच्च राज्याधिकारी का आदेश नहीं, और न ही उसे लागू करने वाली उच्च राज्य-शक्ति है। अगर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवस्थिति को स्वीकार किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय राज्य की उपस्थिति को भी मानना पड़ेगा, और इस प्रकार तब प्रत्येक राज्य प्रभुताहीन हो राज्य-पद ही खो बैठेगा। दूसरे शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मानने का अर्थ है, राजकीय प्रभुता की अवस्थिति से इन्कार करना।

शास्त्रीय विधानशास्त्रियों का कथन है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राज्यों की अपनी इच्छा पर निर्भर है, वे जैसा चाहे उसका मनमाना प्रयोग कर सकते हैं और वस्तुत: करते भी हैं। ऐसा कभी भी राजकीय कानून के विषय में होता हुआ नहीं देखा गया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायपालिकाओं की उपस्थिति भी लाजमी है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसा कोई न्यायालय नहीं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या कर सके और जिसके द्वारा किये गये फैसले सभी राज्यों को मान्य हों।

1. "International law has not any existence in the same sense in which the term law is usually under-stood It depends generally on the prejudices of the writers of the textbooks It can be enforced by no tribunal and therefore, to apply to it the pharse law is to some extend misleading"—*Lord Salisbury*

अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज पर आधारित कानून को कानून नहीं कहा जा सकता। उन्हे तो अन्तर्राष्ट्रीय सदाचरण के नियम कहना ही पर्याप्त है, इससे अधिक नही।

आक्षेपो का प्रत्युत्तर—परन्तु उपर्युक्त सभी आक्षेपो के उत्तर आज के विधान-शास्त्रियो ने विभिन्न रूप मे दिये है। सर्वप्रथम आस्टिन की पुरानी कानून सम्बन्धी परिभाषा आज ठीक नही मानी जाती और न ही उसका प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त ही सत्य और यथार्थ माना जाता है। लास्की तथा ड्युग्वी इत्यादि आधुनिक राजनीति शास्त्री प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे न केवल अयथार्थ ही मानते हैं अपितु हानिकारक भी समझते है। आज राष्ट्रो के जीवन परस्पर आश्रित हैं, उनका एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र होकर रह सकना न तो सम्भव ही है न उचित ही।

कानून राज्यादेश मात्र नही। इस विचार की असत्यता पर हम पीछे भी विचार कर चुके हैं। कानून की समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक व्याख्या की जाती है। सेविनी (Savigny) तथा सर हेनरी मेन (Sir Henery Maine) का कथन है कि कानून को केवल मात्र राज्यादेश ही नही माना जा सकता। कानून रीति-रिवाज तथा परम्परा पर आश्रित है, वे ऐतिहासिक तथा विकासशील है। केवल मात्र शारीरिक बल के प्रयोग से कानून का पालन नही करवाया जा सकता। उसका पालन जनमत के दवाव से तथा अभ्यास और आदत से होता है। राज्य नियमो का सदाचरण के नियमो पर आधारित होना भी लाजमी है। दरअसल सारी बहस तो कानून की परिभाषा से सम्बन्धित है। आस्टिन इत्यादि द्वारा की गई कानून की परिभाषा बहुत ही सकुचित है, वह कानून के मानवीय और सामाजिक रूप को समझ ही नही पाता। कानून वस्तुत सामाजिक जीवन का परिणाम है, वह विकासशील है, वह जन-मत पर आधारित होता है।

प्रो० गिलक्राइस्ट का कथन है कि **"कानून का अर्थ केवल निश्चित विधि-सग्रह मात्र नहीं, अपितु अपेक्षाकृत पहले से ही जनता के वर्तमान नियमो को स्वीकृति मात्र है, कानून की अनुमति जिसका प्रथम दर्शन राज्य मे होता है, वस्तुत जन-सहमति है।"**[1] कानून का वास्तविक आधार जन-सामान्य की सहमति है, और उसके उल्लघन होने पर राज्य द्वारा सजा की व्यवस्था भी तभी रहती है कि उन नियमो को जनता का समर्थन प्राप्त होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून रीति-रिवाज और परम्परा पर आधारित है, और उसका पालन दण्ड-भय से नही होता अपितु मानवीय समाज की आलोचना के भय से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनुमति (Sanction) का

---

1 "Law does not consist merely in the making of a definite code, it is rather the recognition of the State of principles already definitely existing among the people, and the sanction of the law, which in the first place is shown in the machinery of the state, really is the common agreement of the people"— *Gilchrist*

आधार भी म्युनिसिपल कानून के आधार की तरह जन-सामान्य की सहमति है। यह बात ठीक है कि अभी इस जन-सहमति का ठीक उसी प्रकार से सगठन नही हो सका जिस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र मे मिल जाता है, परन्तु जन-सामान्य की अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओ का विकास बहुत तेजी से हो रहा है।

यह कहना भी ठीक नही कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ही नही। पचायती न्यायालय (Court of Arbitration) तथा पहले राष्ट्रसघ (League of Nations) और बाद मे सयुक्त राष्ट्रसघ (The United Nations Organisation) द्वारा स्थापित स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधान की व्याख्या और प्रशासन होता रहता है। सयुक्त राष्ट्रसघ स्वय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अनेक अन्तर्राष्ट्रीय झगडो का निपटारा करता रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान को लागू करने के लिए अनेक बार बल-प्रयोग भी किया जाता है और अनेक बार आर्थिक तथा व्यापारिक बहिष्कार इत्यादि साधनो के प्रयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन करवाने के भी प्रयोग किये जा सकते हैं। अभी हाल मे सयुक्त राष्ट्रसघ की ओर से कोरिया मे सैनिक कार्रवाई की गई थी, उसी प्रकार से पहले राष्ट्रसघ द्वारा इटली के विरुद्ध आर्थिक और व्यापारिक बहिष्कार का भी प्रयोग किया गया था।

अनेक देशो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को म्युनिसिपल कानून के भागस्वरूप स्वीकार कर लिया गया है। अमेरिका मे चीफ जस्टिस मार्शल ने यह स्वीकार किया था कि यद्यपि प्रत्येक राज्य अपने क्षेत्र मे स्थित हरेक व्यक्ति और व्यक्ति समुदाय पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, फिर भी उसे अन्तर्राष्ट्रीय नियमो की मौजूदगी को स्वीकार करना ही पडेगा। इग्लैण्ड और अमेरिका के न्यायालय अनेक अभियोगो के निर्णय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून के भाग के रूप मे स्वीकार कर चुके है, बशर्ते कि वे राष्ट्रीय कानून के नियमो के विरुद्ध न हो। कुछेक राज्यो ने तो अपने सविधान द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का अग स्वीकार कर लिया है।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे व्यापारी लोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो को कानून रूप मे स्वीकार करते हैं। अनेक बार जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय झगडो का फैसला होना होता है तो उस समय वकील लोग उन पर उसी प्रकार बहस करते हैं और पुराने फैसलो का हवाला देते हैं जिस प्रकार कि राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध मे किया जाता है। वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण कानूनी तर्क के आधार पर होता है और उसका इस्तेमाल भी कानूनी तरीके से किया जाता है।

इस प्रकार ऊपर लिखे गये तर्कों द्वारा यह साबित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे सभी तत्त्व वर्तमान है जो कि उसे कानून के रूप मे साबित कर सकते हैं। फिर भी हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि अभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का रूप अस्थिर है, और उसमे वह शक्ति नही जो राष्ट्रीय कानून मे मिल जाती है।

कानून के इन नियमो का पालन स्वेच्छापूर्वक होता है, दण्ड की कोई मर्यादा नही होती, विशेष रूप से बडे राज्यो द्वारा कानून भग किये जाने पर तो कोई भी ऐसी व्यवस्था नही कि जिस द्वारा उन्हे सजा दी जा सके। वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मनमाना इस्तेमाल करते है। क्षेत्र की सकुचितता तथा अनिश्चितता इत्यादि और अन्य अनेक दोष इसमे मिल जाते हैं, जो कि कानून की प्रारम्भिक स्थिति मे अनिवार्य हैं। अन्तराष्ट्रीय समाज तथा कानून की इस अपरिपक्वता को ध्यान मे रखते हुए ही सर फ्रेडरिक पोलक ने इसकी परिभाषा इन शब्दो मे की है, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक अपूर्ण सगठन वाले समाज के ऐसे रीति-रिवाजो और कार्यो का संग्रह है जिन्हे अभी कानून का पूरा स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ परन्तु जो कानून बनाने की ओर बढ रहे हैं।"[1] अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रमुख अधिकारी ह्वीटन (Wheaton) के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय विधान स्वतन्त्र राष्ट्रो मे विद्यमान समाज की प्रकृति के अनुकूल तर्क पर आधारित न्यायोचित पारस्परिक व्यवहार के ये नियम हैं, जो कि जन-सम्मति के आधार पर निश्चित और सशोधित किये जाते हैं।"[2] गिलक्राइस्ट का कथन है कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधान उन नियमो का सग्रह है जो कि सभ्य राष्ट्र अपने नैतिक मानदण्ड और सुविधानुसार पारस्परिक व्यवहार मे इस्तेमाल करते है।"[3]

८२ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत (Sources of International Law)

साधारण कानून की तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भी विभिन्न जन्म स्रोत है। उसी की भांति अन्तर्राष्ट्रीय कानून रीति-रिवाज, परम्परा और कुछ निश्चित समझौतो के अतिरिक्त रोमन कानून, इस विषय पर लिखे गये शास्त्रीय लेख, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और पचायती अदालतो के फैसले राज्यो के कानून (म्युनिसिपल कानून) कूटनीतिक पत्र-व्यवहार पर आधारित है। नीचे हम क्रमश इन सब का सक्षिप्त वर्णन करेंगे।

(१) **रीति-रिवाज तथा परम्परा**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सर्वप्रमुख स्रोत कहा जा सकता है। पारस्परिक व्यवहार मे किन्ही विशेष राज्यो ने कुछ ऐसी प्रथाओ तथा रिवाजो का प्रचलन किया जिन्हे सुविधाजनक समझ अन्य राज्यो ने भी अपना लिया। बाद मे वही कानून का रूप धारण कर गये। राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो

---

1 "International law is a body of customs and observances in an imperfectly organised society which have not fully acquired the character of law, but which are on the way to become law" —*Pollock*

2 "International law is those rules of conduct which reason deduces as consonant to justice from the nature of the society existing among independent nations, with such definitions and modifications as may be established by general consent"—*Wheaton*

3 "International law is the body of rules which civilised states observe in their dealings with each other, these rules being enforced by each particular state according to its own moral standard or convenience"—*Gilchrist*

के नियामक यह कानून अपनी प्रकृति मे वैसे ही है जैसे इंग्लैंड के रीति-रिवाज पर आधारित प्रचलित कानून (Common law)।

(२) **अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा सन्धियाँ**—बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के जन्मदाता है। अनेक राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धो के नियमन के लिए सन्धियाँ करते है। ये सन्धियाँ व्यापारिक, व्यावहारिक तथा राजनीतिक उद्देश्यो से की जाती है। और ये सब यह साबित करते है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार राज्यो की सहमति है। ये सन्धियाँ दो प्रकार की है, एक तो साधारण और दूसरी कानून-निर्माता। जब कभी महान् राष्ट्रो के बीच पारस्परिक व्यवहार के नियमो की स्थापना के हेतु सन्धियाँ होती है, तो उन्हे हम कानून-निर्माता सन्धियाँ कह देते है। ऐसी सन्धियो मे नये नियमो के निर्माण के अतिरिक्त पुराने नियमो की व्याख्या, सशोधन तथा पुनर्स्थापना की जाती है।

(३) **रोमन कानून**—जैसा कि हम देख चुके है, सम्पूर्ण यूरोपीय कानून व्यवस्था का आधार है। प्रारम्भिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की व्यवस्था रोमन कानून के अनुसार ही की जाती थी। रोमन कानून नागरिको की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, इसी सिद्धान्त के आधार पर ही राज्यो की समानता को भी माना जाता है। रोमन कानून के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो के नैतिक औचित्य को स्वीकार किया गया।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून की शास्त्रीय व्याख्याएँ**—ये भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे बहुत सिद्ध सहायक हुई है। ये व्याख्याएँ सुप्रसिद्ध विधानशास्त्रियो द्वारा की गई है। उन्होंने न केवल प्राचीन काल से चले आ रहे एतद्विषयक नियमो का सग्रह ही किया बल्कि उनकी व्याख्या भी की और परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल सशोधन के सुझाव भी दिये। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के शास्त्रीय व्याख्याकारो मे डच लेखक ग्रोशियस (Grotious) का सर्वप्रमुख स्थान है। उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'युद्ध और शान्ति के कानून' (The Law of War and Peace) ने पश्चिमी राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्धो की व्यवस्था को बहुत हद तक प्रभावित किया। इसी प्रकार वैटल (Vattel), केण्ट (Kent), व्हीटन (Wheaton), वूल्से (Woolsey), वेस्टलेक (Westlake), लारेन्स (Lawrence) तथा हाल (Hall) इत्यादि ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्याएँ कर एतद्विषयक साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि की है।

(५) **अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन तथा पंचायती फैसले** भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख स्रोत कहे जा सकते है। महान् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे वही काम करते है जो साधारण कानून-निर्माण के लिए राष्ट्रीय विधानपालिकाएँ।

हेग (Hague) मे हुए विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो को सम्पूर्ण मानव-जाति की विधानपालिका (Parliament of Mankind) कहा गया है। इन्हीं सम्मेलनो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक नियमो को व्यवस्थित किया गया

और उन्हे अन्तिम रूप दिया गया। उन्ही सम्मेलनो का परिणाम हेग की पचायती अदालत (The Hague Court of Arbitration) है। इस अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के पास सभी राज्य स्वेच्छापूर्ण निपटारे के लिए अपने-अपने झगडे ला सकते थे, और अनेक विवादो मे अदालत के फैसलो को राज्यो ने माना भी। इसी प्रकार बाद मे स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना भी की गई और अनेक विवादो मे उसके फैसले राज्य के लिए अन्तिम फैसले माने गये।

इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय कानून तथा कूटनीतिक पत्र-व्यवहार भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख स्रोत हैं। प्राय प्रत्येक राज्य के स्थायी कानून देशीकृत नागरिकता (Naturalised citizenship) तथा कूटनीतिक सम्बन्ध की स्थापना सम्बन्धी नियम अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के विषयो का नियमन करते हैं। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक सम्बन्धो का इतिहास भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक स्रोत कहा जा सकता है।

इस प्रकार ऊपर के तर्को से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विकास भी उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार कि राष्ट्रीय कानून का।

Important Questions

	Reference
1 Discuss the nature of law (*Cal 1950 1938, 1935, Nag 1943, 1934, Ag 1943, Pb 1953*)	Arts 71 to 75
2 What is the relationship between law and morality? Discuss (*Pb 1956, 1955, 1940, Ag 1934 Cal 1938*)	
3 Discuss the sources of law (*Cal 1935, 1932, Pb 1940, Nag 1943 1934*)	Art 76
4 Discuss briefly the principal kinds or types of law (*Pb 1955, 1950*)	Art 77
5 Discuss the relations between law and liberty (*Pb 1953*)	Art 80
6 Discuss the different theories of law	Arts 71 to 75
7 What is International Law? Can it be described as law in the strict sense of the word? (*Pb 1936, 1939, 1951, 1954, Cal 1940, Bom 1941*)	Art 81
8 Discuss the sources of International law	Art. 82

संविधान

CONSTITUTION

८३ संविधान की महत्ता

सविधान राज्य के उन विधायक तत्वो मे मे तो नहीं जिनका कि वर्णन हम पीछे कर आये हैं, फिर भी सविधान के बिना किसी भी राज्य की कल्पना असम्भव-सी है। क्योकि सविधान उन लिखित और अलिखित नियमो का सग्रह है जो राज्य-व्यवस्था के आधार होते हैं। ऐसे आधारभूत नियमो के अभाव मे राज्य-शासन-व्यवस्था का प्रचलन अत्यन्त कठिन है। पुराने या नये सभी राज्यो मे ऐसे नियमो की व्यवस्था अवश्य रही है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान जेलिनेक का कथन है कि राज्य के लिए सविधान अत्यन्त आवश्यक है और प्रत्येक राज्य का अपना संविधान होना चाहिए और होता भी है, यहाँ तक कि निरकुश तथा स्वेच्छाचारी राज्य मे भी सविधान आवश्यक है। उसके अभाव मे राज्य राज्य नही रहता, वह अराजकता और अव्यवस्था का रूप धारण कर लेता है। अनेक बार यह कहा जाता है कि इग्लैण्ड मे कोई सविधान नही था या फ्रांस मे एक हजार वर्ष तक कोई सविधान नही रहा और फिर भी वहाँ अराजकता नही फैली। परन्तु यह कहना गलत है, क्योकि प्राचीन राज्यों मे भी राज्य व्यवस्था और शासन के कुछ नियम अवश्य रहते थे। हाँ, वे आज की तरह निश्चित, स्पष्ट और विस्तृत रूप मे विद्यमान नही होते थे। इग्लैण्ड की बात तो दूर फ्रांस मे भी राज्य के आधारभूत कानूनो (Fundamental Laws of the Kingdom) और राजा के कानूनो (Laws of the King) मे अन्तर किया जाता था। आधारभूत कानून के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट सिद्धान्त, रीति-रिवाज और परम्परा और कानून शामिल थे जो सदियो से धीरे-धीरे राजकीय जीवन के नियमो के रूप मे विकसित हो रहे थे। राजा को उनमे स्वय परिवर्तन का अधिकार नही था। प्रायः प्रत्येक राज्य मे कुछ ऐसे नियमो की मौजूदगी होती थी, जिन्हे कि वहाँ की व्यवस्था का आधार समझा जाता था और जिन्हे प्रकृति या ईश्वर की देन के रूप मे स्वीकार किया जाता था।

आज के जटिल राजनीतिक और सामाजिक जीवन मे सविधान एक परम आवश्यकता है। सविधान मे निम्नलिखित तत्वो का समावेश रहता है—

(१) सरकार के सगठन की व्यवस्था।

(२) सरकार के विभिन्न विभागो के पारस्परिक सम्बन्धो का निर्णय।

(३) प्रत्येक सरकारी विभाग के कर्त्तव्यो का निर्णय।

(४) शासक तथा शासित के पारस्परिक सम्बन्धो की व्यवस्था।

और उन्हे अन्तिम रूप दिया गया। उन्ही सम्मेलनो का परिणाम हेग की पचायती अदालत (The Hague Court of Arbitration) है। इस अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के पास सभी राज्य स्वेच्छापूर्ण निपटारे के लिए अपने-अपने झगडे ला सकते थे, और अनेक विवादो मे अदालत के फैसलो को राज्यो ने माना भी। इसी प्रकार बाद मे स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना भी की गई और अनेक विवादो मे उसके फैसले राज्य के लिए अन्तिम फैसले माने गये।

इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय कानून तथा कूटनीतिक पत्र-व्यवहार भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख स्रोत हैं। प्राय प्रत्येक राज्य के स्थायी कानून देशीकृत नागरिकता (Naturalised citizenship) तथा कूटनीतिक सम्बन्ध की स्थापना सम्बन्धी नियम अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के विषयो का नियमन करते हैं। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक सम्बन्धो का इतिहास भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक स्रोत कहा जा सकता है।

इस प्रकार ऊपर के तर्कों से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विकास भी उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार कि राष्ट्रीय कानून का।

Important Questions

	Reference
1 Discuss the nature of law (*Cal 1950 1938, 1935, Nag 1943, 1934, Ag 1943, Pb 1953*)	Arts 71 to 75
2 What is the relationship between law and morality? Discuss (*Pb 1956, 1955, 1940, Ag 1934 Cal 1938*)	
3 Discuss the sources of law (*Cal 1935, 1932, Pb 1940, Nag 1943, 1934*)	Art 76
4 Discuss briefly the principal kinds or types of law (*Pb 1955, 1950*)	Art 77
5 Discuss the relations between law and liberty (*Pb 1953*)	Art 80
6 Discuss the different theories of law	Arts 71 to 75
7 What is International Law? Can it be described as law in the strict sense of the word? (*Pb 1936, 1939, 1951, 1954, Cal 1940, Bom 1941*)	Art 81
8 Discuss the sources of International law	Art 82

संविधान
CONSTITUTION

८३. संविधान की महत्ता

संविधान राज्य के उन विधायक तत्वो मे से तो नही जिनका कि वर्णन हम पीछे कर आये है, फिर भी संविधान के बिना किसी भी राज्य की कल्पना असम्भव-सी है। क्योकि संविधान उन लिखित और अलिखित नियमो का संग्रह है जो राज्य-व्यवस्था के आधार होते हैं। ऐसे आधारभूत नियमो के अभाव मे राज्य-शासन-व्यवस्था का प्रचलन अत्यन्त कठिन है। पुराने या नये सभी राज्यो मे ऐसे नियमो की व्यवस्था अवश्य रही है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान जेलिनेक का कथन है कि राज्य के लिए संविधान अत्यन्त आवश्यक है और प्रत्येक राज्य का अपना संविधान होना चाहिए और होना भी है, यहाँ तक कि निरकुश तथा स्वेच्छाचारी राज्य मे भी संविधान आवश्यक है। उसके अभाव मे राज्य राज्य नही रहता, वह अराजकता और अव्यवस्था का रूप धारण कर लेता है। अनेक बार यह कहा जाता है कि इग्लैण्ड मे कोई संविधान नही था या फ्रांस मे एक हजार वर्ष तक कोई संविधान नही रहा और फिर भी वहाँ अराजकता नही फैली। परन्तु यह कहना गलत है, क्योकि प्राचीन राज्यों मे भी राज्य व्यवस्था और शासन के कुछ नियम अवश्य रहते थे। हाँ, वे आज की तरह निश्चित, स्पष्ट और विस्तृत रूप मे विद्यमान नही होते थे। इग्लैण्ड की बात तो दूर फ्रांस मे भी राज्य के आधारभूत कानूनो (Fundamental Laws of the Kingdom) और राजा के कानूनो (Laws of the King) मे अन्तर किया जाता था। आधारभूत कानून के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट सिद्धान्त, रीति-रिवाज और परम्परा और कानून शामिल थे जो सदियो मे धीरे-धीरे राजकीय जीवन के नियमो के रूप मे विकसित हो रहे थे। राजा को उनमे स्वय परिवर्तन का अधिकार नही था। प्राय प्रत्येक राज्य मे कुछ ऐसे नियमो की मौजूदगी होती थी, जिन्हे कि वहाँ की व्यवस्था का आधार समझा जाता था और जिन्हे प्रकृति या ईश्वर की देन के रूप मे स्वीकार किया जाता था।

आज के जटिल राजनीतिक और सामाजिक जीवन मे संविधान एक परम आवश्यकता है। संविधान मे निम्नलिखित तत्वो का समावेश रहता है—

(१) सरकार के संगठन की व्यवस्था।

(२) सरकार के विभिन्न विभागो के पारस्परिक सम्बन्धो का निर्णय।

(३) प्रत्येक सरकारी विभाग के कर्त्तव्यो का निर्णय।

(४) शासक तथा शासित के पारस्परिक सम्बन्धो की व्यवस्था।

८६ लिखित तथा अलिखित संविधान (Written & Unwritten Constitutions)

उपर्युक्त विभाजन की बजाए कुछ लोग सविधान को लिखित या अलिखित रूप मे विभाजित करते हैं। वस्तुत निर्मित तथा ऐतिहासिक सविधान मे लगभग वही अन्तर है जो कि एक लिखित तथा अलिखित सविधान मे होता है। लिखित सविधान वह नियम सग्रह है जिसमे राजकीय जीवन के लगभग सम्पूर्ण नियामक नियम लिखित रूप मे होते हैं। ये नियम किसी एक निश्चित अधिकार-पत्र मे भी शामिल किये जा सकते हैं और अनेको मे भी। आम तौर पर एक लिखित विधान किसी एक निश्चित तिथि पर निर्धारित किया जाता है और वह पवित्र तथा उच्चतम कानून माना जाता है। सविधान परिषदो के प्रयत्नो के परिणाम होने के कारण ही उन्हे निर्मित सविधान भी कहा जाता है।

उसके विपरीत एक अलिखित सविधान सामान्यतया राजकीय शासन-व्यवस्था के आधारभूत नियमो के लिखित रूप मे नही होता। डा० गार्नर के मतानुसार **"अलिखित सविधान वह है जिनकी अधिकाश बातें (सम्पूर्ण नहीं) कभी किसी लेख पत्र या लेख-पत्रों के सग्रह में लिखी हुई नहीं होतीं।"**[1] अलिखित सविधान राष्ट्रीय जीवन का विकसित रूप है। वह राज्य के क्रमिक ऐतिहासिक विकास का फल है। इसमे राजकीय जीवन के मूलभूत नियम भी सामाजिक जीवन की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियो के मुताबिक बदलते रहते हैं, उनमे स्थायित्व तथा निश्चयात्मकता का अभाव होता है। वे एक यान्त्रिक रचना न हो, जीवनमय विकास का फल होता है। अलिखित सविधान रीति-रिवाज, राजनीतिक परम्परा तथा व्यावहारिक नियम और न्याय-निर्णयो पर आधारित होता है।

लिखित तथा अलिखित सविधानो के उदाहरण—लिखित सविधानो के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रास, स्विटजरलैण्ड, सोवियत रूस तथा भारत इत्यादि राज्यो के लिखित सविधान हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका का सविधान तो सन् १७८९ मे अन्तिम रूप से लागू किया गया था। यह सविधान एक अधिकार-पत्र के रूप मे राज्यो के एक सम्मेलन मे स्वीकार किया गया था, इसमे सयुक्त राज्य अमेरिका की लगभग सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था के आधारभूत नियमो को लिख दिया गया था। इसी प्रकार फ्रास की शासन व्यवस्था का निर्णय १८७५ मे तीन विभिन्न तिथियो पर स्वीकार किये गये अधिकार-पत्रो के द्वारा किया गया। वर्तमान फ्रासीसी सविधान भी लिखित अधिकार-पत्र के रूप मे वर्तमान है। भारत के सविधान की रचना केबिनेट मिशन की योजना के अन्तर्गत १९४६ मे स्थापित सविधाननिर्मात्री सभा द्वारा की गई, और उसको २६ जनवरी, १९५० मे लागू किया गया। यह भी लिखित सविधान है, जिसका निर्माण पर्याप्त सैद्धान्तिक बहस और विचार-विमर्श के अनन्तर

---

1 "An unwritten constitution is one in which most, but not all, of the prescriptions have never been reduced to writing and formerly embodied in a document or collection of documents"—*Garner*

हुआ। इससे पूर्व भारत के संविधान की व्यवस्था ब्रिटिश पार्लियमेंट द्वारा स्वीकृत १९३५ के एक्ट के मातहत की गई थी।

अलिखित संविधान का उदाहरण ब्रिटिश शासन-व्यवस्था है। ब्रिटेन की अधिकांश शासन-व्यवस्था का आधार अलिखित रीति-रिवाज, राजनीतिक परम्परा, व्यावहारिक नियम और न्याय-निर्णय हैं। अंग्रेजी सम्राट् की संवैधानिक स्थिति, मन्त्रिमण्डल तथा प्रधान मन्त्री के कार्य तथा शक्तियाँ, उसकी पार्लियामेण्ट के प्रति जिम्मेदारी इत्यादि सभी संवैधानिक तत्त्वों का आधार परम्परा और रीति-रिवाज हैं। सैद्धान्तिक रूप से ब्रिटिश सम्राट् असीम शक्तिसम्पन्न है, परन्तु व्यावहारिक रूप में वह केवल सीमित शक्तियों से युक्त संवैधानिक शासक है। इसी प्रकार वैधानिक रूप से इंग्लैण्ड राजतन्त्र है परन्तु व्यावहारिक रूप से प्रजातन्त्र। ब्रिटिश राजनैतिक जीवन में इस प्रकार सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक जीवन में जो अन्तर है उसका मुख्य आधार संवैधानिक परम्पराएँ व्यावहारिक नियम तथा रीति-रिवाज हैं, जो अलिखित हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण की आलोचना—संविधानों के लिखित तथा अलिखित रूप में किये गये वर्गीकरण को आज असन्तोषजनक समझ अस्वीकार किया जाता है। कोई भी संविधान न तो सम्पूर्ण रूप में लिखित ही है और न अलिखित ही है। लिखित संविधान परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। मनुष्य जीवन की परिवर्तनशीलता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। उसके जीवन का प्रतिफलन समाज तथा राज्य के जीवन में भी मिल जाता है। राष्ट्रों का जीवन भी व्यक्ति के जीवन की भाँति विकासशील है, अतः लिखित संविधानों में परिवर्तन अनिवार्य है। प्रत्येक लिखित संविधान में बरबस ऐसे नियमों का जन्म हो जाता है जो लिखित रूप में तो वर्तमान नहीं होते, परन्तु जो राजकीय जीवन के आधारभूत भाग हो जाते हैं। लिखित तथा अलिखित संविधान का भेद मात्रा का भेद है, प्रकार का नहीं।

लार्ड ब्राइस का कथन है कि "लिखित कहे जाने वाले संविधान व्याख्याओं द्वारा विकसित हो जाते हैं, निर्णयों द्वारा मर्यादित हो जाते हैं और रिवाजों द्वारा बढ़ जाते हैं।। फलतः कुछ समय के बाद उनकी शब्दावली से उसका पूरा मतलब नहीं निकलता।"[1] इस प्रकार लिखित संविधान अनेक अलिखित रीति-रिवाज, न्याय-निर्णय तथा परम्पराओं के अनुसार बदलते रहते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान लिखित है, परन्तु वर्षों के अनुभव के आधार पर अब उसमें अनेक ऐसे तत्त्व शामिल हो गये हैं जो लिखित नहीं और जो रीति-रिवाज और परम्परा पर आधारित हैं। उदाहरण के रूप में हम अमेरिकन राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल, उसकी अवधि तथा राजनीतिक दलों को ले सकते हैं, अमेरिकन संविधान राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल की कहीं व्यवस्था नहीं करता, वह केवल विभिन्न राजकीय विभागों के अध्यक्षों की नियुक्ति का ही आदेश देता है। फिर भी

1 "Written constitutions are developed by interpretation, fringed with decisions and enlarged by customs, so that, after a time the letter of their text does not convey the full effect."—*Bryce*

प्रत्येक राष्ट्रपति अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है जो उसकी शासन-कार्य मे सहायता करता है। इसी प्रकार अमेरिकन सविधान राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन पर किसी किस्म की पावन्दी नही लगाता, फिर भी जार्ज वाशिंगटन द्वारा स्थापित रिवाज के फलस्वरूप बहुत समय तक कोई भी व्यक्ति दो वार से अधिक राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार के रूप मे खडा नही होता था। सयुक्त राज्य अमेरिका मे राजनीतिक दल सरकार के चौथे भाग के रूप में समझे जाते हैं परन्तु उनका कोई सवैधानिक अस्तित्व नही। सुप्रीम कोर्ट की न्यायिक पर्यालोचन (Judicial review) की शक्ति भी परम्परा का ही फल है, सवैधानिक व्यवस्था का नही। इस प्रकार सयुक्त राज्य अमेरिका का सविधान यद्यपि मुख्य रूप से लिखित है, फिर भी उसमे समयानुसार अनेक अलिखित तत्त्वों का समावेश हो गया है।

इसी प्रकार मुख्य रूप से अलिखित कहे जाने वाले सविधान भी अनेक लिखित तत्त्वो से पूर्ण होते है। उदाहरणार्थ ब्रिटिश सविधान का अधिकाश भाग अलिखित है, परन्तु इसमे सन्देह नही कि इसका एक महत्त्वपूर्ण भाग लिखित रूप भी ग्रहण कर चुका है। प्रजा तथा सम्राट् और हाउस आफ लार्ड्स (House of Lords) तथा हाउस ऑफ कामन्स (House of Commons) के पारस्परिक सम्बन्धो का निर्णय अनेक प्राचीन समझौतो द्वारा हो चुका है जो लिखित रूप मे मौजूद हैं। मेग्नाकार्टा (Magnacharta) तथा पटीशन ऑफ राइट्स इत्यादि ऐसे ही समझौते हैं। इसी प्रकार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने अनेक वार ऐसे विल व अधिनियम पास किये हैं जिन्हें कि सवैधानिक दृष्टि से हम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कह सकते है। १९११ मे पास किया गया पार्लियमेण्ट्री एक्ट ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के दोनो सदनो (Houses) के पारस्परिक सम्बन्धो को निश्चित करता है और इस प्रकार सविधान का एक लिखित हिस्सा है। इसी प्रकार ब्रिटिश सविधान के अन्य भाग भी लिखित रूप धारण कर चुके है। सर हेनरी मेन के मतानुसार ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का अधिकाश भाग लिखित रूप धारण कर चुका है। उसका कथन है कि **"ताज की अनेक शक्तियां, न्यायिक शक्तियों समेत हाउस ऑफ लार्ड्स की अनेक शक्तियां, हाउस आफ कामन्स के सविधान का बडा भाग और उसका निर्वाचकों से सम्बन्ध इत्यादि पर्याप्त अर्से से ही पार्लियामेण्ट के अधिनियमों द्वारा निश्चित किये जा चुके हैं।"**[1] इस वात से तो इन्कार नही किया जा सकता कि ब्रिटिश सविधान ऐतिहासिक विकास का ही परिणाम है और ये लिखित अश भी पुराने समय से चले आते रस्मो-रिवाज पर ही आधारित हैं, केवल मात्र उनके लिखित सस्करण हैं। लार्ड ब्राइस के कथनानुसार **ब्रिटिश सविधान मानव-मस्तिष्क में मौजूद या लेखबद्ध परम्परा तथा उदाहरणों, वकीलों या राजनीतिज्ञो के**

---

1 "Many of the powers of the Crown—many of the powers of the House of Lords, including the whole of its judicial powers—much of the constitution of the House of Commons and its entire relation to the electoral body have long since been defined by Act of Parliament'—*Sir Henry Maine*.

कथन रस्मो-रिवाज, विश्वासो तथा समझौतो इत्यादि के साथ घुले-मिले अनेक कानूनी और उनके फलस्वरूप विकसित न्याय-निर्णयों तथा राजनीतिक अभ्यासो का सग्रह है।"[1]

इस प्रकार ऊपर दिये गये तथ्यो मे यह साबित हो जाता है कि कोई भी संविधान न तो पूर्ण रूप से लिखित ही होता है और न ही अलिखित। सभी मे लिखित और अलिखित तत्त्व मौजूद होते हैं, अत' उपर्युक्त विभाजन सन्तोषप्रद नही।

८७ परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील सविधान (Flexible and Rigid Constitutions)

आज सविधान को अलिखित अथवा लिखित कहने की बजाए परिवर्तनशील या लचीला तथा अपरिवर्तनशील या कठोर कहना अधिक ठीक समझा जाता है। सविधान के इन प्रकार के वर्गीकरण का श्रेय लार्ड ब्राइस को दिया जाता हैं। इस वर्गीकरण को अधिक तर्कसम्मत तथा वैज्ञानिक समझा जाता है। संविधान का ऐसा वर्गीकरण, सविधान के परिवर्तन के तरीको तथा साधारण कानून के साथ उसका जो सम्बन्ध हो, उसको आधार मानकर किया जाता है।

जहाँ सवैधानिक कानून मे और साधारण कानून मे कोई भेद नही किया जाता और प्रत्येक प्रकार के कानून को निर्मित करने, सशोधित करने या परिवर्तित करने का एक प्रकार का तरीका होता है और जहाँ साधारण कानून से उच्चतर किसी कानून की व्यवस्था नही होती, लचीले या परिवर्तनशील सविधान की मौजूदगी मानी जाती है। इस अवस्था मे सवैधानिक कानून और साधारण कानून एक ही परिषद् अथवा संसद् द्वारा तैयार किये जाते हैं, और सवैधानिक कानून को किसी प्रकार भी उच्च अथवा विशिष्ट या पवित्र नही माना जाता। वे चाहे लिखित हो अथवा अलिखित हो, अवश्य ही परिवर्तनशील हैं।

इसके विपरीत अपरिवर्तनशील अथवा कठोर सविधान के अन्तर्गत साधारण कानून तथा सवैधानिक कानून मे भेद किया जाता है। अपरिवर्तनशील सविधान एक विशेष तरीके से ही बदला या सशोधित किया जा सकता है। साथ ही उसके अन्तर्गत कोई भी विधानपालिका सर्वोच्च सत्तासम्पन्न नही हो सकती, संविधान ही उच्च होता है और वह राज्य का पवित्र तथा उच्चतम कानून समझा जाता है। इस प्रकार परिवर्तनशील सविधान की अपेक्षा कठिन तरीके से परिवर्तित किये जा सकने के कारण ही यह कठोर या अपरिवर्तनशील सविधान कहलाता है।

परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील सविधानो के उदाहरण—परिवर्तनशील सविधान का सर्वप्रसिद्ध उदाहरण इग्लैण्ड का सविधान है। इंग्लैण्ड मे सवैधानिक

1. "The English constitution is a mass of precedents carried in man's mind or recorded in writing, dicta of lawyers or statesmen, customs, usages, understandings and beliefs, a number of statutes mixed-up with customs and all covered with a parasite growth of legal discussions and political habits" *Bryce*

कानून मे तथा साधारण कानून मे कोई अन्तर नही, और पार्लियामेण्ट सभी प्रकार के कानूनो का जन्म स्थान है। डायसी के अनुसार—

(१) इग्लैण्ड मे ऐसा कोई कानून नही जिसे पार्लियामेण्ट नही बना सकती।

(२) इग्लैण्ड मे ऐसा कोई कानून नही जिसे पार्लियामेण्ट सशोधित या परिवर्द्धित न कर सकती हो।

(३) इग्लैन्ड मे सवैधानिक कानून और साधारण कानून मे कोई अन्तर नही किया जाता।

यही कारण है कि शुरू-शुरू मे अनेक विधानशास्त्रियो का मत था कि इग्लैण्ड मे कोई सविधान ही नही। डी० ताँकवेल (De Tocqueville) ने ही कहा था कि **"सैद्धान्तिक रूप से इग्लैण्ड मे कोई सविधान नहीं।"** इसका मुख्य कारण यही है कि इग्लैण्ड मे ऐसा कोई कानून नही जिसे दूसरे कानूनो से अलग करके निश्चय रूप से सवैधानिक कहा जा सके, दूसरे शब्दो मे साधारण तथा सवैधानिक कानूनो मे भेद करने के मानदण्ड का सर्वथा अभाव है। इग्लैण्ड के पास सयुक्त राज्य अमेरिका का सा निश्चित सवैधानिक कानून कही। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वहाँ कोइ सविधान ही नही, सविधान अवश्य है, यद्यपि उसका स्रोत भी वही पार्लियामेण्ट है जो कि साधारण कानून का निर्माण करती है। अगर तो हम सविधान शब्द को समुचित अर्थ मे प्रयुक्त करें तो डी० ताँकवेल का कथन सत्य ही समझा जायगा, परन्तु सविधान शब्द का ऐसा प्रयोग न केवल अव्यावहारिक ही होगा अपितु अवैज्ञानिक भी।

इसके विपरीत सयुक्त राज्य अमेरिका, स्विटजरलैण्ड तथा भारत के सविधान अपरिवर्तनशील हैं। इन राज्यो मे सवैधानिक परिवर्तन के लिए एक विशेष साधन का प्रयोग करना पडता है। इग्लैण्ड की तरह साधारण विधानपालिकाओ को सविधान मे परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। सयुक्त राज्य अमेरिका मे साधारण कानूनो का निर्माण काग्रेस द्वारा होता है, परन्तु वह सवैधानिक परिवर्तन नही कर सकती। सवैधानिक कानून मे परिवर्तन करने के लिए एक विशेष कार्य प्रणाली की व्यवस्था इस प्रकार कर दी गई—काग्रेस के दोनो सदनो मे दो-तिहाई मत द्वारा पास किये गये प्रस्ताव का राज्य की तीन-चौथाई विधानपालिकाओ द्वारा मजूर किया जाना लाजमी है, तभी वह सविधान के रूप मे स्वीकार किया जा सकेगा।

इसी प्रकार स्विटजरलैण्ड मे भी साधारण कानून के लिए तथा सवैधानिक कानून के सशोधन के लिए अलग-अलग कार्य प्रणाली का अनुसरण करना पडता है। वहाँ सघीय विधानपालिका तथा राज्य विधान-सभाओ के अतिरिक्त जनसाधारण को भी सविधान सशोधन पर मत प्रगट करने का अधिकार है। सघीय तथा राज्य विधानपालिकाओ के बहुमत के अतिरिक्त जनसाधारण के बहुमत प्राप्त होने पर ही सवैधानिक कानून का सशोधन स्वीकृत माना जाता है।

८८. विविध संविधानो के गुण-दोष

दोनो प्रकार के संविधानो मे गुणावगुण मिल जाते हैं। नीचे हम दोनो प्रकार के संविधानो के गुण-दोष की विवेचना करेंगे।

परिवर्तनशील संविधान के गुण—

(१) परिवर्तनशीलता तथा संयोजनशीलता (Adaptability) ही परिवर्तनशील संविधान की सबसे बडी विशेषता है। मनुष्य-जीवन सदा प्रगतिशील है, उसमे समय तथा परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी अवस्था मे बिना किसी विशेष प्रयत्न के संविधान को परिवर्तित हालतो के अनुसार बदला जा सकता है।

(२) प्रत्येक राज्य के जीवन मे ऐसे संकटकालीन अवसर आ जाते हैं जिनका सामना करने के लिए संविधान मे परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। अपरिवर्तनशील संविधान मे ऐसा करना बहुत कठिन हो जाता है। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड दोनो ही इस विषय के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान मे इंग्लैण्ड और अमेरिका मे एक जैसी संकटकालीन स्थिति उत्पन्न हुई थी। अमेरिका के संविधान के अनुसार वहाँ प्रत्येक चार वर्ष के अनन्तर राष्ट्रपति का चुनाव अनिवार्य है, अत युद्ध-कालीन स्थिति मे भी चुनाव हुए। यदि प्रेजिडेण्ट रूजवेल्ट के स्थान पर मि० डयूए का चुनाव हो जाता तो सम्भव है राजनीतिक तथा शासकीय नीतियो मे पर्याप्त परिवर्तन होता, जिसका परिणाम शायद सम्पूर्ण देश के लिए हितकर न हो पाता। संकटकालीन स्थिति के दौरान मे ऐसा कोई भी परिवर्तन खतरनाक सिद्ध हो सकता है। इसके विपरीत इंग्लैण्ड मे संवैधानिक लचीलेपन के कारण लोकसभा के चुनाव स्थगित किये गए और युद्ध-संचालन के लिए मि० चर्चिल जैसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री के पद पर रखा गया। युद्धकालीन स्थिति के खतम होते ही इंग्लैण्ड के लोगों ने अपनी नई आवश्यकताओ के अनुसार नवीन प्रधान मन्त्री का चुनाव किया। लार्ड ब्राइस ने ब्रिटिश संविधान के लिए ठीक ही कहा है कि "लचीले संविधान उनके ढांचे का विनाश किये बिना इच्छानुसार, झुकाये या खींचे जा सकते हैं, और जब संकट टल जाता है, तब ये उसी प्रकार अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, जिस प्रकार वह वृक्ष जिसके नीचे गाडी को ले जाने की सुविधा के लिए उसकी लटकती हुई टहनियो को खींचकर एक ओर कर दिया गया हो।"[1]

(३) परिवर्तनशील संविधान जनता की भावनाओ का प्रतिनिधित्व करते हैं अत उनके होते हुए हिंसात्मक क्रान्तियो की आवश्यकता ही नहीं रहती। इंग्लैण्ड मे संविधान की परिवर्तनशील प्रकृति का ही फल है कि वहाँ आज तक कोई जबरदस्त हिंसात्मक राजनीतिक परिवर्तन नहीं हो पाया। लार्ड मैकाले का कथन है कि अगर

---

1 "They (flexible constitutions) can be stretched or bent so as to meet emergencies without breaking their framework, and when the emergency has passed, they slip back into their form like a tree whose outer branches have been pulled aside to let a vehical pass".
—*Lord Bryce*

कानून मे तथा साधारण कानून मे कोई अन्तर नही, और पार्लियामेण्ट सभी प्रकार के कानूनो का जन्म स्थान है। डायसी के अनुसार—

(१) इग्लैण्ड मे ऐसा कोई कानून नही जिसे पार्लियामेण्ट नही बना सकती।

(२) इग्लैण्ड मे ऐसा कोई कानून नही जिसे पार्लियामेण्ट सशोधित या परिवर्द्धित न कर सकती हो।

(३) इग्लैन्ड मे सवैधानिक कानून और साधारण कानून मे कोई अन्तर नही किया जाता।

यही कारण है कि शुरू-शुरू मे अनेक विधानशास्त्रियो का मत था कि इग्लैण्ड मे कोई सविधान ही नही। डी० टॉकवेल (De Tocqueville) ने ही कहा था कि "**सैद्धान्तिक रूप से इग्लैण्ड मे कोई सविधान नहीं।**" इसका मुख्य कारण यही है कि इग्लैण्ड मे ऐसा कोई कानून नही जिसे दूसरे कानूनो से अलग करके निश्चय रूप से सवैधानिक कहा जा सके, दूसरे शब्दो मे साधारण तथा सवैधानिक कानूनो मे भेद करने के मानदण्ड का सर्वथा अभाव है। इग्लैण्ड के पास सयुक्त राज्य अमेरिका का सा निश्चित सवैधानिक कानून कही। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वहाँ कोइ सविधान ही नही, सविधान अवश्य है, यद्यपि उसका स्रोत भी वही पार्लियामेण्ट है जो कि साधारण कानून का निर्माण करती है। अगर तो हम सविधान शब्द को समुचित अर्थ मे प्रयुक्त करें तो डी० टॉकवेल का कथन सत्य ही समझा जायगा, परन्तु सविधान शब्द का ऐसा प्रयोग न केवल अव्यावहारिक ही होगा अपितु अवैज्ञानिक भी।

इसके विपरीत सयुक्त राज्य अमेरिका, स्विटजरलैण्ड तथा भारत के सविधान अपरिवर्तनशील हैं। इन राज्यो मे सवैधानिक परिवर्तन के लिए एक विशेष साधन का प्रयोग करना पडता है। इग्लैण्ड की तरह साधारण विधानपालिकाओ को सविधान मे परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त नही होता। सयुक्त राज्य अमेरिका मे साधारण कानूनो का निर्माण काग्रेस द्वारा होता है, परन्तु वह सवैधानिक परिवर्तन नही कर सकती। सवैधानिक कानून मे परिवर्तन करने के लिए एक विशेष कार्य प्रणाली की व्यवस्था इस प्रकार कर दी गई—काग्रेस के दोनो सदनो मे दो-तिहाई मत द्वारा पास किये गये प्रस्ताव का राज्य की तीन-चौथाई विधानपालिकाओ द्वारा मजूर किया जाना लाजमी है, तभी वह सविधान के रूप मे स्वीकार किया जा सकेगा।

इसी प्रकार स्विटजरलैण्ड मे भी साधारण कानून के लिए तथा सवैधानिक कानून के सशोधन के लिए अलग-अलग कार्य प्रणाली का अनुसरण करना पडता है। वहाँ सघीय विधानपालिका तथा राज्य विधान-सभाओ के अतिरिक्त जनसाधारण को भी सविधान सशोधन पर मत प्रगट करने का अधिकार है। सघीय तथा राज्य विधानपालिकाओ के बहुमत के अतिरिक्त जनसाधारण के बहुमत प्राप्त होने पर ही सवैधानिक कानून का सशोधन स्वीकृत माना जाता है।

८८ विविध संविधानों के गुण-दोष

दोनों प्रकार के संविधानों में गुणावगुण मिल जाते हैं। नीचे हम दोनों प्रकार के संविधानों के गुण-दोष की विवेचना करेंगे।

परिवर्तनशील संविधान के गुण—

(१) परिवर्तनशीलता तथा संयोजनशीलता (Adaptability) ही परिवर्तनशील संविधान की सबसे बडी विशेषता है। मनुष्य-जीवन सदा प्रगतिशील है, उसमें समय तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी अवस्था में बिना किसी विशेष प्रयत्न के संविधान को परिवर्तित हालतों के अनुसार बदला जा सकता है।

(२) प्रत्येक राज्य के जीवन में ऐसे संकटकालीन अवसर आ जाते हैं जिनका सामना करने के लिए संविधान में परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। अपरिवर्तनशील संविधान में ऐसा करना बहुत कठिन हो जाता है। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड दोनों ही इस विषय के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान में इंग्लैण्ड और अमेरिका में एक जैसी संकटकालीन स्थिति उत्पन्न हुई थी। अमेरिका के संविधान के अनुसार वहाँ प्रत्येक चार वर्ष के अनन्तर राष्ट्रपति का चुनाव अनिवार्य है, अतः युद्धकालीन स्थिति में भी चुनाव हुए। यदि प्रेजिडेण्ट रूजवेल्ट के स्थान पर मि० ड्यूए का चुनाव हो जाता तो सम्भव है राजनीतिक तथा शासकीय नीतियों में पर्याप्त परिवर्तन होता, जिसका परिणाम शायद सम्पूर्ण देश के लिए हितकर न हो पाता। संकटकालीन स्थिति के दौरान में ऐसा कोई भी परिवर्तन खतरनाक सिद्ध हो सकता है। इसके विपरीत इंग्लैण्ड में संवैधानिक लचीलेपन के कारण लोकसभा के चुनाव स्थगित किये गए और युद्ध-संचालन के लिए मि० चर्चिल जैसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री के पद पर रखा गया। युद्धकालीन स्थिति के खत्म होते ही इंग्लैण्ड के लोगों ने अपनी नई आवश्यकताओं के अनुसार नवीन प्रधान मन्त्री का चुनाव किया। लार्ड ब्राइस ने ब्रिटिश संविधान के लिए ठीक ही कहा है कि **"लचीले संविधान उनके ढांचे का विनाश किये बिना इच्छानुसार, झुकाये या खेंचे जा सकते हैं, और जब संकट टल जाता है, तब ये इसी प्रकार अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, जिस प्रकार वह वृक्ष जिसके नीचे गाड़ी को ले जाने की सुविधा के लिए उसकी लटकती हुई टहनियों को खेंचकर एक ओर कर दिया गया हो।"**[1]

(३) परिवर्तनशील संविधान जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः उनके होते हुए हिंसात्मक क्रान्तियों की आवश्यकता ही नहीं रहती। इंग्लैण्ड में संविधान की परिवर्तनशील प्रकृति का ही फल है कि वहाँ आज तक कोई जबरदस्त हिंसात्मक राजनीतिक परिवर्तन नहीं हो पाया। लार्ड मैकाले का कथन है कि "मानव

1. "They (flexible constitutions) can be stretched or bent so as to meet emergencies without breaking their framework, and when the emergency has passed, they slip back into their form like a tree whose outer branches have been pulled aside to let a vehical pass."
—*Lord Bryce*

विश्व की हिंसात्मक क्रान्तियो का कारण सविधान की कठोरता होता है। अमेरिकन सुप्रीम कोर्ट के जज कूली (Cooly) ने ठीक ही कहा है कि "जनसाधारण के शासन के लिए ससार मे जितने भी सविधान बनाये जा सकते हैं, उनमे सबसे अच्छा वही है जो राष्ट्रीय जीवन के स्वाभाविक विकास का परिणाम है और जो राष्ट्र के प्रौढ होने के साथ-साथ अपने आप भी विस्तृत तथा विकसित होकर किसी भी अवसर पर सरकार से सम्बद्ध नियम तथा नागरिक एव राजनीतिक स्वतन्त्रता के स्वीकृत सिद्धान्तो को प्रकट कर सकता है।"[1]

(४) लिखित सविधान किसी एक निश्चित काल की परिस्थितियो का परिणाम होता है। वह सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन के इतिहास को एक लेखपत्र मे बन्द कर देना चाहता है। विधान-निर्माता चाहे कितने भी विचारशील और अनुभवी शासक क्यो न हो, फिर भी वे कभी भी राष्ट्र के विकासशील जीवन के भविष्य का पूरा-पूरा अनुमान नही लगा सकते। अत समय पाकर वह विकसित राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल नही रह पाता। डॉ० गार्नर का कथन है कि "अपरिवर्तनशील विधान का निर्माण एक ऐसा ही प्रयत्न है जैसे कि एक व्यक्ति के लिए उसकी भावी शारीरिक वृद्धि तथा आकार का विचार किये बिना एक कोट बनाना।"[2] सयुक्त राज्य अमेरिका का सविधान उन दिनो बनाया गया था जब कि अमेरिकन राष्ट्र एक अविकसित राष्ट्र था, जब उसके सम्पूर्ण अर्थतन्त्र का आधार कृषिप्रधान व्यवस्था थी और उसके राजनीतिक जीवन मे व्यक्तिवाद का बोलबाला था। परन्तु आज अमेरिका एक महान् राष्ट्र है, उसकी अर्थ-व्यवस्था का आधार विस्तृत उद्योग-धन्धे हैं और उसके राजनीतिक जीवन के नियन्त्रण के लिए कल्याणकारी राज्य-प्रणाली की आवश्यकता है। परन्तु सविधान के अपरिवर्तनीय होने के कारण, राजनीतिक जीवन को परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियो के अनुकूल बनाना अत्यन्त कठिन है। लचीले सविधान मे ऐसे दोष नही आ सकते।

(५) लचीला सविधान ऐतिहासिक, विकासशील तथा परिवर्तनशील होता है। वह राष्ट्रीय जीवन और आकाक्षाओ का प्रतिबिम्ब होता है। उनका आधार राष्ट्र का भूतकाल होता है। वे वर्तमान के अनुकूल होते हैं और भविष्य के अनुरूप ढल

---

1 "Of all the constitutions which may come into existence for the government of the people, the most excellent is obviously that which is the natural outgrowth of the national life, and which, having grown and expanded as the nation has matured, is likely at any particular time to express the prevailing sentiments regarding the government and the accepted principles of civil and political liberty"
—*Cooly*

2 "It (*a rigid constitution*) is like an attempt to fit a garment to an individual without taking into consideration his future growth and changes in size"—*Garner*

जाने की उनमे क्षमता होती है। वे अपने युग के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन-मूल्यो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

परिवर्तनशील सविधान के दोष—परिवर्तनशील सविधान को अनेक प्रकार से दोषपूर्ण ठहराया जाता है। सर्वप्रथम तो परिवर्तनशील सविधान मे निश्चयात्मकता, स्थिरता एव स्थायित्व की कमी होती है। जन-भावनाओ के अनुकूल सामाजिक और राजनीतिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्तो का वदल जाना गुण न होकर अवगुण ही कहलाता है। जनता भावनाओ के अस्थायी आवेश मे आकर पुराने समय से चले आ रहे शासकीय नियमो को एकदम वदलने पर उतारु हो जाय, तो वह किसी भी राज्य की व्यवस्था के लिए स्वस्थ लक्षण नही समझा जा सकता। जनता अक्सर राजनीतिक नेताओ के जोशीले भाषणो का शिकार हो जाती है, वह ऐसे मामलो मे तर्क से काम न ले भावनाओ से काम लेती है। सरकारी व्यवस्था को भावावेश मे आकर वदल देना किसी भी हालत मे अच्छा नही कहा जा सकता।

परिवर्तनशील सविधान राजनीतिक दलो और महत्त्वाकांक्षी जन-नेताओं के हाथ के खिलौने वन जाते हैं और वे उनका प्रयोग अपनी हित-साधना के लिए करते हैं, जनहित के लिए नही।

परिवर्तनशील सविधान की अवस्थिति एक समुन्नत और राजनीतिक चेतना-सम्पन्न समाज मे ही सम्भव है। इसके विपरीत यदि जनसामान्य मे राजनीतिक चेतना का अभाव हो तो परिवर्तनशील सविधान उनके अधिकारो की किसी भी प्रकार रक्षा नही कर सकेगा। राजनीतिक दल और विधानसभाएँ उसमे मनमाना परिवर्तन कर सकती हैं।

कार्यपालिका और उसके अधीन कार्य करने वाले राज्य-कर्मचारी अपरिवर्तन-शील सविधान के अधीन पर्याप्त स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं, और निश्चित पावन्दियो के अभाव मे वे राजकीय शक्ति का दुरुपयोग भी कर सकते हैं। इसी कारण यह भी कहा जाता है कि परिवर्तनशील सविधान लोकतन्त्र के उपयुक्त न हो कुलीनतन्त्र के लिए अधिक उपयुक्त होता है। जनसाधारण लिखित और स्पष्ट कानूनो मे अधिक यकीन करते हैं वजाये अलिखित और अनिश्चित रस्मो-रिवाज के।

अपरिवर्तनशील संविधान के गुण-दोष—अपरिवर्तनशील या कठोर सविधान की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम अपरिवर्तनशील सविधान प्राय लिखित होते हैं। उनकी धाराओ को पर्याप्त विचार-विनिमय के अनन्तर सविधान का हिस्सा वनाया जाता है, यही नही, एक राजकीय लेख-पत्र होने के कारण उसमे राज्य की सम्पूर्ण शक्ति की विस्तृत व्याख्या होती है; सरकार की शासन-प्रणाली का स्वरूप निश्चित कर दिया जाता है, विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कर्तव्यो की, उनके पारस्परिक सम्वन्धो की निश्चित विवेचना रहती है। इस प्रकार अपरि-वर्तनशील सविधान निश्चित, स्पष्ट और विस्तृत होता है। उसमे राजकीय शक्तियो के पारस्परिक सम्वन्धो के विषय मे किसी किस्म के सन्देह या शक की गुजाइश नही रहती।

अपरिवर्तनशील सविधान केवल राजकीय शक्तियो की व्याख्या मात्र ही नही। वह सरकार की शक्तियो पर पाबन्दियाँ भी लगाता है, उसे अनिश्चित और असीम अधिकार नही सौंपता। साथ ही जनसाधारण के आधारभूत अधिकारो की व्यवस्था भी कर दी जाती है। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत के सविधान जहाँ सरकार की विभिन्न शक्तियो को निर्धारित करते हैं, वहाँ वे जनसाधारण के अधिकारो की व्यवस्था भी कर देते हैं। साथ ही सर्वोच्च सघीय न्यायालय को यह अधिकार सौंप देते हैं कि वे कार्यपालिका द्वारा इन अधिकारो का पूरा-पूरा पालन करवायें। सुप्रीम कोर्ट यह भी देखती है कि राज्य विधानपालिकाएँ ऐसे कानून न बनायें जो कि जनसामान्य के अधिकारो पर पाबन्दी लगाते हो। कुछ राज्यो मे अवश्य अधिकारो की व्यवस्था की देख-रेख सघीय कार्यपालिका के हाथ मे रहती है— जैसा कि सोवियत रूस मे है। ऐसी अवस्था मे मूलभूत अधिकारो का पालन अत्यन्त कठिन हो जाता है। जहाँ सविधान को सुगमता से बदला जा सकता है वहाँ जनसामान्य के अधिकारो की कोई सुरक्षा नही होती, न ही राज्य शक्ति पर नियन्त्रण की कोई विशद व्यवस्था रहती है।

कठोर सविधान के परिवर्तन की प्रक्रिया कठिन होती है, फलत क्षणिक लोकोत्तेजना के परिणामस्वरूप उसे एकदम नही बदला जा सकता। लचीला सविधान बहुमत की इच्छानुसार बदला जा सकता है, अत उसके अन्तर्गत अल्पमत पर अत्याचार किए जा सकते है। लार्ड ब्राइस का कथन है कि **"उत्तेजना से उत्पन्न क्षणस्थायी प्रवृत्ति से कुछ नियमो को ऊपर रखना इस बात का द्योतक है कि बहुमत सदा सत्य या सही नहीं होते और आवेश के समय उन्हें अपने ही द्वारा शान्त-चित्त से बनाए हुए असूलों का पालन करने के लिए मजबूर होकर अपने से ही रक्षा पाने की जरूरत है।"** भावात्मक आवेश मे अनेक अनावश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं, जिनके लिए निश्चय ही जन-नेताओ को शान्त स्थिति मे पछताना पडता है।

सघीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत सविधान का लिखित और कठोर होना आवश्यक समझा जाता है। सघीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राज्यो मे और केन्द्रीय सरकार मे शक्तियो का विभाजन रहता है, दोनो प्रकार की सरकारें अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र और स्वाधीन होती हैं। इस अवस्था मे उनके आपसी झगडो के निपटारे के लिए लिखित और स्पष्ट अधिकार विभाजन तो आवश्यक है ही, साथ ही ऐसे निष्पक्ष अधिकारी वर्ग की स्थापना भी आवश्यक है जो कि सविधान की उचित व्याख्या कर सके।

एक लिखित तथा कठोर सविधान जनता के लिए पवित्र कानून की भाँति होता है, वह उनके विश्वासो का केन्द्र होता है, ऐसी अवस्था मे उनका पालन स्वेच्छापूर्वक होता है और वह स्थायी भी होता है।

अपरिवर्तनशील सविधान के दोष—कठोर सविधानो के जो गुण हैं, वही उनकी कमजोरियाँ भी बन जाती हैं। इसमे सन्देह नही कि अपरिवर्तनशील सविधान स्पष्ट और निश्चित होते है, फिर भी उनमे दोषो की सर्वथा अनुपस्थिति हो, यह

नहीं कहा जा सकता। अपरिवर्तनशील संविधानों की अपरिवर्तनशीलता या कठोरता ही उनका सबसे बड़ा दोष है। सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन तो आवश्यक है, परन्तु जहाँ राष्ट्रीय जीवन विकसित होते रहते हैं, वहाँ संविधान यथावत रहते हैं। संविधान की अनावश्यक कठोरता तथा अपरिवर्तनशीलता क्रान्तियों का कारण बन जाती है।

कठोर संविधान किसी विशेष अवसर या काल की उपज होते हैं और वे तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का फल होते हैं। अत सभी कालों के लिए सत्य नहीं हो सकते, उनमें परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। परन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया के कठिन होने के कारण ऐसा नहीं हो पाता। इस प्रकार उसमें विकास-शीलता का अभाव रहता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान में परिवर्तन के लिए एक निश्चित प्रक्रिया का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रक्रिया द्वारा संयुक्त राज्य के छोटे-छोटे कम संख्या वाले राज्य किसी भी संवैधानिक कानून के संशोधन को रद्द कर सकते हैं। किसी संवैधानिक संशोधन को स्वीकृत करने के लिए तीन-चौथाई राज्यों का सहमत होना आवश्यक है, इसका अर्थ है कि यदि ३७ राज्यों के विरुद्ध १३ राज्य संशोधन का विरोध करें तो संशोधन रद्द हो जायगा।

अमेरिकन सुप्रीम कोर्ट संविधान की व्याख्या के लिए जिम्मेदार है। उसे यह भी अधिकार है कि संघीय या राज्य विधानपालिकाओं द्वारा पास किए गए एक्टों को गैरकानूनी करार दे दे, अगर उसके मतानुसार वे संविधान के विरुद्ध हों। यह व्यवस्था संतोषजनक नहीं समझी जाती, क्योंकि प्रथम तो न्यायाधीश अपने विचारों के अनुसार संविधान की व्याख्या करेंगे, संविधान की व्याख्या का कोई सर्वसम्मत असूल तो है ही नहीं। वे अगर दकियानूसी और तंग विचारों के होते हैं, तो वे ऐसे विधेयों को जो कि प्रगतिशील व्यवस्था की स्थापना करते हैं, स्वीकार नहीं करेंगे और संविधान की व्याख्या इस प्रकार करेंगे कि वह एक अप्रगतिशीलता की मजबूत दीवार बन जायगा। दूसरे, यह व्यवस्था लोकतन्त्रात्मक भी नहीं। जजों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं होती, वे कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। परन्तु उन्हें ऐसे मामलों पर अपने विचार प्रकट करने होते हैं, जो जनसामान्य के हित से सम्बन्धित होते हैं और जिनका उचित निर्णय विधानपालिका द्वारा ही होना चाहिए। विधानपालिका जनसामान्य का प्रतिनिधित्व करती है, अत वह यदि जनता की इच्छानुसार ऐसे बिलों को पास करे जिन्हें कि बाद में अप्रजातान्त्रिक आधार पर आधारित सुप्रीम कोर्ट रद्द कर दे तो वह सर्वथा अनुचित होगा। जनभावनाओं का नेतृत्व तो विधानपालिका करती है, न्यायालय नहीं। फिर न्यायालय के निर्णय पक्षपात विहीन नहीं होते, वे पूर्ण तरह से वैधानिक भी नहीं होते अपितु राजनीतिक होते हैं। अत ऐसी व्यवस्था प्रजातन्त्र और लोकसम्मत प्रभुता के सर्वथा उलट होती है, और न्याया-धीशों के अधिनायकतन्त्र को स्थापित करती है।

अगर संविधानों की व्याख्या का अधिकार कार्यपालिका को ही दे दिया जाय—

जैसा कि फ्रास या रूस मे है, तो सविधान की न्यायसम्मत व्याख्या असम्भव होगी। कार्यपालिका पूरी तरह से राजनीतिक सगठन है। उसका काम कानून का पालन करवाना है, उसकी व्याख्या करना नही। लिखित सविधान आवश्यक नही, प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्रता की सुरक्षा की गारण्टी हो। जर्मनी मे हिटलर ने लिखित सविधान की उपस्थिति मे भी सम्पूर्ण नागरिक अधिकारो को खतम कर दिया था।

निष्कर्ष—सविधानो के विविध प्रकारो के गुणावगुण का विवेचन ता हमने ऊपर कर दिया है। परन्तु आज हमे अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि राज्यो की प्रवृत्ति लिखित तथा अपरिवर्तनशील सविधानो की व्यवस्था की ओर है। शासन सम्बन्धी सिद्धान्तो का रस्मो-रिवाज पर आश्रित रहना किसी प्रकार भी उचित नही समझा जा सकता। केवल इग्लैण्ड ही एक ऐसा राज्य है जहाँ सविधान अलिखित तथा परिवर्तनशील है, वहाँ भी धीरे-धीरे राज्य व्यवस्था के पुराने परम्परागत सिद्धान्तो को लेखबद्ध किया जा रहा है। सर्वप्रथम सयुक्त राज्य अमेरिका मे लिखित तथा अपरिवर्तनशील सविधान को स्वीकार किया गया था, उसके बाद उसी के आदर्श का अनुसरण करते हुए लेटिन अमेरिकन देश, पश्चिमी यूरोप के राज्य तथा एशिया मे भारत, बर्मा, चीन इत्यादि राज्यो ने भी लिखित सविधानो को अपना लिया है। इन देशो मे सविधान-व्यवस्था मे परिवर्तन करने का तरीका उतना कठोर नही, जितना कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे है। राज्यो मे साधारण कानून तथा सवैधानिक कानून मे विभेद करने की प्रवृत्ति जरूर है, परन्तु इसके साथ ही सवैधानिक कानून के परिवर्तन की व्यवस्था अपेक्षाकृत सरल तथा सुगम है।

सविधान को लिखित तथा अपरिवर्तनशील रूप देने के अनेक कारण हैं। सर्व प्रथम तो सर्वत्र जनसाधारण के मौलिक अधिकारो की सुरक्षा के लिए लिखित आश्वासनो की उपस्थिति आवश्यक समझी जाती है। लिखित सविधान जहाँ जनसाधारण के अधिकारो को निश्चित करते हैं, वहाँ वे सरकार की शक्तियो पर भी पाबन्दियाँ लगा देते हैं। फिर आज के प्रजातान्त्रिक राज्यो मे जनता राज्य शक्तियो की समुचित व्यवस्था, राज्याधिकारियो के कर्त्तव्यो की स्पष्ट गणना और शासन के अन्य आवश्यक सिद्धान्तो को स्पष्ट तथा लिखित रूप मे देखना पसन्द करती है। सघीय शासन-व्यवस्था के लिए तो लिखित सविधान एक परम आवश्यक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया जाता है। नवीन राज्यो के प्रादुर्भाव के साथ लिखित सविधानो की व्यवस्था का प्रचलन भी बढता जाता है। वर्तमान युग मे राज्य कार्यों की वृद्धि के फलस्वरूप और शासकीय व्यवस्था के जटिल हो जाने के कारण राज्य के आधारभूत सिद्धान्तो का लिखित होना प्रजातन्त्र की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

८६ सविधान के आवश्यक अग

एक अच्छे सविधान मे कुछ निश्चित तत्त्वो का होना आवश्यक है। इन तत्त्वो को निम्न प्रकार से रख सकते हैं—

(१) **शासन व्यवस्था**—सविधान का मुख्य कार्य राजनीतिक व्यवस्था के मूलभूत

सिद्धान्तो तथा शासकीय ढाँचे को प्रस्तुत करना है। जहाँ कहीं संघीय शासन-व्यवस्था होती है वहाँ संविधान केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों में शक्ति-विभाजन के अतिरिक्त उनके पारस्परिक सम्बन्धो की व्यवस्था भी करना है। उनके अतिरिक्त विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायालय की शक्तियों और कर्तव्यों का विवेचन भी होना चाहिए। इस प्रकार वस्तुत. एक अच्छे संविधान को शासन की सम्पूर्ण व्यवस्था का विस्तृत विवरण देना चाहिए।

१८७५ मे तैयार किए गए फ्रेंच संविधान मे, मंत्री-परिषद् के चुनाव, उनके उत्तरदायित्व तथा न्यायालय के संगठन इत्यादि के विषय में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। संविधान को इतना विस्तृत होना चाहिए कि वह सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था को निश्चित रूप से प्रस्तुत कर सके।

(२) **नागरिको के मूलभूत अधिकार**—आजकल संविधान मे नागरिकों के मूलभूत अधिकारो की घोषणा भी रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रान्स मे सर्वप्रथम नागरिक अधिकारो के घोषणापत्रों को संविधान के आधारभूत अंगों के रूप स्वीकार किया गया। बाद मे प्राय सभी पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों मे, जहाँ कहीं भी लिखित संविधानो को अपनाया गया, नागरिको के मूलभूत अधिकारों की व्यवस्था की गई। संयुक्त राज्य अमेरिका मे अपनाये गए नागरिकों के मूलभूत अधिकार लॉक के प्रकृत अधिकारो के सिद्धान्त से प्रभावित थे। उनमे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समानता पर अधिक बल दिया गया था। आज के संविधान मे राजनीतिक तथा नागरिक अधिकारों के अतिरिक्त आर्थिक अधिकारो की व्यवस्था की जाती है। सोवियत रूस मे वैयक्तिक तथा राजनीतिक अधिकारो की अपेक्षा आर्थिक अधिकारों की व्यवस्था पर अधिक बल दिया गया है। इन मूलभूत अधिकारो की विवेचना संविधान मे इसलिए आवश्यक है ताकि कोई भी सरकार उनको खत्म न कर सके और जब कभी उनका अतिक्रमण किया जाय तो न्यायालय सरकार के या अन्य किसी संस्था अथवा व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही कर सके।

संविधानो मे आजकल प्राय निम्नलिखित अधिकारो की व्यवस्था रहती है—(क) सब नागरिको की समता, (ख) धर्म की स्वतन्त्रता, (ग) सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार, (घ) भाषण तथा लेख द्वारा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता (ङ) अल्पसंख्यक समुदायों के अधिकारो की रक्षा, (च) विश्राम का अधिकार, (छ) निःशुल्क शिक्षा का अधिकार, (ज) पारिश्रमिक सहित नौकरी का अधिकार इत्यादि।

(३) **संविधान मे परिवर्तन**—अपरिवर्तनशील संविधान का अर्थ वस्तुत कठोर संविधान है, वह सर्वथा अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। समय तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन तो अनिवार्य है। अत. प्रत्येक संविधान मे परिवर्तन की एक विशेष प्रक्रिया को भी निश्चित कर दिया जाता है। परिवर्तन की प्रक्रिया की कठोरता पर ही संविधान की कठोरता आश्रित है।

संयुक्तराज्य अमेरिका, स्विट्ज़रलैण्ड तथा भारत के संविधानों में निर्दिष्ट परिवर्तन-प्रक्रिया (Methods of amendment) का विवेचन हम नीचे कर

आये है।

बर्गेस (Burgess) ने सविधान के उपर्युक्त तीनो भागो को क्रमश शासन का सविधान (Constitution of the Government), स्वतन्त्रता का सविधान (Constitution of Liberty), तथा प्रभुता का सविधान (Constitution of Sovereignty) कहा है।

गेटल के मतानुसार प्रत्येक सविधान मे कुछ विशिष्ट गुणो का होना आवश्यक है। ये गुण इस प्रकार है—

(क) **सुनिश्चितता** (Definiteness) लिखित सविधान का आवश्यक गुण है। अत उसकी भाषा स्पष्ट होनी चाहिए ताकि सन्देह तथा भ्रम की गुजायश ही न रहे।

(ख) **पूर्णता** (Comprehensiveness) सुस्पष्टता के साथ-साथ पूर्णता भी सविधान का एक परम आवश्यक गुण है। सविधान को इतना व्यापक होना चाहिए कि सम्पूर्ण सरकारी क्षेत्र उसके अन्तर्गत आ जाय। सरकार के विभिन्न अगो के पारस्परिक सम्बन्धो की विवेचना के अतिरिक्त उनके कर्तव्यो का भी स्पष्ट विवेचन होना चाहिए।

(ग) **सक्षिप्तता** (Brevity) सविधान की व्यापकता का अर्थ यह नही कि वह अनावश्यक रूप से विस्तृत हो। सक्षिप्तता भी सविधान का एक परम आवश्यक गुण है। अनावश्यक बातो का वर्णन सविधानो की महत्ता को कम कर देता है, क्योकि उसके अनावश्यक अग व्यवहार मे नही आते और शीघ्र ही ये सविधान पर बोझ बन जाते है जिनका उल्लघन होने लग जाता है। विस्तृत सविधान परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार शीघ्रतापूर्वक बदला भी नही जा सकता।

(४) **सविधान परिवर्तन का मध्य मार्ग**—सविधान के परिवर्तन का कानूनी प्रबन्ध होना चाहिए, यह हम पीछे ही देख आये है। ऐसा न होने पर क्रान्ति की सम्भावना रहती है। सविधान परिवर्तन का तरीका बहुत उलझा हुआ और कठोर नही होना चाहिए, साथ ही वह अत्यन्त सरल भी न हो ताकि उसे बिना किसी कठिनाई के बदला जा सके। अधिक कठोर सविधान जनसामान्य की आवश्यकताओ के अनुरूप जब बदल नही पाते तो उनका या तो उल्लघन होता है अथवा उनको हिंसात्मक तरीको से बदलने की कोशिश की जाती है। अत सविधान सशोधन का तरीका न तो सयुक्त राज्य अमेरिका जैसा कठोर ही होना चाहिए और न इग्लैण्ड जैसा सरल। आजकल प्राय मध्य मार्ग को चुना जाता है। जिस प्रकार भारत का सविधान जहाँ कुछ अशो मे कठोर है, वहाँ कुछ अशो मे लचीला भी है।

९० सविधान का प्रसार एवं विकास

मानवीय जीवन की तरह मानवीय सस्थाएँ भी विकासशील है। सविधान विकासशील मानवीय जीवन की भाँति बढता, फलता-फूलता और विकसित होता है। सवैधानिक कानून के प्रसार एव विकास के दो साधन है—(१) औपचारिक

(Formal), और (२) अनौपचारिक (Informal)। औपचारिक साधन के अन्तर्गत सविधान सशोधन का कानूनी प्रकार रहता है, और अनौपचारिक साधनो के अन्तर्गत रस्मो-रिवाज तथा न्याय-निर्णय आते हैं।

(१) औपचारिक साधन—सविधान द्वारा निर्धारित, संविधान परिवर्तन की कानूनी प्रक्रिया सविधान सशोधन का सर्वप्रमुख ढग है। प्रायः प्रत्येक लिखित सविधान मे सविधान-परिवर्तन की प्रक्रिया का जिक्र रहता है। इस व्यवस्था की अनुपस्थिति मे सविधान सर्वथा अपरिवर्तनशील हो जायगा और उसका परिवर्तन हिंसात्मक तथा गैरकानूनी साधनो द्वारा होगा। अत सदा ऐसी व्यवस्था रहती है कि परिवर्तित होते हुए समाज के नैतिक मूल्यो के अनुरूप सविधान को बदला जा सके।

(२) अनौपचारिक साधन—इसके अन्तर्गत रस्मो-रिवाज तथा न्याय-निर्णय आते है। इग्लैण्ड जैसे राज्य मे तो अधिकाशत सविधान रस्मो-रिवाज तथा निर्णयो पर ही आश्रित है और सामाजिक परिस्थितियो के परिवर्तन के अनुसार उनमे खुदबखुद परिवर्तन होते रहते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका मे सविधान लिखित है परन्तु उसका प्रसार और विकास अनेक अलिखित रस्मो-रिवाज तथा न्याय-निर्णयो द्वारा हुआ हैं। अमेरिकन राष्ट्रपति का मन्त्रिमण्डल, उसके प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था, राजनीतिक पार्टियो का सगठन इत्यादि अनेक व्यवस्थाओ का आधार सवैधानिक रस्मो-रिवाज है।

सविधान की विभिन्न धाराओ की व्याख्या जज लोग करते हैं। अनेक स्थान पर भाषा के अस्पष्ट होने पर विभिन्न धाराओ की स्पष्ट व्याख्या के लिए सर्वोच्च न्यायालयो की शरण लेनी पडती है, और इस विषय मे दिये गये उनके फैसले को अन्तिम फैसला माना जाता है। अनेक बार जज लोग सविधान की इस प्रकार व्याख्या करते है कि वे उसके रूप को या उसकी अन्तर्निहित भावना को ही बदल देते है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक बार सविधान की व्याख्या इस प्रकार की है कि सविधान का अनेक स्थानो पर रूप ही बदल दिया गया है।

इस प्रकार सविधान का विकास और प्रसार सदा औपचारिक तथा अनौपचारिक साधनो द्वारा होता रहता है।

सविधान को धर्म के नियमो की भाँति पवित्र समझना सर्वथा गलत है। राजनीतिक नियम समाज की आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियो के अनुरूप होते हैं उन्हे ईश्वरादेश समझ सदा सत्य-सनातन तथा अपरिवर्तनशील मानना अप्रगतिशीलता और अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का फल है। सविधान मे कठोरता तथा लचीलापन (Flexibility) का उचित मात्रा मे सम्मिश्रण रहना चाहिए और उसका परिवर्तन यथासम्भव जन-सहमति पर आधारित होना चाहिए। तभी सवैधानिक कानून स्थिर तथा सर्वप्रिय हो सकते हैं।

९२ राज्य तथा शासन का भेद

राज्यो का वर्गीकरण राज्य तथा शासन मे अन्तर न किये जाने के कारण किया जाता है। राज्य अपनी प्रकृति मे सर्वत्र समान हैं, उनके आधारभूत तत्त्वो मे अन्तर नही हो सकता। हां, वे अपने आन्तरिक सगठन तथा शासकीय शक्तियो के विभाजन मे एक दूसरे से भिन्न होते हैं और इसी आधार पर उनमे भेद सम्भव है। दूसरे शब्दो मे हमे यह कहना चाहिए कि सरकारो की प्रकृति मे अन्तर हो सकता है, अत उनका वर्गीकरण तो सम्भव है, राज्यो का नही। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, राज्य (State) तथा सरकार (Government) मे अन्तर है। सरकार राज्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक भाग है। परन्तु जिस प्रकार हम मस्तिष्क को शरीर नही कह सकते उसी प्रकार सरकार को राज्य नही कहा जा सकता। सरकार तो राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है। राज्यो के पारस्परिक भेद का आधार वस्तुत सरकार का सगठन ही है। अत बहुत से राजनीतिक विचारको की यह धारणा है कि 'राज्यो का वर्गीकरण' नाम की कोई चीज नही, क्योकि वे अपने मूल तत्त्वो मे समान हैं। शासन-सगठन मे भेद सम्भव है, अत सरकारो का वर्गीकरण होना चाहिए, राज्यो का नही।

९३ सरकारों का वर्गीकरण

बहुत प्राचीन काल से ही सरकारो का वर्गीकरण विभिन्न आधारो पर किया गया है। सरकारो का सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध वर्गीकरण अरस्तू का माना जाता है। परन्तु अरस्तू की एतद्विषयक धारणा अपनी नही थी। उसने प्लेटो, और प्लेटो ने भी अपने गुरु सुकरात (Socrates) से इसको ग्रहण किया। अत अरस्तु के सरकारो के वर्गीकरण के अध्ययन से पहले हमे प्लेटो की एतद्विषहक धारणा का सरकारी नजर से अध्ययन कर लेना चाहिए।

प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' तथा 'स्टेट्समैन' मे दो विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण किये हैं। परन्तु जहाँ 'रिपब्लिक' मे उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी और अयथार्थ था, वहाँ 'स्टेट्समैन' मे ऐसा नही रहा। 'स्टेट्समैन मे उसने कानून के महत्त्व को स्वीकार किया है। उसका विचार था कि कानून के बिना शासन सम्भव नही। कानून अच्छे और बुरे दोनो ही होते हैं, अत उनकी नैतिक परीक्षा होनी चाहिए। उनके मतानुसार राज्य कानून-सम्मत और कानून-विरुद्ध दो प्रकार के हो सकते हैं। उस द्वारा किया गया वर्गीकरण इस प्रकार है—

कानून-सम्मत शासन	कानून-विरुद्ध शासन
(१) राजतन्त्र (Monarchy) मे राज्य-सत्ता केवल एक ही व्यक्ति के हाथ मे रहती है, और वह राज्य-सत्ता का प्रयोग प्रजा के हित मे करता है।	(१) निरकुशतन्त्र (Tyranny) मे राज्य-सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ मे रहती है, किन्तु वह उसका प्रयोग प्रजा की भलाई के लिए नही करता।

(२) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) मे राज्य-सत्ता का नियन्त्रण एक वर्ग के हाथ मे रहता है और वह उसका प्रयोग जन-साधारण के हित मे करता है।

(२) वर्ग राज्य (Oligarchy) मे राज्य-सत्ता का नियन्त्रण एक वर्ग के हाथ मे रहता है परन्तु वह उसका प्रयोग जन-हित मे नही करता।

(३) सहिष्णु प्रजातन्त्र (Democracy) मे राज्य-सत्ता का प्रयोग प्रजा द्वारा सोच-समझकर प्रजा के हित के लिए किया जाता है।

(३) समूहतन्त्र (Mobocracy) मे राज्य-सत्ता नासमझ जनता के हाथ मे रहती है और वह उसका प्रयोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए करती है।

प्लेटो ने राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था माना है, और प्रजातन्त्र को सबसे गिरी हुई।

९४. अरस्तू द्वारा किया गया राज्य का वर्गीकरण (Aristotle's classification of State)

अरस्तू ने प्लेटो का अनुसरण किया और उसने सरकार का वर्गीकरण प्लेटो द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित दो नियमो के आधार पर किया—

(१) राज्य-प्रभुता (State sovereignty) कितने व्यक्तियो मे निहित है।

(२) राज्य का उद्देश्य क्या है ?

अरस्तू ने उद्देश्य-सिद्धि की दृष्टि मे राज्य के दो प्रकार माने है—स्वाभाविक रूप (Normal Form) तथा विकृत रूप (Perverted form), जब राज्य शक्ति का प्रयोग जनसाधारण के हित मे किया जाता है तो वह राज्य का स्वाभाविक रूप कहलाता है और जब उसका दुरुपयोग किया जाता है तो वह विकृत रूप कहलाता है। उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर अरस्तू के अनुसार राज्यो का वर्गीकरण इस प्रकार है—

प्रभुता के धारण करने वाले अधिकारियों की संख्या	शासन का स्वाभाविक रूप (Normal form of State) जहाँ सरकार का संचालन जन-हित मे होता है।	शासन का विकृत रूप (Perverted form of State) जहाँ राज्य-शक्ति का दुरुपयोग होता है।
१. जहाँ प्रभुता का अधिकारी एक व्यक्ति हो।	राजतन्त्र (Monarchy)	निरकुश राज्य (Tyranny)
२. जहाँ प्रभुता थोड़े से व्यक्तियो के हाथ मे हो।	कुलीनतन्त्र (Aristocracy	वर्गराज्य (Oligarchy)
३. जहाँ प्रभुता अनेक व्यक्तियों के हाथ मे हो।	सर्वधानिकतन्त्र (Polity)	जनतन्त्र (Democracy)

इस प्रकार, अरस्तू ने प्लेटो के नीतिसम्मत नियम का अनुसरण करते हुए राज्यो को अच्छे तथा बुरे वर्गो मे बांटा है।

राज्यो का परिवर्तन-चक्र—प्लेटो की तरह अरस्तू का यह विचार था कि राज्यो की प्रकृति मे चक्रगत (Cyclical) परिवर्तन होता है। जिस प्रकार ऋतुक्रम चलता है और एक के बाद दूसरी ऋतु स्वाभाविक रूप मे आती-जाती रहती है, ठीक वैसे ही राज्यो का परिवर्तन-क्रम चलता है। अरस्तू के मतानुसार राज्य का सर्वप्रथम रूप राजतन्त्र (Monarchy) था। परन्तु जब राजा लोग लोक-कल्याण की अपेक्षा स्वार्थ-साधन को ही राज्य-शासन का उद्देश्य मान बैठे तो राजतन्त्र निरकुश राज्य (Tyranny) के रूप मे बदल गया। परन्तु धीरे-धीरे निरकुश राज्य के दिन भी खत्म हो गये और कुछेक प्रतिभासम्पन्न गुणी लोगो ने मिलकर सामान्य जन-हित के लिए निरकुश शासन को खत्म कर, नयी शासन-व्यवस्था की स्थापना की, जिसे कुलीनतन्त्र (Aristocracy) कहा गया। परन्तु कुलीनतन्त्र मे भी दोष उत्पन्न हो गये। शासकवर्ग जनहित की बजाय वर्गगत स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए ही प्रयत्न करने लगे। फलत शासन का स्वरूप बदलकर वर्गतन्त्र (Oligarchy) हो गया। इस दोषपूर्ण शासन-व्यवस्था के प्रति जनसामान्य ने विद्रोह किया और उन्होंने मिलकर सवैधानिक जनतन्त्र (Polity) की स्थापना की। सवैधानिक जनतन्त्र के अन्तर्गत राज्य-शक्ति का प्रयोग जनसामान्य द्वारा जनसाधारण के हित के लिए किया जाता था। परन्तु सवैधानिक जनतन्त्र भी अपने विशुद्ध रूप मे स्थिर न रह सका, वह विशुद्ध जनतन्त्र (Democracy) हो गया। विशुद्ध जनतन्त्र से अरस्तू का मतलब जन-समूह का राज्य है, जिसमे वैधानिकता तथा लोक-हित की भावना का अभाव होता है। अरस्तू के मतानुसार जनतन्त्र का भी विलोप हो जाता है और उसका स्थान पुन राजतन्त्र ले लेता है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार राज्यो का चक्रवत परिवर्तन होता रहता है।

अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने भी लगभग इसी प्रकार राज्य-परिवर्तन-क्रम को प्रस्तुत किया है। परन्तु अरस्तू की अपेक्षा प्लेटो का परिवर्तन-क्रम यथार्थ कम और सैद्धान्तिक अधिक है। पुराने यूनान के नगर-राज्यो के प्रकृति-परिवर्तन मे अरस्तू के सिद्धान्त को काफी सीमा तक लागू किया जा सकता है, परन्तु प्लेटो का नही लागू हो सकता।

अरस्तू के राज्य-वर्गीकरण की विशेषता—राज्यो के अरस्तू द्वारा किये गये वर्गीकरण को उसके बाद मे आने वाले प्राय सभी राजनीति-विचारको ने अपनाया। आज भी किसी न किसी रूप मे राज्य-वर्गीकरण का आधार अरस्तू की एतद्विषयक धारणा को ही माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो इसका पर्याप्त मूल्य है।

अरस्तू प्लेटो की तरह प्रजातन्त्र को शासन का निकृष्ट स्वरूप समझता है। उसके विचारो से ऐसा पता चलता है कि उसे जनसामान्य मे विश्वास नही। हाँ, राजतन्त्र इत्यादि की अपेक्षा वह सवैधानिक जनतन्त्र (Polity) को—जिसका उदाहरण आज का ब्रिटिश राज्य हो सकता है—सर्वश्रेष्ठ शासन स्वरूप समझता है। सवैधानिक

जनतन्त्र (Polity) मे वह मध्य मार्ग का अनुसरण करता है।

अरस्तू कुलीनतन्त्र (Aristocracy) तथा वर्गतन्त्र (Oligarchy) मे भेद करता है, परन्तु आज दोनो को लगभग एक ही समझा जाता है, और उनमे भेद नही किया जाता।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना—(१) अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए डा० गार्नर ने इस बात पर बल दिया है कि अरस्तू राज्य और सरकार मे भेद नही कर पाता, फलत उस द्वारा किया गया वर्गीकरण राज्यो का वर्गीकरण है जबकि वह सरकारो का होना चाहिए। परन्तु राज्य तथा सरकार का भेद वर्तमान युग की देन है, पुराने जमाने मे ऐसा नही होता था। अरस्तू का राज्य तथा सरकार का एकीकरण कोई असगत बात नही थी।

बर्गेस (Burgess) के मतानुसार अरस्तू का राज्यो को राजतन्त्र, कुलीन-तन्त्र तथा प्रजातन्त्र के रूप मे बांटना उचित है। उसका कथन है कि राजतन्त्र, कुलीन-तन्त्र तथा प्रजातन्त्र राज्य के रूप हैं, सरकारो के नही। वे एक व्यक्ति, एक वर्ग या बहुसख्या का शासन नही अपितु उनकी प्रभुता (Sovereignty) है। यह कहा जाता है कि अगर हम अरस्तू के वर्गीकरण के अन्तर्गत इस्तेमाल किए गए सरकार (Government) तथा शासन (Rule) के स्थान पर 'राज्य' तथा 'प्रभुता' शब्द का प्रयोग करें, तो यह वर्गीकरण आधुनिक राज्यो पर भी लागू हो सकता है।

(२) अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना एक अन्य आधार पर भी की जाती है। यह कहा जाता है कि अरस्तू ने अपने वर्गीकरण मे शासको की सख्या को अधिक महत्त्व दिया है, और राज्यो के आधारभूत भेदो की ओर ध्यान नही दिया। उसके वर्गीकरण का आधार संख्या है, गुण या आध्यात्मिक तथा नैतिक तत्त्व नही। इस बात का तो अधिक महत्त्व नही कि राज्य-शक्ति का उपयोग कितने व्यक्ति करते है, महत्त्व तो इस बात का है कि इस शक्ति का प्रयोग किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र मे भेद शासको की सख्या के आधार पर किया जाता है, इसी तरह प्रजातन्त्र का दूसरी प्रकार की सरकारो से भेद यदि किया जाता है, तो वह भी सख्या के आधार पर ही। परन्तु इस विभेद का आधार ऊपरी है, आन्तरिक नही।

उपर्युक्त आलोचना ठीक नही समझी जाती। हम ऊपर ही देख चुके है कि अरस्तू प्लेटो तथा सुकरात का अनुगामी है, वह नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वो की अवहेलना किसी भी प्रकार नही कर सकता। राज्य-वर्गीकरण के दो आधार है, एक शासको की सख्या और दूसरा गुणात्मक भेद। गुणात्मक नियम के आधार पर ही वह शासन के स्वाभाविक (Normal) तथा विकृत (Perverted) दो रूप मानता है। राज्य-शक्ति के प्रयोगकर्त्ताओ की सख्या के अतिरिक्त उस शक्ति के प्रयोग के सामान्य उद्देश्य का भी पर्याप्त महत्त्व है।

कॉन ने अरस्तू के वर्गीकरण को नैतिक तथा आध्यात्मिक माना है। उसका कथन है कि देश के शासको की सख्या से उस देश की राजनीतिक चेतना (Political

consciousness) का अन्दाजा लगाया जा सकता है। राजतन्त्र इस बात का द्योतक है कि राजनीतिक चेतना का विस्तार बहुत सीमित है, कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत इस चेतना का कुछ विस्तार हो जाता है जब कि सवैधानिक जनतन्त्र मे जनसाधारण राजनीतिक दृष्टि से जागरूक हो राज्य शासक को अपने नियन्त्रण मे ले आता है। अत बर्गेस के अनुसार यह भेद केवल सख्या का ही नही अपितु आधारभूत है।

(३) अरस्तू के द्वारा बतलाये गये राज्य-परिवर्तन क्रम को भी दोष-विहीन नही माना जाता। माना जा सकता है कि प्राचीन यूनान मे ऐसा परिवर्तन-क्रम रहा हो और अन्य देशो मे थोडे-बहुत हेर-फेर के साथ इस परिवर्तन-क्रम को लागू किया जा सकता हो, परन्तु वह सर्वथा दोषमुक्त हो यह नही कहा जा सकता। सभी देशो मे अरस्तू द्वारा वर्णित आधारो पर ही परिवर्तन नही हुए। रूस मे १९१७ की क्रान्ति से पूर्व निरकुश राजतन्त्र (Tyranny) था, जिसका स्थान बाद मे मजदूर वर्ग के अधिनायकतन्त्र (Dictatorship of Proletariat) ने ले लिया। इसी प्रकार जर्मनी, इटली तथा स्पेन इत्यादि राज्यो मे प्रजातन्त्र के स्थान पर तानाशाही (Dictatorship) की स्थापना की गई।

अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट परिवर्तन-क्रम के अन्तर्गत आधुनिक प्रकार की अनेक सरकारें नही आ सकती। आधुनिक सरकारें विशुद्ध रूप मे प्राप्त नही होतीं उनके अधिकाश प्रकार मिश्रित हैं।

(४) अरस्तू के उपर्युक्त राज्य-वर्गीकरण की मुख्य आलोचना तो इस आधार पर की जाती है कि वह आधुनिक राज्यो पर लागू नही हो सकती। **अरस्तू का ज्ञान केवल मात्र पुराने यूनान के नगर-राज्यों तक ही सीमित था, वह वर्तमान युग के विभिन्न प्रकार के राज्यों के विकास की कल्पना ही नहीं कर सकता था। अत वर्तमान युग के राज्यों को अरस्तू के वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना न केवल असगत होगा बल्कि बिलकुल फजूल भी।** सीली (Seeley) तथा लीकॉक (Leacock) ने उपर्युक्त आधार पर ही अरस्तू के राज्य-वर्गीकरण की आलोचना की है। आज की सरकारें मिश्रित रूप की हैं, उन्हे किसी भी प्रकार से विशुद्ध राजतन्त्र, प्रजातन्त्र या कुलीनतन्त्र नही कहा जा सकता। अफगानिस्तान तथा ग्रेट ब्रिटेन मे राजतन्त्र हैं, परन्तु दोनो राज्यो की राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में बहुत अन्तर है। ग्रेट ब्रिटेन के सम्राट् की स्थिति सवैधानिक है और उसके शासकीय अधिकार नाम मात्र के हैं जब कि अफगान बादशाह की ऐसी स्थिति नही। फिर पुराने समय के और वर्तमान युग के राजतन्त्रो मे बहुत अन्तर है।

सयुक्त राज्य अमेरिका, भारत तथा सोवियत रूस की शासन-व्यवस्थाओ मे, जहाँ कुछ समानताएँ हैं, वहाँ कुछेक ऐसे आधाभूतर भेद हैं कि उन्हें किसी भी प्रकार एक वर्ग के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। इन सभी राज्यो मे सघात्मक (Federal) शासन-व्यवस्था है, परन्तु जहाँ सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपतितन्त्र (Presidential) शासन-व्यवस्था है वहाँ भारत मे ससदीय (Parliamentary) । सोवियत रूस मे सैद्धान्तिक रूप से ससदीय शासन-व्यवस्था

है फिर भी अपनी वास्तविक प्रकृति मे वह सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत दोनो से ही विभिन्न है।

इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रान्स मे भी शासन सम्बन्धी समानताएँ है, क्योंकि दोनो मे एकात्मक (Unitary) तथा ससदीय (Parliamentary) शासन-व्यवस्थाएँ हैं, फिर भी दोनो ही अपनी वास्तविक प्रकृति मे एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं।

वस्तुत. आज का राजनीतिक जीवन बहुत जटिल है, उसकी उतनी सरल और सीधी व्याख्या सम्भव नही जितनी कि अरस्तू के समय मे थी। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र के विशुद्ध रूप नहीं मिल सकते, सभी एक-दूसरे के साथ मिश्रित हो चुके हैं, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन मे जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाएँ है, परन्तु दोनो ही जगह धनिक वर्ग तथा कुलीनो का इतना अधिक प्रभाव है कि अगर उन्हे कुलीनतन्त्र या वर्गतन्त्र (Class Rule) कह दें तो कोई गलत बात नहीं होगी। इसी प्रकार सघात्मक तथा ससदीय शासन-व्यवस्थाओ का मिश्रण रहता है।

अरस्तू ने प्रजातन्त्र शब्द का प्रयोग जिस अर्थ मे किया था आज हम उससे सर्वथा भिन्न अर्थ मे करते हैं। इसी प्रकार कुलीनतन्त्र और वर्गतन्त्र मे भी आज अन्तर नही किया जाता। इस तरह अरस्तू की राज्य वर्गीकरण सम्बन्धी व्यवस्था आज की विभिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्थाओ को गृहीत नहीं कर सकती।

अन्त मे हमे यह अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि इन सब कमियो के होते हुए भी अरस्तू का राज्य सम्बन्धी वर्गीकरण मध्यकाल मे और आज भी सरकारो के वर्गीकरण के आधार के रूप मे स्वीकार किया जाता है।

६५. अन्य वर्गीकरण

अरस्तू के वर्गीकरण को आधार रूप स्वीकार कर रोमन विचारक सिसरो तथा पोलीबस ने भी राज्यो का वर्गीकरण किया। उन्होने अरस्तू द्वारा निर्देशित राज्यो के विभिन्न परम्परागत वर्ग मानते हुए मिश्रित सरकार की अवस्थिति को स्वीकार किया। इटैलियन विचारक मैकियावली भी उपर्युक्त वर्गीकरण को ही स्वीकार करता है। फ्रेंच विचारक बोदाँ राज्य के परम्परागत वर्गीकरण को स्वीकार करता हुआ राजतन्त्र के तीन रूप मानता है। ये हैं अधिनायकतन्त्र (Despotism), राजतन्त्र (Royal Monarchy), तथा निरकुश राजतन्त्र (Tyranny) जहाँ शासक सम्पूर्ण राजकीय तथा प्राकृतिक विधानो का उल्लंघन करता है।

मॉन्तेस्क्यू का वर्गीकरण (Montesquieu's Classification)—आधुनिक युग के राजनीतिक विचारको मे मॉन्तेस्क्यू तथा रूसो सर्वप्रथम आते हैं। मॉन्तेस्क्यू का राज्य वर्गीकरण का सिद्धान्त बहुत सीधा-सादा है, उसका आधार प्राचीन वर्गीकरण ही है। मॉन्तेस्क्यू के मतानुसार सरकार के तीन भेद हैं—

(१) गणतन्त्रात्मक (Republican), (२) राजतन्त्रात्मक (Monarchical);

तथा (३) निरकुश (Despotic)।

गणतन्त्र के भी दो भेद हो सकते हैं—प्रजातन्त्रात्मक (Democratic) तथा कुलीनतन्त्रात्मक (Aristocratic)। इसी प्रकार निरकुश शासन भी दो तरह के हैं—पूर्वी तथा पश्चिमी।

गणतन्त्रात्मक शासन के अन्तर्गत राज्य की सम्पूर्ण सत्ता या तो सम्पूर्ण जनता मे मौजूद होती है या उसके किसी एक भाग मे। राजतन्त्र मे शासन-व्यवस्था का नियन्त्रण एक व्यक्ति के हाथ मे रहता है और वह स्थानीय परम्पराओ तथा व्यवस्थित कानूनो के अनुसार शासन चलाता है। निरकुश शासन के अन्तर्गत राज्य-व्यवस्था एक आदमी के हाथ मे रहती है और वह परम्परागत नियमो का अनुसरण किये विना अपनी इच्छानुसार शासन चलाता है।

रूसो (Rousseau) सरकारो का विभाजन राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के रूप मे करता है। उसने कुलीनतन्त्र के तीन उपविभाजन किये हैं—प्राकृतिक, निर्वाचित तथा वशानुगत (Hereditary) जिसमे वह निर्वाचित कुलीन-तन्त्र को सर्वश्रेष्ठ तथा वशानुगत को निकृष्टतम समझता था। रूसो ने मिश्रित सरकार की अवस्थिति को भी स्वीकार किया है।

ब्लशली का वर्गीकरण (Bluntschli's Classification)—आधुनिक काल के राजनीति-विशारदो द्वारा किये गए सरकारो के वर्गीकरण मे ब्लशली द्वारा किया गया वर्गीकरण भी विशेष प्रसिद्ध है। उसके वर्गीकरण का आधार अरस्तू का वर्गीकरण ही है। परन्तु उसने राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र के अतिरिक्त दैवतन्त्र (Theocracy) की मौजूदगी को भी स्वीकार किया है। दैवतन्त्र के दो रूप है—स्वाभाविक तथा विकृत। प्रथम रूप के अन्तर्गत तो राजकीय शक्ति का सचालन जनहित के लिए किया जाता है, जबकि दूसरी स्थिति मे केवल मात्र स्वार्थ-साधन के लिए।

दैवतन्त्र राज्य के नवीन रूप मे अन्य विचारको द्वारा भी स्वीकार किया गया है। दैवतन्त्र के अन्तर्गत राज्य-शक्ति का स्रोत स्वय ईश्वर को स्वीकार किया जाता है। इस मत के भी दो रूप हो सकते हैं, एक के अन्तर्गत तो राजा को ही ईश्वर माना गया और दूसरे के अन्तर्गत राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया। प्राचीन काल मे राजतन्त्र का समर्थन दोनो ही प्रकार के सिद्धान्तो द्वारा किया गया। ब्लश्ली के मतानुसार अबीसीनिया, प्राचीन मिश्र तथा ईरान मे दैवतन्त्र मौजूद था। प्राचीन मुस्लिम राज्यो को भी दैवतन्त्र के अन्तर्गत ही शामिल किया जाता है। वर्तमान काल मे इटली का पेपल राज्य तथा तिब्बत मे लामा राज्य दोनो ही दैवतन्त्र कहे जा सकते है। इटली के पेपल राज्य का स्वामी पोप है जो दूसरे देशो मे अपने प्रतिनिधि भेज सकता है। इसी प्रकार तिब्बत का दलाई लामा धर्मगुरु तथा राजा दोनो ही माना जाता रहा है।

परन्तु राज्यो का ऐसा वर्गीकरण उचित नही माना जाता है। दैवतन्त्र एक प्रकार का राजतन्त्र ही है।

ब्लशली राज्यो का एक अन्य वर्गीकरण भी करता है। इस वर्गीकरण के

अनुसार राज्य स्वतन्त्र, अर्द्धस्वतन्त्र तथा परतन्त्र मे विभाजित किये गये है। इसी प्रकार वह एक तीसरा वर्गीकरण भी करता है, जहाँ वह राज्यो के सभ्य राजतन्त्र (Civilised monarchies), कुलपतितन्त्र राज्य (Patriarchal kingships), सामन्तशाही राजतन्त्र (Feudal monarchies), सैन्यतन्त्र, निरकुश और वैधानिक एकतन्त्र इत्यादि भेद मानता है।

परन्तु ब्लशली का वर्गीकरण अपूर्ण और भ्रामक है। । एक तो वह कोई एक निश्चित वर्गीकरण नही कर पाया, दूसरे अरस्तू इत्यादि की तरह ब्लशली भी राज्य तथा सरकार मे भेद नही करता। फिर उसने कुछ इस प्रकार के राज्यो का उल्लेख भी किया है कि जिनकी कही अवस्थिति ही नही।

जेलिनेक का वर्गीकरण (Jellinek's Classification)—आधुनिक राजनीति-विशारदो मे जेलिनेक का प्रमुख स्थान है। उसने पूर्वकालीन राज्य वर्गीकरणों की समीक्षा कर उन्हे अपूर्ण ठहराया। उसने अपने राज्य वर्गीकरण का आधार, एक ऐसे नियम को बनाया जिसके अनुसार यह खोजा जा सके कि राज्य की इच्छा का निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है। अगर राज्य की इच्छा का निर्माण एक व्यक्ति द्वारा हो तो वह राज्य एकतन्त्र कहलाता है और अगर वह जनसमाज द्वारा निर्मित हो तो वह गणतन्त्र कहलायेगा। इस प्रकार जेलिनेक सम्पूर्ण राज्य समुदाय को दो सुनिश्चित वर्गो मे बाँट देता है—(१) एकतन्त्र (Monarchy) तथा गणतन्त्र (Republic)। एकतन्त्र राज्य मे प्रभुता एक व्यक्ति मे नही अपितु एक छोटे या बडे समुदाय मे मौजूद होती है।

जेलिनेक एकतन्त्र के अनेक भेद मानता है जो इस प्रकार है—

(१) दैवतन्त्र (Theocracy) के अन्तर्गत राजाओ को ईश्वरीय शक्तिसम्पन्न समझा जाता है या यह माना जाता है कि वे इस पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि है।

(२) वशक्रमानुगत राजतन्त्र (Patrimonial) मे राज्य शक्ति वशानुक्रम द्वारा एक से दूसरे व्यक्ति मे बदलती रहती है।

(३) निर्वाचित राजतन्त्र (Elective Monarchy) के अन्तर्गत राजा का चुनाव होता है।

(४) निरकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) मे राजा स्वेच्छापूर्वक शासन करता है।

(५) वैधानिक राजतन्त्र (Limited Monarchy) के अन्तर्गत राज्य शक्ति का सचालन निश्चित विधि-विधान द्वारा होता है।

इसी प्रकार जेलिनेक गणतन्त्र के भी अनेक रूप मानता है। वे रूप इस प्रकार है—

(१) प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य (Democratic Republic) मे राज्य की इच्छा का निर्माण जनता द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से होता है।

(२) कुलीनतन्त्रात्मक गणराज्य (Aristocratic Republic) मे राज्य

शक्ति का प्रयोग किसी भी एक विशिष्ट वर्ग द्वारा होता है।

इसी प्रकार उसने अल्पतन्त्र, धनिकतन्त्र इत्यादि गणराज्य के अन्य भेदो को भी माना है। गणराज्य की सबसे बडी विशेषता यही है कि इसमे प्रभुता का आश्रय स्थल एक व्यक्ति न हो सम्पूर्ण समाज या समाज का एक वर्ग होता है। परन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण गुणात्मक नही, सख्यात्मक है। दूसरा वह आधुनिक प्रकार की अनेक शासन-प्रणालियो पर लागू नही किया जा सकता।

जेलिनेक की भाँति वॉन मोहल (Von Mohl), वेज (Waitz) तथा बर्गेस (Burgess) इत्यादि राजनीति-विशारदो ने भी राज्य वर्गीकरण के अनेक प्रयत्न किये हैं। परन्तु यह सन्तोषजनक नही क्योंकि उन्हे वर्तमान राज्य पर लागू कर सकना कठिन है।

६६. आधुनिक राज्यो का वर्गीकरण (Classification of Modern States)

अंग्रेजी विद्वान **सर जे० ए० आर० मेरियट** (Sir J A R Marriot) ने आधुनिक राज्यो का वर्गीकरण वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक ढग से किया है। वह अरस्तू के वर्गीकरण को आधारभूत मानता हुआ भी उसे आधुनिक राज्यो मे प्राप्य भेदो के लिए उपयुक्त नही समझता। मेरियट ने राज्य वर्गीकरण के तीन आधारभूत सिद्धान्त माने हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) शासकीय शक्ति का विभाजन (Division of power)।

(२) सविधान की प्रकृति (Nature of the constitution)।

(३) विधानपालिका तथा कार्यपालिका के सम्बन्ध (Relations between the legislature and the executive)।

(१) अपने प्रथम नियम के अनुसार मेरियट राज्यो को **एकात्मक** (Unitary) **तथा सघात्मक** (Federal) **वर्गो** मे बाँटता है। इग्लैण्ड, फ्रांस स्पेन तथा इटली इत्यादि राज्य एकात्मक हैं और सयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, स्विटजरलैण्ड तथा भारत सघात्मक राज्य हैं। एकात्मक शासन के अन्तर्गत सम्पूर्ण शासकीय शक्ति (Administrative power) एक केन्द्र मे केन्द्रित होती है। अलग-अलग स्थानीय शासन सघ तथा सस्थाएँ हो सकती हैं, परन्तु उनकी शक्ति का स्रोत केन्द्रीय सरकार ही होती है, और वह उन्हे बना भी सकती है और खत्म भी कर सकती है।

सघीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत एक साथ दो शासन-व्यवस्थाएँ मौजूद रहती हैं और राजकीय शक्ति का उन दोनो मे समान रूप से बँटवारा रहता है। दोनो सरकारें अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र होती हैं। एक सरकार को हम राष्ट्रीय सरकार या सघीय सरकार कह सकते हैं और दूसरी को स्थानीय। दोनो की शक्तियो का स्रोत सविधान होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत मे सघीय सरकारो के अतिरिक्त स्थानीय सरकारें भी हैं, जो अपने-अपने क्षेत्र मे बिना केन्द्रीय सरकार की

दखल के शासन चलाती है।

(२) मेरियट के वर्गीकरण का दूसरा आधार संविधान की प्रकृति है। हम पीछे देख आये है कि संविधान दो प्रकार के होते हैं—परिवर्तनशील (Flexible) तथा अपरिवर्तनशील (Rigid)। परिवर्तनशील संविधान के अन्तर्गत साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून (Constitutional law) के बीच भेद नही किया जाता ब्रिटेन मे साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून एक बराबर है और वहाँ की पार्लियामेण्ट सब प्रकार के कानून बना सकती है और उनमे सब प्रकार के परिवर्तन भी कर सकती है।

अपरिवर्तनशील संविधान (Rigid Constitution) के अन्तर्गत साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून मे भेद किया जाता है और संवैधानिक कानून के संशोधन तथा परिवर्तन के लिए एक विशेष तथा कठिन प्रक्रिया (Process) को अपनाना पडता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत इत्यादि राज्यो के संविधान कठोर संविधान कहलाते है।

(३) वर्गीकरण का तीसरा आधार विधानपालिका (Legislature) तथा कार्यपालिका (Executive) के पारस्परिक सम्बन्ध है। आधुनिक सरकारो के वर्गीकरण का निस्सन्देह यह एक प्रमुख आधार है। इस नियम के आधार पर सरकारो को राजतन्त्र या अध्यक्षात्मक तथा संसदीय (Parliamentary) वर्गो मे बांटा जा सकता है। अगर कार्यपालिका राज्य की विधानपालिका पर नियन्त्रण करती है और वह विधानपालिका (Legislature) के नियन्त्रण से बिलकुल स्वतन्त्र है तो राज्य शासन-प्रणाली निरकुश (Despotic) कहलायेगी। अगर कार्यपालिका तथा विधान पालिका की शक्तियाँ लगभग बराबर हैं, तो वह राष्ट्रपतितन्त्र (Presidential Government) कहलाता है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका मे है। इसके विपरीत अगर विधानपालिका कार्यपालिका का नियन्त्रण करती है तो वह संसदीय सरकार (Parliamentary Government) कहलाती है, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास तथा भारत मे हैं। इन सभी राज्यो मे कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति अपने कार्यो के लिए जिम्मेदार होती है।

डॉ० लीकॉक का वर्गीकरण (Leacock's Classification)—डॉ० लीकॉक का वर्गीकरण भी उतना ही सरल तथा सन्तोषजनक है जितना मेरियट का। परन्तु डॉ० लीकॉक केवल वर्तमानकालीन राज्यो या शासन-प्रणालियो का विवरण देता है, पुरानी शासन-प्रणालियो का जिक्र उसने नही किया।

लीकॉक (Leacock) राज्यो को मुख्य रूप मे दो वर्गो मे बाँटता है—(१) निरकुश राज्य (Despotic State), तथा (२) लोकतन्त्रात्मक राज्य (Democratic State)। निरकुश सरकार मे शासन-सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ मे रहती है और वह उसका प्रयोग अपनी इच्छानुसार करता है। जनसामान्य की इच्छा पर वह ध्यान नही देता। लीकाक का विचार है कि निरकुश राज्य समाप्त हो रहे हैं और उनका स्थान लोकतन्त्रात्मक शासन ले रहे है।

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत शासन-सत्ता जनता के हाथ मे रहती है। प्रजातन्त्र के भी अनेक भेद हो मकते है। प्रथम भेद है (क) सवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) दूसरा (ख) गणतन्त्र (Republic)। मवैधानिक राजतन्त्र के अन्तर्गत सम्राट् की स्थिति रहती है, परन्तु वह केवल नाम मात्र का ही राज्याधिकारी होता है। उसकी सम्पूर्ण राजकीय शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता है, जो कि विधानपलिका के प्रति उत्तरदायी है। ग्रेट ब्रिटेन का राजतन्त्र मवैधानिक राजतन्त्र है।

गणतन्त्र (Republic) के सर्वोच्च राज्याधिकारी का चुनाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होता है। शासन-प्रणाली के ये दोनो भेद भी अनेक प्रकार के उप-विभागो मे बाँटे जा सकते हैं। वे हैं, एकात्मक तथा सघात्मक और राष्ट्रपतितन्त्र तथा ससदीय। इन शासन-प्रणालियो के रूप का सक्षिप्त व्योरा हम ऊपर दे आये हैं। इस प्रकार डॉ० लीकॉक के मतानुसार हम वर्तमान राज्यो को निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—
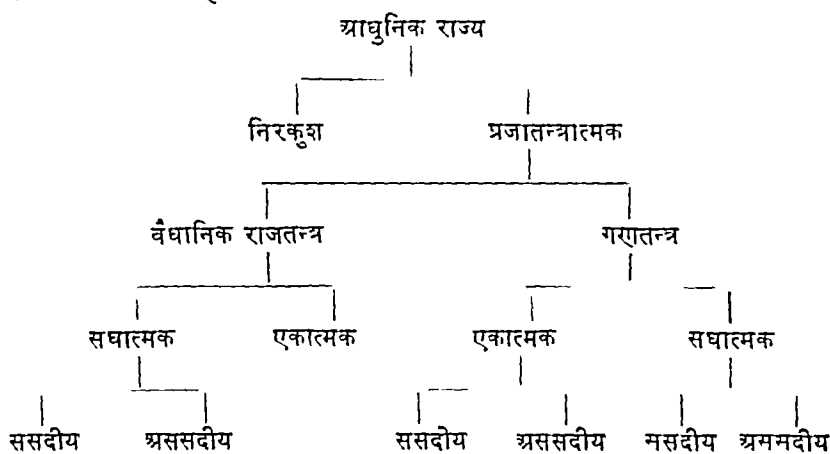
Important Questions

	Reference
1 Do you agree with the view that the Aristotelian classification of states is unsuited to the facts of modern political organisation ? *(Ag 1942, Nag 1942)*	Art 94
2 On what principles should state be classified ? *(Pb 1934, Ag 1942)*	
Or,	
How would you classify forms of Government *(Cal 1951)*	Arts 95 and 96
3 Explain the various ways of classifying government Which of them is best suited to modern conditions and why ? *(Pb 1953)*	Arts 95 and 96
4 Attempt a classification of Government, explaining the basis of your classification *(Pb 1951)*	Arts 95 and 96

१३

राज्य तथा शासन के भेद (२)

राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र
(Monarchy, Aristocracy and Democracy)

६७. राजतन्त्र (Monarchy)

पीछे हमने शासन के विविध प्रकारो का विवरण दिया है। हम देख चुके है कि आधुनिक युग का किया गया राज्यो का वर्गीकरण प्राचीन युग के वर्गीकरण से भिन्न है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र इत्यादि राज्यो के भेद ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नही। अरस्तू द्वारा किया गया राज्यो का बँटवारा चाहे आज के युग मे राज्यो के वर्गीकरण के लिए उपयुक्त नही, फिर भी वह ऐतिहासिक दृष्टि से परम सत्य है। अत राज्यो के ऐतिहासिक विभेद को समझने के लिए उनकी व्याख्या लाजमी है।

राजतन्त्र (Monarchy) ससार की शासन-प्रणालियो मे सबसे पुरानी समझी जाती है। राजतन्त्र को सदा ही एक धार्मिक आधार दिया गया है। प्राचीन अविकसित तथा राजनीतिक चेतना (Political Consciousness) विहीन समाज मे दैवीय शक्तिसम्पन्न या ईश्वरीय आदेशो द्वारा नियुक्त राजाओ की स्थिति ही राजनीतिक समाज के सगठन मे परम सहायक हुई है। सैनिक शक्ति के महत्त्व के कारण तथा प्रारम्भिक युद्धो के कारण कबाइली सरदारो का राजपद (Kingship) प्राप्त कर लेना भी सर्वथा स्वाभाविक था। धार्मिक अधिकारियो ने भी अनेक बार धार्मिक शक्ति के साथ-साथ राजनीतिक शक्तियो को हथिया कर राजपद को प्राप्त किया। यह सभी बाते पुराने अविकसित समाजो मे स्वाभाविक थी।

राजतन्त्र के रूप (Forms of Monarchy)—राजतन्त्र शासन के उस रूप का नाम है जहाँ राजनीतिक शक्ति एक व्यक्ति के हाथ मे होती है। राजतन्त्र के दो मुख्य भेद किये जा सकते है—निर्वाचित राजतन्त्र (Elective Monarchy) तथा वशानुगत राजतन्त्र (Hereditary Monarchy)। निर्वाचित राजतन्त्र के उदाहरण बहुत थोडे हैं परन्तु मिलते अवश्य है। पूर्व तथा पश्चिम दोनो के इतिहास मे निर्वाचित राजाओ के उदाहरण मिल जाते है। निर्वाचन के ये प्रकार अवश्य ही आधुनिक निर्वाचन-प्रणालियो से भिन्न थे। अनेक बार तो चुनाव एक वास्तविकता थी अनेक बार यह केवल औपचारिकता मात्र ही। प्राचीन भारत मे और अनेक गणराज्यो मे प्राप्य राजतन्त्र निर्वाचित राजतन्त्र थे, वहाँ या तो जनता द्वारा या जन-समितियो द्वारा राजा का चुनाव किया जाता था। कहा जाता है प्राचीन-भारत के गणराज्यो मे

राजा जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों में भी नगर-सभाएँ राजा के चुनाव में भाग लेती थीं। हमारे यहाँ अधार्मिक, स्वेच्छाचारी तथा स्वार्थी राजा को पदच्युत कर उसके स्थान पर नये राजा के चुने जाने की शास्त्रीय व्यवस्था मिल जाती है। राज-वंश के विलोप हो जाने पर नये राजाओं के चुने जाने के उदाहरण भी मिल जाते हैं। हमारे यहाँ पालवंश के संस्थापक राजा गोपाल का चुनाव प्रजा द्वारा इन्हीं परिस्थितियों में किया गया था। हाल ही में यूरोप के कुछ देशों में राजाओं के चुनाव किये गये हैं। नार्वे तथा सर्विया में क्रमश १९०३ तथा १९०५ में जनता द्वारा राजाओं का चुनाव हुआ। प्राचीन रोम तथा पोलैण्ड के राजाओं का जनता द्वारा चुनाव हुआ करता था।

औपचारिक चुनाव (Formal election) की व्यवस्था धीरे-धीरे वास्तविक चुनाव का स्थान ग्रहण कर लेती है। पुराने जमाने में यही हुआ। भारत में पहले अनेक गणराज्यों के 'गणमुखियों' का चुनाव होता था, धीरे-धीरे यह चुनाव-व्यवस्था केवल दिखावा मात्र रह गई। इसी प्रकार रोम तथा अन्य यूरोपीय राज्यों में भी राजाओं के सिंहासनारोहण के समय प्रजा की सहमति औपचारिक रूप से ले ली जाती थी।

निर्वाचित राज-पद का स्थान धीरे-धीरे वंशागत राज-पद ने ले लिया। आजकल सभी देशों में आनुवंशिक राज-पद (Hereditary Kingship) की व्यवस्था हो गई है।

राजतन्त्र का एक अन्य वर्गीकरण भी किया जाता है, वह है निरकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) तथा (२) सवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy)। निरकुश राजतन्त्र के अन्तर्गत राजा वास्तविक राज्याधिकारी होता है और वह अबाध शक्तिसम्पन्न होता है। उसकी इच्छा ही कानून होती है। ऐसी अवस्था में शासन तथा राज्य का एकीकरण हो जाता है। जब फ्रांस के राजा चौदहवें लुई ने कहा था कि मैं ही राज्य हूँ (I am the State) तो वह अपने आपका राज्य के साथ एकीकरण कर सर्व प्रकार से निरकुश तथा प्रभुतासम्पन्न शासक के रूप में ही कह रहा था।

ऐसे निरकुश राजाओं के उदाहरणों से तो हमारा इतिहास भरा पड़ा है, भारत में मुगल-सम्राट् निरकुश राज्य-शक्ति का प्रयोग करते रहे। वर्तमान युग में प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व रूस तथा टर्की में स्वेच्छाचारी तथा निरकुश राजतन्त्र मौजूद थे। परन्तु अब तो जनतन्त्रात्मक भावनाओं के प्रसार के फलस्वरूप निरकुश राजतन्त्र का विलोप हो रहा है। यूरोप में तो प्राय सभी देशों में या तो राजतन्त्र खत्म हो चुका है या फिर वह निश्चित तथा मर्यादित शक्तिसम्पन्न ही रह गया है। हाँ, अफ्रीका तथा एशिया के कुछेक पिछड़े हुए राज्यों में अभी निरकुश राजतन्त्र बच रहा है। मध्य एशिया के मुस्लिम राज्यों में अभी भी ऐसे राजतन्त्र के दर्शन हो जाते हैं कि जो अपनी अवस्था में मध्ययुगीन स्थिति से आगे नहीं बढ़ पाये। उनमें वैसी ही विलासिता और ऐय्याशी देखने को मिलती है जैसी कि पुराने बादशाहों के यहाँ

मिल जाती थी। परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक नही रह सकती। जिस तेजी से जन-जागरण हो रहा है वह निश्चय ही अन्तत इन सडी-गली पुरानी राज्य-व्यवस्थाओ को उखाड फेंकेगा।

निरकुश राजतन्त्र के अनेक गुण माने गये है, जिन्हे हम इस प्रकार रख सकते है—

(१) राजतन्त्र पुराने असभ्य तथा अविकसित समाजो के लिए विशेष उपयुक्त था। मिल का यह विचार है कि राजतन्त्र राजनीतिक चेतना की दृष्टि से अविकसित समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बहुत उपयुक्त है। असभ्य तथा जगली जातियो मे आज्ञा-पालन की आदत का विकास राजतन्त्र द्वारा ही हुआ। लोगो मे राज्य-शक्ति के प्रारम्भ मे पूज्य भाव को उत्पन्न करने के लिए राजाओ के दैवीय अधिकारो के सिद्धान्त को भी विकसित किया गया। मिल ने ही अन्यत्र कहा है "सुधार के उद्देश्य से प्रेरित होकर तथा उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सहायक उपयुक्त साधनो का यदि प्रयोग किया जा रहा है तो असभ्य तथा बर्बर जातियो के शासन के लिए एकतन्त्र न्यायोचित शासन-प्रणाली है।"[1]

(२) आपत्तिकालीन स्थिति का मुकाबिला करने के लिए राजतन्त्र सब प्रकार से उपयुक्त माना जाता है। स्वेच्छाचारी शासक को ऐसी स्थिति मे अपने आप पर आश्रित होना पडता है, विधानपालिकाओ पर नही। वह शासन की स्थिरता के लिए स्वय उत्तरदायी होता है। इस बात का ज्ञान उसे साहस-सम्पन्न करता है। उद्देश्य की एकता के कारण शासक शान्ति-काल मे भी प्रजा की उन्नति के लिए विकास-योजनाओ को सस्ती के साथ प्रयोग मे ला सकता है।

(३) राजतन्त्र की एक बडी विशेषता स्थिरता, व्यवस्था तथा नीति की अटूटता होती है। लोग शासन मे एकता तथा स्थिरता चाहते है, राजतन्त्र के अन्तर्गत उसे अत्यन्त सुविधापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। शक्ति के केन्द्रीकरण के कारण सरकार तथा जनसामान्य मे एकता होती है। ह्यूम ने राजतन्त्र के एतद्विषयक गुणो का बडा सारपूर्ण विवेचन इन शब्दो मे किया है, "राजतन्त्रों मे व्यवस्था, साधन तथा (नीति की) अटूटता की आश्चर्यजनक प्रवृत्ति पाई जाती है। उनमे शक्ति-सगठन की सरलता, शीघ्रतापूर्वक कार्य करने की सामर्थ्य, परामर्श की एकता, नीति की अभग स्थिरता तथा वैदेशिक सम्बन्धो के निर्वाह मे एक प्रकार की श्रेष्ठता होती है।"[2] शासन मे एकता तथा बल की प्राप्ति का मुख्य कारण यह है कि सभी राज्याधिकारी एक ही व्यक्ति के प्रति जिम्मेदार होते है, जो उनसे दृढतापूर्वक आज्ञा

---

1 "Despotism is a legitimate mode of government for dealing with barbarians provided the end be their improvement and the means be justified by actually affecting that end."—J. S. *Mill*

2 "Monarchies are found susceptible of order method and consistency to a surprising degree. They possess element of strength, simplicity of organisation, ability to act quickly, unity of counsels, continuity and consistency of policy and a certain prestige in the conduct of foreign relation."—*Hum es.*

पालन करवा सकता है।

(४) राजतन्त्र के अन्तर्गत पार्टीबाजी नही हो पाती, राज्य-शक्ति पर काबू पाने के लिए किसी से मुकाबला नही होता। ऐसी अवस्था मे राजा समाज के सभी वर्गो के प्रति न्यायपूर्ण दृष्टिकोण रख, उन सब मे बराबरी उत्पन्न कर सकता है। पार्टीबाजी से ऊपर उठे हुए होने के कारण राजा अपने मन्त्रियो का चुनाव विवेक-पूर्वक करता है। अपने राज्य के योग्यतम व्यक्तियो को अपने मन्त्रिमण्डल का सदस्य बना वह बडी अच्छी तरह शासन-व्यवस्था चला सकता है।

(५) यह कहा जाता है कि मानवीय इतिहास का एक बडा भाग राजतन्त्र का ही इतिहास है। समाज के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान युग तक राजतन्त्रो के अधीन ही साहित्य-कला तथा विज्ञान फले और फूले है। अशोक, हर्ष, अकबर, शाहजहाँ इत्यादि भारतीय शासको के शासन-काल मे कला तथा साहित्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की। दर्शन, धर्म तथा नैतिक नियमो के विकास और प्रचार मे राजतन्त्र का विशेष सहयोग रहा है। इसी प्रकार इग्लैण्ड मे महारानी एलिजाबेथ तथा फ्रास मे चौदहवें लुई के समय जो कला तथा साहित्य की उन्नति हुई वह बाद मे न हो सकी। पीटर महान् के समय मे ही रूस अर्द्धसभ्य अवस्था से निकल सभ्य राष्ट्रो की श्रेणी मे आ गया। ये सम्राट् प्रजा द्वारा कभी नही चुने गये फिर भी इन लोगो ने जनसामान्य की सुख-सुविधा के लिए तथा उनके सास्कृतिक विकास के लिए अमूल्य सेवाएँ की। राजा तथा प्रजा मे पिता-पुत्र-सा सम्बन्ध रहा।

इन गुणो के बावजूद भी और इस तथ्य के बावजूद भी कि प्लेटो तथा अरस्तू जैसे पुराने विचारको ने राजतन्त्र को ही सदा आदर्श शासन-प्रणाली माना आज राज-तन्त्र को उपयुक्त शासन-व्यवस्था नही समझा जाता। एक समय था जब कि व्यापारी वर्ग ने सामन्तीय समाज की अस्थिरताओ तथा अत्याचारो से बचने के लिए निरकुश राजतन्त्रो का समर्थन किया। उस समय लोगो मे राजनीतिक चेतना का विकास नही हुआ था, लोग अशिक्षित तथा निर्धन थे। बाद मे इसी समुन्नत व्यापारी वर्ग ने राजतन्त्रों का विरोध कर लोकतन्त्र राज्यो का समर्थन किया। निरकुश राजतन्त्र की **आलोचना निम्नलिखित आधार पर की जाती है—**

(१) आनुवशिक राजतन्त्र (Hereditary Monarchy) को किसी भी प्रकार उचित तथा तर्कसम्मत शासन-प्रणाली नही कहा जा सकता। अगर मानवीय इतिहास का अधिकाश भाग राजतन्त्र का इतिहास है, तो राजतन्त्र के इतिहास का अधिकाश भाग अयोग्य, विवेकहीन और मूर्ख राजाओ से भरा पडा है। अच्छे राजा का मिलना तो एक आकस्मिक घटना मात्र है। यह आवश्यक नही कि एक अच्छे तथा बुद्धिमान राजा का उत्तराधिकारी भी उतना ही सुयोग्य तथा बुद्धिमान हो। राजतन्त्र तो आनुवाशिक है परन्तु राजतन्त्र के चलाने के लिए आवश्यक गुण आनुवशिक नही हो सकते। अकबर हमारे देश के महान् और योग्य शासको मे गिना जाता है, परन्तु उसके उत्तराधिकारी शराबी, व्यसनी, धर्मान्ध, अत्याचारी तथा सब प्रकार से अयोग्य शासक थे। इसी प्रकार अन्य देशो का इतिहास भी इसी तथ्य को

साबित करने के लिए गवाही देता है।

(२) राजतन्त्र सदा ही स्वेच्छाचारी (Tyranny) शासन के रूप मे बदल जाता है। उसमे अनेक विकार उत्पन्न हो जाते है। राजा मानवीय कमजोरियो से युक्त होता है अत कोई बडी बात नही कि वह अपने मन्त्रियो तथा सम्बन्धियो द्वारा कुमार्ग पर चला जाये। इतिहास मे अनेक ऐसे उदाहरण मिल जाते है जहाँ कमजोर शासक अपनी प्रजा के सुख-दुख का विचार न रख, मन्त्रियो की या स्वार्थी दरबारियो की सलाह से प्रजा पर अत्याचार करते है।

(३) राजतन्त्र के अन्तर्गत भौतिक सुख-सुविधा का बँटवारा सदा असमानता-पूर्वक किया जाता है। अधिकाश मे भौतिक सुविधाएँ राज-परिवार, सैनिक सरदार तथा दरबारियो के हाथ पडती है जब कि प्रजा गरीबी मे दिन काटती है। मुगल बादशाहो ने अपनी मामूली-मामूली इच्छाओ की पूर्ति के लिए प्रजा के धन को सदा बेरहमी से इस्तेमाल किया। शाहजहाँ ने अपनी प्रेमिका के स्मारक के लिए करोडो रुपया व्यय कर ताज महल बनाया और जनसाधारण के आर्थिक मानदण्ड को उन्नत करने के लिए कुछ भी न किया।

वस्तुत राजा लोग जन-हित और अपने स्वार्थो का एकीकरण करते हैं। वे समझते हैं कि उनके वैयक्तिक स्वार्थो की पूर्ति का अर्थ ही जन-कल्याण है।

(४) राजतन्त्र की व्यवस्था समाज मे असमानता को उत्पन्न करती है। वह जनसाधारण को राजनीतिक शिक्षा से वचित करती है और उन्हे शासन मे कोई भाग नही देती। राजतन्त्र एक स्वस्थ, चतुर तथा सचेत नागरिकता उत्पन्न नहीं कर सकता। एक बुद्धिसम्पन्न शासक अच्छे कानून बना सकता है, वह कुशलता से शासन भी चला सकता है, परन्तु शासन चलाना ही एक अच्छी सरकार का सब कुछ नही। आज तो जनसामान्य अच्छी सरकार नहीं अपितु स्व-शासन (Self-government) चाहता है।

(५) आज की शासन-समस्याएँ बहुत ही उलझी हुई हैं, ये हमारे समाज के जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित हैं। ऐसी अवस्था मे राजतन्त्र उनके सुलझाव मे सफल नही हो सकता। पुराने समाज अपने सगठन मे सरल थे, उनकी समस्याएँ सीधी और सरल थी, सामाजिक जीवन मे गुटो की अवस्थिति इतनी ज्यादा नहीं थी जितनी आज है, अत ऐसी शासन-व्यवस्था से गुजारा हो जाता था जिसमे अधिक श्रम-विभाजन न हो। परन्तु वर्तमान अवस्था मे ऐसा सम्भव नही। आज कार्य-विभाजन तथा श्रम-विभाजन की आवश्यकता है। कानून निर्माण करने के लिए, उनको लागू करने के लिए तथा उनकी व्याख्या के लिए अलग-अलग व्यक्तियो की या व्यक्ति-समुदायो की अवस्थिति आवश्यक समझी जाती है। अत आज निरकुश राजतन्त्र को एक समयोपयोगी शासन-व्यवस्था नही समझा जाता।

सीमित राजतन्त्र (Limited Monarchy)—राजतन्त्र का दूसरा रूप सवैधानिक या सीमित राजतन्त्र है। सीमित राजतन्त्र को तो वस्तुत प्रजातन्त्र का ही एक रूप कहना चाहिए, क्योंकि इसके अन्तर्गत वास्तविक शक्ति का प्रयोग

जनता द्वारा चुने प्रतिनिधि ही करते हैं। सीमित राजतन्त्र मे राजा की शक्ति पर सवैधानिक पावन्दियाँ भी लगा दी जाती हैं, यह पावन्दियाँ लिखित तथा अलिखित दोनों ही रूप मे मिल जाती हैं। सवैधानिक राजतन्त्र का विकास होता है, निर्माण नही।

प्राचीन भारत के इतिहास मे भी यत्र-तत्र सवैधानिक राजतन्त्र के उदाहरण मिल जाते है। अत्याचारी, विलासी तथा धर्म-द्रोही राजाओं को पदच्युत करने का अधिकार प्रजा को दिया गया है। आधुनिक युग मे ग्रेट ब्रिटेन का राजतन्त्र सीमित राजतन्त्र का सर्वप्रसिद्ध उदाहरण है। इग्लैण्ड मे बहुत समय तक राजा तथा प्रजा मे सघर्ष होता रहा और अन्त मे १६८८ मे प्रजा सीमित राजतन्त्र की स्थापना मे सफल हो सकी। अब वहाँ सम्राट् की स्थिति कानून मे ऊपर नही। फ्रेंच-क्रान्ति के वाद लोकतन्त्र की भावनाओं के प्रसार के फलस्वरूप धीरे-धीरे लगभग सभी यूरोपीय राजतन्त्र सवैधानिक राजतन्त्र हो गये।

सवैधानिक राजतन्त्र निरकुश राजतन्त्र से कई वातो मे श्रेष्ठ है। सवैधानिक राजतन्त्र तथा जनतन्त्र दोनो के गुणो का मिश्रित रूप है। सीमित राजतन्त्र जहाँ शासन-व्यवस्था मे स्थिरता तथा सयम उत्पन्न करता है, वहाँ वह प्रजा को भी शासन मे भाग लेने का अधिकार देता है, सम्राट् काफी लम्वे अर्से तक शासन-व्यवस्था के सचालन की देख-भाल करते रहते हैं, जव कि मन्त्री लोग वदलते रहते हैं, ऐसी अवस्था मे वे सकटकालीन स्थिति मे मन्त्रिमण्डल का उचित पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। राजा का प्रशासन विपयक अनुभव सदा ही मन्त्रिमण्डल के काम आ सकता है। पार्टीवाजी से ऊपर होने के कारण केवल राजा ही विभिन्न राजनीतिक तथा आर्थिक प्रश्नो पर निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र विचार प्रगट कर सकता है, विभिन्न दलो के पारस्परिक झगडो को निपटा सकता है। राज्य का प्रत्यक्ष अध्यक्ष होने के करण वह जनसामान्य की राज्य-भक्ति का केन्द्र होता है। लोगो के लिए एक विशेप व्यक्ति के प्रति स्वामि-भक्त होना अधिक आसान होता है, विधान-परिषदो के प्रति ऐसा सम्भव नही हो सकता। आज भी इग्लैण्ड के सम्राट् के दर्शन के लिए स्वामि-भक्त जनता उमड पडती है, और उसके नाम पर सव कुछ करने के लिए तैयार हो जाती है। परन्तु सवैधानिक राजतन्त्र भी सर्वथा दोषमुक्त नही। राज-पद पैतृक होता है। किसी भी राजनीतिक अधिकारी का पैतृक होना किसी भी प्रकार से न्यायोचित तथा तर्कसम्मत नही ठहराया जा सकता। आज के युग मे राजनीतिक शक्ति जनसामान्य के हाथ मे रहती है, वह राजतन्त्र के प्रति उदासीन है और गणतन्त्र के ही अधिक पक्ष मे है। राजतन्त्र नवीन युग के लिए उपयुक्त ही नही है।

६८. कुलीन-तन्त्र (Aristocracy)

प्लेटो तथा अरस्तू के मतानुसार गुणसम्पन्न कुलीन वर्ग का शासन सर्वोत्तम शासन है। अरस्तू ने कुलीनतन्त्र को योग्यतम व्यक्तियो का शासन माना है। वस्तुत प्राचीन यूनान के नगर-राज्यो का शासन कुछ चुने हुए व्यक्तियो के हाथ मे होता था, ये लोग सम्पत्तिशाली होने के कारण, शिक्षा, सस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन तथा

राजनीति मे विशेष रुचि रखते थे। अरस्तू ने यह तो स्पष्ट नही किया कि उनका 'कुलीनता' से क्या अभिप्राय है या उसके 'योग्यतम' व्यक्ति कौन है? निश्चय ही यूनानी दार्शनिक कुलीनतन्त्र को चन्द व्यक्तियो का शासन समझते थे जो कि शासन व्यवस्था को अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नही अपितु सर्वसाधारण के कल्याण के लिए इस्तेमाल मे लाते थे।

आज कुलीनतन्त्र को चन्द व्यक्तियो का शासन कहना ठीक नहीं समझा जाता। क्योकि लोकतन्त्र मे भी सम्पूर्ण समाज को राज्य-शासन मे हिस्सा नहीं दिया जाता। अनेक ऐसे वर्ग हैं, जिन्हे राजनीतिक अधिकार नही दिये जाते। अनेक राज्यो मे स्त्रियो, अशिक्षितो, सैनिको, दिवालियो, निर्धनो और अनेक अन्य वर्गों को वोट देने का अधिकार नही होता। अत शासन व्यवस्था केवल कुछेक लोगो द्वारा ही नियन्त्रित की जाती है। इग्लैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे यद्यपि वोट देने का अधिकार काफी सख्या मे लोगो को मिला हुआ है, फिर भी शासन व्यवस्था का नियन्त्रण केवल एकाध विशिष्ट वर्ग के हाथ मे रहता है। आज के प्रजातन्त्र राज्यो को अल्पतन्त्र कहना अधिक उपयुक्त है।

प्रो० जेलिनेक (Jellinek) ने कुलीनतन्त्र की पुरानी परिभाषा को स्वीकार नही किया। उसने कुलीनतन्त्र को जनतन्त्र का ही एक प्रकार माना है। कुलीनतन्त्र के सामाजिक पक्ष पर बल देते हुए जेलिनेक ने उसे एक वर्ग का शासन माना है। कुलीनतन्त्र के शासन का आधार निम्नलिखित वर्ग हो सकते है—पुरोहित सैनिक जमीदार तथा व्यापारिक या वनिक वर्ग। जेलिनेक का यह विचार वैज्ञानिक तथा तर्कसगत है। प्राचीन भारत मे अधिकाश गणतन्त्र, वर्गतन्त्र (Class rule) ही थे, यही नही राजतन्त्रो मे राजा लोग ब्राह्मणो तथा क्षत्रियो के सहयोग से ही शासन चलाते थे। पुराने यूनान मे राज-काज एक ऐसे नागरिक वर्ग के हाथ मे था जो कि समाज का धनी तथा समृद्ध वर्ग था। भारत के यौधेय, क्षत्रिय तथा क्षुद्रक इत्यादि गणो मे सैनिक वर्ग का शासन था। प्राचीन रोम मे कुलीन समझे जाने वाले पेट्रीशियन लोग ही शासन करते थे। प्रशा मे प्रथम युद्ध से पूर्व सैनिक वर्ग का ही शासन रहा और आज भी नेपाल तथा अफगानिस्तान मे शासन-सत्ता एक ही वर्ग के हाथ मे है। वर्तमान युग के आरम्भ के बहुत अर्से बाद भी इग्लैण्ड मे राजनीतिक शक्ति बड़े-बड़े जमीदारो के हाथ मे ही रही है। दक्षिण अफरीका मे राज्य शक्ति का केन्द्र गोरी जातियाँ ही हैं जब कि जाति तथा रग के ही आधार पर अन्य जातियो को राजनीतिक शक्ति से वचित रखा गया है।

पुराने राजतन्त्र भी वस्तुत कुलीनतन्त्र ही थे। राजा लोग सैनिक वर्ग या पुरोहित वर्ग की सहायता से ही राज काज चलाते थे।

अरस्तू ने कुलीनतन्त्र के विकृत रूप को वर्गतन्त्र (Oligarchy) कहा है। परन्तु आज तो ऐसा भेद नही माना जाता। वर्गतन्त्र का वस्तुत अर्थ धनिक या समृद्ध वर्ग का शासन है। आज के प्रजातन्त्र भी धनिक वर्ग के ही शासन बन गए है। इग्लैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रजातन्त्र की सम्पूर्ण मशीनरी

पर नियन्त्रण करता है। अत आज इन्हे वर्गतन्त्र या धनिक वर्ग का शासन कहना ही अधिक उपयुक्त है।

कुलीनतन्त्र के गुण—मानवीय इतिहास मे कुलीनतन्त्र का एक विशेष स्थान है। प्राय सभी राज्यो मे किसी न किसी रूप मे कुलीनतन्त्र की अवस्थिति रही है, कही जन्म के आधार पर तो कही पेशे के आधार पर राजकीय शक्ति का नियन्त्रण कुछ एक खास लोगो ने किया। राजतन्त्र के अन्तर्गत भी राजा लोग अपनी शक्ति के लिए कुलीन वर्ग, सैनिक वर्ग या जमीदारो पर आश्रित होते थे। सर्वत्र प्रजातन्त्र के विकास से पूर्व कुलीनतन्त्र वर्तमान रहा है। पहले राजनीतिक चेतना का थोडे से लोगो मे केन्द्रित होना अस्वाभाविक वात नही थी।

कुलीनतन्त्र की सवसे वडी विशेपता यह है कि वह सख्यात्मक सिद्धान्त की वजाय, स्वस्थ गुणात्मक सिद्धान्त पर आधारित है। वह उपयुक्ततम व्यक्तियों का शासन है। राज-काज का काम विशेप निपुणता का काम है। साधारण जनता राज्य की गम्भीर समस्याओ को समझने मे असमर्थ होती है, प्रतिभासम्पन्न लोगो की सख्या तो थोडी होती ही है अत कुलीनतन्त्र गुणात्मकता की दृष्टि से प्रजातन्त्र की अपेक्षा उच्च होता है।

कुलीनतन्त्र मे शासन शक्ति उन चन्द व्यक्तियो के हाथ मे होती है, जो शिक्षित तथा धनी होते हैं। धनी होने के कारण उन्हे आर्थिक लालच पथभ्रष्ट नही करते।

कुलीनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था अपेक्षाकृत सयमशील होती है, वह जल्दवाजी मे, आकस्मिक परिवर्तन मे यकीन नही करती। सदियो से चले आते पुराने रस्मो-रिवाज को और शासन के तरीको को वे जल्दी मे कभी नही वदलते। इसी का यह फल होता है कि राज्य-व्यवस्था सुस्थिर होती है, राज्यनीति अटूट तथा अभग होती है और राज्य मे शान्ति तथा व्यवस्था वनी रहती है।

प्रजातन्त्र की अपेक्षा कुलीनतन्त्र अधिक स्वभाविक शासन-व्यवस्था है। यह कहा जाता है कि सर्वत्र मूर्खो तथा नासमझ लोगो को अधिकता होती है, प्रकृति ने सभी को वरावर नही वनाया। इस प्राकृतिक असमानता को मिटाने का प्रयत्न मूर्खतापूर्ण है और वह सदा असफल रहता है। प्रजातन्त्र के प्रचलन के वावजूद भी व्यावहारिक रूप से शासन-शक्ति इने-गिने लोगो के हाथ मे ही केन्द्रित रहती है। प्राय सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे किसी न किसी रूप मे कुलीनतन्त्र के तत्व मौजूद रहते हैं, और ऐसा विचारपूर्वक किया जाता है।

कुलीनतन्त्र के दोष—कुलीनतन्त्र मे भी अनेक कमजोरियाँ हैं। इस वात से तो इन्कार नही किया जा सकता कि शासन-व्यवस्था गुणी तथा निपुण लोगो के हाथ मे होनी चाहिए। परन्तु इन योग्य व्यक्तियो का चुनाव कैसे हो सकता है? इसकी सवसे वडी कमजोरी राजनीतिक सत्ता के प्रयोग करने वाले वर्ग के चुनाव करने की स्वस्थ प्रणाली के स्थिर करने की कठिनाई है। जन्म, कुल, धन इत्यादि अनेक आधार हैं जिन द्वारा चुनाव सम्भव है। परन्तु किसी धनी या उच्च परिवार मे जन्म लेने के

कारण ही कोई मनुष्य शासन-शक्ति के प्रयोग के लिए योग्य नही हो जाता, धन के आधिक्य का भी कभी यह परिणाम नही हुआ कि धनी लोग सब प्रकार से सुसंस्कृत व श्रेष्ठ हो, और वे अर्थ-प्राप्ति के लालच से सर्वथा ऊपर हो। अक्सर गरीब आदमी अधिक मेहनती, सच्चे और ईमानदार होते हैं, चरित्र की उच्चता, धन तथा जन्म पर आधारित नही होती। सैनिको मे भी आवश्यक नही कि प्रशासकीय गुण हो। एक सफल सैनिक जरूरी नही कि एक सफल शासक भी हो।

कुलीनतन्त्र मे धीरे-धीरे अनेक विकार पैदा हो जाते है। इतिहास यह साबित करता है कि जब कभी किसी एक वर्ग के हाथ मे राजकीय शक्ति केन्द्रित हो जाती है तो वह उसका प्रयोग अपने वर्गगत स्वार्थों के लिए करता है, और जनसामान्य के कल्याण के लिए नही। कुलीन लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति मे ही जन-सामान्य का कल्याण समझने लग जाते है। धीरे-धीरे कुलीनतन्त्र धनी-मानी लोगो का शासन बन जाता है और वह जनसामान्य का प्रतिनिधित्व न कर वशानुगत (Hereditary) हो जाता है। राजनीतिक दृष्टि से किसी भी शासन का वशानुगत होना कभी भी ठीक नही समझा जा सकता। धीरे-धीरे कुलीन तथा धनी लोगो मे ऐसी उन्नत प्रकृति का जन्म हो जाता है कि वे अपने आपको प्रकृत्या श्रेष्ठ तथा उच्च मानने लग जाते हैं और निर्धन लोगो से नफरत करने लगते है। इस प्रकार का दृष्टिकोण ही जन-क्रान्तियो का जनक होता है।

कुलीनतन्त्र अपेक्षाकृत अनुदार और परम्परावादी होता है। बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियो के अनुरूप उसमे परिवर्तन नही हो पाता। उसमे अप्रगतिशीलता आ जाती है।

कुलीनतन्त्र मे सदा पार्टीबाजी रहती है, राजकीय शक्ति को हथियाने के लिए वे आपस मे लडते-झगडते है। परिणामस्वरूप राज्य मे अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है, अच्छे कानून नही बन पाते, राज्य की उन्नति तथा प्रगति रुक जाती है। सभी देशो के पुराने कुलीनतन्त्र पारस्परिक कलह तथा अन्य राजनीतिक बुराइयो के शिकार होते रहे हैं।

राजतन्त्र की तरह कुलीनतन्त्र भी साधारण प्रजा को राज्य-संचालन मे कोई हिस्सा नही देता, इस प्रकार वह उन्हे राजनीतिक जीवन तथा स्वशासन विषयक शिक्षण से वंचित करता है।

वर्तमान युग मे कुलीनतन्त्र का समर्थन दकियानूसीपन तथा अनुदारता का लक्षण समझा जाता है। जन-साधारण मे राजनीतिक चेतना के विस्तार के फलस्वरूप लोग किसी भी ऐसी राजनीतिक व्यवस्था को पसन्द नही करते, जिसमे शासन मे जनसाधारण को कोई हिस्सा न मिला हुआ हो। असमानता के सिद्धान्त को अप्रगतिशील तथा अवांछित माना जाता है। जन्म, धन अथवा पद की उच्चता राजनीतिक शक्ति के प्रयोग के लिए किसी प्रकार की विशेष योग्यता है यह बात बिल्कुल गलत है। प्राकृतिक असमानता को मानते हुए भी हम सामाजिक शिक्षण और परिस्थितियो की अनुकूलता के महत्त्व से इन्कार नही कर सकते। उपयुक्त परिस्थितियो

मे प्राकृतिक असमानताएँ भी धीरे-धीरे महत्त्वहीन हो जाती है।

राज्य मे विशेष प्रकार के निपुण तथा गुणी वर्ग को महत्त्व अवश्य दिया जाना चाहिए। शिक्षा तथा सस्कृति का भी महत्त्व होना चाहिए। अनुभवी शासको को राज्य-सचालन के कार्य मे विशेष रूप से जगह दी जा सकती है, परन्तु उन्हे सम्पूर्ण शासन-शक्ति का केन्द्र किसी भी प्रकार से नही बनाया जा सकता।

९९. प्रजातन्त्र (Democracy)

प्रजातन्त्र आज की सबसे अधिक लोकप्रिय शासन-प्रणाली है। विश्व के प्राय सभी उन्नत तथा प्रगतिशील राज्यो मे प्रजातन्त्र का ही प्रचलन है। परन्तु प्रजातन्त्र का रूप क्या है, उसकी आवश्यकताएँ क्या हैं और उसकी परिभाषा क्या है, ये सभी प्रश्न बडे पेचीदा हैं। इनके उत्तर सदा ही अलग-अलग ढग से दिये गये है। प्लेटो तथा अरस्तू के समय से लेकर आज तक प्रजातन्त्र के स्वरूप विवेचन के अनेक प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु उन सभी के परिणाम भिन्न हैं। प्रत्येक युग तथा समाज की परिस्थितियो ने प्रत्येक युग के विचारक के दृष्टिकोण को रग दिया है। आज के युग के बडे-बडे प्रजातन्त्रवादी, रूजवेल्ट, चर्चिल, गाधी, नेहरू, जयप्रकाश तथा आचार्य नरेन्द्रदेव इत्यादि भी प्रजातन्त्र की कोई एक ऐसी परिभाषा नही कर सके जो सर्व-मान्य हो।

दरअसल प्रजातन्त्र का रूप बदलता रहा है, यदि वह प्रणाली रूप मे नही बदला तो कम से कम अपने आधारभूत दर्शन मे वह अवश्य बदलता रहा है। प्लेटो तथा अरस्तू के प्रजातन्त्र का स्वरूप जॉन लॉक, बेन्थम तथा मिल से भिन्न था। इसी प्रकार रूसो तथा ग्रीन ने प्रजातन्त्र विषयक जो धारणाएँ रखी वह सिडनी वेब, जार्ज बर्नार्ड शॉ, कोल, जोड, गाधी, नेहरू, रसेल और अन्य आधुनिक विचारको की धारणाओ से भिन्न हैं। बेन्थम तथा मिल ने प्रजातन्त्र की समुचित व्याख्या की, ग्रीन ने उसे अधिक प्रगतिवादी तथा आदर्शात्मक बनाया जब कि आज का विचारक उसे केवल मात्र राजनीतिक ही नही बल्कि एक सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के रूप मे भी देखता है।

१०० प्रजातन्त्र की परिभाषा

परिभाषा द्वारा किसी भी वस्तु या विषय के स्वरूप को समझाने की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है। प्रजातन्त्र की परिभाषाएँ भी बहुत पुरानी मिल जाती हैं। परन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि प्रजातन्त्र की ये सब परिभाषाएँ केवल मात्र विचारक की एतद्विषयक धारणा का ही फल हैं, वह प्रजातन्त्र सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्य को व्यक्त नही कर पाती।

अरस्तू प्रजातन्त्र को जनसामान्य का शासन मानता है, वे सख्या मे अधिक होते हैं और निर्धन भी। वस्तुत अरस्तू के मतानुसार प्रजातन्त्र बहुसख्यक निर्धनो का शासन है। आधुनिक राजनीति-विशारदो मे प्रो० सीली (Seeley) की

एतद् विषयक परिभाषा इस प्रकार है "प्रजातन्त्र वह शासन-व्यवस्था है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति का भाग हो।"[1] सुप्रसिद्ध अमेरिकन विचारक तथा राजनीतिक नेता अब्राहम लिंकन ने लोकतन्त्र की एक बहुत ही सरल और अनूठी व्याख्या की थी, वह आज भी सर्वप्रिय है। उसके अनुसार "प्रजातन्त्र जनता की सरकार है और जनता के द्वारा है और जनता के लिए है।"[2]

डायसी के अनुसार "लोकतन्त्र वह शासन-व्यवस्था है जिसमे राष्ट्र का अधिकाश भाग शासक हो।"[3]

लार्ड ब्राइस ने कहा है, "हेरोडोटस के समय से ही 'प्रजातन्त्र' शब्द का प्रयोग शासन के उस स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए किया जाता रहा है जिसमे शासन-शक्ति किसी एक विशेष श्रेणी या श्रेणियो में नहीं बल्कि समाज के सदस्यो में समूह रूप से स्थित होती है।"[4]

प्रो० ए० बी० हाल ने प्रजातन्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी है, "अन्तिम विश्लेषण और सम्पूर्ण व्यावहारिक कार्यों के लिए लोकशासन राजनीतिक सगठन का वह रूप है जिसमें लोकमत के हाथ में नियन्त्रण होता है।"

मिस फॉलेट प्रजातन्त्र को जन राज्य समझते हुए उसे एक आध्यात्मिक आदर्श मानती हैं।

प्रजातन्त्र शब्द का अर्थ—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र ऐसी शासन-प्रणाली है जो कि जनसामान्य तथा जन-हित का प्रतिनिधित्व करती है और जनसहमति पर आधारित है।

हिन्दी का प्रजातन्त्र शब्द अंग्रेजी के Democracy शब्द का पर्यायवाची है। अंग्रेजी का 'डेमोक्रेसी' (Democracy) शब्द ग्रीक भाषा के 'डेमॉस' (Demos) तथा 'क्रेशिया' (Cratia) दो शब्दो से मिलकर बना है। जिसका अर्थ है जनता (Demos) का शासन (Cratia) अत शाब्दिक दृष्टि से प्रजातन्त्र का अर्थ जनता का राज्य है।

---

1 "Democracy is a government in which everyone has a share"—*Seeley.*

2 "Democracy is a government of the people, for the people and by the people"—*Lincoln*

3 "Democracy is a form of government, in which the governing body is comparatively a large fraction of the entire nation—*Dicey*

5 "The word democracy ever since the time of Herodotus has been used to denote that form of government in which the ruling power of the State is vested not in a particular class or classes, but in the members of the community as a whole"—*Bryce.*

१०१ प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का विकास

प्रजातन्त्र शासनप्रणाली का विकास विभिन्न परिस्थितियो के अन्तर्गत हुआ है। शासन-प्रणाली की दृष्टि से प्रजातन्त्र भी उतना ही पुराना लगता है जितना कि राजतन्त्र। ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व प्लेटो तथा अरस्तू ने प्रजातन्त्र का विवेचन किया है, इस से यह तो स्पष्ट हो जाता ए कि इन दोनो राजनीति-विशारदो से पूर्व भी प्रजातन्त्र की अवस्थिति अवश्य थी। चीन तथा भारत मे तो इसमे पूर्व भी जनता द्वारा निर्वाचित गणतन्त्रो की मौजूदगी मानी जाती है। डा० वेनीप्रसाद ने वैदिक काल तथा महाभारत काल मे अनेक गणतन्त्रो की अवस्थिति को स्वीकार किया है। इसी प्रकार वौद्ध काल मे भी ऐसे नगर थे जिनके शासको का चुनाव प्रजा या प्रजा के प्रतिनिधियो द्वारा होता था, सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० जायसवाल ने इस वात का जोरदार समर्थन किया है।

इसी प्रकार पुराने चीन मे भी मनुष्य मात्र की अनिवार्य समानता को स्वीकार किया जाता था। साथ ही यह भी माना जाता था कि जनता ही राज्य-शक्ति का अन्तिम स्रोत है अत अगर राजा अनैतिक कार्य करे तो जनता को उसे पदच्युत करने का अधिकार है। इसी प्रकार मध्यकालीन यूरोप ने हिब्रू तथा वर्वर जातियो के ससर्ग से प्रजातन्त्र के पाठ को पढा।

अधिकाश मे यह माना जाता है कि प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का विकास पुराने ग्रीस के नगर-राज्यो मे ही हुआ और उन्ही के आदेश पर वाद मे यूरोप के अन्य देशो मे प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था कायम की गई। ग्रीस के नगर-राज्यो का गणतन्त्रवाद वहुत सकुचित था। जनसाधारण को उसमे भाग लेने का अधिकार नही था। दासो, मजदूरो तथा व्यापारियो को शासको के निर्वाचन मे कोई भाग नही दिया गया था।

लोकतन्त्र की आधुनिक धारणा का विकास सर्वप्रथम इगलैण्ड मे हुआ, और तत्पश्चात फ्रास मे। राष्ट्रीय राज्यो के विकास के अनन्तर इगलैण्ड तथा फ्रास मे एक ऐसे व्यापारी वर्ग का जन्म हो गया था कि जिसने प्राचीन काल से चली आ रही राजतन्त्र सम्वन्धी सम्पूर्ण धारणाओ का खण्डन किया और शासन-व्यवस्था को नए सिरे से सगठित करने का आन्दोलन जारी किया। लूथर आदि धार्मिक सुधार आन्दोलन के नेताओ ने जनता द्वारा राजसत्ता के विरोध के अधिकार को स्वीकार कर इस आन्दोलन को और भी अधिक पुष्ट किया। लोकतन्त्र की **माँग का विकास** मुख्य रूप **से तीन धारणाओ के रूप में हुआ—**

(१) सामाजिक समझौता तथा प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धान्त प्रजातन्त्र का एक आधार है। हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने सामाजिक समझौता (Social Contract) के सिद्धान्त के निरूपण द्वारा यह सिद्ध किया कि राज्य एक अप्राकृतिक रचना है, वह दैवी नही मानवीय सस्था है और जनसहमति पर आधारित है। इसके अतिरिक्त लॉक तथा रूसो ने वडे जोर-शोर से जनसामान्य की समानता, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति

के अधिकारो की घोषणा की। उनका यह कथन था कि ये सभी अधिकार मनुष्य को प्रकृति ने स्वयं दिए हैं। उनका विश्वास था कि शासनतन्त्र को जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

जॉनलॉक, रूसो तथा थॉमस पेन के जनसामान्य के प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त के आधार पर ही बाद मे सयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रास के सविधानो मे मानव के मौलिक अधिकारो (Fundamental rights) की घोषणा की गई।

(२) राज्य का उपयोगितावादी सिद्धान्त भी प्रजातन्त्र के विकास की एक प्रमुख आधार-शिला है। बेन्थम, मिल तथा जे० एस० मिल ने अधिकतम सख्या के अधिकतम सुख (Maximum pleasure of maximum number) के सिद्धान्त की रचना कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि केवल मात्र प्रजातन्त्र के अन्तर्गत ही जनसामान्य के अधिकतम सुख को प्राप्त किया जा सकता है।

(३) ग्रीन इत्यादि आधुनिक आदर्शवादियो ने प्रजातन्त्र के अन्तर्गत ही मानव व्यक्तित्व की अविकसित शक्तियो के विकास को सम्भव माना। साथ ही राज्य की शक्ति का आधार उसने पशु शक्ति न मान जन-सहमति को माना।

सर्वप्रथम इग्लैण्ड मे सम्राट् तथा पार्लियामेण्ट के पारस्परिक सघर्ष के परिणाम स्वरूप जनसामान्य की प्रभुता के सिद्धान्त की स्थापना हुई। मेग्नाकार्टा, बिल आफ राइट्स तथा पैटिशन आफ राइट्स के द्वारा समय-समय पर सम्राट् ने जनता के सम्मुख घुटने टेके और उन्हे अनेक अधिकार सौंप दिए। १८३८, १८८५, १९११, १९१८ तथा १९२९ मे धीरे-धीरे जनसामान्य के प्रतिनिधि सदन 'हाउस आफ कामन्स' की सार्वोच्चता की पूर्ण स्थापना हो गई।

इग्लैण्ड की भाति ही सयुक्तराज्य अमेरिका तथा फ्रास मे भी जनक्रान्तियां हुई और प्रजातन्त्र की धीरे-धीरे स्थापना हो गई।

प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त—आज प्रजातन्त्र के कुछ आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किए जाते है, वे इस प्रकार है—

(१) राज्य साधन है और व्यक्ति साध्य। प्रजातन्त्र का यह एक महत्त्वपूर्ण आधार है। साधन रूप मे राज्य का वही तक महत्त्व है, जहाँ तक कि वह व्यक्ति कल्याण मे सहायक हो। लॉक, बेन्थम तथा मिल इत्यादि प्रजातन्त्र के सभी समर्थको ने राज्य को साधन रूप मे ही स्वीकार किया।

प्रजातन्त्र की धारणा के विपरीत आदर्शवादी और फासिस्ट विचारक राज्य को सावयव मान उसे अपने आप मे साध्य तथा नागरिक को साधनस्वरूप स्वीकार करते है। यह धारणा सर्वथा मिथ्या और भ्रामक है। राज्य मनुष्य के लिए बनाया गया है, मनुष्यो से मिलकर बना है, उससे ऊपर या बाहर उसकी कोई स्थिति नही।

(२) राज्य का प्रबन्ध जनता द्वारा हो। राज्य, दूसरे शब्दो मे अपनी सम्पूर्ण कार्यवाहियो के लिए जनसामान्य के प्रति जिम्मेदार हो। कानून क्या हो, उसका उद्देश्य क्या हो इसका निर्णय जनता स्वय करे या अपने प्रतिनिधियो द्वारा

करवाये। कार्यपालिका भी शासन-सचालन के लिए जन-प्रतिनिधियो के प्रति उत्तरदायी (Responsible) हो। अगर कोई सरकार जनप्रिय नही, उसके द्वारा बनाए गये कानून जनता के हित के अनुसार नही, तो जनसामान्य को कानूनी साधनो द्वारा अपने प्रतिनिधि बदलने का अधिकार होना चाहिए।

(३) प्राय सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे लिखित या अलिखित सविधान की व्यवस्था रहती है। इनमे समय-समय पर परिवर्तन की जरूरत हो सकती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सवैधानिक कानून मे सभी परिवर्तन या तो प्रत्यक्ष जन-सहमति से हो अथवा जन-प्रतिनिधियो की सहमति द्वारा हो।

(४) प्रजातन्त्र शासन का आधार आलोचना की और विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता है। जनता अपने प्रतिनिधियो द्वारा शासन चलाती है। ऐसा सम्भव है कि प्रतिनिधिगण जनसामान्य की भावनाओ को न समझ सकें या उनकी अवहेलना करें। जनता अपने आलोचना के अधिकार द्वारा ही उन पर नियन्त्रण स्थापित कर सकती है। अपने विचार को प्रगट करने के साथ-साथ, उनके प्रचारार्थ आर्थिक या राजनीतिक दल बनाने का अधिकार भी जनसामान्य को मिलना चाहिए।

(५) कुछेक विचारको का विचार है कि कार्यपालिका, विधानपालिका तथा न्यायपालिका का विभाजन (Separation) भी प्रजातन्त्र शासन के लिए आवश्यक है। शासको तथा कानून-निर्माताओ को न्यायपालन सम्बन्धी अधिकार नही सौंपे जाने चाहिएँ।

(६) न्यायालयो को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकारो की रक्षा का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति से तब तक वचित नही किया जाना चाहिए जब तक कि किसी न्यायालय मे उसके अपराध को साबित न कर दिया जाये। यही नही, न्यायालय को यह भी अधिकार होना चाहिए कि वह उन सब स्थानीय या केन्द्रीय अथवा सघीय विधानपालिकाओ द्वारा निर्धारित कानूनो को भी रद्द कर दें, अगर वे व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा उसके मूलभूत अधिकारो के विरुद्ध जाते हैं।

साथ ही कानून की दृष्टि मे लिंग, जाति, पद या वश अथवा धर्म के आधार पर विभिन्न नागरिको मे कोई भेद नही किया जाना चाहिए।

प्रजातन्त्र की व्यापक व्याख्या—हम ऊपर ही लिख चुके हैं कि प्रजातन्त्र की धारणा आज वस्तुत बहुत बदल गई है, वह केवल मात्र शासन-प्रणाली का ही एक रूप नही, अपितु राज्य, शासन तथा समाज तीनो के ही रूप को निर्धारित करती है। हर्नशा का कथन है कि "**प्रजातन्त्र केवल सरकार का ही रूप नहीं है बल्कि यह एक राज्य का रूप है और समाज का भी रूप है।**" अमेरिका के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो० गिडिंग्स (Prof Giddings) ने भी कहा है कि "**प्रजातन्त्र राज्य का भी रूप हो सकता है, शासन-कार्य और समाज का भी और वह इन तीनों का**

मिश्रित रूप भी हो सकता है।"[1]

प्रजातन्त्रात्मक राज्य का अभिप्राय उस राज्य से है जहाँ प्रभुता जनता के हाथ में होती है, राज्य-सत्ता का प्रयोग बिना किसी भेदभाव के सम्पूर्ण जनसमूह द्वारा किया जाता है। अक्सर प्रजातन्त्रात्मक राज्य तथा शासन में भेद किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि यह आवश्यक नहीं कि जनसत्तात्मक राज्य के साथ-साथ प्रजातन्त्रात्मक शासन भी हो। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में राज्य का रूप अवश्य प्रजातन्त्रात्मक है परन्तु वहाँ के शासन में भी बहुत से अप्रजातान्त्रिक तत्त्व मिल जाते हैं।

प्रजातन्त्र शासन से हमारा अभिप्राय उस शासन-व्यवस्था से है जहाँ प्रशासन का कार्य, जन-प्रतिनिधियों की देख-रेख में किया जाता हो और जहाँ राज्य की उच्च कार्यपालिका जन-प्रतिनिधियों के प्रति जिम्मेदार हो।

प्रजातन्त्रात्मक समाज (Democratic Society) की अवस्थिति एक दुष्प्राप्य चीज है। प्रजातन्त्रात्मक समाज का अर्थ है सम्पूर्ण जनता की समानता। प्रजातन्त्रात्मक समाज में श्रेणी, वर्ग, लिंग, जाति, पद इत्यादि के आधार पर नागरिकों में भेद नहीं किया जाता। भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका, इंग्लैण्ड इत्यादि देशों में राजनीतिक प्रजातन्त्र तो मौजूद हो सकता है परन्तु सामाजिक प्रजातन्त्र वहाँ अवश्य ही नहीं है। भारत में छुआछूत की व्यवस्था के कारण समाज में विभिन्न जातियों में अमानवीय भेदभाव किया जाता है। अभी भी हमारे यहाँ स्त्रियों को सामाजिक समानता नहीं मिली। अनेक स्थानों पर अभी भी 'ढोल गँवार शूद्र, पशु नारी, ये सब ताडन के अधिकारी' की पुरानी व्यवस्था कायम है। अमेरिका तथा दक्षिणी अफ्रीका में रंग-भेद पर आधारित भेदभाव मौजूद है। इंग्लैण्ड में वर्गगत भेद-भाव की कमी नहीं। कहा जाता है कि सिवा रूस इत्यादि साम्यवादी राज्यों को छोड, दूसरा कोई ऐसा राज्य नहीं, जहाँ सामाजिक भेदभाव की मौजूदगी न हो। ब्रायसी के अनुसार प्रजातन्त्रात्मक समाज वह है जहाँ अधिकारों, परिस्थितियों, विचारों, भावनाओं तथा आदर्शों की समानता होती है। यह एक बडा उच्च आदर्श है।

आज प्रजातन्त्र के राजनीतिक तथा सामाजिक रूप के अतिरिक्त एक अन्य रूप को भी माना जाता है। यह आर्थिक प्रजातन्त्र (Economic Democracy) कहलाता है। बेन्थम तथा मिल इत्यादि १९वीं सदी के विचारकों ने केवल राजनीतिक प्रजातन्त्र के महत्त्व को ही सिद्ध किया था, उन्होंने व्यक्तियों के राजनीतिक अधिकारों को ही सब कुछ समझा, परन्तु आज राजनीतिक प्रजातन्त्र तब तक सारहीन समझा जाता है जब तक कि उसको आर्थिक प्रजातन्त्र द्वारा पूर्ण न किया जाय। प्रो० लास्की, सिडनी वेब तथा कोल इत्यादि आधुनिक समाजवादी बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि जब तक राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ आर्थिक अधिकारों को मान्यता नहीं दी जाती, तब तक प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली सफल नहीं हो सकती। पूँजीवादी

1. "Democracy may be either a form of government, a form of state, a form of society or a combination of all three"

—*Prof Giddings.*

समाज मे राजनीतिक सत्ता केवल चन्द पूँजीपतियो के हाथ मे ही रहेगी। दिन-रात मेहनत-मजदूरी करने वाला मजदूर चुनाव मे भला एक लखपति का मुकाबला कैसे कर सकता है ? मताधिकार तो हमने राज्य के प्रत्येक वयस्क (Adult) को दे दिया, परन्तु उसे रोटी-कपडे का अधिकार नही दिया। ऐसी अवस्था मे वह अपने वोट का उचित प्रयोग नही कर सकता। धनिक वर्ग अपने पैसे के बल से उसे खरीद सकता है। इस हालत मे समाज मे वर्ग-संघर्ष (Class struggle) उत्पन्न हो जाता है, समाज अमीर तथा गरीब और शोषित तथा शोषक वर्ग मे बँट जाता है। सामाजिक शान्ति और व्यवस्था खत्म हो जाती है। जर्मनी, इटली तथा स्पेन मे ऐसी ही स्थिति मे राजनीतिक प्रजातन्त्र का गला घोट दिया गया था। अत प्रजातन्त्र सामाजिक तथा राजनीतिक के साथ-साथ आर्थिक भी होना चाहिए।

१०२ प्रजातन्त्र के प्रकार (Forms of Democracy)

प्रजातन्त्र के दो प्रकार बताये गये हैं—(१) शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष (Pure or Direct), तथा (२) प्रतिनिधिक अथवा अप्रत्यक्ष (Representative or Indirect)।

शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के अन्तर्गत जनसामान्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से करता है। वह स्वय शासन की मशीनरी का नियन्त्रण करता है और विविध राजनीतिक तथा आर्थिक मसलो पर अपने विचार प्रगट करता है, प्रतिनिधियो द्वारा नही। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के अन्तर्गत प्रजा एक विराट जनसभा के रूप मे एकत्रित होती है और शासको के निर्वाचन के अतिरिक्त वह स्वय कानून का निर्माण करती है। प्राचीन यूनान के तथा रोम के नगर-राज्यो मे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का प्रचलन था। हमारे यहाँ भी अनेक छोटे-छोटे गणतन्त्रो मे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली के प्रचलन के उदाहरण मिल जाते हैं। स्विट्ज़रलैण्ड के चार छोटे राज्यो मे आज भी प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली का प्रचलन है। कुछ काल पहले प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली द्वारा शासित राज्यो की सख्या काफी थी, परन्तु अब यह बहुत घट गई है।

आज प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का स्थान अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र ले रहा है। इसके अनेक कारण है। पुराने समय मे राज्य आकार और अपनी जनसख्या मे बहुत छोटे थे। शासन-व्यवस्था तथा राजनीतिक समस्याएँ और सामाजिक जीवन पर्याप्त सरल थे। धीरे-धीरे जनसख्या की वृद्धि हुई, राज्य-क्षेत्र का भी विस्तार हो गया और राजनीतिक आर्थिक तथा सामाजिक जीवन जटिल हो गया। यह असम्भव हो गया कि राज्य के सम्पूर्ण नागरिक कही एक स्थान पर एकत्रित हो और वे राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओ पर विचार करें। आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओ का सुलझाव जनसाधारण की समझ से बाहर हो गया। ऐसी अवस्था मे विशालकाय राज्यो मे प्रतिनिधिक (Representative) प्रजातन्त्र का विकास हुआ।

परन्तु अभी भी अनेक ऐसे राज्य बाकी है जहाँ प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र के साथ-

साथ प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के भी कुछ प्रकार बचे हैं। कुछेक देशो मे तो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के इन प्रकारो को इसलिए अपनाया गया है कि वहाँ जनता प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र (Representative Democracy) के कार्यो मे सन्तुष्ट नही। प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र के अन्तर्गत पार्टीबाजी, स्वार्थ-साधन तथा रिश्वतखोरी से जनसामान्य का अपने प्रतिनिधियो पर विश्वास नही रहा, अत उन्होने शासन मे प्रत्यक्ष हिस्से का दावा किया। सयुक्त राज्य अमेरिका के अनेक राज्यो मे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की प्रणालियो को केवल इन्ही कारणो से अपनाया गया। जब कि स्विट्जरलैण्ड मे जन-सामान्य की प्रभुता को वास्तविक रूप देने के लिए प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के साधनों को स्वीकार किया गया।

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के इन साधनो द्वारा जनता कानून निर्माण मे भाग ले सकती है। ऐसी व्यवस्था की जाती है कि जब कभी कोई कानून पास किया जाय तो उस पर जनसामान्य के विचारो को जान लिया जाय, ऐसे साधन को अंग्रेजी में Referendum (जनमत-निर्णय) कहते हैं। जनता चाहे तो कानून को इस मत-प्रदर्शन द्वारा स्वीकार कर सकती है और अस्वीकार भी। इसी प्रकार जनता को अपनी मर्जी के या मनपसन्द के कानून बनाने के प्रस्ताव करने का भी अधिकार है, इसे अंग्रेजी मे Initiative या प्रस्तावाधिकार कहते है। यह अधिकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योकि यह जनसामान्य को विधान-निर्माण की शक्ति देता है। उस अधिकार का प्रयोग जनसामान्य अपने मनपसन्द कानून बनाने के लिए कर सकता है। तीसरे साधन द्वारा जनता अपने उन प्रतिनिधियो को वापस बुला सकती है जिनके कार्यो से वह सन्तुष्ट न हो। इस साधन को अंग्रेजी मे Recall और हिन्दी में प्रत्यावर्त्तन कहते हैं।

इस प्रकार जनसामान्य को विधेयात्मक (Positive) तथा निषेधात्मक (Negative) दोनो ही प्रकार के अधिकार मिल जाते हैं। वे न केवल ऐसे कानून को ही अस्वीकार कर सकते है जिसे कि वह पसन्द नही करते, बल्कि ऐसे प्रतिनिधियो को भी वापस बुला सकते है जिनके कार्यो से सन्तुष्ट नही और साथ ही अपने मनपसन्द के कानून बनवाने का भी अधिकार रखते हैं। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के ये साधन जन-प्रभुता के सिद्धान्त को एक वास्तविकता बना देते हैं। परन्तु इन साधनो का प्रयोग बहुत कम देशो मे होता है।

प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र (Representative Democracy)—जैसा कि हम ऊपर ही कह आये हैं वर्तमान काल मे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का स्थान प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र (Representative Democracy) ने लिया है। अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र मे राज्य का शासन जनता स्वयं नही चलाती है वरन् उसका सचालन जनता द्वारा चुने प्रतिनिधियो की जिम्मेदारी पर होता है। दूसरे शब्दो मे अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र राज्य-शासन की वह प्रणाली है जिसमे राज्य की इच्छा का निर्माण उसका पालन तथा प्रकटीकरण जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियो द्वारा होता है। निश्चय ही प्रजातन्त्र की विस्तृत व्याख्या के अन्तर्गत ही यह शासन-प्रणाली प्रजातन्त्रात्मक कही जा सकती है,

क्योकि प्रतिनिधि निर्वाचन का अधिकार जनसामान्य के एक सीमित वर्ग को ही दिया जाता है।

फिर इसका अर्थ यह भी है कि राज्य के सम्पूर्ण पदाधिकारियो का चुनाव जनता द्वारा हो या उनके प्रतिनिधियो द्वारा और वे अन्तत जनता के प्रति उत्तरदायी हो। परन्तु व्यावहारिक रूप मे ऐसा नही हो पाता। इग्लैण्ड, अमेरिका तथा भारत सभी जगह अनेक पदाधिकारियो की नियुक्ति कार्यपालिका करती है। साथ ही विधान-सभाओ के एकसदन के अधिकाश सदस्य भी आवश्यक नही जनसाधारण द्वारा चुने जाये। अनेक वार उनको कार्यपालिका नामजद करती है और अनेक वार उनका निर्वाचन इस ढग से किया जाता है कि उसे प्रजातन्त्रात्मक नही कहा जा सकता। इग्लैण्ड के 'हाउस ऑफ लार्डस' के सभी सदस्य ऐसे है जिन्हे कभी जनता ने नही चुना। कनाडा के दूसरे सदन के सभी सदस्य कार्यपालिका (Executive) द्वारा नामजद किये जाते है। अमेरिका मे अनेको ऐसे पदाधिकारियो की नियुक्ति की जाती है जो किसी भी तरह प्रजा के प्रतिनिधि नही कहला सकते। इसी कारण कुछ एक राजनीति शास्त्री आज के प्रजातन्त्रो को कुलीनतन्त्र कहना अधिक पसन्द करते है। फिर भी हमे यह मानना ही पडेगा कि वर्तमान काल मे इस प्रकार के प्रजातन्त्रो मे अन्तत जनसामान्य की इच्छा के सम्मुख राज्य के सभी निर्वाचित तथा नियुक्त अधिकारियो को झुकना पडता है। जनसामान्य की इच्छा ही प्रभुता तथा कानून का अन्तिम तथा वास्तविक स्रोत है।

प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र का प्रचलन कहाँ और कैसे हुआ, यह कह सकना कठिन है। प्रतिनिधिक प्रणालियाँ तथा सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रतिनिधिक सस्थाएँ सभी देशो मे मिल जाती है। ऋग्वेद मे सभा तथा समिति का जिक्र आता है। बौद्ध-युग मे विदेह, मिथिला तथा लिच्छवियो के यहाँ प्रतिनिधि व्यवस्था मिलती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी भारत के विभिन्न विभागो मे मौजूद प्रतिनिधि सस्थाओ का वर्णन मिलता है। यूरोप के विषय मे अनेक विचार है, कुछेक लेखको का यह विचार है कि इसकी उत्पत्ति प्राचीन काल मे स्विट्जरलैण्ड, हॉलैण्ड, जर्मनी तथा हगरी मे हुई। हेनरी फोर्ड इत्यादि दूसरे लेखक इसे इग्लैण्ड की देन समझते है। इसका वर्तमान रूप मे विकास १७वी सदी मे इग्लैण्ड मे शुरू हुआ। वाद मे धीरे-धीरे इसका प्रचार अन्य राज्यो मे भी होने लगा। फ्रांस, इटली तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे इग्लैण्ड की देखा-देखी ही इसे अपनाया गया। वस्तुत प्रो० मनरो का यह कथन ठीक ही है कि प्रतिनिधिक प्रजातन्त्र के विकास के लिए सम्पूर्ण विश्व इग्लैण्ड का ऋणी है। इग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट ही ससार की सम्पूर्ण विधानपालिकाओ को जन्म देने वाली है। अमेरिका के सवैधानिक सगठन मे अन्तर अवश्य है, परन्तु मनरो का विचार है कि यह अन्तर आधारभूत नही।

प्रजातन्त्र के गुण—शासन-प्रणाली के रूप मे प्रजातन्त्र के कुछ विशेष गुण है, जिन्हे हम इस प्रकार रख सकते है—

(१) प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की उच्च भावनाओ पर

आधारित है। वह समाज के सभी सदस्यो की समानता को स्वीकार करता है, उन्हे राज्य-शासन के सचालन मे हिस्सा देता है। इसमे कोई शक नही कि यह लोकतन्त्र की ही देन है कि जाति, धर्म, रग तथा लिग के आधार पर माने जाने वाले सभी भेदो को न केवल अनावश्यक ही माना जाता है अपितु अनैतिक और अमानवीय भी। लोकतन्त्र ने ही परम्परा से चली आती इस कहावत को झूठा साबित किया है कि कुछ लोग शासन करने के लिए उत्पन्न हुए है और कुछ शासित होने के लिए ही। व्यक्ति सम्मान को जितना महत्त्व लोकतन्त्र मे मिलता है अन्यत्र कही नहीं। मनुष्य को मनुष्य के रूप मे समझने की सीख जनतन्त्र ही देता है। अमीर, गरीब, उच्च तथा निम्न वर्ग से सम्बन्धित सभी को एक ही पद प्रदान कर प्रजातन्त्र, जनसाधारण को भी आगे बढ़ने तथा ऊँचा उठने का अवसर देता है। लार्ड ब्राइस ने इसी बात को यूँ कहा है कि राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति ने व्यक्ति को व्यक्तित्व तथा मानवता को गौरव प्रदान किया है और इस प्रकार उसका नैतिक स्तर ऊँचा हुआ तथा उसमे कर्त्तव्यो की उच्चतर भावना उत्पन्न हुई।

प्रो० डायसी लिखता है कि लोकतन्त्र मे अधिकारों की समानता तथा परिस्थितियो और भावनाओ तथा आदर्शों की एकता होती है। हरेक व्यक्ति अपने को समाज का आवश्यक और सम्मानित सदस्य समझता है। प्रजातन्त्र ने प्राचीन काल से चली आती जनसाधारण मे व्याप्त हीनता की भावना (Inferiority complex) को खत्म कर दिया है।

(२) प्रजातन्त्र एक कुशल शासन-व्यवस्था है। वह राज्य के उन आधारभूत उद्देश्यो को पूर्ण करती है जिनके लिए राज्य की स्थापना की गई है। राज्य का उद्देश्य जहाँ वैयक्तिक जीवन की बाहरी तथा अन्दरूनी भयो तथा आपत्तियो से रक्षा करना है वहाँ वह जनसाधारण के सामूहिक हित को बढ़ाने के लिए भी जिम्मेदार है। प्रजातन्त्र ही एक इस प्रकार का शासन है जहाँ कि अधिक से अधिक जनता की, अधिक से अधिक सुख की अभिवृद्धि हो सकती है। एक व्यक्ति या एक श्रेणी का शासन जनसामान्य के सामूहिक हित की हमेशा ही अवहेलना करता है।

फिर प्रजातन्त्र की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह जन-सहमति पर आधारित है। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत ही जनसाधारण अपने शासको को अपने नियन्त्रण मे रख सकता है। गार्नर के शब्दो मे "सार्वजनिक चुनाव, सार्वजनिक नियन्त्रण तथा सार्वजनिक उत्तरदायित्व द्वारा अन्य किसी भी शासन-प्रणाली की अपेक्षा कहीं अधिक कुशलता के आश्वासन की सम्भावना है।"[1]

(३) जन-सहमति पर आधारित होने के कारण ही प्रजातन्त्र अन्य शासन-प्रणालियो की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है, जनसामान्य अपनी मन-मर्जी के अनुसार अपने शासको मे तबदीली कर सकता है, इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसे

1 'Popular election, popular control and popular responsibility are more likely to ensure degree of efficiency than any other system of government."—*Garner*.

क्रान्तिकारी या हिंसापूर्ण साधनो के इस्तेमाल करने की जरूरत ही नही रहती। वस्तुत क्रान्तियो का जितना भय अन्य राज्यो मे होता है उतना प्रजातन्त्र मे नही— विशेष रूप से स्विट्जरलैण्ड जैसे प्रजातन्त्र मे।

(४) जे० एस० मिल तथा लार्ड ब्राइस दोनो ही प्रजातन्त्र की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करते है। मिल ने प्रजातन्त्र की परिभाषा करते हुए कहा है, "**प्रजातन्त्र प्रणाली मे समस्त जनता अथवा उसका एक विशाल भाग समय-समय पर अपने चुने प्रतिनिधियो के द्वारा शासन करता है।**"[1] मिल के मतानुसार इसकी श्रेष्ठता का यही कारण नही कि अन्तत इसमे सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ मे रहती है, वल्कि इसलिए भी कि इसमे राज्य का प्रत्येक नागरिक अपनी योग्यतानुसार समय-समय पर अवसर मिलने पर सार्वजनिक तथा स्थानीय कार्यो के निभाने मे प्रत्यक्ष जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है।

लार्ड ब्राइस प्रजातन्त्र मे कुछ दोषों की मौजूदगी को भी स्वीकार करता है, फिर भी मानता है कि अमन, कानून तथा व्यवस्था, रक्षा, न्याय इत्यादि आवश्यक कर्त्तव्यो का पालन तो सभी राज्य कर लेते हैं, परन्तु यह तो प्रजातन्त्र की ही विशेषता है कि वह सदा जनसामान्य—विशेष रूप से निर्धनतम वर्ग की उन्नति तथा कल्याण के लिए अनथक प्रयत्न करता है।

(५) प्रजातन्त्र शासन का शिक्षात्मक मूल्य भी है। प्रजातन्त्र की शासन-प्रणाली जनसामान्य मे राजनीतिक जागरण को उत्पन्न करती है, उनमे आत्म-विश्वास, स्वशासन की भावना, उदारता, सहयोग, पारस्परिक मिल-वरतन, सेवा, आत्म-त्याग इत्यादि अनेक चारित्रिक खूबियो को भरती है। यही कारण है कि यह कहा जाता है कि सुशासन स्वराज्य का स्थान कभी नही ले सकता।

(६) प्रजातन्त्र राष्ट्रीय भावना तथा देश-प्रेम को जागृत करता है। प्रत्येक नागरिक यह समझता है कि वह कानून तथा शासन के रूप का निर्माता स्वय है, शासकगण उसके भाग्य-निर्माता नही अपितु उसके सेवक हैं। ऐसी अवस्था मे जहाँ उसमें कानून के प्रति ऐच्छिक आज्ञाकारिता की भावना उत्पन्न होती है, वहाँ उसमे उत्कट राष्ट्र-प्रेम भी पैदा होता है। लॉवेल ने इस वात का समर्थन फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के अनन्तर उत्पन्न उत्कट देश-प्रेम का उदाहरण देकर किया है।

(७) प्रो० गेटल ने कहा है कि "लोकतन्त्र मे राज्य प्रभुता शक्ति पर नहीं अपितु सहमति पर स्थित रहती है तथा यह 'व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए है' को न मानकर 'राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है' ऐसा मानता है। इसमे वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सवैधानिक रूप से अधिक सुरक्षित रखे जाने की सम्भावना है। इसके द्वारा जनता का विकास तथा उसे उन्नत करना, सार्वजनिक कार्यो मे उनकी रुचि का जगाना है, तथा ऐसी सरकार मे व्यक्ति सक्रिय भाग लेते हैं यही उसकी महत्ता उसकी भक्ति तथा दृढ़ विश्वास के कारण हैं।"

---

1 "The whole people of some numerous portion of them exercise the governing power through deputies periodically elected by themselves"—*J S Mill*

(८) प्रजातन्त्र सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सुधार के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करने मे बहुत सफल होता है। इतिहास इस बात की गवाही देता है कि पिछले कुछ सालो मे जितने सामाजिक तथा आर्थिक सुधार हुए उतने कभी भी राजतन्त्र या कुलीनतन्त्र मे नही हो पाए। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत प्रगतिशील दल अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करते है और शासन मशीनरी पर अधिकार जमा अपने प्रगतिशील प्रोग्राम को शासन-नीति मे बदल देते है।

लोकतन्त्र का उद्देश्य ही जनकल्याण है, अत इसमे पुराने सडे-गले रीति-रिवाज, जो सामाजिक असमानता तथा अनैतिकता के जनक होते है, उन्हे जन-सहमति से खतम किया जा सकता है।

(९) अन्त मे हमे यह नही भूलना चाहिए कि लोकतन्त्र सामाजिक एकता का सर्वोत्कृष्ट साधन है। ड्यूए (Dewey) ने कहा है, "प्रजातन्त्र ऐसे सामाजिक संगठन के आदर्श के अत्यन्त निकट है जिसमे व्यक्ति तथा समाज का सावयव सम्बन्ध रहता है। व्यक्ति समाज का उसी तरह का अटूट भाग है जिस प्रकार किसी शरीर के विभिन्न अंग। इस आपस की सावयवी (Organic) एकता का अनुभव व्यक्ति लोकतन्त्र मे अधिक करता है। व्यक्ति अपने अन्दर सामाजिक इच्छा और भावना को अनुभव करता है। प्रत्येक नागरिक राज्य प्रभुता का भागीदार होता है।"

प्रजातन्त्र के दोष—प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो की बडी तीव्र आलोचना की जाती है। वैसे तो प्रजातन्त्र के आलोचक प्रजातन्त्रवादियो मे भी मिल जाते है परन्तु वे लोग प्रजातन्त्र के दोषो को वैसे ही प्रकृत रूप मे स्वीकार करते है जैसे दूसरी शासन-प्रणालियो के। उनका कथन है कि प्रजातन्त्र शासन प्रणाली मे दोष अवश्य है परन्तु उपयुक्त साधन अपनाकर उन्हे दूर किया जा सकता है। प्रजातन्त्र के कुछेक ऐसे भी आलोचक है, जो कि उसे सर्वथा पसन्द नही करते, और उसे समाप्त कर देना ही अधिक ठीक समझते है। प्रजातन्त्र की प्रथम प्रकार की आलोचना बहुत कुछ व्यावहारिक कठिनाइयो से उत्पन्न हुई है। प्लेटो तथा अरस्तू ने प्रजातन्त्र को अनुत्तरदायी समूह का शासन समझते हुए उसे राज्य का एक विकृत-स्वरूप कहा है। इसी तरह वर्तमान युग के विचारक टेलीरेण्ड ने प्रजातन्त्र को नीचो का कुलीनतन्त्र' (Aristocracy of blackguards) कहा है। एच० जी० वेल्स का कथन है कि "वर्तमान राज्यो में चुने हुए प्रजातन्त्रात्मक शासन के हक मे कोई ऐसी बात नहीं कि जिसका पाँच मिनट मे खण्डन न किया जा सके।" निस्सन्देह प्रजातन्त्र की उपर्युक्त आलोचना एकपक्षीय है और पूर्वाग्रहो (Prejudices) पर आधारित है। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर प्रजातन्त्रवाद के विरुद्ध जनसामान्य मे पर्याप्त अविश्वास तथा असन्तोष की भावना फैल गई। अनेक स्थानो पर प्रजातन्त्रात्मक सरकारे आर्थिक सकटो का मुकाबला न कर सकने के कारण असफल हो गई और उनका स्थान तानाशाही ने लिया। नीचे हम प्रजातन्त्र के विरुद्ध उपस्थित किये गये विभिन्न प्रकार के तर्को का विवेचन करेगे।

(१) प्रजातन्त्र के आलोचको का विचार है कि प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त

अत्यधिक कल्पनावादी और आदर्शवादी हैं। प्रजातन्त्र का आधार जनसामान्य की समानता है। प्राणिशास्त्र की दृष्टि से प्रजातन्त्रात्मक समानता एक कोरी गप्प के सिवा कुछ नही। कुछेक अमेरिकन तथा जर्मन विचारको ने विभिन्न परिवारो तथा जातियो (Races) की प्राकृतिक उच्चता को सिद्ध करने का यत्न किया है। सर फ्रासिस गॉल्टन ने (Sir Francis Galton) ने कुछेक महान् पुरुषो के जीवन का अध्ययन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये महान् पुरुष कुछेक निश्चित परिवारो मे ही उत्पन्न हुए हैं।

जर्मन, इटेलियन तथा जापानियो ने जातीय उच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए विभिन्न देशो तथा राष्ट्रो मे एक प्रकृत असमानता को स्वीकार किया है। अत बहुत से विचारको का मत है कि प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली जीवविज्ञान के आधार-भूत सिद्धान्तो के ही विरुद्ध है, और वह मिथ्या तथा भ्रामक तत्त्वो पर आधारित है।

(क) सस्कृति, शिक्षा तथा राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना की दृष्टि से भी समाज के सभी वर्ग बराबर नही हो सकते, परन्तु प्रजातन्त्र सभी नागरिको को बराबर समझता है। मूर्ख और बुद्धिमान, शिक्षित तथा अशिक्षित, सस्कृत तथा असस्कृत सभी बराबर समझे जाते हैं। प्रजातन्त्र मे गुण का महत्त्व नही, सख्या का महत्त्व है। वोटों की गणना होती है, परख नही। ऐसी अवस्था मे शासनतन्त्र के अन्तर्गत विशेष योग्यतासम्पन्न व्यक्तियो का अपमान होता है, और बहुमत द्वारा समर्थित अनजान और विवेकहीन पुरुषो का आदर किया जाता है। अक्सर यह कहा जाता है कि राज्य मे बुद्धिमान तथा विवेकसम्पन्न मनुष्यो की सख्या कम होती है और मूर्खों तथा अशिक्षितो की सख्या अधिक होती है। प्रजातन्त्र बहुमत का शासन है। यही कारण है कि प्रजातन्त्र को अयोग्यतम तथा क्षमताशून्य लोगो का शासन कहा जाता है।

(२) प्रजातन्त्र को अधिकाश मे अज्ञात, अशिक्षित तथा अयोग्य व्यक्तियो का शासन इसलिए भी कहा जाता है कि इसमे राज्य-शक्ति ऐसे आदमियो के हाथो मे रहती है जिन्हे राज्य-शासन का कतई अनुभव नही होता। शायद प्लेटो ने कहा था कि शासन एक कला है, उसमे सफलता प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक योग्यता, निपुणता तथा अनुभव की आवश्यकता है। परन्तु प्रजातन्त्र मे अक्सर ऐसे लोग शासक होते हैं जिन्हे राज्य शासन के क, ख, ग, का भी पता नही होता। यदि सरकार के किसी भी महकमे के लिए किसी एक मामूली अधिकारी की नियुक्ति करनी होती है तो उसकी शिक्षा-दीक्षा, सदाचार, अनुभव इत्यादि पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है, परन्तु मन्त्रियो की नियुक्ति मे या विधान-सभा के सदस्यो के चुनाव मे ऐसी किसी भी योग्यता का विचार नही किया जाता।

(३) चुनाव मे मतदान करते हुए जनता तर्क से काम नही लेती। प्रचार के अनेक साधनो द्वारा निर्वाचको के मत का निर्माण किया जाता है। अक्सर वह नेता तथा राजनीतिक दल सफल होते हैं जो व्यक्ति (नागरिक) के भावो को प्रेरित करते हैं। भावनाओ के वशीभूत हो कोई भी निर्वाचक अपने प्रतिनिधियो का ठीक ठीक

चुनाव नही कर पाता। नेता लोग अक्सर झूठे तथा दम्भपूर्ण भाषणों द्वारा आम जनता को भड़काते है और उन्हे एक प्रकार से बेवकूफ बना लेते है। वर्तमान सामाजिक मनोविज्ञानशास्त्रियों का कथन है कि प्रजातन्त्र मे सर्वत्र ही तर्क और विवेक का अभाव रहता है। राजनीतिक सभाओं मे, राजनीतिक पार्टियो मे तथा विधानपालिकाओं मे सभी जगह भीड मनोविज्ञान (Mob-Psychology) का ही बोलबाला रहता है। जहाँ राजनीतिक समस्याओं का निपटारा विवेक तथा तर्क से नही अपितु भावावेश मे किया जाय, वहाँ राज्य-शासन मे कुशलता (Efficiency) कैसे उत्पन्न हो सकती है। यही कारण है कि **प्रजातन्त्र को अयोग्यता के शासन** (Cult of incompetence) **का पर्यायवाची माना गया है।**

(४) यह कहना भी सर्वथा गलत है कि प्रजातन्त्र वस्तुत जनता का राज्य है। चुनाव लडना और राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करना कोई आसान काम नही। जनसाधारण के पास न तो इतना रुपया-पैसा ही होता है और न इतना अवसर ही कि वह चुनाव लड सके और जनमत का निर्माण कर सके। केवल धनी-मानी लोग ही चुनाव लडते है, वही विधानसभाओ तथा कार्यपालिकाओ के सदस्य बन राज्य का शासन चलाते है। वर्तमान प्रजातन्त्र, प्रजातन्त्र न हो 'धनिकतन्त्र' (Oligarchy) है। जनता के पास वोट देने का ही अधिकार है, और अमीर आदमी वोट भी खरीद सकते हैं। यही नही धनिकवर्ग विधानपालिका तथा कार्यपालिका के सदस्यो को भी खरीद लेते है। अमेरिका तथा इग्लैण्ड मे अक्सर ऐसा होता है।

(५) मतदातागण भी चुनाव के मामले मे कोई विशेष दिलचस्पी जाहिर नही करते। जब कभी चुनाव होते है तो बहुत कम ऐसे मतदाता होंगे जो कि समझदारी से वोट के अधिकार का प्रयोग करते है, अधिकाश बिना सोचे-समझे ही वोट दे आते है जब कि लोगो की एक बडी सख्या वोट का प्रयोग ही नही करती। अमेरिका मे मताधिकारप्राप्त लोगो मे से केवल पचास प्रतिशत लोग ही वोट देते है। एक राज्य मे तो एक बार केवल छ प्रतिशत लोगो ने ही चुनाव मे भाग लिया। स्विट्जरलैण्ड मे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र-प्रणाली के अनेक साधन है, वहाँ भी यही शिकायत की जाती है कि लोग अपना काम-काज छोड चुनाव मे वोट डालने आना पसन्द नही करते, उन्हे उसमे कोई दिलचस्पी ही नही होती।

(६) नैतिक दृष्टि से भी प्रजातन्त्र की आलोचना की जाती है। प्रजातन्त्र मे दम्भ, झूठ, रिश्वतखोरी और जालसाजी का बोलबाला होता है। राजनीतिक प्रचार के लिए झूठे प्रोग्राम बनाये जायेंगे, झूठे वायदे किये जायेंगे और राजनीतिक सत्ता को प्राप्त कर अपने समर्थको को खुश करने के अनेक अनैतिक साधनो का प्रयोग किया जायगा। अगर एक आदमी झूठ बोलता है तो विरोधी लोग उससे भी अधिक झूठ का प्रचार करेंगे। सत्य, न्याय तथा नैतिकता को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। केवल एक उद्देश्य होता है, राजनीतिक सत्ता को हथियाने के लिए अधिक से अधिक वोट प्राप्त करना। अनेक बार राजनीतिक पार्टियाँ अनेक दुराचारी तथा दम्भी व्यक्तियो को प्रश्रय देती है।

(७) प्रजातन्त्र मे **स्वतन्त्रता और समानता का भी अभाव होता है।** यह कहना फजूल है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता केवल प्रजातन्त्र शासन प्रणाली की ही देन है। प्रजातन्त्र के नेता अपने स्वार्थ-सिद्ध करने के लिए जनता को गुमराह करते हैं, उनको फुसलाते हैं और झूठे खतरे दिखा उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेते हैं। वहुमत अल्पमत को कुचलने का हर सम्भव प्रयत्न करता है। **प्रजातन्त्र को वहुमत का अत्याचारपूर्ण शासन (Tyranny) कहना भी असगत नहीं होगा।** अल्पमत को अपने सिद्धान्तो के प्रचार का अवसर ही नही दिया जाता। सयुक्त राज्य अमेरिका मे भी प्रजातन्त्र है, परन्तु क्या वहाँ पूर्ण वैयक्तिक स्वतन्त्रता है ? अगर ऐसा होता तो वहाँ के साम्यवादी नेताओ के साथ दुर्व्यवहार क्यो किया जाता। यही नही, वहाँ साम्यवादी साहित्य जला दिया गया और प्रगतिशील विचारो के लोगो को हर तरह से तग करने के प्रयत्न किये गये।

(८) प्रजातन्त्र मे सरकार स्थायी भी नही होती। दलवन्दी के कारण पार्टियो के पारस्परिक सम्वन्धो से परिवर्तन होते रहते है, फलत सरकारें वनती और टूटती रहती है। फ्रास मे जहाँ कि वहुपार्टी व्यवस्था (Multiple party system) थी एक सरकार की औसत आयु ६ मास से ज्यादा नही होती थी। ऐसी हालत मे एक प्रजातन्त्रात्मक सरकार किसी भी निश्चित, सुस्पष्ट तथा अटूट नीति का सचालन नहीं कर पाती।

(९) सर हेनरी मेन इत्यादि विचारको का यह मत है कि प्रजातन्त्र के अन्तर्गत वैज्ञानिक तथा सास्कृतिक विकास असम्भव है। उसका कथन है कि **"मुझे यह सर्वथा निश्चित प्रतीत होता है कि अगर पिछली चार सदियो से इस देश मे पूर्ण मतदान होता तथा निर्वाचन का अधिकतम अधिकार व्यक्तियो को दिया जाता, तो न तो धार्मिक सुधार ही हुए होते, न राज-वशों के परिवर्तन हो पाते और न ही मतभेद सहिष्णुता ही उत्पन्न हो पाती, यहां तक कि कोई निश्चित कलैण्डर भी न वन पाता। धान कूटने तथा सफा करने की बड़ी मशीनें बिजली तथा वाष्प-शक्ति द्वारा संचालित करघा, कातने की मशीनें और सम्भवत स्टीम इजिन वगैरा का बहिष्कार कर दिया गया होता।"**[1] ठीक इसी प्रकार के विचार, फ्रेंच विचारक गुस्ता,वेले वॉन (Gustavele Bon) ने भी अभिव्यक्त किये हैं। उसने लिखा है कि **"जिस समय यान्त्रिक करघो का या वाष्प-शक्ति तथा रेलवे का विकास हुआ था अगर उस समय प्रजातन्त्र इतना ही सत्ता-सम्पन्न होता जितना कि आज है तो इन आविष्कारो का होना असम्भव हो जाता या फिर क्रान्तियाँ तथा कत्लेआम होकर ही हो पाता।**

1 "It seems to me quite certain that, if for four centuries there had been a very widely extended franchise and very wide electoral body in this country, there would have been no reformation of religion, no change of dynasty, no toleration of dissent, not even an accurate calendar The threshing-machines the power-loom, the spinning-jenny and possibly the steam-engine, would have been prohibited' —*Henery Maine*

सभ्यता के विकास के लिए यह सौभाग्य की बात है कि 'भीड की शक्ति का जन्म इन महान् वैज्ञानिक तथा औद्योगिक आविष्कारो के अनन्तर ही हुआ।''[1] डी० ताकवेल ल्लशली तथा ट्रीटस्के इत्यादि ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

(१०) प्रजातन्त्र शासन के विरुद्ध व्यावहारिकता पर आधारित एक गम्भीर आक्षेप है कि इस मे धन और समय दोनो की ही फजूलखर्ची होती है। जनमत के निर्माण पर, चुनाव के प्रचार पर और बार-बार के चुनावो पर अमित धन-राशि खर्च करनी पडती है। सयुक्त राज्य अमेरिका, इग्लैण्ड तथा भारत मे हुए चुनावो मे विभिन्न उम्मीदवार अपने-अपने चुनावो के लिए लाखो रुपया खर्च करते हैं। इस धन-राशि का प्रयोग राज्य मे रचनात्मक कार्यों के लिए किया जा सकता है। मन्त्रिमण्डल तथा शासन की दुहरी व्यवस्था पर भी अपार धन-राशि को खर्च किया जाता है।

इसी प्रकार प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के अन्तर्गत विधानमण्डलो मे एक-एक बिल पर अनेक बार बहस होती है जब कि उनको कुछ ही दिनो मे स्वीकृत किया जा सकता है। हिन्दू-कानून के सुधार के लिए अनेक वर्षो से ही प्रयत्न किये जा रहे हैं, परन्तु अभी तक वह निर्णयात्मक और अन्तिम रूप नही धारण कर सका।

(११) लोकतन्त्र युद्ध और सकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिए तथा वैदेशिक नीति के सफल प्रयोग मे सदा ही असफल रहता है। युद्ध तथा सकट-कालीन स्थिति का सामना करने के लिए शक्ति की और एकता की आवश्यकता होती है, उसके विकेन्द्रीकरण की नही। परन्तु प्रजातन्त्र के अन्तर्गत ऐसा नही हो पाता। वैदेशिक नीति के अनुसरण मे असफलता के उदाहरण तो अनेक मिल जाते हैं। प्रेसीडेण्ट विल्सन ने सयुक्त राज्य अमेरिका की ओर से वर्साई की शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे परन्तु सीनेट ने उसे नामजूर कर दिया। इसी तरह अनेक बार अनेक कूट-नीतिक तथ्यो को विधानसभाओ के सम्मुख रखना पडता है जिनका परिणाम यह होता है कि दूसरे देशो मे कोई भी बात गुप्त नही रखी जा सकती।

प्रजातन्त्र पर कुछ विशेष विचारको के विचार—प्रजातन्त्र पर सर हेनरी मेन के क्या विचार हैं, इसका हमने थोडा-बहुत सकेत ऊपर किया है। हेनरी मेन की तरह ही लार्ड ब्राइस ने भी प्रजातन्त्र पर अपने विचार प्रगट किये हैं। लार्ड ब्राइस ने विभिन्न प्रजातन्त्रात्मक शासनो के काम-काज का बडा गम्भीर तथा पक्षपातहीन अध्ययन किया था उसके आधार पर उसने प्रजातन्त्र मे नीचे लिखे दोषो की मौजूदगी स्वीकार की है।

(क) प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली मे धन का अत्यधिक महत्त्व होता है।

---

1 "Had democracies possessed the power they wield to-day at the time of the invention of mechanical looms, or of the introduction of steam power and of railways, the realization of these inventions would have been impossible or would have been achieved at the cost of revolutions and repeated massacres It is fortunate for the progress of civilization that the power of the crowds only began to exist when the great discoveries of science and industry had already been affected"—*Gustave Le Bon.*

धन का प्रयोग अक्सर शासन-व्यवस्था को दूषित करने के लिए किया जाता है। धन के बल पर ही पूंजीपति लोग विधानपालिका, कार्यपालिका और कुछ अशो मे न्यायपालिका को भी अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत ले आते है।

(ख) प्रजातन्त्र के अन्तर्गत कुछ लोग राजनीति को एक पेशा ही बना लेते है।

(ग) शासन-व्यवस्था पर बहुत अधिक खर्च करना पडता है।

(घ) समानता के सिद्धान्त का दुरुपयोग किया जाता है। शासन-व्यवस्था के सचालन के लिए विशेष निपुणता की आवश्यकता होती है, परन्तु प्रजातन्त्र के अन्तर्गत इस तथ्य की ओर ध्यान ही नही दिया जाता।

(ङ) प्रजातन्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक पार्टियाँ होती है। इनकी शक्ति की अनुचित रूप से अभिवृद्धि हो जाती है। साथ ही राजनीतिक पार्टियाँ अपने दलगत स्वार्थो के लिए सार्वजनिक हितो की उपेक्षा करती है।

(च) राजनीतिज्ञ लोग वोट प्राप्त करने के लिए सौदेबाजी करते हैं। सरकारी नौकर कानून की जान-बूझकर की गई अवज्ञा को भी डर से सहन करने लगते है।

लार्ड ब्राइस की भाँति प्रो० बार्कर लेवा तथा अमेरिका के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो० गिडिंग्ज ने भी प्रजातन्त्र की आलोचना की है। बार्कर कहता है कि **"प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली से शासन की कार्य-क्षमता को बडा नुक्सान पहुँचता है। साराश मे प्रजातन्त्र उन थोडे से होशियार आदमियो का शासन है, जो सफलतापूर्वक निर्वाचकों को अपनी ओर खींच सकें।"**[1] लेवॉ लोकतन्त्र पर भावुकता के अत्यधिक प्रभाव को स्वीकार करता हुआ उसे भीड का शासन मानता है। **प्रो० गिडिंग्ज प्रजातन्त्र मे दो प्रमुख दोष मानता है (१) "अमर्यादित भावुकता जिसकी अभिव्यक्ति भीडो के हिंसापूर्ण कार्यो मे तथा क्रान्तियो में होती है, और जो थोडी सख्या के लोगो के अधिकारों को दबाकर भीड की मनमानी का समर्थन करती है। (२) दूसरा सकट है राष्ट्रीय चरित्र की गिरावट।"**

१०३. प्रजातन्त्र का समर्थन

प्रजातन्त्र के अनेक दोषो का विवरण हम ऊपर दे आए है, साथ ही उससे पहले प्रजातन्त्र के गुणो का विवेचन भी हो चुका है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वस्तुत ही प्रजातन्त्र सर्वथा निकम्मी शासन-प्रणाली है और वह भावुकता तथा तर्कहीनता पर आधारित है तथा उसको खत्म किये बिना हमारा गुजारा ही नही? एक बात तो हमे माननी ही पडेगी कि प्रजातन्त्र पर लगाए गए अधिकाश आरोपो में पर्याप्त सत्याश है, वे सर्वथा निराधार नही। परन्तु अनेक दोषो का बडा अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है और अनेक आलोचनाओ का आधार प्रजातन्त्र के प्रति परम्परागत विद्वेष तथा अविश्वास है। आवश्यकता है निष्पक्ष दृष्टिकोण की तथा

---

1 "When all is said and done it means the rule of the few manipulators who can collect sufferage in their own favour with the greatest success"—*Barker*

वैज्ञानिक विवेचन की। मानवीय सस्थाएँ अपूर्ण होती है, उनमे पूर्णता असम्भव है क्योंकि मानवीय जीवन स्वय अपूर्ण है। हिन्दू-दर्शन के अनुसार इस विश्व मे अगर कोई सब प्रकार से दोषमुक्त और परम पूर्ण है तो वह परम ब्रह्म ही है, मनुष्य नही। अपूर्णता ही मानवीयता है। प्रजातन्त्र मानवीय सस्था है, वह हमारे जीवन की भांति ही अपूर्ण है, उसे सब प्रकार से पूर्ण समझना या पूर्ण बनाने की आशा करना निरा स्वप्न मात्र है।

इस यथार्थ दृष्टिकोण को आधार मानकर ही हम प्रजातन्त्र के स्वरूप का समर्थन कर सकते हैं। प्रजातन्त्र के आलोचको से एक ही प्रश्न पूछा जाना चाहिए कि प्रजातन्त्र के अतिरिक्त दूसरा रास्ता क्या है ? क्या कोई ऐसी दूसरी शासन-पद्धति है जो प्रजातन्त्र से श्रेष्ठ हो या कम-से-कम उसके बराबर हो ? कोई भी स्पष्ट उत्तर नही मिल पायेगा, दूसरी सभी शासन-प्रणालियो को अपनाकर देखा गया है परन्तु उनमे कोई भी ऐसी नही कि जो प्रजातन्त्र का स्थान ले सके। सदियो तक ससार ने कुलीनतन्त्र, अल्पतन्त्र तथा राजतन्त्र की परख की और उन्हे अपूर्ण तथा असफल पाया। आधुनिक युग मे तानाशाही का भी प्रयोग इटली, जर्मनी तथा जापान और रूस इत्यादि देशो मे किया गया, परन्तु उन द्वारा किस प्रकार उन आधारभूत मानवीय मूल्यो की अवहेलना की गई यह हम देख ही चुके हैं। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध इसके उदाहरण है। इन सभी शासन-प्रणालियो मे अच्छाइयाँ हैं, इनमे काफी गुण है, इस बात से इनकार नही किया जा सकता, परन्तु वे उन सभी आधारभूत मानवीय मूल्यो को अस्वीकृत हैं जिनकी सार्वजनिक मान्यता के लिए मनुष्य सदियो से लडता चला आया है। जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता इत्यादि के अधिकार कुछ ऐसे अधिकार हैं जो कि हमारे सभ्य मानवीय जीवन तथा संस्कृति के आधार हैं। व्यक्ति के महत्त्व की स्वीकृति ही आज के युग की सबसे बडी देन है, निश्चय ही हमारा मतलब ऐसे व्यक्ति से नही जो समाज से अलग हो। हमारा सकेत उसी व्यक्ति की ओर ही है जो कि समाज का आधार है और जिसकी नैतिक तथा भौतिक उच्चता की प्राप्ति समाज का उद्देश्य है। या यूं कहिए कि हमारा मतलब उस मानव से है, जो कि अब केवल मानव मात्र ही है—पुजारी या पुरोहित, राजा या प्रजा, उपासक या उपास्य नही। प्रजातन्त्र ही ऐसे मानव की अवस्थिति को स्वीकार करता है और उसके व्यक्तित्व के विकास के आधारभूत जीवन, सुरक्षा तथा स्वाधीनता के अधिकारो को मान्यता देता है, कोई भी अन्य शासन-प्रणाली ऐसा नही कर पायी। अन्य शासन-प्रणालियाँ व्यक्ति को साधन के रूप मे इस्तेमाल करती है, साध्य के रूप मे नही। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा जीवन के अधिकार आज पुराने सकुचित अर्थ मे इस्तेमाल नही किए जाते, वह केवल राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के परिचायक ही नहीं अपितु आर्थिक तथा भौतिक स्वतन्त्रता के भी सूचक है। अतः प्रजातन्त्र व्यक्ति के बौद्धिक, मानसिक, नैतिक तथा भौतिक विकास के लिए सर्वोत्तम शासन-पद्धति है। ऐसी अवस्था मे प्रजातन्त्र के परित्याग की बात ही निरर्थक तथा विवेकहीन है। प्रजातन्त्र पुरानी सभी प्रकार की शासन-प्रणालियो से श्रेष्ठ है।

सी०डी० बर्न्स ने सर्वथा ठीक कहा है, "कोई भी इस बात के मानने से इनकार नहीं करता कि मौजूदा प्रतिनिधि सभाएँ दोषपूर्ण हैं, अगर कोई मोटर गाडी कुछ खराब हो जाये तो उसको छोड बैलगाडी को अपनाना मूर्खतापूर्ण ही होगा, चाहे कितना ही आकर्षक क्यों न हो।"[1]

प्रजातन्त्र के मौजूदा दोष ऐसे नही कि जो इस शासन-प्रणाली से ही सम्बन्धित हो, वे तो मानवीय प्रकृति और चरित्र से सम्बन्धित हैं। उन्हें हमे शासन-पद्धति का दोष नही कहना चाहिए अपितु मनुष्य चरित्र की ही कमजोरियाँ समझना चाहिए। प्रजातन्त्र मे स्वार्थ-साधना, दलगत भावनाओ, रिश्वतखोरी इत्यादि की प्रधानता रहती है इसका कारण यही है कि मनुष्य-चरित्र दोषपूर्ण है, उसका प्रतिफलन शासन-व्यवस्था मे होता है। ये दोष ऐसे नही कि उन्हे दूर ही न किया जा सकता हो। वातावरण तथा शिक्षा-दीक्षा की उचित व्यवस्था के सयोजनसे ये सभी खराबियाँ दूर की जा सकती हैं। और प्रजातन्त्र के मौजूदा दोषो मे से अनेको को इस प्रकार खत्म किया जा सकता है। जनता के चरित्रवान सचेत तथा सुशिक्षित होने पर प्रजातन्त्र से पूर्ण और सफल शासन-प्रणाली सिद्ध हो सकती है।

प्रजातन्त्र की मौजूदा कमियो को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिए गये हैं। सर हेनरी मेन ने प्रजातन्त्र की तीव्र आलोचना की थी परन्तु उसका विश्वास था कि **"विवेकपूर्ण सविधान द्वारा प्रजातन्त्र की अशान्ति तथा उच्छृखलता को काबू किया जा सकता है।" लेकी ने प्रजातन्त्र की सफलता के लिए निम्नलिखित सुझाव पेश किये हैं—**

(१) सम्पत्ति तथा इकरार को सुरक्षित करने के लिए कठोर सविधान।

(२) आकस्मिक तथा क्षणिक विस्फोट से बचाव के लिए बहुमत की सत्ता को निरकुश न रहने दिया जाय।

(३) गुटबन्दियो पर रोक।

प्रजातन्त्र के दोषो का इलाज यान्त्रिक तथा औपचारिक न होकर आध्यात्मिक होना चाहिए। जनसामान्य के नैतिक मानदण्ड के ऊँचे उठने से ही प्रजातन्त्र सफल हो सकता है।

१०४ प्रजातन्त्र की सफलता के साधन

प्रजातन्त्र बहुत ही कठिन शासन-प्रणाली है, उसकी पूर्ण सफलता कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के आधीन ही हो सकती है। पाश्चात्य विचारको ने प्रजातन्त्र की सफलता की अनेक शर्तो का जिक्र किया है, इन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) **जागरूक, सचेत तथा बुद्धिसम्पन्न नागरिकता—"यह कथन सर्वथा सत्य है कि सतत जागरूकता ही स्वतन्त्रता की सबसे बडी कीमत है।"[2]** प्रजातन्त्र की

---

1. "No one denies that existing representative assemblies are defective, but even if an automobile does not work well, it is foolish to go back into a farm cart, however romantic"—*C D Burns*

2 "Constant vigilance is the price of liberty"

सफलता बहुत कुछ नागरिकों की राजनीतिक जागरूकता, विवेक-बुद्धि, शासकीय मामलों में स्थायी दिलचस्पी पर आश्रित है। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि प्रजातन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्त यह है कि इसका सचालन सब से अधिक बुद्धिमान विवेक सम्पन्न और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा हो। जहाँ जनसाधारण में सार्वजनिक मामलों के प्रति उदासीनता की भावना होती है, वहाँ प्रजातन्त्र राज्य सफल नहीं हो सकता।

(२) उच्च नैतिक चरित्र—भी प्रजातन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्त है। जनसाधारण में ईमानदारी तथा आत्मगौरव का मानदण्ड पर्याप्त ऊँचा होना चाहिए। एक भ्रष्ट समाज एक भ्रष्ट शासन-प्रणाली को जन्म देता है। प्रजातन्त्र तो दर्पण की तरह समाज के अच्छे या बुरे चरित्र को प्रतिबिम्बित कर देता है। प्रजातन्त्र में नेताओं के चरित्र की उच्चता तो और भी अधिक आवश्यक है। उन्हें साधारण प्रलोभनों से ऊँचा होना चाहिए, ईमानदार होना चाहिए और अपने राजनीतिक कर्त्तव्यों का पालन निधड़क होकर करना चाहिए। जनसाधारण को भी राजनीतिक पार्टियों के झूठे प्रचार से बचना चाहिए और अपने नागरिक तथा राजनीतिक कर्त्तव्यों का पालन ईमानदारी से करना चाहिए। सामाजिक सेवा में दिलचस्पी लेनी चाहिए और सामूहिक विकास की योजनाओं में यथाशक्ति सहयोग देना चाहिए।

(३) उच्च शिक्षा की व्यवस्था—राजनीतिक चेतना तथा विवेकपूर्ण नागरिकता बहुत कुछ शिक्षा-व्यवस्था पर आधारित होती है। अशिक्षित नागरिक सार्वजनिक मामलों के हल में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेता और अगर वह ले भी तो भी वह उन्हें समझ ही नहीं पायेगा। यदि हम चाहते हैं कि जनसाधारण वस्तुत सामाजिक जीवन के विकास में पूर्ण हिस्सा बटाये और उपयोगी सम्मति दे सके तो हमें अवश्य ही उच्च शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।

शिक्षा का अर्थ केवल मात्र पुस्तकों द्वारा संगृहीत ज्ञान-प्राप्ति ही नहीं या केवल पढ़ लिख सकने की योग्यता ही नहीं अपितु नैतिक उच्चता भी है। शिक्षा को दूसरे शब्दों में सहानुभूति, सहिष्णुता तथा सामाजिक कर्त्तव्य-भावना को भी उत्पन्न करना चाहिए।

(४) राज्य में नागरिक सहयोग—यह राज्य शासन-प्रणाली जनसामान्य के सहयोग के बिना चल ही नहीं सकती। अत नागरिकों को न केवल अपने कर्त्तव्यों का पालन ही करना चाहिए अपितु सरकार को न्याय तथा व्यवस्था बनाए रखने में सक्रिय सहयोग भी देना चाहिए। कानून-पालन के अतिरिक्त उन्हें टैक्सों को ईमानदारी से देना चाहिए। सरकार की विकास-योजनाओं के पूर्ण करने में सहयोग देना चाहिए और इसी प्रकार युद्धकालीन स्थिति में वे सभी कार्य करने चाहिएँ जिनसे राज्य की सुरक्षा हो सके।

(५) सहिष्णुता तथा एकता की भावना—प्रजातन्त्र राज्य आलोचना तथा विचारप्रकट करने की स्वतन्त्रता की उपस्थिति में ही फलता-फूलता है। साथ ही प्रजातन्त्र में बहुमत का शासन होता है अल्पमत की उपस्थिति रहती ही है। ऐसी अवस्था में लोगों में सहिष्णुता (Tolerance) होनी चाहिए, वे एक दूसरे की बात

को सुनें, समझें और उनकी आलोचना करें, प्रत्येक बात को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाएँ। बहुमत को भी अपने राजनीतिक तथा आर्थिक प्रोग्राम का अनुसरण इस ढग से करना चाहिए कि वह अल्पमत को अप्रिय न हो। आपस के छोटे-मोटे भेदभाव को भुलाकर राष्ट्रीय एकता की भावना को उत्पन्न करें। अगर उनमे सकुचितता असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तयता इत्यादि दुर्गुण होंगे तो उनसे राष्ट्रीय एकता स्थिर नही रह सकेगी और प्रजातन्त्र के अन्तर्गत विद्वेप तथा वैमनस्य फैल जायगा। विचारकों का कहना है कि लोगो को आपस के भेद-भाव भुलाकर एक राष्ट्रीयता का अनुभव करना चाहिए।

(६) **जागरूक प्रेस तथा सुसगठित राजनीतिक दल**—राष्ट्रीय एकता तथा सचेत जनमत के निर्माण मे स्वतन्त्र प्रेस और राजनीतिक पार्टियो का विशेष हाथ होता है। प्रेस की स्वतन्त्रता जनतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है। अगर प्रेस एक पार्टी के हाथ मे है, उसमे निष्पक्ष आलोचना नही रहती, उसमे केवल सरकार की प्रशसा ही रहती है, तो वह जनमत का निर्माण नही कर सकता। प्रजातन्त्र मे प्रेस की महत्ता तो इसी बात से पता लग जाती है कि उसे प्रजातन्त्र का चौकीदार कहा जाता है।

राजनीतिक दल भी जनमत का निर्माण करते हैं। वस्तुत वे तो प्रजातन्त्र की मशीनरी की मुख्य सचालक-शक्ति हैं। सुप्रसिद्ध अमेरिकन समाजशास्त्री मेकआइवर (MacIver) ने ठीक ही कहा है, **"राजनीतिक दलो के बिना सिद्धान्तो का एक सामान्य प्रगटीकरण, नीति का व्यवस्थित विकास तथा ससदीय चुनावों के सवैधानिक साधन का इस्तेमाल असम्भव है।"**[1]

(७) **राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण**—आज के युग मे प्रजातन्त्र की सफलता की एक बडी शर्त राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण है। राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण न केवल स्वस्थ राज्य शासन के विकास मे ही बाधक है और न केवल शासन की कुशलता (Efficiency) के लिए ही घातक है बल्कि स्वय प्रजातन्त्र का ही शत्रु है। राज्य-शक्ति का केन्द्रीकरण तानाशाही का जनक होता है, अत आज यह माना जाता है कि प्रजातन्त्र के अन्तर्गत सघ राज्य तथा स्थानीय स्वशासन (Local self government) का विकास किया जाना चाहिए। स्थानीय स्वशासन एक तो जनसाधारण के लिए प्रजातन्त्र के प्रारम्भिक शिक्षण-केन्द्र साबित होते हैं दूसरे वह स्थानीय समस्याओं के सुझाव के लिए स्थानीय व्यक्तियो को ही उत्तरदायी बना केन्द्रीय सरकार की जिम्मेदारी को घटा देते हैं। केन्द्रीय सरकार अपनी इस शक्ति का प्रयोग जनसामान्य के हित के लिए अन्य विकास-योजनाओ को पूर्ण करने में लगा सकती है। स्थानीय स्वशासन राष्ट्रीय प्रजातन्त्र का आधार होता है।

(८) **आर्थिक प्रजातन्त्र**—प्रजातन्त्र की पुरानी कल्पना चाहे जो रही हो आज-

---

1 "Without political parties there can be no unified statement of principles, no orderly evolution of policy and no regular resort to the constitutional device of parliamentary elections"—*Mac Iver*

कल वह अवश्य ही बदल गई है। आज सभी यह स्वीकार करते हैं कि प्रजातन्त्र एक ऐसे समाज में नहीं सफल हो सकता जहाँ एक ओर तो अत्यधिक गरीबी हो और दूसरी ओर अत्यधिक सम्पन्नता हो। समाज का ऐसा विभाजन वर्ग-युद्ध (Class-war) को पैदा करेगा, राज्य में अशान्ति और असहयोग को फैलायेगा और अन्त में हिंसात्मक कार्यवाहियों के रूप में समाज में प्रगट होगा।

राजनीतिक समानता आर्थिक समानता के बिना व्यर्थ है। उसकी कोई कीमत नहीं। आधे भूखे आदमी को वोट का अधिकार दे उसे राजनीतिक प्रभुता का ज़िम्मेदार कहना उसके साथ परिहास करना ही है। एक धनी और गरीब निर्वाचक का क्या मुकाबला हो सकता है? आर्थिक असमानता की मौजूदगी में प्रजातन्त्र एक ढोंग है। हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में पूँजीपति वर्ग सम्पूर्ण राजनीतिक संगठन का नियन्त्रण करता है, और किस प्रकार धन प्रजातन्त्र को दूषित करता है। वस्तुतः प्रजातन्त्र की अनेक मौजूदा कमियों का इलाज आर्थिक असमानता को दूर करना है।

प्रजातन्त्र को सफल बनाने के विषय में मिल के सुझाव—इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध विचारक जे० एस० मिल (J. S. Mill) ने प्रजातन्त्र की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तों की मौजूदगी लाजमी मानी है—

(१) जनता में प्रजातन्त्रात्मक सरकार कायम करने की इच्छा तथा योग्यता की मौजूदगी।

(२) जनसामान्य को प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(३) जनता में अपने कर्त्तव्यों का पालन करने और अपने अधिकारों की रक्षा की इच्छा तथा योग्यता होनी चाहिये।

१०५ प्रजातन्त्र का भविष्य

स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व (Liberty, Equality & Fraternity) की भावनाओं पर आधारित प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का प्रचार सम्पूर्ण विश्व में हुआ। प्रजातन्त्र के शत्रुओं ने इसकी कड़ी आलोचना की, उसे एक भ्रष्ट और निकम्मी शासन-पद्धति कहा। नैतिक दृष्टि से, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, और भी न जाने कितने आधारों पर प्रजातन्त्र की आलोचना की गई। परन्तु इन सबके बावजूद भी प्रजातन्त्र का आन्दोलन बढ़ता गया और जनता में उसके प्रति अगाध विश्वास पैदा हो गया। दूर-दूर के पिछड़े हुए राज्यों में भी जन-जागरण हुआ, राजनीतिक चेतना फैली, क्रान्तियाँ हुईं, और प्रजातन्त्र शासन स्थापित हुए। स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों से प्रेरित होकर लोगों ने बड़े-बड़े बलिदान किये और वैयक्तिक गौरव तथा सम्मान की भावनाओं का विकास किया।

व्यावहारिक दृष्टि से भी संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंग्लैण्ड जैसे राज्यों में प्रजातन्त्र की सफलता को स्वीकार किया गया। सर हेनरी मेन प्रजातन्त्र के कड़े आलोचक

थे और वह इसे मानवीय इतिहास मे एक अस्थायी व्यवस्था ही स्वीकार करते थे। परन्तु सयुक्त राज्य के प्रजातन्त्र की सफलता ने उनकी धारणा वदल दी। लेकी ने भी स्वीकार किया कि "समस्त सभ्य देशो मे अधिक समय तक प्रजातन्त्र के आधिपत्य वने रहने की सम्भावना है।"

प्रथम विश्व-युद्ध तक ऐसा प्रतीत होता था कि ससार मे कोई भी वडी से वडी शक्ति प्रजातन्त्र के विस्तार को नही रोक सकती। प्रथम विश्व-युद्ध कहा जाता है कि प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए लडा गया। युद्ध की समाप्ति के वाद जर्मनी, इटली, स्पेन तथा आस्ट्रिया जैसे देशो मे प्रजातन्त्र व्यवस्थाएं स्थापित की गई। परन्तु यह सव अस्थायी था, युद्ध के दौरान मे और युद्ध की समाप्ति के अनन्तर जनसामान्य मे प्रजातन्त्र के प्रति एक अविश्वास की लहर दौड गई। विशेष रूप से युद्ध के वाद की विश्व-आर्थिक मन्दी ने तो इग्लैण्ड और अमेरिका जैसे पुराने प्रजातन्त्रो की कमर तोड दी। इटली तथा जर्मनी मे तो प्रजातन्त्र का स्थान तानाशाही (Dictatorship) ने ले लिया। युद्ध के दौरान मे प्रजातन्त्र के अन्तर्गत शक्ति का केन्द्रीयकरण हो गया था, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र सीमित हो गया था, और जनसामान्य युद्ध द्वारा उत्पन्न कठिनाइयो के तले पिस गया था। वाद की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी ने इन कठिनाइयो को और भी वढा दिया।

प्रजातन्त्र की इस असफलता की अनेक विवेचनाएँ की गई। प्रो० लास्की तथा सिडनी वेव इत्यादि इग्लैण्ड के समाजवादी विचारको ने प्रजातन्त्र की असफलता के कारणो को पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे खोजने का प्रयत्न किया। मार्क्सवाद के समर्थको ने भी प्रजातन्त्र की अपूर्णता का कारण पूँजीवादी व्यवस्था को माना। उनका कथन है, पूंजीवादी शासन-व्यवस्था मे राज्य-शक्ति चन्द धनी-मानी लोगो के हाथ मे केन्द्रित हो जाती है। जव कभी समाज मे उत्पादन के समान वँटवारे की वात उठती है तो वे राजकीय सत्ता का प्रयोग मजदूर वर्ग के दवाने के लिए करते हैं। जर्मनी तथा इटली मे प्रजातन्त्र को नष्ट कर पूँजीवादी वर्ग ने राज्य की शक्ति के वल पर सर्वहारा वर्ग को दबा तानाशाही को स्थापित किया। इस प्रकार उन्होने प्रजातन्त्र की सफलता के लिए पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के सुधार की माँग की। मार्क्सवादियो के मतानुसार प्रजातन्त्र के स्थान पर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना की आवश्यकता है।

प्रथम विश्व-युद्ध तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान का समय प्रजातन्त्र व तानाशाही की पारस्परिक रस्साकशी का समय कहा जा सकता है। जर्मनी, इटली तथा रूस मे स्थापित तानाशाही के अन्तर्गत आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्रो मे विशेष प्रगति हुई। जनसाधारण मे प्रजातन्त्र के प्रति अविश्वास वढने लगा। परन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध ने यह साबित कर दिया कि तानाशाही एक स्थायी शासन-व्यवस्था नही हो सकती और न ही वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शान्ति तथा सुरक्षा की पोषक हो सकती है। तानाशाही जन-सामान्य की उपेक्षा करती है, समाज के कुछेक चुने हुए व्यक्तियो की स्वार्थ-सिद्धि का साधन होती है। हम पीछे देख ही चुके हैं, प्रजातन्त्र के स्थान पर

अधिनायकतन्त्र की व्यवस्था का अर्थ है उन सभी मानवीय मूल्यों की अस्वीकृति तथा परित्याग जिनके लिए कि अभी तक मानवता लगातार संघर्ष करती चली आई है।

द्वितीय विश्व-युद्ध में निश्चय ही प्रजातन्त्रवादियों की जीत हुई, परन्तु उनके साथ ही समाजवादी तानाशाही की स्थिति जहाँ मजबूत हुई वहाँ उनका अन्य देशों में विस्तार भी हुआ। रूस के पास-पड़ौस के पूर्वीय यूरोप के प्राय सभी देशों में रूस के आदर्शों पर अधिनायकतन्त्र की स्थापना हो गई। साथ ही चीन में भी साम्यवाद की विजय हुई। प्रजातन्त्र का विस्तार भारत, वर्मा, लंका व हिन्द-चीन तथा पाकिस्तान में हुआ। आज संघर्ष साम्यवादी तानाशाही तथा पूंजीवादी प्रजातन्त्र में है। पूंजीवादी प्रजातन्त्र के गढ़ अमेरिका में ही सैनिक अधिनायकतन्त्र की प्रवृत्तियाँ जागृत हो रही हैं। दोनों वर्गों के पारस्परिक संघर्ष ने एक बात तो अवश्य सिद्ध होती है कि दोनों ही नैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र की दुहाई देते हैं। सोवियत रूस तथा उसके नेता भी अपने आपको वास्तविक प्रजातन्त्र का प्रतिनिधि कहते हैं और अपने सम्पूर्ण संविधान को—चाहे दिखावे के लिए ही—प्रजातन्त्र पर आधारित बतलाते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से निश्चय ही प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त उच्च हैं परन्तु उनका प्रयोग तभी सफल हो सकता है जबकि उसका इस्तेमाल जनसाधारण की उन्नति के लिए किया जाय, वर्ग या जातिगत स्वार्थों की सुरक्षा के लिए नहीं। आज प्रजातन्त्र का भविष्य तभी उज्ज्वल हो सकता है जबकि एक तो विश्व-शान्ति रहे दूसरा राजकीय शक्ति का विकेन्द्रीकरण हो और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को अपनाया जाए। मानवता की सुख-समृद्धि प्रजातन्त्र के भविष्य पर आधारित है।

Important Questions

Question	Reference
1. What do you mean by democracy ? *(Cal 1936)* *Or* What are the cardinal features of democracy ? *(Cal 1953)*	Arts 99 to 103
2. Distinguish between direct and indirect democracy *(Pb 1938)*	Arts 100 to 102
3. Discuss the merits and demerits of the Monarchical form of government Is this form of government likely to disappear altogether ? *(Pb 1936)*	Art 97
4. Estimate the strength and weakness of democracy as a form of government ? *(Cal 1955. 49, '48, '47 '36, '33, Pb 1937, Nag. 1944)*	Arts. 100 to 103
5. What are the essential conditions for the successful working of democratic government ? To what extent are they present in India ? *(Pb 1953)*	Arts 100 to 102
6. Examine the merits and demerits of democracy as a form of government *(Pb 1952)*	Arts 100 to 103
7. Discuss the various forms of democracy	Arts 100 to 102

राज्य तथा शासन के भेद (३)

UNITARY AND FEDERAL GOVERNMENT

एकात्मक तथा सघ-शासन व्यवस्था

शासन के राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र रूपो का विवेचन पीछे किया जा चुका है। शासन के ये रूप वहुत कुछ ऐतिहासिक हैं और वर्तमान मरकारो पर सशोधित रूप मे ही लागू हो सकते हैं। आजकल शासन के वर्गीकरण का एक आधार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो मे शक्तियो का बँटवारा है। राज्यो के क्षेत्र तथा कर्त्तव्यो के विकास के फलस्वरूप अनेक राज्यो मे राजकीय शक्तियो का वटवारा कर दिया गया है, कुछ आवश्क और राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विपय केन्द्र को सौंप दिए जाते हैं और स्थानीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयो के शासन को प्रान्तीय सरकारो को सौप दिया जाता है। इस प्रकार वर्तमान सरकार को (१) **एकात्मक** (Unitary) तथा (२) **सघात्मक शासन** (Federation) **में वाटा जाता है।**

१०६. एकात्मक शासन (Unitary Government)

सर्वप्रथम हम एकात्मक शासन का स्वरूप विवेचन करेंगे। डा० गार्नर ने एकात्मक शासन की परिभाषा इस प्रकार की है, "**एकात्मक शासन-व्यवस्था वह शासन-प्रणाली है जहां सविधान एक केन्द्रीय अग या अगों को सम्पूर्ण सत्ता प्रदान करता है और इन्हीं से स्थानीय शासनो को सम्पूर्ण स्वायत्त तथा अधिकार शक्ति प्राप्त होती है।**[1]" इस प्रकार एकात्मक शासन के अन्तर्गत सम्पूर्ण राजकीय शक्ति का केन्द्रीकरण होता है और एक केन्द्र ही सभी प्रकार की राजकीय शक्ति का अन्तिम स्रोत होता है। वही सम्पूर्ण देश के शासन के लिए जवाबदे होता है।

राज्य को प्रशासकीय सुविधा के लिए विभिन्न हिस्सो मे बाँट दिया जाता है और एक ही राज्य मे केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारें भी हो सकती हैं। परन्तु उनकी स्वतन्त्र स्थिति नही होती, वे अपने जीवन तथा अपनी शासकीय शक्तियो के लिए केन्द्रीय सरकार पर निर्भर होती हैं। वह तो वस्तुत केन्द्रीय सरकार की ही उपज होती हैं, उसी द्वारा खत्म भी की जा सकती है, उनकी शक्तियो को भी केन्द्रीय सरकार अपनी मर्जी के अनुसार घटा-वढा सकती है। सक्षेप मे, राज्य के अन्तर्गत उनकी कोई स्वतन्त्र स्थिति नही होती, स्वायत्त शासन का अभाव होता है। एकात्मक

1 "Unitary is that system where the whole power of government is conferred by the constitution upon a single central organ or from which the local governments derive whatever authority or autonomy they may possess, and indeed their very existence"—*Garner*

शासन के विपरीत संघीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय सरकारों की स्वतन्त्र स्थिति होती है। वे केन्द्रीय-सरकार की उपज न हो संविधान द्वारा स्वीकार की जाती हैं, उनकी शक्तियाँ भी केन्द्रीय सरकार की देन न हो संविधान द्वारा दी जाती है, जो कि केन्द्रीय और स्थानीय दोनों सरकारों का निर्माता होता है। इस प्रकार एकात्मक शासन के अन्तर्गत केवल एक सरकार होती है, तथा संघीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत दो—केन्द्रीय तथा स्थानीय।

एकात्मक शासन के उदाहरण—ग्रेटब्रिटेन, इटली तथा फ्रांस इत्यादि देश एकात्मक शासन-व्यवस्था के उदाहरण हैं। १९३५ के शासन-विधान के लागू होने से पूर्व भारत का शासन भी एकात्मक था। ग्रेटब्रिटेन में स्वायत्त शासन की व्यवस्था है, तथा स्थानीय संस्थाएँ पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता का उपयोग करती हैं। परन्तु उनको यह सम्पूर्ण सत्ता केन्द्रीय सरकार द्वारा ही दी जाती है।

फ्रांस की शासन-व्यवस्था का सार राजकीय शक्ति का केन्द्रीकरण है, फिर भी वहाँ अनेक प्रादेशिक तथा स्थानीय शासन-संस्थाएँ हैं, उन्हें पर्याप्त स्वायत्त शासन मिला हुआ है। किन्तु अन्तत उनका नियंत्रण भी पेरिस की केन्द्रीय सरकार ही करती है, पेरिस की केन्द्रीय सरकार ही उनकी शासन व्यवस्था का अन्तिम स्रोत है।

१९१९ के भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन विषयों (Administrative subjects) का विभाजन कर दिया गया था। प्रान्तीय सरकारों को अनेक प्रशासकीय विषयों पर कानून बनाने के अधिकार दिए गए और प्रान्तीय विधानपालिकाओं की व्यवस्था की गई। परन्तु प्रशासकीय तथा वैधानिक विषयों में अन्तिम नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही रहा। केन्द्रीय सरकार की सम्पूर्ण सत्ता गवर्नर-जनरल तथा उसके मन्त्रिपरिषद के हाथ में रहती। इस प्रकार प्रान्तीय सरकारें गवर्नर-जनरल की देख-रेख में काम करतीं और जब कभी आवश्यकता पड़ती वह स्वयं भी प्रान्तीय शासन में दखल दे सकता था।

एकात्मक शासन के गुण—एकात्मक शासन-व्यवस्था में नीचे लिखे गुण स्वीकार किये जाते हैं—

(१) एकात्मक सरकार राष्ट्रीय संगठन के लिए अधिक उपयुक्त होती है। केन्द्र के शक्तिसम्पन्न होने के कारण सम्पूर्ण देश को एक ही सरकार के नियन्त्रण में रखा जाता है और इस प्रकार कानून तथा शासन के विषय में एकता रहती है। सारे देश के लिए एक ही कानून होता है और एक ही शासन होता है।

संघ-शासन के अन्तर्गत शक्तियों के विभाजन के कारण केन्द्र की स्थिति कमजोर होती है और वह सम्पूर्ण देश में संकटकालीन स्थिति में शासन-व्यवस्था की स्थापना में असफल रहता है।

(२) युद्ध तथा संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए एकात्मक शासन अधिक उपयुक्त रहता है। क्योंकि संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए शासन-नीति की एकता आवश्यक है जो विभिन्न सरकारों की उपस्थिति में सम्भव नहीं हो सकती। संघ-सरकार को प्रादेशिक सरकारों पर आश्रित रहना पड़ता है। एकात्मक

सरकारे सघ सरकारो की अपेक्षा विदेश-नीति के अनुसरण मे अपेक्षाकृत अधिक शक्तिसम्पन्न होती हैं। सघशासन-व्यवस्थाओ को अपने अन्तर्राष्ट्रीय निश्चयो तथा सन्धियो को लागू करने के लिए प्रादेशिक सरकारो का सहयोग लेना पडता है, वह इस विषय मे उन पर आश्रित रहता है।

(३) एकात्मक शासन-व्यवस्था अपेक्षाकृत कम खर्चीली होती है। सघीय कानूनो को लागू करने के लिए दुहरे शासन की व्यवस्था रहती है और वैसे भी प्रादेशिक तथा सघीय दो शासन व्यवस्थाएँ साथ-साथ रहती हैं फलत उसमे शासन-व्यवस्था का खर्चा बढ जाता है।

एकात्मक शासन-व्यवस्था सरल होती है और उसमे प्रादेशिक तथा सघीय विधानपालिकाओ द्वारा पास कानूनो मे झगडे की गुजाइश ही नही रहती।

एकात्मक शासन की कमजोरियाँ—एकात्मक शासन की आलोचना नीचे लिखे प्रकार से की जाती है—

(१) एकात्मक शासन का सबसे बडा दोष शासन-शक्ति का केन्द्रीकरण है। आज की प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था की सफलता के लिए राजकीय शक्ति का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण की अनुपस्थिति मे केन्द्रीय सरकार मे तानाशाही की भावना जोर पकड जाती है।

दूसरे शासन की कुशलता के लिए भी श्रम-विभाजन की आवश्यकता है। आज राज्य के कर्त्तव्यो की सख्या बहुत बढ गई है। ऐसी अवस्था मे यदि एक ही सरकार सभी कर्त्तव्यो के पालन के लिए उत्तरदायी हो तो निश्चय ही शासन-व्यवस्था त्रुटिपूर्ण हो जायगी और शासकीय कार्यो को कुशलतापूर्वक पूरा नही किया जा सकेगा।

(२) एकात्मक शासन के अन्तर्गत नागरिको मे प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के कार्यो मे कोई विशेष दिलचस्पी ही नही रहती। सर्वसाधारण की वास्तविक दिलचस्पी स्थानीय समस्याओ मे होती है और उनके स्वायत्त शासन की व्यवस्था एकात्मक शासन के अन्तर्गत नही हो सकती। एकात्मक शासन प्रजातन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए हितकर नही होता।

(३) एक ही केन्द्र से सम्पूर्ण राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक समस्याओ का ठीक-ठीक हल भी मुश्किल ही हो पाता है। प्रत्येक प्रदेश की अपनी स्थानीय समस्याएँ होती हैं, उनकी प्रकृति का जितना अच्छा ज्ञान उस प्रदेश के लोगो को हो सकता है उतना दूर बैठे केन्द्रीय अधिकारियो को नही। फिर केन्द्रीय अधिकारियों को इन समस्याओ के सचालन के लिए सरकारी नौकरो की लम्बी-चौडी व्यवस्था करनी पडेगी जो बहुत खर्चीली होगी और साथ ही निकम्मी भी सावित होगी।

(४) बडे-बडे राज्यो मे आज अनेक राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं, उनकी अपनी भाषा होती है, अपनी सास्कृतिक तथा ऐतिहासिक परम्पराएँ होती हैं। उनकी अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति एकात्मक शासन से सम्भव नही। एकात्मक शासन के अन्तर्गत उनकी आवश्यकताओ का ठीक-ठीक ध्यान नही रखा जा सकता, इसलिए

उनमे असन्तोष बढने की आशका रहती है जिसका फल राष्ट्रीय एकता का खण्डन भी हो सकता है। राष्ट्रीय इकाइयो (Nationalities) का पूर्ण विकास स्वायत्त-शासन पूर्ण सघीय सरकार मे ही सम्भव है। एकात्मक शासन छोटे देश के लिए ही ठीक होता है।

१०७ संघ शासन-व्यवस्था (Federal Government)

संघ शासन एकात्मक शासन से अनेक बातो मे भिन्न है। एकात्मक शासन के विपरीत सघ राज्यो मे दो राज्यो की व्यवस्था एक साथ रहती है, एक को सघराज्य कहते हैं और दूसरे को प्रादेशिक राज्य। भारत संघ मे जहाँ एक केन्द्रीय सरकार है, वहाँ बगाल, मद्रास तथा पजाब इत्यादि विभिन्न प्रादेशिक राज्य भी हैं। इस प्रकार सघराज्य को राज्यो का सघ (Union of States) कहा जाता है। वैज्ञानिक रूप से अवश्य ही बगाल, मद्रास तथा पजाब इत्यादि सघीय इकाइयो (Units) को राज्य नही कहा जा सकता, परन्तु व्यवहार मे इन प्रदेशो को राज्य कहा जाता है, जो कि इन प्रदेशो की सरकारो के पर्यायवाची है। भारत, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस सभी मे इकाइयाँ राज्य कहलाती हैं।

सघ शासन तथा एकात्मक शासन के भेद का आधार केन्द्रीय सरकार तथा प्रादेशिक सरकारो का पारस्परिक शक्ति विभाजन (Division of power) है। सघ शासन मे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारे अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र होती है, और दोनो की रचना सवैधानिक होती है। दोनो की शक्तियो का विवेचन भी सविधान के अन्तर्गत ही कर दिया जाता है जिसे केन्द्रीय या प्रादेशिक सरकारें बदल नही सकती।

सघशासन की परिभाषा (Definition of Federation)—सुप्रसिद्ध फ्रेंच विचारक मॉन्तेस्क्यू (Montesquieu) के अनुसार "संघ शासन एक ऐसा समझौता है जहाँ बहुत से एक जैसे राज्य एक बड़े राज्य के सदस्य बनने को सहमत हो जाते हैं।"[1]

सुप्रसिद्ध अमेरिकन विधानशास्त्री हेमिल्टन के मतानुसार "संघ राज्य राज्यों का एक ऐसा समुदाय है जो कि एक नवीन राज्य की रचना करता है।[2]

जर्मन राजनीतिविशारद जेलिनेक के मतानुसार "संघ राज्य कई राज्यो के मेल से निर्मित एक प्रभुतासम्पन्न राज्य होता है, जिसकी शक्ति उसे अपने अंगभूत राज्यो से प्राप्त होती है, और ये राज्य इस प्रकार आपस में बँधे होते हैं कि उनके मेल से एक पूर्ण राजनीतिक इकाई का निर्माण होता है। यह राज्यो का एक समुदाय होता है जिसमें, इस योग के फलस्वरूप अगभूत राज्यो मे श्रेष्ठ एक प्रभुता-

---

1 "Federal government is a convention by which several similar States agree to become members of a larger one"—*Montesquieu*

2 "An association of States that forms a new one."—*Hamilton*

सरकारे सघ सरकारो की अपेक्षा विदेश-नीति के अनुसरण मे अपेक्षाकृत अधिक शक्तिसम्पन्न होती है। सघशासन-व्यवस्थाओ को अपने अन्तर्राष्ट्रीय निश्चयो तथा सन्धियो को लागू करने के लिए प्रादेशिक सरकारो का सहयोग लेना पडता है, वह इस विषय मे उन पर आश्रित रहता है।

(३) एकात्मक शासन-व्यवस्था अपेक्षाकृत कम खर्चीली होती है। सघीय कानूनो को लागू करने के लिए दुहरे शासन की व्यवस्था रहती है और वैसे भी प्रादेशिक तथा सघीय दो शासन व्यवस्थाएँ साथ-साथ रहती हैं फलत उसमे शासन-व्यवस्था का खर्चा बढ जाता है।

एकात्मक शासन-व्यवस्था सरल होती है और उसमे प्रादेशिक तथा सघीय विधानपालिकाओ द्वारा पास कानूनो मे झगडे की गुजाइश ही नही रहती।

एकात्मक शासन की कमजोरियाँ—एकात्मक शासन की आलोचना नीचे लिखे प्रकार से की जाती है—

(१) एकात्मक शासन का सबसे बडा दोष शासन-शक्ति का केन्द्रीकरण है। आज की प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था की सफलता के लिए राजकीय शक्ति का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण की अनुपस्थिति मे केन्द्रीय सरकार मे तानाशाही की भावना जोर पकड जाती है।

दूसरे शासन की कुशलता के लिए भी श्रम-विभाजन की आवश्यकता है। आज राज्य के कर्त्तव्यो की सख्या बहुत बढ गई है। ऐसी अवस्था मे यदि एक ही सरकार सभी कर्त्तव्यो के पालन के लिए उत्तरदायी हो तो निश्चय ही शासन-व्यवस्था त्रुटिपूर्ण हो जायगी और शासकीय कार्यो को कुशलतापूर्वक पूरा नही किया जा सकेगा।

(२) एकात्मक शासन के अन्तर्गत नागरिको मे प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के कार्यो मे कोई विशेष दिलचस्पी ही नही रहती। सर्वसाधारण की वास्तविक दिलचस्पी स्थानीय समस्याओ मे होती है और उनके स्वायत्त शासन की व्यवस्था एकात्मक शासन के अन्तर्गत नही हो सकती। एकात्मक शासन प्रजातन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए हितकर नही होता।

(३) एक ही केन्द्र से सम्पूर्ण राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक समस्याओ का ठीक-ठीक हल भी मुश्किल ही हो पाता है। प्रत्येक प्रदेश की अपनी स्थानीय समस्याएँ होती हैं, उनकी प्रकृति का जितना अच्छा ज्ञान उस प्रदेश के लोगो को हो सकता है उतना दूर बैठे केन्द्रीय अधिकारियो को नही। फिर केन्द्रीय अधिकारियो को इन समस्याओ के सचालन के लिए सरकारी नौकरो की लम्बी-चौडी व्यवस्था करनी पडेगी जो बहुत खर्चीली होगी और साथ ही निकम्मी भी साबित होगी।

(४) बडे-बडे राज्यो मे आज अनेक राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं, उनकी अपनी भाषा होती है, अपनी सास्कृतिक तथा ऐतिहासिक परम्पराएँ होती हैं। उनकी अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति एकात्मक शासन से सम्भव नही। एकात्मक शासन के अन्तर्गत उनकी आवश्यकताओ का ठीक-ठीक ध्यान नही रखा जा सकता, इसलिए

यह संविधान निश्चित, स्पष्ट तथा लिखित होना चाहिए। साथ ही उसके संशोधन की प्रक्रिया (Process) कठिन होनी चाहिए। क्योंकि अगर संविधान परिवर्तनशील हो तो केन्द्रीय या प्रादेशिक सरकारें उसे अपनी मन-मर्जी के मुताबिक तबदील कर सकती है और इस प्रकार एक-दूसरे के क्षेत्र मे दखल दे सकती हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि इंग्लैण्ड मे भी संघात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित की जाए तो परिवर्तनशील संविधान के स्थान पर कठोर संविधान की व्यवस्था आवश्यक हो जायगी।

(२) शक्तियो का विभाजन (Division of Powers)—संघ शासन का मुख्य आधार केन्द्र तथा राज्यो मे शक्तियो का विभाजन है। एकात्मक तथा संघ शासन मे इसी आधार पर भेद किया जाता है। संघ शासन के अन्तर्गत राज्य तथा केन्द्र दोनो ही अपनी शक्तियो को संविधान से प्राप्त करते हैं। एकात्मक शासन के अन्तर्गत राज्य सरकारो के अधिकार मौलिक नही होते, वे उन्हे केन्द्रीय सरकार से अनुदान (grant) रूप मे मिलते है, परन्तु संघ शासन के अन्तर्गत राज्यो की शक्तियाँ संवैधानिक होती हैं। अतः उनके विभाजन मे केन्द्रीय सरकार किसी भी प्रकार का परिवर्तन आसानी से नही कर सकती।

शक्तियो के विभाजन के विषय मे तकरीबन सभी संघ राज्यो मे एक ही नियम इस्तेमाल किया गया है। राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित सभी विषय संघ सरकार को सौप दिये जाते है जब कि स्थानीय महत्त्व के विषय राज्य सरकारो के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। रक्षा, विदेश, यातायात के साधन, अन्तर्प्रान्तीय व्यापार, बैंकिंग इत्यादि विषय संघराज्य को सौंपे जाते हैं, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वायत्त-शासन, इत्यादि राज्य सरकारो के सुपुर्द किये जाते हैं।

(३) संघीय न्यायालय (Federal Judiciary)—संघ राज्य की तीसरी विशेषता संघीय न्यायालय की उच्चता है। संघीय न्यायालय का कार्य संविधान की व्याख्या है। एक ही राज्य मे भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे उपस्थित दो सरकारो मे संविधान की व्याख्या सम्बन्धी या शक्तियो के विभाजन सम्बन्धी झगडो के उत्पन्न हो जाने की सम्भावना रहती है। इन झगडो के निपटारे के लिए निष्पक्ष सत्ता की व्यवस्था लाजमी है। संघीय न्यायालय मुख्य रूप से दो कार्य करते हैं—

(क) संघ सरकार तथा राज्य सरकारो मे आपस मे उत्पन्न शक्ति विभाजन सम्बन्धी या अन्य प्रकार के झगडो को निपटाना।

(ख) संविधान की न्यायसंगत तथा अधिकारपूर्ण व्याख्या। इस स्थिति मे न्यायालय यह भी देखते है कि संघ सरकार और राज्य सरकारें, दोनो ही, अपने-अपने निश्चित क्षेत्र मे रहे और एक-दूसरे के क्षेत्र मे दखल न दे। जब कभी राज्य सरकारें या संघ सरकार अपने क्षेत्र को लांघ ऐसे कानून बनाती है या कार्य करती है जो कि संविधान के अनुसार नहीं होते तो संघीय न्यायालय उन्हे गैरकानूनी (*Ultra vires*) करार दे देता है। इस प्रकार संघीय न्यायालय संघ सरकार तथा राज्य सरकारो के कानूनो तथा कार्यवाहियो की संवैधानिकता का निश्चय करता है।

सम्पन्न सत्ता की प्रतिष्ठा हो जाती है, परन्तु इस सत्ता मे राज्य भी हिस्सेदार होते हैं।"[1]

अग्रेज विचारक डायसी ने सघराज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि "सघ-राज्य एक राजनीतिक समझौता मात्र है जिसका मकसद राष्ट्रीय एकता तथा राज्य-अधिकारो मे ताल-मेल बिठाना होता है।"[2]

१०८ सघ राज्य के आवश्यक तत्त्व (Essential features of Federation)

ऊपर लिखी गई परिभाषाओ द्वारा सघ राज्य के रूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। नीचे हम वर्तमान सघ राज्यो के रूप के अध्ययन पर आधारित सघ राज्य के कुछ आवश्यक तत्त्वो का विवेचन करेंगे। ये आवश्यक तत्त्व इस प्रकार है—

(१) सविधान की श्रेष्ठता (Supremacy of the constitution)।

(२) शक्ति-विभाजन (Division of Powers)।

(३) न्यायपालिका की उच्चता की व्यवस्था (Supremacy of the Judiciary)।

(१) सविधान की श्रेष्ठता—सघराज्य के रूप को निश्चित तथा व्यवस्थित करने के लिए सविधान की श्रेष्ठता एक परम आवश्यकता है। क्योकि सघ राज्य अनेक राज्यो के पारस्परिक मेल से बनता है। वे आपस मे एक समझौता करते हैं और इस समझौते द्वारा सघ राज्य की स्थापना करते हैं। सविधान इस समझौते की शक्ति का लिखित रूप होता है। सघ राज्य का निर्माण करते हुए राज्य अपने कुछ अधिकारो को केन्द्रीय या सघीय राज्य को सौप देते है और शेष अधिकारो को अपने पास रखते हैं। वे इस समझौते द्वारा अवश्य ही एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करते है, परन्तु वे अपने व्यक्तित्व को सर्वथा नवीन राज्य मे विलीन नही कर देते। अत सघ शासन के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं। इन दोनो पक्षो के अधिकारो तथा कर्त्तव्यो का विवेचन सविधान मे रहता है। सघ राज्य तथा प्रादेशिक सरकारो को सविधान के अनुसार ही अपने-अपने अधिकारो तथा कर्त्तव्यो का पालन करना होता है।

---

1 "A federal state is a sovereign State formed out of several States, the power of the former being derived from the States which compose it, and to which latter are bound together as to from a political entity It is an association of States, which has as a result formed the institution of a sovereign power superior to the associated States, but in which, however, the latter participate"—*Jellinek*

2 "A federal state is nothing but political contrivance intended to reconcile national unity with the maintenance of State rights"
—*Diecy*.

(३) समवर्ती या साझी शक्तियों (Concurrent powers) पर संघ सरकार तथा राज्य सरकार दोनों का ही नियन्त्रण है। परन्तु इन विषयों पर पास किए गए संघीय तथा राज्य सरकारों के कानूनों में पारस्परिक विरोध होने पर या संघर्ष होने पर संघीय कानून को ही मान्यता प्रदान की जाती है, राज्य सरकार के कानून को नहीं।

इन तीनों लिस्टों के अलावा शेष बची हुई शक्तियां (Residuary powers) केन्द्र को सौंप दी गई हैं। इस प्रकार हमने भी प्रादेशिक सरकारों की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार की स्थिति को अधिक मजबूत बनाया है।

परन्तु भारतीय संघ में लचीलापन है, उसमें परिवर्तनशीलता है, ऐसी परिवर्तनशीलता है जो कि उसे संकटकालीन स्थिति में बिना संवैधानिक परिवर्तन के ही देश के शासन को एकात्मक शासन के रूप में बदल देती है। यही नहीं शान्तिकालीन स्थिति में दो एक राज्य अपनी मर्जी से अपनी एक या एक से अधिक शक्तियों को केन्द्रीय सरकार को सौंप सकते हैं।

सोवियत रूस के संघ शासन को उसके समर्थक विश्व का सर्वश्रेष्ठ संघ-शासन कहते हैं, उनका कथन है कि सोवियत रूस राज्यों का एक ऐच्छिक संघ है। उसमें संघीय इकाइयों (Federating units) को न केवल अपने संविधान बनाने का ही अधिकार है या सेना रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित कर सकने की ही स्वतन्त्रता है अपितु वे सोवियत संघ को छोड़ अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा भी कर सकते हैं। ऐसी व्यवस्था अन्य किसी भी संघ-शासन में नहीं मिलती। संघ राज्य राज्यों का स्थायी संयोजन है। परन्तु सोवियत रूस की संघीय इकाइयों की यह स्वतन्त्रता वास्तविक न हो सैद्धान्तिक ही है। रूस में संघीय सरकार राज्यों के शासन में सब प्रकार का हस्तक्षेप कर सकती है। केन्द्रीय सरकार की विधानपालिका—सुप्रीम सोवियत—बिना राज्यों की सहमति के ही शक्ति-विभाजन, अधिकार-वितरण इत्यादि आधारभूत विषयों में परिवर्तन कर सकती है। अतः प्रत्येक राज्य की अपनी स्वतन्त्र संघात्मक शासन-प्रणाली ही समझनी चाहिए।

११० संघ-राज्य के निर्माण के प्रकार (Methods of formation of Federation)

संघ निर्माण केन्द्रोन्मुखी (Centripetal) तथा विकेन्द्रोन्मुखी (Centrifugal) प्रवृत्तियों (Tendencies) के परिणाम होते हैं। जब कुछ प्रभुता सम्पन्न तथा स्वतन्त्र राज्य मिलकर स्वेच्छापूर्वक एक केन्द्रीय राज्य की रचना करते हैं और उनके शासन के लिए कुछ सामान्य स्वार्थों से सम्बन्धित विषय सौंप देते हैं, तो एक संघराज्य की रचना होती है। ऐसा संघ राज्य केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियों (Centripetal tendencies) का परिणाम होता है। एक ही प्रदेश पर स्थित अनेक राज्य सुरक्षा, आर्थिक लाभ तथा शक्ति को बढ़ाने के लिए एकत्रित हो एक नये राज्य की स्थापना करते हैं। ऐसा करते हुए वे सामान्य स्वार्थों से सम्बन्धित विषयों को

न्यायालय की उच्चता की व्यवस्था भारत सघ तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे की गई है। कनाडा मे भी सुप्रीम कोर्ट कानून की सवैधानिकता पर अपना निश्चय दे सकता है परन्तु गवर्नर-जनरल ही उसे गैरकानूनी करार दे सकता है। स्विट्जरलैण्ड तथा सोवियत रूस मे सघीय न्यायालय को यह अधिकार नही।

१०९ सघ-शासन के भेद (Types of Federal Union)

किसी भी सघ शासन-व्यवस्था को पूर्ण या आदर्श नही कहा जा सकता। प्रत्येक देश की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं, अपनी समस्याएँ होती हैं, अपने उद्देश्य तथा साधन होते हैं। अत प्रत्येक राज्य अपनी-अपनी आवश्यकताओ के अनुसार सघ-शासन की व्यवस्था करता है। इस प्रकार प्रत्येक सघ-शासन अपने आप मे ही एक विशेष प्रकार होता है।

फिर भी शक्तियो के विभाजन के आधार पर सघ-शासन के दो प्रकार माने जाते हैं—(१) अमेरिकन तथा (२) कनेडियन।

सयुक्त राज्य अमेरिका मे केन्द्रीय सरकार की स्थिति बहुत कमजोर है, इसके विपरीत राज्य सरकारे पर्याप्त शक्तिसम्पन्न हैं। इसका कारण शक्तियो के बटवारे (Division of Powers) का सिद्धान्त है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे केन्द्रीय सरकार की शक्तियों को निश्चित कर दिया गया है, और शेष शक्तियाँ (Residuary Powers) राज्यो के जिम्मे छोड दी गई हैं। इस शक्ति-विभाजन से से स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकारो की शक्तियो की सख्या तो निर्धारित कर दी गई है, जब कि राज्य सरकारो के पास उन शक्तियो को छोड जो केन्द्र को दी गई हैं, शेष सभी रह जाती हैं। अपेक्षाकृत राज्य सरकारो की शक्तियो की सख्या केन्द्रीय सरकार की शक्तियो से अधिक है। सयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, सोवियत रूस तथा स्विट्जरलैण्ड में शक्ति-विभाजन के इसी ढँग का इस्तेमाल किया गया है।

कनाडा में इसके सर्वथा उल्ट तरीके का इस्तेमाल किया गया है। कनाडा मे राज्य सरकारो की शक्तियो की सख्या निश्चित कर दी गई हं और शेष शक्तियाँ (Residuary Powers) केन्द्र ने अपने पास रखी हैं। इस प्रकार कनाडा मे राज्यो की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार अधिक मजबूत है।

शक्तियो के बटवारे के विभिन्न किस्मो का विवरण देते हुए हमे भारतीय सविधान पर भी विचार कर लेना चाहिए। प्रकृत्या भारतीय सघ कनाडा के अधिक नजदीक है। फिर भी भारतीय सघ मे कुछेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसे अपने आप मे विशेष रूप दे देती हैं। भारतीय सविधान मे शक्ति-विभाजन तीन लिस्टो के अन्तर्गत किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) सघीय विषय (Union list) वे हैं जिन पर कि केवल सघीय सरकार कानून बना सकती है।

(२) राज्य विषय (State list) के अन्तर्गत वे सभी शक्तियाँ आ जाती हैं जिन पर केवल राज्य ही कानून बना सकते हैं।

(३) समवर्ती या साझी शक्तियो (Concurrent powers) पर मघ सरकार तथा राज्य सरकार दोनो का ही नियन्त्रण है। परन्तु इन विषयो पर पास किए गए मघीय तथा राज्य सरकारो के कानूनो मे पारस्परिक विरोध होने पर या सघर्ष होने पर मघीय कानून को ही मान्यता प्रदान की जाती है, राज्य सरकार के कानून को नही।

इन तीनो लिस्टो के अलावा शेष बची हुई शक्तियाँ (Residuary powers) केन्द्र को सौंप दी गई हैं। इस प्रकार हमने भी प्रादेशिक सरकारो की अपेक्षा केन्द्रीय मरकार की स्थिति को अधिक मजबूत बनाया है।

परन्तु भारतीय मघ मे लचीलापन है, उसमे परिवर्तनशीलता है, ऐसी परिवर्तनशीलता है जो कि उसे संकटकालीन स्थिति मे बिना सवैधानिक परिवर्तन के ही देश के शासन को एकात्मक शासन के रूप मे बदल देती है। यही नही शान्तिकालीन स्थिति मे दो एक राज्य अपनी मर्जी से अपनी एक या एक से अधिक शक्तियो को केन्द्रीय सरकार को सौंप सकते हैं।

सोवियत रूस के सघ शासन को उसके समर्थक विश्व का सर्वश्रेष्ठ मघ-शासन कहते है, उनका कथन है कि मोवियत रूम राज्यो का एक ऐच्छिक सघ है। उसमे सघीय इकाइयो (Federating units) को न केवल अपने सविधान बनाने का ही अधिकार है या सेना रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित कर सकने की ही स्वतन्त्रता है अपितु वे सोवियत मघ को छोड अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा भी कर मकते हैं। ऐसी व्यवस्था अन्य किमी भी सघ-शासन मे नही मिलती। सघ राज्य राज्यो का स्थायी मयोजन है। परन्तु मोवियत रूम की सघीय इकाइयो की यह स्वतन्त्रता वास्तविक न हो सैद्धान्तिक ही है। रूम मे सघीय सरकार राज्यो के शासन मे मव प्रकार का हस्तक्षेप कर सकती है। केन्द्रीय सरकार की विधानपालिका—सुप्रीम मोवियत—बिना राज्यो की सहमति के ही शक्ति-विभाजन, अधिकार-वितरण इत्यादि आधारभूत विषयो मे परिवर्तन कर मकती है। अत प्रत्येक राज्य की अपनी स्वतन्त्र मघात्मक शामन-प्रणाली ही समझनी चाहिए।

११० सघ-राज्य के निर्माण के प्रकार (Methods of formation of Federation)

मघ निर्माण केन्द्रोन्मुखी (Centripetal) तथा विकेन्द्रोन्मुखी (Centrifugal) प्रवृत्तियो (Tendencies) के परिणाम होते है। जब कुछ प्रभुता सम्पन्न तथा स्वतन्त्र राज्य मिलकर स्वेच्छापूर्वक एक केन्द्रीय राज्य की रचना करते हैं और उनके शासन के लिए कुछ सामान्य स्वार्थों से सम्बन्धित विषय सौंप देते हैं, तो एक सघराज्य की रचना होती है। ऐसा सघ राज्य केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियो (Centripetal tendencies) का परिणाम होता है। एक ही प्रदेश पर स्थित अनेक राज्य सुरक्षा, आर्थिक लाभ तथा शक्ति को बढाने के लिए एकत्रित हो एक नये राज्य की स्थापना करते हैं। ऐसा करते हुए वे सामान्य स्वार्थों से सम्बन्धित विषयों को

तो सघ राज्य को सौप देते हैं और शेष विषय अपने पास रख लेते हैं। उनके प्रशासन के लिए वे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होते हैं। **सयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड, अस्ट्रेलिया इत्यादि सघ राज्य केन्द्रोन्मुखी (Centripetal) प्रवृत्ति का परिणाम हैं।**

सघ राज्य के निर्माण का दूसरा प्रकार विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का फल होता है। शासन की सुविधा के लिए एकात्मक सरकार के स्थान पर सघ राज्य की स्थापना की जाती है। ऐसा प्राय वडे-वडे राज्यो मे होता है। भारत तथा रूस इत्यादि विशाल देशो मे अनेक राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं, अनेक भाषाएँ वोली जाती हैं और अनेक धार्मिक तथा सास्कृतिक ग्रुप होते हैं, उनका शासन एक ही केन्द्र से हो तो उसका परिणाम असन्तोष की भावनाओ का प्रसार ही होगा। एक ही केन्द्र से सम्पूर्ण देश का शासन अच्छी तरह से चलाया भी नही जा सकता, अत उसकी शक्ति का विकेन्द्रीकरण आवश्यक हो जाता है। १६३५ के एक्ट के अन्तर्गत भारत मे एकात्मक शासन के स्थान पर सघ राज्य की स्थापना की गई। पजाव, वगाल तथा मद्रास इत्यादि जो पहले केवल प्रशासकीय इकाइयाँ (Administrative units) थी अव सघ राज्य मे स्वायत्त **सत्तासम्पन्न राज्य बन गये। इस प्रकार भारतीय सघ-राज्य विकेन्द्रोन्मुखी (Centrifugal) प्रवृत्ति का परिणाम है।**

१११. सघ-राज्य निर्माण की अनुकूल परिस्थितियाँ (Conditions favouring Federation)

सघ राज्य के निर्माण तथा सफलता के लिए कुछेक आवश्यक परिस्थितियो की मौजूदगी लाजमी समझी जाती है। प्रो० डायसी का कथन है कि सर्वप्रथम तो विभिन्न राज्यो मे सम्मिलन या **सयोग की इच्छा** (Desire for union) का होना लाजमी है। सयोग इच्छा का **अर्थ एकता की इच्छा** (Desire for unity) नही। सयोग या सम्मिलन की इच्छा द्वारा एक सघ या समुदाय की रचना होती है, जिसमे दोनो पार्टियाँ अपने-अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को बनाये रखती हैं। सघ राज्य मे जहाँ एक नवीन राज्य या सस्था की स्थापना होती है, वहाँ सघ के अगभूत राज्य अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हैं। वस्तुत सघ-राज्य के मेल की हम स्त्री-पुरुष के विवाह से तुलना कर सकते हैं। विवाह हृदयो का सम्मिलन (Union of hearts) है। वैवाहिक सयोग मे भी दो पार्टियाँ होती हैं, दोनो मे पारस्परिक सम्बन्धो की स्थापना होती है, परन्तु दोनो स्त्री-पुरुष अपने-अपने व्यक्तित्व को बनाये रखते हैं, उनके अपने-अपने अधिकार तथा कर्त्तव्य होते हैं। विवाह सयोग या सम्मिलन की इच्छा का ही परिणाम है।

एकता की इच्छा का अर्थ होगा एकात्मक शासन की रचना। एकात्मक शासन के अन्तर्गत राज्यो का पृथक् अस्तित्व ही नही रहता।

प्रो० डायसी के कथानुसार सयोग की इच्छा का जन्म अनेक तत्त्वो से हो

सकता है, वे तत्व हैं—(१) भौगोलिक एकता; (२) धर्म, भाषा, ऐतिहासिक परम्परा तथा सास्कृतिक एकता, (३) अगभूत राज्यो की समानता; और (४) राजनीतिक शिक्षा। उपर्युक्त तत्त्व राष्ट्रीय एकता के उत्पन्न करने वाले तत्त्व है।

(१) भौगोलिक एकता (Geographical contiguity)—एक ही प्रदेश पर बसे विभिन्न राज्यो के आपस के आदान-प्रदान के कारण सयोग की भावना का विकास हो जाता है। भौगोलिक दृष्टि से दूर-दूर बसे हुए राज्यो मे परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न नही हो सकती, अत. उनमे सघ-राज्य स्थापना की इच्छा ही पैदा नही होती। अगर राज्यो मे दूरी हो, समुद्र की खाई हो यानी भौगोलिक एकता न हो तो उनमे रहने वाले लोगो मे समान स्वार्थ तथा समान हित की भावना भी उत्पन्न नही होती। सघ राज्यो मे यह आशा की जाती है कि इसके सभी अगभूत भाग सघ-राज्य के सचालन मे पूरा-पूरा भाग ले। भौगोलिक एकता सामान्य राजनीतिक एकता तथा राष्ट्रीयता की भावनाओ को उत्पन्न करती है। गिलक्राइस्ट का कथन है कि "भौगोलिक दूरी स्थानीय तथा केन्द्रीय सरकारो मे लापरवाही तथा विद्वेष को पैदा कर देती है। जहाँ जनता एक-दूसरे से बहुत दूर हो वहाँ राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति कठिन हो जाती है।"[1] यही कारण है कि कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका तथा इगलैण्ड द्वारा मिलकर सघराज्य की स्थापना असम्भव है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे राज्यो की प्रादेशिक तथा भौगोलिक एकता ने ही सयोग की भावनाओ को उत्पन्न किया और सघ-राज्य की स्थापना मे सहायता दी।

(२) सास्कृतिक एकता (Common culture)—धर्म, भाषा तथा सस्कृति की एकता राष्ट्रीय भावनाओ के विकास मे सहायक होती है। सघ राज्य कायम करने मे भी जनता की सास्कृतिक एकता बहुत सहायक होती है। सास्कृतिक एकता राजनीतिक एकता को उत्पन्न करती है। बहुत अर्से तक एक साथ एक ही प्रदेश पर रहने के फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक तथा सास्कृतिक समूहो मे भी राष्ट्रीय एकता की भावनाओ का विकास हो जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे ऐसा ही हुआ। विभिन्न सस्कृति वाले राज्यो के एक साथ बाँध देने के फलस्वरूप कभी राष्ट्रीय एकता उत्पन्न नही होती, न ही उनका एक सफल सघ राज्य बन पाता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नही कि धर्म, भाषा तथा सस्कृति की एकता की अनुपस्थिति मे सघ-राज्य की स्थापना ही सम्भव नही। अनेक बार सामान्य राजनीतिक आकाक्षाएँ इतनी मजबूत होती है कि वे धर्म तथा भाषा इत्यादि के भेद को लाँघकर राष्ट्रीयता की मजबूत भावनाओ को उत्पन्न करती है। स्विट्जरलैण्ड मे धार्मिक जातीय तथा भाषा सम्बन्धी एकता का अभाव है। वहा तीन—जर्मन, फ्रेंच तथा इटेलियन—जाति गुप है और तीन ही भाषाएँ—जर्मन, इटेलियन तथा फ्रेंच—बोली जाती है। फिर भी सदियो के सहयोग के फलस्वरूप राष्ट्र मे राष्ट्रीयता की उत्कट

1 "Distance leads to carelessness or callousness on the part of both Central and Local Governments National unity is difficult to attain where the people are too far apart" —*Gilchrist.*

भावनाएं मौजूद है, और स्विस राज्य सघ दुनिया के पुराने तथा सफल सघ राज्यो मे से प्रमुख है। कनाडा तथा भारत मे भी यही पोजीशन है। भारत मे जैसा कि हम पीछे ही देख चुके हैं पर्याप्त सास्कृतिक तथा धार्मिक विभिन्नताएँ है, फिर भी राष्ट्रीयता की मजबूत भावनाएँ मौजूद है। हमे यह बात तो अवश्य ही माननी पडेगी कि राष्ट्रीयता की भावनाओ के विकास मे ऊपर कहे गए तत्वो का महत्त्व है, और वे सभी अलग-अलग या सामूहिक रूप से सघ राज्य की स्थापना मे सहायक होते हैं।

(३) **अगभूत राज्यो की समानता** (Equality among the units)—राज्यो के पारस्परिक विद्वेष को दूर करने के लिए उनकी जहाँ तक हो सके, जनसख्या तथा आकार की दृष्टि से समानता होनी चाहिए। अगर उनमे बहुत भेद हो तो वे राज्य शासन के सचालन मे बराबर के हिस्सेदार नही हो सकते। बडे-बडे राज्य निश्चय ही छोटे-छोटे राज्यो को दबा लेंगे। ऐसी हालत मे पारस्परिक सन्देह और विद्वेष फैल जाता है जिसका फल सघ राज्य का विघटन हो सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि सघ राज्य के अन्तर्गत सघ विधानपालिका के उपरले सदन (Upper Chamber) मे अङ्गभूत राज्यो के प्रतिनिधित्व मे समानता का असूल लागू करना चाहिए। सयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा स्विट्जरलैण्ड मे इसी नियम का अनुसरण किया गया है।

(४) **राजनीतिक शिक्षा** (Political ability)—सघ राज्य-व्यवस्था अत्यन्त जटिल व्यवस्था है। उसकी सफलता जन-सामान्य की विकसित राजनीतिक चेतना पर आश्रित होती है। लोगो को एक ही समय दो प्रकार की वफादारियो को निभाना होता है। एक ओर तो वे अपनी-अपनी राज्य सरकारो के प्रति वफादार होते हैं तो दूसरी ओर उन्हे राष्ट्रीय एकता को निभाना होता है। यह तभी सम्भव है जब कि नागरिको मे उच्च राजनीतिक भावनाएँ हो।

दूसरा यदि राजनीतिक चेतना का राज्य के विभिन्न अगो मे समान विस्तार न हुआ हो तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील राज्यो के हाथ मे ही सदा रहेगी। ऐसी अवस्था मे पारस्परिक विद्वेष तथा फूट पैदा हो जाने का भय रहता है।

११२ सघ-राज्य तथा राज्यमण्डल (Federation and Confederation)

हिन्दी का राज्यमण्डल शब्द अग्रेजी के Confederation **शब्द का पर्यायवाची है।** अग्रेजी मे सघ राज्य के लिए Federation शब्द का प्रयोग किया जाता है, यद्यपि अग्रेजी के ये दोनो शब्द एक ही धातु (Root) से बने है तथापि इन दोनो के अर्थ मे पर्याप्त अन्तर है। सघ-राज्य तथा राजमण्डल दोनो ही राज्यो के समुदाय हैं, परन्तु अपनी प्रकृति मे एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न। सघ-राज्य तो राज्यो की एक स्थायी व्यवस्था है परन्तु राज्यमण्डल (Confederation) स्वतन्त्र राज्यो की एक अस्थायी व्यवस्था है। अधिक स्पष्ट होने के लिए हम कह सकते हैं कि जब विभिन्न प्रभुता सम्पन्न राज्य अपने कुछ 'निश्चित

उद्देश्यों को पाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा एक संस्था स्थापित करते है तो उसे राज्यमण्डल कहा जाता है। दोनों मे निम्नलिखित भेद है—

(१) एक संघ-राज्य बहुत से राज्यों द्वारा बनाया गया नया राज्य होता है, अगर प्रभुता सम्पन्न राज्य भी समझौते द्वारा इस नये राज्य की रचना करते है, तो भी वे अपनी प्रभुता को केन्द्रीय राज्य को ही सौंप देते है, वे स्वतन्त्र तथा प्रभुता-सम्पन्न राज्य नही रहते। राज्य मे सर्वोच्च सत्ता का केन्द्र संघ सरकार ही होती है।

राज्यमण्डल प्रभुता सम्पन्न राज्यों का समुदाय होता है। उसमे प्रत्येक राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को कायम रखता है। किसी नये तथा स्वतन्त्र राज्य की रचना नही होती। प्रत्येक राज्य अपने-अपने क्षेत्र मे सर्वथा स्वतन्त्र होता है।

(२) संघ-राज्य के अन्तर्गत एक राष्ट्रीयता होती है, संघीय कानून होते है, संघीय नागरिकता होती है जो विभिन्न राज्यों मे रहने वाले सभी नागरिकों के लिए होते है। इस राज्य की रचना का आधार एक संविधान होता है, जो राज्य तथा संघ सरकार के पारस्परिक अधिकार क्षेत्रों की व्यवस्था करता है।

राज्यमण्डल के अन्तर्गत कोई नागरिकता नही होती। राज्यमण्डल मे न ही कोई पृथक् न्यायपालिका या विधानपालिका की व्यवस्था रहती है। और न वहाँ ऐसा कोई कानून ही होता है जिसका पालन राज्यमण्डल अपने सभी सदस्य राज्यों के नागरिकों से सीधा करवा सके। संघ-राज्य का अपने नागरिकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। उन्ही से वे अपने कानूनों का पालन करवा सकते है। वस्तुतः राज्यमण्डल किसी कानून की रचना ही नही करता, वह प्रस्ताव पास कर सकता है, सुझाव दे सकता है जिसके पालन के लिए वह अपने सदस्यों से सिफारिश कर सकता है। सदस्य राज्य इस सिफारिश को मानें या न माने यह उनकी मर्जी पर होता है।

(३) राज्यमण्डल का निर्माण किसी संकटकालीन स्थिति के मुकाबले के लिए किया जाता है। ज्योंही यह हालत खत्म हो जाती है त्योंही राज्यमण्डल के सदस्य इस संस्था को तोड अलग हो सकते हैं। यह संस्था प्रायः अस्थायी होती है, और उसका निर्माण मर्जी से होता है। प्रत्येक सदस्य राज्य अपनी इच्छानुसार इसे छोड़ अलग हो सकता है। परन्तु संघ-राज्य मे ऐसा सम्भव नही, संघ-राज्य एक स्थायी संयोग होता है। उसमे राज्य अपने केन्द्रीय शासन से अलग नही हो सकते।

कभी-कभी अवश्य ही राज्यमण्डल के सदस्य अपने समान हितों की सुरक्षा के लिए पहले राज्यमण्डल (Confederation) बनाते है और बाद मे उसी को संघ-राज्य (Federation) मे बदल लेते है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्ज़रलैण्ड पहले-पहल राज्यमण्डल के रूप मे एकत्रित हुए थे, और राष्ट्रीय एकता की भावना के उत्पन्न हो जाने के फलस्वरूप बाद मे संघ-राज्य मे बदल गए। राज्यमण्डल के संगठन मे शासकीय शक्ति का अभाव होता है। जिस प्रकार एक संघ-राज्य मे सम्पूर्ण राज्य के लिए एक संघीय सरकार की व्यवस्था रहती है वैसी राज्यमण्डल मे नही होती। जब कभी किसी महत्त्वपूर्ण मसले पर विचार किया जाता है तो उस समय सभी सदस्य राज्य अपने-अपने प्रतिनिधि भेज देते है और वहाँ अपने-अपने राज्य के

विचार प्रगट करते है।

राज्यमण्डल के निर्माण के उदाहरण इतिहास मे अनेक हैं। पुराने समय मे डेलियन (Delian), लीसियन (Lycean) तथा एकियन लीग (Achean League), इसी प्रकार के राज्यमण्डलो के उदाहरण है। वर्तमान युग मे स्विट्जरलैण्ड, हॉली रोमन एम्पायर (The Holy Roman Empire) और जर्मन राज्यमण्डल (The German Confederation) इत्यादि अनेक राज्यमण्डलो का निर्माण हुआ।

हाल ही मे अमेरिकन नेतृत्व मे सुरक्षा के लिए सगठित 'दक्षिणी-पूर्वी एशिया सुरक्षा सगठन' (S E A T O) तथा मध्य एशिया सुरक्षा सगठन (M E A D O) तथा उत्तरी एटलाण्टिक सन्धि सघ (N A T O) इत्यादि भी राज्यमण्डल (Confederation) ही कहला सकते है।

११३ सघ-राज्य के लाभ (Advantages of Federation)

(१) आज विश्व सघ-राज्य की ओर प्रवृत्त हो रहा है। वर्तमान काल की राजनीतिक, आर्थिक तथा औद्योगिक परिस्थितियो ने विश्व के विभिन्न राज्यो की अन्योन्याश्रयता को वढाया है। युद्ध के नये टेकनीक के विकास के फलस्वरूप छोटे-छोटे राज्यो का जीवन सदा सकट मे रहता है। प्रथम तथा द्वितीय युद्ध ने सावित कर दिया है कि वडे राज्यो द्वारा छोटे राज्य ऐसे हडप कर लिये जाते हैं जैसे कि वडी मछली द्वारा छोटी मछलियाँ। द्वितीय युद्ध के दौरान मे हिटलर की सेनाओ ने पश्चिमी यूरोप के छोटे-छोटे राज्यो को कुछ ही दिनो मे कुचल दिया। अत वर्तमान युग मे छोटे राज्यो के लिए सघ वनाकर रहना अधिक लाभदायक है। साम्राज्यवादी प्रवृत्तियो के फलस्वरूप छोटे-छोटे राज्य वडे राज्यो के दरम्यान झगडे के कारण वन जाते है।

छोटे राज्य यदि परस्पर मिलकर एक सघ-राज्य की स्थापना करले तो जहाँ वे बाह्य आक्रमण से सुरक्षित हो जाते हैं, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उनका प्रभाव और मान भी वढ जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका आज विश्व का सवसे अधिक शक्तिशाली राज्य है, परन्तु अगर उसके विभिन्न राज्य सर्वथा स्वतन्त्र राज्य रहते तो वे कभी भी इतने प्रभावोत्पादक तथा शक्तिशाली न हो सकते।

वगाल, पजाव, मद्रास तथा काश्मीर भारत सघ के भाग होकर ही सुरक्षित तथा उन्नत और शक्तिशाली हो सकते हैं, नही तो उनकी स्थिति वैसी ही होगी जैसी कि नेपाल तथा अफगानिस्तान की है।

आज की आर्थिक व्यवस्था वहुत जटिल है, कोई भी छोटा राज्य सर्वथा आत्म-निर्भर नही हो सकता। विभिन्न राज्यो के मेल द्वारा प्राकृतिक स्रोतो के इकट्ठे हो जाने के फलस्वरूप आर्थिक शक्ति को भी विकसित करने मे पर्याप्त सहायता मिल जाती है।

(२) विशाल राज्यो के लिए सघ शासन-व्यवस्था विशेष उपयोगी होती है, क्योंकि किसी भी विशाल राज्य का शासन एक ही केन्द्र से करना शासन मे अव्यवस्था

को उत्पन्न करना है। आज के विशाल राज्य बहुत सी सांस्कृतिक तथा धार्मिक इकाइयों से मिलकर बने हुए होते हैं या यूं कहिए कि आज के प्रत्येक राष्ट्र में अनेक उपराष्ट्र होते हैं। उनको स्वायत्त शासन देकर जहां उनकी सांस्कृतिक तथा अन्य प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने का मौका दिया जा सकता है, वहां राष्ट्रीय मामलों में एक जैसी नीति को अपनाया जा सकता है। भारत तथा रूस जैसे विशाल-काय राज्यों के लिए संघ शासन-प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। भारत में सांस्कृतिक विभिन्नता है और इसके साथ ही राष्ट्रीय एकता भी है। इन दोनों का मेल संघ सरकार के निर्माण द्वारा कर दिया गया है।

(३) संघ शासन-प्रणाली का अर्थ है शक्तियों का बटवारा। राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों पर केन्द्रीय सरकार नियन्त्रण करती है और अन्य विषयों पर प्रादेशिक सरकारें। हम पहले ही देख चुके हैं कि श्रम-विभाजन उन्नत तथा प्रगतिशील समाज के लिए आवश्यक है। इस प्रकार का श्रम-विभाजन संघ राज्य में रहता है। फलत राज्य-शासन-व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक सरल तथा कुशल (Efficient) हो जाती है। एकात्मक शासन में एक ही केन्द्र से शासन-व्यवस्था चलाई जाती है, एक ही सरकार सभी विषयों के राज-काज के लिए जिम्मेदार होती है, फलत बहुत से मामलों का या तो शासन ही अच्छी तरह नहीं हो पाता या फिर दूरस्थ प्रदेशों की आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दिया जा सकता।

(४) संघ शासन-व्यवस्था में राज्य शक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाता है। पीछे हम देख ही चुके हैं कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए राज्य-शक्ति का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण एकतन्त्र या श्रेणीतन्त्र की स्थापना में बाधक होता है। दो सरकारें एक साथ काम करती हैं अत उन्हें एक ही व्यक्ति के नियन्त्रण में एक ही समय में नहीं लाया जा सका। फ्रांस या इंगलैण्ड में एकात्मक शासन है, वहां कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय बिना किसी विशेष दिक्कत के तानाशाही की स्थापना कर सकता है।

(५) संघ सरकार खर्चीली भी कम होती है। अगर सभी छोटे-छोटे राज्यों को अपनी-अपनी सेनाएँ रखनी पड़े, अपने-अपने वैदेशिक विभाग बनाने पड़ें, दूसरे देशों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए राजदूत भेजने पड़ें, तो निश्चय ही उनका खर्च बहुत बढ़ जायगा। ऐसी अवस्था में वह अपने विकास की आवश्यक योजनाओं पर खर्च ही नहीं कर सकेंगे। संघ राज्य में यह सब खर्च केन्द्रीय सरकार अपने ऊपर ले लेती है और सभी राज्यों की रक्षा के लिए एक सैनिक व्यवस्था बना लेती है। साथ ही आन्तरिक व्यापार तथा यातायात की सुविधाओं के समुचित विकास का अवसर भी मिल जाता है।

संघ शासन की कमजोरियां (Defects of Federal Government) संघ शासन में अनेक कमजोरियां हैं, इन्हीं के आधार पर नीचे लिखे ढंग से इसकी आलोचना की जाती है—

(१) एकात्मक शासन की अपेक्षा संघ शासन कमजोर होते हैं, यह कमजोरी

अन्दरूनी तथा बाहरी दोनो ही मामलों मे होती है। सघ-राज्य मे शक्तियो का विभाजन होता है, राज्य-सत्ता के विभाजन का अर्थ ही कमजोरी है। अपनी सीमित शक्ति के कारण सकटकालीन स्थिति मे केन्द्रीय सरकार कानून और व्यवस्था बनाये रखने मे असमर्थ हो जाती है। विदेशी मामलो मे भी वह अपने अनेक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो को पूरा नही कर सकती, जिसका सम्बन्ध राज्यो से होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि सघ-राज्यो मे अनेक बार ऐसा हो चुका है। इन दोनो देशो मे अनेक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का लागू कर सकना इसलिए कठिन हो गया कि वे एक तो राज्य-सरकारो से सम्बन्धित थीं और दूसरे, राज्य सरकारो द्वारा उनका विरोध भी हुआ।

(२) एक ही राज्य मे अक्सर एक ही विषय पर अनेक परस्पर विरोधी कानून मिल जाते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका में विवाह, तलाक, बैंकिंग तथा बीमा इत्यादि विषय राज्य सरकारों के अधीन हैं, अत उन पर अलग-अलग राज्य सरकारें अपनी सुविधानुसार अलग-अलग तरह के कानून बनाती हैं, जिसका नतीजा यह होता है कि इन कानूनो की भिन्नता की वजह से अनेक झगडे पैदा हो जाते हैं।

इस प्रकार की स्थिति की समाप्ति तो सवैधानिक सशोधन द्वारा ही सम्भव है।

(३) सघ सरकार को कम खर्चीला कहना भी गलत हैं। सघ सरकार मे समय और धन दोनो का ही दुरुपयोग होता है। शासनतन्त्र के दुहरे होने के फल-स्वरूप खर्च बढ़ जाता है, प्रत्येक राज्य की अपनी-अपनी विधानपालिकाएँ, कार्य-पालिकाएँ तथा न्यायपालिकाएँ होती हैं। प्रत्येक राज्य अपने सरकारी कर्मचारी रखता है। इस प्रकार जहाँ एकात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत सरकार के विभिन्न अगों की दुहरी व्यवस्था नही होती, शासन पर बहुत कम खर्च होता है।

(४) सघ शासन के अन्तर्गत एक राज्य या बहुत से राज्यो द्वारा केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह की आशका रहती है। अनेक बार कुछेक राज्य मिलकर केन्द्रीय सरकार की नीति के विरोध के लिए तैयार हो जाते है। सयुक्त राज्य अमेरिका में दास-प्रथा के खत्म करने पर उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यो मे गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया था। ऐसी स्थिति किसी भी सघ-राज्य मे पैदा हो सकती है।

(५) बहुत से विचारको का मत है कि सघ शासन-व्यवस्था एक अस्थायी व्यवस्था है, इसमे एकात्मकता की प्रवृत्ति रहती है। सघीय शासनो के अन्तर्गत जहाँ कि केन्द्र को कुछेक निश्चित शक्तियाँ ही सौंपी जाती हैं, धीरे-धीरे परिस्थितियो के परिवर्तन के अनुसार शक्ति-विभाजन मे अन्तर पड जाता है। केन्द्रीय सरकार को अधिक से अधिक शक्तिसम्पन्न करने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। सकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए केन्द्रीय सरकार को और भी अधिक शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका मे पहले-पहल केन्द्रीय शासन को कुछेक निश्चित शक्तियाँ ही दी गई थी, उस अवस्था मे केन्द्रीय सरकार बहुत कमजोर थी। बाद मे सविधान की व्याख्या और सशोधनो द्वारा केन्द्रीय शासन इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न हो गया कि लोगो ने कहना शुरू कर दिया कि सयुक्त राज्य अमेरिका अब वास्तविक अर्थ मे सघ-राज्य रहा ही नही।

(६) संघ-राज्य के अन्तर्गत संविधान का लिखित होना लाजमी है। लिखित तथा कठोर संविधान की अपनी कठिनाइयाँ होती है। उसे परिवर्तित हुई परिस्थितियों के अनुसार नही बदला जा सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की संशोधन-प्रक्रियाँ इतनी कठिन है कि पिछले अनेक वर्षो मे बहुत कम संशोधन स्वीकार किये गये है। फिर यह संशोधन प्रक्रिया तीन-चौथाई राज्यो को तद्विषयक अन्तिम अधिकार दे अप्रजातान्त्रिकता को जन्म देती है। संविधान मे किया गया शक्ति विभाजन सर्वकाल के लिए उपयुक्त नही होता, उसमे परिवर्तन आवश्यक होता है, जो संविधान की कठोरता के कारण कठिन हो जाता है।

न्यायालय की सर्वोच्चता भी कानूनविषयक अनिश्चितता को उत्पन्न करती है। संविधान की व्याख्या का अधिकार केवल मात्र न्यायालय को होता है, और साथ ही वह राज्य तथा केन्द्रीय विधानपालिकाओ द्वारा पास किये गये कानूनो की संवैधानिकता पर अन्तिम फैसला देता है। अतः जब तक सुप्रीम कोर्ट विधानपालिका द्वारा स्वीकृत कानूनो पर अपनी सम्मति अन्तिम रूप से प्रगट नही कर देता, तब तक उनका भाग्य अनिश्चित ही रहता है। अनेक बार एक कानून बीस वर्ष तक लागू रहता है और तब अचानक सुप्रीम कोर्ट उसे गैरकानूनी करार दे देता है। फल यह होता है कि बीस वर्ष से कायम सभी व्यवस्थाएँ तब उल्ट-पुल्ट हो जाती है। इस प्रकार का व्यवस्था द्वारा न्यायालय को अनावश्यक रूप से शक्तिशाली बना दिया जाता है और उसे राजनीतिक क्षेत्र मे हस्ताक्षेप करने का अवसर प्रदान किया जाता है।

निष्कर्ष—इन दोषो के बावजूद भी हमे स्वीकार करना ही पडेगा कि संघवाद दिन-प्रतिदिन सर्वप्रिय होता जा रहा है और यह अनुभव किया जाता है कि विश्व की अनेक आर्थिक तथा राजनीतिक बीमारियो का एक मात्र हल संघ शासन-व्यवस्था ही है। युद्ध-संचालन तथा विदेशी नीति के अनुसरण मे संघ राज्य असफल नही रहते, यह प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध ने अच्छी तरह साबित कर दिया है। यह कहना भी गलत है कि संघवाद एक अस्थायी शासन-व्यवस्था है। निश्चय ही नये संघ राज्यो मे एकात्मक शासन की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो जाती है और उनमे केन्द्र की शक्ति काफी बढा दी जाती है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि संघ-शासन का आधारभूत सिद्धान्त—स्थानीय स्वराज्य तथा राष्ट्रीय एकता—को त्याग दिया गया है। जैसा कि हम ऊपर देख आये है यह कमजोर और छोटे-छोटे राज्यो को शक्तिसम्पन्न बनाता है। उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे गौरवमय पद प्रदान करता है, एक ही राज्य के अन्तर्गत प्राप्त सभी राष्ट्रीय इकाइयो को स्वायत्त शासन का अधिकार देता है।

संघवाद आज की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ के हल के लिए भी अत्यन्त उपयोगी माना जाता है। यह कहा जाता है कि समाज अपनी प्रकृति से संघात्मक है अतः उसका संगठन भी संघशासन की प्रणाली पर ही होना चाहिए।

प्रो० लास्की इत्यादि आधुनिक राजनीति शास्त्रियो का यह विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध, प्रतिद्वन्द्विता तथा वैमनस्य इत्यादि को दूर कर एक विश्व-राज्य की स्थापना संघवाद के आधार पर ही सम्भव है। संघवाद के आधार पर ही राष्ट्रीय

स्वतन्त्रता व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के असूलों का मेल किया जा सकता है। इस प्रकार संघवाद अस्थायी शासन-व्यवस्था नहीं, वह भविष्य में मानवीय एकता और एक विश्व-राज्य (One World States) का आधार बन सकता है।

Important Questions

	Reference
1 Describe the nature and characteristics of a Federal Union (*Pb 1940 Cal 1954, '40, '35, '30, All 1943*)	Arts 107 to 109
2 What are the conditions that favour the formation of a Federal Union ? (*Pb 1940, Ag 1951, Cal 1941, 1937, 1930, Bombay 1937*)	Art 117
3 Explain the principles on which powers are distributed in federations, and account for the general tendency towards the increase of powers of Federal Government (*Cal 1942, Pat 1943, Nag 1943*)	Arts 108 and 109
4 Discuss the strength and weakness of Federation (*Bom 1931, Cal 1954, Pb 1953*) *Or,* What are the chief reasons for the popularity of federations in these days ? (*Pb 1943, 1936*)	Art 113
5 What is confederation ? Discuss (*Pb 1955 Sept*)	Art 112
6 Distinguish between Unitary and Federal forms of Government What are the essential characteristics of the Federal system ? (*Pb 1952*)	Arts 106 to 108
7 Explain the principles underlying the distribution of powers in a federation Give illustrations (*Pb 1951*)	Arts 108 and 109

राज्य तथा शासन के भेद (४)

संसदीय तथा राष्ट्रपति शासन
(Parliamentary and Presidential Government)

प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणालियों का एक अन्य वर्गीकरण संसदीय-शासन तथा राष्ट्रपतितन्त्र के रूप में भी किया गया है। इस वर्गीकरण का आधार विधानपालिका (Legislature) तथा कार्यपालिका (Executive) के पारस्परिक सम्बन्ध है। यदि कार्यपालिका विधानपालिका के नियन्त्रण में काम करती है और उसके प्रति उत्तरदायी है तो शासन-प्रणाली संसदीय (Parliamentary) कहलाती है। इसके विपरीत अगर कार्यपालिका तथा विधानपालिका दोनों के अपने अपने कार्य-क्षेत्र हैं और दोनों एक दूसरे से काफी हद तक स्वतन्त्र हैं तो ऐसी शासन-प्रणाली राष्ट्रपतितन्त्र (Presidential) कहलायेगी। प्रथम प्रकार की शासन-प्रणाली का आधार कार्यपालिका तथा विधानपालिका का पारस्परिक सहयोग और दूसरी का दोनों का पृथक्करण है।

११४. संसदीय शासन-प्रणाली (Parliamentary form of Government)

सर्वप्रथम हम संसदीय शासन-प्रणाली का विवेचन करेंगे। संसदीय शासन-प्रणाली का विकास इंग्लैण्ड में हुआ। इंग्लैण्ड में संसदीय सरकार का आधार रस्मो-रिवाज है न कि कोई सैद्धान्तिक कानून। इंग्लैण्ड से ही इसका प्रचलन फ्रांस, बेल्जियम, रूमानिया, नार्वे, स्वीडन तथा डेनमार्क इत्यादि देशों में हुआ था। इंग्लैण्ड के आदर्शों का अनुसरण उसके उपनिवेशों ने भी किया। भारत, पाकिस्तान, लंका, इंडोनेशिया इत्यादि हाल ही में स्वतन्त्र हुए एशियन राज्यों में भी संसदीय शासन-प्रणाली को ही अपनाया गया है। रूस में यद्यपि शासन-व्यवस्था के दो रूप हैं सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—तथापि सैद्धान्तिक रूप में वहाँ भी संसदीय शासन-प्रणाली को ही कुछ हेर फेर के साथ अपनाया गया है। इस प्रकार संसदीय शासन-प्रणाली आज पर्याप्त लोक-प्रिय हो गई है। वस्तुतः संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उससे प्रभावित कुछेक अन्य लैटिन-अमेरिकन राज्यों को छोड़ कर प्रायः सभी जगह संसदीय शासन-प्रणाली को ही अपनाया गया है।

संसदीय शासन-प्रणाली की परिभाषा—संसदीय शासन प्रणाली, जैसा कि नाम से ही विदित है, ऐसी शासन-व्यवस्था है जिसमें कि कार्यपालिका संसद (Legislature) के नियन्त्रण तथा देख-रेख में शासन चलाती है। डा० गार्नर के मतानुसार "संसदीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) विधानमण्डल अथवा उसके एक लोकप्रिय सदन के प्रति तथा अन्त में निर्वाचकों के प्रति अपनी राजनीतिक

एक निश्चय हो जाने पर तो उन्हे मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति का समर्थन करना पडता है अथवा इस्तीफा दे मन्त्रिमण्डल से अलग हो जाना होता है। मन्त्रिमण्डल की नीति के विधानपालिका द्वारा अस्वीकार किए जाने पर इसके सभी सदस्य त्यागपत्र दे देते हैं। मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से ही जीवित रहता है और सामूहिक रूप मे ही खत्म हो जाता है। एक मन्त्रि द्वारा पेश किये गये बिल के रद्द हो जाने पर भी सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल इस्तीफा दे देता है। इसी उत्तरदायित्व के नियम पालन के आधार पर ही इसे उत्तरदायी शासन (Responsible Government) कहा जाता है।

विधानपालिका कार्यपालिका का अनेक प्रकार से नियन्त्रण करती है। विधानपालिका के सदस्य मन्त्रियो से प्रश्न पूछ सकते हैं, सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर पूरक प्रश्न (Supplementary questions) पूछ सकते हैं। मन्त्रिमण्डल द्वारा पेश किये गये किसी बिल को या बजट को अस्वीकार कर विधानपालिका मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास प्रकट कर सकती है, आवश्यकता पडने पर विधानपालिका निन्दा प्रस्ताव (Censure motion) या अविश्वास-प्रस्ताव (No confidence motion) द्वारा मन्त्रिमण्डल को हटा सकती है। सक्षेप मे मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने पदो पर तभी तक आसीन रहते हैं जब तक कि उन्हे विधानपालिका के बहुमत का विश्वास प्राप्त होता है।

पदच्युत किये जाने पर मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल के भग किये जाने की माँग भी कर सकता है। इग्लैण्ड मे राजा प्राय मन्त्रिमण्डल की एतद्विषयक मांग को स्वीकार कर लेता है।

भारत मे सघ तथा राज्य मे बनाई जाने वाली सरकारे पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था पर ही आधारित हैं। केन्द्र के क्षेत्र मे प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यो सहित लोकसभा (House of the People) के प्रति उत्तरदायी होता है। वह तभी तक अपने पद पर रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। इसी प्रकार राज्यो मे भी मुख्य मन्त्रि सहित सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल विधानपालिका के निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होता है। भारत तथा इग्लैण्ड की एतद्विषयक व्यवस्था मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। भारत मे मन्त्रिपरिषद् की तथा उसकी लोकसभा के प्रति जिम्मेदारी की व्यवस्था सविधान द्वारा की गई है जब कि इग्लैण्ड मे यह सब व्यवस्था रस्मो-रिवाज पर आधारित है।

ससदीय शासन-व्यवस्था के गुण—ससदीय शासन-व्यवस्था का सबसे बडा गुण कार्यपालिका तथा विधानपालिका मे सहयोग तथा ताल-मेल की व्यवस्था है।

कार्यपालिका विधानपालिका का ही एक भाग होती है। वस्तुत यह कहना अधिक ठीक होगा कि कार्यपालिका विधानपालिका के सदस्यो से निर्मित और समर्थित एक ऐसी उपसमिति है जिसका कर्त्तव्य विधानपालिका द्वारा स्वीकृत कानूनो तथा आदेशो का पालन करवाना है। कार्यपालिका के सभी सदस्य विधानपालिका के सदस्य होते हैं, वे अपनी सम्पूर्ण नीतियो को विधानपालिका के सम्मुख स्वीकृति के लिए पेश करते हैं। शासकीय दृष्टि से अवश्य सभी महत्त्वपूर्ण कानून भी उन्ही द्वारा पेश किये

जाते है। वे कार्यपालिका की सभी प्रकार की आवश्यकताओं को विस्तारपूर्वक विधानपालिका के सम्मुख पेश कर सकते हैं। कार्यपालिका के सदस्य विधानपालिका के प्रमुख सदस्यों में से होते है। प्रधान मन्त्री तो बहुमत का नेता होता है। ऐसी अवस्था में वे अपनी कानून सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकताओं को विधानपालिका द्वारा स्वीकृत करवा सकते हैं। इसी प्रकार विधानपालिका तथा कार्यपालिका में मन-मुटाव तथा असहयोग के उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत ही कम रहती है। विधानपालिका अपनी मनपसन्द की कार्यपालिका का निर्माण कर सकती है।

इसी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत अर्थ-संग्रह करने वाले, नये कर लगाने की स्वीकृति देने वाले और धन खर्च करने वाले विभागों में पारस्परिक सहयोग रहता है। जितने भी नये कर लगाये जाते है वे सभी विधानपालिका की स्वीकृति से लगाये जाते हैं जब कि उनका सुझाव कार्यपालिका ही देती है। कार्यपालिका ही उनके संग्रह के लिए जिम्मेदार होती है। धन-राशि के व्यय करने की जिम्मेदारी कार्यपालिका पर होती है जब कि व्यय की स्वीकृति विधानपालिका देती है। दोनों में पारस्परिक सहयोग होने से किसी प्रकार का भी गत्यवरोध उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। संयुक्त राज्य अमेरिका में शक्ति-विभाजन के फलस्वरूप कार्य तथा उद्देश्य की ऐसी एकता नहीं मिलती। अनेक बार विधानपालिका तथा कार्यपालिका में मतभेद उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप राज्य-शासन के निर्विघ्न संचालन में अड़चनें पैदा हो जाती हैं।

संसदीय शासन उत्तरदायी शासन की व्यवस्था करता है। यही शासन का एक ऐसा प्रकार है जो जनसाधारण या निर्वाचकों की प्रभुता को वास्तविकता का रूप देता है। कार्यपालिका अपनी सम्पूर्ण शासकीय नीतियों के लिए तथा अपनी सभी कार्यवाहियों के लिए विधानपालिका के प्रति जिम्मेदार होती है। विधानपालिका जनता के प्रतिनिधियों से मिलकर बनती है, अतः उसके सभी सदस्य जनसामान्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जब कभी मन्त्रिमण्डल जनसाधारण की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता और विधानपालिका के सदस्यों का भी उसे विश्वास प्राप्त नहीं होता, तो उसे हटाया जा सकता है, और उसके स्थान पर ऐसे नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जा सकता है जो विधानपालिका के सदस्यों के साथ-साथ जन-साधारण का भी विश्वास पात्र हो। यह आवश्यक नहीं कि एक बुरा मन्त्रिमण्डल तभी तक कार्य करता रहे जब तक कि उसकी अवधि समाप्त न हो जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए होता है। यदि इस बीच जनसामान्य उसकी नीतियों से असन्तुष्ट हो जाय तो भी वह उसे नहीं बदल सकता। लार्ड ब्राइस का कथन है कि संसदीय शासन के अन्तर्गत उत्तरदायित्व एक स्थान पर केन्द्रित होता है। शासकीय गलतियों के लिए विधानपालिका कार्यपालिका को दोषी ठहरा सकती है और जनता कार्यपालिका तथा विधानपालिका दोनों के बहुमत को ही। संयुक्त राज्य अमेरिका में उत्तरदायित्व किसी भी एक स्थान पर केन्द्रित कर सकना अत्यन्त कठिन है। किसी भी असफल शासकीय नीति के लिए कार्यपालिका विधानपालिका को दोषी ठहरा सकती है और विधानपालिका

एक निश्चय हो जाने पर तो उन्हे मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति का समर्थन करना पडता है अथवा इस्तीफा दे मन्त्रिमण्डल से अलग हो जाना होता है। मन्त्रिमण्टल की नीति के विधानपालिका द्वारा अस्वीकार किए जाने पर इसके सभी सदस्य त्यागपत्र दे देते हैं। मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से ही जीवित रहता है और सामूहिक रूप मे ही खत्म हो जाता है। एक मत्रि द्वारा पेश किये गये बिल के रद्द हो जाने पर भी सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल इस्तीफा दे देता है। इसी उत्तरदायित्व के नियम पालन के आधार पर ही इसे उत्तरदायी शासन (Responsible Government) कहा जाता है।

विधानपालिका कार्यपालिका का अनेक प्रकार से नियन्त्रण करती है। विधानपालिका के सदस्य मन्त्रियो से प्रश्न पूछ सकते हैं, सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर पूरक प्रश्न (Supplementary questions) पूछ सकते हैं। मन्त्रिमण्डल द्वारा पेश किये गये किसी बिल को या बजट को अस्वीकार कर विधानपालिका मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास प्रकट कर सकती हैं, आवश्यकता पडने पर विधानपालिका निन्दा प्रस्ताव (Censure motion) या अविश्वास-प्रस्ताव (No confidence motion) द्वारा मन्त्रिमण्डल को हटा सकती है। सक्षेप मे मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने पदो पर तभी तक आसीन रहते है जब तक कि उन्हे विधानपालिका के बहुमत का विश्वास प्राप्त होता है।

पदच्युत किये जाने पर मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल के भग किये जाने की माँग भी कर सकता है। इग्लैण्ड मे राजा प्राय मन्त्रिमण्डल की एतद्विषयक माँग को स्वीकार कर लेता है।

भारत मे सघ तथा राज्य मे बनाई जाने वाली सरकारे पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था पर ही आधारित हैं। केन्द्र के क्षेत्र मे प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यो सहित लोकसभा (House of the People) के प्रति उत्तरदायी होता है। वह तभी तक अपने पद पर रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। इसी प्रकार राज्यो मे भी मुख्य मन्त्रि सहित सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल विधानपालिका के निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होता है। भारत तथा इग्लैण्ड की एतद्विषयक व्यवस्था मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। भारत मे मन्त्रिपरिषद् की तथा उसकी लोकसभा के प्रति जिम्मेदारी की व्यवस्था सविधान द्वारा की गई है जब कि इग्लैण्ड मे यह सब व्यवस्था रस्मो-रिवाज पर आधारित है।

ससदीय शासन-व्यवस्था के गुण—ससदीय शासन-व्यवस्था का सबसे बडा गुण कार्यपालिका तथा विधानपालिका मे सहयोग तथा ताल-मेल की व्यवस्था है।

कार्यपालिका विधानपालिका का ही एक भाग होती है। वस्तुत यह कहना अधिक ठीक होगा कि कार्यपालिका विधानपालिका के सदस्यो से निर्मित और समर्थित एक ऐसी उपसमिति है जिसका कर्तव्य विधानपालिका द्वारा स्वीकृत कानूनो तथा आदेशो का पालन करवाना है। कार्यपालिका के सभी सदस्य विधानपालिका के सदस्य होते हैं, वे अपनी सम्पूर्ण नीतियो को विधानपालिका के सम्मुख स्वीकृति के लिए पेश करते हैं। शासकीय दृष्टि से अवश्य सभी महत्त्वपूर्ण कानून भी उन्ही द्वारा पेश किये

जाते हैं। वे कार्यपालिका की सभी प्रकार की आवश्यकताओं को विस्तारपूर्वक विधानपालिका के सम्मुख पेश कर सकते हैं। कार्यपालिका के सदस्य विधानपालिका के प्रमुख सदस्यों में से होते हैं। प्रधान मन्त्री तो बहुमत का नेता होता है। ऐसी अवस्था में वे अपनी कानून सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकताओं को विधानपालिका द्वारा स्वीकृत करवा सकते हैं। इसी प्रकार विधानपालिका तथा कार्यपालिका में मन-मुटाव तथा असहयोग के उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत ही कम रहती है। विधानपालिका अपनी मनपसन्द की कार्यपालिका का निर्माण कर सकती है।

इसी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत अर्थ-संग्रह करने वाले, नये कर लगाने की स्वीकृति देने वाले और धन खर्च करने वाले विभागों में पारस्परिक सहयोग रहता है। जितने भी नये कर लगाये जाते हैं वे सभी विधानपालिका की स्वीकृति से लगाये जाते हैं जब कि उनका सुझाव कार्यपालिका ही देती है। कार्यपालिका ही उनके संग्रह के लिए जिम्मेदार होती है। धन-राशि के व्यय करने की जिम्मेदारी कार्यपालिका पर होती है जब कि व्यय की स्वीकृति विधानपालिका देती है। दोनों में पारस्परिक सहयोग होने से किसी प्रकार का भी गत्यवरोध उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। संयुक्त राज्य अमेरिका में शक्ति-विभाजन के फलस्वरूप कार्य तथा उद्देश्य की ऐसी एकता नहीं मिलती। अनेक बार विधानपालिका तथा कार्यपालिका में मतभेद उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप राज्य-शासन के निर्विघ्न संचालन में अड़चनें पैदा हो जाती हैं।

संसदीय शासन उत्तरदायी शासन की व्यवस्था करता है। यही शासन का एक ऐसा प्रकार है जो जनसाधारण या निर्वाचकों की प्रभुता को वास्तविकता का रूप देता है। कार्यपालिका अपनी सम्पूर्ण शासकीय नीतियों के लिए तथा अपनी सभी कार्यवाहियों के लिए विधानपालिका के प्रति जिम्मेदार होती है। विधानपालिका जनता के प्रतिनिधियों से मिलकर बनती है, और उसके सभी सदस्य जनसामान्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जब कभी मन्त्रिमण्डल जनसाधारण की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता और विधानपालिका के सदस्यों का भी उसे विश्वास प्राप्त नहीं होता, तो उसे हटाया जा सकता है, और उसके स्थान पर ऐसे नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जा सकता है जो विधानपालिका के सदस्यों के साथ-साथ जन-साधारण का भी विश्वास पात्र हो। यह आवश्यक नहीं कि एक बुरा मन्त्रिमण्डल तभी तक कार्य करता रहे जब तक कि उसकी अवधि समाप्त न हो जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए होता है। यदि इस बीच जनसामान्य उसकी नीतियों से असन्तुष्ट हो जाय तो भी वह उसे नहीं बदल सकता। लार्ड ब्राइस का कथन है कि संसदीय शासन के अन्तर्गत उत्तरदायित्व एक स्थान पर केन्द्रित होता है। शासकीय गलतियों के लिए विधानपालिका कार्यपालिका को दोषी ठहरा सकती है और जनता कार्यपालिका तथा विधानपालिका दोनों के बहुमत को ही। संयुक्त राज्य अमेरिका में उत्तरदायित्व किसी भी एक स्थान पर केन्द्रित कर सकना अत्यन्त कठिन है। किसी भी असफल सार्वजनिक नीति के लिए कार्यपालिका विधानपालिका को दोषी ठहरा सकती है और विधानपालिका

कार्यपालिका को । परन्तु ससदीय शासन-व्यवस्था मे ऐसा सम्भव नही ।

ससदीय शासन-व्यवस्था मे लचकीलापन (Flexibility) होता है । परिवर्तित हालत के अनुसार उसे बदला जा सकता है । खास तौर पर सकटकालीन स्थिति का सामना जितनी सफलता से पार्लियामेण्ट्री सरकार के अन्तर्गत किया जा सकता है वैसा अन्यत्र नही । इग्लैण्ड मे अनेक बार सकटकाल आये और उनका सामना करने के लिए उपयुक्त अवसर पर उपयुक्त नेताओ के चुनाव किये गये । प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान मे मि० ऐस्क्विथ के स्थान पर लायड जार्ज को युद्ध-सचालन के लिए उपयुक्त समझ चुन लिया गया । इसी प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के शुरू मे ही चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल का चुनाव किया गया । फिर सकटकालीन स्थिति मे सभी दलो को मिलाकर राष्ट्रीय सरकार बनाई जा सकती है, प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर जब अन्य राज्यो की भाँति इग्लैण्ड मे भी विकट आर्थिक सकट उपस्थित हो गया था उस समय रेम्ज मैकडानल्ड के नेतृत्व मे सभी दलो की मिली-जुली राष्ट्रीय सरकार कायम की गई थी । इसी प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान मे चर्चिल ने भी ऐसा ही किया था । परन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका मे ऐसे अवसर पर उपयुक्त नेता का चुनाव नही हो सकता और न ही सभी दलो का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकता है । सयुक्त राज्य अमेरिका मे तो सभी चीजे निश्चित तथा निर्दिष्ट हैं । उनमे परिवर्तन की गुजाइश नही । वाल्टर वेजहाट ने ठीक कहा है, "**अमेरिकन सरकार प्रभुतासम्पन्न लोगों की सरकार कहलाती है, परन्तु सकट के समय जब कि प्रभुत्व-शक्ति की परम आवश्यकता होती है, आप प्रभुतासम्पन्न जनता को नहीं खोज पाते सभी व्यवस्थाएँ निश्चित अवधि के लिए होती हैं । कोई भी लचकीला तत्त्व नहीं, प्रत्येक चीज कठोर निर्दिष्ट तथा उल्लिखित है । कुछ भी हो जाय, आप किसी चीज को शीघ्र नहीं कर सकते । और न ही किसी को रोक सकते हैं । आपने अपनी सरकार का पहले ही फैसला दे दिया है । चाहे यह आपके लिए ठीक है या नहीं, कानून के आधार पर आपको इसे बर्दाश्त करना ही पड़ेगा ।**"[1]

प्रो० डायसी के अनुसार ससदीय शासन मे गुणात्मक उच्चता भी होती है । मन्त्रिमण्डल के सदस्य माने हुए नेतागण होते हैं, मन्त्रिमण्डल मे स्थान ग्रहण करने से पूर्व वे बरसो विधानपालिका के सदस्यो के रूप मे अपनी योग्यता को प्रदर्शित करते हैं और अनेक नेताओ के शिष्यत्व मे रह बरसो शासन तथा विधान सम्बन्धी बारी-कियो को समझने का प्रयत्न करते हैं और तत्पश्चात उन्हे मन्त्रिमण्डल मे स्थान

1 "The American Government calls itself government of the supreme people, but at a quick crisis, the time when the sovereign is most needed, you cannot find the supreme people all the arrangements are for stated times There is no elastic element, everything is rigid, specified, stated Come what may, you can quicken nothing and retard nothing You have bespoken your government in advance, and whether it suits you or not, whether it works well or ill, whether it is what you want or not, by law you must help it."—*Bagehot*

मिलता है। प्रो० लास्की ने भी इस बात को स्वीकार किया है और कहा है कि सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति साधारण श्रेणी के लोग होते हैं, उनमे उच्चकोटि की शासकीय शक्तियो का अभाव होता है। अमेरिकन प्रेजिडेण्ट के मन्त्रिमण्डल के सदस्यो में तो वे योग्यताएँ हो ही नही सकती जो एक ससदीय-शासन के अन्तर्गत मन्त्रियो की होती हैं। क्योकि अमेरिकन मन्त्री राष्ट्रपति की अपनी रचना होते है, जनता के नेता नही। ससदीय शासन का शिक्षात्मक मूल्य भी है। प्रत्येक ससदीय शासन की सफलता के लिए राजनीतिक दलो की उपस्थिति आवश्यक समझी जाती है। राजनीतिक दल लोगो मे राजनीतिक चेतना उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल देश की राजनीतिक समस्याओ के सुलझाव के लिए अपनी योजनाएँ प्रस्तुत करता है और शासन सूत्र को अपने हाथ मे ले उन्हे कार्यान्वित करने का वायदा करता है। वे अपने-अपने प्रोग्रामो को सर्वप्रिय बनाने के लिए लगातार प्रचार-कार्य करते रहते हैं।

विभिन्न कानूनी तथा राजनीतिक मसलो पर विधानपालिकाओ मे वाद-विवाद होते रहते है। जहाँ विरोधी पक्ष मन्त्रियो की कटी आलोचना करता है और शासन-क्षेत्र मे उपस्थित दोषो को जनता के सम्मुख रखता है, वहाँ दूसरी ओर मन्त्रिगण अपने मत की पुष्टि के लिए सरकार ने जो कुछ किया होता है उसका विवरण देते हैं। साथ ही अपनी नीतियो का समर्थन विभिन्न तर्को द्वारा करते है। जनता विधानपालिका की कार्यवाही मे पर्याप्त दिलचस्पी लेती है। विरोधी पक्ष की उपस्थिति के फलस्वरूप ससदीय शासन के अन्तर्गत एकतन्त्रवाद के विकास की बहुत कम सम्भावनाएँ होती हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति अवसर पा तानाशाही स्थापित कर सकता है, क्योकि उसकी कार्यपालिका की शक्तियाँ पर्याप्त अनियन्त्रित हैं।

ससदीय शासन-प्रणाली के दोष—ससदीय शासन-प्रणाली मे अनेक महत्त्वपूर्ण गुण हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं। परन्तु उसकी आलोचना भी नीचे लिखे आधार पर की जाती है—

सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि ससदीय शासन-व्यवस्था मे शासकीय-शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ मे नही रहती है, इसका फल यह होता है कि शासन तन्त्र कमजोर होता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली मे शासन-सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ मे केन्द्रित होती है, अत वह शासन-व्यवस्था सकटकालीन स्थिति का मुकाबला अधिक आसानी से और सफलता से कर सकती है। प्रधान मन्त्री अन्य मन्त्रियो का साथी है, यह ठीक है कि उसकी स्थिति अन्य मन्त्रियो की अपेक्षा थोड़ी बहुत श्रेष्ठ होती है, परन्तु वह सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ नही होता। न ही वह अपने साथियो पर उसी प्रकार नियन्त्रण कर सकता है जैसे कि अमेरिकन राष्ट्रपति करता है। अमेरिकन राष्ट्रपति अपने मन्त्रियो की राय सुनकर भी अपना मनमाना फैसला करता है और उनको बतलाये बिना या उनसे सलाह लिये बिना भी वह सब कुछ कर सकता है। यह स्थिति राष्ट्रपतितन्त्र को शक्ति-सम्पन्न बना देती है।

ससदीय शासन-व्यवस्था शक्तियो के विभाजन के सिद्धान्त (Theory of

seperation of powers) के विपरीत है। सुप्रसिद्ध फ्रेंच विचारक मॉन्तेस्क्यू का कथन है कि विधाननिर्माण तथा कार्यपालिका के कर्त्तव्यो को भिन्न-भिन्न सस्थाओ को सौपना चाहिए जो कि अगर एक दूसरे से पूरी तरह स्वतन्त्र न भी हो तो भी प्राय स्वतन्त्र हो। उसका विचार था कि अगर इन दोनो शक्तियो को एक ही स्थान पर एकत्रित कर दिया जाय तो न तो शासन मे कुशलता ही रहती है और न व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की सुरक्षा ही। विधानपालिका कानून बनाने के काम मे इतना उत्साह प्रदर्शन नही करती जितना कि विदेश नीति सम्बन्धी या प्रशासन के कार्य मे दिलचस्पी लेती है। इसी प्रकार मन्त्रिगण भी कार्यपालिका के कर्त्तव्यो मे अधिक दिलचस्पी न ले कानून बनाने के काम मे अधिक रुचि दिखाते हैं। इससे शासन-कार्य मे कुशलता का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार मॉन्तेस्क्यू का यह विश्वास था कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए दोनो विभागो का पृथक् होना आवश्यक है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे इसी सिद्धान्त का अनुसरण कर सरकार के तीनो विभागो को यथासम्भव एक दूसरे से पृथक् रखने का प्रयत्न किया गया है।

परन्तु ससदीय शासन-प्रणाली पर किये गये इस आक्षेप को उचित नही माना जाता। प्राय सभी आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि विधानपालिका तथा कार्यपालिका मे पारस्परिक सहयोग तथा सद्भाव की परम आवश्यकता होती है। दोनो के स्वाभाविक सहयोग से ही शासन कार्य मे कुशलता उत्पन्न हो सकती है। अमेरिकन शासन-व्यवस्था मे तीनो विभागो को पृथक् रखा गया है, परन्तु इससे सरकारी मशीनरी के ठीक-ठीक चलने मे कठिनाई ही पडी है, सरलता और कुशलता उत्पन्न नही हो सकी। वैयक्तिक अधिकार तथा स्वतन्त्रता की रक्षा ससदीय सरकार मे अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा अधिक सुगमता तथा सरलता से हो सकती है। मॉन्तेस्क्यू का सिद्धान्त इस विषय मे अधिक सहायता नही कर पाता।

ससदीय शासन-व्यवस्था के प्रति आज एक बडा आक्षेप यह है कि इसमे मन्त्रिमण्डल विधानपालिका की विधान निर्माण सम्बन्धी शक्तियो को हडप कर लेता है और उसे कठपुतली मात्र बना देता है। कानून-निर्माण तथा बजट तैयार करने के विषय मे तथा अन्य नीतियो के निर्धारण इत्यादि मे मन्त्रिमण्डल ही विशेष दिलचस्पी लेता है, विधानपालिका नही। कहा जाता है कि इग्लैण्ड मे आज कुछ एक चुने हुए पार्टी नेताओ (मन्त्रिमण्डल) का अधिनायकतन्त्र स्थापित हो गया है, जो कुछ मन्त्रिमण्डल विधानपालिका के सामने रखे उसे विधानपालिका को मानना पडता है। विधानपालिका के सदस्यो की कोई स्वतन्त्र स्थिति नही होती। वे पार्टी-नियन्त्रण के अन्तर्गत विवश हो अपने नेताओ का विरोध नही कर सकते। अपने वोट के अधिकार को वह स्वतन्त्रतापूर्वक इस्तेमाल ही नही कर सकते। आजकल विधानपालिका अपनी बहुत-सी कानूनी-निर्माण सम्बन्धी शक्तियो को कार्यपालिका को सौंपती जा रही है। कानून-निर्माण भी आज एक विशेष कला है, जिसका ठीक-ठीक ज्ञान कुछेक विशेष योग्यता सम्पन्न व्यक्तियो को ही होता है। अत पार्लियामेण्ट के साधारण सदस्य उनमे कोई दिलचस्पी नही लेते। राज्य कर्त्तव्यो के विकास के फलस्वरूप विधानपालिकाओ

के लिए यह सम्भव नहीं कि वे पूरी-पूरी ईमानदारी से प्रत्येक बिल पर विचार कर सकें। ऐसी अवस्था में पार्लियामेण्ट को चतुर तथा विधानविज्ञ मन्त्रियों की ही शरण लेनी पड़ती है। वह उन सभी कानूनों को मान लेती है जो मन्त्रिमण्डल द्वारा पेश किये जाते हैं। प्रो० लास्की ने भी इस स्थिति की विकटता को अनुभव किया है। उसका कहना है कि संसदीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका को अत्याचार करने के लिए अवसर मिल जाता है। संसद मन्त्रियों के फैसलों को स्वीकार करने वाली संस्था मात्र ही रह जाती है, वह न तो इनकी आलोचना कर सकती है और न हीं परिवर्तन। क्योंकि मन्त्रिमण्डल के परिवर्तन का अर्थ है हाउस ऑफ कामन्स का तोड़ा जाना और चुनावों का दुबारा होना। ऐसी हालत का सामना करने के लिए बहुत कम सदस्य तैयार होते हैं। अतः वे मन्त्रिमण्डल के समर्थन को ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। आज तो मन्त्रिमण्डल ही विधानपालिका को नियन्त्रित करते हैं।

परन्तु यह आरोप भी पर्याप्त अत्युक्तिपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि हाउस ऑफ कामन्स अब केवल मात्र वाद-विवाद सभा ही है, या वह अब केवल निषेधात्मक नियन्त्रण ही करती है, फिर भी अन्तिम रूप से मन्त्रिमण्डल हाउस ऑफ कामन्स को उत्तरदायी होता है। हाउस ऑफ कामन्स समय पड़ने पर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है और सरकार की अप्रिय तथा अहितकर नीतियों का डटकर विरोध करता है। जब कभी उसे इस बात का ज्ञान होता है कि जनमत उसके साथ है तो वह अपनी बात मन्त्रिमण्डल से मनवाकर ही रहता है। आज सरकार के कर्त्तव्यों के बढ़ जाने के कारण और कानून-निर्माण के एक विशेष टेकनीक बन जाने से विधानपालिका के साधारण सदस्य चाहे वैधानिक कार्यों में अधिक रुचि न दिखाएँ तो भी वे लोग सरकार के काम-काज की देख-भाल और आलोचना करते रहते हैं। आज इंग्लैण्ड में 'हाउस ऑफ कामन्स' का कार्य शासन करना नहीं अपितु देख-भाल तथा आलोचना करना मात्र है।

संसदीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रियों का चुनाव उनके प्रशासकीय गुणों के आधार पर नहीं किया जाता। प्रधान मन्त्री उन्हीं व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में लेता है जिनकी उसकी अपनी पार्टी में उच्च तथा मजबूत स्थिति होती है। मन्त्रियों के चुनाव में उनका मुख्य उद्देश्य शासन की कुशलता नहीं अपितु पार्लियामेण्ट में अपने दल के बहुमत को बनाये रखना होता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का अधिकांश समय शासन की देख-रेख में नहीं गुजरता या तो वे अपना अधिकांश समय अपने चुनाव क्षेत्र को तैयार करने में लगाते हैं या फिर पार्लियामेण्ट के अधिवेशनों में बहस में भाग लेने में और विभिन्न बिलों के पेश करने तथा करवाने में। शासन की ओर उनका ध्यान ही नहीं होता।

पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था नौसिखियों की शासन व्यवस्था कहलाती है। ऐसे-ऐसे व्यक्ति विभिन्न शासकीय विभागों के अध्यक्ष बनाये जाते हैं जो कि उनके शासन के विषय में कुछ भी नहीं जानते। उदाहरण के लिए रक्षा, अर्थ, व्यापार, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, न्याय, कानून इत्यादि बहुत से ऐसे विभाग हैं जिनके प्रशासन

के लिए अनुभव तथा विशेप ज्ञान की आवश्यकता होती है, परन्तु इनका शासन ऐसे व्यक्तियो को सौंप दिया जाता है जो इनके शासन के आधारभूत विपयो से भी अपरिचित होते हैं। ऐसी व्यवस्था मे शासन मे कुशलता कैसे उत्पन्न हो सकती है? कहा जाता है कि मन्त्रिगण तो केवल हस्ताक्षर ही करते हैं; राज्य का सम्पूर्ण कार्य तो स्थायी सरकारी नौकर ही चलाते हैं।

ससदीय शासन के अन्तर्गत राजनीतिक दलो को व्यर्थ मे अधिक महत्त्व दिया जाता है। राजनीतिक दल ही शासन की सम्पूर्ण कार्यवाही को चलाते हैं। जव कभी एक राजनीतिक दल के हाथ मे शक्ति आ जाती है तो वह सदा ही यह प्रयत्न करता है कि राजनीतिक शक्ति उसके हाथ से न निकले। वोट प्राप्त करने के लिए वह न केवल शासकीय मशीनरी का ही दुरुपयोग करता है अपितु अन्य अनेक ऐसे अनैतिक साधनो का भी प्रयोग करेगा जो कि राज्य के वातावरण को भ्रष्ट वना देते हैं। पार्टीवाजी की अधिकता के कारण जनसामान्य के हितो की अवहेलना की जाती है, राष्ट्रीय हितो को भी दलगत स्वार्थो के लिए कुर्वान कर दिया जाता है। कहा जाता है कि विरोधी दल का कार्य सरकार की आलोचना है और उसके कार्य की देख-रेख करना है, परन्तु व्यावहारिक रूप से देखने से यही विदित होगा कि विरोधी दल केवल मात्र विरोध के लिए ही सरकार का विरोध करता है। उसके विरोध मे औचित्य, न्याय और सन्तुलन का अभाव होता है। आलोचना मे भी गहराई की कमी और ओछापन होता है। वह प्रत्येक विल के स्वरूप को देख उसके गुणावगुण पर विचार कर विरोध या समर्थन नही करता, उसके विरोध या समर्थन का कारण पार्टीवाजी है।

जहाँ राजनीतिक दलो की वहुतायत होती है, वहाँ अनेक दलो के मेल से मन्त्रिमण्डल वनाये जाते हैं। ऐसे मन्त्रिमण्डल को मिश्रित मत्रिमण्डल (Coalition ministry) कहते है। मिश्रित मन्त्रिमण्डल का कोई स्वस्थ राजनीतिक आधार नही होता, वह किसी खास राजनीतिक प्रोग्राम को लेकर नही चलते। उनका जीवन भी वहुत छोटा होता है। राजनीतिक दलो की अदला-वदली के कारण मन्त्रिमण्डल टूटते रहते हैं। एक के वाद दूसरा मन्त्रिमण्डल आता है, प्रत्येक मन्त्रिमण्डल अपने साथ नया प्रोग्राम लेकर आता है। परन्तु थोडी देर तक कार्य करने के कारण वह अपने प्रोग्राम को खत्म ही नहीं कर पाता और उसका स्थान दूसरा मन्त्रिमण्डल ले लेता है। फ्रास मे वहुदल व्यवस्था है, वहाँ एक मन्त्रिमण्डल का औसत जीवन ६ मास से अधिक नही होता। ऐसी अवस्था मे वहाँ का सम्पूर्ण शासन सरकारी नौकर ही चलाते हैं। कहा जाता है कि फ्रास मे प्रजातन्त्र तो नाम-मात्र का है, वस्तुत वहाँ का शासन नौकरशाही के हाथ मे है।

निष्कर्ष—ससदीय शासन-व्यवस्था में उपर्युक्त दोष उपस्थित हो सकते हैं, इसमे सन्देह नही, परन्तु इनमे वहुत से दोषो का अत्युक्तिपूर्ण विवेचन किया गया है। दलवन्दी की व्यवस्था तो प्रजातन्त्र की ही विशेषता है, राजनीतिक दलो के बिना प्रजातन्त्र की सफलता ही मुश्किल है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का निर्वाचन उनकी

शासकीय योग्यता के आधार पर किया जाता हो या न किया जाता हो, या वे शासन के ही कार्य मे संलग्न रहते हो या न रहते हो उनका मुख्य कार्य शासकीय नीति की स्थापना है, और यह देखना है कि उसका ठीक-ठीक पालन होता है या नहीं। सरकारी नौकर चाहे प्रशासकीय मामलो के विशेषज्ञ हो, परन्तु वे केवल सलाहकार के रूप मे तथा सहायको के रूप मे ही कार्य करते है, प्रशासकीय नीति का निर्धारण तो मन्त्रिमण्डल करता है।

विगत दो विश्व-युद्धो ने यह साबित कर दिया है कि संसदीय शासन-व्यवस्था उतनी ही स्फूर्ति तथा तत्परता से कार्य करती है जितनी कि अन्य प्रकार की शासकीय व्यवस्थाएँ। वस्तुत: संसदीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत संसद के सदस्यों की सहायता से राज्य मे ऐसा शक्तिशाली जनमत तैयार किया जा सकता है कि वह मन्त्रिमण्डल को हर प्रकार का सहयोग दे। दोनो विश्व-युद्धो के अनन्तर अनेक नये राज्यो मे संसदीय शासन-व्यवस्था को उपयुक्त समझ अपनाया गया।

११५. राष्ट्रपतितन्त्र (Presidental Government)

राष्ट्रपति शासन की बडी विशेषता कार्यपालिका की विधानपालिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता है। यह उत्तरदायी शासन-व्यवस्था (Responsible Government) नही कहलाती।

इंग्लैण्ड में प्राप्त शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल तथा विधानपालिका मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परन्तु अमेरिकन संविधान के निर्माता इस व्यवस्था के समर्थक नही थे। उनका दृष्टिकोण मॉन्तेस्क्यू के शक्तियो के विभाजन (Theory of separation of powers) के सिद्धान्त से प्रभावित था। वे कार्यपालिका तथा विधानपालिका मे विभाजन चाहते थे, उनमे सान्निध्य नही। उनका विचार था कि विधानपालिका तथा कार्यपालिका न केवल अपने-अपने क्षेत्र में स्वाधीन हो बल्कि वे एक दूसरे की कार्यवाहियो पर रोक भी लगा सकें, ताकि दोनो मे कोई भी अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित न कर सकें। दूसरा, अमेरिकन संविधान के जनक राजनीतिक दलबन्दी के विरुद्ध थे, ब्रिटेन की संसदीय शासन-व्यवस्था राजनीतिक दलो के बिना कार्य ही नही कर सकती अत. वह एक ऐसी शासन-व्यवस्था की खोज मे थे जहाँ कि दलबन्दी का विकास ही न हो सके। उनका विचार था कि कार्यपालिका तथा विधानपालिका के पलगाव के फलस्वरूप राजनीतिक दलो का विकास नहीं हो सकेगा। इन्ही खतरो से बचने के लिए उन्होने राष्ट्रपतितन्त्र की व्यवस्था का निर्माण किया। अत राष्ट्रपतितन्त्र की व्यवस्था संयुक्त राज्य अमेरिका की अपनी देन है। उसी के अनुकरण पर अन्य देशो मे विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के पडोसी लैटिन अमेरिकन देशो मे इस शासन-व्यवस्था को अपनाया गया।

राष्ट्रपतितन्त्र के आधार—राष्ट्रपतितन्त्र की मुख्य विशेषता का जिक्र तो हम ऊपर कर आये हैं और यह कह आये हैं कि राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत कार्यपालिका वैधानिक रूप से ही विधानपालिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होती है। कार्यपालिका की

सम्पूर्ण शक्तियाँ एक राष्ट्रपति या अध्यक्ष को सौंप दी जाती हैं जिसका निर्वाचन जनता करती है। राष्ट्रपति नाममात्र का शासक न हो वास्तविक शासक होता है और उसमे स्थापित सम्पूर्ण शक्तियाँ उसकी वास्तविक शक्तियाँ होती हैं, किसी अन्य की नही, जैसा कि ससदीय शासन-व्यवस्था मे होता है। दूसरे शब्दों मे राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत नाम मात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका मे अन्तर नही किया जाता।

राष्ट्रपति का कार्यकाल (Term of office) सविधान द्वारा निश्चित होती है। वह अपने कार्य-काल के दौरान मे अविश्वास-प्रस्ताव या निन्दा-प्रस्ताव पास कर विधान सभा द्वारा हटाया नही जा सकता। वह अपनी सम्पूर्ण कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यवाही के लिए साधारणत विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी नही होता। विधान-मण्डल उस पर कोई विशेष पाबन्दी नही लगा सकता, उसकी कार्यवाहियो को रोक नही सकता। इसी प्रकार राष्ट्रपति भी वाद विवाद मे हिस्सा नही लेता, कोई बिल अपने आप विधानसभा मे उपस्थित नही कर सकता, स्वय रुपये-पैसे की माँग लेकर उसके सम्मुख उपस्थित नही हो सकता, और न ही उसके अधिवेशन बुला सकता है, न ही उसके चुनाव की व्यवस्था करता है, न ही उसे भग कर सकता है। इस प्रकार दोनो ही एक दूसरे से पर्याप्त स्वतन्त्र होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विधानपालिका किसी भी राष्ट्रपति को उसके पद से नही हटा सकती, चाहे वह कितना भी विधान-पालिका द्वारा नापसन्द किया जाय। राष्ट्रपति को हटाने का एक ही साधन सविधान मे बतलाया गया है वह है विधानपालिका द्वारा प्रेजीडेण्ट पर आरोप लगाये जाने पर सीनेट (विधानपालिका का दूसरा सदन) द्वारा मुकदमा चलाया जाना और वहाँ भी दो तिहाई बहुमत से उसके दोषी साबित होने पर ही उसे हटाया जा सकता है। यह तरीका पर्याप्त कठिन है, वैसा सीधा और सरल नही जैसा कि इग्लैण्ड, फ्रांस या भारत मे मौजूद है, जिसके अन्तर्गत पार्लियामेण्ट ही मन्त्रिमण्डल की जीवन विधायिका होती है।

राष्ट्रपति अपनी सहायता तथा सलाह के लिए एक मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यो के चुनाव मे वह स्वतन्त्र है, उनकी नियुक्ति के लिए उसे सीनेट की औपचारिक सहमति (Formal consent) लेनी पडती है। उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य उसके अपने सेवक होते है, वे उसके प्रति जवाबदे होते है, विधानपालिका के प्रति नही। राष्ट्रपति स्वय उनका चुनाव करता है, वह स्वय ही उन्हे हटा सकता है। राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल के सदस्यो की स्थिति इग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल के सदस्यो से बिलकुल भिन्न होती है। इग्लैण्ड मे मन्त्रियो की तथा प्रधान मन्त्री की पोजीशन मे विशेष अन्तर नही। दोनो की स्थिति बराबर की होती है, प्रधान मन्त्री केवल उन बराबर के पद वाले मन्त्रियो मे मुख्य होता है (Prime minister is first among equals) परन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल के सदस्य राष्ट्रपति के वैयक्तिक सहायक तथा सेवक कहे जा सकते है। राष्ट्रपति चाहे तो अपने मन्त्रियो की सलाह ले और न चाहे तो न ले। उसके लिए यह भी आवश्यक नही कि वह अपने मन्त्रियो के बहुमत के निर्णय को माने, वह उनके विचार अवश्य पूछ सकता है, परन्तु निश्चय वह स्वय करता है। प्रशासन

की वास्तविक जिम्मेदारी मन्त्रियो पर न हो, राष्ट्रपति पर होती है। अपनी नीति की असफलता के लिए वह स्वयं जिम्मेदार होता है उसके मन्त्री नही। राष्ट्रपति की भाँति मन्त्रिमण्डल के सदस्य भी विधानपालिका के सदस्य नहीं हो सकते। न ही वे विधानपालिका के वाद-विवाद मे भाग ही ले सकते है। राष्ट्रपति द्वारा हटाये जाने पर न तो मन्त्री विधानपालिका के ही पास जा सकते है और न ही उनको अपनी पार्टी से किसी किस्म की सहायता मिल सकती है। इस प्रकार वे बहुत दयनीय स्थिति मे होते है। उन्हे गौरवपूर्ण क्लर्क (Glorified clerks) मात्र कहा जाता है।

राष्ट्रपति विधानपालिका को सदेश भेजकर अपनी कानून निर्माण सम्बन्धी आवश्यकताओ से परिचित कर सकता है तथा शासन-सचालन के लिए आवश्यक धन की माँग कर सकता है, परन्तु विधानपालिका चाहे तो राष्ट्रपति की माँग को स्वीकार करे न चाहे तो रद्द करदे।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं राष्ट्रपतितन्त्र सयुक्त राज्य अमेरिका मे मौजूद है। वहाँ राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिका है, वह राज्य का मुखिया है, सेना, नौ सेना तथा वायु सेना का सर्वप्रमुख सैनिक अधिकारी है, विदेश विभाग तथा आन्तरिक मामलो के प्रशासन मे स्वतन्त्र है। उसका मन्त्रिमण्डल उसकी सृष्टि है, जिसे वह जब चाहे खतम कर सकता है। इन सभी शक्तियो के कारण वस्तुत अमेरिकन राष्ट्रपति एक निर्वाचित तानाशाह के बराबर है।

प्रो० लास्की का कथन है कि "अमेरिकन राष्ट्रपति अपनी स्थिति में बहुत कुछ सम्राट् की और बहुत कुछ प्रधान मन्त्री की तरह है।"[1]

राष्ट्रपतितन्त्र का मूल्यांकन—राष्ट्रपतितन्त्र की अनेक विशेषताएँ मानी जाती हैं। यह कहा जाता है कि शक्तियो के विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण इसमे शासन के किसी भी विभाग का अधिनायकतन्त्र स्थापित नहीं हो सकता। शासन के सभी भाग बराबर होते है, उनमे कोई भी एक दूसरे के क्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं कर सकता। विधानपालिका के सदस्यो का मुख्य कार्य विधान-निर्माण होता है, वे कार्यपालिका के कार्यो मे दखल नहीं देते। इसी प्रकार कार्यपालिका के सदस्य अपनी सम्पूर्ण शक्तियो को शासन-कार्य के सचालन पर केन्द्रित कर सकते हैं। उन्हे अपने समय को विधानपालिका के कार्य मे खर्च नही करना पड़ता। ऐसी अवस्था मे वे शासन-कार्य को अधिक कुशलता से चला सकते हैं।

राष्ट्रपतितन्त्र का एक प्रमुख गुण स्थायित्व है। ससदीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका का जीवन ससद् के विश्वास पर आश्रित है, उसका जीवन तभी तक है जब तक उसे ससद का विश्वास प्राप्त है। इस प्रकार ससद जब चाहे तब कार्यपालिका का चुनाव कर सकती है। परन्तु राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत कार्यपालिका का चुनाव एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है जिससे उसे

---

1 "The President of the United States is more or less a King, he is also both more or less a Prime Minister"—*Laski.*

साधारण ढग से हटाया नही जा सकता। एक निश्चित अवधि तक कार्य करने के फलस्वरूप वह अपनी नीति का पर्याप्त काल तक अनुसरण कर सकता है। इस प्रकार राज्य शासन की नीति मे शीघ्र परिवर्तन नही होता, उसमे अभगता रहती है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका मे शक्ति का केन्द्रीकरण होता है अत राष्ट्रीय विपत्ति तथा युद्ध-काल मे इस शक्ति का प्रयोग अधिक कुशलता मे किया जा सकता है। राज्य शक्ति के एक आदमी के हाथ मे होने के कारण राज्य शासन मे शक्ति, दृढता तथा सूझ-बूझ का समावेश हो जाता है। राष्ट्रपति को अपने प्रत्येक कार्य के लिए बार-बार विधानपालिका पर ही अवलम्बित नही रहना पडता। उस पर अपने कार्य सम्पन्न करने की जिम्मेदारी होती है, वह शासन कार्य मे सक्रिय भाग लेता है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राजनीतिक पार्टीबाजी की बुराइयो की कमी रहती है। राष्ट्रपति पार्टीबाजी से ऊपर उठ सम्पूर्ण प्रशासकीय नीतियो का विशुद्ध देश-हित के विचार से विकास कर सकता है। एक बार चुने जाने पर राष्ट्रपति को बार-बार पार्टियो पर आश्रित नही रहना पडता, वह उनकी अवहेलना न भी करे तो भी अपनी मनमर्जी अवश्य कर सकता है। विधानपालिका के सदस्यो का विभाजन पार्टीबाजी के आधार पर अवश्य होता है परन्तु शासन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के फलस्वरूप वे विभिन्न कानूनो पर निष्पक्षतापूर्वक विचार प्रगट कर सकते हैं, इस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत पार्टीबाजी बहुत उग्र रूप नही धारण कर सकती।

राष्ट्रपतितन्त्र ऐसे देश के लिए विशेष उपयोगी होता है जहाँ अनेक राष्ट्रीय इकाइयाँ हो, अनेक भाषा-परिवार हो तथा लोग अनेक वर्गो तथा सास्कृतिक ग्रुपो मे विभाजित हो ऐसे देशो मे बहुदल व्यवस्था (Multiple party system) होती है, फलत किसी भी स्थायी सरकार का निर्माण मुश्किल हो जाता है। राष्ट्रपतितन्त्र के फलस्वरूप कार्यपालिका विधानपालिका के नियन्त्रण मे मुक्त होती है और उसमे स्थायित्व होता है। कार्यपालिका स्थायी भी हो और साथ ही प्रजातान्त्रिक तथा प्रतिनिधि सत्तात्मक हो, ऐसा अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत ही सम्भव है।

परन्तु अध्यक्षात्मक कार्यपालिका मे अनेक गम्भीर दोष भी मौजूद हैं। शक्तियो के विभाजन के फलस्वरूप शासनतन्त्र का कुशल सचालन बहुत मुश्किल हो जाता है। विधानपालिका तथा कार्यपालिका के पारस्परिक सहयोग के अभाव मे शासन मे गत्यवरोध उत्पन्न हो जाता है। कानून बनाने का उत्तरदायित्व विधानपालिका पर है परन्तु उसे लागू कार्यपालिका ने करना है। कार्यपालिका अपनी कार्यवाहियो के लिए विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी नही होती। ऐसी हालत मे कानूनो का ठीक-ठीक पालन यदि न हो तो विधानपालिका कुछ भी नही कर सकती। विधानपालिका तथा कार्यपालिका के पारस्परिक विभेद को मिटाने के लिए दल-व्यवस्था का जन्म हुआ। अब राजनीतिक दल कार्यपालिका तथा विधानपालिका मे एक कडी का काम करते हैं। परन्तु उस हालत मे स्थिति बहुत पेचीदा हो जाती है जब राष्ट्रपति तो किसी एक राजनीतिक दल से सम्बन्धित हो और विधानपालिका मे विरोधी दल का बहुमत हो।

ऐसी अवस्था मे राष्ट्रपति अपनी आवश्यकता के अनुसार कानून नहीं बनवा सकता। शासन की माँग कुछ होगी, विधानपालिका करेगी कुछ और ही। राजकीय धन के खर्च करने की व्यवस्था बहुत पेचीदा है। कार्यपालिका ही शासनतन्त्र पर राजकीय धन को खर्च करती है, परन्तु इस खर्च की स्वीकृति विधानपालिका देती है। कार्यपालिका को किसी कार्य के लिए धन की आवश्यकता हो तो वह विधानपालिका से माँग कर सकती है, परन्तु यह आवश्यक नही कि विधानपालिका की स्वीकृति मिल ही जाए। राष्ट्रपति विल्सन वर्साई की शान्ति सन्धि के लिए उत्तरदायी थे, उन्ही के प्रयत्न से राष्ट्र सघ की स्थापना हुई, परन्तु जब वह सन्धि विधानपालिका के सम्मुख पेश की गई तो उसे अस्वीकार कर दिया गया। इस प्रकार सदा ही अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो का भविष्य अनिश्चित रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत शासनतन्त्र उत्तरदायित्व-विहीन होता है। कहने को तो राष्ट्रपति जनता के प्रति उत्तरदायी होता है, परन्तु यह उत्तरदायित्व तभी निरर्थक हो जाता है जब हम देखते है कि जनता के पास उसको हटाने का कोई साधन नही। यदि जनता को पुनरावर्तन (Recall) या वापस बुलाने का अधिकार होता तब भी हम कह सकते कि वह जनता द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। चार साल के लिए उसका चुनाव होता है, इस अवधि मे उसको निकालने का एक ही साधन है वह है—विधानपालिका द्वारा आरोप लगा उस पर मुकदमा (Impeachment by the State) चलाना। इस प्रकार एक बार चुने जाने पर राष्ट्रपति को अपने पद से हटाना कठिन है, चाहे उसके शासन सूत्र की जो स्थिति हो, चाहे वह अच्छा शासक साबित हो या न हो उसे चार साल के लिए विवशतापूर्वक बर्दाश्त करना ही पडता है। अध्यक्षात्मक शासनतन्त्र की कठोरता, अपरिवर्तनशीलता ही उसकी एक बडी कमी है। ससदीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत सकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव हो सकता है, परन्तु राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत ऐसा सम्भव नही।

राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत उत्तरदायित्व स्थापना की बडी कठिनाई होती है। अनेक बातो मे विधानपालिका अध्यक्ष का नियन्त्रण करती है तो कुछेक अन्य कार्यो मे अध्यक्ष विधानपालिका का नियन्त्रण करता है। दोनो ही एक दूसरे की शक्ति मे थोडा-बहुत हिस्सा बंटाते है। ऐसी अवस्था मे अगर कही कोई गलती हो जाय तो राष्ट्रपति विधानपालिका को दोषी ठहरा सकता है और विधानपालिका राष्ट्रपति को। उत्तरदायित्व का कोई विशेष केन्द्र नही।

यह कहना भी गलत है कि अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के अन्तर्गत पार्टीबाजी कम हो जाती है। जितनी भी महत्वपूर्ण सरकारी नौकरियाँ होती हैं उन सब पर राष्ट्रपति अपने समर्थको को ही नियुक्त करता है।

जैसा कि हम ऊपर ही कह आए हैं वर्तमान काल मे संसदीय शासन-व्यवस्था अधिक लोकप्रिय हो रही है। उसकी लोकप्रियता का बडा कारण उसका विधानपालिका के प्रति उत्तरदायित्व तथा परिवर्तनशीलता (Flexibility) है। ऐसी शासन-व्यवस्था मे निरकुशता का प्रसार नहीं हो सकता और वह समय तथा परिस्थितियो

के अनुसार बदली भी जा सकती है।

११६. स्विस शासन-प्रणाली

यहाँ हमे स्विट्जरलैण्ड की बहुसख्यक कार्यपालिका (Plural executive) का भी जिक्र कर देना चाहिए। स्विस सघ राज्य की कार्यपालिका अपने स्वरूप मे विचित्र है। उसे हम उपयुंक्त किसी भी वर्गीकरण मे नही रख सकते। स्विस कार्यपालिका मे सम्पूर्ण शासकीय शक्ति सात सदस्यों मे विकेन्द्रित होती है, उनमे से कोई भी एक शासनतन्त्र का मुखिया नही होता, सभी मे समानता होती है। जहाँ सभी सदस्य विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं वहाँ दूसरी ओर वे विधानपालिका द्वारा हटाए भी नही जा सकते। वे विधानपालिका के सदस्य नही होते परन्तु विधानपालिका के कार्य मे भाग लेते हैं, सभी महत्त्वपूर्ण बिल वे स्वय पेश करते हैं और विधानपालिका प्राय सभी कार्यों मे कार्यपालिका के नेतृत्व की अपेक्षा करती है। कार्यपालिका के सदस्यो का चुनाव विधानपालिका करती है, वे सभी सदस्य जब तक चाहे कार्यपालिका के सदस्य रह सकते हैं यद्यपि विधानपालिका के साथ ही कार्यपालिका को भी भग कर दिया जाता है, फिर भी लगभग वही सब सदस्य जो पहले कार्यपालिका के सदस्य होते हैं उन्हे दुबारा चुन लिया जाता है। इस प्रकार कार्यपालिका एक प्रकार से स्थायी भी हो जाती है। वस्तुत स्विस शासन-प्रणाली मे अध्यक्षात्मक तथा ससदीय शासन-प्रणाली दोनो के ही गुण मिल जाते हैं।

Important Questions.

	Reference.
1 What are the distinguishing marks of the cabinet or Parliamentary type of government ? Discuss the merits and demerits of such a type of government (*Pb 1937, Pat 1944, Bom 1938*)	Art 144
2 What are the distinguishing marks of the Presidential system of Government ? On what respect does this system differ from the Cabinet system ? Discuss its merits and demerits (*Ag 1938, Cal 1940, 1936, Pb. 1936, Pat 1944, Bom 1938*)	Arts 144 and 145
3 Examine the Presidential and Parlimentary systems of Government and discuss their comparative advantages (*Pb 1944, 1953, 1956*)	Arts 144 and 145
4 What is exactly meant by Parliamentary Government ? Distinguish Parliamentary Government from other types of 'Democratic' Government (*Pb 1945*)	Arts 144 145 and 146
5. Discuss the comparative merits and demerits of the Parliamentary and Presidential executive systems, with special reference to the English and the American systems (*Pb 1949*)	Arts 144 and 145

शक्तियों के विभा

(THEORY OF THE SEPARATION OF POWERS)

११७. शक्तियो का परम्परागत विभाजन

सरकारी कार्यो का विभाजन किया जाता है। आज के युग मे जब कि सरकार के कार्यो मे बहुत वृद्धि हो गई है, यह प्रवृत्ति और भी अधिक स्पष्ट हो गई है। इस विभाजन का आधार विशेषज्ञता है। प्रगतिशील समाज मे श्रम-विभाजन तथा कार्य-विभाजन की सदा ही आवश्यकता मानी जाती है।

सरकार के विभिन्न कर्त्तव्यो के विभाजन की प्रक्रिया सदा से ही एक विशेष परम्परा के अनुसार की जाती है। इस परम्परा के अनुसार सरकार के निम्नलिखित तीन अंग होते हैं—

(१) विधानपालिका (Legislative)।
(२) कार्यपालिका (Executive)।
(३) न्यायपालिका (Judiciary)।

विधानपालिका का कर्त्तव्य राजकीय जीवन के आधारभूत कानूनो का निर्माण करना है और कार्यपालिका उन कानूनो के पालन के लिए उत्तरदायी है। न्यायपालिका कानूनो की व्याख्या करती हुई विभिन्न झगडों का निर्णय करती है। सरकारी शक्तियो का ऐसा तीन प्रकार का विभाजन अरस्तू के विचारो मे भी मिल जाता है, अरस्तू ने सरकार के कार्यो को तीन प्रकार का माना है—

(१) विवेचनात्मक शक्तियाँ (Deliberative powers)।
(२) शासकीय शक्तियाँ (Magisterial powers)।
(३) न्याय शक्तियाँ (Judicial powers)।

इस प्रकार अरस्तू का यह शक्ति-विभाजन आज के वर्गीकरण से पर्याप्त मिलता-जुलता है। राज्य की विवेचनात्मक शक्ति का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था, यह आज की विधानपालिका से अधिक शक्तिसम्पन्न होती थी। शेष दोनो भाग आज की कार्यपालिका तथा विधानपालिका के समान ही थे। परन्तु अरस्तू द्वारा किया गया शक्तियो का ऐसा वर्गीकरण तत्कालीन सरकार के शक्ति-वितरण का ठीक-ठीक चित्रण नहीं देता। यह वर्गीकरण तत्कालीन राजनीतिक जीवन के अनुरूप नहीं। एथेन्स की विधानपालिका, जो कि राज्य के सभी नागरिको को मिलाकर बनती थी, कानून बनाने के अतिरिक्त प्रशासकीय तथा न्यायिक शक्तियो का उपयोग भी करती थी। अत. यह विभेद केवल सैद्धान्तिक विभेद था। व्यावहारिक दृष्टि से प्राचीन यूनान मे और उसके बाद भी इन तीन शक्तियो का प्रयोग एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता

के अनुसार अरस्तू के अनन्तर रोमन विचारक पॉलिबियस (Polybcus) तथा सिसरो (Cicero) दोनों ने रोमन गणतन्त्र के विषय में लिखते हुए इस सिद्धान्त का जिक्र किया है। उन्होंने शक्तियों के समान सन्तुलन (Balanced equilibrium of powers) को राज्य-शासन का एक आवश्यक गुण माना। उन्होंने रोमन गणतन्त्र की श्रेष्ठता का कारण 'विग्रह तथा सन्तुलन की व्यवस्था' (System of checks and balance) माना।

मध्ययुगीय यूरोप मे शक्तियो के विभाजन के सिद्धान्त का कोई जिक्र नही मिलता। १५वीं सदी मे केवल पदुआ के मार्सिगलियो (Marsiglio of Padua) ने अरस्तू के अनुकरण पर सरकार की विभिन्न शक्तियो के विभाजन का जिक्र किया है। परन्तु व्यावहारिक रूप मे इन शक्तियो मे विभाजक रेखा मौजूद नही थी। सर्वत्र राजा कार्यपालिका, विधानपालिका तथा न्यायपालिका के कर्त्तव्यो को एक साथ ही निभाते थे।

सोलहवी सदी मे सुप्रसिद्ध फ्रेंच विचारक बोदीन (Bodin) ने सर्वप्रथम शासकीय शक्ति के कार्यपालिका तथा न्यायपालिका विभाग के विभाजन के लिए जोर दिया। उसका विचार था कि कार्यपालिका तथा न्यायपालिका शक्तियाँ एक ही आदमी के हाथ मे नही होनी चाहिएँ। फ्रास का जिक्र करते हुए उसने कहा कि राजा को केवल कार्यपालिका शक्तियो का इस्तेमाल करना चाहिए और न्यायाधिकरण का कार्य स्वय नही करना चाहिए वल्कि उसे अपनी यह शक्ति एक स्वतन्त्र न्यायालय को सौंप देनी चाहिए। इन दोनो के विभाजन के न होने से दया तथा न्याय का अनुचित मिश्रण हो जायगा। एक अत्याचारी शासक बहुत क्रूरतापूर्वक सजा दे सकता है।

इग्लैण्ड मे १७वी सदी मे जेम्स हरींग्टन (James Harrington) ने विधान-पालिका का तथा कार्यपालिका के विभाजन को आवश्यक स्वीकार करते हुए 'विग्रह तथा सन्तुलन व्यवस्था' (System of checks and balance) को शासन की श्रेष्ठता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना। अनुबन्ध सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक जॉन लॉक ने राज्य तथा सरकार मे भेद स्वीकार करते हुए सरकार को विधानपालिका तथा सघात्मक (Federative) विभागो मे बाँटा। उसने विधानपालिका को सर्वोच्च सस्था स्वीकार करते हुए उसके कार्यपालिका से पृथक् किए जाने के लिए कहा। उसका कथन था कि कानून बनाने वाले को ही कानून लागू करने का अधिकार दे देना अविवेकपूर्ण होगा। ऐसा करने से यह सम्भव है कि या तो वह अपने आप को उन कानूनो से स्वतन्त्र कर लेंगे या फिर वह ऐसे कानून बनाएँगे, जिससे उनके अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यो की प्राप्ति हो सके।

११८ मॉन्तेस्क्यू का शक्ति विभाजन सम्बन्धी सिद्धान्त (Montesquieu's theory of Separation of Powers)

परन्तु शक्तियो के विभाजन के सिद्धान्त को निश्चित तथा स्पष्ट रूप देने का श्रेय मॉन्तेस्क्यू को है। वस्तुत इसे सिद्धान्त रूप मे मॉन्तेस्क्यू ने ही विकसित किया।

मॉन्तेस्क्यू का जन्म फ्रास मे उस समय हुआ जबकि वहाँ अनुत्तरदायी शासन के विरुद्ध एक बुद्धिवादी आन्दोलन चल रहा था। मॉन्तेस्क्यू का समय चौदहवे लुई के निरकुश तथा अत्याचारपूर्ण शासन का समय था। चौदहवें लुई ने अपने आपको राज्य के साथ एकीकरण किया हुआ था। उसने ही अभिमानपूर्वक कहा कि "मै ही राज्य हूँ" उसका प्रत्येक शब्द कानून था और वह स्वय उसके पालन करवाने के लिए उत्तरदायी था। उसमे ऐसे निरकुश तथा अत्याचारपूर्ण शासन के अन्तर्गत फ्रासीसी जनता को स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक अधिकार प्राप्त न थे।

मॉन्तेस्क्यू वैयक्तिक स्वतन्त्रता को अत्यन्त मूल्यवान समझता था। इन्ही दिनो उसने इंग्लैण्ड की यात्रा की और वहाँ उसने स्वाभाविक स्वतन्त्रता के वातावरण मे साँस लिया। इग्लैण्ड का साधारण नागरिक फ्रास के साधारण नागरिक की अपेक्षा बहुत अधिक स्वतन्त्रता का इस्तेमाल करता था। उसने अपने देश की और इग्लैण्ड की राजनीतिक तथा सवैधानिक स्थितियो की तुलना की, इग्लैण्ड के सविधान को व्यावहारिक रूप मे देखा और इस 'स्वतन्त्रता की भावना' के कारण की खोज की। उसने इन सब को देख कुछ विशेष परिणाम निकाले, उन्हे ही 'शक्ति विभाजन का सिद्धात' कहा जाता है। उसका विचार था कि अग्रेज नागरिको की स्वतन्त्रता का कारण सरकार के कार्यपालिका विधानपालिका तथा न्यायपालिका विभागो का पारस्परिक विभेद (Seperation) है। उसके अनुसार सम्राट् तथा उसका मन्त्रिमण्डल कार्यपालिका और पार्लियामेण्ट विधानपालिका का प्रतिनिधित्व करते हैं, न्यायपालिका इन दोनो के नियन्त्रण से स्वतन्त्र है। फ्रास मे ऐसा शक्ति-विभाजन नही था, इसी कारण वहाँ स्वतन्त्रता का अभाव था।

मॉन्तेस्क्यू ने अपनी पुस्तक 'दी स्पिरिट ऑफ लाज' (The Spirit of Laws) मे इस सिद्धात का विस्तारपूर्वक विवेचन किया। उसने सरकार की कार्यशक्तियो को तीन भागो मे बाँटा—

(१) कानून बनाना।
(२) शासन करना।
(३) न्याय की व्यवस्था करना।

प्रथम शक्ति द्वारा शासक स्थायी तथा अस्थायी कानून बनाता है और पुराने कानूनो को सशोधित करता है या खत्म करता है। दूसरी शक्ति द्वारा वह युद्ध-घोषणा करता है, शान्ति-सन्धि करता है, रक्षा सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था करता है, राजदूतो को भेजता है तथा उन्हे मान्यता प्रदान करता है। तीसरी शक्ति द्वारा वह अपराधियो को दण्ड देता है, विभिन्न व्यक्तियो मे उत्पन्न होने वाले झगडो का निपटारा करता है।

मॉन्तेस्क्यू वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता था। उसका कथन था कि इन तीनो कार्यों के अलग-अलग व्यक्तियो या सस्थाओ द्वारा किये जाने पर ही स्वतन्त्रता की अच्छी तरह सुरक्षा हो सकती है। अगर तीनो शक्तियो को मिला दिया गया तो राजनीतिक स्वतन्त्रता खत्म हो जायगी। मॉन्तेस्क्यू का कथन है, "जब विधानपालिका और कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति-

या व्यक्ति समुदाय मे केन्द्रित हो जाती हैं, तो स्वतन्त्रता खत्म हो जाती है ।" यदि न्याय-पालन तथा विधान-निर्माण की शक्तियाँ एक मे मिल जायँ तो प्रजा का जीवन और उसकी स्वाधीनता निरंकुश शासन का शिकार होती है ... और यदि कार्य पालन की शक्तियाँ एक ही में मिल जायें तो न्यायाधीश अत्याचारी की तरह व्यवहार कर सकता है ।"[1]

मॉन्तेस्क्यू निम्न बातो पर विशेष बल देता है—

(१) विधानपालिका तथा कार्यपालिका का विभाजन इसलिए आवश्यक है क्योंकि उनके एक ही आदमी के हाथ मे आ जाने का परिणाम होगा कि मनमाने कानून बनाये जायँ और उनका मनमना प्रयोग किया जाय ।

(२) न्याय-पालन तथा विधान-पालन का विभेद भी इसलिए आवश्यक है कि मनमाने कानून न बनाये जायँ और उनकी मनमानी व्याख्या न हो।

(३) न्याय-पालन तथा कार्य-पालन के सयोग से न्याय 'नाम' की व्यवस्था ही खत्म हो जायगी । क्योंकि तब न्यायाधीश कानून की मनमानी व्याख्या कर सख्त से सख्त सजा दे सकता है ।

(४) अगर इन तीनो शक्तियों को एक ही व्यक्ति या सस्था मे केन्द्रित कर दिया जाय तो न्याय, स्वतन्त्रता तथा व्यवस्था सभी कुछ खत्म हो जायेंगे और एक पूर्ण निरकुश तथा अत्याचारी शासन स्थापित हो जायगा ।

अत शक्तियो का विभाजन अनिवार्य है । विधानपालिका अगर केवल कानून बनाती है और कार्यपालिका उन कानूनों के अनुसार शासन करती है तथा न्यायपालिका कानून तोड़ने वालो को कानून की व्याख्या कर सजा देती है, तो सरकार का प्रत्येक भाग अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करता है। वे एक दूसरे के कार्य मे दखल नही देते । हरेक विभाग एक दूसरे पर नियन्त्रण करता है, और इस तरह शासन व्यवस्था मे सन्तुलन बना रहता है। शासनतन्त्र के प्रत्येक विभाग का कार्य-क्षेत्र स्पष्ट, निश्चत तथा स्वतन्त्र होना चाहिए । शासनतन्त्र का आधार विधान हो, निरकुश शासक की इच्छा नही । राज्य में अत्याचार, पक्षपात तथा धाँधली तभी खत्म हो सकती है जब शासनतन्त्र की सुनिश्चत तथा सवैधानिक व्यवस्था हो और प्रत्येक विभाग अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र हो ।

११९. शक्ति-विभाजन सिद्धान्त के अन्य समर्थक

अंग्रेज विधानशास्त्री ब्लेकस्टोन (Blackstone) ने भी अंग्रेजी सविधान के आधार पर शक्ति विभाजन के सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया है। उसका

---

1 "When the legislative and executive powers are united in the same person or body, there can be no liberty. If the power of judging were joined to the legislative, the life and liberty of the subjects would be exposed to arbitrary control if it were joined to the executive, the judge might behave as an oppressor"

—*Montesquieu.*

कथन है कि, "जब कभी कानून बनाने व उसे लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति या समुदाय में निहित होता है, उस समय जन-स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है। शासक अत्याचारपूर्ण कानून बना सकता है और उन्हें अत्याचारपूर्ण ढग से लागू कर सकता है। क्योंकि विधान-निर्माता के रूप मे वह अपने न्यायाधीश के पद के लिए ये सभी अधिकार एकत्रित कर लेता है जिन्हे वह चाहता है ... अगर न्यायपालिका की शक्ति विधानपालिका के साथ संयुक्त कर दी जाय तो प्रजा का जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति इत्यादि निरंकुश न्यायाधीशों के हाथ में आ जाती है जो कि अपने फैसले अपने विचार के अनुसार करते हैं न कि उन आधारभूत कानूनो के अनुसार जिन्हें विधान-निर्माता तो छोड सकते है, परन्तु न्यायाधीश नहीं।

"अगर न्याय-पालन को कार्यपालिका से मिला दिया जाय तो विधान-निर्माता की अपेक्षा वे अधिक शक्तिशाली हो जायेंगे।"[1]

अमेरिका के सुप्रसिद्ध विधानशास्त्री मैडीसन (Madison) ने भी सरकारी शक्तियो के विभाजन को व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए आवश्यक माना है। उनका कथन है कि "विधान, शासन तथा न्याय—तीनो शक्तियो का एक ही स्थान पर केन्द्रीकरण का नाम ही अत्याचारपूर्ण शासन है। यह स्थान चाहे एक व्यक्ति हो, चाहे कुछ व्यक्ति हो और चाहे बहुत से और चाहे यह आनुवंशिक हो, अपने आप नियुक्त अथवा निर्वाचन द्वारा प्राप्त हो।"[2]

१२० शक्ति विभाजन के सिद्धान्त का प्रभाव

मॉन्तेस्क्यू के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव बहुत विस्तृत रहा। शक्तियो के विभाजन का सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था का आधारभूत सिद्धान्त समझा जाने लगा। फ्रास की राज्य क्रान्ति के जनक विचारो मे इस सिद्धान्त की गणना भी की जाती है। क्रान्तिकालीन फ्रास के सभी संविधानो मे

---

1 "Whenever the right of making and enforcing the law is vested in the same man or one and the same body of men, there can be no public liberty. The magistrate may enact tyrannical laws and execute them in a tyrannical manner since he is possessed in his quality of dispenser of justice, with all the power which he as legislator thinks proper to give himself . Where it is (the judicial power) joined with the legislature the life, liberty and property of the subjects would be in the hands of arbitrary judges whose decisions would be regulated only by their opinions, and not by any fundamental principles of law, which though legislators may depart from, yet judges are bound to observe Were it joined with the executive this union might be an over-balance of the legislative"—*Blackstone*

2. "The accumulation of all powers, legislative, executive, and judicial in the same hands, whether of one, a few, or many, and whether—hereditary, self appointed or elective, may justly be pronounced the very definition of tyranny."—*Madison*

इस सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई और शासनतन्त्र का संगठन बहुत कुछ मॉन्तेस्क्यू के विचारो के आधार पर किया गया। सर्वत्र यह स्वीकार किया जाता रहा कि राजतन्त्र समाप्त होने पर राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता थी, परन्तु उसका कोई व्यावहारिक सिद्धान्त नही था। इस सिद्धान्त ने ही सर्वप्रथम इस समस्या का एक व्यावहारिक सुझाव दिया। धीरे-धीरे यह यकीन किया जाने लगा कि शासकीय शक्तियो का बँटवारा शासकीय कार्य क्षमता (Effectiveness) के लिए आवश्यक है। सन् १७८९ ई० मे फ्रास की सविधान सभा ने यह घोषणा की कि जिस देश मे शक्ति-विभाजन की व्यवस्था नही, उस देश मे सविधान नाम की कोई चीज नही है। वर्जीनिया की १७७६ की अधिकारो सम्बन्धी घोषणा, मैसाच्यूसेट्स का सन् १७८० का सविधान, फ्रासीसियो की मानव-अधिकारो सम्बन्धी सन् १७९९ की घोषणा इत्यादि मे इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।

मॉन्तेस्क्यू के सिद्धान्त का सर्वाधिक प्रभाव संयुक्त राज्य अमेरिका मे पडा। स्वतन्त्रा-युद्ध के अनन्तर जब सविधान निर्माण का प्रश्न उठा तो उस समय लगभग सभी नेताओं ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। राज्य सविधानो के अतिरिक्त राष्ट्रीय सविधान मे भी इस सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ही अमेरिकन सविधान के जनक ससार मे एक नयी प्रकार की शासन-व्यवस्था को जन्म दे सके। फलत अमेरिकन सविधान मे विधान-निर्माता, प्रशासकीय तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियो की एक दूसरे से पृथक् तथा स्वतन्त्र व्यवस्था की गई। कार्यपालिका शक्ति का राष्ट्रपति के हाथों मे केन्द्रीकरण किया गया है। राष्ट्रपति का चुनाव जनसामान्य द्वारा होता है, विधानपालिका द्वारा नही। वह स्वय अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है जो उसे ही उत्तरदायी है। राष्ट्रपति तथा उसका मन्त्रिमण्डल न तो विधानपालिका के कार्य मे भाग ही लेते हैं और न ही उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। विधानपालिका के दोनो सदन भी अपनी स्थिति मे कार्यपालिका से स्वतन्त्र हैं, उनका एक निश्चित अवधि के लिए चुनाव होता है और इस अवधि मे राष्ट्रपति उन्हे भग नही कर सकता। न्यायापालिका के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति सीनेट की अनुमति से करता है। परन्तु सविधान न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की समुचित व्यवस्था करता है।

फ्रास के प्रशासकीय कानून (Administrative law) तथा प्रशासकीय न्यायालय (Administrative court) की व्यवस्था का आधार भी शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त ही माना जाता है।

मूल्यांकन (Evaluation)

लार्ड ऐक्टन का कथन है कि **शक्ति दूषित करती है और अबाध शक्ति अबाध रूप से दोषजनक होती है।"**[1] इसी कारण कहा जाता है कि **"शक्ति का दुरुपयोग**

---

1 "Power corrupts, and absolute power corrupts absolutely"
—*Lord Acton*

न हो इसके लिए, यह स्वाभाविक रूप से भी आवश्यक है कि शक्ति का निग्रह करें।"[1] शक्तियो के विभाजन तथा उनके सन्तुलन की व्यवस्था शक्ति-निग्रह मे परम सहायक होती है। प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के बचाव तथा निरकुश शासन-तन्त्र की प्रवृत्तियो की रोक-थाम के लिए कोई ऐसी निग्रह-सन्तुलन (Checks and balance) की व्यवस्था सर्वथा अवांछनीय नही हो सकती। इस सिद्धान्त का महत्त्व इस बात मे है कि यह न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर विशेष बल देता है। न्याय-पालिका की स्वतन्त्रता ही पक्षपातहीन न्याय-व्यवस्था का आधार है। दूसरा ऐसी व्यवस्था कार्य-कुशलता तथा शासन-व्यवस्था मे सुचारुता की भी जनक हो सकती है। प्रत्येक विभाग अपने कर्तव्य पालन के लिए उत्तरदायी होता है और वह किसी अन्य के क्षेत्र मे दखल नही देता। श्रम-विभाजन प्रगतिशीलता का चिह्न है, वह शासनतन्त्र की कुशलता को भी बढाता है।

परन्तु शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है और विशेष रूप से उस रूप मे जिस मे कि इसकी व्याख्या की जाती है। सरकार के तीनो भागो का एक दूसरे से पूर्ण विभाजन न तो सम्भव है, न व्यावहारिक और न ही वांछनीय।

(१) शासनतन्त्र का सगठन शारीरिक सगठन की भाँति है, उसका प्रत्येक भाग, शरीर के अगो की तरह अन्योन्याश्रित है। अगर उसके प्रत्येक विभाग को एक दूसरे से सर्वथा अलग कर दिया जाये तो सरकार का चलना ही असम्भव हो जायगा। वह शासन के विभिन्न विभागो मे सघर्ष तथा गत्यवरोध पैदा कर देगा। जब शासन के कार्यों को तीन भागो में बाँटा जाता है तो उसका अर्थ यह कभी नही कि वे तीनो विभाग एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। ये बँटवारा तो केवल प्रशासकीय कार्य के सुभीने के लिए ही है, नही तो प्रशासकीय कर्तव्य तो एक दूसरे से बहुत मिले-जुले हैं। प्रशासकीय शक्ति का प्रत्येक विभाग कुछ-न-कुछ ऐसे कार्य करता है जो कि इसके अपने नही बल्कि दूसरे विभाग से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ विधानपालिका का मुख्य कार्य यद्यपि कानून-निर्माण है तथापि वह कानून-निर्माण के अतिरिक्त न्यायपालन तथा कार्य-पालन सम्बन्धी शक्तियो का भी प्रयोग करती रहती है। विधानपालिका कानून तो बनाती ही है साथ ही ससदीय शासन के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल पर भी नियन्त्रण रखती है। सयुक्तराज्य अमेरिका मे वह राष्ट्रपति पर मुकदमा चलाकर उसे हटा सकती है, और साथ ही विदेश-नीति, सन्धियो तथा राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियो के लिए अपनी स्वीकृति तथा अनुमति देती है।

इसी प्रकार कार्यपालिका सकटकालीन स्थिति मे अध्यादेश (Ordinance) जारी करती है, विधानपालिका को भग करती है, चुनाव की व्यवस्था करती है। कार्य-पालिका न्यायपालिका के कर्तव्यो का भी पालन करती है। प्रत्येक राज्य मे कार्य-पालिका ही न्यायाधीशो की नियुक्ति करती है और दया तथा क्षमा के अधिकार का

1 "If the power is not to be abused, than it is necessary in the nature of things that power be made a check to power."

प्रयोग करती है। इस प्रकार यद्यपि कार्यपालिका का कार्य कानून लागू करना है तथापि वह न्यायपालिका तथा विधानपालिका के कर्तव्यो के पालन मे भी हिस्सा बँटाती है।

न्यायाधीश केवल न्याय-पालन ही नही करते कानून भी बनाते हैं। कानून की सवैधानिकता की परीक्षा करते है और कार्यपालिका के कर्तव्यो की जाँच करते हैं।

इस प्रकार सरकार के सभी विभाग अपने-अपने क्षेत्र मे रहते हुए भी दूसरे विभाग के कर्तव्यों को पूर्ण करने मे स्वाभाविक रूप से ही भाग लेते हैं।

(२) शक्तियो का पूर्ण विभाजन असम्भव है। सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधानशास्त्रियो ने भी इस बात को स्वीकार किया, वे सरकार के विभिन्न हिस्सो को एक दूसरे से अलग रखते हुए भी उन्हे एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र न कर सके। राष्ट्रपति प्रशासकीय शक्ति का केन्द्र है, परन्तु वह विधान निर्माण सम्बन्धी शक्ति मे हिस्सेदार न हो यह नहीं कहा जा सकता। उसे विधानपालिका को सदेश भेजने का अधिकार है और विधानपालिका द्वारा पास किये गये कानूनो पर सीमित निषेधाधिकार (Veto) प्रयोग करने का भी अधिकार है। सीनेट राष्ट्रपति की प्रशासकीय शक्तियों मे हिस्सा बँटाती है। सुप्रीम कोर्ट अनेक महत्त्वपूर्ण वैधानिक तथा प्रशासकीय शक्तियो का उपभोग करता है। सुप्रीम कोर्ट सविधान की व्याख्या करता है और विधानपालिका तथा कार्यपालिका की शक्तियो की सवैधानिकता की परीक्षा कर उसे गैरकानूनी करार भी दे सकता है। सुप्रीम कोर्ट के सगठन, क्षेत्र तथा व्यय का नियन्त्रण विधानपालिका तथा कार्यपालिका दोनो ही मिलकर करती हैं।

वस्तुत सयुक्त राज्य अमेरिका के लिए यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि वहाँ **निग्रह और सन्तुलन व्यवस्था** (System of checks and balance) को अपनाया गया है। सरकार के विभिन्न विभाग एक-दूसरे का नियन्त्रण करते हैं। राष्ट्रपति प्रशासकीय मामलो मे पूर्ण स्वतन्त्र नही, न ही न्यायपालिका तथा विधानपालिका ही अपने मामलो मे स्वतन्त्र हैं।

इस प्रकार की व्यवस्था ने सयुक्त राज्य अमेरिका मे अनेक दोषपूर्ण तथा अवैधानिक सस्थाओ तथा रीति-रिवाजो को जन्म दिया है। सरकार के विभिन्न विभागो की स्वतन्त्रता शासनतन्त्र की कुशलता के लिए अत्यन्त खतरनाक साबित हुई है। शासनतन्त्र के विभिन्न अगो मे स्वाभाविक सम्बन्ध की अनुपस्थिति मे अनेक दोष उत्पन्न हो गये हैं। सरकार का प्रशासकीय विभाग आवश्यक कानून-निर्माण के लिए विधान-सभा पर आश्रित होता है। इस स्वाभाविक सम्बन्ध के अभाव मे कानून-निर्माण तथा कानून पालन मे अव्यवस्था हो सकती है। राज्य धन का खर्च तो राष्ट्रपति करता है परन्तु उस खर्च के लिए व्यवस्था विधानपालिका करती है। दोनों में मतभेद होने पर राज्य-व्यवस्था मे गडबड पैदा हो सकती है। इन कमियो को पूर्ण करने के लिए ही पार्टी-व्यवस्था का जन्म हुआ, जिसने सयुक्त राज्य के राजनीतिक जीवन को और भी अधिक भ्रष्ट तथा दूषित बना दिया।

(३) मॉन्तेस्क्यू तथा उसके सिद्धान्त के समर्थक सरकार के सभी विभागो

को बराबर मानकर चलते हैं। उनके मतानुसार सभी विभागों का दर्जा बराबर का है। परन्तु यह सर्वथा गलत है। कानून की व्यवस्था पहले की जाती है फिर उनको लागू किया जाता है और तभी उसकी व्याख्या सम्भव है। विधानपालिका सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत नियमों को निर्धारित करती है, यह नियम निर्धारण राज्य की (या जन-सामान्य की) इच्छा के अनुसार किया जाता है, और तब कार्यपालिका उसका पालन करवाती है। अतः राज्य की इच्छा को प्रगट करने वाले सरकारी विभाग का अन्य विभागों से अधिक महत्त्व है। विधानपालिका कर भी लगाती है और राजस्व (Revenue) भी एकत्रित करवाती है। कार्यपालिका तो इन आदेशों का पालन मात्र करवाती है। न्यायपालिका भी कार्यपालिका के काम की देख-रेख करती है। इस प्रकार विधानपालिका सरकार के अन्य दोनों विभागों में श्रेष्ठ तथा उच्च है। प्रो० लास्की का कथन है कि "विधानपालिकाएँ अपने कर्तव्य का तब तक पूरा-पूरा पालन नहीं कर सकतीं जब तक कि प्रथम तो उन्हें कानून के पालन करवाने में दखल देने का अधिकार न हो और दूसरा आवश्यकता पड़ने पर कानून द्वारा न्यायाधीशों के ऐसे निर्णयों का खण्डन कर सकें जो कि अपने परिणाम में अत्यन्त असन्तोषजनक साबित हो रहे हैं।"[1]

(४) इस सिद्धान्त के व्यावहारिक प्रयोग का अर्थ सरकार के विभिन्न विभागों का पूर्ण विभाजन होगा। विधानपालिका तथा कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्धों की अनुपस्थिति में अच्छे कानूनों का निर्माण और कुशल आर्थिक प्रबन्धों की अवस्थिति मुश्किल हो जाती है। प्रशासकीय मामलों में कमजोरी उत्पन्न हो जाती है और विदेशी नीतियों का परिपालन ठीक-ठीक नहीं हो पाता। अमेरिका में अनेक बार कार्यपालिका तथा विधानपालिका में गत्यवरोध उत्पन्न होते रहते हैं। राष्ट्रपति विल्सन द्वारा की गई वर्साई की शान्ति सन्धि को सीनेट ने ही अस्वीकार किया था। इसी प्रकार प्रेजीडेन्ट रूजवेल्ट तथा ट्रूमैन द्वारा पेश किये गये अनेक कल्याणकारी कानूनों को भी कांग्रेस ने रद्द कर दिया है।

कार्यपालिका तथा विधानपालिका में इस स्थिति में पारस्परिक विद्वेष, ईर्ष्या तथा विरोध उत्पन्न हो जाता है।

(५) मॉन्टेस्क्यू के सिद्धान्त का आधार ब्रिटिश संविधान है। उसी के कार्य को देख माण्टेस्क्यू ने यह सिद्ध किया कि प्रजातन्त्र तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपस्थिति शक्ति-विभाजन से ही सम्भव है। परन्तु आज यह स्वीकार किया जाता है कि ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की मॉन्टेस्क्यू तथा ब्लैकस्टोन द्वारा की गई एतद्विषयक सम्पूर्ण व्याख्याएँ अयथार्थ हैं। इंग्लैण्ड के संविधान में शक्तियों का विभाजन नहीं

1. "Legislatures could not fulfil their task unless they were able both to interfere in the execution of law, and also, on occasions, to overrule statuae, the decisions of the judges the results of which are widely felt to be unsatisfactory."—*Laski*.

अपितु केन्द्रीकरण है।[1] ब्रिटिश पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था का आधार विधानपालिका तथा कार्यपालिका के घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। हम पीछे देख आये हैं कि ब्रिटिश शासन व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका अपने सम्पूर्ण प्रशासकीय कृत्यो के लिए विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी है। मॉन्तेस्क्यू ने कार्यपालिका तथा विधानपालिका के जिस विभेद को देखा था वह वास्तविक नही अपितु अवास्तविक था। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ही सम्पूर्ण प्रशासकीय शक्तियो का वास्तविक स्रोत है और वह विधानपालिका की देख-रेख तथा नियन्त्रण मे कार्य करता है। इस प्रकार शासन के इन दोनो विभागो मे बराबर सम्बन्ध रहते हैं।

इसी प्रकार हाऊस आफ लार्ड्स (House of Lords) विधानपालिका का दूसरा सदन है और इस दृष्टि से उसे केवल वैधानिक कर्तव्य ही पूर्ण करने चाहिए थे। परन्तु हाऊस आफ लार्ड्स ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था का सर्वोच्च सगठन है। लार्ड चासलर के पद मे वैधानिक प्रशासकीय तथा न्यायपालिका सम्बन्धी सभी शक्तियो का समन्वय मिल जाता है। लार्ड चासलर ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य तो है ही वह हाऊस आफ लार्ड्स के रूप मे विधानपालिका का भी सदस्य है और इग्लैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय का भी अधिकारी है। इस प्रकार इग्लैण्ड का सम्पूर्ण सविधान तथा उस की सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था मॉन्तेस्क्यू के सिद्धान्त का न केवल व्यावहारिक ही अपितु ऐतिहासिक खण्डन भी है।

आज जहाँ कही पार्लियामेन्ट्री शासन-व्यवस्था मौजूद है वही सरकारी शक्तियो के विभाजन के सिद्धान्तो का खण्डन मिल जाता है। हम पीछे देख चुके हैं कि आजकल ससदीय शासन-व्यवस्था ही अधिक सर्वप्रिय है।

(६) मॉण्तेस्क्यू के सिद्धान्त का आधार और प्रेरणा स्रोत वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा था परन्तु केवल औपचारिक शक्ति-विभाजन के द्वारा ही स्वतन्त्रता की सुरक्षा की कल्पना न केवल अव्यावहारिक ही है अपितु मिथ्या भी है। व्यावहारिक रूप से यदि हम देखें तो यह स्पष्ट है कि ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रास इत्यादि ससदीय शासन-प्रणाली द्वारा शासित देशो मे शक्तियो के विभाजन का अभाव है, वहाँ शक्तियो का केन्द्रीकरण है परन्तु फिर भी वहाँ नागरिक किसी प्रकार भी अमेरिकन नागरिकों की अपेक्षा कम स्वातन्त्र्य का इस्तेमाल नही करते। बल्कि कुछ एक विषयो मे तो इन दोनो देशो के नागरिक अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं। अमेरिका मे आज विचार-स्वातन्त्र्य की उतनी व्यवस्था नही जितनी कि इग्लैण्ड और फ्रास मे हैं। नागरिको की स्वतन्त्रता की सुरक्षा का यह तो एक औप-चारिक साधन मात्र है। प्रो० गेटल का कथन है कि **"ऐसा मान लेने से कि स्वन्तत्रता को स्थापित करने के लिए विस्तृत शक्ति-विभाजन आवश्यक है और हर एक विभाग**

---

१ रैमजेम्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि "अगर शक्तियों का विभाजन अमेरिकन सविधान का आधारभूत सिद्धान्त है तो उत्तरदायित्व का केन्द्रीकरण अग्रेजी सविधान की प्रमुख विशेषता है।"

अपने को अपने ही कार्यों तक ही सीमित रख दूसरे अंगों से स्वतन्त्र रहे, यह बिलकुल निकम्मा साबित होता है। जनतन्त्रात्मक राज्यो मे, स्वतन्त्र तथा गैरजिम्मेदार अंगों के खण्डित अधिकारो की अपेक्षा जनता के प्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधित्व करने वाले विभागों में अधिकारों को केन्द्रित रखकर अधिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो सकती है।"

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य जनता की राजनीतिक चेतना पर अवलम्बित है। अगर जन-सामान्य अपने अधिकारो तथा कर्त्तव्यो से परिचित है, उनकी रक्षा के लिए हर समय प्रयत्नशील है तभी उनके अधिकार सुरक्षित रह सकते है, अन्यथा नही। शक्ति-विभाजन तो केवल एक बाह्य उपचार मात्र है।

आज शासन-शक्ति के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है, विभाजन की नहीं। एक ही केन्द्र या स्थान मे राज्य-शक्ति के केन्द्रित हो जाने के फलस्वरूप शासन मे तानाशाही के विकसित होने का भय रहता है। इस विकेन्द्रीकरण का अर्थ है राज्य की आर्थिक तथा शासकीय शक्तियो का विकेन्द्रीकरण और उसका संघ व्यवस्था (Federal system) के रूप में सगठन। इस प्रकार की व्यवस्था तीनों विभागों के सयुक्त या पृथक्-पृथक् अधिनायकतन्त्र के विकास का भी अवसर नही देती और साथ ही वह जनसामान्य को शासकीय शक्ति के सचालन मे अधिक से अधिक हिस्सा देती है। दूसरा राजनीतिक स्वातन्त्र्य का वास्तविक महत्त्व आर्थिक स्वातन्त्र्य की उपस्थिति मे ही है। मॉन्तेस्क्यू पुराने राजतन्त्र के विरुद्ध जन-साधारण के राजनीतिक अधिकारो को मान्यता दिलाने का प्रयत्न कर रहा था। उसका यह प्रयत्न अवश्य ही प्रशमनीय था। परन्तु उसका सिद्धान्त पूर्ण रूप से व्यावहारिक नहीं और वह आज के राज्य की व्यवस्था के लिए उपयुक्त नही। राज्य के कर्त्तव्यों की अभिवृद्धि के फलस्वरूप भी कार्यपालिका तथा विधानपालिका मे पारस्परिक सहयोग तथा घनिष्ठता की परम आवश्यकता है। इस सहयोग के अभाव मे सघर्ष तथा गत्यवरोध उत्पन्न होगा। गेटल ने ठीक कहा है, "अधिक उग्र रूप मे शक्ति-विभाजन एव निग्रह-सन्तुलन का मत दोनो ही खतरनाक हैं। उग्र शक्ति विभाजन से राज्य की कानूनी रूप से प्रगट इच्छा के पालन के लिए आवश्यक एकता एवं सहयोग की कमी हो जाती है। अपने उग्र रूप से निग्रह तथा सन्तुलन की व्यवस्था के फल-स्वरूप गत्यवरोध तथा संघर्ष पैदा हो जाता है जो एक कुशल शासन-व्यवस्था के लिए हानिकारक है।"

जैसा कि हम पीछे ही कह आए हैं न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए उसका विधानपालिका तथा कार्यपालिका के नियन्त्रण मे मुक्त होना लाजमी है। परन्तु इसके साथ ही कार्यपालिका की तानाशाही को रोकने के लिए उसका विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होना भी आवश्यक है।

Important Questions

Reference

1 Examine critically the theory of separation of powers (*Pb. 1956*)

2 What are 'checks and balance'? Are they the same things as the 'Separation of Powers'? (*Pb. 1954*) Arts 118 to 121

3 Discuss the theory of the separation of powers with special reference to its practical application (*Pb 1951, 1950*)	Arts 118 to 121
4 State Montesquieu's theory of 'Separation of Powers' How far has this theory been adopetd in practice by the modern states of the world (*Pb 1949*)	Arts 118 to 121
5 Examine the Doctrine of Separation of Powers with illustrations from the constitutions of France and Great Britain (*Pb 1948*)	Arts 118 to 121

विधानपालिका का संगठन तथा कर्त्तव्य

(ORGANISATION AND FUNCTIONS OF LEGISLATURE)

१२२. सरकार के विभिन्न अंग

पिछले अध्याय मे हमने देखा है कि अरस्तू के समय से ही सरकार के कर्त्तव्यो को तीन विभागो मे बांटा गया है। इन तीनो कर्त्तव्यो के आधार पर सरकार के तीन विभाग हैं—(१) विधानपालिका (Legislature), (२) कार्यपालिका (Executive), तथा (३) न्यायपालिका (Judiciary)। कुछ फ्रेंच विचारको ने सरकार के त्रिसत्तात्मक विभाजन का विरोध किया है। उन्होने सरकार के दो भाग माने है—(१) विधानपालिका तथा (२) कार्यपालिका। न्यायपालिका को वे कार्यपालिका का ही भाग मानते हैं। कार्यपालिका के वह तीन भाग करते है—

(१) सरकार का वह विभाग जो शासन-नीति को निर्धारित करता है जिसे मन्त्रिपरिषद् या मन्त्रिमण्डल कहते है।

(२) दूसरा जिसे प्रशासकीय विभाग कहा जा सकता है और जिसका कार्य शासन-नीति को लागू करना है। यह विभाग स्थायी सरकारी कर्मचारियो से मिलकर बनता है।

(३) न्यायपालिका कार्यपालिका का वह विभाग है जिसका कार्य कानून की व्याख्या करना है और उन्हे राज्य के विभिन्न नागरिको के पारस्परिक झगडो को निपटाने के लिए इस्तेमाल करना है।

कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के एकीकरण का मुख्य कारण यह है कि प्राय. कानून सम्बन्धी निर्णयो को लागू करने के लिए कार्यपालिका की शक्ति का ही प्रयोग किया जाता है। न्यायाधीश कानून की व्याख्या करता है और किसी मसले पर अपना फैसला देता है, परन्तु उस फैसले को लागू कार्यपालिका ही करती है। फ्रेंच विचारको के उपर्युक्त तर्क को आज अनेक कारणो से स्वीकार नही किया जाता। यह आवश्यक नही कि प्रत्येक न्यायसम्बन्धी निर्णय कार्यपालिका द्वारा ही लागू किया जाता है। न्यायपालिका अनेक ऐसे फैसले करती है जिनका सम्बन्ध प्रशासकीय शक्ति से नही होता। न्यायिक सत्ता का प्रयोग अनेक मामलो मे कानून के प्रशासन से कोई सम्बन्ध नही रखता।

आज प्रजातन्त्रात्मक युग मे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता के लिए उसकी कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्ति आवश्यक समझी गई है।

सरकारी कर्त्तव्यो के वर्गीकरण के अन्य अनेक प्रकार हैं, जिनका यहाँ विस्तार-भय से हम जिक्र नही कर सकते। इन सभी योजनाओ के बावजूद भी हमे

यह स्वीकार करना ही पडेगा कि अधिकाश विद्वान सरकारी सत्ता के उपर्युक्त तीन वर्गों के विभाजन को ही स्वीकार करते हैं।

हम पीछे देख चुके हैं कि विधानपालिका का कर्त्तव्य कानून बनाना है, कार्य-पालिका का उन्हे लागू करना और न्यायपालिका का उनके अनुसार नागरिको के झगडो को निपटाना है।

१२३. विधानपालिका का महत्त्व

इन तीनो विभागो में विधानपालिका का सर्वोच्च स्थान है। वह कार्यपालिका तथा न्यायपालिका से न केवल पहले ही आती है बल्कि उनसे ऊँची भी है। विधान-पालिका राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति का स्रोत है। वह उन आधारभूत नियमो को निर्धारित करती है जिसके अनुसार शासन-मशीनरी चलती है, जिनके आधार पर ही कार्यपालिका तथा न्यायपालिका अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। बिना इन आधारभूत नियमो के न तो कार्यपालिका ही कार्य कर सकती है और न न्याय-पालिका न्याय ही। ये दोनों विभाग तो कानून का प्रयोग करते हैं। अगर कानून ही नही होगा तो प्रयोग किसका किया जायेगा ?

कानून समाज के नैतिक मूल्यो के अनुसार होते हैं। वे वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के विकास के आधार हैं। आज के युग में विधानपालिका केवल कानून निर्माण का ही कार्य नही करती, राजकीय-शक्ति के नियन्त्रण के वह अन्य भी अनेक कार्य करती है। प्राय सभी देशो मे विधानपालिका की शक्तियो का सीमा क्षेत्र केवल-मात्र कानून निर्माण ही नही, वह सरकार के अन्य क्षेत्रो पर भी नियन्त्रण करती है। वह राजस्व का नियन्त्रण करती है, राजकीय कामों के लिए होने वाले खर्चों के लिए अनुदान (Supply) की व्यवस्था करती है और नये करों (Taxes) को लगाती है। जहाँ शासन-व्यवस्था एकात्मक (Unitary) होती है, विधानपालिका अस्थायी तौर पर अपनी शक्ति का सीमित विकेन्द्रीकरण करती है और अन्य अनेक ऐजेन्सियो की रचना करती है जो केन्द्रीय सरकार के शासन कार्य के चलाने मे सहायता करते हैं। ससदीय-शासनप्रणाली के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल विधानपालिका द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। भारत मे मन्त्रिमण्डल को नियन्त्रित करने के अलावा पार्लियामेण्ट राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के चुनाव में भी भाग लेती है। अमेरिका मे काग्रेस राष्ट्रपति की अनेक प्रशासकीय शक्तियों मे हिस्सा बँटाती है।

सविधान के सशोधन मे साधारण विधानपालिकाओ का विशेष हाथ होता है। इग्लैण्ड मे तो विधानपालिका सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न है और सवैधानिक कानून मे सभी प्रकार के परिवर्तन कर सकती है।

१२४. विधान-पालिकाओं की उत्पत्ति तथा विकास

कानून-निर्माण आज के राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य है, परन्तु प्राचीन युग में राज्य को कानून की सन्तान के रूप मे स्वीकार किया जाता था। जेंक्स (Jenks) ने कहा है कि पुराने समय मे कानून बनाए नहीं खोजे जाते थे इन कानूनो का आधार

पुराने रस्मो-रिवाज तथा जन-विश्वास होते थे या उनका आधार धर्म तथा ईश्वरादेश माने जाते थे।

धीरे-धीरे कानून-निर्माण का कार्य एक विशेष ज्ञान बन गया। अनेक बार उनकी व्यवस्था धर्मगुरुओ, पण्डितो तथा धर्मशास्त्रियो या विधानशास्त्रियो ने की, परन्तु अन्तत. सभा तथा समिति इत्यादि प्रतिनिधि संस्थाओ का विकास हुआ। प्राचीन भारत मे जनसमितियो तथा सभाओ की उपस्थिति का जिक्र मिलता है। उन सभाओ का कार्य कानून निर्माण न हो राजा को सलाह-मशवरा देना और राजकाज मे उसकी सहायता करना था। हमारे यहाँ कानून का आधार धर्म और पुराने रस्मो-रिवाज थे।

वर्तमान काल की प्रतिनिधि सत्तात्मक विधानपालिकाओ का प्रारम्भ जर्मनी की प्राचीन ट्यूटनो की जनसभाओ मे मिलता है। इनमे कबीले (Tribe) के नेताओ को स्थान दिया जाता था। इग्लैण्ड मे इन प्रतिनिधि सत्ताक विधानसभाओ को विकास का उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ। प्रारम्भ मे जिस राज्य महापरिषद (Great-council) की अवस्थिति इग्लैण्ड मे मिल जाती है वह निश्चय ही आज के अर्थ मे प्रतिनिधि-सत्तात्मक नही थी। परन्तु धीरे-धीरे उसकी स्थिति बदली। सरदार, पादरी, सामन्त इत्यादि के अतिरिक्त कुछ अन्य स्वार्थों के प्रतिनिधियो को विधानपालिका मे स्थान दिया जाने लगा। (House of Lords) हाउस ऑफ लार्ड्स तथा हाऊस आफ कामन्स (House of Commons) के रूप मे विभाजित होने पर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट शासकीय मामलो मे अधिक दिलचस्पी लेने लगी। पहले-पहल तो पार्लियामेण्ट सम्राट् की नीतियो के पालन के लिए आवश्यक खर्च मुहैया करने के लिए ही बुलाई जाती थी। ससद की सदस्यता गौरव का विषय न हो एक अनावश्यक तथा बोझिल उत्तरदायित्व समझा जाता था। लोग उससे बचने का प्रयत्न करते थे। परन्तु धीरे-धीरे पार्लियामेण्ट खर्च के लिए अनुदान देने से पूर्व अपनी माँग पेश कर उन्हे मनवाने लगी। इस प्रकार पार्लियामेण्ट की वैधानिक शक्तियो का विकास हुआ।

आज तो ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को विश्व मे पाई जाने वाली सभी ससदो का जनक कहा जाता है। इग्लैण्ड के अनन्तर फ्रास, स्विट्जरलैण्ड, इटली, जर्मनी, तथा स्पेन इत्यादि देशो मे प्रतिनिधि सस्थाओ का विकास हुआ। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर प्रतिनिधि व्यवस्था का प्रचलन लगभग पूर्व तथा पश्चिम के सभी प्रगतिशील राज्यो मे हो गया।

१२५. विधानपालिका का कार्य-क्षेत्र

विधानपालिका का कार्य-क्षेत्र बहुत कुछ शासन-पद्धति के रूप पर आश्रित है, यही कारण है कि इसके कार्य सर्वत्र एक से नही। जहाँ अबाध तथा असीम शक्तिसम्पन्न राजतन्त्र हो वहाँ विधानपालिका एक सलाहकार समिति से अधिक कुछ नही होती, आज अफगानिस्तान मे विधानपालिका की यही स्थिति है। जार के शासन के दौरान

मे वहाँ की विधानपालिका (ड्यूमा) मामूली कार्यों पर भी अपना स्वतन्त्र निश्चय नही कर सकती थी और उसे सदा जार की आज्ञाओ का ही अनुसरण करना पडता था। १९४७ से पूर्व भारत की केन्द्रीय विधानपालिका सलाहकार समिति मे अधिक शक्ति सम्पन्न नही थी। रूस मे कम्युनिस्ट पार्टी का अधिनायकतन्त्र है, वहाँ भी विधानपालिका पार्टी नेताओ के हाथ मे ही खेलती है और सविधान द्वारा दी गई अपनी किसी भी शक्ति का स्वतन्त्र प्रयोग नही कर सकती।

प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत विधानपालिका सर्वोच्च सस्था समझी जाती है। परन्तु प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी राष्ट्रपतितन्त्र (Presidential Government) तथा ससदीय शासन-व्यवस्था मे विधानपालिका की स्थिति मे अन्तर हो जाता है। राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत राष्ट्रपति का विधानपालिका से कोई सम्बन्ध नही होता और वह विधान-निर्माण मे भाग नही ले सकता। विधानपालिका उसे सभी तरह से नियन्त्रित नही कर सकती। इसके विपरीत ससदीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत विधानपालिका मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण करती है एक प्रकार से वह स्वय ही कार्यपालिका के भाग्य की निर्णायिका होती है। फिर भी आज विधानपालिका जिन कार्यों को सम्पन्न करती है, वे प्रजातन्त्रात्मक शासन में लगभग समान ही होते हैं। उन्हे हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) **कानून-निर्माण**—विधानपालिका का आधारभूत कर्त्तव्य है। राज्य की इच्छा को प्रगट करने का एकमात्र स्रोत विधानपालिका है, जो कानून बनाकर इस इच्छा को स्वरूप प्रदान करती है। प्रजातन्त्रात्मक शासन के अन्तर्गत विधानपालिकाएँ जन-सामान्य द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो से मिलकर बनती हैं। ऐसी अवस्था मे विधानपालिकाओं द्वारा ही जन-सामान्य की इच्छाओ की अभिव्यक्ति हो सकती है।

सामान्य जीवन के प्रगतिशील होने के कारण तथा समाज के नैतिक मूल्यो के अस्थिर होने के कारण अनेक पुराने कानून अनावश्यक बन जाते हैं। ऐसी अवस्था मे उनका सशोधन आवश्यक हो जाता है। विधानपालिका ही पुराने कानूनो का परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप सशोधन करती है और आवश्यकता पडने पर पुराने कानून रद्द कर नये कानून बना सकती है।

भारत, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्जरलैण्ड इत्यादि राज्यो मे विधानपालिकाएँ, सवैधानिक सशोधन के लिए प्रारम्भिक कार्यवाही कर सकती हैं। इग्लैण्ड मे तो पार्लियामेण्ट ही सर्वशक्तिसम्पन्न है और वही सब प्रकार के कानूनों का स्रोत है।

पार्लियामेण्ट्री शासन तथा राष्ट्रपतितन्त्र दोनो में विधानपालिका तथा कार्यपालिका का कानून-निर्माण में विभिन्न योग होता है। पार्लियामेण्ट्री शासन के अन्तर्गत विधानपालिका का कानून-निर्माण के विषय में मन्त्रिमण्डल के नेतृत्व का अनुसरण करना पडता है और सभी महत्त्वपूर्ण बिल मन्त्रिमण्डल द्वारा ही पेश किये जाते है। राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत विधानपालिका अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र होती है। राष्ट्रपति केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही कानून-निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित कर सकता है।

कानून-निर्माण की प्रक्रिया के भी दो भाग हैं—(क) विशुद्ध कानून-निर्माण

(Purely Legislative) तथा (ख) विवेचनात्मक (Deliberative)। प्रथम के अन्तर्गत तो कानून-निर्माण का व्यावहारिक ढंग आ जाता है। कानून-निर्माण की विवेचनात्मक प्रक्रिया प्रथम प्रक्रिया से अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती है। प्रथम के अन्तर्गत तो कानून का मसौदा तैयार किया जाता है, जब कि दूसरे के अन्तर्गत उस मसौदे की पूर्ण विवेचना की जाती है। विधानपालिका के सदस्य सामूहिक रूप से भी उस पर विचार-विनिमय करते हैं और सिलेक्ट कमेटी में कुछ चुने हुए विशेष सदस्य भी इस पर विचार विनिमय कर विधानपालिका को अपनी रिपोर्ट पेश करते हैं। विधानपालिका में तीन बार एक बिल पर विचार किया जाता है और तब उसे पास कर कानून बनाया जाता है। विवेचनात्मक प्रक्रिया सर्वत्र एक जैसी नहीं होती, परन्तु सभी जगह विधानपालिका के सदस्यों को कानून के पूर्ण विवेचन का अवसर दिया जाता है।

(२) शासन का नियन्त्रण—विधानमण्डल केवल कानून-निर्माण ही करता हो और अन्य कार्यों में भाग न लेता हो, ऐसी बात नहीं। परन्तु अन्य मामलों में उसका नियन्त्रण अप्रत्यक्ष है प्रत्यक्ष नहीं।

पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल का जीवन संसद के विश्वास पर आश्रित होता है। मन्त्रिमण्डल को संसद के सदस्यों के बहुमत का विश्वास प्राप्त है तभी तक वह शासन चलाता है। विधानपालिकाएँ कार्यपालिका का इस विषय में विभिन्न प्रकार से नियन्त्रण करती हैं। यह जरूरी ही नहीं कि केवल अविश्वास प्रस्ताव या निन्दा प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को नियन्त्रित किया जाय। विधान-सभा के सदस्य मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से उनके विभिन्न विभागों के विषय में प्रश्न पूछते हैं सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। शासन नीति पर आम बहस हो सकती है। विशेष परिस्थिति पर विचार करने के लिए काम रोको प्रस्ताव (Adjournment motion) पेश किया जा सकता है।

राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत विधानपालिका को कार्यपालिका से अलग रखने की कोशिश की गई है। फिर भी जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में है, विधानपालिका राष्ट्रपति की प्रशासकीय शक्ति का नियन्त्रण करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गई प्रशासनीय नियुक्तियों के लिए और उस द्वारा व्यवस्थित अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की सन्धियों के लिए अमेरिकन कांग्रेस (विधान-सभा) के दूसरे सदन-सीनेट-की स्वीकृति तथा अनुमति आवश्यक है।

(३) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण—राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का नियन्त्रण सर्वत्र विधानपालिकाएँ करती हैं। राष्ट्रपतितन्त्र तथा पार्लियामेण्ट्री शासन दोनों के अन्तर्गत विधानपालिकाएँ ही नये कर लगाती हैं, ऋणों के लिए अनुमति देती हैं और खर्च के लिए अनुदानों की स्वीकृति देती हैं। प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत साधारणतया यह एक आधारभूत नियम माना जाता है कि कोई भी कर (Tax) विधानपालिका की स्वीकृति के बिना नहीं लगता और न ही कोई खर्च ही हो सकता है।

इसी शक्ति के आधार पर ही ब्रिटिश पार्लियामेण्ट शासनतन्त्र पर नियन्त्रण स्थापित करने मे और अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त करने मे सफल हुई है।

अर्थविधेयक (Money bills) अधिकतर निचले सदन (Lower house) मे पेश किये जाते हैं, और वही अन्तिम रूप से उनका रूप निर्धारित करते हैं।

(४) **न्याय-पालन सम्बन्धी कार्य**—अनेक राज्यो मे विधानपालिका न्याय-पालन सम्बन्धी कर्त्तव्यो का पालन भी करती हैं। इग्लैण्ड मे हाउस ऑफ लार्ड्स सर्वोच्च न्यायालय के कार्य सम्पन्न करता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे विधानपालिका का दूसरा सदन, सीनेट, राष्ट्रपति पर किये दोषारोपण की जाँच करती है। भारत में भी विधानपालिका को राष्ट्रपति के ऊपर लगाये गये आरोपो के परीक्षण का अधिकार है। इनके अतिरिक्त विधानपालिकाओं को निर्वाचन सम्बन्धी झगडो के निपटारे का, अपने सदस्यो के विरुद्ध कार्यवाही करने का और न्यायाधीशो के विरुद्ध दोषारोपण का अधिकार होता है।

(५) **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य**—विधानपालिकाएँ कार्यपालिका के उच्च अधिकारियो के चुनाव मे भी भाग लेती हैं। स्विट्जरलैण्ड में सघीय कार्यपालिका के सदस्यो का निर्वाचन विधानपालिका के दोनो सदन मिलकर करते हैं। रूस मे सुप्रीम कोर्ट के न्यायधीशो के अतिरिक्त प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यो का चुनाव सुप्रीम सोवियत (विधानपालिका) द्वारा किया जाता है। भारत मे सघ विधानपालिका के तथा राज्य विधानपालिकाओं के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियो मे अमेरिका मे भी निम्न सदन राष्ट्रपति के और उच्च सदन उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं। ससदीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल विधानपालिका की ही रचना होती है। इनके अतिरिक्त विधानपालिकाएँ विदेशी नीति के सचालन, युद्ध-घोषणा, शान्तिसन्धि तथा गृहनीति के निर्धारण इत्यादि अनेक अन्य प्रशासकीय कार्यो को भी सम्पन्न करती हैं।

१२६ विधानपालिका का सगठन (Organisation of the Legislature)

विधानपालिका के महत्त्वपूर्ण कार्यो का विवरण हम ऊपर दे चुके हैं। अब मुख्य प्रश्न यह है कि विधानपालिका का सगठन कैसा होना चाहिए ? इस विषय में दो सिद्धान्त हैं। एक सिद्धान्त के अनुसार तो विधानपालिका का केवल एक सदन (House) होना चाहिए और दूसरे के अनुसार उसका सगठन द्विसदनात्मक (Bicameral) होना चाहिए। द्विसदनात्मक विधान-सभा का सगठन इग्लैण्ड की द्विसदनात्मक पार्लियामेण्ट के अनुकरण पर किया गया है। प्रो० लास्की का कथन है कि यह केवल एक ऐतिहासिक सयोग की ही बात है कि इग्लैण्ड की विधानपालिका द्विसदनात्मक (Bicameral) थी और उसी का अनुसरण अन्य देशो ने किया। जहाँ कही विधानपालिका का सगठन द्विसदनात्मक होता है वहाँ एक सदन उच्च सदन (Upper Chamber) कहलाता है और दूसरा सदन निम्न सदन (Lower

Chamber) कहलाता है। इस प्रकार का नामकरण दोनो की शक्ति का किसी प्रकार उचित विवरण नहीं दे पाता, क्योंकि सभी जगह उच्च सदन की अपेक्षा निम्न सदन (Lower Chamber) ही अधिक शक्तिसम्पन्न होता है। एक सदनात्मक विधानपालिका (Unicameral Legislature) के संगठन के समर्थन मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) एक सदनात्मक (Unicameral) व्यवस्था का समर्थन सभी जगह क्रान्तिकारी विचारको तथा सविधान सुधार के समर्थको ने किया है। कानून राज्य की इच्छा का मूर्त्त रूप है, इसकी अभिव्यक्ति विधानपालिका द्वारा ही होती है। यदि एक राज्य मे दो विधानपालिकाएँ हो तो सम्भव है वह एक ही विषय पर एक नही दो परस्पर विरोधी विचार प्रगट करे। ऐसी अवस्था मे एक ही राज्य की इच्छा परस्पर विरोधी अवस्था मे प्रगट होगी। फ्रेंच विचारक एबीसीयज ने इस विषय मे अपने विचार बडी स्पष्टता से प्रगट किये है। उसका कथन है कि "कानून जनता की इच्छा है। जनता की एक ही समय में एक ही विषय पर दो परस्पर विरोधी इच्छाएँ नहीं हो सकती। इसलिए जो सभा जनता की प्रतिनिधि है, वह आवश्यक रूप में एक होनी चाहिए। जहाँ दो सदन होगे वहाँ विरोध तथा विभाजन अनिवार्य होगा और निष्क्रियता के कारण लोकेच्छा निष्क्रिय हो जायगी।"[1] राज्य प्रभुता के दो भाग नही हो सकते, वह अविभाज्य है। दो सदनो का सिद्धान्त राज्य प्रभुता की एकता तथा अविभाज्यता को नष्ट कर देता है, एक सदन की व्यवस्था से ही शासन-व्यवस्था मे एकता स्थापित होती है।

(२) दो सदनो की उपस्थिति पारस्परिक विरोध तथा विद्वेष को जन्म देती है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध विचारक बेंजिमन फ्रेंकलिन ने द्विसदनात्मक विधानपालिका की एक ऐसी गाडी से तुलना की है जिसके दोनो ओर दो घोड़े जोत दिये जायें और दोनो ही गाडी को विरोधी दिशाओ में खींचने का प्रयत्न करें।

(३) दूसरे सदन की उपस्थिति अनावश्यक तथा अनिष्टकर समझी जाती है। एबीसीयज ने ही कहा है, "यदि दूसरे सदन का पहले सदन से मतभेद है तो वह अहितकर है और यदि वह उससे सहमत है तो उसका अस्तित्व निरर्थक है क्योंकि वह या तो सहमत होगा अथवा असहमत, उसका अस्तित्व किसी भी तरह लाभदायक नहीं।"[2]

---

1 "The law is the will of the people; the people cannot at the same time have two different wills on the same subject, therefore, the legislative body which represents the people ought to be essentially one Where there are two chambers, descord and division will be inevitable and the will of the people will be paralysed be inaction"—*Abbe Sieyes.*

2 "If the second chamber disagrees with the first, it is mischievous; if it agrees, it is superfluous, and since it must either agree or disagree, it is no good in any case"—*Abb Sieyes.*

(४) एकसदनात्मक विधानपालिका कम खर्चीली होती है। वर् आपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील होती है और जन-सामान्य की इच्छाओ की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति करती है।

एक सदनात्मक व्यवस्था का प्रयोग—एकसदनात्मक विधानपालिका का सिद्धान्त १८वी तथा १६वी सदी मे अत्यन्त लोकप्रिय था। प्राय सभी देशो मे थोडे बहुत समय के लिए एकसदनात्मक शासन-प्रणाली को अजमाकर देखा गया। वेंजमिन फ्रेंकलिन की प्रेरणा पर ही पैनसिलवेनियाँ मे प्रथम विधान के अन्तर्गत एकसदनात्मक विधानपालिका की व्यवस्था की गई थी। क्रान्तिकालीन फ्रास के सविधानो मे भी दो सदनो के स्थान पर एक सदन वाली विधानपालिका की व्यवस्था की जाती रही। इग्लैण्ड मे भी थोडी देर के लिए, कामनवैल्थ के समय एकसदनात्मक पार्लियमेण्ट को कायम किया गया था।

परन्तु इन सभी देशो मे एकसदनात्मक विधानपालिकाएँ सफल न हो सकी। फ्रांस की एकसदनात्मक विधानपालिका की कार्यवाही मे हिंसा, अस्थिरता तथा निम्न-कोटि का मर्यादोल्लघन दिखाई देता है। स्पेन, पुर्तगाल तथा वोलिविया इत्यादि राष्ट्रो ने भी इस व्यवस्था को कुछ देर चला उसे असन्तोपजनक समझ त्याग दिया। प्राय सभी राज्यो में एकसदनात्मक व्यवस्था को विधानपालिका के सगठन की एक असन्तोपजनक व्यवस्था समझा गया। आज इग्लैण्ड, फ्रांस, सयुक्त राज्य अमेरिका, भारत, स्विट्जरलैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा रूस इत्यादि सभी बडे-बडे राज्यो मे विधानपालिकाओ का सगठन द्विसदनात्मक व्यवस्था (Bicameral system) पर आधारित है। इन राज्यो के अनेक प्रशासकीय अगो की विधानपालिकाएँ अवश्य ही एकसदनात्मक हैं परन्तु वे सभी छोटे-छोटे प्रादेशिक राज्य हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर स्थापित केन्द्रीय यूरोप के नवीन राज्यो मे भी एकसदनात्मक विधानपालिकाओ की व्यवस्था थी। परन्तु यह सब राज्य भी छोटे-छोटे राज्य हैं।

एकसदनात्मक व्यवस्था की असफलता के भी अनेक कारण है—

(१) प्रजातन्त्र के अन्तर्गत पुराने कुलीनतन्त्रात्मक तत्त्वो की अवहेलना सम्भव नही थी। उनको विधानपालिका के द्वितीय सदन मे स्थान दे सतुष्ट किया गया।

(२) सघ राज्यो मे एकसदनात्मक विधानपालिका उपयुक्त नही सावित हो सकती थी। क्योंकि विभिन्न राज्यो का पृथक् प्रतिनिधित्व केवल दूसरे सदन मे ही दिया जा सकता था, निचले मे नही। निचला सदन सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है और दूसरा राज्यो का।

द्विसदनात्मक व्यवस्था का समर्थन—द्विसदनात्मक व्यवस्था को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाले विचारको की कमी नही। सर हेनरीमेन का कथन है कि किसी प्रकार का भी द्वितीय सदन न होने से श्रेष्ठ है। एकसदनात्मक विधानपालिका अप्रजातान्त्रिक, अव्यावहारिक तथा विद्वेषपूर्ण तथा दूषित राजनीति की जनक होती है। लार्ड एक्टन का कथन है कि दूसरा सदन स्वाधीनता के लिए एक आवश्यक सुरक्षा है। जे० एस० मिल ने आशका प्रकट की थी कि केवल एक सदन निरकुश तथा अहकारपूर्ण हो

सकता है। द्विसदनात्मक विधानपालिका का समर्थन निम्नलिखित आधार पर किया जाता है—

(१) अरस्तू का कथन है कि कानून भावना शून्य तर्क पर आधारित होना चाहिए। वह समाज के सभी समुदायों को प्रभावित करता है अतः वह सबकी सक्रिय सहमति पर भी आधारित होना चाहिए। एक सदन वाली विधानपालिका जल्दबाजी में, आवेश में आ विवेक-रहित तथा अपूर्ण रूप से विवेचित बिलों को पास कर देती है। प्रथम सदन जनमत का प्रतिनिधित्व करता है, ऐसी अवस्था में वह बिना गम्भीर विचार किये भावावेश में पुरानी परम्परागत व्यवस्थाओं को जल्दी में बदल डालता है। द्वितीय सदन की उपस्थिति ऐसी अवस्था में निग्रह तथा सन्तुलन का कार्य करती है और वह प्रत्येक बिल पर दुबारा शान्त वातावरण में विचार कर उनके प्रत्येक पक्ष की समीक्षा कर उन्हें कानून रूप में स्वीकार करने में सहायता देती है।

(२) एकसदनात्मक विधानपालिका स्वेच्छाचारी हो जाती है। वह भावावेश में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को खत्म कर अत्याचार पूर्ण कानून बनाती है। वह जनमत के समर्थन के बल पर कार्यपालिका तथा न्यायपालिका इत्यादि सरकार के अन्य विभागों की शक्तियों को भी केन्द्रित करने का प्रयत्न करती है। उसमें सदा ही अपनी अधिकार सीमा के उल्लंघन की प्रवृत्ति रहती है। इस प्रवृत्ति के रोकने का एक मात्र ढंग द्वितीय सदन की व्यवस्था और वैधानिक शक्तियों का प्रथम तथा द्वितीय सदन में समुचित बँटवारा है।

(३) एबेसीयज (Abbe Sieyes) का यह कथन भी गलत है कि दूसरा सदन पहले सदन से असहमत होता है तो वह हानिकारक है और यदि सहमत होता है तो अनावश्यक है डा० फाइनर ने इसका उत्तर बड़े सुन्दर शब्दों में दिया है 'यदि दोनों सदन सहमत होते हैं तो विधान की न्यायपूर्णता और विवेकशीलता पर हमारे विश्वास के लिए और भी अधिक बल मिलता है और अगर वे असहमत होते हैं तो लोगों को मौका मिलता है कि वह अपने दृष्टिकोण पर एक बार फिर विचार करें"[1] इस प्रकार द्वितीय सदन की उपस्थिति न केवल कानून पर दुबारा विचार करने का अवसर प्रदान करती है अपितु जनता को भी यह अवसर देती है कि वह भावी कानूनों पर अपनी राय दे।

(४) द्वितीय सदन राज्य के विशिष्ट वर्गों तथा हितों को प्रतिनिधित्व देता है। जहाँ प्रथम सदन में बहुमत का प्राबल्य होता है, वहाँ द्वितीय सदन में विभिन्न अल्पमतों और स्वार्थों को समान प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। जहाँ निचला सदन राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करता है और जनसाधारण की भावनाओं को प्रतिबिम्बित करता है, वहाँ उच्च सदन कुलीनवर्ग, धनिक वर्ग तथा जमींदारों के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करता है। यह न केवल कानून को अतिशय मौलिक होने से ही बचाता

1. "If the two Assemblies agree, so much the better for our belief in the wisdom and justice of the law, if they disagree, it is time for the people to reconsider their attitude"—*Dr Finer.*

है, बल्कि ऐसे कानूनो को भी पास होने से रोकता है जो एक तो वर्गगत स्वार्थों की ही रक्षा करते हैं और दूसरा समाज के आधारभूत जीवन मे मौलिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न करते हैं। ब्लशली का कथन है कि राज्य के अन्तर्गत कुलीन तथा प्रजातन्त्रात्मक तत्वो के भेद की उपेक्षा समाज के एक वर्ग के प्रति अन्यायजनक होगी।

(५) वर्तमान काल मे द्विसदनात्मक विधानपालिका का महत्त्व और भी अधिक हो गया है। राज्य के कर्त्तव्यो की अभिवृद्धि के फलस्वरूप कार्याधिक्य के कारण विधानपालिकाएँ विभिन्न बिलो पर ठीक-ठीक विचार नही कर पाती। वैधानिक कार्य की प्रकृति भी पहले से अपेक्षाकृत अधिक जटिल और विशेषज्ञता वाली हो गई है। ऐसी अवस्था मे द्वितीय सदन तथा प्रथम सदन मे कार्य-विभाजन हो सकता है। अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण बिलो पर ऊपरले सदन मे विचार किया जाता है। जब कि निम्न सदन महत्त्वपूर्ण बिलो के विवेचन पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है। इस प्रकार का श्रम-विभाजन विधान-निर्माण मे कुशलता को पैदा करता है।

(६) प्रत्येक राज्य मे कुछ ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति होते हैं जो किन्ही कारणो से चुनाव लडना पसन्द नही करते। अगर ऐसे व्यक्तियो को विधान-सभाओ मे न लाया जाय तो राष्ट्र उनकी सेवाओ से वञ्चित रह जाता है। द्वितीय सदन मे ऐसे ही सकोचशील परन्तु प्रतिभाशाली व्यक्तियो को स्थान दिया जा सकता है।

(७) द्वितीय सदन मे सदस्यो की सख्या अपेक्षाकृत कम होती है उनमे से अनेक सदस्य अवकाश प्राप्त उच्चाधिकारी, अनुभवी परन्तु वृद्ध राजनीतिज्ञ, सैनिक अधिकारी इत्यादि होते हैं। साथ ही सदस्यो की कार्यावधि भी लम्बी होती है। इस अवस्था मे वह विधान-निर्माण के विषय मे अधिक अनुभवी हो जाते हैं। यही कारण है कि यह समझा जाता है कि दूसरे सदन मे बिलो का निष्पक्ष तथा समुचित विवेचन हो सकता है।

(८) सघ राज्य मे तो द्वितीय सदन की और भी अधिक आवश्यकता अनुभव की जाती है। क्योकि सघ राज्य मे दो तत्त्व होते हैं—राज्य और जन-साधारण। सघ राज्यो मे राज्यो की स्वतन्त्र स्थिति होती है। राष्ट्रीय विधानपालिका मे राज्यो को तथा जन-साधारण दोनो को ही प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। अत जहाँ निम्न सदन सघ राज्य की सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करता है वहाँ द्वितीय सदन राज्यो का। सघ राज्यो का ऐसा पृथक् प्रतिनिधित्व इसलिए आवश्यक समझा जाता है ताकि वह बहुमत के अत्याचार से अपनी रक्षा कर सकें और वैधानिक समस्याओ पर अपने विचार प्रगट कर सकें। आज के सभी सघ राज्यो मे द्विसदनात्मक विधान-पालिका की व्यवस्था की गई है।

द्विसदनात्मक व्यवस्था का विरोध—वर्तमान काल मे द्विसदनात्मक विधान-पालिकाओ की कार्यवाहियो के प्रति पर्याप्त असन्तोष प्रगट किया जाता है। इस असन्तोष के अनेक कारण हैं। सैद्धान्तिक रूप से ही द्विसदनात्मक व्यवस्था को

त्रुटिपूर्ण माना जाता है, यह हम पीछे लिख ही आये हैं।

श्री ए० एस० आयंगर का कथन है कि "द्विसदनात्मकता (Bi-cameralism) का सिद्धान्त अब समाप्त प्राय हो चुका है। उसके कथनानुसार द्विसदनात्मक-प्रणाली का आधार प्रजातन्त्र मे विश्वास की न्यूनता और अल्पसंख्यकों को आश्वस्त करने की इच्छा है।" श्री आयंगर का कथन है कि "दूसरे सदन की व्यवस्था इसलिए बना रखी गई है कि जिससे राजनीतिक दलों के उन व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी होने का अवसर मिले जिन्हे पहले सदन मे स्थान नहीं मिल पाता। दल के भीतर पारस्परिक नेतागिरी की होड कुछ कम हो और साधारण रूप से पार्टी के प्रभाव का दायरा बढे।"

यह कहना भी गलत है कि द्वितीय सदन की आवश्यकता अविवेकपूर्ण तथा जल्दबाजी मे पास किये गये कानूनो को रोकने के लिए है। प्रो० लास्की का कथन है कि आधुनिक राज्यो के लिए एकसदनात्मक प्रणाली सब से अच्छी है। वर्तमान हालत मे किसी भी संशोधन करने वाले सदन की आवश्यकता नही। प्रत्येक बिल को पास करने से पहले उस पर न केवल विधानपालिका ही मे अपितु राजनीतिक दलो की कार्यकारिणियो मे भी विस्तारपूर्वक विचार कर लिया जाता है। विधानपालिकाओं मे भी अलग-अलग कमेटियो द्वारा बिल का परीक्षण किया जाता है, फिर उसके तीन वाचन भी होते हैं और तब जाकर उसे कानून का रूप मिलता है। ऐसी व्यवस्था मे किसी दूसरे सदन की व्यवस्था करना अनावश्यक है।

अल्पमत के अधिकारो की सुरक्षा संवैधानिक व्यवस्था द्वारा अधिक सुविधा-पूर्वक की जा सकती है। विधानपालिका के एक विशेष सदन मे स्थान देकर तो उन्हे हमेशा के लिए एक अलग इकाई के रूप मे स्थायी बना देना होगा। कुलीन वर्ग या जमींदार और धनिक वर्ग को विधानपालिका मे विशेष स्थान देने की व्यवस्था प्रजातन्त्र-प्रणाली के विपरीत है। प्रजातन्त्र जन-सामान्य की समानता मे यकीन करता है न कि विभिन्न वर्गों की उच्चता मे। जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व एक सदन मे ही सम्भव है, दो मे नही। फिर, व्यावहारिक रूप से सदा यही देखा गया है कि उच्च सदन वर्गगत स्वार्थों—विशेष रूप से धनिक वर्ग के हितो—का ही ध्यान रखता है, जन-साधारण के हितो की परवाह नही करता। उच्च सदन सदा अप्रगतिशीलता तथा रूढ़िवादिता के गढ होते हैं। इंग्लैण्ड तथा अमेरिका की विधानपालिकाओ का इतिहास इस बात का साक्षी है कि दूसरा सदन सदा ही निहित-स्वार्थों (Vested interests) का पोषक होता है और प्रगतिशील कानूनों का शत्रु होता है।

एक सदन की तानाशाही के विरुद्ध तो अन्य अनेक सुरक्षा व्यवस्थाएँ की जा सकती हैं। कार्यपालिका को अस्थायी या सीमित निषेधाधिकार (Limited veto) देकर विधानपालिका की अबाध शक्ति को नियन्त्रित किया जा सकता है। इसी प्रकार जनमत संग्रह (Referendum) की व्यवस्था की जा सकती है। दो सदन की व्यवस्था बहुत खर्चीली तथा महँगी पड़ती है।

यह कहना भी गलत है कि द्विसदनात्मक व्यवस्था संघ राज्य के लिए अत्यन्त

ावश्यक है। प्रो० लास्की का विचार है कि राजनीतिक दलो की व्यवस्था के जन्म के फलस्वरूप विधानपालिकाओ के सदस्य अपनी पार्टी के लिए वोट देना अधिक उपयुक्त समझते हैं, वे अपने राज्य की नागरिकता को तो भूल ही जाते हैं। फिर मघ-राज्य मे भी धीरे-धीरे एक राष्ट्रीयता का जन्म हो जाता है जिसके फलस्वरूप राज्यो को पृथक् प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता ही नही रहती।

यदि उपर्युक्त सभी तर्कों को एक ओर रख दिया जाय और द्वितीय सदन के सगठन की व्यावहारिक समस्या पर ही विचार किया जाय तो हमे स्पष्ट हो जायगा कि यह कितना विकट प्रश्न है। यह वात तो सभी मानते हैं कि द्वितीय सदन प्रथम सदन से विभिन्न आधार पर सगठित होना चाहिए। परन्तु यह आधार क्या होना चाहिए? इस विषय मे वहुत मत-भेद हैं। साधारणतया द्वितीय सदन के सगठन के चार प्रकार हैं —

(१) वशानुगत (Hereditary)।

(२) अशत. निर्वाचित अशत नामजद (Partly elected and Partly nominated)।

(३) पूर्णत नामजद (Nominated)।

(४) निर्वाचित (Elected)।

वशानुगत विधान-निर्माताओ की वात वैसे ही निरर्थक है जैसे कि वशानुगत गणित-शास्त्री या न्याय,धीश अथवा कवि की। विधान-निर्माण के कार्य को वशानुगत आधार पर आधारित करना सर्वथा अवौद्धिक है। इग्लैण्ड मे हाउस ऑफ लार्ड्स अधिकाश मे वशानुगत आधार पर ही सगठित किया गया है, परन्तु इस व्यवस्था को सर्वथा अप्रजातान्त्रिक माना जाता है। अनेक वार उस व्यवस्था को परिवर्तित करने के गम्भीर प्रयत्न किये गये हैं।

द्वितीय सदन के निर्माण का दूसरा तरीका नामजदगी है। विधानपालिका अशत नामजद हो सकती है और पूर्ण रूप से भी। परन्तु नामजदगी का असूल ही अर्थहीन है, विशेष रूप से आज के प्रजातन्त्र के युग मे। क्योकि नामजदगी हमेशा कार्य-पालिका द्वारा ही की जायगी, जैसा कि कनाडा मे होता है। ऐसी अवस्था मे नामजदगी दलबन्दी के आधार पर होगी। मन्त्रिमण्डल अपने राजनीतिक सहयोगियो और समर्थकों से ही द्वितीय सदन को भरने का प्रयत्न करेगा। अत नामजदगी का आधार विभिन्न सदस्यो के गुण न होकर उनकी राजनीतिक दलबन्दी होगी। नामजद सदस्य किसी का प्रतिनिधित्व नही करते, सिवा नामजद करने वाले अधिकारियो के। ऐसी अवस्था मे उनसे स्वतन्त्रता की क्या उम्मीद की जा सकती है। अशत निर्वाचित और अशत' नामजद सदन सदा ही दो भागो मे वँटा रहेगा। पूर्णतया नामजद सदन अपनी कमजोरी को स्वय ही अनुभव करता है, वह कभी भी स्वतन्त्र विचार प्रगट नही कर सकता। द्वितीय सदन के निर्वाचन की भी व्यवस्था की जा सकती है। परन्तु निर्वाचन की व्यवस्था क्या हो? अगर तो द्वितीय सदन का निर्वाचन भी उसी आधार पर हो जिस पर कि प्रथम सदन का होता है तो न केवल वह अव्यावहारिक

ही होगा अपितु अनेक कठिनाइयां भी उत्पन्न कर देगा। दोनों सदन एक जैसे अधिकारो की मांग कर सकते हैं और एक ही प्रकार के अधिकार देने का परिणाम पारस्परिक-कलह तथा गत्यावरोध होगा। अगर द्वितीय सदन का निर्वाचन, शिक्षा, सम्पत्ति तथा अन्य प्रकार के आधार पर हो तो वह निहित-स्वार्थों (Vested interests) का एक गढ बन जायगा। ऐसा सदन रूढिवादिता तथा अप्रगतिशीलता का केन्द्र बन जाता है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन भी सम्भव है, परन्तु जैसा कि प्रो० लास्की का कथन है, भ्रष्टाचार फैलाने वाले सभी साधनो मे अप्रत्यक्ष चुनाव का साधन सब से प्रमुख है। यही कारण है कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे सीनेट के अप्रत्यक्ष चुनाव को त्यागना पडा। इस प्रकार द्वितीय सदन के सगठन की कोई भी सर्वमान्य तथा सन्तोषजनक योजना अब तक नही बन सकी।

दूसरी व्यावहारिक कठिनाई दोनो सदनो के मध्य शक्ति-विभाजन की है। दोनो को समान रूप से शक्ति सम्पन्न नही किया जा सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था मे विधान-निर्माण के विषय मे बहुत गत्यावरोध उपस्थित हो जायेंगे। प्रथम सदन जन-सामान्य का प्रतिनिधि होता है अत उसे उच्च सदन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होना ही चाहिए। सैद्धान्तिक रूप से वित्तीय बिलो (Money bills) को छोड अन्य सभी विषयो मे दोनो सदन बराबर होते हैं, परन्तु व्यवहार मे ऐसा नही होता। प्राय. सर्वत्र मन्त्रिमण्डल निचले सदन (Lower House) को ही जिम्मेदार होता है। भारत, इंग्लैण्ड, कनाडा तथा फ्रास इत्यादि राज्यो मे मन्त्रिमण्डल निचले सदन को ही उत्तरदायी होता है। भारत मे विभिन्न राज्यो मे जहाँ कहीं विधानपालिका का संगठन द्विसदनात्मक सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, वहाँ भी निचला सदन उच्च सदन से अधिक शक्ति सम्पन्न होता है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि दूसरा सदन वित्तीय बिलो (Money bills) के विषय मे असाधारण रूप से शक्तिहीन होता है। आजकल जो सदन वित्तीय मामलो का नियन्त्रण करता है वही शक्तिशाली तथा प्रमुख समझा जाता है। न केवल वित्तीय मामलो मे ही अपितु साधारण कानूनो के निर्माण मे भी निचला सदन (Lower House) अधिक शक्तिशाली होता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट हो जाता है कि तर्क के आधार पर तो द्विसदनात्मक व्यवस्था खरी नही उतरती। द्विसदनात्मकता का रिवाज ही चल पड़ा है जिसका अनुसरण सभी जगह किया जाता है, छोटे राज्यों मे अवश्य ही द्विसदनात्मक विधानपालिका को खत्म किया जा रहा है, परन्तु बड़े राज्यो मे ऐसा नही हो रहा। भविष्य मे भी इनके खत्म होने की आशा नही की जा सकती। यह आशा भी नही की जा सकती कि उच्च सदन की शक्तियो मे अभिवृद्धि हो या उसे भिन्न प्रकृति के कामो को सौपा जाय। इंग्लैण्ड तथा फ्रास इत्यादि देशो की विधानपालिकाओ का इतिहास यही बतलाता है कि दिन-प्रतिदिन उच्च सदन की शक्तियां घट रही है और निचला सदन अधिक शक्ति सम्पन्न हो रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका मे अवश्य ही सीनेट पर्याप्त शक्ति सम्पन्न है, वह निचले सदन से भी अधिक शक्तिशाली है, परन्तु

इसके कुछ विशेष कारण हैं। वहाँ द्वितीय सदन ही प्रथम सदन है अन्यत्र द्वितीय सदन का काम पुनर्विचार के अतिरिक्त कुछ नही होता।

१२७ जनता द्वारा प्रत्यक्ष कानून-निर्माण (Direct Legislation by people)

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के अन्तर्गत कानून-निर्माण का कार्य प्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण जनता द्वारा होता था। परन्तु वर्तमान काल मे विशालकाय राष्ट्रीय राज्यो के सगठन के फलस्वरूप करोडो नागरिको का एक स्थान पर एकत्र हो कानून-निर्माण सम्बन्धी कार्यो को कर सकना असम्भव है। इसलिए सभी जगह प्रतिनिधि सस्थाओ की व्यवस्था रहती है। यह प्रतिनिधि सस्थाएँ (Representative bodies) जनता द्वारा कुछ अर्से के लिए चुनी जाती हैं और जनता की ओर से ही ये कानून-निर्माण का कार्य करती है और शासन-कार्य चलाती हैं। परन्तु हाल ही मे प्रतिनिधि सस्थाओ के कार्य से जन-साधारण मे असन्तोष की भावना फैल गई है, जनसाधारण अपने प्रतिनिधियो मे विश्वास खो बैठा है। प्रतिनिधि सस्थाएँ पार्टीबाजी, भ्रष्टाचार तथा अनावश्यक पक्षपात के कारण बदनाम हो गई हैं। अत अनेक स्थानो पर जन-साधारण ने कानून-निर्माण तथा शासन-सचालन मे प्रत्यक्ष भाग लेने की माँग की। सयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, सोवियत रूस तथा स्विट्जरलैण्ड मे प्रत्यक्ष कानून-निर्माण के साधनो को अपनाया गया। सोवियत रूस तथा स्विट्जरलैण्ड में तो लोक-सम्मत प्रभुता (Popular sovereignty) के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के के लिए ही इन साधनो को अपनाया गया। सोवियत रूस मे जनता यदि अपने प्रतिनिधियो के व्यवहार तथा कार्य से सन्तुष्ट नही तो उसे अधिकार है कि वह उन्हें वापिस बुला ले और उनकी जगह नये प्रतिनिधियो को चुने, स्विट्जरलैण्ड के राज्यो में कही-कहीं जन-सामान्य को प्रत्यावर्तन (Recall) का अधिकार दिया गया है। सयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यो में भी ऐसी व्यवस्था मिल जाती है।

जनता द्वारा प्रत्यक्ष कानून-निर्माण की व्यवस्था का सर्वाधिक प्रचलन स्विट्जरलैण्ड में है, प्रत्यक्ष कानून-निर्माण के दो साधन हैं—

(१) जनमत-सग्रह (Referendum)

(२) प्रस्तावाधिकार (Initiative)

(१) जनमत-सग्रह—(Referendum)—की व्यवस्था उन सभी कानूनो तथा सवैधानिक सशोधनो के लिए की जाती है जिन्हें कि विधानपालिका पास कर चुकती है। जब कभी विधानपालिका किसी भी बिल को या सवैधानिक सशोधनो को पास करे और वह तबतक अन्तिम रूप से कानून न बन सके जबतक कि जनता उस पर अपना मत प्रगट न कर दे, और निर्वाचको का बहुमत उसे स्वीकार न कर ले, तो ऐसी व्यवस्था का नाम जनमत-सग्रह (Referendum) है। जनमत-सग्रह के दो प्रकार हैं—ऐच्छिक जनमत-सग्रह (Optional Referendum) तथा अनिवार्य जनमत-सग्रह (Compulsory Referendum)। स्विट्जरलैण्ड मे

जनमत-सग्रह की दोनो प्रणालियो का प्रचलन है। यह आवश्यक नही कि विधान-पालिका द्वारा पास किये गये सभी विल कानून तभी वने जव कि जनमत-संग्रह में उन्हें निर्वाचको के वहुमत द्वारा स्वीकार करवा लिया जाये। ऐच्छिक जनमत-सग्रह जनता की मांग पर होता है। स्विट्ज़रलैण्ड मे यदि तीस हजार निर्वाचक या आठ राज्य सरकारें विधानपालिका द्वारा पास किये गये किसी भी विल पर जनमत-सग्रह की मांग करें तो जनमत-संग्रह होता है, ऐसी व्यवस्था ऐच्छिक जनमत-संग्रह (Optional Referendum) के अन्तर्गत आती है।

जव विशेष प्रकार का विल तवतक कानून न वने जवतक कि उस पर जनमत-सग्रह न हो जाय तो वह अनिवार्य जनमत-संग्रह (Compulsory Referendum) कहलाता है। स्विट्ज़रलैण्ड में प्रत्येक सवैधानिक संशोधन कानून का रूप धारण करने से पूर्व जनमत-सग्रह द्वारा अनिवार्य रूप से जनता से मजूर कराया जाता है।

(१) **प्रस्तवाधिकार** (Initiative)—जनमत-सग्रह की व्यवस्था तो जन-साधारण को केवल निषेधात्मक (Negative) अधिकार देती है, उस द्वारा जनता केवल उसे विधानपालिका द्वारा पास किये गये विलो पर ही अपनी राय दे सकती है, उसे अपनी मर्जी के अनुसार कानून वनाने का विधेयात्मक (Positive) अधिकार भी होना चाहिए। इस व्यवस्था द्वारा निर्वाचको को कानून-निर्माण मे स्वय आगे वढने का मौका मिलता है। प्रस्तावाधिकार के अन्तर्गत मतदाताओ की एक निश्चित संख्या किसी एक निश्चित विषय पर कानून वनाने की प्रार्थना करती है। ऐसी अवस्था मे विधानपालिका को जनता द्वारा सुझाए हुए विषयो पर उसी प्रकार विचार करना होता है जैसे कि सरकारी विलों पर। प्रस्तावाधिकार को प्राप्त कर जन-साधारण के लिए यह आवश्यक नही कि वह सदा कानून-निर्माण के लिए विधानपालिका के सदस्यों पर ही आश्रित रहे। अगर वे किसी विशेष प्रकार के कानून को राष्ट्रीय-हित के लिए आवश्यक समझते हैं तो वे इस विषय में स्वयं भी कदम उठा सकते हैं। प्रस्तावाधिकार दो प्रकार का होता है—(१) एक प्रकार के अन्तर्गत तो निर्वाचक वाकायदा विल का मसौदा वनाकर पेश करते हैं, (२) दूसरे के अन्तर्गत विल की आवश्यकता को प्रदर्शित कर उसकी नीति का निर्देश मात्र करते हैं और वास्तविक मसौदे के निर्माण को विधानपालिका पर छोड देते हैं।

जव कभी प्रस्तावाधिकार के अन्तर्गत पेश किये गये विलों को विधानपालिका पास कर देती है तो उनपर जनमत संग्रह होता है और जनता के वहुमत द्वारा स्वीकार किये जाने पर ही वह अन्तिम रूप से कानून वनते हैं। स्विट्ज़रलैण्ड मे संवैधानिक सुधार के लिए पच्चास हजार नागरिको द्वारा प्रस्तावाधिकार के अन्तर्गत विल का मसौदा पेश किया जा सकता है। सयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यो में भी साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून दोनो ही क्षेत्रो मे प्रस्तावाधिकार की व्यवस्था है।

मूल्यांकन—जनता द्वारा विधान-निर्माण के इन साधनो की अनेक आधारो

पर प्रशसा की जा सकती है। जनसम्मत प्रभुता तथा लोकतन्त्र की वास्तविक भावना का जितना अच्छा और असली इस्तेमाल इस व्यवस्था द्वारा होता है, वैसा अन्यत्र नही हो सकता। प्रतिनिधि व्यवस्था जन-सामान्य की इच्छाओ का प्रतिनिधित्व नही कर सकती। चुनाव के दौरान मे अनेक वाह्य प्रभावो से प्रभावित हो निर्वाचक अपने वोट के अधिकार का इस्तेमाल करते हैं। वह अपनी स्वतन्त्र तथा वास्तविक इच्छा को प्रगट नही कर सकते। जनतन्त्र के इन प्रत्यक्ष साधनो द्वारा वे स्वय राजनीतिक मामलो मे हिस्सा लेते हैं, उन्हें समझने का प्रयत्न करते हैं और उन पर अपना मत प्रगट करते हैं। यह पद्धति जन-सामान्य के लिए शिक्षाजनक होती है और उनमे राजनीतिक चेतना उत्पन्न करती है। तीन साल या चार साल वाद चुनाव होते हैं और इस अर्से के दौरान मे मतदाताओं को अपने मत को प्रभावशाली ढग से प्रगट करने का कोई साधन ही प्राप्त नही होता। परन्तु जव वह स्वय कानून-निर्माण करते हैं और विभिन्न कानूनो के गुणावगुण की समीक्षा करते हैं तो उन्हे असली अर्थ मे राजनीतिक मामलो मे भाग लेने का मौका मिलता है, तथा उन्हे काफी राजनीतिक शिक्षा मिलती है। कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधन जन-साधारण मे जिम्मेदारी तथा राष्ट्र भक्ति की भावनाओ को भी पैदा करते हैं। जव लोग यह अनुभव करें कि सभी कानून उन्ही की रजामन्दी पर आधारित हैं और उनके निर्माण में उन्होने सक्रिय भाग लिया है तो निश्चय ही उनमे कानून मानने की भावना का अधिक विस्तार होगा। वे यह महसूस करेंगे कि अपने द्वारा ही पास किये गये कानूनों को मानना उनका धर्म है।

कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधन राजनीतिक पार्टियो की महत्ता को घटाते हैं, विधानपालिकाओ में फैले भ्रष्टाचार को खत्म करते हैं और वहुमत की निरकुशता मिटाते हैं। अमेरिका तथा इग्लैण्ड की विधानपालिकाओ की कार्यवाही से स्पष्ट है कि विधानपालिकाओ के सदस्य पूंजीपति लोगो द्वारा खरीदे जा सकते हैं। इसी प्रकार पार्टीबाजी के कारण सदस्य-गण अपने पार्टी-नेताओ को खुश करने के लिए उचित-अनुचित का ध्यान किये बिना उनकी मर्जी के अनुसार अपना मत प्रगट करते हैं। श्री श्रीनिवास आयगर का कथन है कि **"इससे दलबन्दी की भावना वढ़ने नहीं पाती। राष्ट्रीयशील-सामर्थ्य को वल मिलता है और यह राजनीतिक व्यवहार की शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन है।"**

कानून-निर्माण के साधन विधानपालिका को अधिक गम्भीर तथा जिम्मेदार वना देते हैं। उन्हे वह मालूम होता है कि उनके विधान-निर्माण सम्बन्धी कार्यो की देख-भाल जनता ने करनी है। दूसरा विधान-निर्माता प्रत्येक समय जनता की आवश्यकताओ तथा मांगो को अपने ध्यान मे रखते हैं।

परन्तु कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधनो की कडी आलोचना भी की जाती है। आज के युग में विधान-निर्माण विशेष योग्यता तथा अनुभव का विषय है। उसमें पर्याप्त जटिलता होती है, जन-साधारण उन्हें समझ ही नही सकता अत वह उन पर अपना विचार ठीक-ठीक रूप से प्रगट नही कर पाता। यह कहना भी गलत है कि इन साधनों से राजनीतिक दलो का प्रभाव घट जाता है। वस्तुत ऐसे ही समय मे राज-

नीतिक पार्टियाँ प्रचार के साधनो का प्रयोग पूरी तरह करती हैं और जनता की भावनाओ को उभारती हैं। जनता को सम्पूर्ण विल पर विचार करने का अवसर ही नही मिलता। उन्हे केवल 'हाँ' या 'नही' मे अपना मत प्रगट करना होता है। महत्त्व-पूर्ण राजनीतिक मसलो पर केवलमात्र 'हाँ' या 'नही' द्वारा जनता का मत किस प्रकार स्पष्टता से प्रगट किया जा सकता है? साधारण जनता का दृष्टिकोण तग तथा अप्रगतिशील होता है अत. वह सदा ही प्रगतिशील कानूनो को अस्वीकार कर देती है। इन साधनो का शिक्षात्मक मूल्य भी विशेष नही, क्योकि जन-साधारण तो चुनाव के तथा वोट डालने के अवसरो की सख्या को घटाना चाहता है। व्यावहारिक रूप से यही देखा गया है कि निर्वाचको की एक वडी सख्या ऐसे अवसरो पर अनुपस्थित रहती है, वह इन मामलो मे कोई विशेष दिलचस्पी ही नही लेती।

प्रत्यक्ष कानून-निर्माण विधानपालिकाओ की जिम्मेदारियों को घटाता है, योग्य सदस्यो तथा राजनीतिज्ञो को मजबूर करता है कि वे चुनाव न लडें, विधान-पालिका के काम-काज में भाग न लें, क्योकि उनके रचनात्मक तथा उपयोगी काम-काज को भी जनता अस्वीकार कर सकती है।

प्रस्तावाधिकार के फलस्वरूप अस्पष्ट तथा अपरिपक्व विल भी कानून वन जाते हैं। विलो के मसौदे ऐसे लोगो द्वारा तैयार किये जाते हैं जो कानून की पेचीद-गियो के विषय मे कुछ भी नही जानते। इस कारण ऐसे-ऐसे विल तैयार किये जाते हैं जिन की कानूनी भाषा वहुत ही दोषपूर्ण होती है।

प्रत्यक्ष विधान-निर्माण की व्यवस्था केवल छोटे-छोटे राज्यों मे ही सफल हो सकती है, वडे-वडे राज्यो मे नही। यही कारण है कि वडे-वडे राज्यो मे अभी तक इन साधनो को नही अपनाया गया।

कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष साधन प्रजातन्त्र की भावनाओ के अनुकूल होते हुए भी इन सभी कारणो से सर्वप्रिय नही हो सके।

Important Questions

	Reference
1. Describe the functions of modern legislature. *(Agra 1942, 36)*	Art. 125
2. Discuss the position and utility of Second Chamber in modern states *(Ag. 1943, All 1941., Pb. 1931., Nag. 1946., Cal 1944, 1943, Pat. 1936)*	Art 126
3. Are you in favour of Unicameralism or Bicameralism? State your reasons. *(Pb. 1954)*	Art 126
4 Describe the extent to which the Referendum, the Initiative and Recall are used in different countries What are their respective merits and demerits? *(All 1944, Pb. 1943, 1940., Pat. 1944, Nag. 1944)*	Art 127

कार्यपालिका का संगठन तथा कार्य

ORGANISATION AND FUNCTION OF THE EXECUTIVE

१२८ कार्यपालिका शब्द की व्याख्या

कार्यपालिका सरकार का दूसरा अंग है। कार्यपालिका उस व्यक्ति-समूह को कहते हैं जिसका उद्देश्य विधानपालिका द्वारा बनाये गये कानूनो को लागू करना है। डा० गार्नर के मतानुसार "व्यापक एव सामूहिक अर्थ मे कार्यपालिका विभाग के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी, राज-कर्मचारी तथा एजेन्सियां आ जाती हैं जिनका कार्य राज्य की इच्छा को, जिसे विधानपालिका ने प्रगट कर कानून का रूप दे दिया है, कार्यरूप मे लागू करना है।"[1] इस व्याख्या के अनुसार कार्यपालिका के अन्तर्गत निम्नलिखित एजेन्सियां शामिल होगी—

(१) राज्य तथा कार्यपालिका का अध्यक्ष (Head of the State and the Executive) जैसे सम्राट्, राष्ट्रपति या प्रधान।

(२) प्रधान मन्त्री समेत मन्त्रिमण्डल (Prime Minister along with the Council of Ministers)—इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रशासकीय विभागो के अध्यक्ष भी आ जाते हैं।

(३) प्रशासकीय अधिकारी (Civil servants)—पुलीस तथा सेना के अधिकारीगण।

कुछ फ्रेंच विचारक सरकार का द्विसत्तात्मक विभाजन करते हैं। उनके मतानुसार सरकार के दो विभाग हैं—(१) विधानपालिका, तथा (२) कार्यपालिका। न्यायपालिका को वह कार्यपालिका का ही एक भाग समझते हैं। अगर न्यायपालिका को कार्यपालिका का ही एक भाग समझ लिया जाए तो इसके अन्तर्गत न्यायपालिका के अधिकारीगण भी आ जायेंगे।

कार्यपालिका शब्द का सकुचित अर्थ में प्रयोग—परन्तु 'कार्यपालिका' शब्द का प्रयोग राजनीति शास्त्र के उपर्युक्त विस्तृत अर्थ मे नही अपितु सकुचित अर्थ मे किया जाता है। इस अर्थ मे कार्यपालिका मे केवल वही व्यक्ति आते हैं जिनका कर्त्तव्य नीति-निर्धारण, योजना-निर्माण तथा कानून की कार्यान्विति को देखना है और जो सैनिक एव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे प्रतिनिधित्व करते हैं। यह प्रशासकीय अधिकारियो से

1 "In a broad and collective sense the executive organ embraces the aggregate or totality of all the functionaries and agencies which are concerned with the execution of the will of the state as that will has been formulated and expressed in terms of law."—*Garner*

भिन्न होते हैं। प्रशासन का यथार्थ कार्य तो सरकारी कर्मचारी या नौकर करते हैं। अमेरिका मे राष्ट्रपति तथा उसका मन्त्रिमण्डल, इग्लैण्ड मे सम्राट्, प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल और भारत में राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री और सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल कार्यपालिका की इस तरह व्याख्या के अन्तर्गत आते हैं। इनका कार्य प्रशासकीय नीति निर्धारण करना और प्रशासकीय विभाग के कार्य की देख-भाल करना है। इसे राजनीतिक कार्यपालिका (Political Executive) भी कहा जाता है।

नाम मात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executives)—कार्यपालिका नाम मात्र की भी हो सकती है और वास्तविक भी। कार्यपालिका का ऐसा भेद हाल ही मे किया जाने लगा है, पहले ऐसा नही किया जाता था। हम पीछे देख चुके है कि प्रभुता के भी दो रूप माने गए हैं—नाम मात्र की प्रभुता तथा वास्तविक प्रभुता। इग्लैण्ड मे पार्लियामेण्ट की शक्तियो के विकास के फलस्वरूप नाम मात्र की प्रभुता तथा वास्तविक प्रभुता मे अन्तर किया जाने लगा। इग्लैण्ड मे ही वास्तविक तथा नाम मात्र की कार्यपालिका मे विभेद का प्रचलन हुआ। इग्लैण्ड का सम्राट् कभी किसी समय अबाध शक्ति सम्पन्न था, परन्तु अब वह नाम मात्र की या आलंकारिक कार्यपालिका है। वह राज्य करता है पर शासन नही करता। उसके मन्त्री ही सम्पूर्ण शासन-कार्य के लिए जिम्मेदार हैं। इग्लैण्ड मे कहा जाता है कि सम्राट् कोई गलती नही कर सकता, दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ यही है कि शासन के काम-काज के लिए वह स्वय जिम्मेदार नही होता। उसका मन्त्रिमण्डल ही उसके लिए उत्तरदायी होता है। इस अवस्था मे मन्त्रिमण्डल वास्तविक और सम्राट् नाम मात्र की कार्यपालिका है। सम्राट् विधानपालिका के अधिवेशन बुलाता है, उसे स्थगित कर सकता है और भंग भी करता है। वह प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता है, परन्तु इन कार्यों के करने मे भी उसे कोई विशेष स्वतन्त्रता प्राप्त नही होती।

भारत मे राष्ट्रपति के पद की व्यवस्था की गई है, सवैधानिक रूप से उसकी स्थिति अमेरिकन राष्ट्रपति से भी मजबूत है। उसे वे सब अधिकार तो प्राप्त हैं ही जो कि अमेरिका के राष्ट्रपति को हैं, परन्तु सकटकालीन स्थिति मे तो वह और भी अधिक शक्ति-सम्पन्न हो जाता है, वास्तव मे उसकी स्थिति ब्रिटिश सम्राट् तथा फ्रेंच राष्ट्रपति के बीच की है। भारत के राष्ट्रपति को कुछ असाधारण अधिकार सौंपे गए हैं, जो साधारणत पार्लियामेण्ट्री शासन के अन्तर्गत एक नाम मात्र के मुखिया को नही दिए जाते। उसकी स्थिति अभी तक अस्पष्ट है, पर्याप्त काल तक इस पद पर कार्य करने वाले व्यक्तियो के वास्तविक व्यवहार से ही यह स्पष्ट होगी। भारत मे वास्तविक कार्यपालिका प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल है।

अमेरिकन शासन-पद्धति के अन्तर्गत राष्ट्रपति आलकारिक तथा वास्तविक दोनो ही तरह की कार्यपालिका है। वह उन सभी शक्तियो का स्वय प्रयोग करता है जो कि सविधान द्वारा उसे प्राप्त हैं। विधानपालिका उसकी शक्तियो का नियन्त्रण तथा नियमन नही करती, वह उसके नियन्त्रण से मुक्त है। वह अपने मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति अपने आप करता है, वह उसको ही जिम्मेदार है। वह अपनी कार्यपालिका

सम्बन्धी शक्तियों के प्रयोग के लिए स्वय जिम्मेदार है, उन्हे वह किसी अन्य अधिकारी को नही सौंप सकता।

नाम मात्र की कार्यपालिका तथा वास्तविक कार्यपालिका का अन्तर केवल पार्लियामेण्ट्री शासन द्वारा शासित राज्यो मे ही किया जाता है।

ऊपर हमने बतलाया है कि कार्यपालिका का नाम मात्र का मुखिया शासनतत्र के वास्तविक सचालन के लिए उत्तरदायी नही होता। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही कि वह अपने विचारो से अपने मन्त्रिमण्डल को प्रभावित न करता हो। प्रत्येक सम्राट् या राष्ट्रपति का अपना व्यक्तित्व होता है, उसकी अपनी प्रशासकीय धारणाएँ होती हैं जिनसे वह शासन नीति को प्रभावित करते रहते हैं। सम्राट् तथा राष्ट्रपति अनुभवी व्यक्ति हो सकते हैं, उन्हें अपने मन्त्रियो से अधिक प्रशासकीय अनुभव हो सकता है। ऐसी अवस्था मे मन्त्रिमण्डल, उनकी सलाह की उपेक्षा नही कर सकते। जैसा कि बेजहाट ने कहा है कि इग्लैण्ड मे सम्राट् को अधिकार है कि उससे सलाह ली जाय, दूसरा उसे प्रोत्साहन देने का अधिकार है और तीसरा उसे चेतावनी देने का अधिकार है। नाम मात्र का मुखिया चाहे केवल मात्र राजकीय वैभव का ही प्रतीक क्यो न हो और चाहे वह केवल राज्य को औपचारिक रूप से प्रतिनिधित्व देने के लिए ही क्यो न चुना जाता हो, फिर भी वह एक जीवित व्यक्ति है, उसका अपना व्यक्तित्व है, और यही उसके प्रभावोत्पादन के लिए पर्याप्त हैं। कोई भी सम्राट् या राष्ट्रपति कठपुतली मात्र नही हो सकता।

१२९ कार्यपालिका का सगठन

कार्यपालिका के सगठन की व्यवस्था विधानपालिका से भिन्न होती है। विधानपालिका का कार्य कानून-निर्माण है। कानून-निर्माण के लिए विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद की आवश्यकता होती है, अत विधानपालिका मे सदस्यो की अधिक सख्या होती है। परन्तु कार्यपालिका का कार्य विचार-विमर्श नही उसका कार्य विधानपालिका द्वारा प्रकट की गई राज्य की इच्छा के मूर्त-रूप कानूनो को लागू करना है। न्यायपालिका के निर्णयो को लागू करना भी कार्यपालिका का ही काम है। प्रशासकीय कार्यों के करने के लिए शीघ्रता से किए गए निर्णय, नीति की निरन्तरता एव कार्य-प्रक्रिया की गोपनीयता (Secrecy) आवश्यक है। विधान-निर्माण मे जहाँ विचार-विमर्श तथा समझौता आवश्यक है वहाँ कार्य-पालन मे होशियारी-शीघ्रता तथा शक्तिमत्ता का होना आवश्यक है। अत कार्यपालिका-शक्ति को बहुसख्यक लोगों मे निहित करना खतरनाक होता है, कार्यपालिका-शक्ति एक ही व्यक्ति मे निहित होनी चाहिए। बहुत से व्यक्तियो के मेल से निर्मित एक विशाल परिषद् विधान-निर्माण के लिए ठीक है कार्य-पालन के लिए नहीं। कार्यपालिका की शक्ति को अगर बहुत से व्यक्तियों में बाँट दिया जाय तो वह कमजोर हो जाती है। अमेरिकन न्यायाधीश स्टोरी ने लिखा है कि "सुप्रसिद्ध राजनीति शास्त्रियों ने एकमत से इस बात को स्वीकार किया है कि कार्यपालिका एकात्मक हो और विधानपालिका बहुसंख्यक। उन्होंने

शक्तिमत्ता को कार्यपालिका का परम आवश्यक गुण माना है, इसकी प्राप्ति तभी होती है जब इसे एक व्यक्ति में निहित कर दिया जाय।"[1]

सुप्रसिद्ध अमेरिकन राजनीति-विशारद हैमिल्टन ने भी कार्यपालिका शक्ति के केन्द्रीकरण का ही समर्थन किया है। हैमिल्टन का कथन है कि "कार्यपालिका मे शक्तिमत्ता की उपस्थिति एक श्रेष्ठ शासनतन्त्र का प्रमुख लक्षण है। बाह्य आक्रमण से राज्य की रक्षा के लिए तो यह परम आवश्यक है। कानूनो को लागू करने के लिए न्याय-पालन में बाधा डालने वाले अत्याचारी तथा अन्यायियों के संगठनो से सम्पत्ति की रक्षा के लिए और महत्त्वाकांक्षी लोगों, अराजकतावादी तथा अन्यायी लोगो से नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए भी वह कम आवश्यक नहीं।"[2]

अत सामान्यतया आज सभी जगह यह यकीन किया जाता है कि कार्यपालिका-शक्ति के उत्तरदायित्व की रक्षा के लिए और उसकी शक्तिमत्ता के लिए कार्यपालिका-शक्ति का केन्द्रीकरण होना चाहिए। केन्द्रीकरण के अभाव मे उत्तरदायित्व तथा शक्तिमत्ता का विनाश हो जाता है।

बहुसंख्यक कार्यपालिका (Plural Executive)—कार्यपालिका-शक्ति का विकेन्द्रीकरण भी सम्भव है। जब कभी कार्यपालिका की शक्ति किसी एक व्यक्ति मे केन्द्रित न हो बहुत से व्यक्तियो मे विकेन्द्रित होती है तो वह बहुसंख्यक कापर्यालिका कहलाती है। जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं वर्तमान काल मे स्विस कार्यपालिका बहुसख्यक कार्यपालिका कहलाती है। यह सात सदस्यो की एक परिषद् है, इसका चुनाव विधानपालिका के दोनो सदनो के सम्मिलित अधिवेशन मे होता है। इस मन्त्रिपरिषद् का एक सदस्य एक साल के लिए इसका प्रधान चुना जाता है, इसे ही सघ का राष्ट्रपति कह देते हैं। परन्तु वह एकात्मक कार्यपालिका के मुखिया से सर्वथा भिन्न होता है। उसे किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त नही होते। वह अपनी स्थिति मे मन्त्रिपरिषद के अन्य सदस्यो के बराबर होता है, वह तो कार्यपालिका के अध्यक्ष के रस्मी फर्जो को पूरा करता है। इस कार्यपालिका के सभी सदस्य विधान-मण्डल के प्रति जिम्मेदार होते हैं, परन्तु जब कभी उनकी आलोचना की जाती है या उनकी मांगो को विधान-

---

1. "The most distinguished statesmen have uniformly maintained the doctrine that there ought to be a single executive and numerious legislature. They have considered energy as the most necessary qualification of the executive power, and this is best attained by reposing it in a single hand"—*Story*

2 "Energy in the executive is a leading characteristic in the definition of good government. It is essential to the protection of the community against foreign attacks It is not less essential to the steady administration of the laws, to the protection of property against those irregular and high handed combinations which sometimes interrupt in ordinary course of justice, to the security of liberty against the enterprise and assults of ambitions of faction, and of anarchy."—*Hamilton.*

पालिका द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है तो वे इस्तीफा नहीं देते, वे अपने पदो पर आसीन रहते हैं। इस कार्यपालिका के सदस्य पर्याप्त समय तक लगातार काम करते रहते है, अत उन्हे पर्याप्त प्रशासकीय अनुभव होता है। स्विट्जरलैण्ड की जनता प्रजातान्त्रिक सस्थाओ की सफलतापूर्ण कार्यवाही के लिए विशेष शिक्षित है अत इस प्रकार की वहुसख्यक कार्यपालिका वहाँ सफल हो सकी है।

पुराने समय मे भी वहुसख्यक कार्यपालिकाओ के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। कहा जाता है प्राचीन काल मे यूनान के नगर राज्य स्पार्टा (Sparta) मे दो राजा थे, एथेन्स मे कार्यपालिका-शक्ति वहुत से व्यक्तियो मे वँटी हुई थी। क्रान्ति-कालीन फ्रास मे भी शासन-शक्ति किसी एक आदमी मे केन्द्रित नही की गई थी। वह पाँच व्यक्तियो की एक सामूहिक सस्था (Directory) मे निहित की गई थी। एस्मीन (Esmeen) का कथन है कि फ्रास मे इस सस्था का शासन वहुत कष्टकर था, कभी वह कमजोर हो जाता था तो कभी प्रचण्ड। इसकी कमजोरी के फलस्वरूप ही फ्रास मे खतरनाक तानाशाही की स्थापना हुई। रूस मे भी स्टालिन की मृत्यु के अनन्तर वास्तविक कार्यपालिका शक्ति एक ही व्यक्ति (अधिनायक) के स्थान पर वहुत से व्यक्तियो मे निहित की गई थी। अक्सर ऐसी स्थिति मे 'सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership) के अन्तर्गत फूट पड जाती है आपस मे शासन-सत्ता हथियाने के लिए सघर्ष पैदा होता है और गृह-कलह प्रारम्भ हो जाता है। स्टालिन की मृत्यु के अनन्तर मेलिन्कॉफ द्वारा वेरिया तथा उनके समर्थको का विनाश इस वात का स्पष्ट सूचक है कि 'सामूहिक नेतृत्व' के अन्तर्गत शासन-सत्ता हथियाने के लिए सघर्ष होते रहते हैं।

वहुसख्यक कार्यपालिका के समर्थन मे अनेक तर्क प्रस्तुत किए जाते है। कहा जाता है कि कार्यपालिका के महत्त्वपूर्ण निर्णय यदि वहुत से व्यक्तियो के सम्मिलित विचार-विमर्श के अनन्तर होंगे, तो वह एक व्यक्ति द्वारा किए गए निश्चयो से कही अधिक तर्कसगत तथा विवेकपूर्ण होगे। निश्चय ही एक व्यक्ति की अपेक्षा वहुत से व्यक्ति मिलकर अधिक विवेकपूर्ण फैसले कर सकते हैं। इग्लैण्ड तथा फ्रास इत्यादि राज्यो मे कार्यपालिका एकात्मक नही, वह वहुसख्यक है, ऐसा भी वहुत से विधान-शास्त्रियो का विचार है। उनका कथन है कि सम्राट् या राष्ट्रपति तो केवल नाम मात्र के सत्ताधिकारी है, वास्तविक सत्ता मन्त्रिमण्डल में होती है। मन्त्रिमण्डल मे प्रधान मन्त्री की प्रमुखता अवश्य है परन्तु वह अन्य मन्त्रियो का शासक नहीं, वह उनके वरावर है, उन्ही मे से एक है, अवश्य ही उनमे सर्वप्रथम और प्रमुख है। अत वे उसे वहुसख्यक कार्यपालिका मानते हैं। वस्तुत यह विचार कुछ हद तक ठीक है। क्योकि प्रधान मन्त्री सदा ही अपने साथियो की सलाह की उपेक्षा नहीं कर सकता, उनमे सत्ता का पर्याप्त विकेन्द्रीकरण होता है। परन्तु यह कहना भी गलत है कि शासन-सत्ता का उसमे पूर्ण रूप से विकेन्द्रीकरण है और उसमे प्रधान मन्त्री की स्थिति वही है जो कि स्विट्जरलैण्ड के मन्त्रिपरिषद के प्रधान की होती है।

प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है, वह मन्त्रियो का चुनाव करता

है और आवश्यकता पड़ने पर किसी भी मन्त्री को इस्तीफा देने के लिए मजबूर कर सकता है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री ही शासन-शक्ति का केन्द्र होता है, स्विस-पद्धति के अन्तर्गत इसी केन्द्र का अभाव होता है।

बहुसंख्यक कार्यपालिका का शासन-शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध एक विशेष गारंटी है। एक ही स्थान पर राज्य-शक्ति के केन्द्रीकरण के फलस्वरूप उसके अनियन्त्रित हो जाने की आशंका रहती है। बहुसंख्यक कार्यपालिका के फलस्वरूप कार्यपालिका के अधिनायकतन्त्र की स्थापना की बहुत कम सम्भावना रहती है। फ्रांस में १८१७ ई० में बहुसंख्यक कार्यपालिका की स्थापना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई थी। जन-स्वातन्त्र्य तथा विधानपालिका के अधिकार बहुसंख्यक कार्यपालिका के अन्तर्गत अधिक सुरक्षित समझे जाते हैं। अनुभव के आधार पर भी बहुसंख्यक कार्यपालिका पर्याप्त सफल सिद्ध हुई है, इस विषय में स्विट्जरलैण्ड का उदाहरण दिया जाता है।

परन्तु हैमिल्टन तथा ब्ल्जे इत्यादि विचारकों ने बहुसंख्यक कार्यपालिका को प्रशासकीय दृष्टि से असफल माना है। हैमिल्टन का कथन है कि इतिहास इस बात का गवाह है कि बहुसंख्यक कार्यपालिका का प्रयोग असफल रहा है। उसने इस विषय में एकियन लीग तथा पुराने रोम से कौन्सलों तथा सैनिक ट्रिब्यूनों के उदाहरण दिये हैं।

१३०. कार्यपालिका के अध्यक्ष के चुनाव के प्रकार

कार्यपालिका के निर्वाचन के अनेक प्रकार हैं। प्राचीन तथा नवीन युग में पाये जाने वाली इन चुनाव-पद्धतियों को इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) आनुवंशिक व्यवस्था (The system of hereditary succession)।

(२) जनता द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव (The system of direct election by the people)।

(३) निर्वाचक मण्डल द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव (The system of indirect election by an electoral college)।

(४) विधानपालिका द्वारा चुनाव (The election by the legislature)।

(५) नामजदगी (Nomination)।

आनुवंशिक शासक (Hereditary Executive)—आनुवंशिक शासक की व्यवस्था के जन्म का जिक्र हम पीछे भी कर आये हैं। आज भी अनेक ऐसे राज्य हैं जहाँ पैतृक उत्तराधिकार की व्यवस्था मौजूद है। इसके अन्तर्गत सम्राट् की मृत्यु के अनन्तर उसका सब से बड़ा पुत्र शासनाधिकारी होता है। इंग्लैण्ड में तथा अन्य राजतन्त्रात्मक राज्यों में ऐसी अवस्था का ही प्रचलन है। राजतन्त्र की व्यवस्था का जन्म प्रारम्भिक समाज में युद्ध के फलस्वरूप तथा पितृसत्ताक परिवारों में महापितर की अबाध शक्ति के आधार पर हुआ। बाद में राजतन्त्र की इसी व्यवस्था को दैवीय आधार दिया गया। प्रायः सर्वत्र राजा को ईश्वर-पुत्र या दैवीय-शक्ति का प्रतिनिधि-

माना जाने लगा। जापान, चीन, ईरान, भारत तथा अन्य अनेक पूर्वी तथा पश्चिमी राजाओ की दिव्य प्रकृति के अनेक सिद्धान्त मिल जाते हैं। सैद्धान्तिक रूप से तो राजतन्त्र के अन्तर्गत राजाओ को अबाध शक्ति के प्रयोग का अधिकार होता था, परन्तु व्यावहारिक रूप से उनकी कार्यवाहियाँ रीति-रिवाज, धर्म, आडम्बर इत्यादि से सीमित होती थी। पुराने युग मे राजतन्त्र के साथ-साथ एक ऐसे कुलीन वर्ग का जन्म भी हो जाता था कि जिसके सहयोग से राजा शासन-कार्य चलाता था और जो उसके साथ-साथ भौतिक सुख-सुविधाओ मे हिस्सा बँटाता था।

राजतन्त्र के गुणावगुण का विवेचन तो हम पीछे कर आये हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि अनेक आधुनिक विचारक अभी भी राजतन्त्र को एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था समझते हैं। उनका कथन है कि राजतन्त्र के अन्तर्गत जनता मे राज्य-व्यवस्था तथा कानून के प्रति सहज श्रद्धा की भावना होती है, एक निर्वाचित जन प्रतिनिधि के प्रति लोग श्रद्धास्पद नही हो सकते। सर हेनरी मैन, बेजहाट, टाड तथा व्लशली इत्यादि ने कार्यपालिका के चुनाव की उपर्युक्त व्यवस्था का समर्थन किया है। परन्तु आज आनुवशिक राजतन्त्र को अप्रजातान्त्रिक समझा जाता है, अनुभव के आधार पर भी इसकी कडी आलोचना की जाती है। सवैधानिक या नाम मात्र के राजतन्त्र की व्यवस्था तो अनेक देशों मे होगी, परन्तु निरकुश राजतन्त्र के तो थोडे ही उदाहरण मिलते हैं। बादशाह इब्न सऊद व अफगानिस्तान का बादशाह वास्तिविक अर्थ मे राजतन्त्र के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु अन्यत्र तो निरकुश राजतन्त्र के दिन खतम हो आये हैं।

जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct election by people) लेटिन अमेरिका के बोलविया, चिली, मैक्सिको, ब्राजील तथा पीरू इत्यादि राज्यो मे कार्यपालिका के अध्यक्ष का चुनाव जन-सामान्य द्वारा होता है, परन्तु जनता द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव एक सैद्धान्तिक कार्यवाही मात्र ही है। हाँ, सयुक्त राज्य अमेरिका में अवश्य ही राज्यो मे राज्यपालो (Governors) का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा ही होता है। जर्मनी के वियमर सविधान (Weimer constitution) के अन्तर्गत सघ राज्य के प्रधान के प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की गई थी। सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान मे राष्ट्रपति के अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी परन्तु व्यावहारिक रूप मे अब उसका चुनाव प्रत्यक्ष हो गया है। भारत मे भी राष्ट्रपति के प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था पर पर्याप्त बहस हुई थी और अनेक नेताओ ने राष्ट्रपति के निर्वाचन का समर्थन किया था, परन्तु अत मे उसे पार्लियामेण्ट्री सरकार के लिए अनुपयुक्त समझ छोड दिया गया।

प्रत्यक्ष चुनाव के समर्थको का कथन है कि यह व्यवस्था जन-साधारण मे राजनीतिक चेतना उत्पन्न करती है, उसमे शासन के कार्य के प्रति दिलचस्पी पैदा करती है। दूसरा, यह व्यवस्था जन-सम्मत प्रभुता तथा प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो के अनुकूल है। जन-साधारण ऐसे प्रतिनिधि का निर्वाचन करता है जिसमे उसे विश्वास होता है।

परन्तु इस व्यवस्था के अनेक आलोचक भी हैं। जब सयुक्त राज्य अमेरिका मे इस व्यवस्था के प्रचलन की मांग की गई थी तो उस समय इस की कडी आलोचना की गई। सर्वप्रथम तो यह माना जाता है कि साधारणतया जनता राष्ट्रपति जैसे महत्त्वपूर्ण पद के लिए चुनाव लडने वाले व्यक्तियो के गुण-दोष की समीक्षा करने मे सर्वथा अयोग्य होती है। मेसन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि, **"राष्ट्रपति पद के लिए योग्य व्यक्ति के चुनाव के सवाल को जनता के सामने रखना ऐसा ही होगा जैसे रंगो की परीक्षा के लिए किसी अन्धे व्यक्ति को आमन्त्रित किया जाना।"**[1]

जन साधारण चतुर वक्ताओ, दुष्ट तथा शरारती नेताओं और प्रचार के अन्य साधनो द्वारा प्रभावित हो अपने वास्तविक विचारो को ही खो बैठते हैं। वह चुनाव मे अपने स्वतन्त्र मत का तो प्रयोग ही नही कर पाते, वे तर्क से काम न ले भावावेश से काम लेते हैं।

अत. यह साधन जन-साधारण को राजनीतिक चेतना सम्पन्न बनाने की जगह उनमे भ्रम तथा असत्य का प्रचार करता है। राजनीतिक पार्टियाँ ऐसे समय मे बहुत ही सक्रिय हो जाती हैं और वह राज्य को विभिन्न विरोधी समुदायो मे बाँट देती हैं। प्रत्यक्ष चुनाव के दौरान मे दल-बन्दी की भावना बहुत जोर पकड जाती है, जो राष्ट्रीय हित के लिए खतरनाक होती है। विशाल राज्यो मे तो यह व्यवस्था और भी अधिक अव्यावहारिक है। इसमे खर्च भी बहुत होता है, सयुक्त राज्य अमेरिका मे होने वाले राष्ट्रपति के चुनाव से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रणाली बहुत ही खर्चीली है। वहाँ उम्मीदवारो को पानी की तरह धन बहाना पडता है। चुनाव-काल वस्तुत उपद्रव तथा नैतिक भ्रष्टता और दुराचार का काल बन जाता है। मिल ने इस व्यवस्था का तीव्र विरोध किया है। शासन का कार्य जन-सामान्य मे सद्गुण, बुद्धि तथा विवेक को जाग्रत करना है। परन्तु प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था भ्रष्टाचार की जनक है, अत. इस प्रणाली द्वारा से चुने गये राष्ट्रपति के तानाशाह बन जाने की सम्भावना रहती है, क्योकि उसे यह यकीन होता है कि उसे लोकमत का समर्थन प्राप्त है। नैपोलियन तृतीय ने लोकसम्मत चुनाव पद्धति द्वारा ही निर्वाचित हो फ्रास मे साम्राज्य की स्थापना की थी। वीर-पूजा की भावना जिन राज्यो मे होती है वहाँ यह पद्धति अवश्य ही बहुत त्रुटिपूर्ण रहती है। भारत जैसे विशाल राज्य मे जनता के अशिक्षित होने के कारण इस साधन का बहुत ही दुरुपयोग किया जा सकता है। भारतीय सविधान के निर्माताओ ने अच्छा ही किया कि इस प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था को छोड दिया। यह व्यवस्था छोटे-छोटे देशो मे ही भले ही सफल हो सके, परन्तु बडे-बडे राज्यो मे ऐसा सम्भव नही।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन— प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के स्थान पर अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था इसलिए की जाती है कि यह समझा जाता है कि इसमे वे सब दोष

---

1 "It would be as unnatural to refer the choice of a proper person for President to the people, as to refer a trial of colours to a blind man" *Mason.*

मौजूद नही होते जो कि प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था मे मिलते हैं। अत इस प्रणाली का सर्वाधिक प्रचार हुआ। सयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त अर्जेण्टाइन, स्पेन मे इसी प्रणाली को अपनाया गया। सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के अप्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की गई थी। इस व्यवस्था के अनुसार प्रेजाडेण्ट के निर्वाचन के लिए एक निर्वाचक-मण्डल की व्यवस्था की जाती थी। प्रत्येक राज्य अपने प्रतिनिधि इस निर्वाचक-मण्डल (Electoral college) मे भेजता है, वे राष्ट्रपति का चुनाव करते है।

इस प्रणाली को इसलिए अच्छा कहा जाता है कि इसमे जनता स्वय राष्ट्रपति का चुनाव नही करती, वह अपने प्रतिनिधि चुनती है। ये प्रतिनिधि जनसाधारण की अपेक्षा अधिक समझदार होते है, वे सुशिक्षित तथा अनुभवी होते हैं। अत वे उपयुक्त व्यक्ति को ही राष्ट्रपति निर्वाचित करते हैं। इन निर्वाचको पर दलगत प्रचार का असर नही पडता, न ही वे राजनीतिक नेताओ से प्रभावित होते हैं, वे स्वतन्त्र मत का प्रयोग कर सकते हैं। यह व्यवस्था उपद्रवकारी भी नही होती। राष्ट्रपति का निर्वाचन शान्तिपूर्वक हो जाता है। निर्वाचको की सख्या कम होती है अत स्वाभाविक रूप से ही वे विवेक का प्रयोग कर सकते है और भावावेश मे नही आते।

अमेरिकन विचारक हैमिल्टन ने सयुक्त राज्य के राष्ट्रपति के चुनाव की अप्रत्यक्ष प्रणाली का जिक्र करते हुए कहा कि "राष्ट्रपति के प्रत्यक्ष चुनाव की अपेक्षा एक निर्वाचक-मण्डल के चुनाव से समाज मे कम अशान्ति तथा अव्यवस्था पैदा होगी। राष्ट्रपति का चुनाव ऐसे योग्य तथा बुद्धिसम्पन्न लोगो द्वारा होना चाहिए जो उस पद के लिए आवश्यक गुणो को समझ सकें। जन-साधारण द्वारा चुने हुए थोड़े से मतदाताओं मे ऐसी विवेक बुद्धि तथा ज्ञान के होने की सम्भावना होती है, जो कि ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य को अच्छी तरह करने के लिए जरूरी है।"[1]

परन्तु राजनीतिक पार्टियो की व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप अप्रत्यक्ष निर्वाचन की यह व्यवस्था वस्तुत अब प्रत्यक्ष निर्वाचन मे बदल गई है। इस कारण प्रत्येक निर्वाचक अपने दल के उम्मीदवार को वोट देने के लिए वचनबद्ध होता है, वह अपने मत का स्वतन्त्र प्रयोग करने में असमर्थ होता है। सयुक्त राज्य मे पार्टी व्यवस्था के जन्म के फलस्वरूप अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली के सम्पूर्ण लाभ विनष्ट हो गये हैं।

विधानपालिका द्वारा चुनाव (Election by legislature)—अप्रत्यक्ष

---

1 'The choice of several to form an intermediate body of electors will be much less apt to convulse the community with any extraordinary and violent movements than the choice of one who was himself to be the final object of the public wishes It was desirable that the immediate election should be made by men most capable of analyzing the qualities adapted to the station A small numbers of persons selected by their fellow-citizens from the mass will be most likely to possess the information and discernment general requisite to so complicated an investigation'—*Hamilton*,

चुनाव की व्यवस्था का एक अन्य रूप विधानपालिका द्वारा चुनाव है। भारत के सविधान के अनुसार राष्ट्रपति का चुनाव विधानपालिका के दोनो सदनो के और राज्य विधानपालिकाओ के निर्वाचित सदस्यो द्वारा होता है। स्विट्जरलैण्ड मे भी कार्य-पालिका का चुनाव विधानपालिका द्वारा होता है। फ्रास मे भी इसी प्रणाली का अनुसरण किया जाता था। संयुक्त राज्य अमेरिका मे अनेक राज्यो मे किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट वहुमत न मिलने पर विधानपालिकाएँ ही कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन करती हैं।

इस चुनाव-प्रणाली की अनेक विशेषताएँ मानी जाती हैं, कार्यपालिका कानूनो को लागू करती है, और विधानपालिका उन्हे वनाती है। इस चुनाव-प्रणाली द्वारा दोनो मे सामजस्य उत्पन्न हो जाता है। इस चुनाव-व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका के चुनाव मे वही लोग भाग लेते हैं जो अनुभवी राजनीतिज्ञ तथा विधान निर्माता होते हैं। उन्हे सार्वजनिक जीवन का यथेष्ट अनुभव होता है और वह एक अच्छे शासक के आवश्यक गुणो से परिचित होते हैं अत. वे पर्याप्त वुद्धिमत्ता और विवेक से ही कार्यपालिका के अध्यक्ष का चुनाव करते हैं।

परन्तु इस व्यवस्था को पर्याप्त दोषपूर्ण भी वतलाया जाता है। सर्वप्रथम तो इस व्यवस्था द्वारा शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को भग किया जाता है। विधानपालिका का कार्य मुख्य रूप से कानून वनाना है न कि कार्यपालिका का चुनाव करना। इस प्रकार विधानपालिका अपने मुख्य कार्य को छोड पार्टीवाजी का शिकार वन कार्यपालिका के चुनाव मे पर्याप्त समय खो देती है। फिर यह व्यवस्था कार्यपालिका की स्वतन्त्रता को भी विनष्ट करती है, कार्यपालिका विधानपालिका की एजेण्ट मात्र ही रह जाती है। अनुभव यह वतलाया है कि जहाँ कही विधानपालिका कार्यपालिका के अध्यक्ष का चुनाव करती है, वहाँ कमजोर या साधारण दर्जे के व्यक्तियो को चुनने की ही प्रवृत्ति रहती है। असाधारण व्यक्तित्व सम्पन्न, व गुणवान व्यक्तियो का चुनाव ठीक नही समझा जाता। जहाँ पार्लियामेण्ट्री सरकार की व्यवस्था नही, वहाँ कायपालिका के अध्यक्ष के निर्वाचन के समय अनेक भ्रष्ट साधनो का प्रयोग किया जा सकता है। विधानपालिकाओ द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव वाह्य साधनो से प्रभावित किया जाता है। सदस्यो की स्वतन्त्रता खतम की जा सकती है और उनका प्रयोग निहित स्वार्थों द्वारा अपने हितो की सुरक्षा के लिए किया जा सकता है। एक वार निर्वाचित हो जाने के अनन्तर अध्यक्ष अपने पुनर्निर्वाचन के लिए विधानपालिका के सदस्यो को अनुचित ढग से खुश करने का प्रयत्न कर सकता है। परन्तु इन दोषो के होते हुए भी आजकल सयुक्त राज्य अमेरिका तथा उस से प्रभावित लेटिन अमेरिकन राज्यो को छोड अन्यत्र प्राय सभी जगह इस प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। पार्लियामेण्ट्री शासन-प्रणाली के अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) का चुनाव ससद द्वारा ही किया जाता है। ससदीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत यद्यपि शक्ति विभाजन को पूर्णतया नही माना जाता फिर भी सुशासन मे किसी प्रकार का अन्तर नही पडता।

नामजदगी (Nomination)—कार्यपालिका के अध्यक्ष को नामजद (Nomi-

nate) भी किया जा सकता है, परन्तु नामजदगी की व्यवस्था केवल अधीन राज्यो के लिए ही की जा सकती है। १९४७ से पूर्व भारत के सर्वप्रमुख शासक गवर्नर-जनरल की नामजदगी ब्रिटिश सम्राट् द्वारा की जाती थी। आज भी ब्रिटिश उपनिवेश, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड इत्यादि मे गवर्नर-जनरल की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट् द्वारा की जाती है। इस व्यवस्था के पक्ष मे यह तर्क पेश किया जाता है कि इस द्वारा उपयुक्ततम व्यक्ति का निर्वाचन किया जा सकता है, परन्तु ऐसे व्यक्ति को स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त नही होते, न ही यह व्यवस्था स्वतन्त्र तथा प्रजातन्त्रवादी राज्यो मे लागू की जा सकती है।

१३१ कार्यपालिका के अध्यक्ष का कार्यकाल (Term of office)

वंशानुगत कार्यपालिका को छोड अन्यत्र सभी जगह अध्यक्ष का कार्यकाल निश्चित होता है। यह अवधि क्या होनी चाहिए इस विषय मे पर्याप्त मतभेद है। व्यवहार रूप मे कार्यपालिका के अध्यक्ष की अवधि एक वर्ष से सात वर्ष तक होती है। भारत मे नये सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति का चुनाव ५ वर्ष के लिए किया जाता है जब कि फ्रास मे सात वर्ष के लिए। सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति चार वर्ष के लिए निर्वाचित होता है जब कि कुछ राज्यो मे अध्यक्ष का कार्यकाल केवल २ साल मात्र ही है।

हैमिल्टन तथा न्यायाधीश स्टोरी का मत है कि राष्ट्रपति का कार्यकाल पर्याप्त लम्बा होना चाहिए। लम्बे कार्यकाल के प्रमुख गुण हैं—कार्यपालिका की स्वतन्त्रता स्थिरता एव नीति निरन्तरता तथा अनुभव सम्बन्धी लाभ। हैमिल्टन का मत है कि सुशासन तथा नीति-निरन्तरता के लिए लम्बा कार्यकाल होना चाहिए। लम्बे कार्यकाल द्वारा बार-बार होने वाले चुनावो के खर्च तथा सघर्ष को भी खत्म किया जा सकता है।

इसके विपरीत लम्बे कार्यकाल का विरोध भी किया जाता है और यह कहा जाता है कि लम्बा कार्यकाल अध्यक्ष को उत्तरदायित्व-विहीन बना देता है। लम्बे अर्से के लिए निर्वाचित अध्यक्ष अपनी स्थिति को मजबूत कर प्रजातन्त्र को विनष्ट कर राजतन्त्र की स्थापना कर सकता है। इस विषय मे नैपोलियन का उदाहरण दिया जाता है, वह दस वर्ष के लिए चुना गया था, उसने अपने लम्बे कार्यकाल का दुरुपयोग किया और अपने आपको फ्रास का सम्राट् घोषित कर दिया। अत लम्बे कार्यकाल के अन्तर्गत शासन-शक्ति के दुरुपयोग किये जाने का अवसर रहता है।

दूसरी ओर छोटा कार्यकाल दुर्बल अनिश्चयपूर्ण तथा अनुभव-विहीन होता है। अगर राष्ट्रपति का चुनाव केवल दो साल के लिए ही हो तो न तो वह कोई नयी नीति का ही अनुकरण कर सकता है और न वह नीति मे नैरन्तर्य तथा शक्ति ला सकता है। अनुभवहीनता के कारण वह सदा ही दुविधा मे रहेगा। अल्पकालीन कार्यपालिका अपने कर्त्तव्यो के पालन मे विशेष दिलचस्पी भी नही ले सकेगी।

उसका एक मात्र उद्देश्य होगा अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाना। इस कारण वह भ्रष्ट तथा कमजोर कार्यपालिका बन जाएगी।

अत यह कहा जाता है कि कार्यपालिका की अध्यक्ष का कार्य-काल न तो बहुत लम्बा ही हो और न बहुत छोटा ही। आदर्श कार्य काल चार-पाँच वर्ष माना जाता है।

कार्यकाल के साथ-साथ ही दुबारा चुनाव का प्रश्न भी आ जाता है। क्या कार्यपालिका के अध्यक्ष के पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था होनी चाहिए? सयुक्त राज्य अमेरिका मे सविधान के अनुसार कार्यपालिका के प्रधान का अनिश्चित काल तक दुबारा चुनाव हो सकता था जब कि मैक्सिको मे पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था नही मिलती। सयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंग्टन ने राष्ट्रपति पद के लिए दो बार चुनाव लडा और दोनो बार सफल हुए, परन्तु तीसरी बार उन्होने चुनाव लडने से इनकार कर दिया। तब से वहाँ यह रिवाज ही चल पडा था कि एक प्रेजिडेण्ट को केवल दो कार्य-काल के लिए ही राष्ट्रपति पद पर आसीन होना चाहिए। वह रिवाज सविधान का एक अलिखित हिस्सा बन गया जिसे प्रेजिडेण्ट रूजवेल्ट ने द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान मे तोडा। अब सवैधानिक सशोधन द्वारा राष्ट्रपति पद की अवधि दो कार्य-काल तक सीमित कर दी गई है। भारत के सविधान के अनुसार राष्ट्रपति पद के दुबारा चुनाव पर कोई पाबन्दी नही है।

एक ही कार्य-काल तथा पुनर्निर्वाचन पर पाबन्दी के पक्ष मे सबसे बडा तर्क यह है कि इससे वैयक्तिक महत्त्वाकाक्षाओ पर पाबन्दी लग जाती है। दुबारा चुनाव की व्यवस्था के फलस्वरूप अध्यक्ष अपने पद का दुरुपयोग करता है, वह अपने कार्य-काल के उत्तरार्द्ध मे कार्यपालिका सम्बन्धी कर्तव्यो का पालन न कर अपने पुनर्निर्वाचन के लिए प्रयत्नशील रहता है। बहुमत को अपने पक्ष मे रखने के लिए वह अनेक अनुचित साधनो का प्रयोग कर सकता है। इन सब त्रुटियो से छुटकारा पाने का एक ही ढग है, वह यह कि दुबारा चुनाव की व्यवस्था ही न रखी जाए।

इसके विपरीत पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था का बडे जोर से समर्थन भी किया जाता है। हैमिल्टन ने इस व्यवस्था का समर्थन इन शब्दो मे किया है कि **"राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था की परम आवश्यकता है, क्योंकि इससे जनता, जब कि वह इसके आचार तथा व्यवहार से सन्तुष्ट हो, उसके अपने पद पर बनाए रखकर उसकी प्रतिभा, निपुणता तथा शासन-चातुर्य का लाभ उठा सकती है, और इससे उत्तम शासन-प्रबन्ध मे स्थिरता तथा निरन्तरता की प्रतिष्ठा करने से सहायता मिल सकती है।"**[1] इस व्यवस्था के अभाव मे जनता अपने योग्य, अनुभवी तथा प्रतिभाशाली शासकों की सेवाओ से वचित हो जाती है। जहाँ कार्य-काल की अवधि छोटी हो वहाँ तो यह

---

1 The re-eligibility of the executive is necessary to "enable the people, when they see reason to approve of his conduct, to continue to him in the station in order to prolong the utility of his talents and virtues, *and to secure to the government the advantage of the* permanency in a wise system of administration"—*Hamilton*

व्यवस्था विशेष रूप से उपयोगी होती है, क्योंकि कार्यपालिका का मुखिया अपने कार्यकाल के प्रारम्भिक समय मे तो शासन-सचालन की मशीनरी मे परिचित ही हो पाता है जब कि उसकी अवधि समाप्त हो जाती है। इस अवस्था मे वह पुन निर्वाचित हो अपने दूसरे कार्य-काल मे अधिक मुस्तैदी से और कुशलतापूर्वक कार्य कर सकता है। जनता के विश्वासपात्र व्यक्तियो को शासन-सचालन के लिए दुबारा चुनाव का अवसर दिया ही जाना चाहिए। कार्य-काल के सीमित होने का कारण तथा पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था के अभाव मे राष्ट्रपति अपने पद का अनुचित प्रयोग करने से भी नही सकुचाता। जन-सेवाओ के लिए पुरस्कार पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था के रूप मे दिया जा सकता है। एक अध्यक्ष जो यह जानता है कि उसे दुबारा चुनाव का अवसर मिल सकता है, वह अपनी आकाक्षाओ को दबा सकता है, वह भौतिक सुख-सुविधा की परवाह न कर निशक हो अपना कर्त्तव्य-पालन करता है। युद्ध इत्यादि सकटकालीन स्थितियो का मुकाबला करने के लिए कुछ विशेष व्यक्ति ही उपयुक्त होते हैं, सभी नही। अगर ऐसे समय पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था न हो तो पर्याप्त कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान मे अगर प्रेजिडेण्ट रूजवेल्ट तृतीय बार राष्ट्रपति न चुने जाते तो बहुत सम्भव है अमेरिका की युद्ध-नीति मे और उसके युद्ध-सचालन मे पर्याप्त परिवर्तन हो जाता।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था के गुण और दोष दोनो ही हैं। एक स्वस्थ तथा समुचित व्यवस्था के निर्माण के लिए हमे दो बातो का ध्यान रखना चाहिए, प्रथम तो हमे यह देखना चाहिए कि राष्ट्रपति का कार्य-काल क्या है। यदि काय-काल लम्बा है, राष्ट्रपति सात वर्ष के लिए चुना जाता है तो पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था का अभाव ही अधिक उपयोगी हो सकता है। इसके विपरीत यदि कार्य-काल छोटा होता है तो एक या दो बार पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था हो सकती है। दूसरा अगर राष्ट्रपति को पर्याप्त शासन-शक्ति प्राप्त हैं तो उस हालत मे पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था को सीमित रखा जा सकता है और अगर वह नाम मात्र का ही मुखिया है तो पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था मे कोई नुक्सान नही हो सकता।

जहाँ विधानपालिका को राष्ट्रपति पर आरोप लगाने या हटाने का अधिकार होता है, वहाँ राष्ट्रपति के पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था रखी जा सकती है, क्योकि ऐसी हालत मे राष्ट्रपति अपनी शक्ति का प्रयोग सोच-समझकर ही करेगा। जहाँ कही राष्ट्रपति को असीम अधिकार नही दिये जाते और उसे कुछ विशेष शक्तियो के प्रयोग मे विधानपालिका के अधीन रहना पडता है, वहाँ भी पुर्नानिर्वाचन की व्यवस्था की जा सकती है। कार्यपालिका के सगठन का आधार उत्तरदायित्व की व्यवस्था के साथ-साथ शासन-नीति की निरन्तरता और अविच्छिन्नता होनी चाहिए। नित्य नये शासक बदलते रहने से न तो शासन-नीति ही स्थिर हो पाती है और न ही शासन-तन्त्र वास्तविक अर्थ मे प्रजातन्त्रात्मक रह जाता है। शासको के बदलते रहने से वास्तविक शासन-शक्ति जन प्रतिनिधियो के हाथ मे न रहकर नौकरशाही के हाथ मे चली जाती है।

१३२. कार्यपालिका के कर्त्तव्य (Functions of the Executive)

कार्यपालिका के कर्त्तव्य राज्य की प्रकृति के अनुसार बदलते रहते हैं, अधिक वैज्ञानिक भाषा मे हम यूँ कह सकते हैं कि सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो के परिवर्तन के अनुसार कार्यपालिका के कर्त्तव्य बदलते जाते हैं। पुराने जमाने मे राजनीतिक चेतना के अभाव मे राजतन्त्र के अन्तर्गत शासनतन्त्र केवल मात्र सैनिक कर्त्तव्यो को ही पूर्ण करता था। उसका कार्य राज्य-सत्ता को बनाये रखना और देश को विदेशी आक्रमण से बचाना मात्र था, उसके कर्त्तव्यो का रूप निषेधात्मक (Negative) था। वह जन-कल्याण के कार्यो को नही निभाता था।

परन्तु सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो के परिवर्तन के फलस्वरूप आज राज्यो के कर्त्तव्यो मे बहुत परिवर्तन हो गया है। आज राज्य का पुराना निषेधात्मक रूप स्वीकार नही किया जाता, आज राज्य जनकल्याण की एक प्रमुख एजेन्सी है। ऐसी अवस्था मे उसका उद्देश्य जन-सामान्य की नैतिक तथा भौतिक उन्नति है। वह व्यक्ति के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास का एक प्रमुख साधन है। यह ठीक है कि अभी सर्वत्र जन-कल्याणात्मक राज्य (Social Welfare State) का सामान्य रूप से एक जैसा विकास नही हो पाया। अत. विभिन्न राज्यो मे शासन के विभिन्न कर्त्तव्य हैं, वे एक जैसे नही।

डॉ० गार्नर के मतानुसार आजकल कार्यपालिका निम्नलिखित आवश्यक कर्त्तव्यो का पालन करती है—

(१) कूटनीतिक कर्त्तव्य (Diplomatic)।
(२) प्रशासनात्मक कर्त्तव्य (Administrative)।
(३) सैनिक कर्त्तव्य (Military)।
(४) न्याय सम्बन्धी कार्य (Judicial)।
(५) विधान-निर्माण सम्बन्धी कर्त्तव्य (Legislative)।

अब हम इन सभी कर्त्तव्यो का विस्तारपूर्वक विवरण देंगे—

(१) कूटनीतिक कर्त्तव्य—प्रत्येक राज्य अपने आप मे पूर्ण नही, वह दूसरे राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करता है। इन सम्बन्धो की देख-भाल और उनकी स्थापना कार्यपालिका करती है। कार्यपालिका का अध्यक्ष अन्य राज्यो से सन्धियाँ करता है, दूसरे देशो मे राजदूत भेजता है और अन्य देशो के राजदूतो के प्रमाण पत्र स्वीकार करता है। अनेक बार अन्य सरकारो को मान्यता प्रदान करता है, युद्ध-घोषणा करता है, शान्ति सन्धि कर युद्ध-समाप्ति की घोषणा करता है। प्रत्येक सरकार का एक विदेश विभाग होता है जिसका नियन्त्रण विदेश मन्त्री करता है। यह विदेश विभाग ही सम्पूर्ण कूटनीतिक सम्बन्धो के व्यवस्थापन के लिए जिम्मेदार होता है।

विदेशी सम्बन्धो पर विधानपालिका का भी नियन्त्रण रहता है। इस नियन्त्रण की सीमा अवश्य ही सभी राज्यो में एक-सी नही होती। सयुक्त राज्य अमेरिका मे विधानपालिका का द्वितीय सदन-प्रेजिडेण्ट की वैदेशिक नीति को पर्याप्त

नियन्त्रित करता है। राष्ट्रपति द्वारा की गई राजदूतो की नियुक्तियाँ सीनेट द्वारा स्वीकार की जाने पर ही स्थायी समझी जाती है, सन्धियो के सम्बन्ध मे भी राष्ट्रपति पर सीनेट नियन्त्रण करती है। अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की सभी सन्धियाँ तब तक कानून नही बन पाती जब तक कि सीनेट उनके लिए अपनी स्वीकृति नही दे देती। प्रेजिडेण्ट विल्सन वर्साई की शान्ति सन्धि के लिए जिम्मेदार थे, उन्ही की प्रेरणा के फलस्वरूप राष्ट्रसघ (League of Nations) की स्थापना की गई थी, परन्तु सीनेट ने विल्सन की सम्पूर्ण योजना को अस्वीकार कर दिया था।

सयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त फ्रांस, जर्मनी तथा फिनलैण्ड इत्यादि मे भी सभी महत्त्वपूर्ण सन्धियो के लिए विधानपालिका की स्वीकृति आवश्यक समझी जाती है। परन्तु अन्य विधानपालिकाएँ इस अधिकार को इतनी मजबूती से प्रयोग नही कर सकती जितनी कि अमेरिकन सीनेट।

ग्रेट ब्रिटेन मे कूटनीतिक सम्बन्धो का प्रशासन पूर्णतया कार्यपालिका के हाथ मे है। पीछे मजदूर दल के निरन्तर आन्दोलन के फलस्वरूप अब पार्लियामेण्ट को भी विदेश नीति सम्बन्धी कुछ नियन्त्रण मिल गया है, और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और उच्च नैतिक आदर्शों से प्रेरित सन्धियो पर पार्लियामेण्ट के विचारो को जानने का प्रयत्न भी किया जाता है। अन्य राज्यो मे भी विधानपालिकाएँ अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सन्धियो को मान्यता प्रदान करती हैं। आजकल प्राय यह बात सर्वत्र स्वीकार की जाने लगी है कि कूटनीतिक सम्बन्धो तथा सन्धियो पर लोक-प्रतिनिधियो को निषेधात्मक नियन्त्रण का अधिकार अवश्य होना चाहिए। स्विट्जरलैण्ड मे तो पन्द्रह वर्ष से अधिक काल तक लागू रहने वाली सन्धियो के लिए मत-सग्रह (Referendum) द्वारा जन-मत की स्वीकृति ली जाती है।

(२) **प्रशासनात्मक कार्य**—के अन्तर्गत कार्यपालिका के आन्तरिक व्यवस्था-स्थापना सम्बन्धी कर्त्तव्य आ जाते हैं। राज्य का कर्त्तव्य आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था को बनाये रखना है, इस कार्य की पूर्ति के लिए कार्यपालिका को कानून लागू करने होते है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के अर्थ राष्ट्रपति या कार्यपालिका का अध्यक्ष अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकारियो की नियुक्ति करता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति कानूनो को लागू करने के लिए अनेक उच्चाधिकारियो की नियुक्ति करता है, वह अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है जो विभिन्न विभागो के अध्यक्ष होते हैं और अपने सम्पूर्ण कार्यो के लिए उसके प्रति जिम्मेदार होते है। न्यायाधीशो की नियुक्ति भी वह स्वय करता है। निश्चय ही इस विषय मे उसे अबाध और असीम अधिकार नही। सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियो के लिए सीनेट—अमेरिकन विधानपालिका के दूसरे सदन—की स्वीकृति लेनी पडती है। साधारण अधिकारियो की नियुक्ति के लिए अब एक अन्य कानूनी व्यवस्था की गई है जिसके अन्तर्गत प्रतियोगिता द्वारा सरकारी अधिकारियो का चुनाव किया जाता है। प्रतियोगिता द्वारा चुने गए अधिकारियो का कार्यकाल, वेतन तथा अन्य सुविधाएँ कानून द्वारा निश्चित कर दी जाती हैं, जिन्हे साधारणतया राष्ट्रपति नही बदल सकता। अन्य उच्चाधिका-

रियो को अवश्य ही वह विना सीनेट की सलाह के हटा सकता है, यह वात अव अन्तिम रूप से निश्चित हो चुकी है। न्यायाधीशो को वह तभी हटा सकता है जब काग्रेस इस विषय मे स्वीकृति दे दे।

ससदीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल को पर्याप्त शासकीय अधिकार प्राप्त होते हैं। छोटे प्रशासकीय अविकारियो की नियुक्ति की प्रतियोगात्मक व्यवस्था के फलस्वरूप मन्त्रिमण्डल की एतद्विषयक शक्तियाँ कुछ हद तक सीमित हो गई हैं। परन्तु मन्त्रिमण्डल अपने निम्न दर्जे के अधिकारियो को ही नही अपितु उच्चाधिकारियो को भी आदेश देने का अधिकार रखते हैं। मन्त्रिमण्डल ही समय-समय पर सम्पूर्ण प्रशासकीय कार्यवाही के सचालन के लिए नियम तथा उपनियम वनाते हैं।

भारत, इग्लैण्ड तथा फ्रास इत्यादि ससदीय शासन-प्रणाली द्वारा शासित राज्यो मे कार्यपालिका ही वजट तैयार करती है, यद्यपि उसकी अन्तिम स्वीकृति विधानपालिका देती है।

आज राज्य के रूप मे परिवर्तन होने के कारण शासनतन्त्र अनेक सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यो को भी करता है। वह शिक्षा, सस्कृति, स्वास्थ्य, यातायात, श्रमिक तथा औद्योगिक नियन्त्रण सम्वन्धी कार्यवाहियो को भी सम्पन्न करता है।

(३) **सैनिक कर्त्तव्य**—इसके अन्तर्गत सेना का सगठन तथा युद्ध-सचालन आता है। प्रत्येक राज्य मे राज्य का मुखिया ही सेना का सर्वोच्च सेना-नायक होता है और वह सर्वोच्च सेनाधिकारियो की नियुक्ति करता है और हटाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत मे राष्ट्रपति स्थल, जल तथा वायु सेनाओ का मुखिया होता है। वे सकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए मार्शल-ला (Martial Law) घोषित कर सकता है और नागरिको के वैधानिक अधिकारो को स्थगित कर सकता है। अमेरिकन राष्ट्रपति सयुक्त राज्य के हितो की रक्षा के लिए अमेरिकन सेना को विश्व के किसी भी भाग मे भेज सकता है। यद्यपि युद्ध-घोषणा का अधिकार अमेरिकन प्रेजिडेण्ट को प्राप्त नही तथापि वह कूटनीतिक सम्वन्धो के सचालन द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसमे विधानपालिका को युद्ध-घोषणा करनी ही पडती है। प्रेज़िडेण्ट विल्सन ने प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व ऐसी ही स्थिति पैदा कर दी थी कि विधानपालिका को युद्ध-घोषणा करनी ही पडी। फ्रास इत्यादि अन्य राष्ट्रो मे भी युद्ध-घोषणा के लिए विधानपालिका के दोनो सदनो की स्वीकृति लेनी पडती है। युद्ध-सचालन पर पर्याप्त खर्च होता है और उसकी स्वीकृति-विधानपालिका ही दे सकती है। युद्ध-संचालन के लिए विधानपालिका की स्वीकृति को प्राप्त कर लेने पर काय-पालिका अवाध शक्ति-सम्पन्न हो जाती है।

(४) **न्याय-पालन सम्वन्धी कार्य**—के अन्तर्गत न्यायालयो की स्थापना तथा न्यायाधीशो की नियुक्ति इत्यादि कार्य आ जाते है। प्राय सर्वत्र न्याय-व्यवस्था का सगठन कार्यपालिका करती है, यद्यपि उसकी वैधानिक रूप-रेखा विधानपालिका द्वारा तैयार की जाती है। परन्तु कार्यपालिका का सर्वप्रमुख न्यायपालन सम्वन्धी अधिकार क्षमादान (Grant of Pardon) या दयादान (Clemency) का है। इसी प्रकार

मुक्तिदान (Amensty) का भी अधिकार विधानपालिका ही प्रयोग मे लाती है। मान्तेस्क्यू इत्यादि कुछ विचारको का ख्याल था कि न्यायपालन सम्बन्धी यह महत्त्व-पूर्ण अधिकार केवल राजतत्र के अन्तर्गत ही व्यवस्थित किया जाना चाहिए। परन्तु यह धारणा भ्रामक है क्योंकि इस व्यवस्था का आधार न्याय तथा मानवता है। न्यायव्यवस्था अपूर्ण होती है, कानूनो मे दोष सम्भव है, वे पूर्ण नही होते। न्यायाधीश कानून की बारीकी को देखता है, वह दूसरे शब्दो मे कानून का पूरी तरह अनुसरण करता है, वह मानवता तथा न्याय का आवश्यक नही कि अनुसरण करे। ऐसी अवस्था मे निर्दोष व्यक्तियो को भी सजा हो सकती है। इसी कारण क्षमादान की व्यवस्था प्रजातन्त्र तथा राजतन्त्र मे सर्वत्र ही आवश्यक है, राजनीतिक अपराधियो के लिए तो इस व्यवस्था की ओर भी अधिक आवश्यकता होती है। आजकल इस अधिकार का प्रयोग कार्यपालिका के अध्यक्ष सलाहकार समिति की सलाह से ही करते है।

(५) **विधान-निर्माण सम्बन्धी कर्त्तव्य**—कार्यपालिका के विधान-निर्माण सम्बन्धी कार्यों की सख्या शासनतन्त्र की प्रकृति पर आश्रित होती है। पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका तथा विधानपालिका मे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं। कार्यपालिका न केवल विधानपालिका के अधिवेशन ही बुलाती है, और उन्हे स्थापित करती है वह विधानपालिका के निचले सदन को तोड भी सकती है और उसके चुनाव भी करवाती है। कार्यपालिका के सभी सदस्य विधानपालिका के सदस्य होते हैं, अत विधाननिर्माण मे भाग लेते हैं। यही नही दरअसल विधान-पालिकाएँ सदा ही विधाननिर्माण के विषय मे कार्यपालिकाओ से नेतृत्व की आशा करती है। प्राय सभी महत्त्वपूर्ण बिल मन्त्रिमण्डल तैयार करता है और उसकी प्रेरणा पर विधानपालिका उन्हे स्वीकार करती है। आजकल तो विधान-निर्माण के विषय मे मन्त्रिमण्डल को ही एकाधिकार प्राप्त होता है। स्वतन्त्र सदस्यो द्वारा पेश किए गए बिल जब तक मन्त्रिमण्डल का समर्थन प्राप्त नही कर लेते, पास नही हो सकते।

राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत विधानपालिका तथा कार्यपालिका मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। राष्ट्रपति और उसके सलाहकार विधान-सभा के विधान-निर्माण सम्बन्धी कार्यों मे भाग नही लेते। फिर भी राष्ट्रपति विधान-निर्माण सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकारो का प्रयोग करता है, वह विधानपालिका को सदेश भेज किसी विशेष विषय पर कानून बनाने की प्रार्थना कर सकता है, उसे निषेधाधिकार भी प्राप्त है। इस निषेधाधिकार (Veto Power) द्वारा वह विधानपालिका द्वारा पास किए गये बिलो को कानून बनने से कुछ काल के लिए रोक लेता है। विधान-पालिका द्वारा पास किये गये बिल तब तक कानून नही बन सकते जब तक कि राष्ट्रपति उन्हे स्वीकार नही कर लेता। अवश्य ही राष्ट्रपति का एतद्विषयक निषेधाधिकार सीमित है, क्योंकि उसे विधानपालिका का दो-तिहाई बहुमत रद्द कर सकता है। फिर भी राष्ट्रपति का निषेधाधिकार पर्याप्त प्रभावशाली है। पार्टी-व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत भी कार्यपालिका की कानून-निर्माण सम्बन्धी

शक्तियाँ पर्याप्त वढ गई हैं ।

फ्रास तथा भारत के सविधान के अन्तर्गत भी कार्यपालिका विधानपालिका द्वारा पास किये गये विलो पर निपेधाधिकार का प्रयोग कर सकती है ।

आजकल कार्यपालिका के विधान-निर्माण के अधिकारो की सभी जगह वृद्धि हो रही है । इग्लैण्ड मे तो विधान-निर्माण के अनेक अधिकारो को विधान-पालिका मन्त्रिमण्डल को सौंप चुकी है । भारत, फ्रास, इग्लैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे अध्यादेश (Ordinance) जारी करने का अधिकार कार्यपालिका को प्राप्त है। ये अध्यादेश दो प्रकार के हो सकते है—वैधानिक अध्यादेश तथा प्रशासकीय अध्यादेश । अध्यादेश एक प्रकार के अस्थायी कानून होते है जो विधानपालिका द्वारा स्वीकृत किए जाने पर पूर्ण रूप से कानून वन जाते है। प्रशासकीय अध्यादेश के अन्तर्गत वे सभी विज्ञप्तियाँ, आदेश नियम तथा अधिनियम आ जाते है जो कि कार्य-पालिका के अध्यक्ष द्वारा राज्य पदाधिकारियो को जारी किये जाते हैं । वैधानिक अध्यादेश अस्थायी कानून होते हैं । आजकल सर्वत्र ही कार्यपालिका के विधान-निर्माण सम्वन्धी अधिकारो की वृद्धि हो रही है ।

१३३. प्रसाशक वर्ग (Administrative Services)

कार्यपालिका की विस्तृत व्याख्या के अन्तर्गत वे सभी राज्याधिकारी आ जाते है जो कानून को लागू करते है । ये राज्याधिकारी प्रधान कार्यपालिका की देख-रेख मे काम करते हैं और उन द्वारा निर्धारित नीतियो को लागू करने के लिए उनके प्रति-उत्तरदायी होते हैं । कहा जाता है कि शासन का वास्तविक कार्य तो इन्ही प्रशासकीय अधिकारियो द्वारा किया जाता है । प्रशासकीय अधिकारी वर्ग के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी आ जाते हैं जो मन्त्रिमण्डल की शासकीय विषयो मे सहायता करते हैं, वे एक ओर तो न्यायाधिकारियो से भिन्न होते हैं और दूसरी ओर सेनाधिकारियो से । उन्हे स्थायी सरकारी सेवक (Permanent Civil Servants) भी कहा जाता है ।

शासन की वास्तविक मशीनरी का चलना ही असम्भव होता यदि उसके चलाने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व केवल मात्र मन्त्रियो पर ही होता । प्रजातन्त्रात्मक राज्यो के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल उन व्यक्तियो से मिलकर वनता है जो जन-साधारण के प्रति-निधि होते हैं और शासन-ज्ञान से विहीन होते हैं । उनमे अदला-वदली भी होती रहती है । पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल का जीवन विधान-पालिका के विश्वास पर आधारित होता है, उसका कोई निश्चित कार्य-काल नही होता । फ्रास मे एक मन्त्रिमण्डल का औसत जीवन नौ मास है जब कि इग्लैण्ड मे दो वर्ष और कुछ मास । फिर ये मन्त्रिमण्डल विभिन्न राजनीतिक पार्टियो द्वारा वनाए जाते हैं, प्रत्येक मन्त्रिमण्डल अपनी नीति का अनुसरण करता है । इस प्रकार शासन तन्त्र मे स्थिरता, राजनीति में एकता तथा अविच्छिन्नता तभी कायम रह सकती है जव कि स्थायी प्रशासकीय वर्ग की व्यवस्था हो । शासन-कार्य इतना विस्तृत और जटिल है कि मन्त्री लोग, जो विभिन्न विभागो के राजनीतिक मुखिया होते हैं, विना

प्रशासकीय अधिकारियो की सहायता के अपने विभागीय कर्त्तव्यो को पूर्ण ही नही कर सकते। प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष आयोग (Commission) द्वारा होती है। वे स्थायी सरकारी अधिकारी होते हैं, और राजनीतिक पार्टीबाजी से परे होते हैं। मन्त्रिमण्डल के बदल जाने के फलस्वरूप उनकी तब्दीली नही होती। चाहे किसी भी पार्टी का मन्त्रिमण्डल क्यो न हो, उनका कार्य अपने राजनीतिक अधिकारियो—मन्त्रियो—के आदेशो का पालन करना मात्र है। राजनीतिक शासक तो पार्टियो के सदस्य होते है, वे नीति-निर्धारण करते हैं और प्रशासक वर्ग उनको लागू करता है। मन्त्रिमण्डल को प्रशासकीय नीति के निर्धारण के अर्थ शासन सम्बन्धी सम्पूर्ण सूचनाएँ और विभिन्न विषयो पर उपयुक्त विषय-वस्तु एकत्रित कर देते है।

प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति—प्रशासकीय अधिकारियो की सख्या बहुत बडी होती है। उन्हे कुछ निश्चित सुविधाएँ प्राप्त होता हैं, अच्छा वेतन मिलता है और स्थायी नौकरी होती है। अवकाश ग्रहण करने पर पैन्शन भी मिलती है। दूसरी ओर उनका शासन-सचालन मे अत्यधिक महत्त्व होता है। शासनतन्त्र की कुशलता चतुरता तथा ईमानदारी और निष्पक्षता प्रशासकीय वर्ग के अधिकारियो पर आधारित होती है। ऐसी अवस्था मे प्रशासकीय सगठन का एक विशेष महत्त्व है। अगर सम्पूर्ण प्रशासकीय पदाधिकारियो की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल के ही हाथ मे छोड दी जाय तो वह भ्रष्टाचार का स्रोत बन जायगी। मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने समर्थको तथा पार्टी वालो को उनकी सेवाओ के पुरस्कार के लिए इन नौकरियो को देंगे, वे विभिन्न प्रशासकीय पदो के लिए आवश्यक गुणो का ध्यान नही रखेगे। ऐसी अवस्था मे अयोग्य अधिकारियो की नियुक्ति होती रहेगी और शासकीय मशीनरी अपने कर्त्तव्यों को कुशलतापूर्वक नही निभा सकेगी। सयुक्त राज्य अमेरिका मे १९वी सदी मे प्रत्येक प्रेजिडेण्ट अपने आप अपने प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति किया करता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकारी नौकरियो को प्रेजिडेण्ट अपने हितैषियो तथा समर्थको मे पुरस्कार स्वरूप बाँटता था। फलत शासनतन्त्र मे भ्रष्टाचार तथा अयोग्यता का बोलबाला था। आखिर १८८३ मे इस व्यवस्था को खत्म किया गया और अस्सी प्रतिशत सरकारी नौकरियो के लिए प्रयोगात्मक व्यवस्था को निश्चित किया गया।

प्रो० लास्की का कथन है कि प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति के लिए दो खास असूलो का अनुसरण करना चाहिए (१) प्रथम तो राजनीतिक कार्यपालिका-मन्त्रिमण्डल-को प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति मे कम से-कम भाग दिया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसी अवस्था मे मन्त्रिमण्डल सरकारी नौकरियो को अपने ही समर्थको तथा हितैषियों मे बाँटेगा। प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति के लिए प्रतियोगात्मक व्यवस्था रहनी चाहिए। इस व्यवस्था द्वारा ही गुणात्मक परीक्षा हो सकती है।

(२) दूसरा प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति उस अवस्था पर की जानी चाहिए जब एक युवक या युवती अपनी जीविका के उपार्जन के लिए प्रयत्न करने योग्य हो जाता है। यानी प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति युवक या नवयुवतियो

मे से ही होनी चाहिए ।

प्रशासकीय अधिकारियो की राजनीतिक तटस्थता, उनकी योग्यता तथा उनकी गुणात्मक-परीक्षा के लिए एक निष्पक्ष तथा निर्दलीय आयोग (Non-partisan Commission) की नियुक्ति की जानी चाहिए । साधारणतया इस कार्य का सम्पादन जन-सेवा आयोग (Public Service Commissions) करते हैं, इनके संगठन का एक वैधानिक आधार होता है । इनके सदस्यो की नियुक्ति की तथा उनके पदच्युत करने की व्यवस्था ऐसी की जाती कि वे राजनीतिक परिवर्तनो तथा राजनीतिक दलवन्दियो से प्रभावित न हो । इनकी स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता का भी इतना ही ख्याल किया जाता है जितना कि न्यायाधीशो की । ये आयोग समय-समय पर प्रतियोगात्मक परीक्षाओ की व्यवस्था करते रहते हैं और उन द्वारा उच्च सरकारी पदाधिकारियो का चुनाव करते रहते हैं । यही आयोग सरकारी नौकरो के अधिकारो तथा उनके वेतनो के विषय मे वास्तविक कार्यपालिका को सिफारिशें भेजते हैं । प्रशासकीय कार्यो को विभिन्न विभागो मे बाँट दिया जाता है । हमारे यहाँ निम्नलिखित प्रमुख प्रशासकीय विभाग है—

(१) गृह-विभाग (Home), (२) रक्षा-विभाग (Defence), विदेश विभाग (Foreign Affairs), सचार तथा परिवहन (Communication and Transport) सूचना और प्रसार (Information and Broadcasting), व्यापार तथा उद्योग (Commerce and Industry), शिक्षा (Education), स्वास्थ्य (Health), कृषि (Agriculture), इत्यादि । प्रत्येक मन्त्री एक विभाग का मुखिया होता है और उसकी सहायता के लिए सेक्रेट्रियो की व्यवस्था रहती है ।

प्रशासकीय अधिकारीगण मन्त्रिपरिषद द्वारा पेश किये जाने वाले विलो को तथा वजट को मन्त्रियो के आदेश के अनुसार तैयार करते है, वे न्याय-पालन सम्वन्धी कार्य भी करते हैं । प्रत्येक विभाग के कुछ विशेष नियम होते हैं, उनका अनुसरण सभी राज्य-पदाधिकारियो के लिए आवश्यक है । जव सभी विभागीय कर्मचारी इन्हे भंग करते हैं या उनमे पारस्परिक झगडे उत्पन्न हो जाते है तो उनका निर्णय उच्च पदाधिकारी करते है ।

मूल्याकन—प्रशासकीय वर्ग की प्रशसा भी की जाती है और आलोचना भी । प्रशासक वर्ग राजनीतिक पार्टीवाजी से ऊपर होता है, वह प्रशासकीय अनुभव-सम्पन्न होता है और स्थिरता तथा स्थायित्व के कारण वे सम्पूर्ण राज-काज को वडी योग्यता से चलाते है । परन्तु इसके साथ ही प्रशासकीय वर्ग की कार्य-पालन मे औपचारिकता व विलम्ब के लिए तीव्र आलोचना की जाती है । यह कहा जाता है कि प्रशासक वर्ग किसी भी समस्या के सुलझाव मे औपचारिकता को अधिक महत्त्व देता है और तत्परता को कम । दूसरा सरकारी अधिकारियो का दृष्टिकोण विकसित नही होता, वल्कि विभागीय होता है। वह किसी भी समस्या को उसके समग्र रूप मे नही वल्कि एक पक्षीय रूप में ही देखते हैं, परिणाम यह होता है कि शासन-संचालन मे उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं, पारस्परिक कलह तथा विद्वेष पैदा हो जाता है ।

प्रशासकीय अधिकारियो की सहायता के अपने विभागीय कर्त्तव्यो को पूर्ण ही नही कर सकते। प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष आयोग (Commission) द्वारा होती है। वे स्थायी सरकारी अधिकारी होते हैं, और राजनीतिक पार्टीबाजी से परे होते हैं। मन्त्रिमण्डल के वदल जाने के फलस्वरूप उनकी तब्दीली नही होती। चाहे किसी भी पार्टी का मन्त्रिमण्डल क्यो न हो, उनका कार्य अपने राजनीतिक अधिकारियो—मन्त्रियो—के आदेशों का पालन करना मात्र है। राजनीतिक शासक तो पार्टियो के सदस्य होते हैं, वे नीति-निर्धारण करते हैं और प्रशासक वर्ग उनको लागू करता है। मन्त्रिमण्डल को प्रशासकीय नीति के निर्धारण के अर्थ शासन सम्बन्धी सम्पूर्ण सूचनाएँ और विभिन्न विषयो पर उपयुक्त विषय-वस्तु एकत्रित कर देते हैं।

प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति—प्रशासकीय अधिकारियो की सख्या बहुत बडी होती है। उन्हे कुछ निश्चित सुविधाएँ प्राप्त होता हैं, अच्छा वेतन मिलता है और स्थायी नौकरी होती है। अवकाश ग्रहण करने पर पेन्शन भी मिलती है। दूसरी ओर उनका शासन-सचालन मे अत्यधिक महत्त्व होता है। शासनतन्त्र की कुशलता चतुरता तथा ईमानदारी और निष्पक्षता प्रशासकीय वर्ग के अधिकारियो पर आधारित होती है। ऐसी अवस्था मे प्रशासकीय सगठन का एक विशेष महत्त्व है। अगर सम्पूर्ण प्रशासकीय पदाधिकारियो की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल के ही हाथ मे छोड दी जाय तो वह भ्रष्टाचार का स्रोत वन जायगी। मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने समर्थको तथा पार्टी वालो को उनकी सेवाओ के पुरस्कार के लिए इन नौकरियो को देंगे, वे विभिन्न प्रशासकीय पदो के लिए आवश्यक गुणो का ध्यान नही रखेंगे। ऐसी अवस्था मे अयोग्य अधिकारियो की नियुक्ति होती रहेगी और शासकीय मशीनरी अपने कर्त्तव्यो को कुशलतापूर्वक नही निभा सकेगी। सयुक्त राज्य अमेरिका मे १९वी सदी मे प्रत्येक प्रेजिडेण्ट अपने आप अपने प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति किया करता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकारी नौकरियों को प्रेजिडेण्ट अपने हितैषियो तथा समर्थको मे पुरस्कार स्वरूप बाँटता था। फलत शासनतन्त्र में भ्रष्टाचार तथा अयोग्यता का वोलवाला था। आखिर १८८३ मे इस व्यवस्था को खत्म किया गया और अस्सी प्रतिशत सरकारी नौकरियो के लिए प्रयोगात्मक व्यवस्था को निश्चित किया गया।

प्रो० लास्की का कथन है कि प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति के लिए दो खास असूलो का अनुसरण करना चाहिए (१) प्रथम तो राजनीतिक कार्यपालिका-मन्त्रिमण्डल-को प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति मे कम से-कम भाग दिया जाना चाहिए, क्योकि ऐसी अवस्था मे मन्त्रिमण्डल सरकारी नौकरियों को अपने ही समर्थको तथा हितैषियो मे बाँटेगा। प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति के लिए प्रतियोगात्मक व्यवस्था रहनी चाहिए। इस व्यवस्था द्वारा ही गुणात्मक परीक्षा हो सकती है।

(२) दूसरा प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति उस अवस्था पर की जानी चाहिए जव एक युवक या युवती अपनी जीविका के उपार्जन के लिए प्रयत्न करने योग्य हो जाता है। यानी प्रशासकीय अधिकारियो की नियुक्ति युवक या नवयुवतियों

मे से ही होनी चाहिए।

प्रशासकीय अधिकारियो की राजनीतिक तटस्थता, उनकी योग्यता तथा उनकी गुणात्मक-परीक्षा के लिए एक निष्पक्ष तथा निर्दलीय आयोग (Non-partisan Commission) की नियुक्ति की जानी चाहिए। साधारणतया इस कार्य का सम्पादन जन-सेवा आयोग (Public Service Commissions) करते हैं, इनके सगठन का एक वैधानिक आधार होता है। इनके सदस्यो की नियुक्ति की तथा उनके पदच्युत करने की व्यवस्था ऐसी की जाती कि वे राजनीतिक परिवर्तनो तथा राजनीतिक दलवन्दियो से प्रभावित न हो। इनकी स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता का भी इतना ही ख्याल किया जाता है जितना कि न्यायाधीशो की। ये आयोग समय-समय पर प्रतियोगात्मक परीक्षाओ की व्यवस्था करते रहते हैं और उन द्वारा उच्च सरकारी पदाधिकारियो का चुनाव करते रहते हैं। यही आयोग सरकारी नौकरो के अधिकारो तथा उनके वेतनो के विषय मे वास्तविक कार्यपालिका को सिफारिशें भेजते हैं। प्रशासकीय कार्यों को विभिन्न विभागो मे बाँट दिया जाता है। हमारे यहाँ निम्नलिखित प्रमुख प्रशासकीय विभाग है—

(१) गृह-विभाग (Home), (२) रक्षा-विभाग (Defence), विदेश विभाग (Foreign Affairs), सचार तथा परिवहन (Communication and Transport) सूचना और प्रसार (Information and Broadcasting), व्यापार तथा उद्योग (Commerce and Industry), शिक्षा (Education), स्वास्थ्य (Health), कृषि (Agriculture), इत्यादि। प्रत्येक मन्त्री एक विभाग का मुखिया होता है और उसकी सहायता के लिए सेक्रेट्रियो की व्यवस्था रहती है।

प्रशासकीय अधिकारीगण मन्त्रिपरिषद द्वारा पेश किये जाने वाले बिलो को तथा बजट को मन्त्रियो के आदेश के अनुसार तैयार करते हैं, वे न्याय-पालन सम्बन्धी कार्य भी करते हैं। प्रत्येक विभाग के कुछ विशेष नियम होते हैं, उनका अनुसरण सभी राज्य-पदाधिकारियो के लिए आवश्यक है। जब सभी विभागीय कर्मचारी इन्हें भग करते हैं या उनमे पारस्परिक झगडे उत्पन्न हो जाते है तो उनका निर्णय उच्च पदाधिकारी करते हैं।

मूल्याकन—प्रशासकीय वर्ग की प्रशसा भी की जाती है और आलोचना भी। प्रशासक वर्ग राजनीतिक पार्टीबाजी से ऊपर होता है, वह प्रशासकीय अनुभव-सम्पन्न होता है और स्थिरता तथा स्थायित्व के कारण वे सम्पूर्ण राज-काज को बडी योग्यता से चलाते है। परन्तु इसके साथ ही प्रशासकीय वर्ग की कार्य-पालन मे औपचारिकता व विलम्ब के लिए तीव्र आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि प्रशासक वर्ग किसी भी समस्या के सुलझाव मे औपचारिकता को अधिक महत्त्व देता है और तत्परता को कम। दूसरा सरकारी अधिकारियो का दृष्टिकोण विकसित नही होता, बल्कि विभागीय होता है। वह किसी भी समस्या को उसके समग्र रूप में नही बल्कि एक पक्षीय रूप मे ही देखते हैं, परिणाम यह होता है कि शासन-सचालन मे उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं, पारस्परिक कलह तथा विद्वेष पैदा हो जाता है।

प्रशासकीय वर्ग के अधिकारियों के चुनाव के लिए जिन प्रतियोगात्मक परीक्षाओ की व्यवस्था की जाती है वह बौद्धिकता पर अधिक बल देती है और प्रशासकीय व्यवस्था के लिए जरूरी गुणो की अवहेलना करती है।

प्रशासकीय व र्ग के अन्तर्गत अहकार भी उत्पन्न हो जाता है। वे समाज के अन्य वर्गो की अपेक्षा अपने आपको उच्च तथा महत्त्वपूर्ण समझने लगते है। उनका दृष्टिकोण 'नौकरशाही' का दृष्टिकोण बन जाता है, वे लोकमत की अवहेलना करने लग जाते हैं।

इस व्यवस्था के समर्थको का कथन है कि मन्त्रिमण्डल अपनी सम्पूर्ण कार्य-वाहियों के लिए जन-प्रतिनिधियो के प्रति उत्तरदायी होता है। वर्तमान शासन-प्रणाली उत्तरदायी शासन-व्यवस्था है। मन्त्रिजन अपनी नीति का निर्धारण स्वय करते है, उसकी स्वीकृति विधानपालिका से लेते है और तब सरकारी अधिकारी उन्हें लागू करते है। अत सरकारी पदाधिकारियो द्वारा लोक-मत की अवहेलना किये जाने का सवाल ही पैदा नही होता। सरकारी अधिकारी जनसाधारण के सेवक होते हैं, उनका नियन्त्रण मन्त्रिगण करते हैं। प्रजातन्त्र का आधार जन-सहमति है, वह इस व्यवस्था के अन्तर्गत खत्म नही हो सकता।

Important Questions

	Reference
1 Describe the nature and forms of the Executive (*Bombay 1941*)	Arts 128 and 129
2 Discuss the merits and demerits of the Single and Plural Executives—Which do you prefer ?	Art 129
3 State the functions of the Executive, (*Bom 1941, Cal 1923, 1921*) *Or* What are the political, administrative and legislative functions of the Executive ? (*Cal 1954*)	Art 132
4 What are the chief requisites of a properly organised executive in a modern democratic state (*Pb 1943, 1940*) *Or* Describe the different methods of constituting the executive, point out their relative merits and demerits	Arts 130 and 131
5 What part does the civil service, play in the Government of a democracy ? Discuss their position and functions (*Nag 1943, Pb 1933*) *Or* What are the provisions by which it can be made responsive to public opinion ? (*Pb 1944*)	Art 133
6 Explain the problems of the organisation of civil services with reference to recruitment, tenure and discipline (*Pb 1951*)	Art 132

न्यायपालिका का संगठन तथा कार्य

(ORGANISATION AND FUNCTIONS OF THE JUDICIARY)

१३४ न्याय-पालन शक्ति का विकास

न्यायपालिका शासन का तीसरा महत्त्वपूर्ण अग है। इसका कार्य सामाजिक सदस्यो के आपसी झगडो का व राज्य तथा व्यक्ति के झगडो का निपटारा करना है। राज्य का मुख्य कर्त्तव्य व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा तथा उसके अधिकारो की रचना करना है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए न्यायपालिका की व्यवस्था अनिवार्य है। पूर्ण रूप से विकसित विधानपालिका के अभाव मे राज्य-व्यवस्था हो सकती है, परन्तु न्यायपालिका की अनुपस्थिति मे किसी सभ्य राज्य की कल्पना नही जा सकती। **लार्ड ब्राइस का कथन ठीक है कि किसी भी सरकार की श्रेष्ठता उस राज्य की न्याय-पालिका की उच्चता से नापी जाती है।**

परन्तु न्याय-पालन का कार्य हाल ही मे राजकीय कर्त्तव्य समझा जाने लगा है। एक समय था जब न्याय-पालन राज्य-कर्त्तव्य नही माना जाता था, उस समय न्याय-पालन एक वैयक्तिक कार्य था। उसका आधार बदले की भावना था, 'खून का बदला खून,' यह भावना पुराने कबीलो मे काम करती थी। झगड़ो का निर्णय परम्परागत रीति-रिवाजो द्वारा होता था वह पारिवारिक प्रतिशोध की भावना का आधार बन जाता था। धीरे-धीरे प्रतिशोध की भावना के स्थान पर आर्थिक साधनो द्वारा क्षतिपूर्ति की व्यवस्था चल पडी, राजनीतिक सत्ता के विकास के अनन्तर अपराध वैयक्तिक न रहे, वे राज्य-सत्ता के प्रति अपराध समझे जाने लगे। राजा लोगो ने अपराधी को क्षति-पूर्ति के लिए मजबूर करना शुरू किया और जहाँ क्षति-पूर्ति (Compensation) सम्भव नही थी वहाँ सजा की व्यवस्था की गई। परन्तु उस समय इस शक्ति के कुछ अन्य दावेदार भी थे। वे थी बिरादरी की अदालतें, चर्च तथा सामन्ती अदालते। परन्तु धीरे-धीरे राजनीति और धर्म के पार्थक्य के कारण तथा राष्ट्रीय राज्यो के विकास के फलस्वरूप सामन्तीय तथा जातीय अदालतें समाप्त हो गईं और न्याय-शक्ति राजा के हाथ मे केन्द्रित हो गई। प्रारम्भ मे न्यायपालिका तथा कार्यपालिका का विभेद स्पष्ट नही था। इग्लैण्ड मे सम्राट् अपने सलाहकारो के सहयोग से न्याय पालन करता था। अन्यत्र भी राजा द्वारा नियुक्त शासकगण ही इस कर्त्तव्य का पालन सम्राट् के नाम से करते थे, परन्तु ज्यो-ज्यो राज्य कार्यों मे अभिवृद्धि होती गई, शासन का कार्य कठिन होता गया, कानून मे जटिलता आ गई न्याय-पालन ने एक पृथक् विभाग का रूप धारण कर लिया। आज के सभी प्रगतिशील तथा प्रजातन्त्रवादी राज्यों मे कार्यपालिका तथा न्याय-पालन सम्बन्धी शक्तियो का प्रयोग पृथक्-पृथक् अधिकारियो

द्वारा होता है।

प्रारम्भिक स्थिति मे कानून सभी नागरिको की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार नही करता था। समाज मे ऊँच-नीच की व्यवस्था थी, सैनिक तथा आर्थिक शक्ति के असमान बटवारे के फलस्वरूप न्याय का समान आधारो पर प्रचलन न था। गुलामी की प्रथा के फलस्वरूप दासो की एक बडी सख्या अनेक सामाजिक तथा राजनीति अधिकारो से वचित थी।

सयुक्त परिवार व्यवस्था के प्रचलन के परिणामस्वरूप स्त्रियो की बहुत बुरी अवस्था थी। अनेक स्थानो पर पितर या महापितर अपनी पुत्रियो को बेचने का भी अधिकार रखते थे। इसी प्रकार कानूनी तौर पर औरतें पति की दया पर निर्भर रहती थीं। परिवार मे महापितर की महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण लडको को भी वैयक्तिक अधिकार विशेष रूप से प्राप्त नही थे। वर्गो तथा वर्णो मे विभाजन के कारण अनेक विशेषाधिकार प्राप्त समुदाय उत्पन्न हो गये थे। हमारे यहाँ उच्च वर्णो के लोग विशेष अधिकारसम्पन्न थे, यूरोप मे पादरी लोगो की विशेष स्थिति को स्वीकार किया जाता था।

प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त इन विशेषाधिकारो को खत्म करने मे यकीन रखते थे। प्रजातन्त्र जनसामान्य की समानता को स्वीकार करता है, वह कानून की दृष्टि मे सभी सामाजिक तथा आर्थिक भेदो को कोई महत्त्व नहीं देता। कानून के सम्मुख सभी की समानता का सिद्धान्त का प्रचलन इग्लैण्ड तथा फ्रांस इत्यादि प्रजातन्त्रवादी राज्यो मे हुआ। **आज तो स्वतन्त्र न्यायपालिका व्यक्ति के नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा की सबसे बडी गारण्टी मानी जाती है।**

न्यायपालिका न केवल नागरिको के आपसी झगडो को ही निपटाती है वह वैयक्तिक अधिकारो को कार्यपालिका के अनुचित हस्तक्षेप से भी सुरक्षित रखती है। उसका काम वैयतिक स्वतन्त्रता तथा अधिकारो को वैयक्तिक तथा सार्वजनिक हस्तक्षेप से बचाना है। नागरिको मे सुरक्षा-भावना न्यायपालिका की शक्तियो तथा कार्यों द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। यही कारण है कि न्यायपालिका की शक्ति को सदा ही उच्च तथा महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है। न्यायपालन को धार्मिक कर्त्तव्य के सदृश पवित्र समझा जाता था, पुराने समय मे यह धर्माधिकारियो के कार्यो का एक भाग बना हुआ था। जनसाधारण न्यायाधीश की एक ऐसे आँख मूदकर बैठे व्यक्ति की तरह कल्पना करता है जो कि हाथ मे न्याय की तराजू को लिये हुए है और जिसका प्रयोग वह बिना भेद-भाव के करता है। न्याय व्यवस्था की उच्चता तथा निष्पक्षता केवल मात्र कानूनो की सुस्पष्टता पर ही आश्रित नही बल्कि न्यायाधीशों के उच्च नैतिक चरित्र तथा ज्ञानसम्पन्नता पर भी है।

१३५. न्यायपालिका के कर्त्तव्य (Functions of the Judiciary)

(१) न्यायपालिका का सर्वप्रथम कर्त्तव्य दीवानी तथा फौजदारी मामलो को मौजूदा कानून के अनुसार निपटाना है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के

व्यवहारिक झगडे आ जाते हैं और न्यायपालिका उनका कानून के अनुसार फैसला करती है। न्यायपालिका वैयक्तिक अधिकारो को निश्चित तथा सुरक्षित करती है, अपराधी को सजा देती है, तथा निर्दोष व्यक्ति को असुविधा तथा कष्ट से बचाती है। दीवानी मुकदमे नागरिको मे आपस मे भी हो सकते हैं और नागरिक तथा राज्य के भी। फौजदारी मामलो मे नागरिक को राज्य के प्रति अपराधी ठहराया जाता है।

(२) न्यायपालिका कानून की व्याख्या करती है, और कानून का निर्माण भी करती है। हम पीछे ही बता आये हैं कि न्यायाधीशो द्वारा अनेक नये कानून बनते रहते हैं। न्यायालयो द्वारा जो कानून बनाये जाते हैं उन्हे अंग्रेजी मे Judge made laws कहते हैं। न्यायालयो के सम्मुख अनेक बार ऐसे मुकदमे आ जाते हैं जिनका फैसला देश मे मौजूदा कानून के अनुसार नही किया जा सकता। बहुधा या तो कानून अस्पष्ट होता है या फिर उसमे ऐसे झगडो के निपटाने की व्यवस्था ही नही होती। ऐसी अवस्था मे न्यायाधीश प्रथम तो कानून की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है और यह स्पष्ट करने की कोशिश करता है कि विधानपालिका का उद्देश्य क्या था ? दूसरी अवस्था मे अगर वह समझता है कि विधानपालिका ने कोई ऐसी व्यवस्था नही की और कानून ही अपूर्ण है तो वह अपनी न्याय-बुद्धि, सत्य-ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर ऐसे मामलो का फैसला देगा। उसी निर्णय का जब अन्य न्यायाधीश भी समर्थन करेंगे और अपने निर्णय मे हवाला देंगे तो वह कानून बन जाएगा। इगलैण्ड, फ्रास तथा अमेरिका इत्यादि सभी राज्यो मे न्यायाधीशो को कानून-निर्माण का यह अधिकार प्राप्त है, वस्तुत न्यायाधीशो का यह अधिकार ही नही अपितु महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य भी समझा जाता है। इगलैण्ड का 'कामन लॉ' (Common Law) इसी आधार पर आधारित है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) औचित्य के सिद्धान्त (Principles of equity) तथा समझौते के कानून (Law of contract) इत्यादि भी अगर पूर्णरूप मे नहीं तो काफी हद तक इसी आधार पर आधारित हैं।

(३) न्यायालय वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा अधिकारो की भी रक्षा करते हैं। वैयक्तिक अधिकारो पर जहाँ नागरिको या नागरिक समूहो द्वारा हमले हो सकते हैं वहाँ उनका राज्य द्वारा उल्लघन भी सम्भव है। प्रत्येक जनतन्त्रात्मक राज्य कुछ वैयक्तिक अधिकारो को कानूनी मान्यता देता है। जब कभी राज्य इन अधिकारो का उल्लघन करता है तो पीडित नागरिक न्यायालय की शरण लेता है। भारतीय सविधान न्यायालय को वैयक्तिक अधिकारो को सुरक्षित रखने और उन्हे लागू करने का विशेप अधिकार देता है।

(४) न्यायपालिका को विधानपालिका या कार्यपालिका की प्रार्थना पर किसी सवैधानिक या वैधानिक प्रश्न पर अपना मत प्रगट करने का अधिकार भी प्राप्त है। यह ठीक है कि यह अधिकार केवल कुछेक देशो मे ही न्यायालयो को दिया गया है, अन्यत्र नही। सयुक्त राज्य अमेरिका मे न्यायपालिका को ऐसा अधिकार प्राप्त

नही। एक बार प्रेजिडेण्ट वाशिंगटन ने किसी कानूनी विषय पर न्यायपालिका से उसकी राय मांगी थी, परन्तु न्यायपालिका ने वैसा करने से इनकार कर दिया। न्यायधीशों का कथन था कि जब तक कोई निश्चित मुकदमा उनके सम्मुख नही आता तब तक वह विवादग्रस्त प्रश्नो पर अपना फैसला देने को तैयार नही। हाँ, इन दिनो अवश्य ही यह प्रयत्न किया जा रहा है कि न्यायालयो को कानूनी प्रश्नो पर विधानपालिका या कार्यपालिका की प्रार्थना पर अपना मत प्रगट करना चाहिए। फलत कुछेक राज्यो मे सामान्य रूप से यह अधिकार न्यायालयो को दे दिया गया है।

इग्लैण्ड तथा भारत मे इस विषय मे सवैधानिक व्यवस्था की गई है। इगलैण्ड मे कार्यपालिका की प्रार्थना पर प्रिवी कौंसिल की न्याय समिति कानून पर अपना मत प्रगट कर सकती है। इसी प्रकार हाउस ऑफ लार्ड्स जब सर्वोच्च न्यायालय के रूप मे कार्य करता है तो वह इग्लैण्ड के किसी भी न्यायालय से कानून मे किसी भी प्रश्न पर उसकी सम्मति जान सकता है।

भारत मे सविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को इस योग्य बना दिया है कि वह राष्ट्रपति के कहने पर कानून पर या तथ्यो पर अपनी राय दे सके। कनाडा मे भी कार्यपालिका की प्रार्थना पर न्यायालय अपना मत प्रगट कर सकता है।

(५) सघ राज्यो मे न्यायपालिका की एक विशेष स्थिति होती है, सविधान के लिखित होने के कारण तथा राज्यो और सघ सरकार मे शक्ति-विभाजन के फलस्वरूप न्यायपालिका को कुछ विशेष अधिकार दिये जाते हैं। न्यायपालिका सविधान की व्याख्या करती है और वह उसको सुरक्षित भी रखती है। इस स्थिति मे न्यायपालिका राज्य तथा सघ सरकार की विधानपालिकाओ द्वारा पास किये गये कानूनो की सवैधानिकता की परीक्षा करती है। अगर इन विधानपालिकाओ द्वारा कोई ऐसा कानून पास किया जाय जो कि सविधान के विरुद्ध हो, तो न्यायालय उसे असवैधानिक (Unconstitutional) घोषित कर सकते हैं। अनेक बार न्यायपालिकाएँ केवल मात्र सवैधानिक कानून की व्याख्या ही नही करती वे विधान-निर्माताओ के उद्देश्य तथा मन्तव्यो का अनुसरण भी करती है। वे उनको सविधान का आधार मानकर कानूनो को असवैधानिक करार दे देती हैं। न्यायपालिका राज्य सरकारो तथा सघ सरकार में उत्पन्न होने वाले झगडो को भी निपटाती है। लार्ड ब्राइस के कथानुसार "जब कार्यपालिका एक विधानपालिका के अधिकारों को अथवा सघ राज्य मे केन्द्रीय तथा राष्ट्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों की शासन-शक्तियों की सीमा के सवाल उठें तब आधारभूत तथा सर्वश्रेष्ठ कानून होने के नाते, सविधान के ठीक-ठीक कार्य का फैसला न्यायपालिका द्वारा होना चाहिए क्योंकि न्यायपालिका ही इस बात को उचित तथा अधिकारी व्याख्याकार हो सकती है कि आधारभूत लेख पत्र का निर्माण करते समय जनता का उद्देश्य क्या है।"[1]

---

1 When questions arise as to the limit of the powers of the executive or of the legislature or in a federation as to the limits of the respective powers of the central or national and those of the

सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत मे न्यायपालिका को कानूनो के अवैधानिक घोषित करने का अधिकार है। सर्वप्रथम इस प्रथा का उदय सयुक्त राज्य अमेरिका मे हुआ, जहाँ न्यायालयो ने उन कानूनो को मान्यता देने से इनकार कर दिया जिन्हे कि वे सविधान के अनुकूल नही समझते थे। भारत मे न्यायपालिका को इस विषय मे सवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं।

सविधान की व्याख्या तथा कानून के पर्यावलोचन (Revision) के अधिकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सघ राज्य मे शक्ति-विभाजन सम्बन्धी झगडो के निपटारे का इससे अधिक सन्तोषप्रद साधन अन्य कोई नही हो सकता।

(६) इन न्यायपालन सम्बन्धी कार्यो के अतिरिक्त न्यायपालिका अनेक अन्य प्रकार के कार्य भी करती है जिन्हे न्यायपालन के अन्तर्गत शामिल नही किया जा सकता। इनके अन्तर्गत साधारण कर्मचारियो तथा क्लर्को की नियुक्ति का अधिकार होता है। न्यायपालिका लाइसेन्स भी जारी करती है। जिनके उत्तराधिकारी अभी बालिग न हुए हो ऐसे मृत व्यक्तियो की जायदाद के लिए ट्रस्ट बनाती है, वसीयतनामों की रजिस्ट्री करती है, आर्थिक जिम्मेदारियो को पूरा न करने वाली कम्पनियो के लिए रिसीवर नियुक्त करती है। इसी प्रकार अधिकारियो द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर ज किसी काम को करने पर उन्हे अपने सीमाक्षेत्र मे रहने के आदेश जारी कर सकती है।

१३६ न्यायपालिका का संगठन (Organisation of Judiciary)

(१) न्यायपालिका का संगठन कार्यपालिका तथा विधानपालिका से भिन्न होता है। कार्यपालिका मे शासन-शक्ति एक ही व्यक्ति मे केन्द्रित होती है, विधानपालिका बहुत से व्यक्तियो से मिलकर बनती है जबकि न्यायपालिका मे न्यायपालन शक्ति न तो एक ही व्यक्ति मे केन्द्रित होती है और न ही बहुसंख्यक सभा के हाथ मे। न्यायालय एक न्यायाधीश से युक्त भी होते हैं और एक से अधिक से भी। दूसरा न्यायपालिका का सगठन सीढीनुमा होता है जिसमे एक के ऊपर दूसरे न्यायालय की व्यवस्था होती है। सबसे ऊपर एक सर्वोच्च न्यायालय होता है जिसे नीचे के न्यायालयो द्वारा किये गये अधिकाश फैसलो के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार होता है। भारत मे सबसे नीचे छोटा कोर्ट (Lower Court) है, फिर डिस्ट्रिक्ट कोर्ट तब हाई कोर्ट और अन्त मे सुप्रीम कोर्ट की व्यवस्था की गई है। सुप्रीम कोर्ट सर्वोच्च न्यायालय है। इग्लैण्ड तथा अमेरिका इत्यादि राज्यो मे भी न्यायालय का सगठन इसी रूप मे किया गया है।

---

state governments, it is by a Court of Law that the true meaning of the constitution, as the fundamental and supreme law ought to be determined, because it is rightful and authorized interpreter of what the people intended to declare when they were enacting a fundamental instrument"—*Bryce.*

अधिकाश राज्यो मे न्यायपालिका के दो मुख्य भाग होते हैं—**दीवानी अदालत** तथा **फौजदारी अदालत**। भारत मे न्यायालयो का ऐसा ही विभाजन किया गया है। इनके अतिरिक्त **माली अदालतें** (Revenue courts) भी होती हैं। कुछ विशेष प्रकार की समस्याओ के सुलझाव के लिए **विशिष्ट न्यायालयो** की भी स्थापना की जा सकती है। सैनिक तथा औद्योगिक झगडो के निपटारे के लिए इन्ही विषयो से सम्बन्धित विशेष अदालतें बना दी जाती हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत इत्यादि देशो मे एक ही प्रकार के न्यायालयो की व्यवस्था रहती हैं, इन्हें साधारण न्यायालय कहते हैं। इसके विपरीत फ्रास तथा इटली इत्यादि देशो मे **साधारण न्याया-लय** (Ordinary courts) **के अतिरिक्त प्रशासकीय न्यायालय** (Administra-tive courts) **भी रहते हैं**। साधारण नागरिको में उत्पन्न होने वाले झगडो का निपटारा साधारण न्यायालय करते हैं जब कि सरकारी अधिकारियो मे तथा साधारण नागरिको मे पैदा होने वाले झगडो का निपटारा एक विशेप प्रकार की अदालतो द्वारा किया जाता है जिन्हे प्रशासकीय न्यायालय कहा जाता है। इग्लैण्ड, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत मे साधारणतया एक ही न्यायाधीश न्यायालय मे होता है, जितनी भी साधारण अदालतें हैं वहाँ एक ही न्यायाधीश होता है। उच्च न्यायालय मे अवश्य ही एक से अधिक न्यायाधीशो की व्यवस्था रहती है। उच्च न्यायालय अपील के न्यायालय होते हैं। फ्रास तथा जर्मनी इत्यादि यूरोपीय राज्यो मे बहुसख्यक न्यायाधीशो से युक्त न्यायालयो की व्यवस्था रहती है। जस्टिस ऑफ दी पीस (Jus-tice of the Peace) को छोड शेप सभी न्यायालयो मे न्यायाधीशो की सख्या ३ से ५ तक होती है। जब तक कोई भी फैसला इन न्यायाधीशो द्वारा न दे दिया जाय तब तक वह मान्य नही होता। । वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा न्याय-व्यवस्था की कुशलता के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि न्यायालयो मे न्यायाधीशो की अच्छी सख्या हो, एक न्यायाधीश से गलती की सम्भावना रहती है। जब बहुत से न्यायाधीश मिलकर फैसला करेगे तो निश्चय ही उनका निर्णय अधिक न्यायसगत तथा उचित समझा जाएगा। इस अवस्था मे स्वेच्छाचारित के विकास का अवसर नही मिलेगा। फ्रास मे पाँच हजार न्यायाधीश हैं। इस प्रकार फ्रास मे न्याय-व्यवस्था पर बहुत खर्च होता है। जर्मनी मे भी बहुसख्यक न्यायालयो की व्यवस्था है। खर्च की अधिकता के बावजूद भी फ्रेंच-व्यवस्था अधिक तर्क-सगत तथा उचित समझी जाती है। फ्रास तथा जर्मनी इत्यादि देशो मे हमारे देश की तरह दीवानी तथा फौजदारी मामलो मे भेद नही किया जाता, एक ही न्यायालय दोनो मामलो मे अपना फैसला देता है।

इग्लैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे जज लोग दौरे पर जाते हैं, उनके लिए आवश्यक नही कि वे एक ही स्थान पर रहकर सभी मुकदमो का फैसला करें। मुकदमे वालो के सुभीते के लिए वे बजाय उन्हें अपने पास बुलाने के स्वय उनके पास जाकर उनके झगडो का निपटारा करते हैं। परन्तु फ्रास तथा जर्मनी इत्यादि यूरोपीय देशो मे ऐसी व्यवस्था नही मिलती, वहाँ न्यायालय स्थानीय हैं और अपने स्थान पर बैठकर ही अपने निर्णय देते हैं। इग्लैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका

मे न्यायाधीश निर्मित कानून का बहुत महत्त्व होता है, जब कि फ्रास तथा जर्मनी इत्यादि यूरोपीय देशो मे ऐसी व्यवस्था को प्रोत्साहन नही दिया जाता।

सघ राज्यो मे न्यायपालिका का सगठन एकात्मक शासन से भिन्न होता है, सयुक्त राज्य अमेरिका मे स्थानीय तथा सघीय दो प्रकार के न्यायालय हैं। स्थानीय न्यायालय विभिन्न राज्यो द्वारा निर्मित कानूनो को लागू करते हैं, उनका क्षेत्र सीमित होता है। इसी प्रकार सघीय न्यायालय सघ सरकार द्वारा पास किये गये कानूनो को ही लागू करता है और इनका अपना स्वतन्त्र क्षेत्र होता है। सघीय न्यायालय का सगठन भी स्वतन्त्र और सीढीनुमा ढंग से होता है, यही अवस्था राज्यो के स्थानीय न्यायालयो की भी होती हैं। परन्तु अमेरिकन व्यवस्था का अनुसरण सभी सघ राज्यो मे नही किया गया। भारत मे न्यायपालिका का सगठन एकात्मक है, यहाँ सघीय तथा विधायक राज्यो द्वारा पास किये गये कानूनो को लागू करने के लिए अलग-अलग न्यायालय नही होते। राज्यो की न्यायपालिकाएँ सघीय कानूनो को भी लागू करती हैं। यही नही भारत का सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) दीवानी तथा फौजदारी मामलो मे सम्पूर्ण राज्यो के उच्च न्यायालयो के निर्णयो के विरुद्ध अपील सुन सकता है। सोवियत रूस तथा स्विट्जरलैण्ड मे भी इससे मिलती-जुलती व्यवस्था कायम की गई है, इस सम्बन्ध मे सयुक्त राज्य अमेरिका का अनुसरण नही किया गया।

सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत मे न्यायपालिका को सवैधानिक पर्यावलोचन (Constitutional review) का अधिकार है। परन्तु फ्रास, ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य एकात्मक शासन-प्रणाली द्वारा शासित राज्यो मे ऐसी व्यवस्था नही मिलती। स्विट्जरलैण्ड तथा रूस भी सघ राज्य है, परन्तु वहाँ भी न्यायपालिका को सवैधानिक पर्यावलोचन का अधिकार नही। ग्रेट ब्रिटेन मे विधानपालिका की कानूनी (अबाध) प्रभुता के कारण न्यायपालिका को वह सभी कुछ स्वीकार करना पडता है जिसे कि विधानपालिका कानून रूप मे निर्धारित करे। इग्लैण्ड, सयुक्त राज्य अमेरिका, भारत तथा राष्ट्रमण्डल के अन्य राज्यो मे कानून के शासन (Rule of Law) की व्यवस्था मौजूद है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कानून की दृष्टि से सभी नागरिको की समानता को स्वीकार किया जाता है परन्तु फ्रास तथा जर्मनी आदि राज्यो मे साधारण नागरिको तथा सरकारी अधिकारियो मे अन्तर किया जाता है। सरकारी अधिकारियो पर जब कभी कोई जनसाधारण द्वारा मुकदमा चलाया जाता है तो वह एक विशेष अदालत मे चलाया जाता है, साधारण अदालत मे नही। इन देशो मे प्रशासकीय कानून की व्यवस्था रहती है।

१३७ न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (Independence of Judiciary)

वैयक्तिक अधिकारो की सुरक्षा तथा न्याय-पालन की कुशल व्यवस्था के लिए न्यायपालिका की स्वतन्त्रता आवश्यक है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के समर्थन के लिए शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को विकसित किया

गया। इस सिद्धान्त की चाहे जो त्रुटियाँ हो परन्तु यह बात तो आज सर्वमान्य है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका तथा विधानपालिका दोनो के ही नियन्त्रण से यथासम्भव स्वतन्त्र रखना चाहिए। यह ठीक है कि सरकार के विभिन्न अगो मे एकता है, और उनका पूर्ण पार्थक्य न केवल कठिन है अपितु असम्भव भी। फिर भी हमे यह अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि कार्यपालन तथा न्यायपालन सम्बन्धी शक्तियो को एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय मे केन्द्रित नही किया जाना चाहिए। अपराधी को पकड़ने वाला, उस पर दोषारोपण करने वाला स्वय ही उसके कार्यो का अन्तिम निर्णायक भी हो, यह सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार की व्यवस्था मे शासन-सत्ता का दुरुपयोग होगा और न्याय-पालन मे पक्षपात उत्पन्न हो जायगा। हमारे यहाँ जिलाधिकारी, डिप्टी कमिश्नर हैं, उन्हे शासन-सम्बन्धी शक्तियो के साथ-साथ न्याय-पालन सम्बन्धी शक्तियाँ भी सौपी गई हैं। यह व्यवस्था अत्यन्त असन्तोषजनक है, इससे न्याय-पालन मे पक्षपात उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि हमारे यहाँ यह माँग की जा रही है कि डिप्टी कमिश्नर से उसकी न्यायपालन सम्बन्धी शक्तियों को ले लेना चाहिए और इन दोनो शक्तियो का उपयोग भिन्न-भिन्न अधिकारियो द्वारा किया जाना चाहिए।

न्यायपालिका न केवल कानून की व्याख्या ही करती है या मुकदमो का फैसला करती है, वह नागरिको के अधिकारो की रक्षा भी करती है। सघराज्यो के अन्तर्गत उसका और भी अधिक महत्त्व होता है, क्योकि उसकी अनुपस्थिति मे तो सविधान राज्य सरकारो के लिए एक खिलौना मात्र बन जायगा।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता निम्नलिखित तत्त्वो पर आश्रित है—

(१) न्यायाधीशो की नियुक्ति का ढग।
(२) कार्य-काल।
(३) न्यायाधीशो की पदच्युति की व्यवस्था।
(४) वेतन।
(५) न्यायाधीशो की योग्यता।

इन सभी तत्त्वो पर पृथक्-पृथक् विचार करने से पूर्व हमे न्यायपालिका के कार्य की कुशलता तथा निष्पक्षता के लिए आवश्यक कुछेक अन्य तत्त्वो का सकेत कर देना चाहिए। न्यायपालन के कार्य मे शीघ्रता तथा निश्चयात्मकता होनी चाहिए, हमारे यहाँ न्यायपालन मे न तो निश्चयात्मकता ही है और न शीघ्रता ही। एक ही झगडे के फैसले मे बहुत समय गुजर जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे भी न्याय-व्यवस्था इस विषय मे पर्याप्त दोषपूर्ण है। न्यायपालन मे खर्च की भी कमी होनी चाहिए। साधारणतया गरीब लोग धनाभाव के कारण ही न्याय प्राप्त नही कर सकते। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान न्याय-व्यवस्था धनिक-वर्ग द्वारा शासित की जाती है। वे न केवल मुकदमो के निर्णय मे कानूनी बाधाएँ टालते हैं अपितु न्यायाधीशो को खरीद भी लेते हैं। अपीलो की व्यवस्था तो अवश्य होनी चाहिए परन्तु इतनी लम्बी नही कि मुकदमेबाजी का बडा लम्बा-चौडा आर्थिक हिसाब बन जाय। खर्च को कम

करने के लिए तथा मुकदमेबाजी को घटाने के लिए पारस्परिक समझौते या पच-निर्णय की व्यवस्था को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(१) **न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढग**—न्यायाधीशों की नियुक्ति के तीन प्रकार के ढग हो सकते हैं—

(१) जनता द्वारा चुनाव ।

(२) विधानपालिका द्वारा चुनाव।

(३) कार्यपालिका द्वारा चुनाव।

सामान्यतया इन सभी साधनो का विभिन्न देशो मे समय-समय पर प्रयोग किया गया है। न्यायाधीशो की नियुक्ति के लिए निर्वाचन-प्रणाली का सर्वप्रथम प्रयोग सन् १७९० मे फ्रास मे किया गया था। जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के अनेक लाभ बतलाये जाते है। यह कहा जाता है कि शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के समुचित पालन के लिए ऐसी व्यवस्था बहुत आवश्यक है। अगर विधानपालिका या कार्य-पालिका द्वारा जजो की नियुक्ति की जाती है तो वह शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के विपरीत होगी और उसके अन्तर्गत न्यायपालिका स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष नही हो सकेगी। प्रत्यक्ष निर्वाचन लोकसम्मत प्रभुता के सिद्धान्त के भी सर्वथा अनुकूल है।

वर्तमान युग मे सयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्जरलैण्ड के राज्यो मे इस व्यवस्था का प्रचलन है। रूस मे भी निम्नतम अदालतो के जज जनसामान्य द्वारा वालिग मताधिकार के आधार पर चुने जाते है।

फ्रास मे प्रारम्भ मे तो जनता ने सुयोग्य न्यायाधीशो का निर्वाचन किया, परन्तु वाद मे यह व्यवस्था अत्यन्त दूषित तथा भ्रष्ट समझी जाने लगी। नैपोलियन के समय मे इसको खत्म कर दिया गया। वर्तमान युग मे भी इस व्यवस्था की अनेक प्रकार से आलोचना की जाती है। प्रो० लॉस्की का कथन है कि **जजो की नियुक्ति के अन्य सभी साधनो की अपेक्षा उनका जनसाधारण द्वारा निर्वाचन निश्चय ही सबसे निकृष्ट है।**[1] क्योकि इसका परिणाम यह होता है कि न्यायाधीश स्वतन्त्र नही रह पाते वे दलवन्दी का शिकार हो जाते हैं उनका चुनाव भी पार्टी-वाजी के आधार पर होता है और यह भी कोई आवश्यक नही कि योग्यतम व्यक्ति ही चुने जायँ। फ्रास मे जव इस अवस्था का प्रचलन था तो उस समय माली, क्लर्क, सगतराश तथा नक्शा-नवीस जज चुने गये थे। ऐसी अवस्था मे न्यायाधीश राजनीतिज्ञ हो जाते है। राजनीतिज्ञ मे न वह निर्भिकता होती है और न ही वह निष्पक्षता जो कि एक उच्च न्यायपदाधिकारी के आवश्यक गुण समझे जाते है।

जनसामान्य द्वारा चुनाव की व्यवस्था के फलस्वरूप न्यायाधीश न्यायपालन की वजाय जनसामान्य को खुश करना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझने लग जाते हैं, और अगर पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था हो तो जज की स्थिति और भी खराव हो जाती है। वह न्यायपालन को भूल अपने पुनर्निर्वाचन के लिए ही अधिक उत्साहपूर्ण होता

1 "Of all the methods of appointment that of the election by the people at large is without exception the worst"—*Laski.*

है। निर्वाचन के दिनो मे जिन लोगो ने उसकी सहायता की होती है क्या वह उनके प्रति कृतज्ञ नही होगा ?

जनसाधारण द्वारा निर्वाचन की एक और बडी कमी यह है कि जनसाधारण के पास वह विवेक तथा सामान्य ज्ञान नही होता जिसके आधार पर वह न्यायाधीश के लिए आवश्यक गुणो पर विचार कर सके और न्यायाधीश पद के लिए खडे उम्मीदवार के गुणो को जांच सके। प्राय राजनीतिक षड्यन्त्र, स्थानीय तथा वर्गगत प्रभाव तथा अन्य प्रलोभनो के फलस्वरूप अवसरवादी व्यक्ति न्यायाधीश चुने जाते हैं। गार्नर ने इस व्यवस्था की निन्दा करते हुए कहा है कि **"निर्वाचन से न्यायाधीशो का चारित्रिक पतन होता है, न्यायाधीश राजनीतिक नेता बन जाता है और उसके मन पर इतना बोझ पड जाता है कि वह उसे सदा सहन नहीं कर पाता।"**[1]

न्यायाधीशो के निर्वाचन का दूसरा ढग विधानपालिका द्वारा चुनाव है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विधानपालिका स्वतन्त्र रूप से या कार्यपालिका के सुझाव पर न्यायाधीशो का निर्वाचन करती है। स्विट्जरलैण्ड मे सर्वोच्च न्यायाधीशो का निर्वाचन सघीय विधानपालिका करती है। सोवियत रूस मे भी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सुप्रीम सोवियत द्वारा चुने जाते हैं, सयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यो मे भी कही-कही इसी व्यवस्था का प्रचलन है। परन्तु इस व्यवस्था की कडी आलोचना की जाती है। सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था द्वारा सत्ता विभाजन के सिद्धान्त का उल्लघन होता है। न्यायपालिका अपने स्वरूप तथा क्षेत्र इत्यादि के विषय मे विधानपालिका पर आश्रित हो जाती है, वह स्वतन्त्र नही रहती। यह कहना भी गलत है कि इस व्यवस्था द्वारा अनुभवी राजनीतिज्ञ निष्पक्ष रूप से अपनी जिम्मेदारी का अनुभव करते हुए उपयुक्त व्यक्तियो को ही न्यायाधीश चुनेंगे, दरअसल ऐसा नही हो पाता चुनाव सदा दलगत स्वार्थो के आधार पर होता है। व्यावहारिक रूप से इसे भी उसी प्रकार दोषपूर्ण पाया गया है जिस प्रकार कि प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था को।

न्यायाधीशो की नियुक्ति का सर्वप्रमुख व्यावहारिक साधन कार्यपालिका द्वारा इनकी नियुक्ति है। आजकल प्राय सर्वत्र ही इस साधन का प्रयोग किया जाता है। भारत मे राष्ट्रपति को तथा इग्लैण्ड मे सम्राट् को न्यायाधीशो की नियुक्ति का अधिकार है। सयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यो मे इसी व्यवस्था को अपनाया गया है। इसी प्रणाली को सामान्यतया न्यायाधीशों की नियुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन कहा जाता है। यह यकीन किया जाता है कि न्यायाधीशो के लिए आवश्यक गुणो की परख न तो जनसाधारण ही कर सकते हैं और न विधानपालिका ही, केवलमात्र कार्यपालिका ही इन आवश्यक गुणो की जाँच कर उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव कर सकती है। दलबन्दी की भावना का भी यहाँ उतना प्रभाव सम्भव नही। जहाँ कही पार्लियामेण्ट्री शासन-व्यवस्था होती है और जहाँ राष्ट्रपति को नाम मात्र के अधिकार प्राप्त

---

1 "Election (of the judges) lowers the character of the judiciary, tends to make a politician of the judge and subjects the judicial mind to a strain which it is not always able to resist"—*Garner*

होते है वहाँ तो न्यायाधीशो की नियुक्ति वास्तविक अर्थ मे मन्त्रि-परिषद या न्यायमन्त्री द्वारा की जाती है।

छोटे न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति मे प्रतियोगात्मक व्यवस्था का अनुसरण किया जाता है और वे सरकार के स्थायी कर्मचारियो मे गिने जाते है। न्यायपालिका के सगठन का यह ढग भी सर्वथा दोषरहित नही कहा जा सकता, क्योकि प्राय सभी जगह यह शिकायत रहती है कि न्यायाधीशो की नियुक्ति दलबन्दी की भावनाओ के आधार पर होती है और न्यायाधीशो का पद पुरस्कार रूप मे पार्टी-समर्थको को सौपा जाता है। कुछ विचारको का मत है कि न्यायाधीशो की नियुक्ति तो कार्यपालिका द्वारा ही हो, परन्तु कार्यपालिका स्वतन्त्र रूप से ऐसा न करे, अपितु न्यायाधीशो की एक सलाहकार समिति की सिफारिशो को स्वीकार कर उनकी नियुक्ति करे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पार्टीबाजी का दोष दूर हो सकता है। भारतीय सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति न्यायाधीशो की नियुक्ति करता हुआ भारत के सर्वोच्च न्यायालय व राज्यो के उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो की सलाह लेता है।

(२) **न्यायाधीशों का कार्यकाल**—न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता बहुत कुछ उनके कार्य-काल पर भी आश्रित है। अगर जजो को एक निश्चित कार्य-काल के लिए ही नियुक्त किया जाय और तदनन्तर हटा दिया जाय तो उनकी स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता कायम नही रह सकती। सयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यो मे न्यायाधीशो का कार्य-काल २ से २१ वर्ष है। कुछेक राज्यो मे तो उनका कार्य-काल १ वर्ष है जब कि अन्य मे २१ वर्ष। स्विट्जरलैण्ड मे न्यायाधीशो का कार्य-काल ६ वर्ष है।

परन्तु इन दो देशो के अतिरिक्त अन्य प्राय सभी जगह न्यायाधीश तब तक अपने पद पर कार्य करते है जब तक कि वे ठीक-ठीक तरह से अपने कर्त्तव्य पूर्ण करते रहे।

ऐसा कार्यकाल सद्व्यवहार (Good behavior) पर्यन्त भी कहा जाता है। लम्बा कार्यकाल जहाँ न्यायाधीशो को वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है वहाँ उन्हे न्यायपालन मे अनुभव प्राप्ति का मौका भी देता है। हैमिल्टन का कथन है कि **"न्यायाधीशो का सद्व्यवहार पर्यन्त अपने पद पर आसीन रहने का नियम, वास्तव मे शासन के प्रयोगो में एक श्रेष्ठ आधुनिक सुधार है। एकतन्त्र मे वह शासन की अनियन्त्रित शक्ति के मार्ग मे एक रुकावट है। गणतन्त्र मे वह प्रतिनिधि-सभाओ के अन्यायो तथा अतिक्रमणों के विरुद्ध भी कम अच्छी बाधा नहीं है। किसी भी शासन मे निष्पक्ष स्थायी और समुचित रीति से कानूनो को लागू करने को यही श्रेष्ठ प्रणाली है।"** छोटे कार्यकाल जजो को स्वार्थी बना देते है, वह अपने कार्यकाल के दौरान मे अधिक से अधिक आर्थिक लाभ उठा लेना चाहते है। न्याय व्यवस्था मे भ्रष्टाचार इत्यादि दोषो को दूर करने के लिए लम्बे कार्यकाल का होना आवश्यक है।

(३) **न्यायाधीशो का अपने पद से हटाया जाना**—न्यायाधीशो के कार्यकाल के साथ ही उनके अपने पद से हटाए जाने की समस्या भी आ जाती है। जहाँ कही न्यायाधीशो का कार्य-काल सद्व्यवहार पर आश्रित हो, वहाँ उनको उनके पद से हटाये जाने की भी कोई न कोई व्यवस्था करनी ही चाहिए। अपने पद पर कार्य करते हुए

अनेक बार न्यायधीश अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लग जाते है या वह कर्त्तव्य-पालन मे सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं, उस समय उनको उनके पद से हटाये जाने के अतिरिक्त कोई चारा ही नही रहता। अत सभी जगह असमर्थ तथा अक्षम न्यायाधीशो को उनके पद से हटाए जाने की व्यवस्था रहती है। परन्तु साधारणतया यह यकीन किया जाता है कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता के लिए यह लाजमी है कि उनके पदच्युत (Removal) करने की व्यवस्था सरल नही वल्कि कठिन होनी चाहिए। अगर उन्हें कार्यपालिका या विधानपालिका के अधीन ही कर दिया जाय तो वे अपनी स्वतन्त्रता खो बैठेंगे और निष्पक्ष न्याय-पालन मे सर्वथा असमर्थ हो जायेंगे।

पहले-पहल इग्लैण्ड मे न्यायाधीशों का कार्य-काल सम्राट् की इच्छा पर आश्रित होता था। परन्तु यह व्यवस्था अत्यन्त त्रुटिपूर्ण थी, क्योकि इस व्यवस्था द्वारा सम्राट् को न्यायपालिका पर अमित नियन्त्रण प्राप्त हो जाता था। आजकल भी ग्रेट ब्रिटेन मे सम्राट् ही एक न्यायाधीश को उसके पद से अलग कर सकता है परन्तु ऐसा वह तभी कर सकता है जब कि पार्लियामेण्ट के दोनो सदन वहुमत से इस विषय पर एक विशेष प्रार्थना-पत्र सम्राट् को पेश करें।

सयुक्त राज्य अमेरिका मे न्यादाधीश पर विधानपालिका मे अभियोग (Impeachment) चलाने की व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अमेरिकन काग्रेस का निचला सदन दोषारोपण करता है और सीनेट उनकी परीक्षा कर अपना निर्णय देती है।

भारत मे ब्रिटिश व्यवस्था का अनुसरण किया गया है, सर्वोच्च न्यायालयो के न्यायाधीश अपने पदो से राष्ट्रपति द्वारा हटाए जा सकते है, परन्तु राष्ट्रपति अपने आप ही ऐसा नही कर सकता। भारतीय ससद के दोनो सदन यदि एक प्रस्ताव द्वारा किसी भी न्यायाधीश पर अनुचित व्यवहार तथा अक्षमता का दोषारोपण कर उसे उपस्थित सदस्यो के दो-तिहाई वहुमत से पास करें तभी राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को उसके पद से हटा सकता है।

सयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यो के अन्तर्गत तथा सोवियत रूस मे छोटे न्यायालयों के न्यायाधीशो को जनमत द्वारा वापस बुलाया (Recall) जा सकता है, परन्तु इस व्यवस्था को दोषपूर्ण माना गया है। इससे न्यायाधीश की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता खत्म हो जाती है।

यूरोपीय देशो मे न्यायाधीशो को पदच्युत करने की इनसे भिन्न एक अन्य व्यवस्था का अनुसरण किया गया है। इस व्यवस्था के अनुसार छोटी अदालतों के न्यायाधीशो को उनके पद से हटाने के लिए उन पर सर्वोच्च न्यायालय मे मुकदमा चलाया जाता है, दोषी साबित होने पर उन्हे अपने पद से हटाया जा सकता है। वडे-वडे न्यायालयो के अधिकारियो को उनके पद से हटाने के लिए अनुशासन न्यायालय की व्यवस्था रहती है।

(४) न्यायाधीशो का वेतन भी न्यायपालिकाओ की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता का एक प्रमुख कारण है। अर्थ-प्राप्ति का लालच मनुष्य को पथ-भ्रष्ट कर

सकता है। अगर कार्यकाल लम्बा हो और नौकरी की सुरक्षा भी हो परन्तु न्यायाधीशो को सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक वेतन न मिलता हो तो निश्चय ही वे लोग अपनी शक्ति तथा साधनो का दुरुपयोग करेंगे। अतः न्यायाधीशो को निडर, स्वतन्त्र, निष्पक्ष तथा कर्त्तव्य-परायण बनाने के लिए उनकी आर्थिक सुविधाओ का समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए।

न्यायाधीशो की योग्यताएँ—न्यायपालन विशेष योग्यता का कार्य है। न्यायाधीशो के लिए यह आवश्यक है कि वे कानून से अच्छी तरह परिचित हो, वस्तुत उन्हे कानून का पण्डित होना चाहिए। प्राय सभी जगह न्यायाधीशो की नियुक्त करते समय उनके कानून विषयक ज्ञान की जाँच की जाती है। परन्तु एक उच्च न्यायाधीश के लिए कानून का विशेष ज्ञान ही आवश्यक नही, उसे निष्पक्ष भी होना चाहिए। पूर्वाग्रह न्याय-व्यवस्था के लिए घातक है। उसे अपनी भावनाओ तथा अपनी वैयक्तिक धारणाओ को अपने नियन्त्रण मे रखना चाहिए और उससे अपने निर्णयो को प्रभावित नही होने देना चाहिए। इसके साथ न्यायाधीश को सत्यनिष्ठ, ईमानदार तथा बाह्य प्रभावो से मुक्त होना चाहिए। यदि न्यायाधीश ईमानदार नही, वे अर्थ प्राप्ति के लालच मे फँस जाते है, तो उस समय न्याय-व्यवस्था दुखद परिहास मात्र बन कर रह जाती है। नैतिक आचरण की उच्चता जितनी एक न्यायाधीश के लिए आवश्यक है उतनी शायद किसी अन्य के लिए नही। उसे मानव मनोविज्ञान का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए। न्याय-पालन मे उसे कानून को लकीर का फकीर ही नही होना चाहिए अपितु अपनी न्याय-भावना, सामान्य बुद्धि तथा ज्ञान का भी समुचित इस्तेमाल करना चाहिए। न्यायाधीश का कार्य मानवीय है, यान्त्रिक नही।

१३८ कानून का राज्य (Rule of Law) तथा प्रशासकीय कानून (Administrative Law)

न्यायपालिका के सगठन तथा क्षेत्र का विवरण देते हुए हमे 'कानून का राज्य' तथा 'प्रशासकीय कानून' की व्यवस्थाओ का अध्ययन भी कर लेना चाहिए।

इग्लैण्ड के सविधान की एक प्रमुख विशेपता कानून का राज्य है। कानून का राज्य वहाँ के कॉमन लॉ पर आधारित है, और उसके बल पर इग्लैण्ड मे नागरिक की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा उसके अन्य अधिकार पूर्णतया सुरक्षित हैं। इग्लैण्ड के अनुसरण पर ही अमेरिका तथा राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यो मे इस व्यवस्था का प्रचलन है। **कानून के राज्य का अर्थ है कि देश मे किसी व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता का या किसी सम्राट् की निरंकुश शक्ति का शासन नहीं अपितु कानून का शासन है।** सभी नागरिक तथा राज्य-पदाधिकारी कानून के सम्मुख बराबर हैं, और न्याय-पालन की एक ही व्यवस्था है, दो नही। राज्याधिकारी तथा साधारण नागरिक एक ही प्रकार के कानून के अधीन हैं और एक ही प्रकार के न्यायालयो द्वारा शासित किए जाते हैं। कोई भी व्यक्ति कानून से परे या ऊपर नही। प्रो० डायसी ने कानून के राज्य की बडी विशद विवेचना की है, उन्होंने इसे ब्रिटिश सविधान का आधार माना है।

प्रो० डायसी का कथन है कि कानून के राज्य का अभिप्राय केवल मात्र 'यह नहीं है कि कोई व्यक्ति कानून की पहुँच से बाहर है (जो कि एक अलग बात है), बल्कि यह है कि यहां पर प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसका सामाजिक पद और स्थिति कैसी भी हो, प्रदेश के सामान्य कानून की परिधि मे आता है और सामान्य न्यायालयों के क्षेत्र के अधीन है।"[1]

जर्मनी तथा फ्रास मे सरकारी अधिकारियो का विशेषाधिकार प्राप्त हैं परन्तु इग्लैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे राज-कर्मचारी भी साधारण नागरिको के समान उत्तरदायी है। प्रो० डायसी का कथन है कि "हमारे यहां प्रधान मन्त्री से लेकर एक साधारण सिपाही या करसग्रहकर्त्ता तक सभी साधारण नागरिको की तरह अपनी गैरकानूनी कार्यवाहियो के लिए उत्तरदायी है।"[2] इग्लैण्ड मे अनेक राज-कर्मचारियो पर गैरकानूनी कार्यवाहियो के लिए मुकदमे चले है और उन्हे अपनी स्थिति का दुरुपयोग करने के अपराध मे सजा दी गई है।

डायसी के अनुसार यह व्यवस्था इग्लैण्ड मे साधारण नागरिको के अधिकारो की सुरक्षा का प्रमुख साधन है। उसने कहा कि "किसी भी शक्ति को शारीरिक तथा साम्पत्तिक दण्ड तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि देश के न्यायालयो के सम्मुख विधिवत कानून भग को साबित न कर दिया जाय"[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी नागरिक की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति का अपहरण तब तक नही किया जा सकता जब तक कि कानून के आधार पर न्यायालय उसे अपराधी साबित नही कर दें। इस व्यवस्था के फलस्वरूप कार्यपालिका की शक्ति सीमित हो जाती है और न्यायपालिका राज्य-कर्मचारियो की कार्यवाही की समुचित समीक्षा कर सकती है। डायसी का कथन है कि इग्लैण्ड मे कार्यपालिका कभी निरकुश तथा स्वेच्छाचारी नही हो सकती।

परन्तु यह व्यवस्था सभी पर समान रूप से लागू नही होती। सम्राट् पर किसी भी न्यायालय मे मुकदमा नही चलाया जा सकता। इसी प्रकार अनेक अन्य राज-कर्मचारी भी साधारण कानून के नियन्त्रण से मुक्त होते हैं और उन पर साधारण न्यायालय मे मुकदमा नही चलाया जा सकता। उदाहरणार्थ इग्लैण्ड मे न्यायाधीश अनजाने मे यदि अपने अधिकार-क्षेत्र का उल्लघन कर दें तो उनके विरुद्ध

---

1 "Not only that with us no man is above the law, but (what is a different thing) that here every man, whatever be his rank or condition is subject to the ordinary law of the realm and amenable to the jurisdiction of the ordinary tribunals" —*Dicey*

2 "With us every official, from the Prime Minister to a constable or a collector of taxes, is under the same responsibility for every act done without legal justification as any other citizen"

3 "That no man is punishable or can be lawfully made to suffer in body or in goods except for a distinct breach of law established in the ordinary legal manner before the ordinary courts of the land"

—*Dicey*

कोई कार्यवाही नही की जाती। यातायात तथा परिवहन के अधिकारी-जन भी अपने अनेक विभागीय गलतियो के लिए अपने विभाग के ऊँचे अधिकारियो के प्रति जिम्मेदार होते है। इधर पार्लियामेण्ट के अनेक कानूनो द्वारा कानून के राज्य की व्यवस्था के क्षेत्र को संकुचित किया जा रहा है। फैक्टरी एक्ट, ऐजुकेशन एक्ट इत्यादि द्वारा प्रशासकीय कानून व्यवस्था की स्थापना की जा रही है। युद्ध के दौरान मे तो कानून के राज्य (Rule of Law) की व्यवस्था वैसे ही समाप्त हो जाती है।

१३६ प्रशासकीय कानून (Adminisrative Law)

कानून के राज्य के विपरीत फ्रास, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड इत्यादि देशो मे प्रशासकीय कानून तथा प्रशासकीय न्यायालयो (Administrative courts) की व्यवस्था रहती है। इन न्यायालयो का सगठन प्रशासकीय न्यायालयो से भिन्न होता है। इन न्यायालयो का सगठन साधारण नागरिक तथा राज्य-कर्मचारियो के पारस्परिक झगडो को निपटाने के लिए किया जाता है। प्रशासकीय कानून भी साधारण कानून से भिन्न होता है। प्रशासकीय कानून विधानपालिका द्वारा निर्धारित नही होता और न ही वह लिखित तथा सगृहीत (Codified) होता है, वह परम्परागत न्याय-निर्णयो पर आधारित होता है। ग्रेट ब्रिटेन के कॉमन लॉ (Common Law) की तरह यह भी न्यायाधीश निर्मित कानूनो पर आधारित होता है।

प्रशासकीय कानून का आधार—रोमन कानून-व्यवस्था को प्रशासकीय कानून का एक प्रमुख आधार माना जाता है। रोमन कानून के अनुसार कहा जाता है कि राज्य के सरकारी अधिकारियो को विशेष सुरक्षा होनी चाहिए और उन पर साधारण न्यायालयो मे मुकदमा नही चलाया जाना चाहिए। अगर नागरिको को राज-कर्मचारियो के विरुद्ध कोई शिकायत हो या राज-कर्मचारी अपनी शासकीय स्थिति मे साधारण नागरिक के अधिकारो को नष्ट करने का प्रयत्न करे तो उस समय उनकी कार्यवाहियो की जाँच विशेष न्यायालय द्वारा होनी ही चाहिए जो साधारण न्यायालय से भिन्न हो।

दरअसल तो इस व्यवस्था का जन्म फ्रास की विशेष प्रकार की परिस्थितियो के अन्तर्गत ही हुआ और फ्रास का अनुसरण करते हुए ही जर्मनी तथा स्विट्जरलैण्ड मे इस व्यवस्था का प्रचलन हुआ। क्रान्ति से पूर्व फ्रास मे शासन मे तथा न्यायालयो मे अनेक बार कलहपूर्ण विवाद उत्पन्न हो जाते थे। क्रान्ति के अनन्तर यह अनुभव किया गया कि न्यायालयो द्वारा प्रशासकीय मामलो मे हस्तक्षेप सुशासन के लिए घातक है, शासन के अधिकारियो पर न्यायालय द्वारा किये जा रहे कडे नियन्त्रण की यह प्रतिक्रिया थी। न्यायालय तथा प्रशासकीय विभाग की स्वतन्त्रता का सैद्धान्तिक समर्थन मॉन्तेस्क्यू के शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त द्वारा किया गया। क्रान्तिकालीन सविधानो मे इस व्यवस्था को अपनाया गया, नैपोलियन ने भी इसे खत्म न किया और आज तक इसके कुछ परिवर्तित रूप का फ्रास मे प्रचलन है।

१७९० ई० से कानून द्वारा न्यायिक तथा प्रशासकीय विभागो के विभाजन

की व्यवस्था की गई थी। साधारण न्यायालय का क्षेत्र दीवानी तथा फौजदारी मामलो के निर्णय तक सीमित कर दिया गया। शासकीय झगडो की देखभाल तथा उनके निर्णाया का अधिकार प्रशासन-विभाग को सौप दिगा गया।

प्रशासकीय कानून की परिभाषा—प्रो० डायसी ने प्रशासकीय कानून की परिभाषा करते हुए कहा है कि **"प्रशासकीय कानून का अभिप्राय नियमो के उस सग्रह से है जिसके आधीन राज्य के सभी अधिकारियों की स्थिति तथा उनकी जिम्मेदारी, राज्य का प्रतिनिधित्व करते हुए अधिकारियो के साथ तथा अपने सम्बन्धों मे नागरिको के अधिकारो तथा जिम्मेदारियों का, और इन अधिकारो तथा जिम्मेदारियो को प्रभावशाली बनाने की व्यवस्था का निश्चय तथा नियमन किया जाता है।"**[1]

प्रशासकीय कानून इस प्रकार साधारण नागरिको तथा राज-कर्मचारियो के सम्बन्धो का निर्णय करते हैं, दोनो के उत्तरदायित्वो तथा अधिकारो की व्यवस्था करते हैं और ऐसे साधन का निश्चय करते है जिसके द्वारा उपर्युक्त नियमो का पालन हो सके।

फ्रांस के प्रशासकीय न्यायालयो का सगठन—फ्रास मे पहले तो प्रशासकीय अधिकारियो सम्बन्धी झगडो का निर्णय शासनाधिकारी ही लिया करते थे, परन्तु बाद मे प्रशासकीय न्यायालयो की स्थापना की गई। सन् १७९९ मे प्रान्तीय कौन्सिल तथा स्टेट कौन्सिल बनाई गई। परन्तु सन् १९२६ मे प्रशासकीय न्यायालयो का पुनर्गठन किया गया। इस समय फ्रास मे २२ प्रादेशिक कौन्सिलें हैं जो विभिन्न प्रान्तो मे प्रशासकीय कानून के अनुसार झगडो का निर्णय करती हैं। सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय कौन्सिल ऑफ स्टेट है जो कि पैरिस मे अपना काम करती है। प्रत्येक-प्रादेशिक कौन्सिल (Regional Council) का एक प्रधान होता है और चार सदस्य। इनकी नियुक्ति गृह-मन्त्री (Minister of Interior) द्वारा की जाती है। प्रादेशिक कौन्सिल के फैसलो के विरुद्ध कौन्सिल ऑफ स्टेट के पास अपील की जा सकती है। कौन्सिल ऑफ स्टेट (Council of State) सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय है और उसका निर्णय अन्तिम होता है। कौन्सिल ऑफ स्टेट के सदस्यो की नियुक्ति राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सलाह पर करता है।

प्रशासकीय न्यायालयो तथा साधारण न्यायालयो के पारस्परिक विवाद के निर्णय के लिए कॉनफ्लिक्ट कोर्ट (Conflict Court) की व्यवस्था की गई है। कॉनफ्लिक्ट कोर्ट के नौ सदस्य हैं, तीन सर्वोच्च न्यायालय के प्रतिनिधि होते हैं, तीन सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय (Council of State) के और दो सदस्यो का चुनाव दोनो दल मिल कर करते हैं। नवाँ सदस्य न्याय-मन्त्री (Minister of

---

1 "Administrative law is the body of rules which regulates the relations of the administrative authority towards private citizens and determines the position of state officials, the rights and liabilites of the private citizens in their dealings with these officials as representatives of the state and procedure by which these rights and liabilities are enforced"—*Dicey*

Justice) होता है जो इस कोर्ट का प्रधान भी होता है। आठ सदस्य तीन साल के लिए चुने जाते हैं, उनके दुबारा चुने जाने की व्यवस्था भी है। न्यायमन्त्री मन्त्रिमण्डल का सदस्य होने के कारण मन्त्रिमण्डल के जीवन-काल तक ही इसका प्रधान रहता है। स्थानीय मेयर से लेकर राष्ट्रपति तक जितने भी राज्याधिकारी हैं उनके कार्यो का वैधता तथा अवैधता का अन्तिम निर्णय कौन्सिल ऑफ स्टेट करती है। उनके कार्यो से जिन व्यक्तियो को नुक्सान पहुँचता है उनकी क्षति-पूर्ति की व्यवस्था भी प्रशासकीय न्यायालय ही करते है।

प्रशासकीय न्यायालय का मूल्यांकन—प्रशासकीय न्यायालयो की व्यवस्था की कुछेक अंग्रेज विधानशास्त्रियों ने कड़ी आलोचना की है। प्रो० डायसी का कथन है कि प्रशासकीय न्यायालयो से न्याय की उम्मीद नही की जा सकती, क्योकि प्रशासकीय न्यायालयो का सगठन सरकारी अधिकारियो से मिलकर होता है। वे साधारण नागरिको के हितो की रक्षा की बजाय अपने सहयोगियो तथा साथियो की ही सहायता अधिक करेंगे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता की आशा नही की जा सकती। उनका कार्यकाल (Term of Office) कार्यपालिका की इच्छा पर आश्रित होता है, वह जब चाहे उन्हे हटा सकती है, अत वे सदा ही कार्यपालिका के प्रभाव मे रहते हैं।

कौन्सिल ऑफ स्टेट ने इतनी शक्ति अपने हाथ मे निहित करली है कि उसके परिणामस्वरूप साधारण न्यायालयो की प्रतिष्ठा बहुत गिर गई है।

साधारणतया यह व्यवस्था इसलिए भी ठीक नही जँचती कि यह साधारण नागरिक में और सरकारी अधिकारियो मे अन्तर करती है। दोनो के लिए दो विभिन्न प्रकार के कानूनो की तथा न्यायालयो की व्यवस्था करती है।

परन्तु उपर्युक्त आलोचना बहुत-कुछ भ्रमपूर्ण आधारो पर आश्रित है। अमेरिका तथा इंगलैण्ड दोनो ही देशो मे ऐसे विधानशास्त्री मौजूद है जो इस व्यवस्था की बहुत प्रशसा करते हैं। यहाँ तक कि प्रो० डायसी ने भी प्रशासकीय न्याय-व्यवस्था की प्रशसा की है। उसका कथन है कि कौन्सिल ऑफ स्टेट हर साल बड़ी बुद्धिमत्ता तथा चतुरता से राज-कर्मचारियो की स्वेच्छाचारिता को रोकने के उपाय खोजती रहती है, उसने यह स्वीकार किया है कि अंग्रेज विधानशास्त्री प्रशासकीय न्याय-व्यवस्था मे मौजूदा गुणो को जाँचने मे असमर्थ है।

यह कहना भी गलत है कि प्रशासकीय न्यायालयो के निर्णय पक्षपातपूर्ण हो सकते है या उनसे न्याय की कोई उम्मीद नही की जा सकती। व्यवहार मे प्रशासकीय न्यायालयो ने पक्षपात हीनता, स्वतन्त्रता तथा उच्च न्यायबुद्धि का परिचय दिया है। फ्रास के साधारण नागरिको मे जितना विश्वास इस व्यवस्था ने उत्पन्न किया उतना अन्य किसी ने नही। वह एक साधारण अंग्रेज नागरिक की अपेक्षा प्रशासकीय न्यायालयो के हाथ मे अपनी स्वतन्त्रता को अधिक सुरक्षित समझता है। कौन्सिल ऑफ स्टेट ने साधारण नागरिको के अधिकारो का अधिक ध्यान रखा है। उसका पिछला इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि उसने सैकडो केसो मे साधारण नागरिको के हक

मे फैसला दिया और राज्य को अपराधी ठहराया।

यह व्यवस्था कार्यपालिका की स्वतन्त्रता को स्थापित करती है और प्रशासन सम्बन्धी अन्यायो का फैसला उन लोगो के हाथ मे छोडती है, जो प्रशासन के मामलो मे विशेषज्ञ होते हैं। न्यायाधीश तो केवलमात्र कानून के पण्डित होते हैं, उनके निर्णय केवलमात्र कानून पर आधारित होते हैं उन्हे प्रशासकीय मामलो का अनुभव ही नही होता। अत प्रशासकीय विवादो के विषय मे दिये गये उनके निर्णय यह जरूरी नही कि न्यायोचित हो। शासकीय अधिकारियो द्वारा दिए गये निर्णय विशेषज्ञता पर आधारित होते हैं, प्रशासकीय कानून लिखित तथा कठोर विधान नही, वह तो उधार केस लॉ है। उसका आधार न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून हैं। प्रशासकीय न्यायालयो के निर्णय न्याय भावना (Equity) पर आधारित होते हैं।

यह कहना भी गलत है कि प्रशासकीय न्यायालयो के न्यायाधीश स्वतन्त्र नही होते और उन्हे जब चाहे सरकार हटा सकती है। आज तक किसी भी न्यायाधीश को पदच्युत नही किया गया और न ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रशासकीय न्यायालय के सदस्य कार्यपालिका द्वारा प्रभावित किये जाते हैं। प्रशासकीय न्यायालयो के सदस्य भी उतने ही स्वतन्त्र हैं, जितने कि साधारण न्यायालयों के। प्रशासकीय न्यायालयो तक प्रत्येक साधारण नागरिक की पहुँच है। मुकदमे मे खर्च भी बहुत कम होता है, और प्रत्येक मामले का बडी तत्परता से फैसला किया जाता है। यहाँ तक कि सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय कौंसिल ओफ स्टेट तक पहुँचने के लिए भी कोई दिक्कत नही उठानी पडती। क्षति-ग्रस्त व्यक्ति के लिए प्रशासकीय न्यायालय क्षति पूर्ति की व्यवस्था भी करते हैं। डा० गार्नर के अनुसार फ्रेंच नागरिक कौन्सिल ऑफ स्टेट के प्रति वैसी ही श्रद्धा रखता है जैसे कि अमेरिकन नागरिक सुप्रीम कोर्ट के प्रति।

इस व्यवस्था की सर्वप्रियता ही इसकी उपयोगिता को साबित करती है।

निष्कर्ष—ऊपर हमने कानून का राज्य (Rule of Law) तथा 'प्रशासकीय कानून' (Administrative Law) का विवेचन किया है, आज दोनो व्यवस्थाओ मे बहुत कम अन्तर रह गया है। हम पहले लिख आये हैं कि सयुक्त राज्य अमेरिका तथा इगलैण्ड इत्यादि राज्यो मे वर्तमान काल मे अनेक ऐसे कानूनो की व्यवस्था की जा रही है कि जिसके द्वारा कार्यपालिका की न्याय-पालन सम्बन्धी शक्तियाँ बढ गई हैं और अनेक मामलो मे शासन के अधिकारी साधारण न्यायालयो के नियन्त्रण से मुक्त हैं। वर्तमान काल मे शासन के कर्तव्यो की अभिवृद्धि हुई है, सामाजिक सुरक्षा तथा श्रमिक वर्ग के कल्याण के लिए अनेक ऐसे कानून बनाए जाते हैं जिनके आधीन राज्य कर्मचारियो का आचरण साधारण न्यायालयो के नियन्त्रण मे नही आता।

सोलहवी व सत्रहवी सदी मे इगलैण्ड मे भी ट्यूडर तथा स्टुअर्ट राजाओ के शासन-काल मे प्रशासकीय कानून की व्यवस्था की स्थापना का समर्थन किया गया था। इन राजाओ ने इस बात का समर्थन किया कि कार्यपालिका की शक्तियो

का नियन्त्रण न्यायपालिका द्वारा नही होना चाहिए। 'स्टार चेम्बर' (Star Chamber) 'दी कौन्सिल ऑफ दी नार्थ' (The Council of the North) तथा 'दी कोर्ट ऑफ हाई कमीशन' (The Court of High Commission) इत्यादि वस्तुत' प्रशासकीय न्यायालय ही थे। फ्रासिस वेकन इत्यादि वकीलो ने भी प्रशासकीय न्यायालयो की स्थापना पर वल दिया था। परन्तु गृह-युद्ध मे स्टुअर्ट राजाओ के हारने के कारण ऐसा न हो सका। दोनो विश्व-युद्धो के दौरान मे इग्लैण्ड मे कानून के राज्य की वेशुमार दिक्कतो को महसूस किया गया। उन दिनो या तो इस व्यवस्था को खत्म ही करना पडा या फिर ऐसे न्यायालय स्थापित किये गये जिन्हे प्रशासकीय न्यायालय ही कहना अधिक उपयुक्त है।

सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत मे भी राष्ट्रपति तथा कुछ अन्य उच्च कर्मचारी अपनी कार्यवाहियो के लिए न्यायालय द्वारा नियन्त्रित नही किये जा सकते हैं। वस्तुत: वर्तमान स्थितियो मे सर्वत्र ही प्रशासकीय कानून की व्यवस्था पर्याप्त विकसित हो रही है। इस विकास का कारण वर्तमान युग की राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ हैं, जिन्होंने राज्य के कर्त्तव्यो की प्रकृति को ही परिवर्तित कर दिया है।

१४०. न्यायपालिका, विधानकालिका तथा कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्ध

सरकार के तीनो अगो पर विचार करने से पूर्व हमने यह स्पष्ट किया था कि तीनो अग यद्यपि अपने-अपने क्षेत्र मे कार्य करते हैं तथापि वे परस्पर सम्बन्धित है। तीनो ही ऐसे-ऐसे कार्य करते हैं जिनका सम्बन्ध उनके क्षेत्र से नही होता। जैसा कि हम पीछे देख चुके है कि न्यायपालिका केवल कानून की व्याख्या ही नही करती अपितु कानून वनाती भी है, क्योकि कानून अपूर्ण होते है, वे सभी प्रकार के मुकदमो को हल करने मे सहायक नही हो सकते। ऐसी अवस्था मे न्यायाधीश अपनी न्यायबुद्धि या सामान्य तथा सहज ज्ञान के अनुसार मुकदमे का फैसला करते है। जव इन्ही का पर्याप्त ममय तक अनुसरण होता रहता है तो वे दृष्टान्त (Precedent) वन जाते हैं, और कानून का रूप धारण कर लेते हैं। सघ-शासन के अन्तर्गत न्यायपालिका सभी प्रकार के कानूनो की सवैधानिकता की परीक्षा भी करती है।

विधानपालिका भी न्याय-पालन सम्बन्धी शक्तियो का प्रयोग करती है, न्यायालयों के सगठन तथा क्षेत्र इत्यादि व्यवस्था विधानपालिका द्वारा की जाती है। यही नही कभी-कभी विधानपालिका न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियो का भी प्रयोग करती है, जैसा कि सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत के राष्ट्रपति पर दोषारोपण की व्यवस्था की गई है। न्यायालयो के सचालन के लिए आवश्यक अर्थ-व्यवस्था भी विधानपालिका के ही अधीन होती है। न्यायाधीशो के अपने पद से हटाने मे भी विधानपालिका विशेप भाग लेती है। अनेक स्थानो पर न्यायाधीशो की नियुक्ति मे विधानपालिका विशेष भाग लेती है, अनेक स्थानो पर न्यायाधीशो की नियुक्ति ही विधानपालिका द्वारा होती है।

कार्यपालिका तथा न्यायपालिका भी परस्पर सम्बन्धित हैं। न्यायपालिका कानून की व्याख्या करती है, उसके अनुसार विभिन्न विवादो का निर्णय करती है परन्तु न्यायपालिका द्वारा दिए गए निर्णयो को कार्यपालिका ही कार्यान्वित करती है। न्यायाधीशो की नियुक्ति भी अनेक स्थानो पर कार्यपालिका द्वारा की जाती है। यही नहीं कार्यपालिका कुछ न्याय पालन सम्बन्धी शक्तियो का भी प्रयोग करती है, इनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

न्यायपालिका को भी राजकर्मचारियो की कार्यवाहियो पर नियन्त्रण करने का अधिकार होता है। यही नही न्यायपालिका अनेक ऐसी शक्तियो का प्रयोग भी करती है जिसका वास्तविक सम्बन्ध कार्यपालिका से होता है, न्यायपालिका से नही।

इस प्रकार राज्य के तीनो भाग पारस्परिक सहयोग तथा मेल से कार्य करते हैं।

Important Questions

	Reference
1 "There is no better test of the excellence of a Government then the efficiency of its Judicial System" Explain and discuss the importance and functions of the judiciary in modern States (*Pb 1942*)	Arts 134 and 135
2 Discuss the merits and demerits of the different methods of appointing judges (*Pb 1937*)	Art 137 the methods of the appointment of judges
3 What do you understand by the term "Independence of the Judiciary"? Why is it necessary in a state that the judiciary should be independent? What means are necessary for that purpose? (*Punjab 1944, 1942, 1940, Bombay 1931*)	Art 137
4 What is the function of Judiciary in the modern State? How are judges appointed in different countries? Which of these methods do you favour and why? (*Punjab 1946, 1951, 1952*)	Arts 135 and 136
5 Give the merits and demerits of the Rule of Law and Administrative Law in the light of English and French experiences (*Pb 1947, 1948, 1949*) *Or* What are Administrative Courts? How do they differ from the ordinary Courts of Law? (*Pb 1951*) *Or* What is *droit administratif* (Administrative Law)? How does it differ from the Rule of Law? (*Pb 1954, 1955*) *Or* Does it prevail in India? (*Pb 1955*)	Arts 138 and 139

राजनीतिक दल
(POLITICAL PARTIES)

पीछे हम सरकार के तीन विभिन्न भागो के कार्यो का विवेचन कर आये हैं, परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सरकार के तीन विभागो के स्थान पर पाँच या इससे भी अधिक विभाग समझने चाहिएँ। विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के अतिरिक्त आजकल राजनीतिक दल तथा निर्वाचक-मण्डल को भी सरकार का महत्त्वपूर्ण अग समझा जाता है। वर्तमान युग मे प्रजातन्त्रात्मक राज्यो के अन्तर्गत जनमत के निर्माण मे तथा निर्वाचको को सगठित रूप देने के लिए राजनीतिक दलो की उपस्थिति लाजमी समझी जाती है। राजनीतिक दलो की अनुपस्थिति मे प्रजातन्त्र की सफलता मे सन्देह प्रगट किया जाता है। सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यों मे इनका सगठन रहता है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए इनकी उपस्थिति इतनी आवश्यक हो चुकी है कि अनेक विचारक तो सरकार के तीन हिस्सो के अतिरिक्त राजनीतिक दलो को उसका चौथा आवश्यक हिस्सा समझते हैं। यद्यपि राजनीतिक दलो को आज के थोडे से ही प्रजातन्त्रात्मक देशो मे सवैधानिक मान्यता दी गई है तथापि वे सरकार के सविधानातिरिक्त (Extra-constitutional) भाग बन चुके हैं। चाहे हम उन्हें सरकार का उतना ही महत्त्वपूर्ण कानूनी भाग न माने जितना कि विधानपालिका वगैरा हैं तो भी उनकी महत्ता से कोई भी इनकार नहीं कर सकता।

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक दलो का सगठन सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि प्रजातन्त्र मत-भेद की भिन्नता को स्वीकार करता है और विचार-स्वतन्त्रता को शासन-प्रणाली का आधार मानता है। निरंकुशतन्त्र मे जहाँ विचार प्रगट करने का किसी को कानूनी अधिकार नही होता, राजनीतिक दलों का संगठन नही हो पाता। निरकुश राज्य शासन के अन्तर्गत राज्य-कर्मचारियो की आलोचना नहीं की जा सकती। शासन-नीति पर जन-साधारण अपने विचार ही नही प्रगट कर सकते। परन्तु जहाँ कही प्रजातन्त्र अपने प्रारम्भिक रूप मे मौजूद था, वही राजनीतिक दलो को भी सगठित किया गया। यह ठीक है कि यह राजनीतिक दल उसी प्रकार से अच्छी तरह से सगठित नही थे जैसे कि आज के राजनीतिक दल हैं। पुराने ग्रीस तथा रोम मे राजनीतिक पार्टियो की अवस्थिति मिल जाती है। इन राजनीतिक पार्टियो को राजनीतिक गुट कहना अधिक उचित होगा। आज के युग की विशाल राजनीतिक पार्टियो का जन्म तो हाल ही मे हुआ है। हाल ही मे निर्वाचन-व्यवस्था मे अनेक सुधार किये गये, और मताधिकार को विस्तृत किया गया, राज्याधिकारियो के चुनाव की व्यवस्था

की गई। इस प्रकार जनता के एक बडे भाग को राज्य-शक्ति के सचालन मे हिस्सा दिया गया, इस विशाल निर्वाचक-वर्ग के सगठन के लिए राजनीतिक दलो का उदय हुआ। जनसामान्य के सगठन, उनके पथ-प्रदर्शन तथा मत-निर्माण के लिए राजनीतिक दलो का सगठन लाजमी था।

राजनीतिक दलो के उदय का कारण मनुष्य के स्वभाव का विभेद या विचारो की भिन्नता है। राजनीतिक दलो को स्वैच्छिक समुदायो मे रखा जाता है और स्वैच्छिक समुदायो का निर्माण अनेक आधारो पर सम्भव है। स्वैच्छिक समुदाय आयु, लिंग, प्रदेश, एक जैसे विचार तथा पेशे वगैरा के आधार पर सगठित किये जा सकते हैं। राजनीतिक मामलो मे मतभेद स्वाभाविक हैं। किसी भी राजनीतिक समस्या के सुलझाव के लिए सभी लोग एक ही दृष्टिकोण से नही सोच सकते, वे अलग-अलग सुलझाव पेश कर सकते हैं। अत अलग-अलग तरह के विचारो के समर्थक ग्रुपो का आविर्भाव हो जाता है। राजनीतिक दलो का स्वाभाविक विभाजन तो उदार तथा अनुदार प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी दलो के रूप मे किया जा सकता है। हमेशा सामाजिक परिवर्तनो के विरोध मे तथा पक्ष मे जनमत का विभाजन हो जाता है। जो परिवर्तन का विरोधी होता है, वही जनमत प्रतिक्रियावादी कहलाता है। सभी देशो मे राजनीतिक दृष्टि से जन-सामान्य का मत इसी रूप मे विभाजित रहता है। इस विभाजन की तह मे समाज का वर्गगत विभाजन छिपा रहता है। राजनीतिक क्षेत्र मे तो पार्टीबाजी का आधार आर्थिक स्वार्थ रहे हैं। एक ही स्वार्थ के सरक्षक लोग एक ही दल या पार्टी के रूप मे सगठित हो जाते हैं। निहित स्वार्थों वाले लोग, सम्पत्तिशाली तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न लोग परिवर्तन के विरोधी होते हैं, और आर्थिक दृष्टि से कमजोर लोग परिवर्तन के समर्थक। अनेक बार तथाकथित अनुदार दलो मे भी उदार प्रवृत्तियो का जन्म हो जाता है, इस परिवर्तन का बहुत बडा कारण परिवर्तित सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ ही होती हैं।

आर्थिक हितों की सामानता के आधार पर आज के अनेक राजनीतिक दल सगठित हैं। समाजवादी दल, मजदूर दल, कृषक दल, अनुदार तथा उदार दल इत्यादि का सगठन आर्थिक हितों की सामानता के आधार पर हुआ। कभी-कभी शुरू मे किन्ही राजनीतिक दलो का सगठन किन्ही विशेष आर्थिक हितो की समानता के आधार पर नही होता, केवल राजनीतिक मत-भेद ही इनके आधार बन जाते है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे आर्थिक हितो की असमानता के बजाय राजनीतिक मत-भेद ही राजनीतिक दलो का सगठन के कारण बने। सामान्य राष्ट्रीय स्वार्थो की सुरक्षा के लिए भी राजनीतिक दलो का सगठन किया जाता है। जब कभी कोई देश किसी अन्य राज्य के अधीन होता है तो वहाँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के आर्थिक तथा राजनीतिक मतावलम्बी इकट्ठे हो जाते हैं। भारत मे इण्डियन नेशनल काग्रेस एक ऐसा ही विशुद्ध राष्ट्रीय सगठन था। इस सगठन का उद्देश्य भारत के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति था, यह उद्देश्य सभी राजनीतिक दलो का एक साँझा उद्देश्य था, अत इस पर सभी दल एकमत थे और वे काग्रेस पार्टी के ही

भाग बनकर स्वातन्त्र्य-युद्ध लडते रहे। स्वतन्त्र भारत मे आर्थिक संगठन कैसा हो, इस विषय मे कांग्रेस के भीतर मतभेद था। समाजवादी दल अनेक प्रकार के आर्थिक सुधारो की माँग करता था, अत स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर आर्थिक प्रश्नो पर कांग्रेस से मत-भेद होने के कारण इस दल ने अपना पृथक् सगठन बना लिया। इसी प्रकार आयरलैण्ड की स्थिति थी।

अनेक बार राजनीतिक पार्टियो के सगठन का आधार धर्म, जाति तथा वर्ग भेद होता है। यूरोप मे शुरू-शुरू मे कुछेक राजनीतिक दलो का सगठन धर्म के आधार पर हुआ था, आज भी कुछ राजनीतिक दल अपने-आपको अर्द्ध-धार्मिक आधारो पर आधारित किये हुए हैं। परन्तु मौजूदा हालात मे यूरोप में राजनीतिक दलो के संगठन मे धार्मिक मत-भेद का कोई महत्त्व नही रहा। राजनीतिक दलो का सगठन आर्थिक तथा राजनीतिक मत-भेद के आधार पर होता है। धर्म तो वैयक्तिक जीवन से ही सम्बन्धित समझा जाता है।

परन्तु हमारे यहाँ राजनीतिक जीवन मे धर्म का पर्याप्त महत्त्व है, हमारे यहाँ बहुत से राजनीतिक दलो का सगठन धार्मिक मत-भेद के आधार पर किया गया है। हिन्दू महासभा, जनसघ, राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ, मुस्लिम लीग, अकाली दल, रामराज्य परिषद इत्यादि दलो का संगठन धार्मिक आधार पर किया गया है। १९४७ से पूर्व भारत मे स्थित ब्रिटिश सरकार ने इन धार्मिक मत-भेदो के प्रसार को बहुत प्रोत्साहित किया था, उसीने साम्प्रदायिक दलो को प्रश्रय दे देश का विभाजन किया। राजनीतिक दलो का धार्मिक तथा जातीय आधार पर सगठित करना राजनीतिक दृष्टि से अप्रगतिशीलता का सूचक है। हमारा दुर्भाग्य है कि देश के बटवारे के अनन्तर भी हमारी आँखें नही खुली और हम धर्मगत तथा जातिगत भेदो को देश की राजनीति मे महत्त्व देते हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए तथा स्वस्थ राजनीतिक विचारो के प्रसार के लिए हमारे यहाँ राजनीतिक दलो का सगठन धर्म के आधार पर नही अपितु राजनीतिक तथा आर्थिक विचारो की भिन्नता के आधार पर होना चाहिए। धर्म के आधार पर सगठित राजनीतिक दल प्रजातन्त्र के विकास मे बाधक होते हैं, वे जन-सामान्य मे राजनीतिक चेतना उत्पन्न नही होने देते, जन-सामान्य का ध्यान देश की आर्थिक त्रुटियो की ओर जाने ही नही देते। धर्म का जोश लोगो मे फासिस्ट भावनाओ को भर सकता है। वैसे भी आज राजनीतिक दृष्टि से उन्नत देशों मे राजनीति मे धर्म को महत्त्व ही नही दिया जाता। बीयर्ड (Beard) का कथन है कि "सभी देशों मे बुद्धिमान नेताओ ने धार्मिक मत-भेदों के राजनीतिक आन्दोलनों तथा विवादो मे किये जाने वाले प्रयोग को बुरा कहा है।"[1]

१४१. राजनीतिक दलों का स्वरूप विवेचन

राजनीतिक दलो के विकास तथा उनके सगठन के विभिन्न आधारो का

---

1 "The wisest of leaders in all dominions have deplored the introductions of religious disputes into political discussions and campaigns"—*Beard*

विवेचन तो हम ऊपर कर आये हैं, अब हम उनका रूप-विवेचन करेंगे। राजनीतिक दलो की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। हम पीछे लिख आये हैं कि राजनीतिक दलो को स्वैच्छिक समुदायो के अन्तर्गत रखा जाता है। समुदाय कुछेक व्यक्तियो का एक ऐसा सगठन कहलाता है जो कि किसी एक या एक से अधिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्थापित किया जाता है। इस दृष्टि से राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय मनुष्यो के एक ऐसे समुदाय से होगा जिसका उद्देश्य कुछ राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति है। राजनीतिक उद्देश्यो से हमारा मतलब राज्य-शासन की मशीनरी पर कब्जा कर उसे अपने राजनीतिक प्रोग्राम की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करना है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज विचारक बर्क के मतानुसार **"राजनीतिक दल, कुछ ऐसे नियमों के अनुसार जिस पर कि सभी सहमत हों, सामूहिक प्रयत्नो द्वारा जनता के हितो को बढ़ाने के लिए संगठित मनुष्यो का एक समुदाय है।"**[1] इसी प्रकार गेटल ने राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुए कहा है कि **"राजनीतिक दल प्राय सगठित नागरिकों का एक ऐसा समुदाय है जो कि राजनीतिक इकाई की तरह कार्य करता है और अपने मतदान की शक्ति का इस्तेमाल कर सरकार को सगठित करना तथा अपनी सामान्य नीति को पूर्ण करना चाहता है।"**[2]

मेकआइवर (MacIver) के शब्दो मे **"राजनीतिक पार्टी वह समुदाय है जिसका संगठन किसी नीति अथवा सिद्धान्त के समर्थन मे हुआ हो और जो सवैधानिक उपायो से उस सिद्धान्त अथवा नीति को शासन का आधार बनाने मे सलग्न है।"**[3]

राजनीतिक दलो के आवश्यक तत्व—ऊपर दी गई राजनीतिक दलो की परिभाषाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक दल एक प्रकार के ऐच्छिक समुदाय हैं और उनके सगठन के लिए निम्नलिखित तत्त्व परम आवश्यक हैं। इन तत्वो की अनुपस्थिति मे किसी भी राजनीतिक सगठन का राजनीतिक पार्टी हो सकना कठिन है। ये तत्व इस प्रकार हैं—

(१) **सगठन**—किसी भी दल अथवा समुदाय (Association) का प्रथम आवश्यक अग है। सगठन के बिना तो कोई भी दल पार्टी नही कहला सकता भले ही उसके सदस्यो की सख्या कितनी भी बडी क्यो न हो। सगठन के अभाव मे तो वे भीड मात्र होगे। सगठन को बनाये रखने के लिए अनेक लिखित तथा अलिखित नियम हो

---

1 "A political party is a body of men united for the purpose of promoting by their joint endeavours the public interests upon some principles on which they are all agreed"—*E Burke*

2 "A political party consists of a group of citizens, more or less organised who act as a political unit and who, by the use of their voting power, aims to control the government and carry out their general policies"—*Gettell*

3 "A political party is an association organised in support of some principles or policy which by constitutional means endeavour it to make the determinant of the government"—*MacIver*

सकते हैं जिनका अनुसरण दल के सदस्य करते है, अनेक व्यक्तियो का संगठन ही समुदाय को शक्तिवान बनाता है।

(२) मूलभूत विचारो की एकता (Agreement on fundamental principles)—राजनीतिक दल के सगठन की एक अन्य विशेषता। विभिन्न प्रकार के राजनीतिक मसलो के सुलझाव के लिए एक ही जैसे मत को विकसित करने से ही दलीय एकता कायम रह सकती है अन्यथा नही। दल का प्रत्येक सदस्य कुछ आधारभूत तथ्यो या नियमो मे विश्वास करने वाला हो। इन नियमो के विस्तृत रूप की व्याख्या मे मत-भेद सम्भव है, परन्तु दल के प्रत्येक सदस्य को अपनी पार्टी के सगठन के आधारभूत नियमो मे यकीन करने वाला होना चाहिए। समाजवादी दल तथा कम्युनिस्ट पार्टी दोनो के ही कुछेक आधारभूत नियम है जिनमे यकीन करना इन दलो के सदस्यों के लिए आवश्यक है। दोनो दलो मे हम जो भेद करते हैं वह इनके मूलभून नियमो के विभेद के आधार पर ही करते हैं। हाँ, दोनो दलो मे अलग-अलग ग्रुप हो सकते है, जो या तो पार्टी मे सत्ता हथियाने के लिए या पार्टी के आधारभूत प्रोग्राम को अपने ढग से लागू करने के लिए बनाये जाते है। काग्रेस एक राजनीतिक सगठन है, उसके अपने आधारभूत नियम है, जिन पर सभी सहमत हैं, फिर भी उसमे विभिन्न गुट्टो की अविस्थिति मिल जाती है।

(३) शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक ढंग (Constitutional methods)—राजनीतिक दलो के लिए यह लाजमी है कि वे शान्तिपूर्ण ढग से काम करें और वैधानिक साधनों द्वारा अपने राजनीतिक प्रोग्राम को लागू करे। सरकार की मशीनरी पर कब्जा कर उस द्वारा अपने प्रोग्राम को लागू करने के लिए राजनीतिक दल को मत-दाताओ का समर्थन या विधानपालिकाओ मे बहुमत प्राप्त करना चाहिए। मत-परिवर्तन के लिए व्यापक प्रचार ही राजनीतिक दलो का प्रमुख साधन है। जो दल या पार्टियाँ वैध उपायो मे यकीन नही करती और राज्य-शासन के अन्तर्गत परिवर्तन लाने के लिए हिंसात्मक सावनो मे या बल-प्रयोग मे विश्वास करती हैं, उन्हे ठीक-ठीक अर्थ मे राजनीतिक दल नही कहा जा सकता।

(४) राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि (Promotion of national interest)—राष्ट्रीय हित ही राजनीतिक दलो का मकसद होना चाहिए। अगर उनका सगठन किसी विशेप जाति, समुदाय अथवा वर्ग के हितो की रक्षा के लिए किया गया हो, तो उन्हे ठीक-ठीक अर्थ मे राजनीतिक दल नही कहना चाहिए। अनेक बार कुछ स्वार्थी व्यक्ति मिल कर अपने स्वार्थ साधन के लिए एक-दो राजनीतिक सगठन बना लेते हैं, जिसका उद्देश्य जन-सामान्य का हित न होकर स्वार्थ-सावन होता है। ऐसे राजनीतिक सगठनो को राजनीतिक दल न कहकर राजनीतिक ग्रुप कहना चाहिए। अकाली पार्टी, खालसा दल, मुस्लिम लीग इत्यादि राजनीतिक सगठन नही, वे साम्प्रदायिक सगठन है। ऐसे दल, जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं राष्ट्रीय हित का सम्पादन नही कर पाते, वे राष्ट्रीय एकता के बडे शत्रु हैं। देश के जन-सामान्य के हित को सामने रख सगठित किये गए दल ही लोकतन्त्र की सफलता मे सहायक

हो सकते हैं।

१४२ राजनीतिक दलों के कार्य (Functions of Political Parties)

राजनीतिक दलों का सगठन कुछ विशेष राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जाता है, यही इनके प्रमुख कार्य हैं, परन्तु राज्य की राजनीतिक जिन्दगी में राजनीतिक दल अनेक प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का भी सम्पादन करते हैं, जिन्हें हम नीचे लिखे प्रकार से रख सकते हैं—

(१) **जनमत का सगठन**—प्रत्येक राज्य मे अनेक महत्त्वपूर्ण तथा जटिल राजनीतिक समस्याएँ होती हैं, जनसाधारण मे इतनी विचारशक्ति नही होती कि वे उन्हें अच्छी तरह समझ सकें। वे विभिन्न राजनीतिक समस्याओ के अनुपातिक महत्त्व को भी नही समझ पाते। राजनीतिक दल इन मे से महत्त्वपूर्ण समस्याओ का चुनाव करते हैं और जन-साधारण के सम्मुख पेश करते हुए उनके लिए अपने सुलझावो का सुझाव देते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल विभिन्न राजकीय समस्याओ पर जनमत का सगठन करते हैं।

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत जन-साधारण को वोट देने का हक होता है, इस प्रकार वह राज्य के नीति-निर्माण मे हिस्सेदार होते हैं। परन्तु राज्य-नीति का निर्णय एक ही व्यक्ति नहीं कर सकता, न ही सभी लोग मिलकर विना किसी सगठन के ही कर सकते हैं। शासन की नीति का निर्माण राजनीतिक दल करते हैं, जनमत को सगठित कर वही उस पर जन-साधारण की सम्मति को भी प्राप्त करते हैं। शासन का आधार यही नीति है, इसी के आधार पर सरकारों का सगठन किया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक दल जनमत के सगठन तथा प्रकाशन के साधन हैं।

(२) **राजनीतिक चेतना का प्रसार**—राजनीतिक दल जन-साधारण मे राजनीतिक शिक्षा तथा चेतना के प्रसार मे प्रमुख भाग लेते हैं। वे विभिन्न राजनीतिक समस्याओ पर केवल विचार ही नही करते या उनके सुलझाव ही पेश नही करते, अपितु प्रचार के साधनों द्वारा जन-साधारण मे उनका व्यापक प्रसार भी करते हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य राजनीतिक मशीनरी पर कब्जा कर अपने प्रोग्राम को लागू करना होता है, इस उद्देश्य को पाने के लिए उन्हे जनमत का समर्थन प्राप्त करना चाहिए। अत प्रत्येक राजनीतिक दल अपने-अपने प्रोग्रामो की स्वीकृति के लिए जनता के पास जाता है। प्रचार द्वारा वे उसे अपना समर्थक बनाने का प्रयत्न करते हैं। जनता भी विभिन्न राजनीतिक प्रश्नो से अवगत होती है और उन पर उसे सोचने-विचारने का अवसर मिलता है। इस प्रकार राजनीतिक पार्टियाँ जन-साधारण मे राजनीतिक जागरण को पैदा करती हैं।

(३) **राज्य-सत्ता का नियन्त्रण**—अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक राजनीतिक दल राज्य-सत्ता के नियन्त्रण का प्रयत्न करता है। इसके लिए प्रत्येक राजनीतिक दल चुनाव लडता है, अपने उम्मीदवार खडा करता है, और विधान-सभा में बहुमत प्राप्त करने पर शासन-यन्त्र पर कब्जा कर अपने प्रोग्राम को लागू करने की

कोशिश करता है। चुनाव लडना तथा मन्त्रिमण्डल बनाना आजके राजनीतिक दलो के प्रमुख कार्य हैं। चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार खड़े करने पर राजनीतिक दल सगठित रूप से उनकी सफलता के लिए प्रचार करता है और अन्य प्रकार के सभी साधनो को प्रयोग मे लाता है।

विधानपालिका के अन्तर्गत राजनीतिक दल एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य का सम्पादन करते हैं। विधानपालिका के विभिन्न सदस्यो को वे नियन्त्रण मे रखते हैं और दल की नीति को कार्यान्वित करवाने मे उनका सहयोग प्राप्त करते हैं। इस प्रकार विभिन्न राजनीतिक समस्याओ पर विधानपालिका के सदस्य अपने-अपने स्वार्थो के वशीभूत हो अपने विचार प्रगट नही करते, वल्कि अपनी पार्टी के आदेश का अनुसरण करते हैं। पार्टी-नियन्त्रण के अभाव मे विधानपालिकाएँ विभिन्न प्रकार के स्वार्थों पर सगठित गिरोहो का समूह मात्र बनकर रह जायँगी। उनके पास कोई भी निश्चित नीति तथा प्रोग्राम नही होगे। वस्तुत' विना राजनीतिक दलो की उपस्थिति मे विधान-सभाओ मे अराजकता फैल जायगी।

जो दल अल्पसख्यक होते हैं और जो मन्त्रिमण्डल के निर्माण मे भाग नही लेते, वे विरोधी-दल का कार्य करते हैं। विरोवी-दल के रूप मे वे शासन-नीति की आलोचना करते हैं और शासन-दल की कमियो को जनता के सम्मुख रखते हैं। अल्पसख्यक दलो का उद्देश्य भी राजनीतिक सत्ता पर नियन्त्रण स्यापित करना हे, अत. वे विधानपालिका के अन्तर्गत रह शासन-नीति की आलोचना इस ढग से करते हैं कि आगामी चुनावो मे उन्हे अधिक से अधिक वोट मिल सके। इसका फल यह होता है कि शासक-दल (Ruling party) वडी सोच-समझ से अपने कार्यक्रम को निर्धारित करता है और और शासन को चलाता है। विरोधी-दल की उपस्थिति एकपार्टी की तानाशाही की स्थापना को रोकती है और शासक दल के शासन को अत्याचार-पूर्ण नही वनने देती। लगभग सभी प्रजातन्त्रात्मक देशो मे विरोधी-दल के नेताओ को आदरणीय स्थान प्राप्त होता है, क्योकि वे कभी भी वहुमत प्राप्त कर प्रधान मन्त्री बन सकते हैं।

प्रत्येक राजनीतिक पार्टी के पास पर्याप्त धन-राशि होती है, जो उन्हे पूंजी-पतियो से तथा जनसामान्य से प्राप्त होती है। इस धन-राशि की सहायता से प्रत्येक राजनीतिक दल अपने निर्धन परन्तु सुयोग्य पार्टी के सदस्यो को चुनाव मे खडा करने व उन्हे जिताने का प्रयत्न करता है।

राजनीतिक दल मन्त्रिमण्डल, विधानपालिका तथा जन-सामान्य मे एकता की कडी की तरह काम करते हैं। ससदीय शासन के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल की स्थिरता का आधार भी राजनीतिक दल हैं।

(४) राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक दलो की उपयोगिता—ससदीय शासन के अन्तर्गत ही नही राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत भी राजनीतिक दलो की विशेष महत्ता है। राष्ट्रपतितन्त्र के अन्तर्गत जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं सरकार के तीन प्रमुख अगो—विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका—को एक दूसरे से अलग

तथा स्वतन्त्र रखने का प्रयत्न किया गया है। फलत उनमे पारस्परिक सम्बन्धो का अभाव है। राजनीतिक दलो की उत्पत्ति के फलस्वरूप विधानपालिका तथा कार्यपालिका के आवश्यक सम्बन्ध स्थापित हो गये है। इन दलो के अभाव मे विधानपालिका तथा कार्यपालिका मे असहयोग तथा पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो सकता था। अमेरिकन सविधान की श्रेष्ठता तथा सफलता का एक बडा कारण राजनीतिक दलो का जन्म है, राजनीतिक दलो के जन्म के फलस्वरूप अमेरिकन सविधान की अनेक कमियाँ पूर्ण हो गई है।

१४३ राजनीतिक दलो की उपयोगिता

आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक राज्यो के अन्तर्गत राजनीतिक दलो का विशेष महत्त्व है। हम ऊपर देख चुके है कि प्रजातन्त्र के विकास मे सरकार के चलाने की सारी जिम्मेदारी जन-साधारण के कन्धो पर आ पडती है। वे अपने चुने हुए प्रतिनिधियो द्वारा शासन की देख-भाल करते है। जनता के इन प्रतिनिधियो का चुनाव किस आधार पर होना चाहिए, इसी प्रश्न के उत्तर मे राजनीतिक दलो का सगठन हुआ। राजनीतिक दल एक ही प्रकार के विचारो वाले लोगो को समुदाय रूप मे सगठित कर उन्हे शासन-नीति के निर्धारण का अवसर प्रदान करते है। यही नही वह जन-जीवन से सम्बन्धित समस्याओ को जनता के सम्मुख पेश कर और वोट के लिए बार-बार उनके पास जाकर उनकी राजनीतिक उदासीनता को दूर करते है और उन्हे राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित करते है।

शासन-नीति की स्थापना तथा शासनतन्त्र का नियन्त्रण, चुनाव लडना, विधानपालिका के सदस्यो को सगठित कर एक नीति का अनुसरण करवाना मन्त्रि-मण्डल का निर्माण कर उसकी सहायता करना, एक निश्चित योजना द्वारा कानूनो का निर्माण करना, सवैधानिक उपायो द्वारा शासनतन्त्र मे परिवर्तन लाना, जनना को सगठित कर उसे नेतृत्व प्रदान करना, लोकमत के प्रगट करने के साधनो को प्रस्तुत करना इत्यादि राजनीतिक दलो की अनेक विशेषताएँ है। मेकआइवर (MacIver) के शब्दो मे **"राजनीतिक दलो के न होने पर नीतियों का एकीकृत प्रगटीकरण नही हो सकता, न ही उसका विकास सम्भव होगा। ससदीय चुनावो के लिए नियमित तथा वैधानिक उपायो का उपयोग ठीक तरह से नहीं किया जायेगा, और उन सभी व्यवस्थाओ की समाप्ति हो जाएगी जिसके माध्यम से राजनीतिक पार्टियाँ शक्ति ग्रहण करने या उसे बनाए रखने की कोशिश करती है।"**[1] हम ऊपर लिख चुके है कि किस प्रकार राजनीतिक दल जनमत को सगठित करते हैं और किस प्रकार वे शासनतन्त्र का नियन्त्रण कर उनका सचालन करते है। राजनीतिक दलो के

---

1 'Without political parties there can be no unified statement of principles, no orderly evolution of policy, no regular resort to the constitutional device of parliamentary elections, nor of course any of the recognised institutions by means of which a party seeks to gain or maintain power."—*MacIver*

उपर्युक्त गुणो को दोहराने की कोई आवश्यकता नही ।

राजनीतिक दलो के दोष—पार्टी-व्यवस्था के जहाँ इतने गुण है, वहाँ उसके पर्याप्त गम्भीर दोष भी है । पार्टी-व्यवस्था की कमियो के आधार पर ही प्रजातन्त्र की भी कडी आलोचना की जाती है । सयुक्त राज्य अमेरिका मे जब नये सविधान की रचना हो रही थी तो उस समय अधिकाश राजनीतिज्ञो ने पार्टी-व्यवस्था के गम्भीर दोषो की ओर सकेत किया था । सघवादियो (Federalists) ने अनेक बार पार्टी-व्यवस्था की खराबियो के पैदा हो जाने की ओर सकेत किया । जार्ज वाशिंगटन ने भी अपने विदाई-भाषण मे पार्टी-व्यवस्था के खतरनाक परिणामो के विरुद्ध गम्भीर चेतावनी दी थी । इसी वातावरण मे अमेरिकन सविधान-निर्माताओ ने ऐसे सविधान की रचना की कोशिश की कि जिस मे पार्टी-व्यवस्था के जन्म की सम्भावना ही न रहे । अमेरिकन सविधान के निर्माता अपने प्रयत्न मे असफल रहे, यह सभी जानते हैं । परन्तु इसका अर्थ यह नही कि उन्होंने जो पार्टी-व्यवस्था के गम्भीर दोष की विवेचना की थी, वह ठीक नही, वह पर्याप्त सत्य है । पार्टी-व्यवस्था की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की जाती है—

(१) राजनीतिक दल सम्पूर्ण देश को दो या दो से अधिक दलो मे विभाजित कर देते है और राष्ट्रीय एकता को विनष्ट करते है । सभी राजनीतिक दल चुनाव के दिनो को युद्ध के समान मान विभिन्न प्रकार से लोगों की भावनाओ को उभारते हैं । चुनाव के अनन्तर नागरिको के पारस्परिक सम्बन्धो मे तनाव तथा कड़वाहट बनी रहती है । पार्टियाँ देश-भक्ति की अपेक्षा राजनीतिक दलो के प्रति वफादारी को अधिक महत्त्व देती हैं । वे राजनीतिक प्रश्नो का निपटारा राष्ट्रीय हित को सामने रखकर नही करती बल्कि अपने पार्टी-स्वार्थो के आधार पर करती हैं । इस प्रकार राष्ट्रीयता तथा स्वदेश-भक्ति की भावनाएँ पार्टीबाजी की वजह से कमजोर हो जाती है ।

(२) राजनीतिक पार्टियाँ लोगो के नैतिक जीवन को कमजोर करती हैं और जन-सामान्य के जीवन मे बेईमानी, असत्यता, भ्रष्टाचार तथा अवसरवादिता को प्रोत्साहित करती हैं । सभी राजनीतिक पार्टियाँ भ्रष्टाचार का प्रमुख स्रोत हैं । चुनाव के दिनो मे जनता से अनेक झूठे वायदे किये जाते हैं, और अनेक भ्रष्ट साधनो द्वारा जनमत को नियन्त्रित कर वोट प्राप्त करने की कोशिश की जाती है । अनेक अवसरवादी लोग राजनीतिक पार्टियो का सहारा लेकर उच्च सरकारी पदो पर जा पहुँचते हैं । प्रो० लास्की ने अमेरिकन राजनीतिक दलो की तथा प्रतिनिधियो के निर्वाचन-व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए कहा था कि "अमेरिकन विधानपालिका के अनेक सदस्यो का स्थान जेलखाना होना चाहिए था न कि सीनेट हाल । राजनीतिक दल राजनीतिक शिक्षा के स्रोत नही बल्कि झूठे प्रचार के साधन हैं, वे जनता को गुमराह करते है । वे सच्चाई को खत्म कर झूठ को प्रोत्साहित करते हैं । विरोधी-दल केवल विरोध के लिए ही सभी सरकारी बिलो का विरोध करते हैं । राजनीतिक प्रश्नो पर पार्टीबाजी के दृष्टिकोण से विचार किया जाता है, निष्पक्षता से नहीं ।"

(३) राजनीतिक दलो की अवस्थिति के फलस्वरूप शासनतन्त्र की कुशलता नष्ट हो जाती है। राजनीतिक दल केवल मात्र उन्ही व्यक्तियो को पदाधिकारी वनाते हैं, जो उनके दल से ही सम्वन्धित हो, उनकी योग्यता तथा अयोग्यता का ख्याल नही करते। विरोधी-दलो मे भी अनेक सुयोग्य प्रतिभावान तथा अनुभवी शासक हो सकते हैं परन्तु उन्हे शासनतन्त्र मे स्थान नही दिया जाता। इस प्रकार केवल विरोधी-दल से सम्बन्धित होने के कारण ही राष्ट्र उनकी योग्यता तथा अनुभवशीलता से वचित हो जाता है।

(४) राजनीतिक दल विधानपालिका के सदस्यो की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देते हैं। प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न पर वे पार्टी के आदेश के अनुसार ही मत प्रगट करते हैं, उनकी आत्मा चाहे किसी वात मे यकीन करती हैं या नही उन्हे पार्टी के आदेशो का अनुसरण करना ही पडता है, अगर वे ऐसा न करें तो उन्हें पार्टी से निकाला जा सकता है। इस प्रकार विधानपालिकाओ का महत्त्व नही रहता। प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न का निपटारा तो पहले ही पार्टी के मुखिया कर लेते हैं तत्पश्चात विधानपालिकाओ की स्वीकृति माँगी जाती है जो पार्टी सगठन की कठोरता के कारण उन्हें देनी ही पडती है।

(५) राजनीतिक पार्टियो की अवस्थिति युद्ध-काल मे तो और भी अधिक खतरनाक होती है। आधुनिक काल मे युद्ध एक राष्ट्रीय सकट होता है, ऐसे समय मे अगर सभी राजनीतिक दल एकमत न हो सकें तो देश के विनाश की सम्भावना रहती है। सम्पूर्ण जनता के सहयोग को प्राप्त करने के लिए आजकल अक्सर युद्ध-काल मे अनेक पार्टियो के मिलेजुले मन्त्रिमण्डल बनाये जाते हैं।

(६) प्रत्येक राजनीतिक दल का नियन्त्रण, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, कुछेक धनी लोगो के हाथ मे रहता है। प्रचार के लिए तथा चुनाव लडने के लिए प्रत्येक राजनीतिक दल को काफी धन की आवश्यकता रहती है, यह धन चन्दे के रूप मे पूँजीपतियो से प्राप्त होता है. यह पूँजीपति-वर्ग राजनीतिक दलो की नीति का नियन्त्रण करता है। वस्तुत राजनीतिक दल पूँजीपतियो के हाथ मे खिलौने मात्र वनकर रह जाते हैं।

निष्कर्ष—पार्टी-व्यवस्था मे ऊपर कही गई वहुत-सी बुराइयाँ मौजूद हैं, इस वात से इनकार नही किया जा सकता। परन्तु अधिकाश मे इन वुराइयों का अतिश्योक्तिपूर्ण विवरण दिया गया है। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक दलो के विना काम नही चल सकता। राजनीतिक दल ही जनमत को सगठित करते हैं और उसे शासन-नीति का आधार वनाते हैं। दोष राजनीतिक पार्टी-व्यवस्था का नही, वल्कि नागरिको की चारित्रिक कमियो का है। सचेत नागरिक राजनीतिक दलो की व्यवस्था का अवश्य ही सुधार कर सकते हैं, राजनीतिक नेताओ को भी जन-साधारण के नैतिक मानदण्ड को ऊँचा उठाना चाहिए। राजनीतिक दलो की पारस्परिक आलोचना स्वस्थ, सन्तुलित तथा रचनात्मक होनी चाहिए। अच्छी नागरिकता के विकास से यह सभी दोष दूर हो जायेंगे।

१४४. द्वि-दल व्यवस्था तथा बहु-दल व्यवस्था (Two party system and multi-party system)

सगठन के आधार पर राजनीतिक पार्टी-व्यवस्था के दो रूप होते हैं—द्वि-दल व्यवस्था तथा बहु-दल व्यवस्था। द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्यतया दो प्रमुख राजनीतिक पार्टियां होती हैं जो समय-समय पर विधानपालिका मे बहुमत प्राप्त कर मन्त्रिमण्डल का निर्माण करती रहती हैं। इग्लैण्ड मे बहुत देर से ही द्वि-दल व्यवस्था का प्रचलन रहा है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अन्य पार्टियो की अनुपस्थिति नही होती, अन्य राजनीतिक दल भी होते हैं, परन्तु उनका कोई विशेष महत्त्व नही होता। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व इग्लैण्ड में अनुदार दल (Conservative Party) तथा उदार दल (Liberal Party) के बीच सघर्ष रहता था, कभी एक पार्टी की सरकार होती तो कभी दूसरी की। युद्ध के पश्चात् उदार दल का स्थान मजदूर दल (Labour Party) ने ले लिया। इस समय ब्रिटेन मे अनुदार दल तथा मजदूर दल दोनो प्रमुख दल हैं, शेष महत्व-विहीन गौण पार्टियाँ हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका इत्यादि मे द्वि-दल व्यवस्था (Two party system) मौजूद है।

बहु सख्यक पार्टी-व्यवस्था के अन्तर्गत दो नही बल्कि अनेक राजनीतिक दल होते हैं और उनमे से कोई भी एक ऐसी स्थिति मे नही होता जो कि बिना किसी अन्य दल के सहयोग के अपने-आप मन्त्रिमण्डल बना ले। ऐसी अवस्था मे बहुत से दल मिलकर विधानपालिका मे बहुमत प्राप्त करते हैं और मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं। ऐसे मन्त्रिमण्डल मिश्रित या मिले-जुले मन्त्रिमण्डल (Coalition Ministries) कहलाते हैं। फ्रास मे बहु-संख्यक पार्टी-व्यवस्था मौजूद है।

द्वि-दल व्यवस्था की उपयोगिता—द्वि-दल व्यवस्था के कारण शासनतन्त्र मे स्थिरता, कुशलता तथा दक्षता का प्रवेश हो जाता है। द्वि-दल व्यवस्था के अन्तर्गत एक दल को बहुमत प्राप्त होता है तो दूसरा अल्पसख्यक होता है। बहुमत प्राप्त दल मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है। अल्पसख्यक दल विरोधी दल का काम करता है। मन्त्रिमण्डल एक ही दल के सदस्यो से मिलकर बनता है, अत वह एकता-पूर्ण तथा अटूट नीति का अनुसरण कर सकता है।

बहु-संख्यक दल-व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा सम्भव नही। बहुसख्यक दल-व्यवस्था के अधीन बहुत से दल मिलकर मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं एक भी दल के खिसक जाने से मन्त्रिमण्डल टूट जाता है। इग्लैण्ड मे जहाँ कि द्वि-दल व्यवस्था का प्रचलन है मन्त्रिमण्डल का जीवन-काल तीन वर्ष से लेकर चार वर्ष तक होता है जब कि फ्रास मे, जहाँ बहु-सख्यक पार्टी-व्यवस्था का प्रचलन है, मन्त्रिमण्डल का औसत जीवन-काल आठ से नौ मास तक है। मन्त्रिमण्डल की अस्थिरता के फल-स्वरूप शासन-नीति अटूट नही रह पाती है और शासन-सचालन की जिम्मेदारी भी

Important Questions

Reference.

1 What is a party ? Describe the essential functions of political parties in a Democracy (*Pb 1942, Cal 1951, 1955*) — Arts 141 and 142

2 Are parties necessary for the functioning of modern Democracies ? Why ? (*Pb 1954*)

Or

Discuss the role of the party in Parliamentary form of Government with illustrations from Great Britain, France and India — Arts 101 and 142

3 Discuss the use, abuse and the true role of the party system in a Democracy (*C U 1953*)

Or

Discuss the merits and defects of the Party System (*Cal 1953, 1942, 1940, Bom 1951, 1941, 1930, Nag 1934, Pat 1944, 1933*)

Or

"Without the existence of organised parties, the functioning of parliamentary government would prove impossible " Discuss (*Pb 1940*) — Arts 142 and 143

4 Compare the advantages and drawbacks of the Two Party System with those of the Multiple Party System (*Ag 1940, 1934, 1933, Pat 1939*) — Art 44

निर्वाचक-मण्डल
(ELECTORATE)

वर्तमान युग मे विभिन्न देशो मे प्रजातन्त्र का जो रूप प्रचलित है, उसे अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र या प्रतिनिधि शासन-प्रणाली (Representative Government) कहा जाता है। प्रजातन्त्र का प्रत्यक्ष या विशुद्ध रूप आज के वडे-वडे राष्ट्रीय रूप से सगठित राज्यो मे सम्भव नही। अत शासन-प्रणाली पर जन-सामान्य के नियन्त्रण को स्थापित करने के लिए विशुद्ध (Pure) या प्रत्यक्ष (Direct) प्रजातन्त्र-प्रणाली के स्थान पर अप्रत्यक्ष (Indirect) प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली को अपनाया गया। इस शासन-प्रणाली के अन्तर्गत जनसामान्य प्रत्यक्ष रूप से नही वल्कि अपने प्रतिनिधियो द्वारा शासन-व्यवस्था पर नियन्त्रण करता है।

इन प्रतिनिधियो के निर्वाचन मे भाग लेने वाले नागरिको को सामूहिक रूप से निर्वाचिक-मण्डल (Electorates) कहा जाता है। प्रत्येक नागरिक वोट द्वारा अपना मत प्रगट करता है, वोट देने वाले को वोटर (Voter) या मत-दाता कहते है। अत **"निर्वाचक-मण्डल से हमारा मतलव उन नागरिको से है जो मतदान इत्यादि के राजनीतिक अधिकारो का प्रयोग करते हुए राज्य के प्रतिनिधियो के चुनाव में भाग लेते हैं।"**

वोट देने का या मतदान का अधिकार सभी नागरिको को प्राप्त नही होता। मतदान का अधिकार तो कुछेक निश्चित शर्तों के पूरा किये जाने पर ही दिया जाता है। सभी देशो मे पागल, दिवालिए, अपराधी, नावालिग तथा विदेशी लोगो को वोट देने का अधिकार नही दिया जाता। कुछ राज्यो मे सम्पत्ति-विहीन नागरिको को तथा स्त्रियो को वोट देने का अधिकार नही, अन्यत्र जाति के आधार पर वोट देने की व्यवस्था की गई है। जहाँ सभी वालिग स्त्री-पुरुषो को वोट देने का अधिकार प्राप्त होता है, उस व्यवस्था को हम वालिग मताधिकार (Adult Franchise) के नाम से पुकारते हैं। वालिग मताधिकार का अर्थ है, कुछ निश्चित (जैसे १८, २१ या २३ वर्ष की) आयु से ऊपर के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वोट देने का अधिकार।

१४५. मताधिकार विषयक सिद्धान्त (Theory of Franchise)

वोट देने का अधिकार किसे हो ? इस विषय मे राजनीति-विशारदो मे मतभेद है। जनतन्त्र की पुरानी विचार-परम्परा के अनुसार तो वोट देने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को होना चाहिए। जो भी व्यक्ति राज्य का सदस्य है उसका यह प्रकृत अधिकार है कि वह अपने शासन के प्रतिनिधियो का निर्वाचन कर सके, रूसो तथा मॉन्तेस्क्यू इस सिद्धान्त के समर्थक है। उनका कथन है कि प्रभुता का निवास-स्थल

जनता है अत प्रत्येक नागरिक का यह प्रकृत अधिकार है कि वह प्रभुता के प्रयोग में भाग ले। फ्रेंच तथा अमेरिकन क्रान्तियो मे जनसम्मत प्रभुता के सिद्धान्त (Theory of Popular Sovereignty) को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। सर्वत्र यह स्वीकार किया गया कि सभी नागरिक समान हैं और उन्हें समान अधिकार प्राप्त हैं, तथापि क्रान्ति के अनन्तर जिस सविधान को अपनाया गया उसमे नागरिको की एक बडी सख्या को वोट के अधिकार से वचित रखा गया।

इस सिद्धान्त के विपरीत मिल, ब्लशली, सर हेनरीमेन इत्यादि सीमित मताधिकार के पक्ष मे हैं, वे सभी नागरिको को वोट का अधिकार देने के हक मे नहीं। उनका कथन है कि वोट देना एक अधिकार न समझ कर्त्तव्य समझना चाहिए। इसका उपयोग सभी नागरिकों द्वारा नहीं होना चाहिए क्योकि सभी नागरिको में इतनी योग्यता नही होती कि वे अपने इस महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन कर सकें। मतदान द्वारा ही समाज की राजनीतिक व्यवस्था को स्थिर किया जाता है, अत. राजनीतिक व्यवस्था का रूप-निर्धारण ठीक-ठीक मतदान पर आधारित होता है। वोट का अधिकार केवल उन्ही व्यक्तियो को सौंपना चाहिए जो विवेकसम्पन्न हो, शिक्षित हो और जो इस अधिकार का यथोचित्त ढग से इस्तेमाल कर सकें। यह मत बालिग मताधिकार (Adult suffrage) का विरोधी है।

नीचे हम बालिग मताधकिार के पक्ष तथा विपक्ष मे दी गई युक्तियों का अध्ययन करेंगे।

बालिग मताधिकार का समर्थन—आज के सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे बालिग मताधिकार व्यवस्था को अपनाया गया है। भारत, सयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस तथा फ्रास इत्यादि राज्यो मे सभी बालिग नागरिको को कुछ विशेष शर्तों के अधीन वोट का अधिकार दिया गया है। इस व्यवस्था के व्यापक प्रचार से ही इसकी उपयुक्तता सिद्ध हो जाती है। तथापि निम्नलिखित आधारों पर इसका समर्थन किया जाता है—

(१) बालिग मताधिकार-व्यवस्था प्रजातन्त्र का आधार है। प्रतातन्त्र सबकी सहमति पर अधारित है, वह स्वीकार करता है कि राज्य की प्रभुता का स्रोत जनता है, अत राज्य-सचालन मे सम्पूर्ण जनता को हिस्सा मिलना चाहिए।

(२) बालिग मताधिकार सभी की आधारभूत समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। वह यह यकीन करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अधिकार है प्रत्येक व्यक्ति राज्य-शासन के सचालन मे अधिकार रखता है। इस अधिकार की चेतना ही उसे अपनी गौरवपूर्ण स्थिति की अनुभूति करवाती है। यह उसमे आत्म-विश्वास तथा आत्म-गौरव की भावना को भरता है। सीमित मताधिकार व्यवस्था प्रजातन्त्र के आधारभूत समानता के सिद्धान्त के विपरीत है।

(३) राज्य विधानपालिकाओ द्वारा कानून के रूप मे अपनी इच्छा को प्रगट करता है। इन कानूनो का पालन प्रत्येक नागरिक का एक पवित्र कर्त्तव्य समझा जाता

है। परन्तु वे नागरिक जिन्हे कानून निर्माण मे किसी प्रकार का भी भाग प्राप्त नही इन्हे क्योकर पालन करें ? कानून, प्रो० लास्की के अनुसार, व्यक्ति की सहमत्ति पर आधारित होता है। वालिग मताधिकार की व्यवस्था न हो तो वह व्यक्ति की सहमति पर किस प्रकार आधारित होगा। जिन वातो का राज्य के सभी नागरिको से सम्वन्ध हो उन पर उन सभी की सहमति मिलनी चाहिए।

(४) सीमित मताधिकार या मताधिकार की अन्य कोई भी व्यवस्था राज्य मे विभेद उत्पन्न कर देती है। कुछ लोगो को तो शासन-सचालन का अधिकार होगा शेष को नही। जो शासन सचालन मे हिस्सेदार होगे, वे स्वाभाविक रूप से ही अन्य नागरिको की अपेक्षा अपने आपको ऊँचा समझेंगे। इस प्रकार की भावना राज्य के अन्तर्गत वर्ग सघर्ष तथा विद्वेष को फैला सकती है। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत सभी प्रकार के विशेषाधिकारो को खत्म करना चाहिए।

(५) वालिग मताधिकार-व्यवस्था राजनीतिक चेतना तथा शिक्षा के प्रसार का एक प्रमुख साधन है। निर्वाचन-काल मे राजनीतिक पार्टियाँ प्रचार-कार्य द्वारा सभी नागरिको को राजनीतिक प्रश्नो पर सोच-विचार करने के लिए मजबूर कर देती हैं और इस प्रकार उनकी राजनीतिक कर्त्तव्यो के पालन-विषयक उदासीनता को दूर करती हैं। जनता जव राज-काज मे भाग लेती है तो उसकी आत्मा का सहज विकास होता है, नागरिको का सकुचित दृष्टिकोण दूर हो जाता है, राष्ट्र के प्रति प्रेम की भावना का विकास होता है।

(६) राजनीतिक अधिकारो की अवस्थिति ही नागरिक अधिकारो को व्यावहारिक रूप प्रदान करती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव मे नागरिक स्वतन्त्रता असम्भव है। जिन्हें राजनीतिक अधिकार प्राप्त होगे वे अपने प्रयत्नो द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं कि राज्य की आवादी का थोडा-सा अश ही नागरिक अधिकारो का उपभोग कर सके।

(७) वालिग मताधिकार की व्यवस्था समाज के प्रत्येक वर्ग को अपने अधिकारो तथा हितो की रक्षा के योग्य वनाती है। प्रत्येक वर्ग के हितो की रक्षा तभी सम्भव है जव कि प्रत्येक वर्ग को शासनतन्त्र को प्रभावित करने की शक्ति प्राप्त हो।

वालिग मताधिकार का विरोध—जैसा कि हम ऊपर लिख आये है राजनीतिक विचारो के एक प्रभावशाली दल का विचार है कि वोट के अधिकार को कुछ सीमाओ के अन्तर्गत ही प्रयोग मे लाना चाहिए। मिल, ब्लंशली तथा सर हेनरीमेन तीनों यह विश्वास करते हैं कि वालिग मताधिकार की व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण है, अतः उसके स्थान पर सीमित मताधिकार को अपनाना चाहिए। वे वालिग मताधिकार का निम्न-लिखित आधार पर विरोध करते हैं—

(१) वालिग मताधिकार का आधार ही गलत है। यह कहना ठीक नही कि प्रत्येक नागरिक को वोट देने का अधिकार जन्म से ही प्राप्त होता है। यह तो एक प्रकार का विशेषाधिकार है जिसे केवल विशेष योग्यतासम्पन्न व्यक्तियो को ही

प्रयोग मे लाना चाहिए। विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति ही यह निर्णय कर सकते हैं कि इस अधिकार का प्रयोग किस प्रकार जन-हित मे किया जा सकता है। जनसाधारण का अधिकाश भाग तो राजनीतिक समस्याओ को समझ ही नही सकता अत उसे वोट का अधिकार किस प्रकार दिया जा सकता है ?

(२) जन-साधारण मे विवेक-बुद्धि तथा तर्क का अभाव होता है, वे राजनीतिक दलो के आकर्षक नारो से आकृष्ट होकर बिना सोचे-समझे अपने वोट के अधिकार का प्रयोग करते हैं। मतदान देते हुए वे उम्मीदवार के गुणो की परीक्षा नही करते, वे जाति, धर्म तथा मत बिरादरी की भावनाओ से प्रभावित हो उनका चुनाव करते हैं।

जन-साधारण मे रूढिवाद तथा अप्रगतिशील भावनाओ की अधिकता होती है, वे प्रगतिशील तथा सुधार-प्रेमी उम्मीदवारो का चुनाव नही करते। सर हेनरीमेन का कथन है कि बालिग मताधिकार वैज्ञानिक उन्नति तथा सास्कृतिक प्रगतिशीलता का विरोधी है।

(३) बालिग मताधिकार धनियो तथा निर्धनो मे, शिक्षितो तथा अशिक्षितों मे किसी प्रकार का अन्तर नही करता। धनी लोगो के पास सम्पत्ति होती है, अत वे अपने अधिकार का प्रयोग सदा सोच-समझकर करते हैं, क्योकि वे जानते हैं कि अगर उनके मतदान द्वारा राज्य मे अव्यवस्था तथा अशान्ति का प्रसार हुआ तो उन्ही की सम्पत्ति खतरे मे पड जायगी। परन्तु निर्धन लोगो को ऐसा कोई भय नही होता, वे अपने वोट के अधिकार का उत्तरदायित्व-विहीन रूप मे भी इस्तेमाल कर सकते हैं।

वोटरों का शिक्षित होना भी आवश्यक है। क्योकि केवल शिक्षित व्यक्ति ही अपने वोट के अधिकार का सोच-समझकर ठीक ठीक तरह से इस्तेमाल कर सकते हैं। प्रशासन तो एक विशेष प्रकार की कला है, जिसका ज्ञान सभी को नही हो सकता। फिर आज के युग मे शासनतन्त्र तो और भी अधिक जटिल हो गया है, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ भी बहुत उलझी हुई और जटिल होती हैं, साधारण नागरिको के लिए उन्हे ठीक तरह से समझ सकना असम्भव है। ऐसी अवस्था मे मताधिकार का प्रयोग थोडे से शिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही किया जाना अधिक ठीक जचता है।

(४) पूँजीवादी देशो में तो एक और भी मुश्किल पैदा हो जाती है। राज्य के अन्तर्गत रहने वाले वर्गों मे आर्थिक दृष्टि से असमानता होती है। आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग किसी प्रकार भी राजनीतिक अधिकारो का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग नही कर सकता। पूंजीपति लोग अपने पैसे से निर्धन लोगो के वोट खरीद लेते हैं। परिणामस्वरूप राजनीतिक जीवन मे स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और भ्रष्टाचार फैल जाता है।

बालिग मताधिकार व्यवस्था के सशोधन के सुझाव—बालिग मताधिकार व्यवस्था की उपर्युक्त कमियो को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिये गये हैं। जॉन-

स्टुअर्ट मिल ने शिक्षा तथा सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार की व्यवस्था का समर्थन किया है। मिल का कथन है कि "**मैं इस बात को सर्वथा अनुपयुक्त समझता हूँ कि किसी भी ऐसे व्यक्ति को जो लिखने तथा पढने के असमर्थ है, चुनाव मे भाग लेने का अधिकार हो।**"[1] प्रत्येक मतदाता को शिक्षित अथवा कम-से-कम साक्षर तो अवश्य होना चाहिए। अशिक्षित व्यक्तियो को मताधिकार देने का अर्थ होगा कि विधान-पालिकाओ को अयोग्य तथा नासमझ आदमियो से भर देना। अशिक्षित आदमी अपनी वोट के अधिकार को कभी भी विवेकपूर्वक इस्तेमाल नही करते। मिल का विचार था कि वालिग मताधिकार की व्यवस्था के अपनाने से पूर्व सर्वसाधारण की शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

शिक्षा के अतिरिक्त मिल ने सम्पत्ति को भी मताधिकार की योग्यता का आधार माना है। जिन लोगो के पास कोई सम्पत्ति नही या जो कर नही देते, वे अपने मत का प्रयोग सावधानी से नही कर सकते। सम्पत्तिशाली व्यक्ति ही समाज मे शान्ति तथा व्यवस्था को बनाए रखने के पक्ष मे होता है, क्योकि अशान्ति की हालत मे उसे अपनी सम्पत्ति से हाथ धोने का भय रहता है, परन्तु निर्धन आदमी को ऐसा कोई भय नही होता अत वह अपने मत का प्रयोग नासमझदारी से कर सकता है। उन्हे शान्ति, व्यवस्था तथा अच्छे शासनतन्त्र से कोई विशेष लगाव नही होता।

परन्तु उपर्युक्त दोनो मतो की कडी आलोचना की जाती है।

मतदान विषयक अधिकार के शिक्षा सम्बन्धी आधार के महत्त्व से कोई इन्कार नही करता, शिक्षित मतदाताओ का अपना विशेष महत्त्व है। परन्तु केवल-मात्र शिक्षा को ही वोट देने के अधिकार का आधार मान लेना गलत है, क्योकि उससे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं। शिक्षा का क्या स्तर होना चाहिए? यह एक साधारण प्रश्न है। अगर तो उच्च शिक्षा को ही वोट देने के अधिकार की आवश्यक योग्यता माना जाय तो बहुत कम लोग कसौटी पर खरे उतर सकेंगे और वोट का अधिकार राज्य की जनसख्या के थोडे से अश को ही मिलेगा। इस प्रकार का विभेद राज्य मे एक विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग (Priviliged class) को पैदा कर देगा, नागरिको की समानता खत्म हो जायगी। इसके विपरीत अगर साक्षरता को ही शिक्षा सम्बन्धी योग्यता का आधार निश्चित कर दिया जाय तो उसका कोई विशेष लाभ सम्भव नही। साक्षरता तथा शिक्षा मे अन्तर है, अनेक बार अनपढ आदमी साक्षर लोगो से अधिक चतुर तथा विवेकसम्पन्न सिद्ध होते हैं। भारत के ग्रामीण किसान मे इतनी सहज बुद्धि है कि वह एक साक्षर आदमी से अधिक योग्यतापूर्वक अपने वोट का प्रयोग कर सकता है। आज की राजनीतिक समस्याएँ तो इतनी जटिल है कि अच्छे पढे-लिखे नागरिक के लिए भी उनका समझ सकना

---

1. I regard it as wholly inadvisable that any person should participate in the sufferage without being able to read and write"
—*J S. Mill.*

प्रयोग मे लाना चाहिए। विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति ही यह निर्णय कर सकते हैं कि इस अधिकार का प्रयोग किस प्रकार जन-हित मे किया जा सकता है। जनसाधारण का अधिकाश भाग तो राजनीतिक समस्याओ को समझ ही नही सकता अत उसे वोट का अधिकार किस प्रकार दिया जा सकता है ?

(२) जन-साधारण मे विवेक-बुद्धि तथा तर्क का अभाव होता है, वे राजनीतिक दलो के आकर्षक नारो से आकृष्ट होकर बिना सोचे-समझे अपने वोट के अधिकार का प्रयोग करते हैं। मतदान देते हुए वे उम्मीदवार के गुणो की परीक्षा नही करते, वे जाति, धर्म तथा मत बिरादरी की भावनाओ से प्रभावित हो उनका चुनाव करते हैं।

जन-साधारण मे रूढिवाद तथा अप्रगतिशील भावनाओ की अधिकता होती है, वे प्रगतिशील तथा सुधार-प्रेमी उम्मीदवारो का चुनाव नही करते। सर हेनरीमेन का कथन है कि बालिग मताधिकार वैज्ञानिक उन्नति तथा सास्कृतिक प्रगतिशीलता का विरोधी है।

(३) बालिग मताधिकार धनियो तथा निर्धनो मे, शिक्षितो तथा अशिक्षितों मे किसी प्रकार का अन्तर नही करता। धनी लोगो के पास सम्पत्ति होती है, अत वे अपने अधिकार का प्रयोग सदा सोच-समझकर करते हैं, क्योकि वे जानते हैं कि अगर उनके मतदान द्वारा राज्य मे अव्यवस्था तथा अशान्ति का प्रसार हुआ तो उन्ही की सम्पत्ति खतरे मे पड जायगी। परन्तु निर्धन लोगो को ऐसा कोई भय नही होता, वे अपने वोट के अधिकार का उत्तरदायित्व-विहीन रूप मे भी इस्तेमाल कर सकते हैं।

वोटरो का शिक्षित होना भी आवश्यक है। क्योकि केवल शिक्षित व्यक्ति ही अपने वोट के अधिकार का सोच-समझकर ठीक ठीक तरह से इस्तेमाल कर सकते हैं। प्रशासन तो एक विशेष प्रकार की कला है, जिसका ज्ञान सभी को नही हो सकता। फिर आज के युग मे शासनतन्त्र तो और भी अधिक जटिल हो गया है, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ भी बहुत उलझी हुई और जटिल होती हैं, साधारण नागरिकों के लिए उन्हें ठीक तरह से समझ सकना असम्भव है। ऐसी अवस्था मे मताधिकार का प्रयोग थोडे से शिक्षित व्यक्तियो द्वारा ही किया जाना अधिक ठीक जचता है।

(४) पूंजीवादी देशो में तो एक और भी मुश्किल पैदा हो जाती है। राज्य के अन्तर्गत रहने वाले वर्गो मे आर्थिक दृष्टि से असमानता होती है। आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग किसी प्रकार भी राजनीतिक अधिकारों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग नही कर सकता। पूंजीपति लोग अपने पैसे से निर्धन लोगो के वोट खरीद लेते हैं। परिणामस्वरूप राजनीतिक जीवन मे स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और भ्रष्टाचार फैल जाता है।

बालिग मताधिकार व्यवस्था के सशोधन के सुझाव—बालिग मताधिकार व्यवस्था की उपर्युक्त कमियों को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिये गये हैं। जॉन-

दिया गया है। हमारे यहाँ राज्यों मे द्वितीय सदन के चुनाव के लिए ग्रेजुएटो को विशेष मताधिकार दिया गया है। वेल्जियम मे सम्पत्ति, कर-दान तथा शिक्षा के आधार पर अनेक मतदान-व्यवस्था का प्रचलन है।

इस व्यवस्था का अनेक प्रकार से समर्थन किया जाता है। सर्वप्रथम तो यह माना जाता है कि इस व्यवस्था के द्वारा शिक्षितों तथा अशिक्षितो को राज्य-सचालन मे आनुपातिक (Proportionate) महत्त्व दिया जाता है। वालिग मताधिकार वोटो की सख्या पर आधारित है, वह सख्या को महत्त्व देता है योग्यता को नही। इसके विपरीत अनेक मतदान (Plural voting) द्वारा योग्य तथा शिक्षित व्यक्तियो को समुचित महत्ता प्रदान की जाती है। शिक्षित तथा योग्य व्यक्तियो को साधारण नागरिको के ही समान अधिकार नही दिए जाने चाहिएँ। उन्हे अवश्य ही विशेषाधिकार दिए जाने चाहिएँ, ताकि वह प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था को मूर्खो तथा अशिक्षितो की सरकार होने से वचा सके। सभी जगह वहुमत तो अशिक्षित तथा रूढिवादी लोगो का होता है, उनके प्रभाव को टटाने के लिए ही अनेक मतदान-प्रणाली (Plural voting) को अपनाना चाहिए।

परन्तु यह व्यवस्था भी मान्य नही समझी जाती, क्योकि यह प्रजातन्त्र के आधारभूत नियमो के विरुद्ध है। प्रजातन्त्र सभी की समानता को स्वीकार करता है, और अनेक मतदान व्यवस्था का प्रचलन राज्य मे असमानता उत्पन्न करता है, वह पढे-लिखे तथा सम्पत्तिवान लोगो को विशेषाधिकार देता है। हम पीछे ही देख चुके हैं कि शिक्षा तथा सम्पत्ति के आधार पर मतदान व्यवस्था मे भेदभाव करना भारी अन्याय है। यह किसी भी तरह सावित नही किया जा सकता कि धनी व्यक्ति राज्य-शासन व्यवस्था के प्रति अधिक वफादार होते है या वे अपने वोट के अधिकार को सोच-समझकर जन-कल्याण के लिए ही इस्तेमाल करते है। यह कहना भी गलत है कि ग्रेजुएट साधारण पढे-लिखे लोगो की अपेक्षा अधिक समझदार होते हैं, और वे अधिक सूझ-बूझ से अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। साधारण पढे-लिखे लोगो मे अनुभव के आधार पर अधिक सूक्ष्म व्यावहारिक बुद्धि का विकास होता है। वे उम्मीदवार के उचित गुणो को अपनी व्यावहारिक बुद्धि से अधिक आसानी से जाँच सकते है। इस प्रकार वालिग मताधिकार व्यवस्था का विरोध हमे कही नही ले जाता। उसके सशोधन के लिए जितने भी सुझाव पेश किये गये है, वे सभी एकपक्षीय हैं और प्रजातन्त्र के आधारभूत तत्त्वो को ही खत्म कर देते हैं। वालिग मताधिकार की व्यवस्था लोक-सम्मत प्रभुता (Popular sovereignty) तथा प्रजातन्त्रात्मक समानता के सर्वथा अनुकूल है।

१४६. महिला मताधिकार (Women's franchise)

क्या महिलाओ को भी वोट देने का अधिकार होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर पर्याप्त विवादास्पद है। स्त्रियो को मताधिकार नही दिया जाना चाहिए, इस मत के समर्थन मे लगभग वही सब युक्तियाँ दी जाती है जो कि उनके सार्वजनिक-जीवन

आसान नही। मतदान तो एक अधिकार है, उसका प्रयोग तो प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे सभी नागरिको को करना चाहिए। ऐसी व्यवस्था उनके स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के लिए जरूरी है।

सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता को तो आज बिलकुल ही नही माना जाता। यह आवश्यक नही कि सम्पत्तिशाली व्यक्ति अपने वोट का प्रयोग सोच-समझ कर करें और देश के हित मे ही करें। सम्पत्ति का और विवेक का कोई सम्बन्ध नही, यह जरूरी नही कि सम्पत्तिवान व्यक्ति विवेकसम्पन्न भी हो। धनी लोग अक्सर राजनीतिक विवेक से शून्य होते है। सम्पत्ति भी झूठ, दम्भ तथा चोरी का परिणाम हो सकती है, सम्पूर्ण सम्पत्ति-व्यवस्था शोषण पर आधारित है, उसे वोट देने के अधिकार का आधार मानना बडा भारी अन्याय है। सम्पत्तिवान लोग जन-हित के लिए नही सोचते, उनका मकसद अपनी सम्पत्ति को बनाए रखना होता है। अनेक बार वे अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए विदेशियो या शत्रुओ से भी जा मिलते हैं। यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र के आधारभूत नियमो के विरुद्ध है और इसके फलस्वरूप राज्य की आबादी का एक सबसे बडा भाग—सम्पत्ति-विहीन वर्ग राज्य व्यवस्था के सचालन के अधिकारो से वचित कर दिया जायगा।

कुछ विचारको ने बालिग मताधिकार-व्यवस्था के सशोधन की एक अन्य योजना को पेश किया है। इस योजना को अनेक मतदान-प्रणाली (System of plural voting) या गुरुतापूर्ण मतदान (Weighted voting) प्रणाली कहते हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक ही नागरिक को अनेक वोट देने का अधिकार होता है, इस व्यवस्था का मिल ने बडा जोरदार समर्थन किया था। मिल का कथन है कि अशिक्षित तथा शिक्षित निर्धन तथा धनी मतदाताओ को एक समान बना देना बडा भारी अन्याय है। योग्य, शिक्षित तथा सम्पत्तिवान नागरिको को साधारण नागरिको की अपेक्षा राज्य-शासन सचालन मे अधिक हिस्सा मिलना चाहिए। एक ग्रेजुएट तथा एक अशिक्षित किसान को एक समान राजनीतिक अधिकार देना नासमझी है। अशिक्षित व्यक्ति को राज्य-कार्य सचालन की समझ ही नही हो सकती। अत शिक्षित मतदाताओ को बहुसख्यक अशिक्षितो के बराबर लाने के लिए अनेक मतदान-प्रणाली को अपनाया जाना चाहिए। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक सम्पत्तिवान नागरिक उतने ही वोट देने का अधिकारी होगा जितने स्थानो पर उसकी सम्पत्ति फैली हुई हो। अगर उसकी सम्पत्ति तीन चुनाव क्षेत्रो मे फैली हुई होगी तो वह तीनो स्थानो पर वोट देने का हकदार होगा, इसी प्रकार वह साधारण नागरिक के रूप मे, सम्पत्तिवान के रूप मे तथा कर-दाता (Tax-payer) के रूप मे भी, अलग-अलग वोट दे सकता है।

मिल के अनुसार शिक्षा के आधार पर भी अनेक मतदान-व्यवस्था का निर्माण किया जाना चाहिए। इस व्यवस्था के अनुसार ग्रेजुएटो को दो या दो से भी अधिक वार वोट देने का अधिकार मिल जायगा। अनेक राज्यो मे गुरुतापूर्ण मतदान-व्यवस्था को अपनाया गया है और पढे-लिखे लोगो को अधिक वोट देने का अधिकार

राजनीतिक जीवन मे प्रवेश करने पर वह अपने आपको भ्रष्ट वातावरण से नही बचा पायेगी। उनके हित मे तो यही है कि वे राजनीतिक जीवन के कीचड मे प्रवेश ही न करे।

महिला मताधिकार का समर्थन—जहाँ महिला मताधिकार का विरोध किया गया है वहाँ उसका जबरदस्त समर्थन भी किया गया है। इग्लैण्ड मे बेन्थम तथा मिल ने और फ्रास मे लाबेलेय (Laboulaya) ने महिला मताधिकार का जोरदार समर्थन किया है।

इससे पहले कि हम महिला मताधिकार के पक्ष मे दी गई अनेक युक्तियो को रखे, हमे महिलाओ की वर्तमान सामाजिक स्थिति के विषय मे कुछ जान लेना चाहिए। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व स्त्रियो की सामाजिक स्थिति पर्याप्त दयनीय थी। आर्थिक दृष्टि से वे पुरुषो पर आश्रित थी, सामाजिक जीवन मे उन्हे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त नही थी, उन्हे केवल मात्र पुरुष की वासनाओ की तृप्ति का एक साधन समझा जाता रहा। औद्योगिक क्रान्ति के अनन्तर इस स्थिति मे पर्याप्त परिवर्तन हो गया। पुरानी कृषि-व्यवस्था से सम्बन्धित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत स्त्रियो का पुरुषो पर आश्रित होना लाजमी था। सयुक्त परिवार-व्यवस्था के अधीन उन्हे किसी प्रकार भी आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नही हो सकती थी। सयुक्त परिवार-व्यवस्था के अन्तर्गत पुरुष सदस्यो को भी अपनी जीविका के लिए परिवार के सामूहिक प्रयत्नो पर आश्रित रहना पडता था। ऐसी अवस्था मे परिवार के अतिरिक्त बिरादरी का भी कडा नियन्त्रण होता था। गाँवो का सामाजिक जीवन स्थिर तथा परिवर्तन-शून्य था। अत स्त्रियाँ इन सब परिस्थितियो के कारण सामाजिक जीवन मे खुलकर प्रवेश न कर सकी, उन्हें सदा ही दबकर रहना पडा। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पुरानी कृषि-व्यवस्था पर आधारित अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई और पुराना समाज भी खत्म होने लगा। सयुक्त परिवार-व्यवस्था टूट गई, पुरानी बिरादरियाँ खत्म हो गईं, अधिकाश मे लोग गाँव छोड औद्योगिक केन्द्रो मे मेहनत-मजदूरी की तलाश मे आ बैठे। नये वातावरण मे पुराने बन्धन ढीले पड गये, परिवार का आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता और रोमाण्टिक विवाह हो गए। यही नही महिलाओ की आर्थिक स्थिति मे बडा अन्तर पड गया। वे आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर आश्रित न रही, उन्होंने भी पुरुषो की तरह मेहनत-मजदूरी की तलाश की, और धीरे-धीरे शिक्षा-विज्ञान, सस्कृति, कला, तथा व्यापार सभी मे उन्होने पुरुषो के मुकाबले मे आना शुरू कर दिया। आर्थिक स्वतन्त्रता के फलस्वरूप स्त्रियो की सामाजिक स्थिति मे अन्तर पड गया। उन्होने सभी जगह राजनीतिक अधिकारो की माँग की। इग्लैण्ड तथा फ्रास मे सर्वप्रथम इस आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। इग्लैण्ड में १६१८ मे ३० वर्ष की व इनसे ऊपर की आयु वाली स्त्रियो को वोट देने का अधिकार दिया गया, बाद मे यह अवधि घटा कर २१ वर्ष कर दी गई। फ्रांस में हाल ही मे द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर स्थापित चतुर्थ गणतन्त्र (Fourth Republic) के सविधान के अन्तर्गत महिला मताधिकार की व्यवस्था को मान्यता दी गई है। सोवियत रूस, चीन, भारत,

(Public life) मे प्रवेश के विरोध मे दी जाती है।

महिला मताधिकार के विरोधियो का कथन है कि स्त्री तथा पुरुष के कार्य-क्षेत्र मे एक प्राकृतिक अन्तर है, उसका उल्लघन व्यर्थ है। स्त्री का उचित क्षेत्र घर है, उसके मुख्य कर्त्तव्य पारिवारिक हैं। उसे माता बनना है और इस रूप मे अपनी सन्तान का पालन करना है। उसे राष्ट्रीय जीवन के निर्माण मे हिस्सा लेना है, परन्तु घर मे रहकर ही, घर से बाहर नही। घर मे रहती हुई महिलाएं बच्चो का पालन-पोषण करती हैं, उन्हे अच्छा नागरिक बनाती हैं। अगर वे घर से बाहर निकल राष्ट्र के राजनीतिक जीवन मे प्रवेश करती हैं तो वे पारिवारिक कर्त्तव्यो के पालन मे असमर्थ होगी। तब बच्चो की देख-भाल कौन करेगा ? स्त्री के पारिवारिक जीवन के त्याग तथा राजनीतिक जीवन मे प्रवेश के फलस्वरूप परिवार-व्यवस्था खत्म हो जाएगी, और इस प्रकार सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाएगा।

यही नही स्त्री मताधिकार की व्यवस्था के फलस्वरूप पारिवारिक शान्ति तथा एकता खत्म हो जाएगी। देश के राजनीतिक क्षेत्र मे प्रचलित पार्टीबाजी घर मे पहुँच जायगी और घर का अनुदार दल तथा उदार दल, काग्रेस तथा कम्युनिस्ट रूप मे विभाजन कर देगी। स्त्रियाँ अगर तो अपने मताधिकार का प्रयोग अपने पतियो की मर्जी के अनुसार करती हैं तो उन्हे वोट के अधिकार देने की कोई उपयोगिता नही और अगर वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मत का प्रयोग करती है तो उससे घर मे फूट पैदा हो जायगी, परिवार की आधारभूत एकता नष्ट हो जायगी।

महिलाओ का राजनीति मे प्रवेश देश की राजनीति मे अनुदारता, कट्टरता, रूढिवादिता तथा अनैतिकता को भर देगा। महिलाएँ घर की चारदीवारी मे बन्द रहती हैं, उनके विचारो मे प्रगतिशीलता नही होती, वे स्वाभाविक रूप से अनुदार होती हैं, पुरुष की अपेक्षा उन मे धार्मिकता भी अधिक होती है। राजनीतिक जीवन का उन्हे अनुभव नही होता, शिक्षा-दीक्षा मे भी वे पुरुषो से बहुत पीछे होती हैं, ऐसी अवस्था मे वे उन उम्मीदवारो को आँख मूँदकर वोट देंगी जो कि धार्मिक कट्टरता के समर्थक और समाज-सुधार के विरोधी होंगे।

महिला मताधिकार के विद्रोहियो का कथन है कि महिलाएँ राजनीतिक तथा प्रशासकीय कर्त्तव्यो के पालन मे असमर्थ हैं। वे सेना मे या पुलिस मे शामिल नही हो सकती, वे राज्य की बाहरी हमलो से रक्षा मे हिस्सा नही बँटा सकती। ऐसी अवस्था मे उन्हें वोट इत्यादि के राजनीतिक अधिकार देना सर्वथा असगत है। महिलाओ ने राजनीतिक जीवन मे सक्रिय रूप से भाग लेने का उत्साह भी प्रदर्शित नही किया। स्विटजरलैण्ड ससार के सबसे पुराने प्रजातन्त्र राज्यो मे से है तो भी आज तक वहाँ स्त्रियो ने मताधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया, न ही वहाँ कोई ऐसी सगठित सस्था ही है जो कि स्त्रियो की ओर से मताधिकार-प्राप्ति के लिए आन्दोलन करे।

राजनीतिक जीवन मे पर्याप्त भ्रष्टता का प्रवेश हो चुका है, उसमे अनेक दम्भी, झूठे तथा अवसरवादी लोग घुस चुके है। महिलाओ के जीवन मे एक स्वाभाविक पवित्रता होती है उनके चरित्र की शुद्धता ही उनकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

मजदूरी करती हैं, दफ्तरो मे काम करती हैं, विद्यालयो मे पढ़ाती हैं, सेना मे भी काम करती हैं, ऐसी अवस्था में वे अपने पारिवारिक कर्त्तव्यो से विमुख नही हो पाती तो क्या राजनीतिक कर्त्तव्यों के पालन में ही ऐसी उदासीनता सम्भव है ? बच्चों के प्रति तो स्त्रियों का स्वाभाविक ममत्व है, वे उनकी उपेक्षा नही कर सकती। यह कहना भी गलत है कि महिला मताधिकार से पारिवारिक शान्ति नष्ट हो जायगी। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर, पारस्परिक विचार-विमर्श के अनन्तर वोट के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि स्त्रियो का प्रभाव सदा ही कल्याणकारी तथा शान्तिजनक होता है। उनके राजनीतिक जीवन मे प्रवेश करने से इस क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टता तथा चरित्रहीनता खत्म हो जायगी। उनके प्रभाव से राजनीतिज्ञो के चरित्र भी ऊँचे उठेंगे और वे अधिक सुसस्कृत हो सकेंगे। महिलाओ के राजनीति मे प्रवेश के फलस्वरूप अनेक स्थानों पर सामाजिक सुधार तथा मानवता हितैषी कानून पास किए गए हैं।

उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट है कि चाहे स्त्रियाँ अपने मताधिकार का कैसा भी प्रयोग क्यो न करें उन्हे वोट देने का अधिकार अवश्य मिलना चाहिए। यह उनका मानवीय अधिकार है, और उसे किसी प्रकार भी नही रोका जा सकता। स्त्रियो का राजनीतिक-प्रवेश भी हमारी सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो का फल है, उसे रोकने का प्रयत्न व्यर्थ होगा।

१४७ निर्वाचन के विभिन्न प्रकार (The methods of election)

निर्वाचन के दो प्रकार हैं, वे है, प्रत्यक्ष चुनाव (Direct election) तथा अप्रत्यक्ष चुनाव (Indirect election)। जब निर्वाचक स्वयं अपने उन प्रतिनिधियो का चुनाव करते हैं, जो कि विधानसभाओ के सदस्य होते हैं, तो चुनाव-व्यवस्था प्रत्यक्ष (Direct) कहलाती है। प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था बहुत लोकप्रिय है और प्राय. सभी जनतन्त्रात्मक देशो मे निचले सदन का चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था के अनुसार होता है।

जब निर्वाचकगण अपने प्रतिनिधियो के चुनाव में प्रत्यक्ष भाग नही लेते बल्कि ऐसे निर्वाचक समूह का चुनाव करते हैं जो जन-साधारण की ओर से विधान-सभा के सदस्यो का चुनाव करें तो ऐसी निर्वाचन व्यवस्था को अप्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था (System of indirect election) कहेंगे। अप्रत्यक्ष निर्वाचन में दोहरे चुनाव की आवश्यकता होती है। पहले तो जनता अपने मे से कुछ व्यक्तियो का चुनाव करती है, जो निर्वाचक समूह (Electoral college) कहलाता है। तत्पश्चात् इस निर्वाचक समूह (Electoral college) के सदस्य कुछ प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं, जो विधानसभा के सदस्य बनते है। भारत मे नए सविधान के अन्तर्गत भारतीय ससद् के द्वितीय सदन राज्य-परिषद् (Council of States) का निर्वाचन अप्रत्यक्ष चुनाव-व्यवस्था के अनुसार होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका

पोलैण्ड इत्यादि ससार के सभी प्रगतिशील राज्यो में महिलाओ को मताधिकार मिल चुका है। आजकी आर्थिक परिस्थितियाँ ही ऐसी बन चुकी है कि उसमे हम महिलाओं के राजनीति प्रवेश को किसी तरह भी नही रोक सकते।

महिला मताधिकार का समर्थन करते हुए मिल ने कहा था कि यदि वोट देने का अधिकार एक प्रकृत अधिकार है तो उसका उपयोग स्त्रियो तथा पुरुषो दोनो को ही समान रूप से करना चाहिए। केवल शारीरिक विभेद के आधार पर ही स्त्रियों को अधिकार न देना बडा भारी अन्याय है। यह कहना गलत है कि स्त्रियाँ सामाजिक जीवन मे भाग नहीं लेती या वे देश के प्रति अपने राजनीतिक कर्त्तव्यो का पालन नही करती। वर्तमान युग मे स्त्रियाँ हमारे जीवन के सभी क्षेत्रो मे पुरुषो के बराबर भाग लेती हैं। लिंग-भेद का अर्थ यह नही कि महिलाएँ पुरुषो मे विवेक, तर्क-शक्ति सूझ-बूझ और नैतिक गुणो मे कम हैं।

कानून का प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर होता है, वे सभी नागरिको के अधिकारो से सम्बन्धित हैं, ऐसी व्यवस्था मे क्या यह अनुचित नही कि कानून पास करते समय केवल पुरुषों की ही सम्मति ली जाय और स्त्रियो की नहीं ? क्या कानूनो का सम्बन्ध स्त्रियो से नही होता ? क्या उनके अधिकार तथा कर्त्तव्य नही हैं ? स्त्रियो को वोट न देने का अर्थ है राज्य की आधी से अधिक जनसख्या को राजनीतिक अधिकारो से वचित कर देना। अगर राजनीतिक अधिकार पुरुषो के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हैं तो स्त्रियो के लिए क्यो नही ?

स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा कमजोर हैं। उन्हें पुरुषो की अपेक्षा राजकीय नियमो द्वारा उत्पादित रक्षा की अधिक आवश्यकता है। ऐसी अवस्था मे उन्हे कानूनो के निर्माण मे अधिक अधिकार मिलना चाहिए। स्त्रियो को राजनीतिक अधिकार देने का एक और भी कारण है। आजकल स्त्रियाँ पुरुषों के साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे मुकाबला कर रही हैं, यदि कानून-निर्माण का अधिकार केवल पुरुषो के हाथ ही में हो तो वे अपने ऐसे कानून बना सकते हैं कि जिससे स्त्रियो को इन क्षेत्रों में आने की मनाही करदें या वह अपनी कानूनी उच्चता को ही कायम कर सकते हैं, और स्त्रियो को आर्थिक स्वतन्त्रता से बिलकुल ही वचित कर सकते हैं। अगर कानून-निर्माण की शक्ति केवल मात्र पुरुषो के हाथ मे ही केन्द्रित रहे तो स्त्रियो के तो नागरिक अधिकार भी छिन सकते हैं।

अगर स्त्रियाँ आर्थिक जीवन मे पुरुष का मुकाबला कर सफल हो सकती हैं तो राजनीतिक जीवन मे उन्हें वोट के अधिकार से क्यो वञ्चित रखा जाय ? यह तो एक सीधी-सी बात है कि जब स्त्रियाँ अन्य सभी क्षेत्रो मे स्वतन्त्रता का उपभोग करती हैं तो राजनीतिक जीवन मे उन्हें ऐसी स्वतन्त्रता क्यो नही मिलनी चाहिए। यह कहना भी गलत है कि वोट के अधिकार को प्राप्त कर स्त्रियाँ अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों को भूल जाएँगी, वे बच्चो की देख भाल ठीक-ठीक ढग से नहीं कर सकेंगी। जब वे जीवन के अन्य क्षेत्रो मे कार्य करती हुई अपने कर्त्तव्यो को नहीं भूल सकती तो वोट के अधिकार को पाकर ही वे इन्हें कैसे भूल जाएँगी ? स्त्रियाँ मेहनत-

मजदूरी करती हैं, दफ्तरो मे काम करती हैं, विद्यालयो मे पढाती है, सेना मे भी काम करती हैं, ऐसी अवस्था मे वे अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों से विमुख नही हो पाती तो क्या राजनीतिक कर्त्तव्यो के पालन मे ही ऐसी उदासीनता सम्भव है ? बच्चो के प्रति तो स्त्रियो का स्वाभाविक ममत्व है, वे उनकी उपेक्षा नही कर सकती। यह कहना भी गलत है कि महिला मताधिकार से पारिवारिक शान्ति नष्ट हो जायगी। स्त्री-पुरुष दोनो मिलकर, पारस्परिक विचार-विमर्श के अनन्तर वोट के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि स्त्रियो का प्रभाव सदा ही कल्याणकारी तथा शान्तिजनक होता है। उनके राजनीतिक जीवन मे प्रवेश करने से इस क्षेत्र मे व्याप्त भ्रष्टता तथा चरित्रहीनता खत्म हो जायगी। उनके प्रभाव से राजनीतिज्ञो के चरित्र भी ऊँचे उठेंगे और वे अधिक सुसस्कृत हो सकेंगे। महिलाओ के राजनीति मे प्रवेश के फलस्वरूप अनेक स्थानो पर सामाजिक सुधार तथा मानवता हितैषी कानून पास किए गए हैं।

उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट है कि चाहे स्त्रियाँ अपने मताधिकार का कैसा भी प्रयोग क्यो न करें उन्हे वोट देने का अधिकार अवश्य मिलना चाहिए। यह उनका मानवीय अधिकार है, और उसे किसी प्रकार भी नही रोका जा सकता। स्त्रियो का राजनीतिक-प्रवेश भी हमारी सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो का फल है, उसे रोकने का प्रयत्न व्यर्थ होगा।

१४७ निर्वाचन के विभिन्न प्रकार (The methods of election)

निर्वाचन के दो प्रकार हैं, वे हैं, प्रत्यक्ष चुनाव (Direct election) तथा अप्रत्यक्ष चुनाव (Indirect election)। जब निर्वाचक स्वय अपने उन प्रतिनिधियो का चुनाव करते हैं, जो कि विधानसभाओ के सदस्य होते हैं, तो चुनाव-व्यवस्था प्रत्यक्ष (Direct) कहलाती है। प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था बहुत लोकप्रिय है और प्राय सभी जनतन्त्रात्मक देशो मे निचले सदन का चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था के अनुसार होता है।

जब निर्वाचकगण अपने प्रतिनिधियो के चुनाव मे प्रत्यक्ष भाग नही लेते बल्कि ऐसे निर्वाचक समूह का चुनाव करते हैं जो जन-साधारण की ओर से विधान-सभा के सदस्यो का चुनाव करे तो ऐसी निर्वाचन व्यवस्था को अप्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था (System of indirect election) कहेंगे। अप्रत्यक्ष निर्वाचन मे दोहरे चुनाव की आवश्यकता होती है। पहले तो जनता अपने मे से कुछ व्यक्तियो का चुनाव करती है, जो निर्वाचक समूह (Electoral college) कहलाता है। तत्पश्चात् इस निर्वाचक समूह (Electoral college) के सदस्य कुछ प्रतिनिधियो का चुनाव करते हैं, जो विधानसभा के सदस्य बनते है। भारत मे नए सविधान के अन्तर्गत भारतीय ससद् के द्वितीय सदन राज्य-परिषद् (Council of States) का निर्वाचन अप्रत्यक्ष चुनाव-व्यवस्था के अनुसार होना है। सयुक्त राज्य अमेरिका

मे कुछ काल पहले सीनेट का चुनाव अप्रत्यक्ष चुनाव-व्यवस्था के अनुसार ही किया जाता था। भारतीय तथा फ्रेंच राष्ट्रपति के निर्वाचन में भी अप्रत्यक्ष व्यवस्था का ही अनुसरण किया गया है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था का समर्थन निम्नलिखित आधार पर किया जाता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था का सबसे बडा लाभ यह है कि इस द्वारा निर्वाचको में राजनीतिक मामलो के समझने में उत्साह उत्पन्न होता है, उनमे राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है। वे न केवल मतदान ही करते हैं बल्कि सोच-समझ कर अपने प्रतिनिधियो का चुनाव करते हैं। वे यह महसूस करते हैं कि राज्य शासन-व्यवस्था के सचालन में उनका भी हाथ है। विभिन्न राजनीतिक दल अपने प्रोग्राम लेकर जनता के पास वोट मांगने के लिए पहुँचते हैं, वे उन्हे अनेक राजनीतिक समस्याओ से परिचित कराते हैं।

प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि अपने आपको जनता के प्रतिनिधि समझते हैं। वे यह अनुभव करते है कि अपने कार्यों के लिए वे जनता के प्रति जिम्मेवार हैं। अप्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था द्वारा ऐसा सम्भव नही। प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली द्वारा चुने गये प्रतिनिधि हर समय जनता से अपना सम्पर्क बनाए रखना चाहते हैं और यह कोशिश करते हैं कि वे अपने निर्वाचको की अधिकाश कठिनाइयो को दूर कर सके।

प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था जन-साधारण के दृष्टिकोण को विस्तृत करती है और लोगो को अपनी दैनिक जिन्दगी की आवश्यकताओं से ऊपर उठ विभिन्न राजनीतिक प्रश्नो पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण मे सोचने के लिए मजबूर करती है। निर्वाचको की विशाल सख्या होती है अत भ्रष्टाचार के फैलने की आशका नही रहती। चुनाव के उम्मीदवार पैसे द्वारा वोट नही खरीद सकते। अप्रत्यक्ष चुनाव-व्यवस्था इस दोष से दूषित है।

परन्त प्रत्यक्ष चुनाव-प्रणाली की अपनी बुराइयाँ भी हैं। प्रत्यक्ष निर्वाचन-व्यवस्था बहुत खर्चीली होती है, इसमे राष्ट्र के धन का व्यर्थ अपव्यय होता है। जन-साधारण को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार सौंप उन्हे ही राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का स्रोत बना दिया जाता है। जन-साधारण का अधिकाश भाग अनपढ, अनुदार तथा रूढिवादी होता है। ऐसे लोगो के हाथ मे राज्य-सत्ता का केन्द्रीकरण खतरे से खाली नही होता। वोट का इस्तेमाल करते हुए जन-साधारण अपने विवेक से काम नही लेते, वे प्रभावोत्पदक भाषणो को सुन भाववेग में आ अपने वोट अनुपयुक्त उम्मीदवारो को दे डालते हैं। जनता को मन्त्र-मुग्ध कर लेना तो बहुत आसान है। राजनीतिक पार्टियाँ आम चुनाव के समय अपने कुशल वक्ताओं का बडा अच्छा प्रयोग करती हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली (Indirect system of election) इन सभी दोषो से मुक्त होती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत चुनाव शान्तिपूर्वक होते हैं।

जनता पर नारो का ज्यादा प्रभाव नही पडता। वे अपने प्रतिनिधि चुनते है जो निर्वाचक समूह बनाते हैं, वह निर्वाचक समूह आगे विधानसभा के सदस्यो का या कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन करता है। निर्वाचक समूह के सदस्य साधारण जनता की अपेक्षा अधिक अनुभवी, जाग्रत तथा प्रतिभासम्पन्न होते है। विधानपालिका के सदस्यो के चुनाव में जनता की अपेक्षा यह निर्वाचक-समूह अधिक सूझ-बूझ से काम लेगा। उस द्वारा चुने गये प्रतिनिधि योग्य शासक तथा विधान निर्माता होंगे। जन-साधारण तो राजनीतिक दलो के प्रचार के प्रभाव मे आकर अपने मताधिकार का गलत प्रयोग भी कर डालते हैं, परन्तु थोडे मे चुने हुए निर्वाचक समूह पर ऐसे प्रभाव का कोई भय नहीं रहता। निर्वाचक समूह के सदस्य अपने मत का प्रयोग बडी समझदारी से करते है, जल्दवाजी मे आकर नही। प्रत्येक प्रश्न का निपटारा अत्यन्त शान्तिपूर्ण ढग से पर्याप्त विचार-विमर्श के अनन्तर किया जाता है।

परन्तु अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की भी वडी आलोचना की जाती है और उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली से कही ज्यादा हीन बतलाया जाता है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था भ्रष्टाचार का मुख्य स्रोत है। संयुक्त राज्य अमेरिका मे सीनेट का चुनाव अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली के मुताबिक होता था, लेकिन मतदाता कभी भी अपने वोट का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक नही करते थे। वडे-वडे पूँजीपतियो द्वारा वोट खरीद लिये जाते थे। सीनेट के सदस्य संयुक्त राज्य के वडे-वडे कारखानेदारो के प्रतिनिधि होते थे। हारकर इस व्यवस्था को हटाया गया और प्रत्यक्ष प्रणाली का प्रचलन हुआ। इस व्यवस्था के अन्तर्गत निर्वाचक समूहो के सदस्यो को कोई स्वतन्त्रता नही होती, वे अपनी पार्टी के आदेश के अनुसार वोट देते हैं। अप्रत्यक्ष निर्वाचन राज्याधिकारियो मे तथा जन-साधारण मे दूरी पैदा कर देता है। राज्याधिकारी निर्वाचक समूह के सदस्यो को खुश करने की कोशिश करते है न कि जनता को। आजकल यह व्यवस्था अपने उद्देश्य को पाने मे सर्वथा असफल रही है। कभी भी चुनाव उम्मीदवार के गुणावगुणो के आधार पर नही हुए। वे सदा ही पार्टीवाजी के आधार पर होते है। फिर अगर जन-साधारण निर्वाचक समूह के सदस्यो के चुनाव के लिए उपयुक्त हैं तो वे विधान-सभा के सदस्यो का निर्वाचन क्यों नही कर सकते ? जनता तथा विधानपालिका के सदस्यो के मध्य मे मौजूद इस व्यवस्था की कोई उपयोगिता नही। जनता स्वय अपने उत्तरदायित्व को समझती है, वह कभी गलत चुनाव नही करती। यही कारण है कि अनेक राज्यो मे अप्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था को छोड प्रत्यक्ष चुनाव व्यवस्था को अपनाया गया है।

१४८. निर्वाचन क्षेत्रो के प्रकार (Types of constituencies)

चुनाव के लिए राज्य को विभिन्न चुनाव क्षेत्रो मे बाँट लिया जाता है। इन चुनाव क्षेत्रो के दो प्रकार होते हैं—एक सदस्य वाला चुनाव क्षेत्र (Single member constituency) तथा वहुसख्यक प्रतिनिधि चुनाव क्षेत्र (Multi-member constituency)। एक सदस्य वाले चुनाव क्षेत्रो से एक ही प्रतिनिधि

चुना जाता है। इस व्यवस्था के अधीन जितने प्रतिनिधि चुने जाने हो राज्य को उतने चुनाव क्षेत्रो मे बाँट लिया जाता है। प्रत्येक चुनाव क्षेत्र मे एक ही प्रतिनिधि चुना जाता है। इसका अर्थ यह नही कि हरेक चुनाव क्षेत्र से एक ही आदमी चुनाव लडता है। एक ही क्षेत्र से चुनाव लडने वालो की संख्या तो काफी हो सकती है, परन्तु उन सब मे जो सबसे अधिक वोट प्राप्त करता है, वह विधानपालिका का सदस्य बनता है, शेष नही। भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका या ग्रेट ब्रिटेन मे एक सदस्य वाले चुनाव क्षेत्रो की व्यवस्था रहती है।

बहुसख्यक प्रतिनिधि चुनाव-व्यवस्था के अन्तर्गत एक से अधिक अनेक (पाँच, छ या सात) प्रतिनिधि एक ही चुनाव क्षेत्र से चुने जाते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक राज्य को बडे-बडे चुनाव क्षेत्रो मे बाँट दिया जाना है, और प्रत्येक चुनाव क्षेत्र से एक साथ चार-पाँच प्रतिनिधि चने जाते हैं।

एक सदस्य वाले चुनाव क्षेत्र की व्यवस्था सरल तथा सीधी-सादी है। आकार मे छोटी होने के कारण चुनावकर्त्ता और निर्वाचित प्रतिनिधि दोनो ही एक दूसरे के सम्पर्क मे आ सकते है। ये व्यवस्था सस्ती भी है और एक साधारण आदमी भी बिना ज्यादा खर्च किये चुनाव लड सकता है। वोटर लोग अपने आप अपने प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं, वे जानते हैं कि उनका प्रतिनिधि कौन है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत निर्वाचित व्यक्ति अपने चुनाव क्षेत्र मे रहने वाले लोगो के हितो की बडी अच्छी तरह से देख-भाल कर सकता है। चुनाव क्षेत्र के छोटे होने के कारण ही ऐसा सम्भव है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत अल्पमत को भी अपने प्रतिनिधि चुनने का मौका मिल जाता है, क्योंकि चुनाव क्षेत्रो का बँटवारा इस ढंग से किया जा सकता है कि अल्पमत भी किसी न किसी चुनाव क्षेत्र मे अच्छी स्थिति मे आ जाएँ यानी वे बहुसख्यक हो जाएँ। यह व्यवस्था स्थानीय प्रतिभा को चुनाव लडने के लिए प्रोत्साहित करती है और विधानपालिका मे मन्त्रिमण्डल निर्माण के लिए स्थायी बहुमत प्रदान करती है। बहुसख्यक चुनाव क्षेत्र मे कोई भी दल बहुमत प्राप्त नही कर पाता, बल्कि छोटे-छोटे ग्रुप अलग-अलग चुनाव क्षेत्रो से चुने जाते हैं और वे विधानपालिका मे किसी भी पार्टी को मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति मे नही आने देते।

परन्तु इस प्रकार के निर्वाचन क्षेत्र के भी अपने दोष हैं। सर्वप्रथम तो इस व्यवस्था के अन्तर्गत जनता मे अप्रिय उम्मीदवार भी चुने जाते हैं। इस व्यवस्था के दोष उस समय पता चलते हैं जबकि एक ही क्षेत्र से तीन उम्मीदवार चुनाव लड रहे हो। अगर श्यामसिंह को २०० वोट प्राप्त हुए और उसके मुकाबले मे खडे रतनसिंह तथा शेरसिंह को क्रमश १६० तथा १४० वोट प्राप्त हुए तो स्पष्ट है कि उस चुनाव क्षेत्र का बहुमत श्यामसिंह के विरुद्ध है परन्तु फिर भी वही चुना जाएगा क्योंकि अन्य दोनों उम्मीदवारो को व्यक्तिगत वोट थोडे मिले हैं।

इसी प्रकार जो उम्मीदवार हारे हुए उम्मीदवार के लिए वोट देते हैं उनका कोई भी प्रतिनिधि विधानपालिका मे नही पहुँच पाता। यह बात एक उदाहरण से

स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए अम्बाला निर्वाचन क्षेत्र मे सात लाख वोटर है, इन मे से तीन लाख तो काग्रेसी उम्मीदवार को वोट देते हैं, दो लाख कम्युनिस्ट सदस्य के पक्ष मे और शेष डेढ लाख हिंदुसभा, जनसघ तथा अकाली पार्टी को। यह तो स्पष्ट है कि काग्रेसी उम्मीदवार जीत गया, परन्तु उन साढे तीन लाख वोटरो का कोई भी प्रतिनिधि विधान-सभा मे न जा सका जिन्होने असफल उम्मीदवारो को वोट दिए थे।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत चुने गए प्रतिनिधियो का दृष्टिकोण बहुत सकुचित होता है। वे सदा स्थानीय हितो की ही वात सोचते है, राष्ट्रीय हितो की परवाह नही करते। उनका बडा मकसद अपने निर्वाचन क्षेत्र के सहायको का मदद करना होता है।

उपर्युक्त दोषो के होते हुए भी इस समय एक सदस्य वाले चुनाव क्षेत्र की व्यवस्था बहुत उपयुक्त समझी जाती है, और अधिकाश प्रजातन्त्रात्मक देशो मे उसका अनुसरण किया जाता है।

१४९. आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation)

ऊपर हम देख आए हैं कि मौजूदा चुनाव-प्रणाली जिसके अन्तर्गत एक चुनाव क्षेत्र से एक ही प्रतिनिधि चुने जाने की व्यवस्था रहती है, दोषपूर्ण है। इसके अन्तर्गत अल्पमत को प्रतिनिधित्व नही मिल पाता। दूसरा इस व्यवस्था के अधीन जनता मे अप्रियदल भी विधानपालिका मे बहुमत प्राप्त कर सकता है। १९५२ के चुनाव मे हमारे यहाँ काग्रेस को वोटो की बहुसख्या प्राप्त नही हुई, तथापि राज्यो मे और केन्द्र मे दोनो जगह ही काग्रेस ने बहुमत प्राप्त किया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत, जैसा कि हम पीछे देख आए है, असफल उम्मीदवार को वोट देने वाले वोटरो को अपना एक भी प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नही मिल पाता। इन सभी दोषो को दूर करने के लिए आनुपातिक चुनाव व्यवस्था की खोज की गई है।

इस चुनाव-प्रणाली का जनक ब्रिटिश विचारक थामस हेयर (Thomas-Hare) है। आनुपातिक चुनाव-व्यवस्था के लिए हेयर ने दो वातें आवश्यक मानी हैं (१)—निर्वाचन-क्षेत्र की प्रचलित मौजूदा प्रणाली को छोड दिया जाय और उसके स्थान पर बडे-बडे क्षेत्र वाले बहुसख्यक चुनाव क्षेत्रो को अपनाया जाय। इनमे से कम से कम तीन और अधिक से अधिक पन्द्रह प्रतिनिधियो के चुनने का व्यवस्था रहनी चाहिए।

(२) प्रत्येक मतदाता को उतने ही वोट देने का अधिकार होना चाहिए जितने कि सदस्य चुने जाने की व्यवस्था हो। इस प्रणाली के अन्तर्गत सफल उम्मीदवार वह नही होंगे जिन्हे कि बहुमत प्राप्त हो, वल्कि वह उम्मीदवार ही सफल समझे जायँगे जो वोटो का एक निश्चित कोटा प्राप्त कर सकें।

आनुपातिक चुनाव-व्यवस्था के निम्नलिखित दो मुख्य प्रकार हैं—

(१) एक परिवर्तनीय मत प्रणाली (The single transferable-vote system)।

(२) सूची व्यवस्था (List system)।

एक परिवर्तनीय मत-प्रणाली—इस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश को वडे-वडे चुनाव क्षेत्रों में बाट दिया जाता है, जिसमे से तीन से अधिक व पन्द्रह से कम सदस्यो के निर्वाचन की व्यवस्था रहती है। कितने भी सदस्यो के चुने जाने की व्यवस्था क्यो न हो प्रत्येक वोटर एक ही वोट दे सकेगा। परन्तु प्रत्येक वोटर को एक विशेष अधिकार दिया जाता है। वे अपनी पसन्द के अनुसार जितने भी उम्मीदवार है उनके आगे, एक, दो, तीन, चार, पांच इत्यादि सख्याएँ लिख सकता है। ये सख्याएँ उसकी पसन्द की सूचक हैं, यानी जिस नाम के आगे वह 'एक' लिखता है वह उसकी दृष्टि में योग्यतम व्यक्ति हैं, दूसरी पसन्द वाला दूसरे स्थान पर आता है, इसी प्रकार अन्य लोगो की स्थिति भी समझी जानी चाहिए।

प्रत्येक उम्मीदवार को वोटो की एक निश्चित सख्या या कोटा(Quota)प्राप्त करना होता है। यह कोटा पहले ही निश्चित कर दिया जाता है। अगर एक वोटर ने एक उम्मीदवार को अपनी प्रथम पसन्द का वोट दिया है, परन्तु वह पहले ही अपने निश्चित सख्या के वोट प्राप्त कर चुका है तो उस वोटर का वोट व्यर्थ नही जायगा। इस दशा मे उसका वोट उस व्यक्ति को मिल जायगा जिसे कि उसने दूसरी पसन्द का वोट दिया हो, और अगर वह भी एक निश्चित कोटा प्राप्त कर चुका हो तो उस उम्मीदवार को वह वोट मिलता है जिसे कि उसने तीसरा स्थान दिया है। इस प्रकार उसका वोट तब तक इस्तेमाल किया जा सकता है जब तक कि सभी सीटें भर न जायें। इस प्रणाली का एक मात्र उद्देश्य यह है कि एक भी वोट व्यर्थ नही जाना चाहिए।

सूची व्यवस्था (List system)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत भी वहुसख्यक प्रतिनिधि चुनाव क्षेत्रो की आयोजना की जाती है। प्रत्येक वोटर उतने ही वोट दे सकता है जितने कि सदस्य उस क्षेत्र से चुने जाने हैं। अगर चार सदस्य चुने जाने हैं तो एक वोटर को चार वोट डालने का अधिकार होगा। परन्तु वह एक उम्मीदवार के लिए एक से अधिक वोट का इस्तेमाल नही कर सकता। उम्मीदवारो के नामो की सूची उनकी पार्टियो के आधार पर वना ली जाती है। प्रत्येक पार्टी उतने ही उम्मीदवारो के नाम देती है जितनी सीटें उस निर्वाचन क्षेत्र से पूरी की जानी होती हैं। यदि चार पार्टियाँ उस क्षेत्र से चुनाव लड रही हैं तो चार लिस्टें तैयार की जाती हैं प्रत्येक वोटर पूरी की पूरी लिस्ट के लिए अपना वोट देता है।

वोट डालने के अनन्तर वोटो की कुल सख्या की चुने जाने वाले सदस्यो की सख्या से भाग दे लिया जाता है और चुनाव के लिए आवश्यक वोटो का कोटा निकाल लिया जाता है। इसके वाद एक दल द्वारा प्राप्त वोटो की सख्या का निर्वाचन के लिए आवश्यक कोटे से भाग दे दिया जाता है और इस प्रकार फैसला कर लिया जाता है कि एक पार्टी को कितनी सीटें मिलनी चाहिएँ। मान लीजिए, सहारनपुर के निर्वाचन क्षेत्र से पांच सदस्य चुने जाने हैं और कुल मिलाकर एक लाख वोट डाले गये हैं। एक लाख को पाँच से भाग देने पर निर्वाचन कोटा वीस

हजार निश्चित किया गया। अब हम देखेंगे कि अलग-अलग पार्टियो को कितने-कितने वोट प्राप्त हुए हैं। मान लीजिए काग्रेस को अडतालीस हजार, समाजवादी दल को पच्चीस हजार तथा कम्युनिस्ट पार्टी को इक्कीस हजार और हिन्दुसभा को छ हजार वोट मिले हैं तो काग्रेस को दो सीटें, समाजवादी दल तथा कम्युनिस्ट पार्टी को एक-एक सीट प्राप्त होगी। एक स्थान खाली बचता है। उस स्थान की पूर्ति के लिए कोई भी पार्टी निश्चित कोटा प्राप्त नही करती। ऐसी अवस्था मे एक औसत निकाल ली जायगी और जो पार्टी इस औसत के अनुसार सबसे अधिक वोट प्राप्त करती है उसे ही यह सीट सौंपी जायगी। उपर्युक्त अवस्था मे काग्रेस ही सब से अधिक औसत सीटे प्राप्त करती है, अत बाकी बची सीट उसी को मिलेगी।

आनुपातिक चुनाव व्यवस्था का प्रचलन जर्मनी, हालैण्ड, आस्ट्रिया, स्वीडन, इत्यादि अनेक राज्यो मे था।

आनुपातिक प्रतिनिधि व्यवस्था का मूल्यांकन—आनुपातिक चुनाव-व्यवस्था अल्पमत को समुचित प्रतिनिधित्व देने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। हम ऊपर देख चुके हैं कि साधारण चुनाव-व्यवस्था के अन्तर्गत अक्सर ऐसी पार्टियां चुनाव जीत जाती हैं जिन्हे कि वोटो की औसत सख्या थोडी प्राप्त हुई होती है, और उन वोटो का कुछ भी नही बनता जो कि एक असफल प्रतिनिधि को दिये जाते हैं। इस व्यवस्था के अधीन राज्य के अन्तर्गत मौजूद सभी दलो को उनके अनुपात के अनुसार वोट प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि हम पीछे देख आए हैं इस व्यवस्था के अन्तर्गत मतदाता का कोई भी वोट व्यर्थ नही जाने पाता। विधानपालिकाओ का रूप भी इस व्यवस्था के अन्तर्गत बदल जाता है। उसमे कोई भी एक दल बहुमत प्राप्त नही कर पाता इस कारण सभी दल मिलकर ही राज्य-शासन चलाते हैं। अगर सभी दल नही भी मिल पाते तो कुछ दल तो आपस मे समझौता करते ही हैं। इस प्रकार एक दल की तानाशाही नही चल पाती। अक्सर मिश्रित मन्त्रिमण्डल बनते हैं, ऐसे मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय चरित्र का तथा जनता के विभिन्न वर्गों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करते हैं। जब मन्त्रिमण्डल कमजोर हो तो वे विधानपालिका की मर्जी के मुताबिक काम करते हैं, अपनी मनमानी नही कर पाते। ऐसी विधानपालिकाएँ जिनमे कि किसी एक पार्टी का बहुमत नही होता, किसी भी क्रान्तिकारी या मौलिक परिवर्तन के पक्ष मे नही होती। वे ऐसा कर ही नही सकती। जहाँ विधानपालिकाएँ किसी एक ही दल द्वारा शासित की जाती हैं, वहाँ ऐसे मौलिक परिवर्तनो की सम्भावना बनी रहती है।

आनुपातिक चुनाव व्यवस्था का शिक्षात्मक मूल्य भी है। वोटर को अपनी अलग-अलग पसन्द जतानी होती है, वह विभिन्न उम्मीदवारो के गुणावगुण की परीक्षा करता है, पार्टियो के प्रोग्राम को देखता है और फिर सोच-विचार के अनन्तर अपना मत प्रकट करता है।

आनुपातिक चुनाव व्यवस्था की कड़ी आलोचना भी की गई है, व्यवहार रूप मे भी अनेक स्थानो पर इसे दोषपूर्ण पा छोड दिया गया है। प्रो० लॉस्की इत्यादि

विचारक इस व्यवस्था के विरोधी हैं। विधानपालिकाओं मे अल्पमतो का प्रतिनिधित्व अवश्य होना चाहिए, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विधानपालिकाएँ पार्टीवाजी तथा ग्रुपबन्दी का अखाडा बन जाएँ और वे विधान-निर्माण के तथा शासन-सचालन के अपने वास्तविक कार्य कर ही न सकें। आनुपातिक चुनाव-प्रणाली के अन्तर्गत विधानपालिकाएँ अलग-अलग दलो के षड्यन्त्रो का केन्द्र बन जाती हैं। इस चुनाव-व्यवस्था के अधीन कोई एक दल बहुमत नहीं प्राप्त कर सकता, अतः मन्त्रिमण्डल का निर्माण कुछेक दल मिलकर करते हैं। ऐसे मन्त्रिमण्डल, जो कि मिश्रित मन्त्रिमण्डल कहलाते हैं, कभी टिकाऊ नही होते। राजनीतिक सौदेवाजी चलती रहती है, छोटे-छोटे ग्रुप अपने आपको लाभदायक स्थिति मे रखने के लिए नये-नये मन्त्रि-मण्डलो के निर्माण मे सहयोग देते हैं। मन्त्रिमण्डल के टिकाऊ न होने से किसी भी निश्चित या स्थायी नीति का अनुसरण नही किया जा सकता। शासन का नियन्त्रण भी जनता के प्रतिनिधियो के हाथ से निकलकर स्थायी सरकारी नौकरो के हाथ मे आ जाता है। जब मन्त्रिमण्डल का जीवन-काल छोटा हो तो उस अवस्था मे राज-काज चलाने की जिम्मेवारी उस पर रह ही नहीं पाती। ऐसे मन्त्रिमण्डलो मे मन्त्रियो का कार्य शासन चलाना न होकर अपनी स्थिति को मजबूत करना होता है। फलतः शासनतन्त्र मे भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी का विस्तार हो जाता है। राष्ट्र के राज-नीतिक जीवन की पवित्रता नष्ट हो जाती है।

आनुपातिक चुनाव-व्यवस्था में छोटे-छोटे ग्रुपो को भी चुनाव मे जीतने की उम्मीद रहती है, फलत राजनीतिक दलो की सख्या घटने की वजाय बढती जाती है। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भी यह व्यवस्था उपयुक्त नही कही जा सकती। क्योकि छोटे-छोटे अल्पमतो का विस्तार होता है उनकी राजनीतिक जीवन में इज्जत होती है, और लोग राष्ट्रीयहित मे सोचना छोड वर्गहित की ही वातें सोचते हैं।

वहुसख्यक निर्वाचन क्षेत्र के अपने दोष हैं। ऐसे क्षेत्रो से अनेक प्रतिनिधि चुने जाते हैं, उनका जनता से कोई सम्पर्क नही होता, न ही जनता जानती है कि कौन उनका वास्तविक प्रतिनिधि हैं। चुनाव क्षेत्र के विस्तृत होने के कारण चुनाव लडने में बहुत खर्च होता है, इस कारण साधारण श्रेणी के नागरिक तो चुनाव लडने की वात ही नही सोचते। वैसे भी यह चुनाव-व्यवस्था बहुत जटिल होती है, जन-साधारण को इतनी राजनीतिक शिक्षा नही होती कि वह इस को ठीक-ठीक रूप मे समझ भी सकें। एक परिवर्तनीय मत व्यवस्था के अधीन निर्वाचक अपनी पसन्द को निश्चित तथा स्पष्ट रूप मे रखने मे असमर्थ होता है। आनुपातिक चुनाव व्यवस्था के अधीन उपचनाव (By-elections) भी नही हो पाते। वस्तुत इस व्यवस्था को अपनाने के लिए जनता का पर्याप्त शिक्षित होना और आर्थिक दृष्टि से उन्नत होना लाजमी है।

१५० व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)

अनेक राजनीतिक विचारको का कथन है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था साधारण चुनाव व्यवस्था दोनो ही दोषपूर्ण हैं और वे हमारी राजनीतिक

समस्याओ का समुचित समाधान पेश नही करतीं। इन दोनों प्रकार की चुनाव-व्यवस्थाओ का आधार भौगोलिक चुनाव क्षेत्र है। एक ही गाँव, कस्बे या प्रदेश मे रहने वाले सभी वर्ग तथा व्यवसाय के लोग अपने हितो की रक्षा के लिए एक सामान्य प्रतिनिधि का निर्वाचन करते हैं, परन्तु यह व्यवस्था त्रुटिपूर्ण है। समाज में अनेक व्यावसायिक, आर्थिक तथा पेशे से सम्बन्ध रखने वाले समुदाय हैं, उनसे लाखों व्यक्ति सम्बन्धित होते है, उनके हितो का प्रतिनिधित्व इस व्यवस्था द्वारा सम्भव नही।

एक ही प्रदेश मे रहने वाले लोगो के सामान्य स्वार्थ नही हो सकते, अगर हो भी सकते है तो वहुत मामूली विषयो तक ही। एक ही पेशे या व्यवसाय के लोगों के सामान्य हित होते हैं। एक अध्यापक अपने वर्ग के लोगो की कठिनाइयाँ जानता है, विधानपालिका मे वह अपने वर्ग के स्वार्थों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसी प्रकार एक मोची (जूते सीने वाला) किसान या मिल मजदूर अपने वर्ग के स्वार्थों के सही प्रतिनिधि हो सकते हैं, उनके हितो का सही प्रतिनिधित्व शहर मे रहने वाला एक वकील नही कर सकता। यह कहना कि प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के आधार पर चुने गये प्रतिनिधि अपने प्रदेश मे मौजूद सभी परस्पर विरोधी स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं, सर्वथा गलत है। आज के लोगो में वर्गगत स्वार्थो की एकता अधिक है और प्रदेशगत स्वार्थो की वहुत कम। जन-साधारण विभिन्न वर्गो मे वँटा हुआ है, उनमे वर्ग चेतना पर्याप्त प्रबुद्ध होती है। इन वर्गो का वँटवारा वहुत कुछ व्यवसाय के आधार पर हुआ है। अतः चुनाव व्यवस्था का सगठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि प्रत्येक व्यावसायिक समुदाय अपने प्रतिनिधि भेज सके। एतदर्थ प्रादेशिक चुनाव-व्यवस्था के स्थान पर व्यावसायिक चुनाव क्षेत्र वनाने चाहिएँ। व्यावसायिक चुनाव-व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर, मिल मालिक, अध्यापक, डाक्टर, इजीनियर इत्यादि सभी विधान-पालिकाओ मे अपने-अपने प्रतिनिधि भेजेंगे।

इस प्रकार के व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था पुराने समय मे भी मिल जाती है। पुरानी परिपाटी के अनुसार कुलीनवर्ग, पादरी तथा जनसाधारण अपने-अपने प्रतिनिधियो का चुनाव करते थे। आस्ट्रिया मे मतदाताओ के पांच वर्ग थे—वडे जमीदार, नगर व्यापारमण्डल, ग्राम तथा जन-साधारण। वर्तमान समय मे तो व्यावसायिक प्रतिनिधि व्यवस्था का व्यापक समर्थन किया गया है। यह यकीन किया जाता है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था ही लोकतन्त्र के आदर्शो के अनुकूल है। गिल्ड समाजवाद के मुख्य प्रणेता जी डी एच. कोल (G D. H. Cole) ने वर्तमान निर्वाचन-व्यवस्था की कडी आलोचना करते हुए व्यावसायिक निर्वाचन व्यवस्था का जवरदस्त समर्थन किया है। उसके अतिरिक्त फ्रेंच विचारक मिरावो (Merabeau), सेयीज (Sieyes) तथा ड्युग्वी (Deuguit) ने भी इस व्यवस्था का समर्थन किया है। ड्युग्वी का कथन है कि उद्योग, सम्पत्ति, व्यवसाय, विज्ञान तथा धर्म, सक्षेप मे, राष्ट्रीय जीवन की सभी महान् शक्तियो को विधानपालिका मे प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। अग्रेज विधान-शास्त्री लार्ड व्राउघम ने ब्रिटिश संविधान पर लिखी गई अपनी पुस्तक मे उस निर्वाचन-व्यवस्था का समर्थन किया है

कि जिसके द्वारा समाज का प्रत्येक वर्ग तथा समुदाय विधानपालिका मे प्रतिनिधित्व पा सके। ग्राहम वेलस ने भी व्यावसायिक प्रतिनिधि व्यवस्था का समर्थन किया है। इनके मतानुसार एक राज्य मे दो प्रतिनिधि सस्थाएँ होनी चाहिएँ एक के सदस्यो का चुनाव प्रादेशिक आधार पर होना चाहिए और दूसरे के सदस्यो का व्यावसायिक आधार पर।

व्यावसायिक प्रतिनिधि व्यवस्था का अनेक राज्यो मे अनुसरण भी किया गया है। सोवियत रूस मे पहले पहल ऑल रशियन कांग्रेस (All Russian Congress) मे व्यावसायिक चुनाव व्यवस्था को अपनाया गया। इटली मे भी इसी व्यवस्था का अनुसरण किया गया। अन्यत्र भी द्वितीय सदन मे कुछ सीटो का चुनाव व्यावसायिक चुनाव पद्धति पर किया जाता है। अधिकाश मे व्यावसायिक या आर्थिक समुदायो को विधानपालिका मे स्थान देने के बजाय सलाहकार समितियो के रूप मे आयोजित किया जाता है। जर्मनी, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, स्पेन, पुर्तगाल तथा ग्रेट ब्रिटेन मे ऐसी ही अनेक सलाहकार परिषदो की नियुक्ति की गई थी। इनका काम केवल कानून निर्माण नही, बल्कि मात्र सलाह देना था।

व्यावसायिक चुनाव-व्यवस्था की आलोचना—इस चुनाव व्यवस्था की भी बडी कडी आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि व्यावसायिक चुनाव-व्यवस्था राष्ट्रीय एकता को सर्वथा नष्ट कर देगी, देश मे वर्ग सघर्ष, पारस्परिक द्वेष तथा वैमनस्य उत्पन्न करेगी। राष्ट्रीय विधानपालिकाओ के सदस्यो का गुणात्मक दृष्टि से पतन हो जायगा और विधानपालिकाएँ विभिन्न प्रकार के विरोधी वर्गो के सघर्ष का अखाडा बन जायेंगी। विधानपालिकाओ का कार्य जन-सामान्य का—बिना वर्गगत भेद-भाव का ध्यान रखे—कल्याण करना है, उसके सामान्य हित को दृष्टि मे रखकर कानून बनाना है। परन्तु व्यावसायिक चुनाव-प्रणाली के प्रचलन के फलस्वरूप विधानपालिकाओ के सदस्यो के दृष्टिकोण सकुचित हो जायेंगे और वे वर्गजात स्वार्थो से ऊपर उठ जनसामान्य के कल्याण की बात नही सोच सकेंगे। लोग अपने सामान्य हितो को भूल वर्गगत हितो का ही ख्याल रखेंगे।

यह कहना भी गलत है कि सभी समुदाय एक ही प्रकार के उद्देश्यो का अनुसरण करते हैं। एक ही समुदाय मे रहने वाले या एक ही पेशे के अनुगामी लोग सदा एक ही ढग से नही सोचते। प्रोफेसर बार्थेलेमी का विचार है कि यह जरूरी नही कि सभी वर्गो के लोग वर्गगत स्वार्थो से प्रेरित होकर ही वोट दें। राजनीतिक पार्टियाँ इस उद्देश्य को विफल बना देंगी। लोग अपने वर्गगत स्वार्थो का त्याग कर राजनीतिक पार्टियो के आदेशो का अनुसरण करेंगे।

यह व्यवस्था राज्य के अस्तित्व को ही खतरे मे डाल देती है, जैसा कि कोल इत्यादि ने सुझाया है कि राज्य मे प्रभुता के दो सगठन होने चाहिएँ, एक तो आर्थिक प्रभु और दूसरा राजनीतिक। ऐसा विभाजन राष्ट्रीय एकता के लिए और अविभाज्य प्रभुता के लिए खतरनाक है। हमे समाज के अन्तगत वर्गगत तथा व्यवसायगत भेदो को इतना महत्त्व नही देना चाहिए। फिर बडी कठिनाई यह है कि

किन-किन वर्गों को विधानपालिका मे स्थान दिया जाना चाहिए। प्रो० लास्की ने इस व्यवस्था के सम्पूर्ण आधार को ही गलत माना है। उसका कथन है कि एक डाक्टर का तथा विधानपालिका के कार्य का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? विदेशी नीति, व्यापार-नीति या खानो के राष्ट्रीयकरण के सवालो का क्या कोई डाक्टरी हल भी हो सकता है ? इस प्रकार व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की कोई विशेष उपयोगिता नही।

Important Questions

	Reference
1. Do you advocate universal franchise ? What in your opinion, should be the qualifications for the exercise of franchise ? (*Pb. 1942*)	Art. 145
2. State the case for and against woman sufferage	Art. 146
3 Discuss the relative merits of single member and multi-member constituencies (*Pb 1951 Sep*)	Art. 148
4 State the case in favour of indirect system of election and give your own opinion (*Pb 1934* , *Cal 1936*)	Art 147
5 Explain the essential features of proportional representation. Advance arguments for and against it. (*All. 1941*, *1944*, *Pb. 1938*, *1935*, *1951*; *Nag. 1939*, *Cal. 1932*)	Art 149
6. Explain functional democracy, its principles, objects and methods. (*Ag. 1941*) *Or,* Explain briefly the claims of (*a*) functional, and (*b*) territorial representation in the modern State. (*Cal 1931*; *Pb 1940*)	Art 150

मे मान्यता प्राप्त नहीं कर सकी। सोवियत रूस इन्हें अधिकार रूप मे मान्यता देता है, अन्यत्र वे नैतिक अधिकार के रूप में मौजूद हैं। परन्तु इन अधिकारो के विषय मे यह कहना गलत नही होगा कि ये अधिकार निर्माण-अवस्था मे हैं। लोकमत के प्रभाव से जब कभी इन्हे राज्य की स्वीकृति मिल जायगी तभी ये अधिकार के रूप मे बदल जायेंगे। समाज के भीतर रहते हुए यदि अधिकारो की कोई सामाजिक या कानूनी स्वीकृति न हो और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति तथा चतुरता के बल पर अपने अधिकारो के उपभोग की स्वतन्त्रता हो तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला असूल चलेगा। गरीब तथा कमजोर लोग अपने अधिकारो के इस्तेमाल के लिए धनी तथा बलवान लोगो पर आश्रित रहेगे। राज्य के नियम तथा कानून ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिसके अन्तर्गत समाज के सभी सदस्य बेखटके अपने अधिकारो का इस्तेमाल कर सकते हैं। अगर व्यक्ति सामाजिक जीवन का हिस्सा नही, वह अकेला ही समाज से बाहर रहता है, अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसे किसी भी अन्य व्यक्ति पर आश्रित नही रहना पडता, तो ऐसे व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार के अधिकार की आवश्यकता ही नहीं रहती। वह जो चाहे कर सकता है। परन्तु व्यक्ति का जीवन सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ही पूर्ण बन पाता है, उससे ऊपर या बाहर नही। समाज के अन्तर्गत रहते हुए ही वह अधिकारो का उपभोग कर सकता है। हमे यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि सामाजिक स्वीकृति तथा वैधानिक स्वीकृति मे भी अन्तर है। अनेक बार अनेक ऐसी वैयक्तिक तथा सामूहिक माँगें होती हैं, जिन्हे सामाजिक स्वीकृति तो अवश्य मिल जाती है, परन्तु राज्यकीय स्वीकृति प्राप्त नही होती। ऐसे अधिकार वैध अधिकार नही कहलाते, यद्यपि उन्हें समाज द्वारा स्वीकृत अधिकार अवश्य कहा जाता है। समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारो को लागू करने की जिम्मेदारी राज्य पर नही होती।

चौथे अधिकार की सत्ता सभी के लिए लाजमी है, यानी एक अधिकार का इस्तेमाल एक ही वर्ग तक सीमित नही होना चाहिए। उसका उपभोग सभी नागरिक कर सकें, ऐसी स्थिति होनी चाहिए। यदि अधिकारो का उपभोग एक वर्ग तक सीमित है और नागरिकों के शेष वर्ग उस अधिकार से वंचित रहते हैं तो ऐसी अवस्था मे वह सभी वर्गो का अधिकार न होकर एक-आध वर्ग का विशेषाधिकार बन जायगा। अधिकार का इस्तेमाल तो बिना जातिगत, वर्गगत तथा वर्णगत भेद-भाव के सभी के लिए प्राप्य होना चाहिए। अन्यथा अधिकार का आधार ही खत्म हो जाता है।

पाँचवां अधिकार तथा कर्त्तव्य परस्पर आश्रित हैं। प्रत्येक अधिकार मे कर्त्तव्य की भावना निहित है। एक रूप मे तो वे अधिकार हैं, दूसरे रूप मे वही हमारे कर्त्तव्य हैं। वस्तुत वे एक सिक्के के दो पहलुओ की तरह हैं। दोनों के समन्वय से ही समाज मे अधिकारो की सत्ता सम्भव है। वर्तमान समाज मे हम अधिकार तथा कर्त्तव्य मे समुचित समन्वय नही कर पाते, फलत समाज मे अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे समाज की अनेक खराबियाँ खत्म हो सकती हैं, अगर हम अधिकार तथा कर्त्तव्यो का ठीक-ठीक मेल कर पायें। अधिकारो का सामाजिक रूप है, तभी सम्भव है जब

…मा ठीक-ठीक पालन
… एक तरफ जहाँ
…े जाता है कि मैं
…द मुझे वैयक्तिक
… अन्न सामाजिको
…नके इस अधिकार
…क का यह कर्त्तव्य
…र उनके इस्तेमाल

… की देन है अत
… समाज के हित मे
…ई है। मुझे भाषण
… परन्तु इसका अर्थ
… इस्तेमाल मे लाना
… बढावा देने के लिए
…कता फैल जायगी।
… नहीं करता या जो
… के लिए इस्तेमाल
…ए। अपने अधिकारों
…क्ति उनका अपनी
…जक लाभ को बढ़ाने
…है, इसी कारण वह
…जिक कल्याण मे ही
सम्भव है।

अधिकारो का वर्गीकरण—अधिकारो का रूप एक समान नही, उनमें भेद सम्भव है। साधारणत अधिकारो के दो रूप माने जाते हैं—(१) **नैतिक अधिकार** (Moral rights) तथा (२) **कानूनी अधिकार** (Legal rights)। हमारे **नैतिक अधिकार** वे हैं जो हमारी यानी समाज की नैतिक धारणाओ पर आधारित हैं। नैतिक अधिकार रीति-रिवाज तथा परम्परा पर भी आधारित होते हैं। प्रत्येक समाज मे एक प्रकार की न्याय-भावना काम करती है, उसके आधार पर सामाजिक कर्त्तव्यो तथा अधिकारो का विश्लेषण किया जाता है। एक प्रकार से तो सभी अधिकारों का एक नैतिक आधार होता है जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर आये हैं। परन्तु यहाँ **"नैतिक अधिकारो से हमारा मतलब उस अधिकार समूह से है जो समाज द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं, उसी द्वारा लागू होते हैं और जिन्हें राज्य के कानून लागू नहीं करते।"** लोग उनका उपभोग सामाजिक आलोचना के भय से करते हैं, सरकारी दण्ड के भय से नही। वृद्ध माता-पिता का अपने बच्चो से सेवा कराने का नैतिक अधिकार

है, निर्धनो का अमीरो से आर्थिक सहायता प्राप्त करने का भी एक नैतिक अधिकार है, परन्तु यह कानूनी नही है, अगर कोई व्यक्ति इन्हे नही मानता तो उसे सजा नही दी जाती, और उसकी समाज मे निन्दा अवश्य होती है।

नैतिक अधिकारो मे से अनेक अधिकार तो समय तथा परिस्थितियो के अनुसार कानूनी रूप भी धारण कर लेते हैं। प्रत्येक समाज मे धीरे-धीरे वे कानून की मान्यता प्राप्त कर लेते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा का अधिकार, जीविकोपार्जन का अधिकार, विश्राम का अधिकार इत्यादि अनेक ऐसे नैतिक अधिकार हैं, जो धीरे-धीरे राज्य द्वारा मान्यता प्रदान किये जाने पर कानूनी अधिकार बनते जा रहे हैं।

कानूनी अधिकार हमारे वे अधिकार हैं जिन्हें राज्य स्वीकृति प्रदान करता है, और जिनका इस्तेमाल राज्य के कानूनो के आधार पर सम्भव है। अगर कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति के अधिकारो के उपभोग मे बाधा डालता है या उन्हे भग करता है, तो वह कानून की दृष्टि से अपराधी ठहराया जाता है और उसे राज्य द्वारा सजा दी जाती है। राजकीय न्यायालय इन अधिकारो को कानून के आवश्यक भाग के रूप मे लागू करते हैं। जीवन का अधिकार, एक नागरिक का कानूनी अधिकार है और जो भी इस अधिकार के उपभोग मे बाधा डालता है या उस पर हमला करता है, वह अपराधी है और उसे दण्ड दिया जाता है। प्रत्येक कानूनी अधिकार का नैतिक आधार होता है।

कानूनी अधिकार के भी दो अन्य रूप हैं, वे हैं—**सामाजिक अधिकार** (Civil rights) **तथा राजनीतिक अधिकार** (Political rights)। सामाजिक अधिकार नागरिक जीवन के आधार कहे जा सकते है। इन अधिकारो की प्राप्ति मनुष्य मात्र को होती है। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह राज्य का नागरिक है या नही इन अधिकारो का उपभोग कर सकता है। सामाजिक अधिकारो मे मुख्य जीवन का अधिकार, भाषण तथा विचारो के प्रकट करने की स्वतन्त्रता का अधिकार, निजी सम्पत्ति का अधिकार, शिक्षा का अधिकार तथा धार्मिक स्वतन्त्रता इत्यादि के अधिकार हैं। इन अधिकारो की उपस्थिति के बिना किसी प्रकार का भी शान्ति पूर्ण सुसस्कृत तथा सभ्य सामाजिक जीवन सम्भव नही। इन्ही की उपस्थिति मे ही मनुष्य के व्यक्तित्व का समुचित विकास सम्भव है। अगर राज्य हमारे इन अधिकारो के उपभोग की व्यवस्था भी न कर सके तो उसकी कोई उपयोगिता नही। ये अधिकार हमारे जीवन के मौलिक अधिकार हैं, वे सामाजिक जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ हैं।

दूसरे वर्ग के कानूनी अधिकारो को **राजनीतिक अधिकार** (Political rights) कहते है। राजनीतिक अधिकार वे अधिकार हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के लिए राज्य शासन मे भाग लेना सम्भव होता है। इन्ही अधिकारो का उपभोक्ता होता हुआ ही नागरिक राज्य की सर्वोच्च सत्ता या प्रभु शक्ति का हिस्सेदार होता है। राजनीतिक अधिकारो का उपभोग राज्य की सीमा मे रहने वाले सभी व्यक्तियों के लिए सम्भव नही, केवल नागरिको को ही ये अधिकार प्राप्त होते हैं। इन अधिकारो का वैयक्तिक जीवन से विशेष सम्बन्ध नहीं होता, इनके द्वारा वे राज्य के प्रशासकीय

जीवन मे भाग लेता है। ये अधिकार उसके व्यक्तित्व के विकास मे अवश्य सहायक होते हैं, क्योकि इनके द्वारा वह अन्य नागरिको के समान वन जाता है। उसमे आत्म-विश्वास की भावना का विकास होता है। वह अपने तग जीवन से निकलकर विस्तृत सामाजिक जीवन मे प्रवेश करता है और केवल अपनी ही स्वार्थ सिद्धि के स्थान पर सामाजिक कल्याण की बात सोचता है। राजनीतिक अधिकारो के अन्तर्गत वोट देने का अधिकार, विधानपालिका के सदस्य बनने तथा सार्वजनिक पद ग्रहण करने के अधिकार आते हैं। राजनीतिक अधिकार की उपस्थिति केवल प्रजातन्त्रात्मक शासन के अन्तर्गत ही सम्भव है।

राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार दोनो ही एक दूसरे के पूरक है, सामाजिक अधिकारो के बिना राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति सम्भव नही। इसी प्रकार राजनीतिक अधिकारो के बिना सामाजिक अधिकारो की सुरक्षा की कोई गारण्टी नही। क्योकि राजनीतिक अधिकारो का उपभोग ही एक प्रजातन्त्रात्मक शासन का आधार है। प्रजातन्त्रात्मक शासन के बिना सामाजिक अधिकार सदा ही शासको की या तानाशाहो की दया पर निर्भर रहते हैं। अनेक सामाजिक अधिकारो को राजनीतिक अधिकारो के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। भाषण की तथा समुदाय-निर्माण की स्वतन्त्रता ऐसे ही अधिकार हैं। दोनो के बीच मे किसी विभाजन रेखा को खैच सकना सम्भव नही।

अधिकारो का विकासमय रूप (Evolutionary Nature of rights)—अधिकारो का स्वरूप सदा एक-सा नही रहता, वे वदलते रहते हैं और विशेष अधिकारो के महत्त्व मे भी अन्तर पड जाता है। अधिकारो का वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, पुराने समय मे अधिकारो को इतनी व्यापक मान्यता प्रदान नही की जाती थी। उस समय अधिकारो का उपभोग व्यक्ति, समुदाय, बिरादरी परिवार तथा शासक की दया पर आश्रित होता था। पुराने ग्रीस मे नागरिकता का अधिकार केवल ऐसे सम्पत्तिशाली वर्ग को ही प्राप्त था जो कि खाली समय निकालकर राज्य-शासन मे हिस्सा ले सकता था। दास प्रथा के कारण अनेक गुलामो के अधिकारो का निर्णय उनके मालिक करते थे। मध्य-युग मे वैयक्तिक अधिकारो का सीमा-निर्धारण चन्द व्यावसायिक समुदाय, तथा विरादरियो द्वारा होता था। अनेक समाजो मे पारिवारिक मुखिया अबाध शक्ति सम्पन्न होता था कि उसे परिवार के सदस्यो के जीवन के अधिकार का भी निर्णायक समझा जाता था। राष्ट्रीय राज्यो के विकास के फलस्वरूप जिन राजतन्त्रो का विकास हुआ उनके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता इत्यादि के अधिकार राजाओ की दया पर आश्रित होते थे।

प्रत्येक युग मे अधिकारो का स्वरूप वदलता रहा है। पुराने समय मे हम जिन अधिकारो को महत्त्व देते थे आज उनका कोई विशेष महत्त्व नही रहा। जीवन के अधिकार के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा अधिकार नही जिसे हम अपरिवर्तनीय तथा आधारभूत अधिकार कह सके। आज जो कुछ हमे आधारभूत दृष्टिगोचर होता है कल वही अनावश्यक वन सकता है। लॉक ने जिस अर्थ मे स्वतन्त्रता तथा निजी

सम्पत्ति के अधिकार को रखा था आज उसे मान्यता प्रदान नही की जाती हैं। आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियो के परिवर्तन के परिणामस्वरूप हमारे नैतिक मूल्य भी बदल जाते हैं, फलत हम अधिकारो के परिवर्तन की भी माँग करते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान मे कुछ आधारभूत अधिकारो की सत्ता को स्वीकार किया गया था, इसी प्रकार क्रान्ति-युग का फ्रेंच सविधान भी मनुष्य के मौलिक अधिकारो को मान्यता प्रदान करता था। परन्तु उनमे आज अनेक अधिकार सामाजिक जीवन के लिए अनुपयुक्त समझे जाने लगे हैं, उदाहरण के लिए सम्पत्ति का ही एक ऐसा अधिकार है जिसे कि किसी समय आधारभूत अधिकार माना जाता था, परन्तु आज उसे शोषण का परिणाम समझा जाता है और अनेक राज्यो मे उसे स्वीकार ही नही किया जाता। जीवन तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकारो को आधारभूत अधिकार माना जाता है, परन्तु दोनो अधिकारों की आज नए ढग से व्याख्या की जाती है। जीवन के अधिकार के अन्तर्गत जीविकोपार्जन का अधिकार, काम करने का अधिकार तथा विश्राम के अधिकार को भी ग्रहण किया जाता है। क्योकि जीवन का अधिकार इन अधिकारो की उपस्थिति के बिना अर्थहीन है। जीवन के अधिकार का केवल यही अर्थ नही है कि राज्य मनुष्य के जीवन की चोर, डाकुओ तथा लुटेरो से ही रक्षा करे, बल्कि राज्य को उसे भूखा मरने से भी बचाना चाहिए, उसे बीमारियो से बिना इलाज के मरने से भी बचाना चाहिए और उसे सम्मानपूर्वक सुविधाजनक जीवन बिताने का अधिकार भी देना चाहिए। जीवन के अधिकार का अर्थ केवल जीवन यापन ही नही, बल्कि सुख-सुविधासम्पन्न तथा नैतिक दृष्टि से पूर्ण जीवन बिताना भी है। अत अधिकारो का कोई भी सिद्धान्त सर्वथा पूर्ण नही हो सकता। न ही अधिकारों की वही व्यवस्था पूर्ण कही जा सकती है, जो परिवर्तित हुई सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल हो। अधिकारो की कोई भी कठोर व्यवस्था प्रगतिशील समाज का अनुसरण नही कर सकती, फलत वह टूट जाती है और इस प्रकार अशान्ति तथा अव्यवस्था की जनक होती है। अधिकार सदा परिवर्तनशील हैं वे व्यक्ति तथा समाज के नैतिक मूल्यो के अनुसार बदलते रहते हैं।

१५२. अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त

अधिकार किस प्रकार पैदा होते हैं, किस प्रकार सामाजिक जीवन मे उन्हें मान्यता प्रदान की जाती है, ये कुछेक ऐसे प्रश्न हैं जिनकी विविध प्रकार से व्याख्या की जाती है। अधिकारों की इन व्याख्याओ को ही हम अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त कहते हैं। अधिकारों की ये व्याख्याएँ तो अनेक हैं, परन्तु इनमे से मुख्य निम्न लिखित हैं—

(१) प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धान्त (Theory of natural rights)
(२) अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त (Theory of legal rights)
(३) अधिकारो का ऐतिहासिक सिद्धान्त (Theory of historical rights)

(४) अधिकारो का सामाजिक उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त (Theory of Social welfare rights)

(५) अधिकारो का आदर्शवादी सिद्धान्त (Theory of Idealistic rights)

नीचे हम इन सभी सिद्धान्तो पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

(१) प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of natural rights)—प्रत्येक मनुष्य के कुछ ऐसे अधिकार हैं जो जन्मजात हैं, उसे उसी प्रकार प्रकृति से प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार से कि उसकी त्वचा का रग। वे उसके लिए वैसे ही कुदरती है जिस प्रकार उसके लिए चलना-फिरना, सोना तथा जागना। ये अधिकार समाज की रचना नही कहे जा सकते, ये तो मनुष्य जीवन के प्राकृतिक अंग हैं। यह अधिकारो की एक वडी सरल तथा सीधी व्याख्या है। राजनीतिशास्त्र के इतिहास मे इसका विशेष महत्त्व रहा है। यू तो पुराने ग्रीक विचारको ने भी इस सिद्धान्त पर विचार किया है और वैयक्तिक अधिकारो को प्रकृति की देन माना है तथापि इसकी समुचित तथा लोकप्रिय व्याख्या १७वी तथा १८वी सदी मे अनुबन्धवादी विचारको द्वारा की गई है।

सविदावादी विचारको के मतानुसार राज्य के उदय से पूर्व एक राज्य-विहीन स्थिति थी जिन्हे वे प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) कहते हैं। इसी अवस्था मे मनुष्य प्राकृतिक अधिकारो का उपभोग करता था। दूसरे शब्दो मे इन विचारको का कथन है कि प्राकृतिक अधिकारो की अवस्थिति राज्य तथा समाज के जन्म से भी पहले विद्यमान थी, वे प्रकृति की रचना थे। परन्तु प्राकृतिक अधिकारो की व्याख्या के विषय मे सविदावादी एकमत नही है। हॉब्स मनुष्य की अपनी इच्छाओ को सन्तुष्ट करने की शक्ति को प्राकृतिक अधिकार मानता है, परन्तु लॉक का एतद्-विषयक दृष्टिकोण पर्याप्त स्पष्ट है। उसका कथन है कि जीवन का अधिकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार, विवेक का अधिकार तथा सम्पत्ति का अधिकार इत्यादि प्राकृतिक अधिकार हैं। ये मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार हैं। सामाजिक अनुवन्ध के समय प्राकृतिक अधिकारो मे से कुछेक अधिकारो को ही मनुष्य ने राज्य को या समाज को सौंपा, शेष अधिकारो को उसने अपने पास रखा। ये अधिकार राज्य की शक्ति पर पावन्दियो का काम करते हैं।

प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त का वडा व्यापक प्रभाव पडा, फ्रेंच तथा अमेरिकन क्रान्तियो का आधार ये प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त ही थे। अमेरिका तथा फ्रास दोनो राज्यों के संविधानों मे प्राकृतिक अधिकारो की एक विस्तृत घोषणा की गई और उन्हे मनुष्य मात्र के मौलिक अधिकारो मे स्वीकार किया गया। इसी प्रकार सयुक्त राज्य अमेरिका मे भी यह माना गया कि सभी मनुष्य जन्म से ही समान हैं। मनुष्य मात्र को विधाता ने कुछ ऐसे अधिकार दिये हैं, जिन्हे किसी भी अवस्था मे मनुष्य के व्यक्तित्व से अलग नही किया जा सकता। वे मनुष्य के व्यक्तित्व

के अभिन्न अंग हैं। ऐसे अधिकारो मे जीवन, स्वतन्त्रता तथा सुख-प्राप्ति के अधिकार मुख्य हैं।

जेफरसन (Jafferson) का कथन है कि राज्य तथा सरकार का उदय इन अधिकारो की सुरक्षा के लिए ही हुआ है। सरकार का इन अधिकारो की सुरक्षा के अतिरिक्त अन्य कोई मकसद नही। फ्रेंच विचारक वाल्तेयर (Voltaire) के विचार के अनुसार सभी मनुष्यो को स्वतन्त्रता, समानता, सम्पत्ति तथा कानूनी सुरक्षा के समान अधिकार प्राप्न हैं। स्पैन्सर इत्यादि व्यक्तिवादी यद्यपि प्राकृतिक अधिकारो की धारणा के विरुद्ध थे, तथापि उनका कथन था कि कुछेक अधिकार आधारभूत अधिकार हैं, क्योंकि वे मानव प्रकृति पर आधारित हैं, उनके विना सामाजिक जीवन का विकास ही सम्भव नहीं। आज भी अधिकारो का यह सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप मे जीवित है।

आलोचना—प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त को अवैज्ञानिक तथा अवौद्धिक माना जाता है। प्राकृतिक अधिकारो के समर्थक मानवीय जीवन मे एक ऐसी स्थिति की कल्पना करते हैं जब कोई राज्य नही था, जव कोई कानून या व्यवस्था नही थी। हम पीछे अनुवन्ध सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यह दिखा चुके हैं कि मानवीय समाज की ऐसी अवस्था नही रही जिसे कि इस सिद्धान्त के समर्थक प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) कहते हैं। ऐतिहासिक रूप से तो यह असत्य है ही, मनोवैज्ञानिक आधार पर भी इसे असत्य सिद्ध किया जाता है। मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। समाज के भीतर रहने से ही वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। मनुष्य जन्म से तो अधिकार लेकर नही आता बल्कि उसे कुछ शक्तियाँ ही प्राप्त होती हैं। देखने की, बोलने की, चलने-फिरने इत्यादि की कुछ विशेष शक्तियो को हम प्रकृति की देन मान सकते हैं परन्तु प्रकृति किसी विशेष अधि कार को नही देती। शेर के पास मनुष्य को मारकर खाने की प्राकृतिक शक्ति है, अधिकार नही। अधिकार तो सामाजिक जीवन मे ही सम्भव है। उनकी सवसे वडी विशेषता सामाजिक मान्यता (Social recognition) है। सामाजिक मान्यता के अभाव मे अधिकारों और कर्त्तव्यो की व्याख्या की कल्पना ही अर्थहीन है। वह हमारी वुद्धि तथा तर्कसगत माँग के रूप मे समाज के सम्मुख आते हैं और सामाजिक स्वीकृति को प्राप्त कर अधिकार कहलाने लगते हैं।

(ख) दूसरा, अगर हम थोडी देर के लिए मान ही लें कि स्वतन्त्रता, समानता सुरक्षा इत्यादि के अधिकार प्राकृतिक अधिकार हैं तो स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि उन्हे लागू कौन करता है। या उनके भग किए जाने पर अपराधी व्यक्ति को सजा कौन देता है? प्राकृतिक अवस्था मे न तो समाज ही है और न राजनीतिक सत्ता ही। दोनो की अनुपस्थिति मे अधिकारो का उपभोग सम्भव नही। हॉब्स मनुष्य की इच्छा-पूर्ति की शक्ति का नाम अधिकार मानता है? इसका अर्थ तो यह है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' पूर्ण स्वतन्त्रता तो समाज मे सम्भव नही। अगर पूर्ण

स्वतन्त्रता के अधिकार की अवस्थिति मानी जाय तो इसका मतलब है कि समाज मे सर्वथा अराजकता फैल जायगी, शान्ति तथा व्यवस्था खत्म हो जायगी। कमजोर तथा शक्तिविहीन लोगो को वलशाली आदमियो की दया पर जीवित रहना पडेगा।

(ग) हम पीछे लिख चुके हैं कि अनुवन्ध सिद्धान्त के मानने का अर्थ है कि सम्पूर्ण सामाजिक तथा उससे सम्वन्वित सस्थाएँ वनावटी हैं, वे अप्राकृतिक है, मनुष्य स्वभाव तथा प्रकृति के विपरीत हैं। समाज-निर्माण से पूर्व तो मनुष्य अवाध स्वतन्त्रता सम्पन्न था, वह अनेक अधिकारो का उपभोग करता था, परन्तु समाज ने उसके वहुमूल्य तथा प्राकृतिक अधिकारो को छीन लिया। इसी प्रकार समाज शोपण तथा अत्याचार पर आधारित है, परन्तु यह धारणा विलकुल गलत है। सामाजिक सस्थाएँ हमारी सामाजिक प्रकृति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं, वे वनावटी नही कही जा सकती।

(घ) प्राकृतिक अधिकारो की व्याख्या के विषय मे एक और वडी मुश्किल यह है कि 'प्रकृति' शव्द की कोई सर्वसम्मत व्याख्या सम्भव नही। प्रत्येक लेखक ने इस शव्द की व्याख्या मनमाने ढग से की है। वस्तुत: 'प्रकृति' 'प्रगति' 'उन्नति' इत्यादि अनेक ऐसे शव्द हैं जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नही, वे व्यक्तिगत (Subjective) धारणाएँ हैं। अनेक मनुष्य वनावटी चीज को भी प्राकृतिक मान सकते हैं। स्वय अनुवन्ध सिद्धान्त के समर्थको मे 'प्राकृतिक' शव्द की कोई सर्वमान्य व्याख्या नही मिलती। वे सभी अपने-अपने सामाजिक वातावरण के अनुकूल तथा वौद्धिक तथा शिक्षा सम्वन्धी दृष्टिकोण के मुताविक 'प्राकृतिक' शव्द की व्याख्या करते है। मनुष्य प्रकृति के विषय मे ही मतभेद है। हॉव्स का कथन है कि मनुष्य स्वभाव से झगडालू तथा स्वार्थी है, जव कि लॉक तथा रूसो उसे शान्तिप्रिय मानते हैं। ऐसी कोई भी सामान्य सूची नही जिस पर कि सभी सहमत हो। समाज के अन्य क्षेत्रो मे भी ऐसी कोई सर्वसम्मत धारणा नही मिल पाती। हिन्दू सामाजिक ऊँच-नीच तथा जाति व्याख्या को प्राकृतिक मानते हैं मुसलमान वहुपत्नीत्व प्रथा को सर्वथा प्राकृतिक तथा स्वाभाविक समझते हैं। अनेक मनुष्य स्त्री-पुरुष की सामानता प्राकृतिक मानते हैं अनेक अप्राकृतिक। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति दास-प्रथा को प्राकृतिक मानते हैं और अनेक अप्राकृतिक। कुछ लोग वर्तमान उद्योगप्रधान सस्कृति को प्राकृतिक मानते हैं और कुछ पुराने समय की जगली अवस्था को। ऐसे मतभेदो के होते हुए प्राकृतिक अधिकारो की अभी स्पष्ट तथा तर्क-सगत व्याख्या की उम्मीद नही की जा सकती।

(ङ) प्राकृतिक अधिकार परस्पर विरोधी भी हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता तथा पूर्ण समानता की धारणाएँ परस्पर विरोधी हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता का अर्थ असमानता है। सभी सामाजिक सदस्यो को यदि पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय तो समाज मे असन्तुलन उत्पन्न हो तायगा और सभी जगह असमानता उत्पन्न हो जायगी।

(१) **प्राकृतिक अधिकारो के नये रूप**—के भी आज दर्शन हो जाते हैं। इन्हे कभी-कभी अधिकारो की आदर्शवादी या दार्शनिक व्याख्या भी कहा जाता है। वस्तुत. ये प्राकृतिक अधिकारो का नैतिक तथा समाजवादी रूप है। अगर प्राकृतिक अधिकारो से हमारा मतलव ऐसे अधिकारो से है जिनके विना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास

ही सम्भव नही और जिनकी उपस्थिति सामाजिक जीवन की पूर्णता के लिए लाजमी है तो प्राकृतिक अधिकारो की धारणा को कतई बुरा नही कहा जा सकता। इस अवस्था मे प्राकृतिक अधिकारो से हमारा मतलब प्रो० लॉस्की के मतानुसार उन परिस्थितियों से नही जो हमे मानव-जाती का बाल्यावस्था मे प्राप्त थी और जिन्हें आज हम खो चुके हैं बल्कि प्राकृतिक अधिकार वे आदर्श अधिकार हैं जिनसे कि हम मौजूदा समाज की नाप-जोख कर सकते हैं और भविष्य मे समाज का जिन्हें आधार मान सकते हैं। **प्राकृतिक अधिकार तो जो कुछ समाज मे होना चाहिए, उसे निर्देशित करते हैं।** प्रो० लॉस्की ने इसी आधार पर प्राकृतिक अधिकारो का समर्थन किया है, उसका कथन है कि मनुष्य वास्तविक स्वाधीनता को तभी अनुभव कर पाता है जब वह अन्याय तथा शोषण से भिडने के लिए तैयार हो जाता है। मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास से ही ऐसी स्वतन्त्रता की अनूभूति हो सकती है। मनुष्य का व्यक्तित्व सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धो के समूह मे ही अभिव्यक्त हो पाता है, केवल राजनीतिक सम्बन्धो के द्वारा नहीं। इसलिए समाज के भीतर रहते हुए मनुष्य को सघ या समुदाय निर्माण की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। प्रो० लॉस्की विचारो के प्रकट करने की स्वतन्त्रता, ठीक-ठीक मजदूरी, शिक्षा तथा विश्राम और सघ बनाने इत्यादि के अधिकारो को प्रकृत अधिकार स्वीकार करता है। इसके बिना नागरिक जीवन पूरा नही हो पाता हाबहाउस भी प्रो० लॉस्की का ही समर्थन करता है और कहता है कि धर्म, शिक्षा तथा देश भक्ति इत्यादि की पूर्ण अनुभूति और विकास के लिए उचित सामाजिक वातावरण की सृष्टि राज्य का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य हैं। टी० एच० ग्रीन का कथन है कि राज्य को ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिएँ कि जिनके अन्तर्गत रहता हुआ व्यक्ति अपने श्रेष्ठतम गुणो का समुचित विकास कर सके। इस प्रकार वर्तमान युग के इन लेखको ने प्राकृतिक अधिकारो को आदर्श अधिकारो मे बदल दिया और उन्हे राज्य के उद्देश्य से सम्बन्धित कर दिया है। जसा कि ऊपर लिखी गई पक्तियो से स्पष्ट है कि ये सभी लेखक राज्य का एक नैतिक रूप मानते हैं और व्यक्ति के जीवन की सभी प्रकार की पूर्णता की प्राप्ति के लिए उचित परिस्थितियो की रचना को राज्य का परम उद्देश्य समझते हैं।

प्राकृतिक अधिकारो की यह आदर्शवादी व्याख्या सबसे अच्छी है, परन्तु इनका ऐसा प्रयोग हाल ही मे शुरू हुआ है।

(२) कानूनी अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of legal rights) बेन्थम तथा आस्टिन ने अधिकारो की वैधानिक व्याख्या की है। सार रूप से इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के अधिकार राज्य के कानून की रचना मात्र हैं, वह राज्य की इच्छा पर आधारित हैं, व्यक्ति उन्हे प्राकृतिक अवस्था से प्राप्त नही करता या उन्हे जन्म से ही अपने साथ लेकर नही आता। बेन्थम तथा आस्टिन दोनो ही प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते, बेन्थम तो उन्हें बकवास मात्र मानता है। प्राकृतिक अधिकार तो इसलिए अधिकार कहलाने के योग्य नहीं है, क्योकि उन्हें कोई लागू नही कर सकता, सभी व्यक्ति अपनी मर्जी के

अनुसार उन्हे भग कर सकते हैं। इस सिद्धान्त का मूल रूप हमे हॉब्स के विचारो मे मिल जाता है। जैसा कि हम पीछे देख आये हैं हॉब्स प्रभुता को ही व्यक्ति के सभी प्रकार के अधिकारो का स्रोत मानता है। वह कहता है कि हमारे अधिकार राज्य की रचना मात्र है, और राज्य जब चाहे उन्हे खत्म कर सकता है, बढा सकता है, घटा सकता है उन्हे पूरी तरह नष्ट कर सकता है। इन सबसे स्पष्ट है कि राज्य के भीतर रहते हुए व्यक्ति के पास राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नही। क्योकि सभी अधिकार कानून की रचना है और कानून किसी भी व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार नही दे सकता।

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी व्यक्ति उन्ही अधिकारो का उपभोग कर पाता है जिनकी रचना राज्य द्वारा हुई हो। हमारे तथाकथित मौलिक अधिकार तब तक सारहीन तथा सत्ताविहीन शब्द मात्र हैं जब तक कि उन्हे सवैधानिक मान्यना प्रदान नही की जाती।

आलोचना—इसमे सन्देह नही कि कानून व्यक्ति के अधिकारो को मान्यता प्रदान करता है और राज्य उन अधिकारो की रक्षा करता है तथा उनकी ठीक-ठीक अनुभूति के लिए उचित परिस्थितियो का निर्माण करता है। परन्तु यह कहना बिलकुल गलत है कि राज्य व्यक्ति के अधिकारो को बनाने वाला या उनकी रचना करने वाला है। वह अधिकारो की परिभाषा कर सकता है परन्तु कानून द्वारा उनकी रचना नही कर सकता।

(क) हम पीछे देख आये हैं कि कानून राज्य का आदेश मात्र नही है, बल्कि उस के अन्य आधार भी हैं। प्राचीन समाजो मे, जहाँ कोई निश्चित विधानपालिका नही होती थी और न ही कानून की रचना का कोई निश्चित स्रोत होता था, लोगो के आचरण का नियन्त्रण कुछेक विशेष रस्मो-रिवाज तथा समाज द्वारा स्वीकृत परम्पराओ द्वारा होता था। ठीक इसी तरह प्रत्येक समाज मे अधिकारो का इस्तेमाल नागरिको ने परम्परागत रस्मो-रिवाज के आधार पर किया ऐ, और अब भी कर रहे है। हिन्दू स्त्री का पति के साथ सती हो जाने का अधिकार, परम्परा पर आधारित था। मुसलमानो के यहाँ चार विवाह करने का अधिकार भी परम्परा पर ही आधारित है। हमारे यहाँ की अछूत व्यवस्था का आधार भी पुराने समय से चले आ रहे रस्मो-रिवाज ही हैं। अधिकार व कानून दोनो ही रस्मो-रिवाज पर आधारित होते हैं। एन० वाइल्ड ने कहा है कि "राज्य हमारे अधिकारों की रचना नहीं करता, वह तो केवल उन्हें स्वीकृति मात्र प्रदान करता है, और उनकी रक्षा करता है। अधिकारो का अस्तित्व अपने आप रहता है, चाहे उन्हे कानूनी रूप मिले या न मिले। कानून द्वारा उन्हें लागू इसलिए किया जाता है कि वे अधिकार हैं, वे केवल इसीलिए अधिकार नहीं बन जाते कि कानून उन्हे लाग करता है।"[1]

---

1. "The law does not create our rights, but only recognises them and protects them The rights themselves exist whether they are thus legalised or not. They are enforced because they are rights, and are not rights because they are enforced."—*N. Wilde.*

वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार परम्परागत अधिकार है, जिसे बाद मे राज्य द्वारा मान्यता प्रदान की गयी। प्रो लॉस्की भी इस मत का समर्थन करता है।[1]

(ख) प्रो० लॉस्की का कथन है कि अधिकारो की राज्य से स्वतन्त्र अवस्थिति होती है, ऐसी अवस्था मे वे राज्य की रचना कैसे कहे जा सकते है ? प्रत्येक युग तथा समाज की उचित तथा अनुचित की नैतिक धारणाएँ होती हैं, वे ही अधिकारो का अन्तिम स्वरूप निर्धारित करती है। अधिकारो की ऐतिहासिक व्याख्या भी अपूर्ण है और कानूनी भी। हम पीछे देख चुके हैं कि क्रेव के मतानुसार कानून हमारी उचित तथा अनुचित की धारणा पर तथा न्याय-भावना पर आधारित है। ठीक इसी तरह हमारे अधिकार भी हमारी नैतिक धारणाओ के अनुकूल होते हैं। जो बात हमारे नैतिक दृष्टिकोण के प्रतिकूल है वह कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने पर भी अधिकार नही बन पाती। आज के युग मे छुआछूत तथा ऊँच-नीच और सती-प्रथा को अधिकार रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्या कानून की स्वीकृति प्राप्त करने पर व्यभिचार अधिकार बन सकता है ? क्या रिश्वतखोरी चोरी तथा घूँसखोरी कानून की मान्यता प्राप्त कर नैतिक दृष्टि से उचित कहला सकते हैं ? कानून सामाजिक उदाहरण की दृष्टि से अनुचित कहलाने वाली वस्तु को उचित नहीं बना सकता।

कानून बदलते रहते हैं, वे सदा एकरूप नही रहते। उनके परिवर्त्तन का जहाँ एक बडा कारण समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ हैं, वहाँ हमारी सदाचरण सम्बन्धी धारणाएँ भी हैं। किसी समय ब्राह्मण लोगो का यह अधिकार था कि अछूत उनके नजदीक न लगे। इसी प्रकार हिन्दू स्त्रियो का यह अधिकार था कि वे यदि अपने पति के साथ जल मरना चाहे तो उन्हे कोई न रोके। परन्तु वर्तमान युग मे हमारी ऐतद्विषयक नैतिक धारणाएँ बदल गई हैं, और हम इन्हे अधिकार रूप मे मानने को तैयार नही हैं। इसलिए अधिकारो के उचित रूप का निर्माण हमारी नैतिक तथा सामाजिक सदाचरण सम्बन्धी धारणाओ द्वारा ही होता है।

(ग) प्रो० लॉस्की इत्यादि बहुसमुदायवादी अधिकारो की कानूनी धारणा का विरोध इसलिए भी करते हैं कि यह राज्य को असीम तथा अबाध शक्ति सम्पन्न बना देता है। राज्य की असीम प्रभुता कानूनी सत्य चाहे हो परन्तु व्यावहारिक रूप मे उसका कोई विशेष मूल्य नही। यह कहना गलत है कि हमारे अधिकारो का एकमात्र स्रोत हमारी राज्य की सदस्यता है। राज्य तो हमारे सामाजिक जीवन मे प्राप्य अनेक समुदायो मे से एक समुदाय मात्र है। हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास

---

1 "The maintenance of right is much more a question of habit and tradition than of the formality of written enactment"

—*Laski.*

तभी सम्भव है जब हमारे समुदाय सम्बन्धी अधिकारो की सत्ता भी स्वीकार की जाय। केवल राज्य को ही मनुष्य के सामाजिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान लेने से हम मनुष्य को उसके व्यक्तित्व निर्माण के अधिकार से वचित कर देंगे। प्रो० टी० एच० ग्रीन तथा लास्की दोनों ही राज्य के विरोध के अधिकार को मानते हैं। महात्मा गाधी भी कहते थे कि व्यक्ति को राज्य के विरोध का नैतिक अधिकार प्राप्त है।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर भी हमे यह नही भूलना चाहिए कि इस सिद्धान्त मे पर्याप्त सत्याश है। अधिकारो को वास्तविक रूप देने की एक आवश्यक शर्त राज्य की उपस्थिति है, उसके बिना अधिकारो की अनुभूति की कल्पना नही की जा सकती। क्योकि राज्य ही ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है जिसके अधीन हम अपनी नैतिक माँगों को अधिकार रूप मे मनवा उनका समुचित उपभोग कर सकते हैं। हमारी नैतिक धारणाएँ कानून का रूप निर्धारित करती है और कोई भी कानून सामाजिक सदाचरण के नियमो के विरोध मे अधिक देर तक नही चल सकता, परन्तु कोई भी नैतिक अधिकार तब तक वास्तविक नही बन पाता जब तक कि उसे कानूनी मान्यता प्राप्त न हो जाय। वस्तुत **प्रत्येक अधिकार के कानूनी तथा नैतिक दोनो ही पहलू होते हैं**, दोनो की मौजूदगी मे ही वे अधिकार बन पाते है। प्रत्येक समाज मे मानव-समुदायो की कुछ न कुछ ऐसी नैतिक माँगें अवश्य होती हैं जिन्हे कानूनी रूप नही मिल पाता, पर लगातार आन्दोलनो के फलस्वरूप किसी न किसी समय उन्हे राजकीय मान्यता अवश्य मिल जाती है, तभी वे अधिकार बन पाते है।

(३) **अधिकारो का ऐतिहासिक सिद्धान्त** (Theory of Historical rights) अधिकारो के इस सिद्धान्त का थोडा-बहुत सकेत हम ऊपर कर आये है। कानून के अध्याय मे हम देख चुके हैं कि कानून का ऐतिहासिक रूप भी है, वे परम्परागत रस्मो-रिवाज पर आधारित होते हैं। ठीक उसी तरह हमारे अधिकार भी परम्परागत रस्मो-रिवाज पर आधारित माने जाते हैं। धीरे धीरे ऐसे रस्मो-रिवाजो का जन्म हो जाता है, जिनका लोग स्वेच्छापूर्वक अनुसरण करने लगते है। कालान्तर मे लोग उन्हे ही अपना अधिकार कहने लग जाते हैं। अभ्यास कानून-पालन का मुख्य आधार है। यही अधिकार-पालन का भी आधार माना जाता है। दास-प्रथा, छुआछूत प्रथा तथा सम्पत्ति-व्यवस्था का आधार ऐतिहासिक है, पुराने समाजो मे पुरोहितो तथा जागीरदारो को विशेष अधिकार प्राप्त होते थे, उनका आधार ऐतिहासिक परम्पराएँ मानी जाती हैं। इग्लैण्ड मे नागरिको के स्वतन्त्रता इत्यादि के अधिकार परम्परागत रस्मो-रिवाज पर आधारित है।

आलोचना—इस सिद्धान्त मे पर्याप्त सत्याश है। हम पीछे देख चुके हैं कि हमारे अनेक अधिकार पहले रस्मो-रिवाज पर आधारित थे, बाद मे उन्हे कानूनी रूप मिल पाया। परन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि सामाजिक रस्मो-रिवाज बदलते रहते हैं, उनके परिवर्तन का कारण हमारी नैतिक धारणाएँ होती हैं। अतः अधि-कारो का केवल मात्र ऐतिहासिक आधार ही नही होता, जैसे उनका मात्र कानूनी

वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार परम्परागत अधिकार है, जिसें बाद मे राज्य द्वारा मान्यता प्रदान की गयी। प्रो लॉस्की भी इस मत का समर्थन करता है।[1]

(ख) प्रो० लॉस्की का कथन है कि अधिकारो की राज्य से स्वतन्त्र अवस्थिति होती है, ऐसी अवस्था मे वे राज्य की रचना कैसे कहे जा सकते है ? प्रत्येक युग तथा समाज की उचित तथा अनुचित की नैतिक धारणाएँ होती हैं, वे ही अधिकारो का अन्तिम स्वरूप निर्धारित करती है। अधिकारो की ऐतिहासिक व्याख्या भी अपूर्ण है और कानूनी भी। हम पीछे देख चुके हैं कि क्रेव के मतानुसार कानून हमारी उचित तथा अनुचित की धारणा पर तथा न्याय-भावना पर आधारित है। ठीक इसी तरह हमारे अधिकार भी हमारी नैतिक धारणाओ के अनुकूल होते हैं। जो बात हमारे नैतिक दृष्टिकोण के प्रतिकूल है वह कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने पर भी अधिकार नही बन पाती। आज के युग मे छुआछूत तथा ऊँच-नीच और सती-प्रथा को अधिकार रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। क्या कानून की स्वीकृति प्राप्त करने पर व्यभिचार अधिकार बन सकता है ? क्या रिश्वतखोरी चोरी तथा घूँसखोरी कानून की मान्यता प्राप्त कर नैतिक दृष्टि से उचित कहला सकते हैं ? कानून सामाजिक उदाहरण की दृष्टि से अनुचित कहलाने वाली वस्तु को उचित नहीं बना सकता।

कानून बदलते रहते हैं, वे सदा एकरूप नही रहते। उनके परिवर्त्तन का जहाँ एक बडा कारण समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ है, वहाँ हमारी सदाचरण सम्बन्धी धारणाएँ भी हैं। किसी समय ब्राह्मण लोगो का यह अधिकार था कि अछूत उनके नजदीक न लगे। इसी प्रकार हिन्दू स्त्रियो का यह अधिकार था कि वे यदि अपने पति के साथ जल मरना चाहे तो उन्हे कोई न रोके। परन्तु वर्तमान युग मे हमारी ऐतद्विषयक नैतिक धारणाएँ बदल गई हैं, और हम इन्हे अधिकार रूप मे मानने को तैयार नही हैं। इसलिए अधिकारो के उचित रूप का निर्माण हमारी नैतिक तथा सामाजिक सदाचरण सम्बन्धी धारणाओ द्वारा ही होता है।

(ग) प्रो० लॉस्की इत्यादि बहुसमुदायवादी अधिकारों की कानूनी धारणा का विरोध इसलिए भी करते है कि यह राज्य को असीम तथा अबाध शक्ति सम्पन्न बना देता है। राज्य की असीम प्रभुता कानूनी सत्य चाहे हो परन्तु व्यावहारिक रूप मे उसका कोई विशेष मूल्य नही। यह कहना गलत है कि हमारे अधिकारो का एकमात्र स्रोत हमारी राज्य की सदस्यता है। राज्य तो हमारे सामाजिक जीवन मे प्राप्य अनेक समुदायो मे से एक समुदाय मात्र है। हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास

---

1 "The maintenance of right is much more a question of habit and tradition than of the formality of written enactment"

—*Laski*

कारो के विषय मे भी कही जा सकती है।

'सामाजिक उपयोगिता' या 'सामाजिक कल्याण' इत्यादि से सम्बन्धित कुछेक ऐसी धारणाएँ हैं जो कि सामाजिक अत्याचार का कारण बन जाती है। जर्मनी मे हिटलर ने सामाजिक कल्याण के नाम पर ही अनेक यहूदी तथा नाजी-विरोधी व्यक्तियो को मौत के घाट उतार दिया। सामाजिक कल्याण के नाम पर ही मुसलमान पाकिस्तान मे हिन्दुओ के या भारत के विरुद्ध जिहाद का नारा बुलन्द कर रहे है। सामाजिक कल्याण के नाम पर ही सुकरात को जहर दिया गया और मंसूर को सूली पर लटका दिया गया था। इस प्रकार सामाजिक कल्याण के नाम पर अनावश्यक रूप से राज्य व्यक्तिगत जीवन मे दखल दे सकता है और अनेक आवश्यक तथा मूल्यवान व्यक्तिगत अधिकारो को खत्म कर सकता है।

(५) **अधिकारो का आदर्शवादी सिद्धान्त** (Theory of Idealistic rights)—यह सिद्धान्त अधिकारो के नैतिक पक्ष को अधिक महत्त्व देता है। **आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार अधिकार मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए बाह्य परिस्थितियाँ जरूरी हैं।** बिना अधिकारो की अवस्थिति के कोई भी व्यक्ति अपनी सर्वोच्चपूर्णता को प्राप्त नही कर सकता। उनका मूल मनुष्य का मस्तिष्क है। वे हमारी तर्कसम्मत माँगे हैं जिनका सम्बन्ध केवल वैयक्तिक कल्याण से ही नही बल्कि सामाजिक कल्याण से भी है। हमारा एक मूलभूत अधिकार **व्यक्तित्त्व के विकास का अधिकार** है। शेष सभी अधिकार इसके सहायक अधिकार हैं। जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति इत्यादि का अधिकार अपने आप मे पूर्ण नही, उनकी उपयोगिता इन बातो से देखी जाती है कि वह व्यक्तित्त्व के विकास के लिए कितने महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है। वस्तुत: प्रत्येक अधिकार के दो पक्ष हैं—एक व्यक्तिपरक दूसरा समाजपरक। एक ओर तो वह अधिकार है और दूसरी ओर कर्त्तव्य। अधिकार रूप में वह व्यक्तित्त्व के विकास के लिए आवश्यक है कर्त्तव्य रूप मे उसका उद्देश्य सामाजिक हित या कल्याण है। आदर्शवादियो की दृष्टि मे दोनो एक दूसरे से जुडे हुए हैं। अधिकार तर्कसगत तथा विवेकपूर्ण माँग के रूप मे ही स्वीकृति प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते है कि (१) **अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियो की प्राप्ति की एक तर्कसंगत तथा विवेकपूर्ण माँग है। (२) वह समाज से सम्बन्धित है, क्योंकि समाज से बाहर उसकी अनुभूति सम्भव नहीं। (३) वह कर्त्तव्य रूप भी है।**

आलोचना—आदर्शवादी सिद्धान्त यह बतलाने मे असमर्थ है कि व्यक्तित्व क्या है ? फिर अगर व्यक्तित्व की परिभाषा दी भी जा सके तो यह कह सकना कठिन है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्त्व के विकास के लिए किन-किन परिस्थितियो की आवश्यकता है ? राज्य के पास ऐसा कोई मानदण्ड नही कि जिसके आधार पर वह यह निर्णय कर सके कि क्या-क्या परिस्थितियां किस-किस व्यक्ति के व्यक्तित्त्व के

आधार सम्भव नहीं है। दूसरा अधिकारो के केवल ऐतिहासिक रूप को मान्यता देने का अर्थ है कि सामाजिक परिस्थितियो का सुधार ही नही हो सकता। छूआछूत, ऊँच-नीच, सती-प्रथा तथा दास-प्रथा इत्यादि का ऐतिहासिक आधार है, वे आज उचित नही समझे जाते। परम्परा के आधार पर तो उनको अधिकार मानना ही पडेगा, परन्तु नैतिक दृष्टि से उनका सुधार आवश्यक है। ऐसा न मानने से अनेक परम्परागत सामाजिक बुराइयो को दूर करना सर्वथा असम्भव हो जायगा।

(४) अधिकारो का सामाजिक उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त (Theory of Social welfare rights) अधिकारो के उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त का विकास इग्लैण्ड के उपयोगितावादी विचारक वेन्थम तथा मिल द्वारा किया गया है। **इस सिद्धान्त का मतलब यह है कि जो माँगे समाज के हित में हो या जो समाज के लिए उपयोगी हों, उन्हें ही अधिकार रूप मे स्वीकार करना चाहिए।** उपयोगितावाद का आधारभूत सिद्धान्त "**अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम कल्याण है।**" जो अधिकार इस मानदण्ड पर ठीक उतरें उन्हे ही अधिकार रूप मे स्वीकार करना चाहिए। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक अधिकार 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम हित मे होना चाहिए।' उपयोगितावादी अधिकारो के अन्य सिद्धान्तो को स्वीकार नही करते। वर्तमान युग के राजनीतिक विचारको मे प्रो० लॉस्की इस सिद्धान्त को मानते हैं। परन्तु प्रो० लॉस्की ने उसे सशोधित रूप मे ही माना है। **उसके मतानुसार वही अधिकार ठीक हैं जो कि राज्य के सम्पूर्ण सदस्यो के लिए मूल्यवान या महत्त्वपूर्ण हैं।**" इस प्रकार केवल उन्ही अधिकारो को मान्यता दी जानी चाहिए जिनसे कि सामूहिक हित की सम्भावना हो।

अधिकार की सत्ता का आधार सामाजिकता है, अत सामाजिक कल्याण की भावना का रहना लाजमी है। अत अधिकारो का निर्णय सामाजिक कल्याण के आधार पर ही होना चाहिए। सामाज मे नए-नए अधिकार पैदा होते रहते हैं उनका मकसद भी अधिकतम सामाजिक कल्याण ही है। मनुष्य मात्र की वे सभी मागें अधिकार रूप मे स्वीकार कर लेनी चाहिएँ जिनके अस्वीकृत रहने पर व्यापक सामाजिक अहित की सम्भावना रहती हो।

आलोचना—अधिकारो को सामाजिक दृष्टि से कल्याणकारी होना चाहिए इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता। सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त अधिकारो के रूप निर्धारण के लिए उपयुक्त मानदण्ड के रूप मे इस्तेमाल किया जा सकता है। परन्तु इस सिद्धान्त की कुछ कमियाँ भी हैं। इस सिद्धान्त की सबसे बडी कमी यह है कि यह अस्पष्ट तथा अनिश्चित है। सामाजिक कल्याण या 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम हित' से क्या मतलब है ? इन प्रश्नो का कोई निश्चित तथा सर्वमान्य उत्तर प्राप्त कही होता। हम पीछे देख आये हैं कि सामाजिक कल्याण सम्बन्धी सभी धारणाएँ व्यक्तिगत (Subjective) होती हैं, वे व्यक्ति के अपने नैतिक तथा सामाजिक वातावरण का परिणाम होती हैं। महात्मा गाधी तथा कार्ल मार्क्स की सामाजिक कल्याण सम्बन्धी धारणाएँ एक-सी नही हैं। ठीक यही बात अधि-

जाने वाली आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो की भिन्नता है। तथापि कुछेक ऐसे अधिकार है जिन्हे सभी राज्यों मे मान्यता दी जाती है और कुछ ऐसे हैं जिन्हे कि सभी राज्य अभी नही स्वीकार करते तो भी यह यकीन किया जाता हैं कि उन्हे अवश्य स्वीकार करना चाहिए। नीचे हम इन दोनो प्रकार के सामाजिक अधिकारो को दे रहे हैं।

(१) **जीवन का अधिकार** (Right to Life) हमारी सम्पूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का मूल आधार व्यक्ति के जीवन का अधिकार है। बिना जीवन की सुरक्षा के किसी भी राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की कल्पना ही असम्भव है। राज्य की अवस्थिति इसी अधिकार की सुरक्षा के लिए है, अन्य सभी अधिकारों का यही स्रोत है, यही उनका आधार है। जीवन के अधिकार के अन्तर्गत व्यक्तित्व निर्माण का अधिकार भी आ जाता है। इस प्रकार यह अधिकार इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण नैतिक पक्षो को शामिल किया जा सकता है। राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना है। व्यक्ति के जीवन की रक्षा अन्दरूनी तथा बाहर के दोनो प्रकार के हमलो से की जाती है। राज्य के भीतर कोई भी व्यक्ति मुझ पर आक्रमण नही कर सकता, मेरे प्राण नही ले सकता, अगर कोई ऐसा करता है तो उसे राज्य सजा देता है। इसी अधिकार की सुरक्षा के लिए राज्य कानून बनाता है, न्यायालय स्थापित करता है और पुलिस की व्यवस्था करता है। जब कभी कोई व्यक्ति मेरे प्राण लेने के लिए मुझ पर आक्रमण करता है तो उस समय मुझे अपनी प्राण-रक्षा का अधिकार है। जीवन-रक्षा के अधिकार के अन्तर्गत हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन इतना सुरक्षित होना चाहिए कि उसे किसी भी हमले का खतरा न हो। उसे सभी सार्वजनिक स्थानो के इस्तेमाल का अधिकार हो, उसे कोई डरा या धमका न सके, और उसका जीवन सरकार की दया पर भी आश्रित न हो। प्रत्येक व्यक्ति का अपने जीवन पर पूर्ण अधिकार है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह अपने जीवन का दुरुपयोग कर सकता है या उसे आत्महत्या का अधिकार है। **जीवन के अधिकार का सामाजिक रूप भी है, जीवन केवल मात्र वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं, अतः कोई भी व्यक्ति आत्महत्या नहीं कर सकता।** जीवन का अधिकार जीवन-रक्षा के कर्त्तव्य रूप मे भी मौजूद रहता है। यही कारण है कि अगर कोई व्यक्ति आत्म-हत्या की कोशिश करता है तो राज्य उसे सजा देता है। आत्महत्या समाज के प्रति भी अपराध है।

जीवन का अधिकार शून्य मे अवस्थित नही रहता। वह तब तक व्यर्थ है जब तक कि जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओ की पूर्ति सम्भव नही। क्या कम खान-पान तथा उचित विश्राम के बिना भी जीवन की सुरक्षा सम्भव है? यदि राज्य का कर्त्तव्य व्यक्ति को चोर, डाकू तथा हत्यारो के आक्रमण से बचाना है तो क्या राज्य का कर्त्तव्य उसे भूख तथा बीमारी से बचाना नही है? अत. आज जीवन के अधिकार की व्यापक व्याख्या की जाती है, और यह माना जाता है कि जीवन के अधिकार की वास्तविक तथा पूर्ण अनुभूति के लिए आजीविका तथा काम करने के

स्थितियाँ एक सी नही हो सकती। दूसरा यह सिद्धान्त व्यक्ति-कल्याण तथा सामाजिक कल्याण मे उचित तालमेल विठाने मे असमर्थ है।

इन सब दोषो के वावजूद अधिकारो का यह सिद्धान्त पर्याप्त तर्कसगत है, यह उन के नैतिक तथा सामाजिक दोनो ही पक्षो को स्वीकार करता है।

निष्कर्ष—ऊपर हमने अधिकारो के विविध सिद्धान्तो का उल्लेख किया है। अगर हम कहें कि इन सभी सिद्धान्तो मे पर्याप्त सत्याश है तो कोई गलत वात न होगी। प्रत्येक सिद्धान्त अधिकारो के विभिन्न पक्षो पर वल देता है। अगर हम प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त को उसके पुराने रूप मे न मान उसकी आज की नई समाजशास्त्रीय व्याख्या को स्वीकार कर लें तो वह अधिकारो का एक प्रकार का आदर्शवादी सिद्धान्त वन जायगा। प्रत्येक समाज मे व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछेक ऐसी परिस्थितियों की उपस्थिति होनी ही चाहिए जिनके विना हमारे लिए जीवन की सर्वश्रेष्ठता की अनुभूति असम्भव हो जाती है। राज्य अधिकारो का स्रष्टा नही है तो भी जव तक कानून हमारी नैतिक धारणाओ को स्वीकृति नही देता उनका व्यावहारिक रूप नही वन पाता। कानून की मान्यत को प्राप्त करने पर ही हमारी नैतिक धारणाएँ शक्तिसम्पन्न वन पाती हैं। राज्य द्वारा स्वीकृत किए जाने पर ही उन्हे लागू किया जा सकता है। प्रत्येक अधिकार का समाज-कल्याणकारी रूप भी होता है। अधिकार समाज की सृष्टि हैं, वे हमारे सामाजिक जीवन के परिणाम हैं, अतएव उनका पालन समाज-हित मे होना ही चाहिए। हमे यह भी देखना होता है कि कौन-सा अधिकार अधिक से अधिक लोगो के लिए अधिक से अधिक कल्याणकारी है। हमारी नैतिक धारणाएँ ऐतिहासिक परम्पराओ का रूप भी धारण करती हैं और इस प्रकार समाज के अन्तर्गत अनेक रस्मो-रिवाजो की रचना हो जाती है, हमारे कुछेक अधिकार इन रस्मो-रिवाज पर भी आधारित होते हैं। परन्तु रस्मो-रिवाज अपने आप मे अन्तिम चीज नही, वे हमारी आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओ के अतिरिक्त हमारी नैतिक धारणाओ से भी प्रभावित हो वदलते रहते हैं। उचित तथा अनुचित की धारणा सामाजिक नियमो की विधायक होती है। इस प्रकार अधिकारो की समुचित व्याख्या के लिए इन सभी सिद्धान्तो की उपयोगिता को स्वीकार करना पडता है।

१५३. नागरिकों के विशिष्ट अधिकार (Particular rights of the citizens)

हम पीछे लिख चुके है कि नागरिको के अधिकारो के दो रूप हैं—(१) **सामाजिक अधिकार** (Civil rights), तथा (२) **राजनीतिक अधिकार** (Political rights)। यहाँ हम इन दोनो प्रकार के अधिकारों का विवरण देंगे। हमे एक बात नही भूलनी चाहिए कि प्राचीन काल मे ही नही, वर्तमान युग मे भी सभी राज्यों मे एक जैसे अधिकारो की व्यवस्था नही थी, सभी राज्यो में अधिकारो के भिन्न-भिन्न रूपो की व्यवस्था मिल जाती है। इसका वडा कारण अलग-अलग राज्यो मे पाई

का अधिकार दे दिया जाय परन्तु चलने-फिरने, रहने-बसने -की तथा देश-विदेश के आवागमन की स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकार न किया जाय तो जीवन के अधिकार का मूल्य नही रह पाता। तब तो जीवन एक जेलखाने की तरह हो जायगा। बिना स्वतन्त्रता के जीवन का कोई मूल्य नही। स्वतन्त्रता के अभाव मे मनुष्य की स्थिति गुलामो से भी बुरी हो जायगी। गुलामी को पशुता की अवस्था कहा जाता है, और उसकी सभी जगह निन्दा की जाती है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता से ही हमारी छुपी हुई शक्तियो का विकास सम्भव है। स्वातन्त्र्य का अर्थ ही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त हो।

राज्य को भी बिना किसी कारण किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार करने का अधिकार नही। जब कभी किसी व्यक्ति को बन्दी बनाया जाता है तो यह आवश्यक है कि उसे शीघ्र से शीघ्र न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाय और उसके बन्दी बनाने के कारणो पर प्रकाश डाला जाय। यदि किसी व्यक्ति को बिना कारण के ही बन्दी बनाया जाय तो सरकार को उसका हर्जाना भुगतना पडता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) की व्यवस्था भी अनेक देशो मे प्रचलित है। इस व्यवस्था के अधीन यदि किसी व्यक्ति को बन्दी बनाने के अनन्तर अदालत के सामने नही लाया जाता तो उस समय या तो वह स्वय या कोई अन्य नागरिक उसे न्यायालय के सम्मुख पेश करने की माँग कर सकता है। ऐसी अवस्था मे न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण के आदेश (Writ of Habeas Corpus) को जारी करते है। उस समय सरकारी अधिकारियो को बन्दी व्यक्ति को अदालत के सामने पेश करना ही पडता है, अदालत मे उस पर मुकदमा चलाया जाता है और अगर वह अपराधी साबित हो तो उसे उचित सजा मिलती है अन्यथा उसे छोड दिया जाता है।

आज के अधिकाश प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे देश भर मे आने-जाने की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त विचार प्रकट करने तथा इच्छानुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता भी नागरिको को प्राप्त होती है।

परन्तु यह अधिकार भी निर्बाध (Unlimited) नही है। राज्य सामाजिक हित मे इस अधिकार पर अनेक पाबन्दियाँ लगा सकता है। सर्वप्रथम तो कोई भी मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही, उसे अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रयोग इस ढग से करना होता है कि उससे किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता खत्म न हो। युद्ध-काल मे या सकट-काल मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकाश अधिकारो के उपभोग को पर्याप्त सीमित कर दिया जाता है।

(३) मत प्रकट करने तथा भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार (Freedom of opinion and expression) अपने विचारो को दूसरे तक पहुँचाने से मनुष्य की आत्मा को एक विशेष प्रकार का सन्तोष होता है। विचारो के प्रकटीकरण से उसके व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास होता है। अगर उसे अपने विचारो के

अधिकारों को भी स्वीकार किया जाना चाहिए। आजीविका के अभाव मे वह निर्धनता में जीवन बिता सकता है, भूख तथा सर्दी से मर सकता है या निर्धनता के कारण गुलामी को मान सकता है। निर्धनता मे जीवन के अधिकार की कोई सुरक्षा नही होती। प्रत्येक मनुष्य, जो काम करने योग्य है, सरकार को उसे आजीविका कमाने के लिए काम मुहैया करना चाहिए। परन्तु काम करने (Right to work) तथा **आजीविकोपार्जन** (Right to employment) **के अधिकार के साथ-साथ विश्राम के अधिकार** (Right to rest and leisure) को भी स्वीकार किया जाना चाहिए। मनुष्य केवल मशीन मात्र नही, काम करने के अनन्तर उसे विश्राम की भी आवश्यकता होती है। यदि उससे अधिक काम लिया जाय तो उससे उसके स्वास्थ्य के खराब होने की आशका रहती है। किसी से भी अधिक काम करवाना उसी प्रकार उसके जीवन पर हमला करना है जिस प्रकार धीरे-धीरे विष देकर उसके प्राण लेना। अत राज्य को सभी जगह काम करने के घण्टे निश्चित कर देने चाहिए और सरकार को मजदूरो के लिए विश्राम की व्यवस्था भी करनी चाहिए।

राज्य को व्यक्ति के शोषण से भी बचाना चाहिए, यानी उसे यह देखना चाहिए कि **मनुष्य को अपने कार्य के मूल्य के परिणाम के अनुसार ही वेतन भी प्राप्त हो।** दूसरे शब्दो मे प्रत्येक मनुष्य को अपनी मेहनत का इतना फल अवश्य मिलना चाहिए कि जिससे वह अपने जीवन की साधारण आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके और मानपूर्वक अपना जीवन बिता सके।

जो लोग काम करने मे शारीरिक रूप से असमर्थ हैं राज्य को उनके जीवन के अधिकार की रक्षा भी करनी चाहिए। वृद्ध स्त्री-पुरुष तथा विकलागो के लिए सरकार को पैन्शन देने की व्यवस्था करनी चाहिए तथा बेकारी की हालत मे लोगो की आर्थिक सहायता करनी चाहिए।

जीवन के मूलभूत अधिकार के अन्तर्गत आने वाले इन सभी आर्थिक स्वतन्त्रता के अधिकारो को अभी तक रूस को छोड अन्यत्र मान्यता नही प्रदान की गई है। हाँ, कुछेक राज्यो मे वृद्धो तथा लूले-लगडे लोगो की सहायता के लिए राजकीय प्रयत्न अवश्य किए जा रहे हैं, परन्तु मावनीय जीवन मे इन अधिकारो का विशेषरण महत्त्व है। वस्तुत यह कहना अधिक ठीक होगा कि इन अधिकारो की पूर्ति के बिना जीवन का अधिकार सर्वथा अपूर्ण है। अत इन अधिकारो को, जीवन के मूलभूत अधिकार को पूर्ण करने के लिए, अवश्य मान्यता प्रदान करनी चाहिए।

जीवन का अधिकार सभी प्रकार से निरपेक्ष (Absolute) नही, अपराधी व्यक्ति को मृत्युदण्ड भी दिया जाता है और प्रत्येक देश मे नागरिको का सेना में शामिल हो, युद्ध-क्षेत्र मे देश की रक्षा के लिए अपने जीवन के बलिदान के पवित्र कर्त्तव्य को भी मानता है। देशद्रोही व्यक्ति को प्राणदण्ड की सजा दी जाती है। युद्ध काल मे नागरिको का यह मूलभूत अधिकार बहुत सीमित कर दिया जाता है।

(२) **स्वतन्त्रता का अधिकार** (Right to liberty) जीवन के अधिकार से ही सम्बन्धित दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकार स्वतन्त्रता का अधिकार है। अगर जीवन

का अधिकार दे दिया जाय परन्तु चलने-फिरने, रहने-बसने की तथा देश-विदेश के आवागमन की स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकार न किया जाय तो जीवन के अधिकार का मूल्य नही रह पाता। तब तो जीवन एक जेलखाने की तरह हो जायगा। विना स्वतन्त्रता के जीवन का कोई मूल्य नही। स्वतन्त्रता के अभाव मे मनुष्य की स्थिति गुलामो से भी बुरी हो जायगी। गुलामी को पशुता की अवस्था कहा जाता है, और उसकी सभी जगह निन्दा की जाती है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता से ही हमारी छुपी हुई शक्तियो का विकास सम्भव है। स्वातन्त्र्य का अर्थ ही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त हो।

राज्य को भी विना किसी कारण किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार करने का अधिकार नही। जब कभी किसी व्यक्ति को वन्दी वनाया जाता है तो यह आवश्यक है कि उसे शीघ्र से शीघ्र न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाय और उसके वन्दी वनाने के कारणो पर प्रकाश डाला जाय। यदि किसी व्यक्ति को विना कारण के ही वन्दी वनाया जाय तो सरकार को उसका हर्जाना भुगतना पडता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए वन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) की व्यवस्था भी अनेक देशो मे प्रचलित है। इस व्यवस्था के अधीन यदि किसी व्यक्ति को वन्दी वनाने के अनन्तर अदालत के सामने नही लाया जाता तो उस समय या तो वह स्वय या कोई अन्य नागरिक उसे न्यायालय के सम्मुख पेश करने की माँग कर सकता है। ऐसी अवस्था मे न्यायालय वन्दी प्रत्यक्षीकरण के आदेश (Writ of Habeas Corpus) को जारी करते हैं। उस समय सरकारी अधिकारियो को वन्दी व्यक्ति को अदालत के सामने पेश करना ही पडता है, अदालत मे उस पर मुकदमा चलाया जाता है और अगर वह अपराधी सावित हो तो उसे उचित सजा मिलती है अन्यथा उसे छोड दिया जाता है।

आज के अधिकाश प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे देश भर में आने-जाने की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त विचार प्रकट करने तथा इच्छानुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता भी नागरिको को प्राप्त होती है।

परन्तु यह अधिकार भी निर्वाध (Unlimited) नही है। राज्य सामाजिक हित मे इस अधिकार पर अनेक पावन्दियाँ लगा सकता है। सर्वप्रथम तो कोई भी मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही, उसे अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रयोग इस ढग से करना होता है कि उससे किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता खत्म न हो। युद्ध-काल मे या सकट-काल मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्वन्धी अधिकाश अधिकारो के उपभोग को पर्याप्त सीमित कर दिया जाता है।

(२) मत प्रकट करने तथा भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार (Freedom of opinion and expression) अपने विचारो को दूसरे तक पहुँचाने से मनुष्य की आत्मा को एक विशेष प्रकार का सन्तोष होता है। विचारो के प्रकटीकरण से उसके व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास होता है। अगर उसे अपने विचारो के

प्रकट करने की स्वतन्त्रता न हो तो उसके व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास हो ही नहीं सकता, वह सर्वथा कुण्ठित हो जायगा। विचारो की स्वतन्त्रता का महत्त्व प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। ग्रीस के सुप्रसिद्ध विचारक सुकरात का कथन है कि **विचारों की स्वतन्त्रता के त्याग की अपेक्षा जीवन का त्याग अधिक उपयुक्त है।** और सुकरात ने किया भी ऐसा ही। लॉक, मिल्टन तथा जे० एस० मिल इत्यादि सभी ने विचारो की स्वतन्त्रता तथा उनके प्रगट करने के अधिकारो को विशेष महत्त्व दिया है। मिल्टन ने तो भाषण की स्वतन्त्रता को सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओ का आधार माना है। मिल के लेखो मे भी विचार-स्वातन्त्र्य का बडा जोरदार समर्थन मिलता है। सत्य की खोज विचारो की स्वतन्त्रता तथा वाद-विवाद से ही सम्भव है। कोई भी व्यक्ति या एक दल सत्य के अन्वेषण पर अपनी आखिरी मोहर नही लगा सकता। सत्य पर किसी भी एक वर्ग की बपौती नही हो सकता। उसका अन्वेषण नित्य नये ढग से किया जा सकता है।

जनतन्त्र के अन्तर्गत तो इस अधिकार का और भी अधिक महत्त्व है। जनतन्त्र का आधार जनमत है, यदि लोगो को अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नही होगी तो स्वस्थ जनमत का निर्माण कैसे हो सकेगा? विना विचार प्रकट करने की तथा आलोचना करने की स्वतन्त्रता के जनतन्त्र का स्वस्थ विकास ही सम्भव नही। वह राज्य जो अपने नागरिको को विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नही देता वह अपनी मौत स्वय बुलाता है। प्रत्येक व्यक्ति को सरकार की नीति, कार्य एव कानून की आलोचना का अधिकार होना चाहिए। क्योंकि सरकार तो राज्य का एक अग हैं, वह कुछ व्यक्तियों से मिलकर बनती है, उसके कार्यों मे पूर्णता नही हो सकती। इसलिए अगर कोई नागरिक उसके परिवर्तन की जरूरत महसूस करता है तो उसे अपने इस तरह के विचार प्रकट करने का अधिकार होना चाहिए। यही नही प्रो० लास्की का तो यह विचार है कि व्यक्ति या व्यक्ति-समूह समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक ढाँचे के पूर्ण परिवर्तन की भी माँग कर सकता है। **वह सशस्त्र क्रान्ति की भी माँग कर सकता है।**[1] प्रो० लास्की का कथन है कि सशस्त्र क्रान्ति की माँग तभी की जाती है, जब कि राज्य की व्यवस्था मे मौलिक सुधार की ही आवश्यकता हो। साधारण रूप से जनता हिंसात्मक साधनो के प्रयोग के विरुद्ध होती है।

विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता के अन्तर्गत भाषण की स्वतन्त्रता, प्रकाशन तथा लेखन की स्वतन्त्रता सभाएँ करने की स्वतन्त्रता, फिलम-निर्माण की स्वतन्त्रता, प्रचार की स्वतन्त्रता इत्यादि स्वतन्त्रता के अनेक प्रकार आ जाते है। सभ्यता तथा सस्कृति का विकास इन सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओ का अवस्थिति मे ही सम्भव है।

परन्तु स्वतन्त्रता का यह अधिकार सर्वथा निर्बाध नही। युद्ध तथा सकटकालीन स्थिति मे तो इसका नियमन होता ही है। शान्ति काल मे भी इस पर अनेक प्रकार

---

1 "He may preach the complete inadequacy of the social order He may demand its overthrow by armed revolution"

—*Laski*

की पावन्दियाँ लगाई जाती हैं।

भाषण की स्वतन्त्रता का अर्थ जनता को गैर कानूनी कार्य करने के लिए भडकाना नही है, न ही भाषण द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों मे पारस्परिक कलह तथा द्वेष ही पैदा करना है। जो भी व्यक्ति भाषण द्वारा या लेखो द्वारा अथवा प्रचार के अन्य साधनो द्वारा समाज मे अशान्ति तथा लडाई-झगडा उत्पन्न करता है वह राज्य द्वारा दण्डनीय समझा जाता है। राज्य के विरुद्ध प्रचार करना भी दण्डनीय है। इस प्रकार किसी को गाली-गलौज द्वारा अपमानित करना या किसी पर झूठे अथवा गलत लाछन लगाना अथवा किसी की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाना या अश्लील बातें कहना या लिखना, सभी अपराध माने जाते हैं। इन सभी पावन्दियो से हमारी स्वतन्त्रता का किसी प्रकार का अहित नही होता, हमारी स्वतन्त्रता की सामाजिक अनुभूति कुछ पाबन्दियो के अन्तर्गत ही सम्भव है।

(४) संघ-निर्माण करने की स्वतन्त्रता का अधिकार (Right of association)—मानवीय प्रकृति के सामाजिक रूप की अभिव्यक्ति संघ-निर्माण मे होती है। हम पीछे देख चुके है कि समाज मे अनेक प्रकार के समुदाय या सघ होते हैं। ये सघ धार्मिक, सास्कृतिक, व्यावसायिक, राजनीतिक तथा आर्थिक इत्यादि अनेक प्रकार के आधारो पर सगठित किए जा सकते हैं। ये सभी समुदाय हमारी अनेक प्रकार की आवश्यक्ताओ की पूर्ति करते हैं। इन्ही के भीतर रहकर हमारे व्यक्तित्व का पूरा-पूरा विकास सम्भव है। राज्य भी एक प्रकार का सघ है परन्तु वह हमारे जीवन के केवल नागरिक या राजनीतिक पक्ष की ही अभिव्यक्ति है, वह हमारे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति नही। यही कारण है कि आज वहुसमुदायवादी व्यक्ति के सघ-निर्माण के अधिकार को अत्यन्त महत्त्व देते है। सघ द्वारा ही मनुष्य मिलकर अनेक प्रकार के उद्देश्यो को प्राप्त करते है। सघ वनाकर ही मनुष्य शोषण तथा अत्याचार के विरुद्ध लड सकते है और अगने वैयक्तिक अधिकारो की रक्षा कर सकते हैं। हम अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी अनेक सघो का निर्माण करते हैं।

सघ-निर्माण का भी निर्वाध अधिकार नही, इस पर भी अनेक पावन्दियाँ सामाजिक हित को सामने रखकर लगाई जाती हैं। चोर और डाकू सघो का निर्माण नही कर सकते, न ही सामाजिक लोग अन्य लोगो की स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति छीनने के लिए सघो का निर्माण कर सकते हैं। राज्य के विरुद्ध भी सघो के निर्माण की स्वतन्त्रता नही दी जाती। इस प्रकार राज्य व्यक्ति के सघ-निर्माण के अधिकार का अनेक प्रकार से नियन्त्रण करता है।

(५) धर्म, विश्वास तथा आत्म-चिन्तन का अधिकार (Right to Freedom of religion and conscience)—वर्तमान युग मे धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार लगभग सभी राज्यो मे स्वीकार कर लिया गया है। धार्मिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए मानवीय समाज को वहुत सघर्ष करना पडा है। कोई समय था जव धर्म विश्वास, धार्मिक मतो के प्रचार की तथा पूजा की स्वतन्त्रता नागरिको को नही प्राप्त थी। राज्य विशेष प्रकार के धर्मावलम्वियो की विशेष सहायता करता

था। वह एक विशेष धर्म के प्रचार तथा प्रसार मे भी भाग लेता था। अनेक वार राज्य जवरदस्ती अपने द्वारा समर्थित धर्म को दूसरो पर लादने की कोशिश करता था। कई वार एक धार्मिक वहुमत ने धार्मिक अल्पमत पर अनेक अत्याचार किये। यूरोप का इतिहास इस प्रकार के धार्मिक सघर्षो के उदाहरणो से भरा पडा है। यूरोप मे ही नही हमारे यहाँ भी धर्म के नाम पर अनेक अत्याचार किए गए। परन्तु अव नये युग मे धार्मिक सहिष्णुता का जन्म हुआ है। धर्म एक व्यक्तिगत कार्य समझा जाता है और यह माना जाता है कि राज्य को उसमे दखल देने का कोई अधिकार नही। न ही राज्य किसी धर्म विशेष को कोई विशेष सुविधाएँ ही प्रदान करता है। प्रत्येक नागरिक चाहे वह किसी भी धर्म का अनुगामी क्यो न हो, राज्य की दृष्टि मे वरावर है। ऐसा राज्य धर्मनिरपेक्ष (Secular) राज्य कहलाता है। साथ ही आधुनिक युग की राजनीति मे भी धर्म को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही दिया जाता।

धार्मिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत विश्वास, पूजा तथा धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता को शामिल किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा तथा विश्वास के अनुसार धर्म-पालन की तथा अपने धर्म से सम्वन्धित पूजा-पाठ इत्यादि कार्यो के पूर्ण करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मचिन्तन की भी स्वतन्त्रता है।

परन्तु धर्म केवल वैयक्तिक श्रद्धा तथा विश्वास से ही सम्वन्धित नही, उसका सामाजिक रूप भी है। अत जब कभी कोई भी धर्म-मत अनैतिक तथा दोषपूर्ण कार्य करता है तो उस समय राज्य को धार्मिक स्वतन्त्रता पर रोक लगानी पडती है। ऐसी भी धार्मिक प्रथाएँ चल सकती हैं जिनसे जनता के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडे या जिनसे सामाजिक सदाचरण की भावना को धक्का लगे या जिससे लोगो मे अशान्ति तथा पारस्परिक विद्वेष फैले। ऐसे समय मे राज्य धार्मिक मामलो मे दखल दे सकता है और सामाजिक दृष्टि से हानिकारक धार्मिक प्रथाओ पर रोक लगा सकता है। जब कुछ धार्मिक सस्थाएँ अपने आर्थिक साधनो का दुरुपयोग करने लग जाती हैं, तव भी राज्य को धार्मिक मामलो मे दखल देने का अधिकार होता है। भारत का नया सविधान पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है। हमारे देश मे इधर धार्मिक असहिष्णुता का वहुत प्रसार हुआ है, परन्तु अब राज्य ने धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी दे सभी प्रकार के धार्मिक अल्पमतो की स्वतन्त्रता को सुरक्षित कर दिया है।

(६) शिक्षा तथा सस्कृति सम्बन्धी अधिकार (Right to education and other cultural rights)—वर्तमान युग मे शिक्षा इत्यादि सास्कृतिक अधिकारों की मान्यता पर विशेष वल दिया जाता है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे शिक्षा के अधिकार का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक मनुष्य मे अनेक वौद्धिक तथा चारित्रिक शक्तियो की अवस्थिति होती है, उनका पूर्ण तथा ठीक-ठीक विकास शिक्षा के बिना असम्भव है। वस्तुत व्यक्तित्व के मूल मे निहित आदर्श, विचार तथा भावनाएँ शिक्षा द्वारा विकसित तथा परिमार्जित होती हैं। शिक्षा मनुष्य के दृष्टिकोण को विस्तृत करती है, उसकी स्वार्थ-भावना का परिष्कार करती है, उसे सामाजिक हित के चिन्तन के योग्य वनाती है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे नागरिको का राजनीतिक दृष्टि से चेतना

सम्पन्न और सावधान होना और भी आवश्यक है। उन्हे अपने अधिकारो तथा कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे समुचित शिक्षा मिलनी चाहिए। अत' प्रत्येक व्यक्ति को प्रारम्भिक तथा उच्च शिक्षा प्राप्ति का अधिकार होना चाहिए। यही नही राज्य को अपने नागरिको के लिए व्यावसायिक तथा वैज्ञानिक और टेक्निकल शिक्षा की व्यवस्था भी करनी चाहिए।

सांस्कृतिक अधिकारो के अन्तर्गत ज्ञान-प्रसार के साधन—यथा वाचनालय व पुस्तकालय की स्थापना, अन्वेषण सस्थाओ तथा शिक्षा-केन्द्रो की स्थापना इत्यादि—के अतिरिक्त साहित्य, कला तथा सस्कृति के विकास तथा प्रसार के लिए आवश्यक सुविधाओ को भी शामिल किया जाता है। राज्य को अपने नागरिको के लिए मनोरजन सम्बन्धी सुविधाओ की भी ठीक-ठीक व्यवस्था करनी चाहिए। आजकल के प्राय सभी राज्य नागरिको के इन महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक अधिकारो को मान्यता प्रदान करते हैं।

(७) **सम्पत्ति का अधिकार** (Right to property)—यह कहा जाता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता दी जानी चाहिए। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की कल्पना के अन्तर्गत निजा सम्पत्ति व्यवस्था को खत्म कर दिया था। परन्तु अरस्तू ने प्लेटो की इस व्यवस्था की कडी आलोचना की और कहा कि ऐसी व्यवस्था मानव-प्रकृति के विपरीत है। अरस्तु सम्पत्ति को मनुष्य के नैतिक तथा बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक मानता है। प्रत्येक मनुष्य मे स्वामित्व की भावना होती है, वह नित्य परिश्रम कर अपनी आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए कई प्रकार की सम्पत्ति का निर्माण करता है। रहने के लिए मकान तथा दैनिक व्यवहार मे आने वाली अन्य वस्तुएँ वह अपनी ही बनाना चाहता है। सम्पत्ति के कारण मनुष्य को विश्राम के क्षण मिल जाते है, जिनका उपयोग वह अपने बौद्धिक तथा सास्कृतिक विकास के लिए कर सकता है। अरस्तू का कथन है कि राजनीतिक कर्त्तव्यो के पालन के लिए प्रत्येक नागरिक के पास पर्याप्त खाली समय होना चाहिए, ताकि वह प्रत्येक राजनीतिक समस्या पर अच्छी तरह सोच-विचार कर सके।

आजकल सम्पत्ति के अधिकार की कडी आलोचना की जाने लगी है। कम्युनिस्ट तथा समाजवादी सम्पत्ति व्यवस्था को शोषण तथा चोरी पर आधारित मानते हैं। मार्क्स इत्यादि विचारको का कथन है कि सम्पत्ति-व्यवस्था अन्याय पर आधारित है और वह समाज मे अन्याय को ही जन्म देती है।

आज के लगभग सभी राज्यो पर इन विचारो का प्रभाव पडा है, फलस्वरूप सभी जगह राज्य निजी सम्पत्ति पर किसी न किसी रूप मे नियन्त्रण करने लग गया है। उत्पादन के साधन तो राज्य के पूर्ण नियन्त्रण मे लाए जा रहे है, विशेष रूप से सोवियत रूस इत्यादि समाजवादी देशो मे। पूंजीवादी देशो मे फैक्टरी एक्ट इत्यादी बनाकर सरकार उत्पादन के साधनो पर नियन्त्रण करने लग गई है। सरकार कर भी लगाती है और सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानूनी बनाती है। कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग न करे, राज्य इसकी भी देखभाल करता है।

सकटकाल मे तो राज्य का निजी सम्पत्ति पर नियन्त्रण बहुत बढ जाता है। इस प्रकार सम्पत्ति का अधिकार सर्वथा निर्बाध नही होता, उस पर भी सामाजिक हित मे अनेक पाबन्दियाँ लगाई जाती हैं।

(८) **पारिवारिक जीवन का अधिकार** (Right of family life)—परिवार सामाजिक जीवन का आधार है, अत प्रत्येक राज्य परिवार को स्वतन्त्र मान्यता देता है और परिवार से सम्बन्धित अनेक प्रकार के अधिकारो के उपभोग की व्यवस्था करता है। व्यक्ति को विवाह का अधिकार है, वह अपने जीवन-साथी के चुनाव की पूर्ण स्वतन्त्रता रखता है। स्त्री-पुरुष बालिग अवस्था को प्राप्त कर स्वतन्त्रतापूर्वक विवाह करने के अधिकारी हैं। पारिवारिक जीवन की सुखद अनुभूति तभी सम्भव है, जब स्त्री-पुरुष के हार्दिक सम्बन्ध हो, उनमे परस्पर स्नेह हो, एक दूसरे के प्रति आदर की तथा श्रद्धा की भावना हो। पारिवारिक जीवन प्रत्येक व्यक्ति का अपना क्षेत्र है अत हरेक को उसे सुखपूर्वक बनाने के लिए मनपसन्द जीवन-साथी चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

पति-पत्नि के सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ, स्नेहपूर्ण तथा पुनीत समझे जाते हैं, उनमे किसी भी बाहरी व्यक्ति को दखल देने का अधिकार नही।

पारिवारिक जीवन के अधिकारो के अन्तर्गत तलाक का अधिकार, पारिवारिक जीवन की पवित्रता तथा स्वतन्त्रता का अधिकार तथा बच्चो के पालन-पोषण के अधिकार भी शामिल किये जाते हैं। सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान के पालन के अधिकार तो सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकार हैं।

राज्य पारिवारिक जीवन की पवित्रता को कायम रखने के लिए अनेक कानून बनाता है। परिवार के सगठन, सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार, मन्तान के प्रति कर्त्तव्य, तलाक, विवाह इत्यादि से सम्बन्धित विषयो पर भी राज्य कानून का निर्माण करता है, और बदली हुई सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार उनमे परिवर्तन भी करता है।

१५४ राजनीतिक अधिकार

राजनीतिक अधिकारो के आधार पर नागरिक राज्य-शासन के सचालन मे भाग ले सकते हैं। **नागरिकता वस्तुत राज्य के राजनीतिक जीवन मे सक्रिय** (Active) **भाग लेने का ही नाम है।** बिना राजनीतिक अधिकारो के सामाजिक अधिकारो की उपयोगिता खत्म हो जाती है, न ही वे किसी तरह सुरक्षित समझे जा सकते हैं।

राजनीतिक अधिकार लोकतन्त्र की देन है। लोकतन्त्र की स्थापना से पूर्व नागरिक अपने शासको की दया पर ही जीवित रहते थे। पुराने यूनान मे राजनीतिक अधिकार राज्य के बहुमख्यक लोगो को नहीं प्राप्त थे, केवल सम्पत्तिशाली लोग ही राज्य-शासन मे हिस्सा ले सकते थे। यही अवस्था मध्य युग मे भी रही, राजनीतिक अधिकार वहाँ कुछेक लोगो के विशेपाधिकार ही रहे। राजनीतिक अधिकार व्यक्ति मे आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान भावनाएँ भर देते हैं। आजकल

प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे नागरिक जन निम्नलिखित राजनीतिक अधिकारो का इस्तेमाल करते हैं।

(१) मताधिकार (Right to vote)

(२) विधानपालिकाओ के लिए चुनाव लडने का अधिकार (Right of election to the legislature)

(३) पद प्राप्त करने तथा सरकारी नौकरी करने का अधिकार (Right to hold office and enter Government service)

अब हम इन सभी अधिकारो पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

(१) **मताधिकार** (Right to vote)—प्रजातन्त्र मे शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत नागरिक राज्य-शासन के सचालन मे या तो प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते है या परोक्ष रूप से। वर्तमान युग मे प्रतिनिधि शासन-व्यवस्था का ही अधिक प्रचलन है। प्रत्येक नागरिक वोट के अधिकार द्वारा ही राज्य-शासन सचालन मे हिस्सा ले सकता है। हरेक राज्य मे प्रतिनिधि सस्थाओ की व्यवस्था रहती है, यही सामान्य जनता की ओर से कानून बनाती हैं और राज्य-शासन सचालन की व्यवस्था करती है। नागरिको को अपने वोट द्वारा प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होता है। आज के प्रजातन्त्रात्मक युग मे इस अधिकार का बहुत महत्त्व है, क्योकि इसी अधिकार के बल पर ही नागरिक राज्य-शासन के सचालन मे भाग ले सकता है। वोट का अधिकार धर्म, जाति, रंग तथा लिग-भेद के बिना सभी बालिग नागरिको को प्राप्त होना चाहिए। यह ठीक है कि सभी राज्यो मे पागलो, दिवालियो, नाबालिगो, विदेशियो तथा अपराधियो को वोट का अधिकार नही दिया जाता, तथापि शिक्षा, सम्पत्ति इत्यादि को मताधिकार का आधार नही मानना चाहिए।

वोट के अधिकार का महत्त्व इसलिए भी है कि पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति जिम्मेदार होती है। इसी प्रकार अनेक राज्यो मे कार्यपालिका के वैधानिक या वास्तविक मुखिया का निर्वाचन जनता द्वारा होता है। राज्य के सभी बालिग नागरिको को इस प्रकार के चुनाव मे हिस्सा लेना चाहिए।

(२) **विधानपालिकाओं के सदस्य चुने जाने का अधिकार** (Right of election to the legislature)—केवल वोट का ही अधिकार पर्याप्त नही, प्रत्येक नागरिक को स्वय भी प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार होना चाहिए। प्रजातन्त्र सभी नागरिको को विधानपालिकाओ के सदस्य बनने का अधिकार देता है। सभी जगह कुछ न कुछ आवश्यक शर्तें जरूर लगा दी जाती हैं, परन्तु ये शर्तें सभी नागरिको पर समान रूप से लागू होती हैं। अगर विधानपालिका के सदस्य चुने जाने का अधिकार चन्द लोगो को ही सौंपा जाय तो वह अधिकार न रहकर विशेषधिकार हो जायगा, ऐसी व्यवस्था प्रजातन्त्र के आधारभूत असूलो के विपरीत होती है।

(३) **पद प्राप्त करने तथा सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार** (Right to hold office and enter Government service) प्रत्येक

नागरिक को ऊँचे से ऊँचे सरकारी पद तथा वडी से वडी सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक स्थान पर सरकार इन पदो की या इन सरकारी नौकरियो की प्राप्ति के लिए योग्यता सम्वन्धी कुछेक विशेष शर्ते लगा देती है, इन शर्तो को पूरा करना सभी के लिए लाजमी है। परन्तु सरकार को सरकारी नौकरियो के मामले मे वर्ण, जाति, रग तथा लिंग अथवा सामाजिक हैसियत के आधार पर अपने नागरिको मे किसी प्रकार भेदभाव नही करना चाहिए।

इन महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अधिकारो के अतिरिक्त नागरिको को आवेदन का अधिकार (Right to petition), राज्य के अन्तर्गत स्थायी निवास (Right of permanent residence) तथा विदेश मे सुरक्षा (Right to protection while abroad) इत्यादि के अधिकार भी कभी-कभी राजनीतिक अधिकारो के अन्तर्गत ही गिने जाते है।

आजकल प्रजातन्त्रात्मक राज्यो में इन अधिकारो को सविधान के अन्तर्गत नागरिको के मूल अधिकारो के रूप मे शामिल करने का एक रिवाज ही चल पडा है। सविधान के अन्तर्गत इस प्रकार के मूल अधिकारो (Fundamental rights) की व्यवस्था कई तरह से प्रशसनीय है। प्रथम तो यह व्यवस्था नागरिक के लिए कुछेक ऐसे अधिकार सुरक्षित कर देती है, जिन्हें सरकारें जल्दी मे वदल नही सकती। दर असल हमे यह कहना चाहिए कि सरकार के स्वेच्छाचारी (Arbitrary) शासन से सुरक्षित रखने के लिए ही इन अधिकारो को सविधान में शामिल किया जाता है। ये सरकार की शक्ति पर एक प्रकार की पावन्दी का कार्य करते हैं। जब कभी विधानपालिका या कार्यपालिका व्यक्ति के इन अधिकारो को खत्म करने की कोशिश करती है उस समय न्यायालय सविधान की व्याख्या करते हुए व्यक्ति के मूल भूत अधिकारो को लागू करते हैं और सरकारी कर्मचारियो को अपने अधिकार क्षेत्र का उल्लघन करने पर दण्डित करते हैं। इन सवैधानिक अधिकारो की सुरक्षा की जिम्मेवारी न्यायालय पर होती है, अत न्यायालय का निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र होना आवश्यक है।

परन्तु नागरिको के अधिकारो की सवैधानिक सुरक्षा की यह व्यवस्था ही सब कुछ नही है। जर्मनी मे वीयमर सविधान (Weimer constitution) के अधीन नागरिको के मूलभूत अधिकारो की सुरक्षा की व्यवस्था की गई थी, तो भी जनता की असावधानी के कारण लोगो को अपने मूलभूत राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारो से हाथ धोने पडे। इसके विपरीत, इग्लैण्ड मे नागरिको के अधिकारो की कोई भी लिखित व्यवस्था नही, तथापि जनमत की सावधानी के कारण सरकार जनता के अधिकारो को खत्म करने का साहस नहीं करती। स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की सुरक्षा की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था जनता की सावधानी तथा जागरूकता है।

१५५ नागरिको के कर्त्तव्य (Duties of the citizens)

अधिकार तथा कर्त्तव्य के घनिष्ठ सम्वन्ध का उल्लेख तो हम ऊपर कर ही

आए है, यहाँ हम नागरिको के कुछ आधारभूत कर्त्तव्यो की विवेचना करेंगे। हमे एक बात अवश्य समझ लेनी चाहिए कि प्रत्येक अधिकार के साथ कर्त्तव्य-भावना जुडी रहती है। यह आवश्यक नही कि अधिकारो के साथ नागरिकों के कर्त्तव्यो की भी अलग गणना करायी जाय। भारतीय सविधान मे नागरिको के अधिकारो का विवेचन मिल जाता है, परन्तु कर्त्तव्यो का नही। सिवा रूस के अन्यत्र कही भी अधिकारो के साथ कर्त्तव्यो का भी विवेचन नही मिलता, इसका कारण यही है कि **प्रत्येक अधिकार एक कर्त्तव्य भी है।**

मौजूदा समाज मे हम लोग कर्त्तव्यो की वजाय अधिकारो पर अधिक वल देते हैं, इस कारण समाज मे एक प्रकार का असन्तुलन पैदा हो जाता है। कर्त्तव्य पालन के न होने से सामाजिक व्यवस्था मे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, व्यक्ति-तथा समाज मे सघर्ष उत्पन्न हो सकता है। अनेक सामाजिक बुराइयो का कारण हमारी कर्त्तव्य पालन की भावना की कमी है। कर्त्तव्यो का पालन तो स्वेच्छापूर्वक होना चाहिए, तभी समाज मे प्रत्येक नागरिक वेखटके अपने अधिकारो का इस्तेमाल कर सकता है।

हमारे कर्त्तव्य—अधिकारो की तरह कर्त्तव्यो के भी अनेक प्रकार है। मुख्य रूप से कर्त्तव्य दो प्रकार के है (१) **नैतिक** (Moral) **कर्त्तव्य** तथा (२) **कानूनी कर्त्तव्य** (Legal duties)। नैतिक कर्त्तव्य तो बहुत व्यापक है, वे हमारे आन्तरिक तथा वाह्य दोनो प्रकार के जीवन से सम्वन्धित हैं। अपने माता-पिता का आदर करना, गरीबो की सहायता करना, सत्य वोलना, अपने व्यवहार मे ईमानदार रहना इत्यादि नैतिक कर्त्तव्यो के कुछ प्रकार हैं। परन्तु इन कर्त्तव्यो का क्षेत्र हमारा आन्तरिक जीवन है। राज्य हमे अपने विचारो से सच्चा तथा ईमानदार नही वना सकता, वह तो हमारे वाहरी कामो से ही सम्बन्ध रखता है। अत नैतिक कर्त्तव्यो के न पालन का अर्थ राज-दण्ड नही होता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैतिक धारणा के आधार पर तथा सामाजिक आलोचना के भय से नैतिक कर्त्तव्यो का पालन करता है।

कानूनी कर्त्तव्य (Legal duties) **वे हैं जिन्हें राज्य निश्चित करता है और जिनके उल्लंघन पर राज्य सजा भी देता है।** चोरी न करना, आय कर (Income tax) देना, किसी को चोट न पहुँचाना इत्यादि कानूनी कर्त्तव्य हैं। जव कभी कोई व्यक्ति इन कर्त्तव्यो का पालन नही कर पाता तो उस समय उसे राज्य दण्ड देता है। नीचे हम सभी राज्यो मे स्वीकार किए जाने वाले कुछेक प्रमुख कर्त्तव्यो का विवरण देंगे।

(१) **राज-भक्ति** (Allegiance to the State)—प्रत्येक नागरिक का प्रथम कर्त्तव्य राज-भक्ति है, उसे अपने राज्य के प्रति वफादार (Loyal) होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि शासन-व्यवस्था वनाये रखने मे तथा विदेशी हमले का मुकावला करने मे नागरिक राज्य की पूरी-पूरी सहायता करे। आवश्यकता पडने पर सेना मे भर्ती हो राज्य की रक्षा के लिए अपने जीवन का भी वलिदान कर दे। राज-भक्ति नागरिक का सवसे वड़ा कर्त्तव्य समझा जाता है।

राज्य के अन्तर्गत शासन-व्यवस्था बनाए रखने मे उसे पुलिस की सहायता करनी चाहिए। गैरकानूनी कार्यवाही करने वाले, समाज विरोधी तत्वो—चोर व डाकू इत्यादि—के दबाने मे भी वह पुलिस की सहायता कर सकता है।

नागरिकों को सरकारी पद ग्रहण करने, अपने बच्चो को शिक्षित करने सफाई रखने तथा राज्य के मान की रक्षा सम्बन्धी कर्त्तव्यो के पालन मे भी सदा तैयार रहना चाहिए।

(२) कानून पालन (Obedience to law)—राज्य सामाजिक शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए अनेक कानून बनाता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह इन कानूनों का पालन करे, जो इन कानूनो का पालन नही करता राज्य उसे सजा देता है। कानून अधिकाश मे जन-साधारण के हित मे होते हैं, वे जन-सहमति पर आधारित होते हैं। कानून-पालन का कर्त्तव्य नैतिक तथा कानूनी दोनो ही है। परन्तु बुरे कानूनो का शान्तिपूर्ण ढग से विरोध किया जा सकता है।

(३) वोट का उचित प्रयोग (Duty to vote)—वोट का अधिकार तो अधिकाश नागरिको को प्राप्त होता है, परन्तु अनेक नागरिक या तो अपने इस अधिकार का प्रयोग ही नही करते या फिर उसका अनुचित ढग से प्रयोग करते हैं। दोनो ही चीजें बुरी हैं। प्रजातन्त्र जनता का राज्य है, वह हमारी सहमति पर आधारित है, उसे वास्तविक रूप से प्रजातन्त्र बनाने के लिए नागरिको का बुद्धिमत्तापूर्वक वोट देना लाजमी है। प्रजातन्त्र के अधीन सरकार की बुराई और अच्छाई की जिम्मेदारी नागरिक पर होती है। अगर वे अपने वोट का अनुचित प्रयोग करते हैं। किसी आर्थिक लालच मे आकर वोट देते हैं, तो अपने इस महान् तथा पवित्र कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन नही करते। वोट के अधिकार का अत्यन्त पवित्र ढग से और सोच-समझ कर इस्तेमाल करना चाहिए। वोट का उचित प्रयोग हमारा नैतिक तथा कानूनी दोनों ही प्रकार का कर्त्तव्य है।

वोट के इस्तेमाल के प्रति उदासीन भी नही होना चाहिए। लोगो को वोट का अधिकार मिल भी जाए तो भी वे इसके इस्तेमाल मे उदासीनता प्रदर्शित करते हैं। ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।

(४) कर देना (Payment of taxes)—राज्य-शासन का सचालन बिना धन के असम्भव है। प्रत्येक सरकार केवलमात्र शासन-व्यवस्था की स्थापना पर ही करोडों रुपया खर्च करती है। यह सारा रुपया लोगो से करो के रूप मे वसूल किया जाता है। आजकल राज्य सार्वजनिक हित के लिए तथा आर्थिक विकास के लिए अनेक विकास-योजनाओ को पूर्ण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। अत सरकार अब और भी अधिक कर लगाती है। देश की सुरक्षा तथा शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए और देश की औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति के लिए लगाए गए करो को हरेक नागरिक को बडी ईमानदारी से देना चाहिए। जो नागरिक राज्य द्वारा लगाए गए करो को देने मे हेर-फेर करते हैं वह कानून की दृष्टि मे तो अपराधी हैं ही नैतिक दृष्टि से भी निन्दनीय हैं। कर न देना चोरी के समान है, वह

एक प्रकार का देशद्रोह है।

उपसंहार—नागरिक के कर्त्तव्यो की एक लम्बी-चौड़ी लिस्ट दी जा सकती है, परन्तु उसका यहाँ कोई विशेष लाभ नही। प्रत्येक नागरिक को अपने कानूनी तथा नैतिक, सभी प्रकार के कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिए। सर्वश्रेष्ठ नागरिक वही है जो सामाजिक हित के लिए अपने हितो का बलिदान करता है, जो लोक-कल्याण मे ही अपना कल्याण समझता है।

Important Questions

	Reference
1 Explain the changing contents of Rights. *Or* Discuss the basis of Rights	Art 151
2. Define Rights (*Ag. 1940*) Explain fully the nature and utility of rights (*Nag 1943*)	Art 151
3 Discuss the theory of rights which you regard as most satisfactory (*Pb. 1956*) *Or* Critically examine the doctrine of natural rights. Is there an element of truth in it ? (*Pb. 1940, 1936, 1937, Ag 1939, 1936, All 1941, Punjab, 1940, Cal 1953*).	Art 152
4 Discuss the rights of citizen in a modern state (*Pb.1941*) *Or* What particular rights are generally recognised in civilised states ? Enumerate the more important fundamental Rights which a citizen in modern state enjoys (*C. U. 1951*)	Arts 153 and 154
5 Distinguish between Civil and Political Rights (*Cal. 1944, 1931; Pb 1936*)	Art. 151
6 Rights and duties are two aspects of the same thing (*Pb 1938*)	Arts 151 and 155
7 Explain the duties or obligations of citizenship (*Pb 1941; Cal 1943, 1941*)	Art 155

व्यक्ति तथा राज्य (२)

स्वतन्त्रता तथा समानता
(Liberty and Equality)

१५६. स्वतन्त्रता की महत्ता

स्वतन्त्रता मानवीय जीवन का सर्वश्रेष्ठ तथा पुनीत अधिकार है। सदियो तक मानव-जाति स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए सघर्ष करती रही है। सामाजिक जीवन के प्रारम्भिक चरण मे दासता का बोलवाला रहा। कही मनुष्य मनुष्य का दास रहा, कहीं वह बाह्य परिस्थितियो—सामाजिक रस्मो-रिवाज का—और कहीं अज्ञात तथा अन्ध-विश्वास का। पुराने यूनान तथा रोम मे सम्पत्तिशाली वर्ग ने अपने हाथो मे सम्पूर्ण राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण किया हुआ था। अनेक बार जन-साधारण ने अपने अधिकारो के लिए सघर्ष किए। मध्य युग मे चर्च, सामन्तवर्ग तथा बिरादरी ने मनुष्य के अधिकारो को सीमित कर रखा था। चर्च ने मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक जीवन दोनो के नियन्त्रण का प्रयत्न किया, और विचार-स्वातन्त्र्य तथा आत्म-चिन्तन को अनेक प्रकार से दबाने की कोशिश की। धीरे-धीरे राजनीतिक चेतना के विकास के फलस्वरूप जन-साधारण अपने समान स्वार्थो की रक्षा के लिए सघर्ष करने लगा। विचार प्रकट करने तथा वाद-विवाद की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सामान्य स्वीकृति के लिए प्रयत्न किए जाने लगे। सर्वप्रथम नागरिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किए गए तदनन्तर राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए। स्वतन्त्रता के आन्दोलन का प्रारम्भ इग्लैण्ड मे हुआ। मेगनाकार्टा द्वारा नागरिक अधिकारो को मान्यता प्रदान की गई, ग्लोरियस रिवोल्यूशन के अनन्तर राजनीतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। यूरोप के अन्य देशो मे 'स्वतन्त्रता' शब्द का प्रचलन फ्रास से हुआ। फ्रेंच क्रान्ति के अनन्तर सभी जगह प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तो का प्रचलन हुआ, स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्त को सवप्रियता प्राप्त हुई और यूरोप के प्राय सभी देशों मे नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न किये जाने लगे।

स्वतन्त्रता की परिभाषा—'स्वतन्त्रता' शब्द का प्रयोग एक निश्चित अर्थ मे नही किया जाता। इसी कारण उसकी एक निश्चित परिभाषा देना भी कठिन है। कुछ लोग स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ यह मानते है कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार हो कि वह जो चाहे करे। अग्रेजी के लिबर्टी' (Liberty) शब्द का मूल लेटिन का 'लिबर' (Liber) शब्द है, जिसका अर्थ पूर्ण स्वतन्त्रता है। हिन्दी का 'स्वतन्त्रता' शब्द अग्रेजी के 'Liberty' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। इस रूप मे स्वतन्त्रता का अर्थ

'मानवीय आचरण पर सभी प्रकार की पावन्दियो का अभाव है।' परन्तु स्वतन्त्रता की ऐसी धारणा असामाजिक है। सामाजिक जीवन की पहली शर्त तर्कपूर्ण पावन्दियो की उपस्थिति है। सामाजिक सगठन का निर्माण मनुष्य का स्वभाव है, वह आपसी मेल-मिलाप तथा सहयोग के विना जीवित ही नही रह सकता। इस सामाजिक सहयोग का परिणाम ही कुछ निश्चित पावन्दियाँ हैं। पावन्दियो के अभाव मे मनुष्य मनुष्य नही रह जाता, तव उसके भीतर का पशु जाग उठता है, उसमे उच्छृंखलता उत्पन्न हो जाती है, वह सामाजिकता का ही शत्रु वन जाता है। अत. अवाध स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन मे अकल्पनीय हे।

स्वतन्त्रता अधिकारो पर आधारित होती है, और अधिकार सामाजिक जीवन की देन हैं। यही कारण है कि स्वतन्त्रता की अनुभूति समाज मे ही सम्भव है, अराजक या समाज-विहीन दशा मे नही। स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए प्रो० लॉस्की ने कहा है कि **"वर्तमान सभ्यता मे मनुष्य की वैयक्तिक प्रसन्नता की गारण्टी के लिए जिन सामाजिक परिस्थितियो की आवश्यकता है, उन पर पावन्दियों के अभाव का नाम ही स्वतन्त्रता है।"**[1] जी० डी० एच० कोल के मतानुसार **"विना किसी वाधा के अपने व्यक्तित्व को प्रगट करने के अधिकार का नाम स्वतन्त्रता है।**[2] **"**इसी प्रकार मैक्नी (M' Kechnie) के विचारानुसार **"स्वतन्त्रता सभी प्रकार की पावन्दियो के अभाव का नाम नहीं वल्कि अवौद्धिक पावन्दियो के स्थान पर वुद्धिसगत पावन्दियों की स्थापना है।"**[3] प्रो० लॉस्की ने अन्यत्र स्वतन्त्रता की अविक उदार व्याख्या की है और उसके सक्रिय रूप पर वल देते हुए कहा है कि **"स्वतन्त्रता का अर्थ उस वातावरण की उत्साहपूर्ण रक्षा से है जो मनुष्य को अपने श्रेष्ठतम रूप की अनुभूति का अवसर प्रदान करता है"**[4]

उपर्युक्त लक्षणो से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता वैयक्तिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियो की उपस्थिति है। वन्धनो की उपस्थिति मे ही इस प्रकार की सक्रिय (Active) स्वतन्त्रता की अनुभूति की सम्भावना है। प्रत्येक मनुष्य मे कुछ विशेष शक्तियाँ होती हैं जिनका विकास समुचित वातावरण मे ही सम्भव है। अत प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य इस प्रकार की शक्तियो के विकास के लिए उचित परिस्थितियो का निर्माण

---

1. "Liberty is the absence of restraint upon the existence of those social conditions which in modern civilization are the necessary guarantees of individual happiness"—*Laski*

2. "Liberty is the freedom of the individual to express without external hindrance his personality" —*G D H. Cole.*

3 "Freedom is not the absence of all restraints, but rather the substitution of rational ones for the irrational"—*M' Kechnie.*

4 "By liberty is meant the eager maintenance of that atmosphere in which men have the opportunity to be their bestselves".
—*Laski.*

करता है। राज्य इन परिस्थितियो की रचना अनेक प्रकार के अधिकारो को मान्यता देकर करता है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता जहाँ मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है, वहाँ उसके बौद्धिक तथा नैतिक विकास के लिए विचार तथा वाद-विवाद की स्वतन्त्रता परम आवश्यक है। विचार की स्वतन्त्रता ज्ञान प्रसार तथा सत्य की खोज के लिए भी लाजमी है। ज्ञान-विज्ञान की इतनी उन्नति असम्भव हो जाती यदि मनुष्य को विचारो के प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्राप्त न होती। मनुष्य के मस्तिष्क की सक्रियता किसी भी देश की सभ्यता तथा सस्कृति सम्बन्धी विकास के लिए लाजमी है। राज्य जब कभी भी इसके अनुचित नियन्त्रण का प्रयत्न करता है, तभी वह अपनी सीमा से बाहर चला जाता है और अशान्ति तथा अव्यवस्था का बीज बोता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर राज्य द्वारा आरोपित बन्धन रचनात्मक होने चाहिएँ, वे व्यक्ति के चरित्र गठन तथा उसके आत्मिक विकास में बाधक न हो।

राज्य तथा स्वतन्त्रता (State and liberty)—राज्य, प्रभुता तथा कानून का स्वतन्त्रता से विरोध माना जाता है। राज्य तथा कानून इत्यादि स्वतन्त्रता के विरोधी हैं, यह विश्वास बहुत पुराना है। वर्तमान युग मे इस विचार का समर्थन व्यक्तिवादी, अराजकतावादी तथा सिण्डीकेलिस्ट विचारको ने किया है। व्यक्तिवादियो का कथन है कि राज्य द्वारा निर्धारित कानून वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोध करता है, उन पर पाबन्दियाँ लगाता है। उनका कथन है कि वही राज्य स्वतन्त्रता का पोषक हो सकता है जो कम से कम शासन करे। राज्य को तो एक आवश्यक बुराई के रूप में ही स्वीकार करना पडता है। पुराने व्यक्तिवादियो से मिलता-जुलता दृष्टिकोण नूतन व्यक्तिवादियो का भी है। नूतन व्यक्तिवादी बहुसमुदायवाद के समर्थक हैं। वे समाज की सामूहिक जिन्दगी पर राज्य के नियन्त्रण को बुरा मानते हैं। परन्तु वर्तमान युग के व्यक्तिवादी राज्य-सत्ता के केन्द्रीकरण के विरोधी हैं, वह राज्यसत्ता की मौजू-दगी के आवश्यक लाभो से इनकार नहीं करते, वे राज्य की अबाध सत्ता के अवश्य विरोधी हैं।

अराजकतावादी तथा सिण्डीकेलिस्टो का दृष्टिकोण अत्यन्त क्रान्तिकारी है। वे राज्यसत्ता तथा स्वतन्त्रता का स्वाभाविक विरोध स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि स्वतन्त्रता की वास्तविक अनुभूति राज्य की अनुपस्थिति मे ही सम्भव है, अत वे राज्य तथा कानून को खत्म कर देने का समर्थन करते हैं। राज्य का प्रत्येक कार्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी है, यह सर्वथा अप्राकृतिक है। अतः उसका विरोध सर्वथा स्वाभाविक है। कम्युनिस्ट भी एक प्रकार से राज्य तथा वास्तविक स्वतन्त्रता मे विरोध को स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि राज्य शोषण-यन्त्र है, वह शारीरिक शक्ति की उच्चता पर आधारित है और वर्ग सघर्ष मे वह सदा ही कमजोर तथा गरीब लोगो के विपक्ष मे होता है। वास्तविक स्वतन्त्रता की अनुभूति वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज मे ही सम्भव है।

डायसी (Dicey) के मतानुसार कानून की जितनी अधिक मात्रा होगी

स्वतन्त्रता की उतनी ही कमी हो जायगी। विलियम गाडविन ने भी कानून की निन्दा की है। स्पैन्सर तो कानून को स्वतन्त्रता के शत्रु के रूप मे स्वीकार करता है।

ऊपर से देखने से इन तर्कों मे सत्यांश की अनुभूति अवश्य होती है। राज्य प्रभुता सम्पन्न है। प्रभुता की अवस्थिति के कारण वह असीम तथा अबाधशक्ति का इस्तेमाल कर सकता है। अगर राज्य के भीतर मनुष्य स्वतन्त्र है, वह राज्य के पूर्ण रूप से अधीन नही है, तो प्रभुता की उपस्थिति को ही स्वीकार नही किया जा सकता। राज्य मे प्रभुता का केन्द्र एक ही हो सकता है, भिन्न-भिन्न नही। अतः वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रभुता दोनो परस्पर विरोधी हैं, एक ही समाज मे दोनो की साथ-साथ मौजूदगी नही हो सकती।

परन्तु राज्य तथा स्वतन्त्रता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे उपर्युक्त सभी दृष्टिकोण गलत हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ पाबन्दियो का पूर्ण अभाव नही। सामाजिक जीवन के अन्तर्गत अबाध स्वतन्त्रता का उपभोग एक अकल्पनीय बात है। सभी नागरिक समान रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें, इसके लिए राज्य-सत्ता की अवस्थिति लाजमी है। राज्य-शक्ति स्वतन्त्रता का विरोध नही करती, वह इसकी समान अनुभूति के लिए उपयुक्त वातावरण की रचना करती है। सामाजिक जीवन के सगठन का आधार राज्य-शक्ति का सगठन है। राज्य-शक्ति के अभाव मे समाज मे वही स्थिति उत्पन्न हो जायगी जैसी कि हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) मे मौजूद थी। अबाध स्वतन्त्रता का अर्थ केवल शक्तिशालियो की स्वतन्त्रता ही है, क्योकि ऐसी स्थिति मे प्रत्येक शक्तिशाली व्यक्ति अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए कमजोर लोगो पर हाथ साफ करेगा, और उनके स्वार्थों को अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए खत्म कर देगा। राज्य-शक्ति के अभाव में समाज में "मत्स्य न्याय" की ही उपस्थिति होगी। कॉक के सारपूर्ण शब्दो मे "**पूर्ण व अबाध स्वतन्त्रता सिर्फ एक ही व्यक्ति को मिल सकती है। सब के लिए उपभोग्य स्वतन्त्रता का पालन कुछ निश्चित पाबन्दियों के अन्तर्गत ही सम्भव है। यह राज्य सस्था का ही कार्य है कि वह इन पाबन्दियों को निर्धारित करे और इस प्रकार स्वतन्त्रता को जन्म दे।**"

कानून तथा स्वतन्त्रता के पारस्परिक सम्बन्धो का विवेचन करते हुए लॉक ने कहा है कि "**अपने सही अर्थों मे कानून व्यक्ति के सही स्वार्थो को ठीक मार्ग पर निर्दिष्ट करने का स्वतन्त्र तथा बुद्धिसंगत साधन है, अधिकारों का सीमितकरण नहीं······चाहे इसे कितना ही गलत क्यो न लिया जाय, कानून का उद्देश्य स्वतन्त्रता का नियमन व समाप्ति नहीं, बल्कि उसका सरक्षण तथा संवर्धन है।**"[1] कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अनेक प्रकार से रक्षा करता है। कानून भी दो प्रकार के हैं

---

1 "Law is, in its true notion, not so much the limitation as the direction of a free and intelligent agent to his true interest... ......So that however, it may be mistaken, the end of law is not to abolish or restraint but to preserve and enlarge freedom"—*Locke*,

पस्थिति नही। अब हम उसके सक्रिय रूप को स्वीकार करते हैं और यह समझते हैं कि स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति के नैतिक तथा भौतिक विकास के लिए आवश्यक, समान अवसरो की उपस्थिति है। इसी कारण समाजवादी विचारक आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के राजकीय नियन्त्रण का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि राज्य को प्रत्येक नागरिक के लिए, उसके व्यक्तित्व-विकास के लिए, आवश्यक परिस्थितियो की रचना करनी चाहिए। ऐसी अवस्था मे राज्य के कार्यो की अभिवृद्धि हो गई है और इसके साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर लगाई गयी जाति-पाति, लिंग, रग तथा धर्म से सम्बन्धित पावन्दियाँ खत्म हो गई है। समाजवाद के विकास के फलस्वरूप शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सास्कृतिक विकास सम्बन्धी जरूरी अवसरो की उपस्थिति भी आगे से अधिक विस्तृत परिमाण मे प्राप्त होने लगी है।

परन्तु आधुनिक राज्यो मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए एक अन्य खतरा उत्पन्न हो गया है। आधुनिक काल मे आर्थिक जीवन कुछ इतना जटिल हो गया कि राज्य मे इसके द्वारा उसका नियन्त्रण परमावश्यक समझा जाने लगा है। फलस्वरूप सरकार के कार्यो की वृद्धि हो गई और राजकीय शक्ति का केन्द्रीकरण हो रहा है। राज्य न केवल आर्थिक अपितु हमारे सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रो का भी व्यापक नियन्त्रण करने लग गया है। इधर राजकीय शासनतन्त्र की मशीनरी के कार्य को समझ सकना साधारण नागरिक के लिए सम्भव नही। राज्य शासन का सचालन एक विशेष दक्षतापूर्ण कार्य समझा जाने लगा है। साधारण लोगो के पास न तो इतना समय ही है और न वे इतने शिक्षित ही है कि वे राजनीति जीवन की समस्याओ को समझ सके। ऐसी अवस्था मे राज्य शासन के सचलन मे उनका सक्रिय भाग नही रह पाता। प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे भी राज्य-शक्ति का नियन्त्रण राजनीतिक दलो तथा पेशेवर राजनीतिज्ञो के हाथ मे आ गया है। जन-साधारण एक विवश प्रेक्षक (Observer) मात्र बन गया है। वह अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रति उदासीन हो गया है, राज्य-शासन सचालन मे उसकी उपयोगिता घट गई है।

इधर बार-बार के युद्धो के फलस्वरूप सरकारो मे तानाशाही प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। दिन-प्रतिदिन ऐसे लानून बन रहे है जिनसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र सीमित होता जा रहा है। सीली के इस कथन मे पर्याप्त सत्याश है कि **"स्वतन्त्रता अतिशासन का विपर्यायवाची है।"**[1]

अत आज वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए और व्यक्तियो को राजनीतिक जीवन मे सक्रिय हिस्सेदार बनाने के लिए कुछ विशेष सुझाव दिये जाते हैं। इन सुझावो का विस्तृत विवेचन तो हम आगे चलकर करेंगे, यहाँ हमे एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए, वह यह है कि राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए घातक है। क्योकि इसका केन्द्रीकरण सदा ही तानाशाही प्रवृत्ति को जन्म देता है। फिर राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के

---

1 'Liberty is the opposite of over government' —*Seeley*

सवैधानिक कानून तथा साधारण कानून । सवैधानिक कानून व्यक्ति के अधिकारो की घोषणा करता है और सरकार की शक्तियो को सीमित वा मर्यादित करता है। सरकार अनेक बार व्यक्ति के अधिकारो को कुचलने पर तैयार हो जाती है उस समय सवैधानिक पावन्दियाँ ही उसे ऐसा करने से रोकती हैं। प्राय अभी स्वतन्त्र तथा प्रजातन्त्रात्मक देशो मे सविधान की सुरक्षा के लिए न्यायालयो की स्थापना की जाती है। ये न्यायालय सरकार के कार्यो की भी उसी प्रकार परीक्षा करते हैं जैसे साधारण नागरिको के। यही न्यायालय व्यक्ति की स्वतन्त्रता की गारण्टी के रूप मे कार्य करते हैं।

साधारण कानून नागरिको की स्वतन्त्रता को दूसरो के आक्रमण से वचाता है। जब तक समाज मे साधारण कानून की सुरक्षात्मक शक्ति न हो तो व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित नही समझ सकता। राज्य यदि चोरी, डाका तथा हत्या की मनाही करता है, तो वह हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण नही करता, ऐसा करने से वस्तुत राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रत अनुभूति के लिए उचित परिस्थितियो की रचना करता है। इस रूप मे कानून तथा स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नही वल्कि एक दूसरे के पूरक है।

इसी प्रकार साधारण कानून शिक्षा की व्यवस्था करता है, कारखानो मे काम-काज के घण्टे वान्धता है, मजदूरो तथा नागरिको के निवास-स्थानों की सफाई का प्रवन्ध करता है, दवा-दारू की व्यवस्था भी की जाती है। इस रूप मे कानून व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियो की रचना करता है। ऐसे नियम उसके नैतिक तथा मानसिक विकास के लिए लाजमी हैं। इस रूप मे कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता के रूप को विकसित करता हुआ उसके पोषण की व्यवस्था करता है। क्या प्रारम्भिक शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक है ? इसी प्रकार क्या श्रम-नियन्त्रण सम्बन्धी कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं ? प्रो० लॉस्की के शब्दो मे हम कह सकते हैं कि **"जहाँ कहीं आचरण के लिए कुछ दिशाओं का निषेध सामान्य हित के लिए आवश्यक हो, वहाँ उन्हें अनियन्त्रित आचरण के क्षेत्र से हटा देना स्वतन्त्रता पर आक्रमण नही माना जाएगा।"**

राज्य कानून का पालन करवाता है। राज्य की अवस्थिति इस वात की गारण्टी है कि कोई भी व्यक्ति कानून को अपने हाथ मे न ले और आपसी झगडो का वैधानिक साधनो को छोड हिंसात्मक साधनो से निपटारा न करे। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत तो कानून व्यक्ति की सहमति पर आधारित होते हैं, उनका निषेधात्मक रूप अधिक दु खकर हो ही नही सकता।

आधुनिक राज्य मे स्वतन्त्रता की क्या स्थिति है ? कभी-कभी यह प्रश्न भी पूछा जाता है। इसमे कोई सन्देह नही कि आज वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उसी नकारात्मक स्वरूप को स्वीकार नही किया जाता जिसे कि १८वी तथा १९वी सदी मे माना जाता था। आज वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ सव प्रकार के हस्तक्षेप की अनु-

परिस्थिति नही। अब हम उसके सक्रिय रूप को स्वीकार करते हैं और यह समझते हैं कि स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति के नैतिक तथा भौतिक विकास के लिए आवश्यक, समान अवसरो की उपस्थिति है। इसी कारण समाजवादी विचारक आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के राजकीय नियन्त्रण का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि राज्य को प्रत्येक नागरिक के लिए, उसके व्यक्तित्व-विकास के लिए, आवश्यक परिस्थितियो की रचना करनी चाहिए। ऐसी अवस्था मे राज्य के कार्यों की अभिवृद्धि हो गई है और इसके साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर लगाई गयी जाति-पाति, लिंग, रग तथा धर्म से सम्बन्धित पाबन्दियाँ खत्म हो गई है। समाजवाद के विकास के फलस्वरूप शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सास्कृतिक विकास सम्बन्धी जरूरी अवसरो की उपस्थिति भी आगे से अधिक विस्तृत परिमाण मे प्राप्त होने लगी है।

परन्तु आधुनिक राज्यो मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए एक अन्य खतरा उत्पन्न हो गया है। आधुनिक काल मे आर्थिक जीवन कुछ इतना जटिल हो गया कि राज्य मे इसके द्वारा उसका नियन्त्रण परमावश्यक समझा जाने लगा है। फलस्वरूप सरकार के कार्यों की वृद्धि हो गई और राजकीय शक्ति का केन्द्रीकरण हो रहा है। राज्य न केवल आर्थिक अपितु हमारे सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रो का भी व्यापक नियन्त्रण करने लग गया है। इधर राजकीय शासनतन्त्र की मशीनरी के कार्य को समझ सकना साधारण नागरिक के लिए सम्भव नही। राज्य शासन का सचालन एक विशेष दक्षतापूर्ण कार्य समझा जाने लगा है। साधारण लोगो के पास न तो इतना समय ही है और न वे इतने शिक्षित ही हैं कि वे राजनीति जीवन की समस्याओ को समझ सकें। ऐसी अवस्था में राज्य शासन के संचलन मे उनका सक्रिय भाग नही रह पाता। प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे भी राज्य-शक्ति का नियन्त्रण राजनीतिक दलो तथा पेशेवर राजनीतिज्ञो के हाथ मे आ गया है। जन-साधारण एक विवश प्रेक्षक (Observer) मात्र बन गया है। वह अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रति उदासीन हो गया है, राज्य-शासन सचालन मे उसकी उपयोगिता घट गई है।

इधर बार-बार के युद्धो के फलस्वरूप सरकारों मे तानाशाही प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। दिन-प्रतिदिन ऐसे कानून बन रहे है जिनसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र सीमित होता जा रहा है। सीली के इस कथन मे पर्याप्त सत्याश है कि **"स्वतन्त्रता अतिशासन का विपर्यायवाची है।"**[1]

अत: आज वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए और व्यक्तियो को राजनीतिक जीवन मे सक्रिय हिस्सेदार बनाने के लिए कुछ विशेष सुझाव दिये जाते हैं। इन सुझावो का विस्तृत विवेचन तो हम आगे चलकर करेंगे, यहाँ हमे एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए, वह यह है कि राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए घातक है। क्योंकि इसका केन्द्रीकरण सदा ही तानाशाही प्रवृत्ति को जन्म देता है। फिर राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के

1 "Liberty is the opposite of over government"—*Seeley*

फलस्वरूप ही साधारण नागरिक राज्य-शासन के सचालन मे भाग ले सकता है।

अन्त मे हमे एक बात और स्पष्ट कर देनी चाहिए कि राज्य द्वारा निर्धारित सभी कानून वैयक्तिक स्वतन्त्रता के हित मे नही होते। वस्तुत प्रत्येक ऐसे प्रश्न की गुण-दोष परक समीक्षा होनी चाहिए। साथ ही हमे उनकी स्वतन्त्रताजनक तत्कालीन राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियो का भी ध्यान रखना चाहिए। अनेक ऐसे कानून बनाए जा सकते हैं जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए ठीक नही रहते। उनकी उपस्थिति व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के विकास में बाधक होती है। ऐसे कानूनो का शान्तिपूर्ण साधनो से विरोध किया जा सकता है, और उन्हे बदलवाया जा सकता है। इसमे सन्देह नही कि प्रत्येक नागरिक का यह एक पुनीत कर्त्तव्य है कि वह कानून का पालन करे, परन्तु इसके साथ ही उसका यह एक उच्चतर नैतिक कर्त्तव्य भी हैं कि वह उन 'सभी कानूनो का शान्तिपूर्ण ढग से विरोध करे जो उसकी स्वतन्त्रता मे घातक हैं और जो उसके नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के विरोधी हैं। आज के युग मे व्यक्ति की राजनीतिक सजगता ही उसे शासनतन्त्र की तानाशाही से बचा सकती है।

स्वतन्त्रता के स्वरूप को समझने के लिए हमे नीचे लिखी बातें याद रखनी चाहिए—

(१) स्वतन्त्रता का अर्थ पाबन्दियो की अनुपस्थिति नहीं। स्वतन्त्रता के इस्तेमाल की पहली शर्त कानून की उपस्थिति है। इनकी अनुपस्थिति मे स्वतन्त्रता उच्छृखलता बन जाती है।

(२) स्वतन्त्रता का स्वरूप रचनात्मक है। इसका उद्देश्य ऐसे अवसरों की उपस्थिति है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए परम आवश्यक हैं।

(३) राज्य-सत्ता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मे विरोध नही, राज्य ही हमारे व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियो का रचयिता है।

१५७ स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकार (Various forms of liberty)

राजनीतिक शास्त्र मे 'स्वतन्त्रता' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे किया जाता है, इन्हे ही हम स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकार कहते हैं। विभिन्न विचारको ने स्वतन्त्रता के प्रकार निम्नलिखित रूप से रखे हैं।

(१) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural liberty), (२) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil liberty), (३) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political liberty), (४) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic liberty), (५) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (National liberty), (६) वैयक्तिक स्वतन्त्रता (Individual liberty), नीचे हम इन सभी का विवेचन करेंगे।

(१) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural liberty) राजनीति शास्त्र मे प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा प्राकृतिक अधिकार तथा प्राकृतिक विधान से सम्बन्धित है। ये सभी धारणाएँ किसी न किसी रूप मे राजनीति शास्त्र के इतिहास मे मिल

जाती हैं। परन्तु इन धारणाओ का गम्भीर विश्लेषण सविदावाद के समर्थको ने किया है, सविदावाद के समर्थको का कथन है कि राज्य या समाज के जन्म से पहले जिस अवस्था की स्थिति थी वह प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) थी और उसमे व्यक्ति जिस स्वतन्त्रता का उपभोग करता था वह प्राकृतिक स्वतन्त्रता थी। हॉब्स, लॉक तथा रूसो, इन तीनो ने प्राकृतिक स्वतन्त्रता विषयक विभिन्न धारणाओ का विवेचन किया है। परन्तु इन तीनो की धारणाओ मे मेल नही। रूसो का कथन है कि मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग तो प्राकृतिक अवस्था मे ही करता रहा है, समाज के अन्तर्गत उसकी स्वतन्त्रता सीमित हो गई और उस पर अनेक प्रकार की पावन्दियाँ लग गईं। वह शुरू-शुरू मे समाज को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का शत्रु समझता रहा है, तभी तो उसने कहा था कि "पैदा होने पर तो मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र होता है, परन्तु वाद मे वह सर्वत्र ही वन्धनो मे जकडा हुआ पाया जाता है।" इसी प्रकार कुछ अन्य विचारको ने भी सामाजिक स्वतन्त्रता के विपरीत प्राकृतिक स्वतन्त्रता को रखा है और सामाजकि स्वतन्त्रता को अप्राकृतिक तथा वनावटी (Artificial) माना। प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) मे मनुष्य को अवाध स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

आज प्राकृतिक स्वतन्त्रता की इस प्रकार की धारणा को ठीक नही समझा जाता। स्वतन्त्रता समाज की देन है। अवाध स्वतन्त्रता तो जगल में ही प्राप्त हो सकती है। सामाजिक जीवन मे तो पावन्दियो का होना लाजमी है। इन पावन्दियो की अनुपस्थिति मे कमजोर लोगो के अधिकार और उनकी स्वतन्त्रता सदा वलवानो की दया पर आश्रित होंगे।

यह कहना भी गलत है कि समाज मे पाई जाने वाली स्वतन्त्रता वनावटी तथा अप्राकृतिक है। समाज तो मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का फल है। समाज से बाहर स्वतन्त्रता नही, उच्छृखलता ही प्राप्त हो सकती है। स्वतन्त्रता का आधार अधिकार हैं। अधिकार सामाजिक जीवन के फल हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति भी राज्य की सहायता से ही सम्भव है, अत. जव तक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए राज्य की सत्ता न हो तव तक स्वतन्त्रता का उपभोग ही किस प्रकार सम्भव है।

यदि 'प्राकृतिक स्वतन्त्रता' से हमारा मतलव आदर्श स्वतन्त्रता से है, जो कि मानवीय जीवन के विकास के लिए आवश्यक है और उस स्वतन्त्रता से नही जिसका उपभोग मनुष्य ने किसी कल्पित प्राकृतिक अवस्था मे किया है, तो यह धारणा सर्वथा निर्दोष कही जा सकती है।

(२) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil liberty)—समाज मे प्राप्य राज्य द्वारा संरक्षित स्वतन्त्रता का नाम ही नागरिक स्वतन्त्रता है। यह सामाजिक जीवन का फल है, इसकी रचना कानून द्वारा होती है और इसका आधार नागरिक या सामाजिक अधिकार हैं। हम ऊपर लिख आए हैं कि अमर्यादित स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृखलता है और उसका उपभोग समाज मे सम्भव नही। राज्य कानून वनाकर प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र की सीमा वान्ध देता है, इसी सीमा के अन्तर्गत ही

प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारो का उपभोग करता हुआ स्वतन्त्रता की अनुभूति करता है। प्राय सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे नागरिको के अधिकारो को सविधान द्वारा सुरक्षित कर दिया जाता है और सरकार की शक्तियो पर पावन्दियाँ लगा दी जाती हैं। जब कभी सरकार इन अधिकारो को कुचलने का यत्न करती है तभी न्यायालय उनके कार्यो को गैर-कानूनी करार दे देते हैं।

नागरिक स्वतन्त्रता वैयक्तिक स्वतन्त्रता का आधार है और सामाजिक जीवन के स्वस्थ विकास की आवश्यक शर्त है। इसके अभाव मे सरकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकती है और उसका शासन सचालन अत्याचार पूर्ण वन जाता है। नागरिक स्वतन्त्रता के आधार निम्नलिखित अधिकार है—वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार, भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता का अधिकार, कानून के सम्मुख समता का अधिकार, आर्थिक स्वतन्त्रता का अधिकार, व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता तथा शिक्षा इत्यादि के अधिकार।

फ्रास, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत इत्यादि राज्यों मे इन अधिकारो की सर्वधानिक घोषणाएँ की गई हैं और इनका पालन न्यायालय द्वारा करवाया जाता है।

सरकार साधारण कानून बनाकर वैयक्तिक अधिकारो को अन्य नागरिको तथा नागरिक सघो के आक्रमण से भी बचाती है। साधारण कानून के वल पर ही प्रत्येक नागरिक जब कभी कोई उसके अधिकार पर आक्रमण करता है तो उसे राज्य द्वारा सजा दिलवा सकता है।

(३) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political liberty)—राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव मे नागरिक स्वतन्त्रता सदा असुरक्षित रहती है, क्योंकि राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यक्ति को राज्य-शासन के सचालन मे सक्रिय हिस्सेदार बनाती है। जब कभी राज्य शासन के चलाने की जिम्मेदारी किसी अन्य वर्ग के हाथ मे होती है तो वह अपनी इच्छानुसार कानून वना सकता है और उनका पालन करवा सकता है। ब्रिटिश शासन के दिनो मे भारत में नागरिक स्वतन्त्रता की सत्ता सदा ही खतरे में रहती थी।

राज्य शासन के सचालन मे नागरिक के सक्रिय भाग को ही राजनीतिक स्वतन्त्रता कहा जाता है, राजनीतिक स्वतन्त्रता का आधार भी राजनीनिक अधिकारो का उपभोग है। राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्गत वोट देने का अधिकार, विधानमण्डलो के सदस्य बनने का अधिकार, चुनाव लडने का अधिकार, सरकारी पदो पर काम करने का अधिकार तथा राज्य का सरक्षण प्राप्त करने के अधिकार इत्यादि आ जाते हैं।

राजनीतिक स्वतन्त्रता सभी को प्राप्त नही होती, क्योकि राजनीतिक अधिकारो के उपभोग से पागल, बच्चे, अपराधी तथा विदेशी इत्यादि वचित रखे जाते हैं।

राजनीतिक स्वतन्त्रता का आज के युग मे विशेष महत्त्व है। प्रो० हॉब हाउस

के इन शब्दो मे पर्याप्त सत्य है कि शासको तथा विधान पालिकाओ के जनता के प्रति जिम्मेवार होने से ही सभी प्रकार के अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य शासन का प्रजातन्त्रात्मक रूप है। प्रजातन्त्र ही सभी नागरिको को राज्य-शासन के सचालन मे समान हिस्सेदार के रूप मे स्वीकार करता है।

मानवीय समाज को राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए बहुत से सघर्षों मे से गुजरना पड़ा है और अनेक बलिदान करने पडे हैं। पुराने समय मे राज्य-शासन सचालन का अधिकार कही भी जनसमान्य को प्राप्त नही था। ग्रीस मे प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था थी परन्तु वोट देने का अधिकार एक निश्चित वर्ग के लोगो को ही था। रोम में भी यही स्थिति थी। मध्ययुग मे तो राजनीतिक शक्ति सामन्तो तथा सरदारों के हाथ मे केन्द्रित हो गई। राष्ट्रीय राज्यो के विकास के अनन्तर जिन राजतन्त्रों का विकास हुआ उनमे जनता को शासन सचालन मे हिस्सेदार बनाने का सवाल ही नही उठता था। राजनीतिक स्वतन्त्रता की आवाज वाल्तेयर, लॉक तथा रूसो ने उठाई। फ्रेंच क्रान्ति के अनन्तर तो राजनीतिक स्वतन्त्रता की माँग सभी जगह की जाने लगी। आज सभी प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे जनसामान्य को वोट देने, शासन नीति की आलोचना करने विधानपालिकाओ के सदस्य बनने तथा सरकारी पदो पर काम करने के अधिकार प्राप्त हैं। प्रो० लॉस्की का कथन है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता की वास्तविक अनुभूति कुछ विशेष शर्तों के अधीन ही सम्भव है। प्रथम तो जन-साधारण को एक दूसरे के विचारो को समझने और एक दूसरे तक अपने विचारो को पहुँचाने के लिए पर्याप्त शिक्षित होना चाहिए। परन्तु वर्तमान काल की शिक्षा पद्धति साधारण नागरिको में ऊँच-नीच की भावना को उत्पन्न करती है। दूसरी शर्त सच्चाई तथा ईमानदारी के साथ समाचार पत्रो के प्रकाशन की व्यवस्था है, क्योकि राजनीतिक स्वतन्त्रता का आधार तो विचार स्वातन्त्र्य है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता को एक साधन के रूप मे ही इस्तेमाल मे लाना चाहिए उसे अपने आप मे साध्य नही मानना चाहिए। उनका उद्देश्य मानवीय जीवन की नैतिक पूर्णता की प्राप्ति है। अतः राजनीतिक स्वतन्त्रता की पूर्ति के लिए आर्थिक तथा नैतिक स्वतन्त्रता की उपस्थिति लाजमी है।

(४) **आर्थिक स्वतन्त्रता** (Economic liberty)—इन दिनो यह अनुभव किया जाने लगा है कि केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता, किसी समस्या का समाधान उपस्थित नही करती, यह एक पक्षीय हल है। वोट देने का अधिकार नागरिक को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही बना देता। १९वी सदी मे राजनीतिक विचारको का यह विचार था कि राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना के अनन्तर सभी झगडे खत्म हो जायँगे। परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया जाने लगा कि राजनीतिक शक्ति से भी बडी शक्ति धन की शक्ति है। सभी जगह धनी मानी लोग जन-साधारण के वोट खरीद विधानपालिकाओ मे पहुँच अपनी मर्जी के मुताबिक कानून बनाने लगे। जहाँ कही अन्य पूजीपति वर्ग विधानपालिकाओ मे अपने प्रतिनिधि न भेज सका वहाँ अन्य अप्रत्यक्ष साधनो से कानून निर्माताओ को प्रभावित किया गया। मार्क्स के इस कथन

मे पर्याप्त सत्य है कि जिन लोगों के हाथ मे आर्थिक शक्ति होती है वे ही राजनीतिक शक्ति का नियन्त्रण करते है। राजनीतिक स्वतन्त्रता जो अधिकार देती है, आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव मे उन्हें व्यर्थ बनाया जा सकता है, और बनाया जाता है। यही कारण है कि आधुनिक युग के प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक कोल (Cole) ने कहा है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता स्वप्न मात्र है।

आर्थिक स्वतन्त्रता से हमारा मतलब सभी नागरिको को आर्थिक क्षेत्र मे समान उन्नति करने के समान अवसर की प्राप्ति मे है। समाज का आर्थिक सगठन इस प्रकार का हो कि जिसमे शोषण की सम्भावना ही न रहे और प्रत्येक व्यक्ति की प्रारम्भिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो। आर्थिक स्वतन्त्रता से हमारा मतलब १६वी सदी के व्यक्तिवादियो द्वारा समर्थित व्यापारिक स्वतन्त्रता से नही। आर्थिक स्वतन्त्रता की अनुभूति तभी सम्भव है जब कि या तो हम कुछ विशेष आर्थिक अधिकारो को स्वीकार करें या फिर जीवन के अधिकार की विस्तृत तथा व्यापक व्याख्या करें। जीवन के अधिकार से हमारा मतलब केवल चोर डाकुओ तथा हत्यारो से जीवन रक्षा ही नही। जीवन के अधिकार का अर्थ है—मानपूर्वक जीवन यापन। वह तभी सम्भव है जब कि मनुष्य को काम करने, उचित पारिश्रमिक मिलने तथा विश्राम इत्यादि के अधिकारो की प्राप्ति हो। जो मनुष्य हर समय भूख, बेकारी या आर्थिक कठिनाइयो से परेशान रहे वह न तो अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता का ही उपभोग कर सकता है और न अपने जीवन के अधिकार का ही। बेकारी तथा आर्थिक तगी का भय मनुष्य की सभी शक्तियो को कुण्ठित कर देता है। अत राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति के काम करने तथा जीविकोपार्जन के अधिकार को स्वीकार करे और उनकी पूर्णता के लिए यथोचित व्यवस्था करे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम का उचित फल भी मिलना चाहिए।

अत समाज में आर्थिक शक्ति के असन्तुलित बँटवारे के फलस्वरूप राजनीतिक स्वतन्त्रता का जो अपहरण किया जा सकता था वह आर्थिक असमानता के खत्म किए जाने से असम्भव हो जायगा। राज्य को पूजी के उत्पादन तथा वितरण के साधनो पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए, ऐसी अवस्था मे ही जन-साधारण के आधारभूत अधिकारों का इस्तेमाल किसी एक व्यक्ति की दया पर आश्रित नहीं रहेगा और प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकेगा। दूसरे शब्दों मे समाजवाद की स्थापना ही राजनीतिक स्वतन्त्रता को वास्तविकता का रूप दे सकती है।

(५) **राष्ट्रीय स्वतन्त्रता** (National liberty)—हम पीछे लिख चुके है कि राष्ट्रीयता आज के राज्यो के सगठन का आधार है। आज हम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ यह करते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना राज्य हो, दूसरे शब्दो में किसी भी राष्ट्र पर अन्य राज्य का नियन्त्रण न हो, वह पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य हो। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पर ही राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा नागरिक स्वतन्त्रता आश्रित है।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन का जोरदार प्रचलन फ्रेंच क्रान्ति के अनन्तर

हुआ। प्रायः सभी छोटी-छोटी राष्ट्रीय इकाइयो ने अपने आपको राज्य रूप मे सगठित करने के प्रयत्न किए। प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर यूरोप का पुर्नगठन राष्ट्रीय आत्म निर्णय (National Self determination) के आधार पर किया गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के अनन्तर राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को एशिया के पराधीन देशो पर भी लागू करना पडा, फलत भारत, पाकिस्तान,लका वर्मा तथा इण्डोनेशिया इत्यादि नवीन राज्यो का उदय हुआ। कभी-कभी राष्ट्रीयता की भावनाएं मीमा का अतिक्रमण कर जाती हैं जिसका परिणाम साम्राज्यवादी युद्ध होते हैं।

(६) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता** (Individual liberty)—वैसे तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता को नागरिक स्वतन्त्रता का ही हिस्सा माना जाता है, परन्तु सामाजिक जीवन मे इसका विशेष महत्त्व है अत. यहाँ हम इसका पृथक् विवेचन भी कर रहे हैं। वैयक्तिक स्वतन्त्रता से हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अपने जीवन के सहज विकास का अधिकार होना चाहिए। प्रो० लॉस्की के मतानुसार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का यह मतलब है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के उन क्षेत्रो मे अपनी इच्छानुसार चलने का यत्न करे जिसका प्रभाव उसी तक सीमित रहे। वस्तुत व्यक्तिगत विषय, खान-पान, रहन-सहन, पूजा-पाठ इत्यादि मे मनुष्य का आचरण राज्य के नियन्त्रण मे नही रहना चाहिए। मनुष्य क्या पहने क्या खाए, कब सोए और कब जागे, किस प्रकार से पूजा-पाठ करे, किन वस्तुओ से आमोद-प्रमोद करे, यह सभी विषय व्यक्तिगत रुचि के हैं, इससे सरकार का कोई सम्बन्ध नही। वर्तमान युग मे धर्म की स्वतन्त्रता को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का ही भाग माना जाता है। धर्म व्यक्तिगत विषय है, प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपनी इच्छानुसार अपने धर्म का अनुसरण कर सके। जब कभी राज्य किसी विशेष धर्म के अनुयायी को विशेष सुविधाएँ देता है तो वस्तुत व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करता है। धार्मिक आधार पर किया गया विभेद पक्षपात पूर्ण है तथा सरासर अन्याय है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ शासन तथा कानून की अनुपस्थिति नही। कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता का भले ही नियन्त्रण करते हो परन्तु वे उसे सभी के लिए समान रूप से सुलभ बना देते हैं। मिल (Mill) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। उसका कथन है कि व्यक्ति को व्यवहार क्षेत्र के दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है (१) व्यक्तिपरक तथा (२) समाजपरक। जहाँ तक व्यक्तिपरक व्यवहार का क्षेत्र है, राज्य को उसमे किसी प्रकार का भी दखल नही देना चाहिए, उस अवस्था मे भी नही जब की उससे व्यक्ति को स्वयं नुकसान पहुँचता हो। हाँ, समाज से सम्बन्धित व्यवहार क्षेत्र मे तो राज्य को दखल देने का अधिकार है। परन्तु मिल के वैयक्तिक व्यवहार के इस विभाजन का व्यवहारिक प्रयोग अत्यन्त कठिन है। वैयक्तिक व्यवहार का कौन-सा ऐसा क्षेत्र है जोकि केवल उसी से सम्बन्धित है? खान-पान का सम्बन्ध व्यक्ति से ही है, परन्तु फिर भी उसका नियन्त्रण राज्य द्वारा कभी-कभी जरूरी हो जाता है। धार्मिक मेलो मे जब बहुत से लोग इकट्ठे होते हैं उस समय बीमारियाँ न फैले इस डर से बहुत से खाद्य पदार्थों का निषेध कर दिया जाता

है। वस्त्र पहनने का भी एक वैयक्तिक विषय है, कुछ व्यक्ति नगा ही रहना पसन्द कर सकते हैं, और कुछ स्त्री-पुरुष ऐसे वस्त्र पहनने पर उतारू हो सकते हैं जिससे उनके अग-प्रत्यग नगे होने लगे। ऐसी बातें सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध होती हैं और राज्य को उनका नियन्त्रण करना ही पडता है। साहित्य पढना-पढाना व्यक्तिगत विषय है, परन्तु सभी जगह गन्दे तथा अश्लील साहित्य के प्रकाशन तथा प्रचार की रोक-थाम सरकार द्वारा की जाती है। आज के जीवन मे यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि कौन-सा विशेष कार्य वैयक्तिक जीवन से ही सम्बन्धित है ?

मिल ने जब वैयक्तिक व्यवहार क्षेत्रो को दो हिस्सो मे बाँटा था तो निश्चय ही उसका यह मतलब कभी नही था कि इस विभाजन का व्यवहार रूप मे कठोर पालन किया जाय। उसका उद्देश्य अति-शासन (Over government) की निन्दा था। वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के एक ऐसे क्षेत्र की ओर सकेत करता है जिस मे राज्यो को अनुचित रूप से दखल नही देना चाहिए।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत ही हम नैतिक स्वतन्त्रता को भी शामिल कर सकते हैं। नैतिक स्वतन्त्रता मनुष्य जीवन के समुचित विकास के लिए परम आवश्यक है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की रचना मे एक ऐसे ज्ञान सम्पन शासक वर्ग की कल्पना की थी जो कि नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र तथा उच्च हो। ज्ञान का आधार नैतिक है। प्लेटो यह मानता था कि जब तक शासक वर्ग साधारण जीवन के लोभ-लालच से ऊपर नही उठते, जब तक वह अपनी वासनाओ पर नियन्त्रण नही स्थापित कर पाते, तब तक कोई भी शासनतन्त्र बुराईयो से पूरी तरह से छुटकारा नही पा सकता। आज के प्रजातन्त्रात्मक युग मे राज्य का स्वरूप उनके भीतर रहने वाले नागरिको के चरित्र का ही प्रतिपालक होता है। एक श्रेष्ठ राजनीतिक सगठन की स्थापना के लिए नागरिको का चारित्रिक तथा नैतिक दृष्टि से उच्च होना लाजमी है। नैतिक स्वतन्त्रता से हमारा मतलब यही है कि नागरिको को स्वतन्त्र विचारो वाले निडर, साहसी, निर्लोभी, समाज-सेवक तथा चरित्रवान होना चाहिए। हम पहले कह चुके हैं कि राज्यो का एक नैतिक उद्देश्य है, उसे यह प्रयत्न करना है कि वह ऐसे वातावरण का निर्माण करे कि जिसमे नागरिक चरित्र के उच्च नैतिक गुणो को पूरी तरह से विकसित कर सकें।

१५८. स्वतन्त्रता के आवश्यक सरक्षण (Safeguards of liberty)

राज्य हमारी स्वतन्त्रता का पोषक तथा सरक्षक है, इस बात से हम इनकार नहीं कर सकते। परन्तु राज्य के अन्तर्गत रहते हुए भी कुछेक आवश्यक परिस्थितियो की उपस्थिति स्वतन्त्रता के सरक्षक के लिए लाजमी है। नीचे हम उन्ही का जिक्र करेंगे—

(१) प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्रता का विशेष जोड है। शासन के अन्य सभी प्रकारो के अधीन स्वतन्त्रता असुरक्षित रहती है। प्रजातन्त्र में नागरिक स्वतन्त्रता तथा अधिकारों का जल्दी ही अपहरण नही किया जा सकता। परन्तु प्रजातन्त्र भी

स्वतन्त्रता की सुरक्षा मे असफल हो सकता है, अगर राज्य मे ऊँच-नीच, तथा विशेष अधिकार सम्पन्न वर्ग की उपस्थिति हो। जहाँ कही सभी नागरिक समान रूप से अधिकारों का उपभोग नही करते और धर्म, जाति या रग के आधार पर राजनीति शक्ति का वितरण किया जाता है, वहाँ स्वतन्त्रता की अवस्थिति असम्भव हो जाती है, जन-साधारण मे आत्मविश्वास नही रह पाता, वे अपने आपको शासन चलाने के अर्थ मे अनुपयुक्त समझने लग जाते हैं। इस तरह की भावना का व्यापक प्रसार जनता मे असन्तोष को जन्म देता है।

(२) स्वतन्त्रता की उपस्थिति के लिए राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। हम पहले लिख चुके हैं कि शक्ति का केन्द्रीकरण सदा ही तानाशाही और उत्तरदायित्व विहीन शासन को जन्म देता है। अत प्रत्येक राज्य मे स्वायत्त शासन की सस्थाओ (Local self-governing institutions) को विकसित किया जाना चाहिए। वे न केवल राज्य-शक्ति के विकेद्रीकरण मे ही सहायक होगी वल्कि जन-सावारण को राजनीतिक दृष्टि से अधिक-से-अधिक शिक्षित भी करेंगी।

(३) जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि कानून हमारी स्वतन्त्रता का शत्रु नही, अपितु सरक्षक है। कानून की उपस्थिति स्वतन्त्रता की समान अनुभूति के लिए जरूरी है। परन्तु यह कहना भी गलत होगा कि सभी कानून स्वतन्त्रता के पोषक तथा सवर्द्धक होते हैं। आजकल कानूनो को वर्गगत स्वार्थ रक्षा के लिए भी वनाया जा सकता है, और ऐसे कानून भी वनाए जा सकते हैं कि जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास मे वाधक हो। वस्तुत स्वतन्त्रता का मूल्य जन-सामान्य की निरन्तर सजगता तथा जागरूकता ही है। जन-सामान्य को सदा अपने अधिकारो की सुरक्षा के लिए सजग तथा सावधान रहना चाहिए। प्रत्येक राज्य मे स्वतन्त्रता की समान अनुभूति के लिए अधिकारो की व्यवस्था रहनी चाहिए। अधिकारो से स्वतन्त्रता का जन्म होता है।

(४) स्वतन्त्रता की अनुभूति के लिए गम्भीर आर्थिक भेद-भाव की समाप्ति की जानी चाहिए। जहाँ समाज मे वहुसख्यक लोगो को भूख-वीमारी तथा अशिक्षा इत्यादि का शिकार होना पडे या जहाँ उनकी जीविका का अधिकार कुछ लोगो की मर्जी पर आश्रित हो वहाँ स्वतन्त्रता की अनुभूति की कल्पना भी नही की जा सकती। स्वतन्त्रा की वास्तविक अनुभूति के लिए राज्य को आर्थिक समानता की स्थापना का प्रयत्न करना चाहिए।

(५) स्वतन्त्रता की सुरक्षा की एक वडी शर्त न्यायालयो की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता भी है। हम पीछे देख चुके है कि न्यायालयो की स्वतन्त्रता के लिए न्यायाधीशो के वेतन, उनके कार्यकाल तथा उनकी अन्य सुविधाओ की रक्षा की पूरी-पूरी देख-भाल की जानी चाहिए। उन्हे विधानपालिका तथा कार्यपालिका के नियन्त्रण से यथासम्भव मुक्त रखने की कोशिश की जानी चाहिए। न्यायालयो की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता की उपस्थिति मे स्वतन्त्रता के अपहरण के वहुत कम अवसर आते है।

(६) न्यायालयो की स्वतन्त्रता की एक बडी शर्त शक्तियो का विभाजन भी है। जब कभी न्यायपालिका शक्ति को कार्यपालिका या विधानपालिका के अधीन कर दिया जाता है तभी स्वतन्त्रता के खत्म होने का डर रहता है। इसी तरह इन तीनो शक्तियो के एक ही व्यक्ति के हाथ मे केन्द्रीकरण का फल तानाशाही की स्थापना में होता है।

(७) आजकल प्रगतिशील राज्यो मे व्यक्ति के अधिकारो की सवैधानिक घोषणा की जाती है और इस तरह यह कोशिश की जाती है कि नागरिको को स्वतन्त्रता का एक ऐसा अधिकार दे दिया जाए जिसमे सरकार आसानी से दखल न दे सके। अधिकारो की ऐसी घोषणा हाल ही मे प्रजातन्त्रात्मक युग मे की जाने लगी है। यह व्यवस्था पर्याप्त सन्तोषजनक है, क्योकि इसके द्वारा नागरिक अपने कुछ मूलभूत अधिकारो का बिना किसी भय के उपभोग कर सकते हैं। हमारे यहाँ सविधान में धार्मिक विचार प्रकट करने की तथा अन्य प्रकार की स्वतन्त्रताओ की सवैधानिक घोषणा की गयी है। इस व्यवस्था का पालन सयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस मे भी किया गया है। इन अधिकारो की सुरक्षा का उत्तरदायित्व न्यायपालिका पर होता है।

(८) स्वतन्त्रता के सरक्षण के लिए स्वतन्त्र जनमत, स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष प्रेस और जनता का राजनीतिक शिक्षरण आवश्यक है। इगलैण्ड मे व्यक्ति के मूलभूत अधिकारो की घोषणा नही की गयी, तो भी जागरूक जनमत की अवस्थिति के फलस्वरूप इगलैण्ड के नागरिक अन्य देशो के नागरिको से कही अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं।

१५९ समानता (Equality)

प्रजातन्त्रात्मक युग की सर्वप्रिय धारणाओ मे स्वतन्त्रता के साथ समानता भी आती है। समानता के सिद्धान्त का प्रचलन प्राचीनकाल के समाज मे व्याप्त अतीव असमानता के विरोध मे हुआ। प्राचीन समाज मे बहुसख्यक लोग जीवन की साधारण सुविधाओ से वचित थे, उन्हें अपनी प्रारम्भिक तथा मूलभूत आवश्यकताओं तक की पूर्ति की भी सुविधा प्राप्त नही थी, जब कि दूसरी ओर अल्पसख्यक लोग धनसम्पन्न थे और वे सभी प्रकार जीवन की सुख-सुविधाओ का उपभोग करते थे। प्रारम्भ से, समाज मे नागरिको तथा गुलामो मे, कुलीनो तथा साधारण लोगों मे और उच्चवर्ग तथा नीचवर्ग वाले लोगो में भेद-भाव उपस्थित रहा है। पुराने ग्रीस के नगर राज्यो मे जहाँ एक ओर दासो की बडी सख्या थी वहाँ दूसरी ओर सम्पत्तिशाली नागरिक लोगो का भी वर्ग था जो कि राजनीतिक सत्ता का सचालन करता था। यही अवस्था रोम तथा मध्यकालीन यूरोप मे भी थी। वर्तमान युग के प्रारम्भ मे भी अमीर-उमरा तथा जन-साधारण की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में बडा अन्तर रहा है। समानता के सिद्धान्त का जन्म विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ।

शुरू-शुरू मे 'प्राकृतिक समानता' (Natural equality) का सिद्धान्त सर्वप्रिय हुआ। यह माना गया कि प्रकृति या ईश्वर सभी को समान बनाते है, जन्म के समय सभी बराबर होते हैं। आज हम मानव समाज मे जिन भेदो को पाते है, वे ईश्वर की रचना नही बल्कि मनुष्य-रचित है। समाज मे सभी को उन्नति के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए यदि ऐसा हो तो समाज मे न कोई निर्धन रहे और न कोई विवेक-विहीन। वर्तमान समाज मे पाया जाने वाला धनी तथा निर्धन का भेद मनुष्य रचित है, ईश्वर रचित नही। बहुत से लोग समानता का अर्थ सभी प्रकार की बराबरी मानते है। उनका कथन है कि समानता का अर्थ एक सा व्यवहार तथा एक समान आय का अधिकार है। इसी भावना से प्रेरित हो फ्रेंच क्रान्तिकारियो ने स्वतन्त्रता (Liberty) के साथ-साथ 'समानता' (Equality) का नारा भी बुलन्द किया था। फ्रेंच क्रान्ति का प्रभाव यूरोप मे बहुत व्यापक रूप से पडा। फ्रास के क्रान्तिकालीन सविधानो मे जब मनुष्य के मूलभूत अधिकारो को मान्यता प्रदान की गई तो उस समय समानता के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया। उस समय यह माना गया कि सभी व्यक्ति जन्म से ही स्वतन्त्र हैं, और सभी को समान अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार सयुक्त राज्य अमेरिका के स्वाधीनता के घोषणापत्र मे इस बात को एक अटल सत्य के रूप मे स्वीकार किया गया कि इस विश्व के कर्त्ता ने सभी मनुष्यो को एक समान बनाया है।

हम ऊपर लिख आए हैं कि पूर्ण समानता का सिद्धान्त पुराने समय के विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप रचा गया। पूर्ण समानता (Absolute equality) सामाजिक जीवन मे अकल्पनीय है। यह कहना भी गलत है कि सभी मनुष्य जन्म से ही समान होते हैं और सभी की एक प्रकार की ही क्षमताएँ हैं। प्राकृतिक दृष्टि से हम मनुष्यो मे समानता की अपेक्षा भेद ही अधिक पायेंगे। प्रकृति तो मनुष्यो मे व्यापक असमानता के बीज बो देती है। हम देखते हैं कि कुछ प्रकृत्या सुन्दर होते है और कुछ असुन्दर, कुछ बलवान होते हैं और कुछ निर्बल, कुछ प्रतिभावान तो कुछ मूर्ख। यह कहना गलत है कि प्रकृति सभी को समान प्रतिभा, बल तथा शक्ति प्रदान करती है, कही भी दो ऐसे मनुष्य नही मिल सकेंगे जो सभी प्रकार से समान हो।

इस प्रकार असमानता तो प्रकृति की ही देन है, उसे दूर कैसे किया जा सकता है ? परन्तु समानता की ऐसी कोई भी धारणा जो प्राकृतिक असमानताओं को स्वीकार न करती हो, किसी प्रकार भी पूर्ण तथा तर्क-सगत नही कही जा सकती। इस प्रकार की समानता का अर्थ तो मनुष्य मे सब प्रकार की एकता होगा जिसकी प्राप्ति मानवीय समाज मे असम्भव है। अत समानता का यह अर्थ नही कि सभी मनुष्य सभी प्रकार से बराबर है या बराबर बनाए जा सकते है। हम प्रकृति द्वारा रचित असमानता को कभी भुला नही सकते, परन्तु इसके साथ समाज मे उपस्थित मनुष्य मनुष्य मे किए जा रहे भेदभाव की भी उपेक्षा नही कर सकते। वस्तुतः समानता का अर्थ उपयुक्त अवसरो की प्राप्ति है। मानवीय समाज मे अवसरो

की प्राप्ति विषयक भेदभाव विवेक या बल की भिन्नता पर आधारित नही। विशेषाधिकार सम्पन्न वर्गो की उपस्थिति रहती है, और धर्म, जाति, वर्ण, रग तथा सम्पत्ति के आधार पर विभिन्न सामाजिको मे भेदभाव किया जाता है, और सभी सामाजिको को बिना भेदभाव के आत्मविकास के अवसर प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार का भेदभाव तर्क-सगत नही और न वह ईश्वर की देन है। यदि पाकिस्तान मे हिन्दू नागरिक राष्ट्रपति नही बन सकता इसका अर्थ यह नही कि भगवान् ने हिन्दुओ को राष्ट्रपति पद सम्भालने के अयोग्य बनाया है। इसी प्रकार यदि रग, जाति या सम्पत्ति के आधार पर राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारो का बटवारा किया जाय और काले रग के, छोटी जाति वाले तथा निर्धन लोगो को उन अधिकारो से वचिन किया जाय तो इसका अर्थ यह नही कि ऐसा भेदभाव दैवीय रचना है, यह तो मनुष्य रचित है। हमारे यहाँ सदियों तक हरिजनों पर अत्याचार किए गए और उन्हें शिक्षा प्राप्ति तक के अधिकारो से वचित रखा गया। इस प्रकार अनेक प्रतिभावान गरीब लडके केवल अपनी निर्धनता के कारण ही उच्चशिक्षा से वचित रह जाते हैं, और धनियो के पुत्र मूर्ख होते हुए भी थोडे बहुत शिक्षित हो अपार धन राशि के स्वामी बन जाते हैं। इस प्रकार उपयुक्त अवसरो की अप्राप्ति बहुसख्यक लोगो को आत्मोन्नति का मौका ही नही देती। समाज मे इस प्रकार की असमानता को खत्म करने का नाम ही समानता है, न कि प्रकृति या ईश्वर द्वारा पैदा की गई मनुष्य मे पाई जाने वाली असमानताओ को।

अत समानता से हमारा मतलब यही है कि एक समाज मे उत्पन्न होने वाले अमीर-गरीब सभी को आत्मोन्नति के उपयुक्त अवसरो की प्राप्ति हो। इस रूप मे समानता का अर्थ यह है कि समाज में विशेषाधिकारो की व्यवस्था खत्म हो, लोगों में जाति-पाति, रग, लिंग तथा धर्म इत्यादि के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव न किया जाय, राजनीतिक सत्ता प्राप्ति मे सभी को समान अधिकार हो, कानून के सम्मुख सभी बराबर हो और समाज के विभिन्न वर्गो मे गहरा आर्थिक भेदभाव न हो।

समानता के प्रकार (Types of equality)—समाज मे रहने वाले नागरिको को आत्मोन्नति के लिए विभिन्न प्रकार के अवसरों की आवश्यकता होती है, इन्हे ही समानता के अनेक प्रकार कहते हैं। वर्तमान युग में समानता के निम्नलिखित प्रमुख प्रकार माने जाते हैं—

१. नागरिक समानता (Civil equality)—हम पीछे देख चुके हैं कि नागरिको को अनेक प्रकार के सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं, इन्हीं अधिकारो के समान उपभोग का नाम ही नागरिक समानता है। सामाजिक अधिकारो के अन्तर्गत जीवन का अधिकार, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, शिक्षा तथा सस्कृति सम्बन्धी अधिकार और भाषण की स्वतन्त्रता सम्बन्धी अनेक अधिकार आ जाते हैं। ये सभी अधिकार सभी नागरिको को समान रूप से प्राप्त होने चाहिएँ।

नागरिक समानता के अन्तर्गत वैधानिक समानता भी आजाती है। वैधानिक समानता का अर्थ है कि कानून की दृष्टि मे सभी नागरिक एक समान हो। न्यायालय

कानून के आधार पर धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित राजकर्मचारी या साधारण नागरिक मे किसी प्रकार का भी भेदभाव न करें। वे सभी कानून की निगाह मे एक समान माने जाएँ।

भारत, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन मे कानून के राज्य (Rule of law) की व्यवस्था है। इन सभी राज्यो मे सभी नागरिक, चाहे उनकी राजनीतिक या सामाजिक स्थिति कुछ भी क्यो न हो, कानून की दृष्टि मे समान होते हैं।

नागरिक समानता के अन्तर्गत हम धार्मिक समानता को भी ग्रहण करते हैं। जहाँ कही धर्म के नाम पर राज्य अपने नागरिको मे भेदभाव करता है, वहाँ नागरिक समानता खत्म हो जाती है। मध्ययुग मे प्राय' सभी जगह धर्म के नाम पर अनेक भेदभाव किए जाते थे और अन्य धर्म के पालनकर्त्ताओ को राज्य किसी प्रकार की सुविधा नही देता था, वल्कि उन्हें अनेक नागरिक अधिकारों से वचित रखता था। इंग्लैण्ड, फ्रास, स्पेन, रूस तथा भारत इत्यादि सभी राज्यो में राज्य अपने नागरिकों मे धर्म के आधार पर अधिकारो को बाँटता था। आज अवश्य ही धर्म-निरपेक्ष राज्यो का विकास हो रहा है, और उन राज्यो को पिछड़े हुए तथा अप्रगतिशील माना जाता है जहाँ धर्म के आधार पर लोगो मे भेदभाव किया जाता है।

(२) सामाजिक समानता (Social equality)—सामाजिक समानता के आदर्श की प्राप्ति बहुत कठिन है क्योकि सामाजिक समानता का अर्थ है धर्म सम्पत्ति, वर्ग, वर्ण तथा रग और लिग इत्यादि के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव की अनुपस्थिति। आज के प्रजातन्त्रात्मक राज्यो मे भी इस प्रकार का भेदभाव किया जाता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व के पुराने प्रजातन्त्रवादी राज्यो मे से है, तो भी वहाँ रंग के आधार पर समाज के विभिन्न वर्गों मे भेदभाव किया जाता है। काली चमड़ी वाले नीग्रो लोग अमेरिकी समाज मे गोरे लोगो के समान नही समझे जाते। हमारे यहाँ जाति व्यवस्था के फलस्वरूप ऊँच-नीच की व्यवस्था मौजूद है। हमारे समाज मे वहुत अर्से से पर्याप्त संख्या वाले लोगो को अछूत समझा जाता रहा है। नए सविधान के अन्तर्गत इस व्यवस्था की समाप्ति की घोषणा की गई है और छुआछूत को गैरकानूनी करार दे दिया गया है, तो भी समाज में किसी-न-किसी रूप मे अभी भी इसका प्रचलन है। हिन्दुओं के यहाँ अनेक जातियाँ तथा उपजातियाँ है जिनमे ऊँच-नीच की व्यवस्था मिलती है, उनमे आपस मे लेन-देन तथा शादी-विवाह का कोई रिवाज नही।

मध्यकालीन यूरोप मे पादरी तथा सामान्त वर्ग से सम्वन्धित लोगो की समाज मे विशेष स्थिति होती थी, अव वहाँ धन के आधार पर सामाजिक पोजीशन को आँका जाता है।

सामाजिक समानता को केवल मात्र कानून से ही प्राप्त नही किया जा सकता उसके लिए शिक्षा व्यवस्था, नैतिक मानदण्ड तथा आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तन की आवश्यकता है। सोवियत रूस ही शायद एक मात्र ऐसा राज्य है, जहाँ समाज में

की प्राप्ति विषयक भेदभाव विवेक या बल की भिन्नता पर आधारित नही। विशेषाधिकार सम्पन्न वर्गो की उपस्थिति रहती है, और धर्म, जाति, वर्ण, रग तथा सम्पत्ति के आधार पर विभिन्न सामाजिको मे भेदभाव किया जाता है, और सभी सामाजिको को विना भेदभाव के आत्मविकास के अवसर प्राप्त नही होते। इस प्रकार का भेदभाव तर्क-सगत नहीं और न वह ईश्वर की देन है। यदि पाकिस्तान मे हिन्दू नागरिक राष्ट्रपति नहीं बन सकता इसका अर्थ यह नही कि भगवान् ने हिन्दुओ को राष्ट्रपति पद सम्भालने के अयोग्य वनाया है। इसी प्रकार यदि रग, जाति या सम्पत्ति के आधार पर राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारो का बटवारा किया जाय और काले रग के, छोटी जाति वाले तथा निर्धन लोगो को उन अधिकारो से वचिन किया जाय तो इसका अर्थ यह नही कि ऐसा भेदभाव दैवीय रचना है, यह तो मनुष्य रचित है। हमारे यहाँ सदियो तक हरिजनो पर अत्याचार किए गए और उन्हे शिक्षा प्राप्ति तक के अधिकारो से वचित रखा गया। इस प्रकार अनेक प्रतिभावान गरीव लडके केवल अपनी निर्धनता के कारण ही उच्चशिक्षा से वचित रह जाते हैं, और धनियो के पुत्र मूर्ख होते हुए भी थोडे बहुत शिक्षित हो अपार धन राशि के स्वामी वन जाते हैं। इस प्रकार उपयुक्त अवसरो की अप्राप्ति वहुसख्यक लोगो को आत्मोन्नति का मौका ही नही देती। समाज मे इस प्रकार की असमानता को खत्म करने का नाम ही समानता है, न कि प्रकृति या ईश्वर द्वारा पैदा की गई मनुष्य मे पाई जाने वाली असमानताओ को।

अत समानता से हमारा मतलब यही है कि एक समाज मे उत्पन्न होने वाले अमीर-गरीव सभी को आत्मोन्नति के उपयुक्त अवसरो की प्राप्ति हो। इस रूप में समानता का अर्थ यह है कि समाज मे विशेषाधिकारो की व्यवस्था खत्म हो, लोगों मे जाति-पाति, रग, लिंग तथा धर्म इत्यादि के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव न किया जाय, राजनीतिक सत्ता प्राप्ति मे सभी को समान अधिकार हो, कानून के सम्मुख सभी वरावर हो और समाज के विभिन्न वर्गो मे गहरा आर्थिक भेदभाव न हो।

समानता के प्रकार (Types of equality)—समाज मे रहने वाले नागरिको को आत्मोन्नति के लिए विभिन्न प्रकार के अवसरों की आवश्यकता होती है, इन्हें ही समानता के अनेक प्रकार कहते हैं। वर्तमान युग में समानता के निम्नलिखित प्रमुख प्रकार माने जाते हैं—

१. नागरिक समानता (Civil equality)—हम पीछे देख चुके हैं कि नागरिको को अनेक प्रकार के सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं, इन्ही अधिकारो के समान उपभोग का नाम ही नागरिक समानता है। सामाजिक अधिकारो के अन्तर्गत जीवन का अधिकार, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, शिक्षा तथा सस्कृति सम्बन्धी अधिकार और भाषण की स्वतन्त्रता सम्बन्धी अनेक अधिकार आ जाते हैं। ये सभी अधिकार सभी नागरिको को समान रूप से प्राप्त होने चाहिएँ।

नागरिक समानता के अन्तर्गत वैधानिक समानता भी आजाती है। वैधानिक समानता का अर्थ है कि कानून की दृष्टि में सभी नागरिक एक समान हो। न्यायालय

चाहिए और उसे विश्राम का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। सरकार प्रत्येक नागरिक के लिए काम-काज की व्यवस्था करे और बेकार तथा अक्षम और वृद्ध लोगों की आर्थिक सहायता करे। आर्थिक समानता का यह भी अर्थ है कि राज्य समाज में पूंजी की तथा उत्पादन के साधनों के नियन्त्रण को कुछेक व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित न होने दे। ऐसे केन्द्रीकरण का फल बहुत बुरा होता है क्योंकि ऐसी अवस्था में ही मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण सम्भव है। अत राज्य को यह देखना चाहिए कि समाज में प्राप्य उत्पादन के वितरण की असमान तथा दोष पूर्ण व्यवस्था पनप न सके। इसका एक मात्र हल समाजवादी अर्थ व्यवस्था की स्थापना है।

सोवियत रूस मे उपर्युक्त अर्थ मे आर्थिक समानता की स्थापना हो चुकी है। वहाँ नागरिको के लिए काम-काज की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सरकार पर है, पूंजी का केन्द्रीकरण भी नही और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की व्यवस्था का भी अभाव है। इसके विपरीत ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत इत्यादि देशो मे गम्भीर आर्थिक असमानता मौजूद है।

१६० समानता तथा स्वतन्त्रता (Equality and Liberty)

अनेक राजनीतिक विचारक समानता तथा स्वतन्त्रता मे विरोध मानते है। उनका कथन है कि समानता की उपस्थिति मे स्वतन्त्रता खत्म हो जाती हे और स्वतन्त्रता का अर्थ तो असमानता है ही। डी टाकविल तथा लार्ड एक्टन दोनो का यही विचार है कि समानता स्वतन्त्रता की शत्रु है। लार्ड एक्टन का कथन है कि 'समानता की इच्छा ने स्वतन्त्रता की उम्मीद को खत्म कर दिया है।"

ऊपर से देखने मे समानता तथा स्वतन्त्रता मे अवश्य ही विरोध नजर आता है, क्योंकि भगवान् सभी व्यक्तियो को समान क्षमताओ तथा एक जैसे शारीरिक तथा मानसिक गुणो से सम्पन्न नही करता। बुद्धिमान, परिश्रमी तथा शक्ति-सम्पन्न लोगो को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे अपनी प्रकृति द्वारा दी गई योग्यताओं का पूरा-पूरा लाभ उठाएँ और धन एकत्रित करें, राज्य सत्ता प्राप्त कर दूसरो पर शासन करें इस प्रकार स्वतन्त्रता की उपस्थिति मे विभिन्न वर्गों मे असमानता उत्पन्न हो जायगी। आलसी अयोग्य तथा अक्षम व्यक्ति जीवन की दौड मे पीछे रह जाएँगे, और उन्हे रहना भी चाहिए, क्योंकि वे प्रकृति से ही कमजोर है और प्रतिभावान लोगो के बराबर नही।

स्पैन्सर ने भी कुछ इसी ढग पर स्वतन्त्रता के अपहरण के विरुद्ध दलीलें दी है। वे स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण मे विरोध को अवस्थित देखते हैं। स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर आधारित समाज मे समानता की भावना व्यर्थ है।

परन्तु स्वतन्त्रता तथा समानता को परस्पर विरोधी धारणाएँ समझना गलत है, किसी भी समाज मे पूर्ण या अबाध स्वतन्त्रता की उपस्थिति सम्भव नही। हम पीछे देख आए है कि स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन मे ही सम्भव है, समाज से बाहर तो वह उच्छृ खलता है। सामाजिक जीवन मे स्वतन्त्रता का उपभोग कुछेक पाबन्दियो के अन्तर्गत ही सम्भव है। इसी प्रकार समानता स्वतन्त्रता की विरोधी नही बल्कि

जाति-पाति, धर्म रंग तथा लिंग इत्यादि के आधार पर समाज के विभिन्न वर्गों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता।

(३) राजनीतिक समानता (Political equality)—राज्य शासन के संचालन में सभी नागरिकों के समान अधिकार को राजनीतिक समानता कहा जाता है। पीछे हम राजनीतिक अधिकारों की चर्चा कर आए हैं और देख चुके हैं कि प्रत्येक नागरिक को वोट देने, सरकारी पद प्राप्त करने तथा विधानपालिका के सदस्य चुने जाने के अधिकार होने चाहिए। इस विषय में किसी भी आधार पर नागरिकों में भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। अवश्य ही नाबालिग, पागल, अपराधी तथा दिवालिए को यह अधिकार प्राप्त नहीं होने चाहिए। पहले धर्म, शिक्षा तथा सम्पत्ति, इत्यादि के आधार पर इन अधिकारों के उपभोग की भेदभाव पूर्ण व्यवस्था रहती थी, अनेक स्थानों पर स्त्रियों को भी राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। परन्तु अब तो प्राय सभी लोकतन्त्रात्मक देशों में राजनीतिक समानता की व्यवस्था की गई है। स्विट्ज़रलैण्ड में अभी भी स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं।

राजनीतिक समानता के संरक्षण के लिए राज्य-शक्ति के विकेन्द्रीकरण, स्वायत्त शासन पूर्ण संस्थाओं के विकास, उच्च शिक्षा तथा जागरूक जनमत की आवश्यकता रहती है।

(४) आर्थिक समानता (Economic equality)—राजनीतिक तथा सामाजिक समानता का आधार आर्थिक समानता है, क्योंकि आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक शक्ति समाज के उसी वर्ग के हाथ में केन्द्रित हो जाएगी जोकि आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होगा। आज के प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में सभी जगह विधानपालिकाओं में आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्ग ने कब्जा जमा रखा है। मार्क्स के कथन में पर्याप्त सत्यता है कि अर्थ-तन्त्र पर अधिकार जमाने वाला वर्ग राजनीतिक शक्ति को अपने नियन्त्रण में रख सकता है।

आज के प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में, जहाँ कि राजनीतिक समानता मौजूद है, आर्थिक दृष्टि से कमजोर लोग अपने राजनीतिक अधिकारों का समुचित प्रयोग नहीं कर पाते। समाज स्पष्ट रूप से तीन प्रमुख वर्गों में बँटा हुआ है—(१) पूंजीपति वर्ग, (२) मध्यवित्त वर्ग, और (३) मजदूर वर्ग। उत्पादनों के साधनों पर पूंजीपति वर्ग का कब्जा है इसी कारण राजनीतिक शक्ति भी उन्हीं के हाथ में है।

आर्थिक समानता से हमारा क्या मतलब है? आर्थिक समानता से हमारा यह मतलब नहीं कि सभी नागरिकों की एक समान आय हो या सभी नागरिकों के आर्थिक साधन एक जैसे हों। समाज के सभी सदस्यों में धन का एक सा बँटवारा असम्भव है। प्रत्येक मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ही असम्भव नहीं बल्कि जिन्दा रहना ही मुश्किल है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समुचित आर्थिक साधनों की उपस्थिति लाजमी है। अत प्रत्येक व्यक्ति को जीवकोपार्जन का अधिकार होना चाहिए, उसे अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार प्राप्त होना चाहिए, उसके काम करने के घण्टे निश्चित होने

चाहिए और उसे विश्राम का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। सरकार प्रत्येक नागरिक के लिए काम-काज की व्यवस्था करे और बेकार तथा अक्षम और वृद्ध लोगो की आर्थिक सहायता करे। आर्थिक समानता का यह भी अर्थ है कि राज्य समाज मे पूंजी की तथा उत्पादन के साधनो के नियन्त्रण को कुछेक व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित न होने दे। ऐसे केन्द्रीकरण का फल बहुत बुरा होता है क्योंकि ऐसी अवस्था मे ही मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण सम्भव है। अत राज्य को यह देखना चाहिए कि समाज मे प्राप्य उत्पादन के वितरण की असमान तथा दोष पूर्ण व्यवस्था पनप न सके। इसका एक मात्र हल समाजवादी अर्थ व्यवस्था की स्थापना है।

सोवियत रूस मे उपर्युक्त अर्थ मे आर्थिक समानता की स्थापना हो चुकी है। वहाँ नागरिको के लिए काम-काज की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सरकार पर है, पूंजी का केन्द्रीकरण भी नही और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की व्यवस्था का भी अभाव है। इसके विपरीत ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत इत्यादि देशो मे गम्भीर आर्थिक असमानता मौजूद है।

१६० समानता तथा स्वतन्त्रता (Equality and Liberty)

अनेक राजनीतिक विचारक समानता तथा स्वतन्त्रता मे विरोध मानते है। उनका कथन है कि समानता की उपस्थिति मे स्वतन्त्रता खत्म हो जाती है और स्वतन्त्रता का अर्थ तो असमानता है ही। डी टाकविल तथा लार्ड एक्टन दोनो का यही विचार है कि समानता स्वतन्त्रता की शत्रु है। लार्ड एक्टन का कथन है कि 'समानता की इच्छा ने स्वतन्त्रता की उम्मीद को खत्म कर दिया है।"

ऊपर से देखने से समानता तथा स्वतन्त्रता मे अवश्य ही विरोध नजर आता है, क्योंकि भगवान् सभी व्यक्तियो को समान क्षमताओ तथा एक जैसे शारीरिक तथा मानसिक गुणो से सम्पन्न नही करता। बुद्धिमान, परिश्रमी तथा शक्ति-सम्पन्न लोगो को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे अपनी प्रकृति द्वारा दी गई योग्यताओ का पूरा-पूरा लाभ उठाएँ और धन एकत्रित करे, राज्य सत्ता प्राप्त कर दूसरो पर शासन करे इस प्रकार स्वतन्त्रता की उपस्थिति मे विभिन्न वर्गो मे असमानता उत्पन्न हो जायगी। आलसी अयोग्य तथा अक्षम व्यक्ति जीवन की दौड मे पीछे रह जाएँगे, और उन्हे रहना भी चाहिए, क्योंकि वे प्रकृति से ही कमजोर है और प्रतिभावान लोगो के बराबर नही।

स्पेन्सर ने भी कुछ इसी ढग पर स्वतन्त्रता के अपहरण के विरुद्ध दलीले दी है। वे स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण मे विरोध को अवस्थित देखते है। स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर आधारित समाज मे समानता की भावना व्यर्थ है।

परन्तु स्वतन्त्रता तथा समानता को परस्पर विरोधी धारणाएँ समझना गलत है, किसी भी समाज मे पूर्ण या अबाध स्वतन्त्रता की उपस्थिति सम्भव नही। हम पीछे देख आए है कि स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन मे ही सम्भव है, समाज से बाहर तो वह उच्छृंखलता है। सामाजिक जीवन मे स्वतन्त्रता का उपभोग कुछेक पाबन्दियो के अन्तर्गत ही सम्भव है। इसी प्रकार समानता स्वतन्त्रता की विरोधी नही बल्कि

उसकी पोषक है। समानता का अर्थ ईश्वर द्वारा रचित असमानताओ की अस्वीकृति नही अपितु मनुष्य रचित सामाजिक जीवन की असमानताओ को दूर करना है। समानता का अर्थ तो इतना ही है कि सभी नागरिको को आत्मोन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त हो। अगर राज्य पूजी के केन्द्रीकरण पर पावन्दी लगाता है तो वह एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का भले ही अपहरण करता हो परन्तु अन्य हजारो नागरिको की स्वतन्त्रता की व्यवस्था करता है। पूजीवादी देशो मे राजनीतिक समानता प्राप्त है, परन्तु उसका उपभोग आर्थिक असमानता के कारण नही हो पाता। प्रो० लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि आर्थिक असमानता स्वतन्त्रता के लिए घातक है। आर्थिक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के अन्य नागरिको की अपेक्षा स्वतन्त्रता का अधिक उपभोग करते हैं। इसी प्रकार कानून की दृष्टि मे तो सभी नागरिक वरावर हैं, परन्तु गरीव आदमी आर्थिक साधनो के अभाव मे अमीर आदमी के विरुद्ध मुकदमे जीत नही पाता। चुनाव मे अगर एक ओर एक पूजीपति खडा हो और दूसरी ओर एक गरीव नागरिक, वहुत सम्भव है, अपनी योग्यता तथा कार्यकुशलता के वावजूद वह एक अयोग्य धनपति द्वारा हरा दिया जाय। अत समानता तो अधिक-से-अधिक लोगो की अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता प्राप्ति मे सहायक होती है। जहाँ स्वतन्त्रता का अर्थ यह नही कि मनुष्य जो चाहे करे वहाँ समानता का अर्थ यह भी नहीं कि सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के काम करें तथा एक ही प्रकार की उनकी आमदनी हो। समानता की उपस्थिति मे अधिक से अधिक सख्या मे लोग समुचित स्वतन्त्रता उपभोग कर सकते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ कुछेक लोगो द्वारा विशेषाधिकार का उपभोग नही, इस रूप मे स्वतन्त्रता समानता की ही नही वल्कि सामाजिकता की भी शत्रु है।

प्रजातन्त्र के व्यावहारिक प्रयोग ने स्वतन्त्रता तथा समानता दोनो की पारस्परिक घनिष्ठता को सिद्ध कर दिया है, साथ ही यह भी साबित हो गया है कि प्रजातन्त्र के विकास के साथ-साथ वास्तविक स्वतन्त्रता की अनुभूति के लिए सामाजिक तथा आर्थिक विषमता का विलोप भी लाजमी है।

Important Questions

	Reference
1 Define Liberty and Equality Are the two necessarily uncompatible ? (*Pb 1953 Sept 1950 Sept*)	Arts 156 and 160
2 Define 'Law' and 'Liberty' and discuss the relationship between them (*Pb 1953, 1946*)	Art 156
3 What are the different kinds of Liberty secured to individuals in advanced democratic States ? Discuss their importance (*Pb 1952*)	Art 157
4 Discuss the different meaning of the term 'liberty' (*Pb 1939, 1943, Ag 1942, Cal 1939, Nag 1934, Bom 1941*) *Or* 'Liberty is absence of restraint' Explain.	- Art 156
5 "Political liberty in the absence of economic equality is held to be a mere myth"—(Laski) Discuss (*Agra 1937*)	Art 159
6 Distinguish between Civil and Political Liberty and indicate the content of Civil Liberty (*Bom 1938, 1937*)	Art 157

स्थानीय स्वशासन

१६१. स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता

पिछले अध्यायो मे हम देख आए है कि वर्तमान युग मे राज्य के अधिकार क्षेत्र व कर्त्तव्यो मे असाधारण वृद्धि हुई है। एक समय था जब कि राज्य केवल कानून व व्यवस्था बनाए रखने के लिए ही जिम्मेदार था। आज तो यह विश्वास किया जाता है कि राज्य ही अपने नागरिको के आध्यात्मिक व भौतिक कल्याण के लिए जिम्मेदार है। अपने इन कर्त्तव्यो को पूरा करने के लिए राज्य को अनेक क्षेत्रों मे काम करना पड रहा है। राज्य की शक्तियो की इस प्रकार की असाधारण अभिवृद्धि के फलस्वरूप प्रशासकीय कुशलता व व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धो विषयक अनेक प्रकार की नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। प्रशासन के केन्द्रीकरण का यह नतीजा हुआ है कि प्रशासन की मशीनरी बहुत जटिल हो गई है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के होते हुए भी नागरिको का उस पर कोई प्रत्यक्ष नियत्रण नहीं, वे उसकी दैनिक कार्यवाही मे हिस्सा नही ले पाते। आज का नागरिक राज्य की कार्यवाहियो का एक असहाय पर्यवेक्षक (Passive Observer) ही बनकर रह गया है। राज्य की भारी भरकम मशीनरी मे उसकी स्थिति एक बेजान पुर्जे की सी बन गई है। राज्य की कार्यवाही मे व्यक्ति के उत्साह को पुनर्जागृत करने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि प्रशासन की मशीनरी का सगठन इस ढग से किया जाय कि वह सरकार के सचालन मे अधिक से अधिक प्रत्यक्ष हिस्सा ले सके। स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ इस उद्देश्य की प्राप्ति मे बहुत सहायक होती हैं।

प्रशासन शक्ति का केन्द्रीकरण वैयक्तिक स्वतन्त्रता को खत्म करता है और तानाशाही को जन्म देता है। शासन शक्ति के केन्द्रीकरण के फलस्वरूप नौकरशाही का विकास हो जाता है। सरकारी मशीनरी हृदयहीन बन जाती है। जन-साधारण के अधिकारो की उपेक्षा की जाती हैं, व्यक्ति की महत्ता घट जाती है। प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओ का ठीक-ठीक इस्तेमाल तभी सम्भव है जब कि उनका स्थानीय व केन्द्रीय दोनो ही आधार पर सगठन किया जाए। महात्मा गाधी ने भी विकेन्द्रीकृत शासन संगठन का समर्थन किया है। उनका विश्वास था कि न केवल राजनीतिक बल्कि आर्थिक शक्तियो का भी विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। तानाशाही का विकास अक्सर उन्ही राज्यो मे होता है जहाँ शासन शक्ति का अत्यधिक केन्द्रीकरण किया गया हो। प्रशासकीय कुशलता के लिए भी स्थानीय सस्थाओ का सगठन आवश्यक है, क्योकि अत्यधिक केन्द्रीकरण के फलस्वरूप शासन संचालन मे शिथिलता आ जाती है। सरकारें जब

उसकी पोषक है। समानता का अर्थ ईश्वर द्वारा रचित असमानताओ की अस्वीकृति नही अपितु मनुष्य रचित सामाजिक जीवन की असमानताओ को दूर करना है। समानता का अर्थ तो इतना ही है कि सभी नागरिको को आत्मोन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त हो। अगर राज्य पूजी के केन्द्रीकरण पर पाबन्दी लगाता है तो वह एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का भले ही अपहरण करता हो परन्तु अन्य हजारो नागरिको की स्वतन्त्रता की व्यवस्था करता है। पूजीवादी देशो मे राजनीतिक समानता प्राप्त है, परन्तु उसका उपभोग आर्थिक असमानता के कारण नही हो पाता। प्रो० लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि आर्थिक असमानता स्वतन्त्रता के लिए घातक है। आर्थिक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के अन्य नागरिको की अपेक्षा स्वतन्त्रता का अधिक उपभोग करते है। इसी प्रकार कानून की दृष्टि मे तो सभी नागरिक बराबर हैं, परन्तु गरीब आदमी आर्थिक साधनो के अभाव मे अमीर आदमी के विरुद्ध मुकदमे जीत नही पाता। चुनाव मे अगर एक ओर एक पूजीपति खडा हो और दूसरी ओर एक गरीब नागरिक, बहुत सम्भव है, अपनी योग्यता तथा कार्यकुशलता के बावजूद वह एक अयोग्य धनपति द्वारा हरा दिया जाय। अत समानता तो अधिक-से-अधिक लोगो की अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता प्राप्ति मे सहायक होती है। जहाँ स्वतन्त्रता का अर्थ यह नही कि मनुष्य जो चाहे करे वहाँ समानता का अर्थ यह भी नहीं कि सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के काम करें तथा एक ही प्रकार की उनकी आमदनी हो। समानता की उपस्थिति मे अधिक से अधिक सख्या मे लोग समुचित स्वतन्त्रता उपभोग कर सकते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ कुछेक लोगो द्वारा विशेषाधिकार का उपभोग नही, इस रूप मे स्वतन्त्रता समानता की ही नही बल्कि सामाजिकता की भी शत्रु है।

प्रजातन्त्र के व्यावहारिक प्रयोग ने स्वतन्त्रता तथा समानता दोनो की पारस्परिक घनिष्ठता को सिद्ध कर दिया है, साथ ही यह भी साबित हो गया है कि प्रजातन्त्र के विकास के साथ-साथ वास्तविक स्वतन्त्रता की अनुभूति के लिए सामाजिक तथा आर्थिक विषमता का विलोप भी लाजमी है।

Important Questions

	Reference
1 Define Liberty and Equality Are the two necessarily uncompatible? (*Pb 1953 Sept 1950 Sept*)	Arts 156 and 160
2 Define 'Law' and 'Liberty' and discuss the relationship between them (*Pb 1953, 1946*)	Art. 156
3 What are the different kinds of Liberty secured to individuals in advanced democratic States? Discuss their importance (*Pb 1952*)	Art 157
4 Discuss the different meaning of the term 'liberty' (*Pb 1939, 1943, Ag 1942, Cal 1939, Nag 1934, Bom 1941*) *Or* 'Liberty is absence of restraint' Explain	Art 156
5 "Political liberty in the absence of economic equality is held to be a mere myth"—(Laski) Discuss (*Agra 1937*)	Art 159
6 Distinguish between Civil and Political Liberty and indicate the content of Civil Liberty (*Bom 1938, 1937*)	Art 157

सविधान मे प्राप्त होती है जबकि स्थानीय सरकारे केन्द्रीय सरकार द्वारा कानून बना कर रची जाती हैं। इस प्रकार स्थानीय सस्थाएँ केन्द्रीय सरकार की ही रचना मात्र है। लेकिन स्थानीय सरकारो को स्वायतता (Autonomy) प्राप्त होती है, कानून द्वारा उनके अधिकार व कर्त्तव्य निश्चित कर किए जाते हैं जिनमे केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारे बहुत कम दखल देती हैं। स्थानीय स्वशासन सस्थाओ को भी अपने कानून बनाने व उन्हे लागू करने के सीमित अधिकार प्राप्त होते हैं। हमारे यहाँ पर स्थानीय सरकार (Local Government) शब्द का इस्तेमाल एक अन्य अर्थ मे भी किया जाता है। १९३५ के ऐक्ट के लागू होन से पूर्व भारत मे एकात्मक सरकार (Unitary Government) मौजूद थी। उन दिनो प्रशासकीय शक्तियो का सीमित आधार पर विकेन्द्रीकरण किया गया था और प्रान्तीय सरकार को स्थानीय सरकार के नाम से भी पुकारा जाता था। आज भी कभी-कभी राज्य सरकार को स्थानीय सरकार कहा जाता है। लेकिन असल मे प्रान्तीय या राज्य सरकार प्रादेशिक सरकार है, स्थानीय सरकार के अन्तर्गत म्युनिस्पल कमेटी, पचायत व कारपोरेशन इत्यादि को ही शामिल किया जाता है।

हमारे यहाँ स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ बहुत पुराने समय से ही मौजूद थी। प्राचीनकाल मे गाँवो व नगरो की स्थानीय समस्याओ के सुलझाव के लिए पचायतो व नगर-समितियो का सगठन किया गया था। गाँवो मे स्थित पचायतो को पर्याप्त स्वायत्त शासन प्राप्त होता था, पचो की बडी मान्यता थी और स्थानीय मामलो मे केन्द्रीय सरकार दखल नही देती थी। ये पचायते छोटे-छोटे गणतन्त्रो की तरह थी। सर चार्ल्स मेटकाफ ने भारत की पचायती व्यवस्था की बडी तारीफ की है। ये पंचायते भारत मे वैदिक व हिन्दु-काल से लेकर मुगल शासन के अन्तिम दिनो तक कायम रही। बडे-बडे साम्राज्य बने व टूट गए, कई राजवश उदय हुए और मिट गए लेकिन गाँवो का पचायती सिस्टम ज्यो का त्यो काम करता रहा, उसकी कार्य प्रणाली व शक्ति मे कोई अन्तर न आया। अवश्य ही जब हमारे देश मे अग्रेजी साम्राज्य की स्थापना हो गई तो उस समय शासन शक्ति का बहुत ही केन्द्रीकरण कर पचायतो को खत्म कर दिया गया। अग्रेजी शासन मे केन्द्रीय सरकार ही सभी मामलो का नियत्रण करने लगी और वही दूर-दूर स्थित प्रदेशो की समस्याओ को अपने आप सुलझाने लगी। लेकिन शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि यह व्यवस्था असन्तोष जनक है, इससे शासन सचालन मे शिथलता आ गई। कुछेक उदार व दूरदर्शी अग्रेज शासको ने भारत मे स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के पुनर्गठन के प्रयत्न शुरू किए। सर्वप्रथम कलकत्ता, मद्रास, बम्बई मे अग्रेजी स्थानीय शासन प्रणाली के आधार पर कारपोरेशन कायम किए गए। इन कारपोरेशनो को सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य, प्रारम्भिक शिक्षा, उपयोगिता मूलक सेवाओ के सगठन इत्यादि विषय सौंपे गए। धीरे-धीरे देश के अन्य बडे-बडे शहरो मे नगरपालिकाएँ, म्युनिस्पल कमेटियाँ कायम की गई। एक समय ऐसा भी आया जब ब्रिटिश सरकार ने भारत मे पचायती स्वराज्य के पुनर्गठन के प्रयत्न भी प्रारम्भ किए। लेकिन ब्रिटिश शासनकाल मे स्थानीय स्वशासन सस्थाओ को बहुत कम

सभी तरह के कार्य स्वय पूर्ण करने लगें तो वे किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक नही कर सकेंगी। प्रशासन की कुशलता के लिए श्रम विभाजन (Division of Labour) जरूरी है।

स्थानीय स्वशासन का अर्थ—अब तक हमने स्थानीय स्वशासन शब्दो के अर्थ की व्याख्या नही की। स्थानीय स्वशासन के अन्तर्गत म्युनिसपल बोर्ड, जिला बोर्ड, ग्राम पचायत, कैण्ट बोर्ड, इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट व पोर्ट ट्रस्ट इत्यादि ऐसी सस्थाएँ शामिल की जाती हैं, जो किसी विशेष हल्के के स्थानीय हितो की देख-भाल करती हैं। स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ अक्सर शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य व सफाई पानी रोशनी, नालियो सडको व पुलो का निर्माण इत्यादि विषयो का प्रबन्ध करती हैं। वैयक्तिक जीवन मे इन विषयो का बहुत महत्त्व है, लेकिन इनका सगठन राष्ट्रीय पैमाने पर आवश्यक नही है। इन विषयो का प्रबन्ध उन्ही लोगो द्वारा किया जाना चाहिए जिनके जीवन से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

स्थानीय स्वशासन के अर्थो को ठीक-ठीक रूप से समझने के लिए यहाँ हमे केन्द्रीय व स्थानीय सरकारो मे क्या अन्तर है। यह भी देख लेना चाहिए। प्रा० मेकआइवर के मतानुसार केन्द्रीय व स्थानीय सरकारो के कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न हैं, और इसी आधार पर दोनो मे अन्तर किया जाता है। मेकआइवर के मतानुसार राज्य के कर्त्तव्य तीन प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के कर्त्तव्यो के अन्तर्गत वे सभी कर्त्तव्य आ जाते हैं जो राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन से होता है। ऐसे विषयो मे युद्ध व शान्ति स्थापन, विदेशी-सम्बन्धो का नियत्रण, सिक्के व नोट, बैंकिग, उद्योग-धन्धो की उन्नति, यातायात व परिवहन के साधन, नागरिको के अधिकार व कर्त्तव्य इत्यादि शामिल किए जाते हैं। इन विषयो का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार करती है।

दूसरे प्रकार के वे कर्त्तव्य हैं जिनका सम्बध अवश्य ही सम्पूर्ण समाज से होता है लेकिन जिनके कुशल शासन के लिए विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था की आवश्यकता होती है। न्याय प्रशासन, पुलिस सगठन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिचाई, दस्तकारी, जेल, कानून व व्यवस्था, सहकारी आन्दोलन, सार्वजनिक सेवाएँ इत्यादि ऐसे विषय हैं जिनके प्रशासन की जिम्मेदारी प्रादेशिक सरकारो को सौंपी जाती है।

तीसरे प्रकार के वे विषय हैं जिनका स्थानीय महत्त्व है और जिनके कुशल प्रशासन के लिए स्थानीय अनुभव तथा बुद्धि की आवश्यकता है। ऐसे विषयो मे गलियो, सडको व सार्वजनिक स्थानो पर रोशनी व सफाई का प्रबन्ध, बिजली, गैस व पीने योग्य पानी की सप्लाई, ट्राम्बे या बस चलाना, दूध, फल व सब्जी की सप्लाई, पार्क व मनोरजन स्थल बनाना इत्यादि शामिल किए जाते हैं। इन्ही विषयो का प्रबन्ध म्युनिस्पल कमेटियो, जिला बोर्डो व पचायतो द्वारा किया जाता है।

केन्द्रीय व स्थानीय सरकारो मे किए जाने वाले अन्तर का एक अन्य आधार दोनो की सवैधानिक पोजीशन का है। स्थानीय सरकारें केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारो के बराबर नहीं होती, वे उनके अधीन होती हैं। वस्तुत केन्द्रीय सरकारो को तो अपनी शक्तियाँ

संविधान से प्राप्त होती हैं जबकि स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार द्वारा कानून बना कर रची जाती हैं। इस प्रकार स्थानीय संस्थाएँ केन्द्रीय सरकार की ही रचना मात्र हैं। लेकिन स्थानीय सरकारों को स्वायत्तता (Autonomy) प्राप्त होती है, कानून द्वारा उनके अधिकार व कर्त्तव्य निश्चित कर दिए जाते हैं जिनमे केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारें बहुत कम दखल देती हैं। स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को भी अपने कानून बनाने व उन्हें लागू करने के सीमित अधिकार प्राप्त होते हैं। हमारे यहाँ पर स्थानीय सरकार (Local Government) शब्द का इस्तेमाल एक अन्य अर्थ मे भी किया जाता है। १९३५ के ऐक्ट के लागू होने से पूर्व भारत मे एकात्मक सरकार (Unitary Government) मौजूद थी। उन दिनों प्रशासकीय शक्तियों का सीमित आधार पर विकेन्द्रीकरण किया गया था और प्रान्तीय सरकार को स्थानीय सरकार के नाम से भी पुकारा जाता था। आज भी कभी-कभी राज्य सरकार को स्थानीय सरकार कहा जाता है। लेकिन असल में प्रान्तीय या राज्य सरकार प्रादेशिक सरकार है, स्थानीय सरकार के अन्तर्गत म्युनिसपल कमेटी, पंचायत व कारपोरेशन इत्यादि को ही शामिल किया जाता है।

हमारे यहाँ स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ बहुत पुराने समय से ही मौजूद थी। प्राचीनकाल मे गाँवों व नगरों की स्थानीय समस्याओं के सुलझाव के लिए पंचायतों व नगर-समितियों का संगठन किया गया था। गाँवों मे स्थित पंचायतों को पर्याप्त स्वायत्त शासन प्राप्त होता था, पंचों की बड़ी मान्यता थी और स्थानीय मामलों में केन्द्रीय सरकार दखल नहीं देती थी। ये पंचायतें छोटे-छोटे गणतन्त्रों की तरह थीं। सर चार्ल्स मेटकाफ ने भारत की पंचायती व्यवस्था की बड़ी तारीफ की है। ये पंचायतें भारत मे वैदिक व हिन्दु-काल से लेकर मुगल शासन के अन्तिम दिनों तक कायम रहीं। बड़े-बड़े साम्राज्य बने व टूट गए, कई राजवंश उदय हुए और मिट गए लेकिन गाँवों का पंचायती सिस्टम ज्यों का त्यों काम करता रहा, उसकी कार्य प्रणाली व शक्ति मे कोई अन्तर न आया। अवश्य ही जब हमारे देश मे अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना हो गई तो उस समय शासन शक्ति का बहुत ही केन्द्रीकरण कर पंचायतों को खत्म कर दिया गया। अंग्रेजी शासन मे केन्द्रीय सरकार ही सभी मामलों का नियन्त्रण करने लगी और वही दूर-दूर स्थित प्रदेशों की समस्याओं को अपने आप सुलझाने लगी। लेकिन शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि यह व्यवस्था असन्तोष जनक है, इससे शासन संचालन मे शिथलता आ गई। कुछेक उदार व दूरदर्शी अंग्रेज शासकों ने भारत में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के पुनर्गठन के प्रयत्न शुरू किए। सर्वप्रथम कलकत्ता, मद्रास, बम्बई मे अंग्रेजी स्थानीय शासन प्रणाली के आधार पर कारपोरेशन कायम किए गए। इन कारपोरेशनों को सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य, प्रारम्भिक शिक्षा, उपयोगिता मूलक सेवाओं के संगठन इत्यादि विषय सौंपे गए। धीरे-धीरे देश के अन्य बड़े-बड़े शहरों मे नगरपालिकाएँ, म्युनिस्पल कमेटियाँ कायम की गईं। एक समय ऐसा भी आया जब ब्रिटिश सरकार ने भारत मे पंचायती स्वराज्य के पुनर्गठन के प्रयत्न भी प्रारम्भ किए। लेकिन ब्रिटिश शासनकाल मे स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को बहुत कम

अधिकार प्राप्त थे, उनकी शक्तियाँ बहुत सीमित थी और सरकारी अप
को उनमे दखल देने के अनेक अधिकार प्राप्त थे। इसलिए आम जनता ने स्थ
स्वशासन सस्थाओ के काम-काज मे कोई विशेष दिलचस्पी न दिखायी।
से हमारा देश स्वाधीन हुआ है, स्वशासन-सस्थाओं के विकास की ओर f
ध्यान दिया जा रहा है। स्थानीय स्वशासन (Local Self Governm
राज्य सरकारो के अधीन है। लगभग सभी राज्यो मे कानून बनाकर पचाय
म्युनिसपल कमेटियाँ कायम की गई हैं, उनके अधिकारो मे वृद्धि की गई है
उन्हे स्वतन्त्र वित्तीय स्रोत प्रदान किए गए हैं। अब उनके अधिकार क्षेत्र के बढ
के फलस्वरूप व उनमे सरकारी दखल की कमी के कारण, आम-लोग उनके काम
मे काफी दिलचस्पी लेने लगे हैं। हमारे यहाँ स्थानीय स्वायत्त शासन व्यवस्
भविष्य पर्याप्त उज्जवल है।

इग्लैण्ड, फ्रास, सयुक्त राज्य अमेरिका व स्विट्जरलैण्ड इत्यादि प्रजा
वादी देशो मे भी बडे पैमाने पर स्थानीय स्वशासन सस्थाओं का विकास
है। जहाँ फ्रास मे स्थानीय स्वशासन सस्थाओ पर केन्द्रीय सरकार का बडा
नियत्रण है वहाँ इग्लैण्ड और स्विट्जरलैण्ड मे उन्हे विशाल अधिकार व श
प्राप्त हैं। औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत होने के कारण इन देशो की स्वायत्त
सस्थाएँ अत्यन्त उपयोगी व महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती हैं। इन देश
स्थानीय सरकारें जनसाधारण के नागरिक जीवन को सुविधापूर्ण बनाने में
सफल हुई हैं।

स्थानीय सरकारों के कार्य (Functions of the Local Governm
स्थानीय स्वशासन सस्थाओ को अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न करने पडते हैं।
नीचे लिखे वर्गों मे बाँटा जाता है।

(१) **सार्वजनिक स्वास्थ्य** (Public Health)—स्थानीय सरकारें सार्व
स्वास्थ्य की देख-भाल करती हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य के दो पक्ष हैं। प्रथ
बीमारियो की रोकथाम करना और दूसरा उनके फैलने पर बीमारों की दव
व इलाज का प्रबन्ध करना। स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ बीमारियों को पैदा ह
व उनके फैलने से रोकने के लिए सडको, गलियो व नालियो की सफाई का
करती हैं। बीमारियाँ, पीने के लिए स्वच्छ पानी के न मिलने से या खाद्य पदा
मिलावट मे भी फैल जाती हैं। इसलिए स्थानीय सरकारें पीने के लिए स्वच्छ पा
सप्लाई का प्रबन्ध भी करती हैं और यह भी देखती हैं कि दूध व दही इत्यादि
पदार्थों मे किसी किसम की मिलावट न की जाय। गन्दी, सडी-गली वस्तुओं के बेच
पाबन्दियाँ लगाती हैं। प्लेग, हैजा, चेचक इत्यादि महामारियो के फैलने से
के लिए इनके टीके लगाने की व्यवस्था की जाती है। इसी प्रकार पुरा
के बन्द, सील वाले व गन्दे मकान भी बीमारी का घर होते है। म्युनिसपल क
नए मकानो को बनवाने के लिए नियम बनाती हैं और उनके मुताबिक नक्शे
करती हैं। पुराने व सील वाले मकानो को तुडवाकर उनके स्थान पर स्व

हवादार मकानो के बनाने का प्रबन्ध करती हैं। अनेक स्थानो पर म्युनिस्पल कमेटियाँ डेरी फार्म खोलकर नागरिकों के लिए विशुद्ध दूध व घी की सप्लाई का प्रबन्ध करती हैं। मुर्गीखाना खोल अण्डो की बिक्री करती हैं। बीमारो की दवा-दारू व इलाज के प्रबन्ध के लिए औषधालय व हस्पताल भी म्युनिस्पल कमेटियो द्वारा खोले जाते हैं।

(२) **सार्वजनिक कार्य** (Public works)—नगरपालिकाएं शहर को सुन्दर व स्वच्छ रखने के लिए भी जिम्मेदार होती है। इसलिए वे सडकें, पुल, सार्वजनिक स्थान, गृह और शौचनालय बनवाती हैं। सडको के दोनो ओर पेड लगवाना उनकी मरम्मत का प्रबन्ध करना, सराए बनवाना, रोशनी का प्रबन्ध करना, सैरगाह और पार्क बनवाना भी म्युनिस्पल कमेटियो और स्थानीय स्वशासन सस्थाओ का ही कर्तव्य होता है।

अनेक स्थानो पर जनसाधारण के मनोरंजन के लिए म्युनिस्पल कमेटियाँ सिनेमागृह, नाट्यघर, क्लब, रेस्तराँ, तैरने के लिए तालाब व क्रीडा-स्थल भी बनवाती है।

उपयोगितामूलक सेवाओं का प्रबन्ध—म्युनिस्पल कमेटियाँ बडे-बडे नगरो मे यातायात की सुविधा के लिए मोटरें, बसें व ट्रामें भी चलाती हैं। कई स्थानो पर स्थानीय सरकारें ही बिजली का प्रबन्ध भी करती हैं, और रसोई घरो मे इस्तेमाल की जाने वाली गैस की सप्लाई भी करती हैं। इंग्लैण्ड मे म्युनिस्पल कमेटियाँ इसी तरह के अनेक काम करती हैं। डेयरी फार्म या मुर्गीखाना खोलना भी उपयोगिता-मूलक सेवाओ मे ही शामिल किया जाता है। म्युनिस्पल कमेटियाँ आग बुझाने के लिए फायरब्रिगेड का प्रबन्ध भी करती है।

प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध—म्युनिस्पल कमेटियाँ अपने नागरिको के बौद्धिक व मानसिक विकास के लिए भी अनेक प्रयत्न करती है। स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ ही बच्चो की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए प्रारम्भिक स्कूल, माडल स्कूल व नरसरियाँ खोलती है। म्युनिस्पल कमेटियाँ प्रौढ शिक्षा व सामाजिक शिक्षा केन्द्र भी स्थापित करती है। जहाँ म्युनिस्पल कमेटियो के वित्तीय-स्रोत पर्याप्त विस्तृत होते हैं वहाँ वे उच्च शिक्षा की व्यवस्था के लिए माध्यमिक-स्कूल व कालिज भी खोलती हैं।

साधारण नागरिको के बौद्धिक व मानसिक विकास के लिए म्युनिस्पल कमेटियाँ वाचनालय व पुस्तकालय भी स्थापित करती हैं। हमारे यहाँ बडे-बडे शहरो की म्युनिस्पल कमेटियो ने अनेक स्थानो पर काफी ऊँचे पुस्तकालय खोल रखे हैं। इग्लैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि देशो मे म्युनिस्पल कमेटियाँ टेकनीकल, कामर्स व साधारण कालिज भी चलाती हैं।

मिले-जुले कार्य—उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त हरेक स्थान पर म्युनिस्पल कमेटियाँ अपनी-अपनी वित्तीय शक्तियो के अनुसार व वैधानिक अधिकार क्षेत्र के आधार पर अनेक मिले-जुले कार्य भी सम्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिए कई

शहरो मे म्युनिस्पल कमेटियाँ अपनी मार्कीट बनाती हैं जिन में दुकानो को किराये पर चढाया जाता है, वे कोआपरेटिव स्टोर खोलती हैं या छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे भी चलाती हैं। पश्चिमी देशो की म्युनिस्पल कमेटियाँ बडे-बडे उद्योग-धन्धो का सचालन कर अपनी बनाई हुई वस्तुओ का विदेशो मे निर्यात भी करती हैं।

इनके अलावा स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के कुछ ऐसे कार्य भी हैं जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध लोक कल्याण से नही होता। ये कार्य म्युनिस्पल कमेटियो के प्रशासन से सम्बद्ध हैं। हरेक म्युनिस्पल कमेटी अपने सदस्यो का चुनाव करती है उन मे से पदाधिकारियो का चुनाव किया जाता है। म्युनिस्पल कमेटियां अपने सक्रेट्रियेट का सगठन भी करती हैं। इसी तरह से स्थानीय वित्त के नियत्रण व अपने हिसाब-किताब के परीक्षण के लिए भी म्युनिस्पल कमेटियों को प्रबन्ध करना पडता है। म्युनिस्पल कमेटियाँ टैक्स लगाती हैं और उनके इकट्ठा करने का प्रबन्ध भी करती हैं।

स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के आमदनी के साधन (Sources of income of Local Self Government)—स्थानीय सरकारो की स्वतन्त्रता उनके आर्थिक साधनो पर आधारित होती है। अगर म्युनिस्पल कमेटियो को स्वतन्त्र वित्तीय स्रोत न दिए जाएँ तो उनकी स्वायत्तता खत्म हो जायगी। बिना पर्याप्त वित्तीय साधनो के स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ अपना कार्य कुशलतापूर्वक नही कर पायेंगी। स्थानीय सरकार के सभी कार्य राष्ट्र-निर्माण के कार्य है उनका हमारे दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अत उन पर खर्चा ही अधिक होता है, उनसे आमदनी की आशा नही की जा सकती। स्थानीय सरकारो के आमदनी के मुख्य-मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं—

(१) चुगी - जो शहर मे बाहर से आने वाले माल पर लगायी जाती है, (२) हाउस टैक्स (House Tax), (३) व्यवसाय टैक्स (Professional Tax), (४) उपयोगिता मूलक सेवाओ यथा ट्राम्बे, बस, बिजली, पानी की सप्लाई इत्यादि से होने वाली आमदनी, (५) म्युनिस्पल सम्पत्ति यथा मकान, दुकानो व सिनेमाघरो से होने वाली आमदनी, (६) सिनेमा शो पर लगाए गए टैक्स, (७) स्कूलो, कालिजो व हस्पतालो मे इकट्ठी की गई फीस, (८) मेले व मण्डियो मे बिके पशुओ पर लगाया गया टैक्स, (९) साईकिल, बैलगाडी, ताँगा व रिक्शा इत्यादि वाहनो पर लगाया गया टैक्स, (१०) लाइसेन्स फीस, (११) और केन्द्रीय व राज्य सरकारो से प्राप्त आर्थिक सहायता।

पश्चिमी देशो मे म्युनिस्पल कमेटियाँ अपनी आमदनी को बढाने के लिए अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे भी चलाती है। हमारे यहाँ स्थानीय सरकार की आमदनी बहुत सीमित है, इस कारण वे बहुत से लोकोपयोगी कर्त्तव्य पूर्ण नही कर पाती। यहाँ तक कि आमदनी की कमी की वजह से हमारे देश की म्युनिस्पल कमेटियाँ अपने आवश्यक व मूल-भूत कर्त्तव्य भी सन्तोषजनक रूप से पूरे नही कर पाती। सरकार से प्राप्त होने वाली सहायता भी अत्यन्त सीमित होती है। पश्चिमी देशो की नगरपालिकाओ के मुका-बिले मे हमारी म्युनिस्पल कमेटियाँ बहुत ही अकुशल व निकम्मी होती हैं। हमारे

यहाँ म्युनिस्पल वित्त का बटवारा भी ठीक नही किया जाता। म्युनिस्पल वित्त का बडा सिस्सा म्युनिस्पल कमेटी के कर्मचारियो की तनख्वाहो व उनकी इमारतो पर खर्च हो जाता है, सार्वजनिक उपयोग की चीजें उपेक्षित रहती हैं।

म्युनिस्पल कमेटियो की ग्रामदनी को वढाने के लिए व उनके कुशल शासन प्रवन्ध के लिए ग्रनेक सुझाव दिए गए हैं। यह कहा जाता है कि नगरपालिकाग्रो के ग्रामदनी के साधनो मे वृद्धि हो जानी चाहिए ग्रौर उन्हे कुछ नए टैक्स लगाने का ग्रधिकार दिया जाना चाहिए। इसी तरह उन्हे ग्रपनी ग्रामदनी के वढाने के लिए सिनेमा-गृह या नाच-घर बनाने चाहिए। छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे चलाने चाहिए ग्रौर बस व ट्राम्वे सर्विस जारी करनी चाहिए। सरकार को भी उनकी पर्याप्त ग्रार्थिक सहायता करनी चाहिए ग्रौर सार्वजनिक उपयोगो की योजनाएँ पूरी करने के लिए बिना ब्याज कर्ज देना चाहिए। हमारा देश निर्धन देश है, यहाँ के नागरिक ग्रधिक टैक्स नही दे सकते इसलिए सरकार को स्थानीय सरकारो की ग्रधिक से ग्रधिक ग्रार्थिक सहायता करनी चाहिए।

१६२ स्थानीय स्वशासन के लाभ

शासन प्रवन्ध की कुशलता—स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ शासन मे सुचारुता व सरलता उत्पन्न करती हैं। ग्राज के राज्य वहुत बडे-वडे राज्य है, उनका प्रदेश हजारो वर्ग मील होता है। उसमे विविध भाषा-भाषी व धर्मो के मानने वाले लोग रहते है। राज्यो की ग्रनेक प्रकार की ग्रार्थिक व राजनीतिक समस्याएँ होती हैं जिनका प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार को करना पडता है। इन प्रदेशो के प्रशासन की कुशलता के लिए सघीयशासन प्रणाली व स्थानीय स्वायत्त शासन व्यवस्था को ग्रपनाया जाता है। केन्द्रीय सरकार को दूर-दूर प्रदेशो मे स्थित नगरो व गाँवो की समस्याग्रो का ज्ञान नही होता। नई दिल्ली या चण्डीगढ मे स्थित सरकार धर्मशाला या ग्रमृतसर की स्थानीय समस्याग्रो से किस प्रकार ग्रवगत हो सकती है ? केन्द्रीय सरकारो के पास इतना समय ही नही होता कि वह देहरादून धर्मशाला या ग्रतमृसर की गलियो व सडको की सफाई का प्रवन्ध करे। प्रत्येक नगर या गाँव की समस्याग्रो का ज्ञान उन स्थानो पर रहने वाले लोगो को होता है। ग्रत इनके कुशल प्रवन्ध के लिए इनके प्रशासन की जिम्मेदारी इन्ही स्थानो के रहने वाले लोगो की होनी चाहिए।

श्रम-विभाजन व केन्द्रीय सरकार के बोझ में कमी—एक सुचारू व होशियार शासन व्यवस्था का ग्राधार श्रम-विभाजन का नियम है। हम पीछे ही कह ग्राए हैं कि जहाँ शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ एक ही स्थान पर केन्द्रित कर दी जाएँ या जहाँ पर एक ही सरकार को सभी काम करने पडें तो वह सरकार किसी भी काम को सन्तोषजनक ढग से नही कर पाएगी। ग्राजकल सरकार के कर्त्तव्यो मे ग्रसाधारण ग्रभिवृद्धि हो गई है। ग्रौर वह शासन भार के बोझ से दब जाती है। ऐसी ग्रवस्था मे सरकारी शक्तियो के बटवारे से केन्द्रीय सरकार का बोझ कम हो जाता ग्रौर वह ग्रपना ध्यान विदेशी मामले,

प्रतिरक्षा, यातायात व परिवहन के साधन देश का औद्योगिक व आर्थिक विकास व केन्द्रीय वित्त इत्यादि महत्त्वपूर्ण मामलो पर केन्द्रित कर सकती है।

स्थानीय स्वशासन सस्थाओ की स्थापना से सरकारी खर्चे मे भी कमी हो जाती है। अगर स्थानीय महत्त्व के विषयों के प्रवन्ध की जिम्मेदारी भी केन्द्रीय सरकार की ही हो तो उसे इन विषयो के प्रशासन के लिए सरकारी कर्मचारियो की एक वडी लम्बी-चौडी सेना ही रखनी पडे और इन्हे वडी तनख्वाहे देनी पडें। स्थानीय स्वराज्य की स्थापना से अव म्युनिस्पल कमेटियो व पचायतो के प्रमुख अधिकारी विना वेतन लिए ही काम करते हैं।

विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था—हम पीछे देख चुके हैं कि प्रजातन्त्रात्मक प्रवृत्तियो की रक्षा के लिए विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। हम अक्सर देखते हैं जिन देशो मे शासन शक्ति का अत्यधिक केन्द्रीकरण किया जाता है वहाँ ताना-शाही का विकास आसानी से हो जाता है। विकेन्द्रीकृत शासन प्रणाली के फलस्वरूप शासन शक्ति अनेक स्थानो पर बटी रहती है अत वह किसी एक तानाशाह के हाथ में केन्द्रित नही हो सकती।

शासन शक्ति का विकेन्द्रीकरण वैयक्तिक स्वतत्रता का पोषक व अतिशासन (Over Government) को रोकने वाला होता है। शासन शक्ति के केन्द्रीकरण के फलस्वरूप व्यक्ति की महत्ता घट जाती है, वह शासन की मशीनरी के नियत्रण मे कोई हिस्सा नही बँटा पाता। इस कारण वह शासन संचालन मे कोई दिलचस्पी नही लेता। ऐसी अवस्था मे प्रजातन्त्र का मूलभूत आधार ही खत्म हो जाता है। शासन मे नागरिको की दिलचस्पी पैदा करने के लिए और प्रजातन्त्र को एक वास्तविकता बनाने के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक व आर्थिक शक्तियो का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण किया जाए। स्वशासन सस्थाओ की स्थापना से कुछ सीमा तक इस उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव हो जाती है।

स्थानीय स्वशासन सस्थाओ की स्थापना से नौकरशाही की महत्ता भी घटती है। ज्यों-ज्यो राज्य के कर्त्तव्यों में अभिवृद्धि हुई—त्यो-त्यो नौकरशाही की महत्ता भी बढ़ती गई है। नौकरशाही हृदय-हीन व अकुशल होती है, जनसामान्य से उसे किसी प्रकार की सहानुभूति नही होती। प्रजातन्त्र की वास्तविक अनुभूति के लिए नौकरशाही की शक्तियो में कमी अत्यन्त आवश्यक है।

शिक्षात्मक महत्ता—स्थानीय शासन की महत्ता केवल इसी वात मे नहीं है कि यह नागरिक व शासन सत्ता मे सहयोग को वढाता है—वह शासन की मशीनरी पर नागरिक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में अभिवृद्धि करता है। वल्कि उसकी इस वात के लिए भी प्रशसा की जाती है कि वह प्रजातन्त्र की ट्रेनिंग देता है, लोगो मे उत्तरदायित्त्व की भावना व राजनीतिक चेतना उत्पन्न करता है। जनसाधारण राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में इतनी दिलचस्पी नही लेते, उनकी रुचि स्थानीय मामलों मे अधिक होती है। म्युनिसिपल कमेटियो के चुनाव मे वोटरो को अच्छी ट्रेनिंग मिलती है। नागरिक अपने तग वातावरण से निकल राजनीतिक व आर्थिक मामलो मे दिलचस्पी

लेता है। इसी प्रकार स्थानीय सरकारें देश के भावी शासको को भी उत्पन्न करती हैं। हम देखते हैं कि विभिन्न राज्यो के सफल शासक पहले म्युनिस्पल कमेटियो के अध्यक्ष या किसी कारपोरेशन के मेयर रह चुकते हैं और तत्पश्चात् देश के ऊँचे-ऊँचे पदो पर पहुँचते हैं। हमारे यहाँ पण्डित नेहरू व सरदार पटेल इत्यादि ने प्रशासन के उत्तरदायित्व सम्भालने की प्रारम्भिक ट्रेनिंग म्युनिस्पल कमेटियो मे ही प्राप्त की है। सुप्रसिद्ध फ्रैंच विचारक डी ताकविल ने ठीक ही कहा है कि 'नागरिको की इन स्थानीय सस्थाओ मे राष्ट्रो की शक्ति निहित रहती है। जिस तरह विज्ञान के लिए प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य है। उसी तरह स्वाधीनता के लिए नागरिक सभाएँ अनिवार्य हैं। एक राष्ट्र स्वतन्त्र सरकार का सगठन तो कर सकता है लेकिन स्थानीय-स्वशासन की भावना के बिना इन मे नागरिक स्वतत्रता की भावना का जन्म सम्भव नही।"[1] इस तरह से स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ प्रजातत्रात्मक शासन प्रणाली के लिए शिक्षण केन्द्रो का काम करती हैं।

स्थानीय स्वशासन की सफलता की कुछ आवश्यक शर्तें—हमारे यहाँ पर्याप्त लम्बे अर्से से स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ मौजूद हैं लेकिन उनका काम-काज सन्तोषजनक नही। अधिकतर हमारे यहाँ की पचायतें व म्युनिस्पल कमेटियाँ पार्टीबाजी व जातिवाद का गढ बन जाती हैं। स्थानीय सस्थाओ के चुनाव मे जाति-पाति धर्म और बिरादरी की दुहाई दी जाती है। ऐसे लोग नगरपालिकाओ के कर्णधार बन जाते हैं जो सर्वथा अशिक्षित और प्रतिक्रियावादी होते हैं। ऐसे लोगो को प्रशासन का कतई कोई अनुभव नही होता और वे प्रशासन मे भ्रष्टाचार व पक्षपात पैदा कर देते हैं। ऐसी अवस्था मे स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ प्रजातत्र की शिक्षा नही दे पाती और उनकी असली उपयोगिता खत्म हो जाती है।

प्रजातन्त्र की तरह स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए भी कुछेक शर्तों का पूरा करना आवश्यक होता है। सर्वप्रथम तो स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए लोगो के आचरण का स्तर बहुत ऊँचा होना चाहिए। जब तक नागरिक ईमानदार व कर्त्तव्य परायण नहीं हैं; स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ सफलतापूर्वक कार्य नही कर सकती। जनसाधारण मे लोक सेवा की भावना होनी चाहिए। उनमे राजनीतिक व आर्थिक समस्याओ के समझने की शक्ति होनी चाहिए। अगर जनसाधारण अपने व्यक्तिगत या जातिगत स्वार्थों के लिए सामाजिक हितो की उपेक्षा करें तो स्वशासन सस्थाएँ अपने उद्देश्य को प्राप्त नही कर पायेंगी।

स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए नागरिको का बौद्धिक स्तर भी काफी

---

1 "These local assemblies of citizens constitute the strength of free nations. Town meetings are to liberty what primary schools are to science; they bring it within the peoples reach, they teach men how to use and how to enjoy it A nation may establish a system of free government but without the spirit of municipal institutions it cannot have the spirit of liberty" —*De. Tocqueville.*

ऊचा होना चाहिए। उनमे पर्याप्त राजनीतिक चेतना होनी चाहिए और सार्वजनिक विषयो पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने व उनपर फैसले करने की क्षमता होनी चाहिए। उन्हे स्थानीय मामलो मे दिलचस्पी लेनी चाहिए और स्थानीय सस्थाओ के प्रशासन की निष्पक्ष व रचनात्मक आलोचना करनी चाहिए। प्रबुद्ध जनमत प्रजातन्त्र की सफलता की सबसे बडी शर्त है।

स्थानीय स्वशासन क्षेत्र मे पार्टीबाजी को दूर रखना चाहिए। वोटरो को भी चाहिए कि वे जब अपने प्रतिनिधि चुने तो वे उम्मीदवारो की बौद्धिक व मानसिक योग्यता, उनका समाजसेवा भाव और उनके चरित्र का ख्याल रखे। वे अपने प्रतिनिधियो का चुनाव जाति-पाति, धर्म या बिरादरी के आधार पर न करे।

स्थानीय स्वशासन की सफलता उनके स्वतन्त्र वित्तीय स्रोतो पर भी आश्रित होती है। स्थानीय सरकारो को कुछ महत्त्व पूर्ण टेक्स लगाने व उद्योग-धन्धे जारी करने का अधिकार होना चाहिए। सरकार को भी उनकी पर्याप्त आर्थिक सहायता करनी चाहिए और सार्वजनिक हित के कार्य सम्पन्न करने के लिए अनुभव के अलावा बिना ब्याज के कर्ज भी देना चाहिए।

स्थानीय सरकारो को असली अर्थों मे स्वायत्तता या स्वराज्य प्राप्त होना चाहिए। केन्द्रीय सरकार को उनके आन्तरिक मामलो मे या नित्य प्रति के शासन सचालन मे कम-से-कम दखल देना चाहिए। साधारणत केन्द्रीय सरकार को स्थानीय सस्थाओ की कार्यवाही के निरीक्षण व नियत्रण का अधिकार होता है लेकिन केन्द्रीय सरकार को अपने इस अधिकार का इस्तेमाल इस तरह से करना चाहिए की जिस से स्थानीय प्रेरणा व उत्तरादायित्व भावना खतम न हो जाए। शिक्षा सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई इत्यादि कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय है जिनके लिए सभी स्थानीय स्वशासन सस्थाएं अपनी-अपनी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण नही कर सकती है। ऐसे विषयो मे स्थानीय सरकारे केन्द्रीय सरकार के नियत्रण व देख-रेख मे काम करती हैं। अक्सर इन विषयो मे केन्द्रीय सरकार नीति निर्धारित करती है जिनका पालन स्थानीय स्वशासन सस्थाओ द्वारा करवाया जाता है। इसी तरह से केन्द्रीय सरकार को स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के वित्त का भी थोडा-बहुत नियत्रण करना चाहिए। उन्हे यह देखना चाहिए कि स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ फजूल-खर्ची न करे वे अपने वित्त का उचित बटवारा करे। केन्द्रीय सरकार स्थानीय सरकारो के वित्त की देख-भाल के लिए लेखा-परीक्षक नियुक्त करती है। लेकिन अन्य मामलो की तरह से आर्थिक मामलो मे भी स्थानीय सरकारो को पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त होनी चाहिए।

स्थानीय स्वशासन सस्थाओ की सफलता के लिए जनसाधारण का शिक्षित होना भी जरूरी है। शिक्षित होने पर ही जनसाधारण अपनी राजनीतिक सूझ-बूझ का ठीक इस्तेमाल कर सकेंगे। शिक्षित नागरिक अपने अधिकारो के प्रति सजग व जागरूक होता है। वे झूठे वायदो के झांसे मे नही आते और न ही वह जाति-पाति और धर्म या बिरादरी के विचारो से अनुप्राणित होता है। शिक्षा से मनुष्य मे आत्म-

विश्वास व स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न होती है।

स्थानीय सरकार की सफलता की ये शर्तें केवल हमारे देश पर ही लागू नही होती, ये सभी जगह आवश्यक हैं।

Important Questions

	Reference.
1 Write a short essay on the necessity of Local-Self-Government	Art 161
2 What do you understand by Local-Self-Government ? What are the main functions of Local-Self-Government Bodies ?	Art 161
3 What is the utility of Local-Self-Government ? How it is at training school for democracy ?	Art 162
4 Describe the Conditions which are essential for the sucessful working of Local-Self-Government	Art 162

२५

राज्य के उद्देश्य और कर्त्तव्य

(THE END AND FUNCTIONS OF THE STATE)

१६३ राज्य साधन है अथवा साध्य ?

राज्य का उद्देश्य क्या है ? राज्य साधन है अथवा साध्य ? यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। राज्य की प्रकृति, उसका अधिकार-क्षेत्र तथा उसकी उपयोगिता इत्यादि का समुचित ज्ञान इन प्रश्नो के ठीक-ठीक उत्तर पर ही निर्भर है। प्राचीन समय के अधिकाश विचारको ने राज्य को साध्य (End) रूप मे स्वीकार किया है, साधन रूप में नहीं। प्लेटो और अरस्तू दोनो ही राज्य को साध्य रूप मे स्वीकार करते हैं। दोनो ही राज्य तथा समाज को एक रूप समझते हैं। अरस्तू का कथन है कि राज्य का उदय वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा के लिए हुआ परन्तु वह मनुष्य जीवन को सर्वप्रकार से सम्पन्न बनाने के लिए कायम रहता है। मनुष्य जीवन का वास्तविक मूल्य राज्य के भीतर है राज्य से बाहर नहीं। मनुष्य जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नही जो राज्य की पहुँच से परे हो। राज्य मनुष्य जीवन को सम्पूर्ण रूप से नियन्त्रित कर सकता है, अत. राज्य ही सब कुछ है, राज्य ही साध्य है। प्राचीन यूनानी विचारको के ऐसे विचार का एक बडा कारण यह भी था कि वे राज्य को सावयव (Organic) मानते थे।

अरस्तू के बाद इस प्रश्न पर अन्य दृष्टिकोण से विचार किया गया। अधिकांश विचारको ने राज्य को अप्राकृतिक तथा बनावटी (Artificial) माना, उन्होंने राज्य की उपस्थिति को मनुष्य के आत्मज्ञान मे बाधारूप स्वीकार किया। रोमन विचारको ने तो इस प्रश्न पर बहुत ध्यान नही ही दिया। रोमन साम्राज्य के अनन्तर जो अराजकतापूर्ण हालत पैदा हो गई थी उसमे राज्य, चर्च तथा सामन्तवर्ग में सघर्ष चलता रहा। नैतिक रूप से चर्च को उच्च तथा राज्य को हीन सस्था माना गया। राज्य को सेण्ट आगस्टाइन पाप का परिणाम मानता है। निश्चय ही उसका दृष्टिकोण पुराने दार्शनिकों से भिन्न था। वह अरस्तू की तरह राज्य को एक प्राकृतिक तथा नैतिक सस्था नहीं मानता, अत वह उसे केवल मात्र नकारात्मक (Negative) कर्त्तव्य ही सौंपता है। उसके मतानुसार राज्य एक साधन मात्र है, और साधन भी घटिया दर्जे का जिसे कि किसी प्रकार से भी श्रेष्ठ तथा उच्च नही कहा जा सकता। सेण्ट आगस्टाइन के अनन्तर लगभग सभी विचारको ने चर्च की श्रेष्ठता तथा राज्य की हीनता को स्वीकार करते हुए राज्य को साधन मात्र माना है। सामन्ती व्यवस्था के समाप्त होने पर और नये राष्ट्रीय राज्यो के विकास के फलस्वरूप अबाधशक्ति सम्पन्न निरंकुश राज्यो का विकास हुआ। राष्ट्रीय राज्यो की निरकुश शक्ति के समर्थन मे राज्यो की

दैवीय उत्पत्ति (Divine Origin of The State) और राजाओ के दैवीय अधिकारो के सिद्धान्त (Divine Rights of kings) का विकास हुआ। इन सिद्धान्तो द्वारा राज्य की नैतिक श्रेष्ठता तो मानी गई, परन्तु उन्होंने राज्य तथा सम्राट् का एकीकरण कर राज्य को असीम तथा अबाधशक्ति देने का समर्थन किया। राज्य के कर्त्तव्य क्या हो ? वह स्वय साध्य है या वह केवल साधन मात्र ? इन प्रश्नो का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। दैवीय गुण सम्पन्न होने के कारण राज्य व्यक्ति की अपेक्षा ऊँचा है, ऐसा परिणाम हम उपर्युक्त सिद्धान्त से अवश्य निकाल सकते हैं। परन्तु राज्य की इस श्रेष्ठता का यह आधार वैज्ञानिक नही था और न ही वैसा तर्कसम्मत जैसा कि प्लेटो और अरस्तू का था। राज्य दैवीय गुण सम्पन्न है, राजा दैवीय शक्ति का प्रतिनिधि है, इस कारण वह उच्च तथा श्रेष्ठ है।

भारतवर्ष मे भी राज्य की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रचलन था, परन्तु यहाँ राजा को असीम और अबाधशक्ति सम्पन्न नही माना जाता था। वे राज्य की तथा राज धर्म की श्रेष्ठता को अवश्य स्वीकार करते थे, परन्तु उसे साधनरूप मे स्वीकार करते थे, साध्यरूप मे नही। वस्तुत. हमारे यहाँ तो व्यक्ति ही सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्र माना जाता है। व्यक्ति का परम उद्देश्य आध्यात्मिक है—आत्मज्ञान की प्राप्ति है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इसी उद्देश्य को सामने रख सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का संगठन आवश्यक माना जाता है। राज्य का उद्देश्य वैयक्तिक जीवन की पूर्णता है, उसके लिए धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए उचित परिस्थितियो का हमारे यहाँ निर्माण है। सैद्धान्तिक रूप से राजा को प्रजा के नेता के रूप मे स्वीकार करते हुए भारतीय नागरिक उससे उच्च नैतिक आचरण की उम्मीद करता था। महाभारत मे राज्य-धर्म की श्रेष्ठता पर अपने विचार प्रगट करते हुए भीष्म ने कहा है कि अन्य सभी धर्म राज-धर्म के अधीन हैं, क्योकि एक श्रेष्ठ राज्य मे ही सभी धर्मों का समुचित पालन हो सकता है। यदि राजा, धर्म का पालन करेगा तो समस्त प्रजा धर्म का अनुसरण करेगी और **यदि राजा ही अधर्मी होगा तो समस्त प्रजा तो अधर्मी होगी ही, साथ ही राजा सहित प्रजा का नाश भी होगा। इस लोक की सब प्रकार की उन्नति तथा प्रजा का कल्याण राजधर्म के अन्तर्गत ही सम्भव है।**[1] प्राचीन विचारको के मतानुसार राजा का सयमी, व्रती, परोपकारी तथा निस्वार्थी होना लाजमी है। इस प्रकार हमारे यहाँ राज्य को साधनरूप स्वीकार करते हुए उसका उद्देश्य नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वीकार किया गया है।

पश्चिम मे राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त के पतन के अनन्तर राज-धर्म (कर्त्तव्य) की एक नये दृष्टिकोण से व्याख्या की जाने लगी। लॉक, हॉब्स तथा रूसो

सर्वे धर्मा राज धर्मा प्रधाना. सर्वे वर्णा पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजा धर्मेषु राजस्त्यागधर्मं चाहुरग्नयं पुराणाम् ॥
सर्वेत्यागा राजधर्मेषु द्रष्टा. सर्वादीक्षा राज धर्मेषु यो.।
सर्वा विद्या राज धर्मेषु युक्ताः सर्वेलोका राजधर्मे प्रविष्टा ॥

राज्य के उद्देश्य और कर्त्तव

(THE END AND FUNCTIONS OF THE STA

१६३ राज्य साधन है अथवा साध्य ?

राज्य का उद्देश्य क्या है ? राज्य साधन है अथवा साध्य ? यह अत्य
महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। राज्य की प्रकृति, उसका अधिकार-क्षेत्र तथा उसकी उपयोगि
इत्यादि का समुचित ज्ञान इन प्रश्नो के ठीक-ठीक उत्तर पर ही निर्भर है। प्राच
समय के अधिकाश विचारको ने राज्य को साध्य (End) रूप मे स्वीकार किया है, मा
रूप मे नहीं। प्लेटो और अरस्तू दोनो ही राज्य को साध्य रूप मे स्वीकार करते
दोनो ही राज्य तथा समाज को एक रूप समझते हैं। अरस्तू का कथन है कि राज्य
उदय वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा के लिए हुआ परन्तु वह मनुष्य जीवन को सर्वप्र
से सम्पन्न बनाने के लिए कायम रहता है। मनुष्य जीवन का वास्तविक मूल्य र
के भीतर है राज्य से बाहर नहीं। मनुष्य जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नही जो र
की पहुँच से परे हो। राज्य मनुष्य जीवन को सम्पूर्ण रूप से नियन्त्रित कर सकता
अत. राज्य ही सब कुछ है, राज्य ही साध्य है। प्राचीन यूनानी विचारको के
विचार का एक बडा कारण यह भी था कि वे राज्य को सावयव (Organ
मानते थे।

अरस्तू के वाद इस प्रश्न पर अन्य दृष्टिकोण से विचार किया गया। अ
कांश विचारको ने राज्य को अप्राकृतिक तथा बनावटी (Artificial) मा
उन्होंने राज्य की उपस्थिति को मनुष्य के आत्मज्ञान में बाधारूप स्वीकार किय
रोमन विचारकों ने तो इस प्रश्न पर बहुत ध्यान नही ही दिया। रोमन साम्राज्य
अनन्तर जो अराजकतापूर्ण हालत पैदा हो गई थी उसमे राज्य, चर्च तथा सामन्त
में सघर्ष चलता रहा। नैतिक रूप से चर्च को उच्च तथा राज्य को हीन सस्था म
गया। राज्य को सेण्ट आगस्टाइन पाप का परिणाम मानता है। निश्चय ही उस
दृष्टिकोण पुराने दार्शनिकों से भिन्न था। वह अरस्तू की तरह राज्य को एक प्राकृ
तथा नैतिक सस्था नही मानता, अत वह उसे केवल मात्र नकारात्मक (Negati
कर्त्तव्य ही सौंपता है। उसके मतानुसार राज्य एक साधन मात्र है, और साधन
घटिया दर्जे का जिसे कि किसी प्रकार से भी श्रेष्ठ तथा उच्च नही कहा जा सकता।
आगस्टाइन के अनन्तर लगभग सभी विचारकों ने चर्च की श्रेष्ठता तथा राज्य की हीन
को स्वीकार करते हुए राज्य को साधन मात्र माना है। सामन्ती व्यवस्था के समाप्त
पर और नये राष्ट्रीय राज्यों के विकास के फलस्वरूप अबाधशक्ति सम्पन्न निरं
राज्यो का विकास हुआ। राष्ट्रीय राज्यो की निरकुश शक्ति के समर्थन मे राज्यों

दार्शनिक पहलुओ को प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि-राज्य की श्रेष्ठता और उच्चता उसकी सैनिक-शक्ति की उच्चता पर निर्भर है। राज्य के इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को वेखटके साधनरूप मे इस्तेमाल किया जा सकता है। वे राज्य को साधन न मान साध्य मानते हैं।

परन्तु राज्य की वास्तविक प्रकृति का तथा उसके कर्त्तव्य का ज्ञान उपर्युक्त विचारको द्वारा ठीक-ठीक ढग से पेश नही किया गया है। राज्य को साध्य मानने का कारण राज्य तथा समाज की एकता का भ्रामक सिद्धान्त है। पुराने ग्रीक विचारको ने राज्य तथा समाज मे कोई भेद नही किया और यही कारण है कि वे राज्य को वैयक्तिक जीवन के सभी पक्षो के नियमन का अधिकार दे देते हैं, इसी कारण वे राज्य को साधन नही अपितु साध्य रूप मे स्वीकार करते हैं। आज का समाजशास्त्री राज्य तथा समाज मे भेद करता है। वह सामाजिक जिन्दगी की स्वतन्त्र स्थिति स्वीकार करता है। वह राज्य को समाज का एक भाग ही मानता है। राज्य हमारे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को अपने भीतर नही समेट सकता। वहुसमुदायवादियो (Pluralists) ने इसी वात पर वल दिया है। उनके कथन मे पर्याप्त सत्यता है। हमारे जीवन की जितनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति सामाजिक समुदायो मे सम्भव है, वैसी राज्य मे नही है। राज्य जैसा कि मेकआइवर का विश्वास है हमारे गौण सम्वन्धो (Secondary relations) का प्रतिनिधित्व करता है। आदर्शवादी विचारको की भ्रान्त धारणाओ का आधार भी राज्य तथा समाज की मिथ्या एकरूपता ही है। राज्य की नैतिक सत्ता को तो हम अवश्य स्वीकार कर सकते है परन्तु उसकी नैतिक श्रेष्ठता एक विवादास्पद प्रश्न है। आज के वहुसमुदायवादी राज्य की नैतिक श्रेष्ठता को किसी भी रूप मे स्वीकार नही करते।

व्यक्तिवादी विचारको की धारणाएँ भी भ्रान्त तथा एक पक्षीय हैं। आज वेन्थम, स्पेन्सर तथा मिल के इस सिद्धान्त को कि राज्य एक आवश्यक बुराई है स्वीकार नही किया जाता। राज्य भी उसी प्रकार प्रकृत है जैसे समाज मे प्राप्य अन्य समुदाय। मिल इत्यादि ने राज्य को व्यक्ति-स्वतन्त्रता के शत्रु के रूप मे प्रस्तुत किया है, जो विलकुल गलत है। यह कहना भी ठीक नही कि राज्य के कार्यो मे अभिवृद्धि हो जाने के फलस्वरूप वैयक्तिक स्वतन्त्रता के खत्म होने की सम्भावना रहती है। निश्चिय ही राज्य अपने आप मे ही साध्य नही, वह साधनस्वरूप है, परन्तु वह इतना निम्न कोटि का साधन नही जितना कि व्यक्तिवादियो ने उसे चित्रित किया है। दूसरा व्यक्तिवादी राज्य के उद्देश्य को भी अत्यन्त सकुचित वना देते हैं, वे उसे कोई नैतिक तथा सामाजिक कल्याण का कार्य नही सौंपते।

राज्य को पाशविक-शक्ति का प्रतिनिधि मान उसे शक्ति सग्रह का ही कार्य सौंपना भी सर्वथा गलत है। शक्ति (Force) राज्य का एक आवश्यक अग है, परन्तु वह राज्य का साध्य (End) नही है। ऐसा राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का और उसके विकास का सवसे वडा शत्रु होगा। जर्मनी तथा इटली के फासिस्ट राज्यो का ऐसा ही रूप था। यहाँ व्यक्ति को और उसकी स्वतन्त्रता को तिरस्कार की दृष्टि से

तीनो ने राज्य के अनुवन्ध सिद्धान्त (Theory of Social contract) द्वारा राज्य प्रकृति की व्याख्या करते हुए उसे अप्राकृतिक (Artificial) माना है। हॉब्स का राज-धर्म बहुत सकुचित है, उसका कथन है कि राज्य का कर्त्तव्य केवल नकारात्मक है, उसका उद्देश्य व्यक्ति सुरक्षा के लिए राज्य-शक्ति का उपयोग करना मात्र है। लॉक के विचारो मे हमे आधुनिक व्यक्तिवाद के वीज मिल जाते है। उसका कथन है कि राज्य का उद्देश्य मानवीय कल्याण तथा वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा है। राज्य की शक्ति असीमित नही, उसके कत्तव्यो का आधार व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार (Natural rights) है। इन अधिकारो की सुरक्षा तथा उनकी ठीक-ठीक अनुभूति (Realisation) के लिए राज्य की रचना की जाती है। अत लॉक के अनुसार राज्य केवल साधनामात्र है, साघ्य नही। रूसो के विचारो मे पर्याप्त आत्मविरोध है। प्रारम्भ मे रूसो ने जो कुछ कहा उसके आधार पर तो हम उसे व्यक्तिवादी ही कह सकते है, परन्तु वाद मे उसके विचारो मे समूहवाद (Collectivism) के दर्शन हो जाते है। वह राज्य को नैतिक सस्था मानता है और उसे साधनरूप मे स्वीकार करता है। परन्तु रूसो के विचारो का अनुसरण करते हुए जर्मनी के आदर्शवादी विचारको ने राज्य को साधन न मान साध्य स्वरूप माना है। काट, हीगल, नीत्शे तथा ब्लशली के मतानुसार राज्य साधन नही साध्य है। वह सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च नैतिक सस्था है। हीगल तो उसे दैवीय स्वरूप प्रदान कर पृथ्वी पर ब्रह्म के साक्षात् रूप (March of God on earth) मे स्वीकार करता है। राज्य का अपना व्यक्तित्व है, उसकी अपनी इच्छा है वह समाज के सभी सदस्यो से ऊपर और स्वतन्त्र है। राज्य की इस उच्चता तथा श्रेष्ठता का समर्थन इग्लैण्ड के आदर्शवादी विचारक वोसाँके तथा ब्रैडले ने भी किया है।

आदर्शवादियो की राज्य सम्वन्धी उपर्युक्त धारणा के विपरीत ऐडम स्मिथ, वेन्थम, मिल तथा स्पैन्सर इत्यादि ने राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप मे स्वीकार करते हुए उसे व्यक्तिहित की प्राप्ति के लिए एक साधन के रूप मे स्वीकार किया है। **उनके मतानुसार व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन।** उनका कथन है कि राज्य को हमारे वैयक्तिक जीवन मे कम-से-कम दखल देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसका हित किस मे है, उसकी स्वार्थसिद्धि का सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है? वह इतना बुद्धिसम्पन्न तथा परोपकार-भावना-सम्पन्न भी है कि अपने स्वार्थ साधन के हित अन्य सामाजिक सदस्यो का अहित नही करेगा। स्पैन्सर ने प्राणी-विज्ञान के आधार पर वैयक्तिक जीवन मे राज्य के दखल का जोरदार विरोध किया है। मिल ने नैतिक उद्देश्यो को सामने रख राज्य से ऊपर व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है। **वेन्थम का कथन है कि राज्य का उद्देश्य अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के जीवन को अधिक-से-अधिक आनन्दपूर्ण बनाना है।**

कुछ अन्य विचारको ने राज्य को शक्ति का स्वरूप मान उसका उद्देश्य अधिक-से अधिक शक्ति सग्रह करना वतलाया है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे, ट्रीट्स्के

दार्शनिक पहलुओ को प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि राज्य की श्रेष्ठता और उच्चता उसकी सैनिक-शक्ति की उच्चता पर निर्भर है। राज्य के इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को बेखटके साधनरूप मे इस्तेमाल किया जा सकता है। वे राज्य को साधन न मान साध्य मानते हैं।

परन्तु राज्य की वास्तविक प्रकृति का तथा इसके कर्त्तव्य का ज्ञान उपर्युक्त विचारको द्वारा ठीक-ठीक ढग से पेश नही किया गया है। राज्य को साध्य मानने का कारण राज्य तथा समाज की एकता का भ्रामक सिद्धान्त है। पुराने ग्रीक विचारको ने राज्य तथा समाज मे कोई भेद नही किया और यही कारण है कि वे राज्य को वैयक्तिक जीवन के सभी पक्षो के नियमन का अधिकार दे देते हैं, इसी कारण वे राज्य को साधन नही अपितु साध्य रूप मे स्वीकार करते हैं। आज का समाजशास्त्री राज्य तथा समाज मे भेद करता है। वह सामाजिक जिन्दगी की स्वतन्त्र स्थिति स्वीकार करता है। वह राज्य को समाज़ का एक भाग ही मानता है। राज्य हमारे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को अपने भीतर नही समेट सकता। बहुसमुदायवादियो (Pluralists) ने इसी बात पर बल दिया है। उनके कथन मे पर्याप्त सत्यता है। हमारे जीवन की जितनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति सामाजिक समुदायो मे सम्भव है, वैसी राज्य मे नही है। राज्य जैसा कि मेकआइवर का विश्वास है हमारे गौण सम्बन्धों (Secondary relations) का प्रतिनिधित्व करता है। आदर्शवादी विचारकों की भ्रान्त धारणाओ का आधार भी राज्य तथा समाज की मिथ्या एकरूपता ही है। राज्य की नैतिक सत्ता को तो हम अवश्य स्वीकार कर सकते है परन्तु उसकी नैतिक श्रेष्ठता एक विवादास्पद प्रश्न है। आज के बहुसमुदायवादी राज्य की नैतिक श्रेष्ठता को किसी भी रूप मे स्वीकार नही करते।

व्यक्तिवादी विचारको की धारणाएँ भी भ्रान्त तथा एक पक्षीय हैं। आज बेन्थम, स्पेन्सर तथा मिल के इस सिद्धान्त को कि राज्य एक आवश्यक बुराई है स्वीकार नही किया जाता। राज्य भी उसी प्रकार प्रकृत है जैसे समाज मे प्राप्य अन्य समुदाय। मिल इत्यादि ने राज्य को व्यक्ति-स्वतन्त्रता के शत्रु के रूप मे प्रस्तुत किया है, जो बिलकुल गलत है। यह कहना भी ठीक नही कि राज्य के कार्यों मे अभिवृद्धि हो जाने के फलस्वरूप वैयक्तिक स्वतन्त्रता के खत्म होने की सम्भावना रहती है। निश्चिय ही राज्य अपने आप मे ही साध्य नही, वह साधनस्वरूप है, परन्तु वह इतना निम्न कोटि का साधन नही जितना कि व्यक्तिवादियो ने उसे चित्रित किया है। दूसरा व्यक्तिवादी राज्य के उद्देश्य को भी अत्यन्त सकुचित बना देते हैं, वे उसे कोई नैतिक तथा सामाजिक कल्याण का कार्य नही सौंपते।

राज्य को पाशविक-शक्ति का प्रतिनिधि मान उसे शक्ति सग्रह का ही कार्य सौंपना भी सर्वथा गलत है। शक्ति (Force) राज्य का एक आवश्यक अग है, परन्तु वह राज्य का साध्य (End) नही है। ऐसा राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का और उसके विकास का सबसे बडा शत्रु होगा। जर्मनी तथा इटली के फासिस्ट राज्यो का ऐसा ही रूप था। यहाँ व्यक्ति को और उसकी स्वतन्त्रता को तिरस्कार की दृष्टि से

देखा जाता रहा। ऐसा सिद्धान्त हमारे उन सभी उद्देश्यों के विपरीत है जिनको वास्तविक मान्यता दिलवाने के लिए आज तक मानव-समाज लडता चला आया है। राज्य को पाशविक-शक्ति का केन्द्र बनाना नैतिक दृष्टि से सर्वथा बुरा है और राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा गलत। राज्य-शक्ति का प्रयोग मानव हित मे किया जाना चाहिए, वह स्वय साध्य नही। कोई भी राज्य कभी भी व्यावहारिक रूप से असीम तथा अबाधशक्ति सम्पन्न नही हो सकता। उसे कुछ-न-कुछ निश्चित पाबन्दियो के अधीन ही कार्य करना होता है।

वर्तमान युग मे राज्य का न तो नकारात्मक (Negative) रूप ही स्वीकार किया जाता है और न आदर्शवादी, जिसके अनुसार राज्य को आध्यात्मिक गुण सम्पन्न मान उसे सर्वश्रेष्ठ नैतिक सस्था कहा जाता है। राज्य तथा सरकार का उद्देश्य प्रो० टी० एच० ग्रीन के सारपूर्ण शब्दो मे वैयक्तिक आत्मज्ञान (Self-realisation) के लिए आवश्यक परिस्थितियो का निर्माण है। वैयक्तिक जीवन की पूर्णता समाज मे ही सम्भव है, उसके नैतिक उद्देश्यो की प्राप्ति मे समाज की नैतिक उच्चता सहायक होती है। दूसरे शब्दो मे व्यक्ति तथा राज्य की अन्योन्याश्रियता (Interdependence) को समझने से ही हम राज्य के वास्तविक रूप को समझ सकते हैं। आज का राज्य सामाजिक कल्याण (Social welfare) का प्रमुख साधन है। उसे वैयक्तिक जीवन के भौतिक तथा नैतिक कल्याण के लिए आवश्यक स्थितियो का निर्माण करना होता है। प्राय प्रत्येक देश में राज्य के समाजवादी तथा कल्याणकारी रूप का विकास हो रहा है, प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों की अशिक्षा, अज्ञान तथा निर्धनता इत्यादि को दूर करने का भरसक प्रयत्न कर रहा है।

१६४ राज्य के उद्देश्य तथा उसके कार्य

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राज्य अपने आप मे साध्य नही है। परन्तु उसका उद्देश्य क्या है, इस विषय मे पर्याप्त मतभेद है। जहाँ पुराने जमाने मे प्लेटो और अरस्तू ने राज्य का उद्देश्य पूर्ण तथा श्रेष्ठ नैतिक जीवन की प्राप्ति माना वहाँ सॉफिस्टो ने उसका मकसद कमजोर लोगो पर शासन करना स्वीकार किया वर्तमान युग मे मार्क्स, नीत्शे, स्पैन्सर इत्यादि भी राज्य को पाशविक-शक्ति का चिह्न स्वीकार करते हुए उसका उद्देश्य शोषण (Exploitation) मानते हैं।

इग्लैण्ड के उपयोगितावादियो ने राज्य का उद्देश्य अमन तथा कानून की स्थापना करना, व्यक्ति की बाहरी और अन्दरूनी शत्रुओ से रक्षा करना तथा समझौते को लागू करना माना है। परन्तु यह उद्देश्य तो बहुत सकुचित है। इसका अर्थ तो यह है कि राज्य के लिए जन-कल्याण तथा सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक कर्त्तव्यो का पालन किसी भी प्रकार सही नही माना जाएगा। यह सिद्धान्त तो राज्य को एक उपयोगिता-मूलक कम्पनी मात्र बना देता है। हमे भूलना नही चाहिए कि राज्य के कुछ नैतिक तथा आध्यात्मिक कर्त्तव्य भी हैं। उपयोगितावादी राज्य के कल्याणकारी रूप को विशेप महत्त्व नही देते, वे तो केवल उसे नकारात्मक

(Negative) कर्त्तव्य ही सौपते हैं।

वेन्थम का विचार था कि **अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक सुख सुविधा का निर्माण ही राज्य का परम उद्देश्य है।** परन्तु यह उद्देश्य भी अनिश्चित है। 'सुख-सुविधा से क्या तात्पर्य हो सकता है, क्योकि सुख-सुविधा की परिभाषा प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय के साथ बदलती रहती है, इसके स्वरूप का वैज्ञानिक निरुपण असम्भव है, ये तो एक वैयक्तिक (Subjective) धारणा है। इसी प्रकार यह धारणा कि राज्य का उद्देश्य न्याय की स्थापना है, या राज्य को मानवीय समाज की प्रगति के लिए प्रयत्न करना है इत्यादि भी अस्पष्ट तथा भ्रामक धारणाएँ हैं। क्योकि 'न्याय' इत्यादी शब्दो के भी वैयक्तिक (Subjective) प्रयोग ही होते हैं निर्वैयक्तिक (Objective) नही। उनकी व्याख्या पर सब का सहमत हो सकना असम्भव है। प्रत्येक विचारक तथा जनसमाज अपने समाज के वातावरण तथा औद्योगिक और आर्थिक विकास के आधार पर ही राज्य के उद्देश्य को निश्चित करता है। अतः यह धारणा निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक नही हो सकती।

राज्य के उद्देश्य की अभिव्यक्ति बहुत कुछ उसके कार्यों द्वारा हो जाती है, ऐसे कार्य जिन्हे या तो वे पूर्ण करते हैं या कि जिन्हे उन्हे पूर्ण करना चाहिए। अतः यहाँ हम राज्य के उद्देश्यो की बजाय उसके कार्यों का ही वर्णन करेंगे।

राज्य के कर्त्तव्य—राज्य के कर्त्तव्य क्या हो? उसका कोई निश्चित उत्तर सम्भव नहीं। परन्तु राज्य के उद्देश्यो की प्रकृति का ज्ञान उसके द्वारा पूर्ण किए जाने वाले कर्त्तव्यो से ही सम्भव है। प्रत्येक राज्य अपनी परिस्थितियो के अनुसार ही अपने कर्त्तव्यो का पालन करता है। सभी राज्य एक जैसे कर्त्तव्यो का पालन नही करते, नई परिस्थितियो के अनुसार राज्य के कर्त्तव्यो मे परिवर्त्तन होना सर्वथा स्वाभाविक है। पुराने समय में राज्यो के लिए यह सम्भव था कि वे व्यापार, उद्योग तथा राज्य की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की अवहेलना कर सैनिक सुरक्षा के लिए केवल कर-संग्रह मात्र ही करें, परन्तु आज ऐसा सम्भव नही। १८वी तथा १९वी सदी मे व्यक्तिवादियो ने राज्य द्वारा औद्योगिक तथा व्यापारिक जीवन के नियन्त्रण का तीव्र विरोध किया था। उन्होंने राज्य को समाज के लिए कल्याणकारी कर्त्तव्यो के पालन की छूट नही दी थी। परन्तु आज की परिस्थितियाँ सर्वथा बदल गई है, आज राज्य के कर्त्तव्य के स्वरूप भी बदल गये है। परन्तु आज भी सभी जगह राज्य एक जैसे कर्त्तव्यो का पालन नही करते। फ्रांस अमेरिका तथा इग्लैण्ड मे आर्थिक जीवन पर राज्य का उतना विस्तृत तथा कड़ा नियन्त्रण नही जितना कि सोवियत रूस मे है। न ही इन राज्यो मे सामाजिक कल्याण के निमित्त राज्य वही कार्य करता है जैसा कि सोवियत रूस मे किया जाता है। यह विभिन्नता राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियो की और बहुत कुछ आदर्शो की विभिन्नता का ही फल है। आज के युग मे राज्य समूहवादी (Collectivist) हो गया है, वह हमारे जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो का नियन्त्रण करता है। हाल ही मे राज्य इतने शक्ति सम्पन्न हो गए हैं कि अनेक विचारक इस प्रवृत्ति को रोकने का जोरदार समर्थन करने लगे हैं। बहुसमुदायवादी तथा गिल्ड समाजवादी राज्य

शक्ति तथा कर्त्तव्यो के विकेन्द्रीकरण के हक मे हैं। उनका कथन हैं कि राज्य को सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के नियन्त्रण का अधिकार नही दिया जा सकता। राज्य की शक्तियो की वृद्धि न केवल व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा उसके व्यक्तित्व विकास की ही शत्रु हैं अपितु तानाशाही की भी जनक है। हमारे यहाँ महात्मा गाधी ने भी राज्य-शक्ति तथा आर्थिक जीवन के विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया था, बहुसमुदायवादियो ने तो राज्य तथा समुदायो के बीच राजनीतिक शक्ति के बँटवारे का समर्थन किया है। चाहे हम उनके दृष्टिकोण से सहमत हो अथवा न हो एक बात तो आज हमे अवश्य माननी ही पडेगी कि राज्य को बहुत अधिक शक्ति सम्पन्न नही किया जा सकता और न ही उसे सपूर्ण सामाजिक जीवन के नियन्त्रण का अधिकार ही दिया जा सकता है। क्योकि बहुत से ऐसे कार्य है जिन्हे राज्य कर ही नही सकता और कुछेक कार्यो को वह कर तो लेगा परन्तु भद्दे तरीके से ही। अनेक प्रकार से छोटे-बडे कार्य करने से उनमे सुचारुता भी नही रहती।

राज्य व्यक्ति के आन्तरिक जीवन का नियमन तथा नियन्त्रण नही कर सकता। यही कारण है कि यह कहा जाता है कि विचार, धर्म, साहित्य और सस्कृति राज्य के नियन्त्रण से बाहर रहने चाहिएँ। इनमे मानवात्मा की अभिव्यक्ति होती है। जहाँ कही भी जीवन के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष के नियन्त्रण का प्रयत्न किया गया है, वही राज्य असफल रहा है या इस नियन्त्रण का परिणाम सास्कृतिक विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ है। हाँ, राज्य अश्लील साहित्य तथा समाजविरोधी तथा अनैतिक धार्मिक प्रथाओ पर अवश्य रोक लगा सकता है। राज्य को जनमत का नियन्त्रण भी नही करना चाहिए, सब को विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। परन्तु राज्य सामाजिक व्यवस्था को भग करने के अर्थ तथा गैरकानूनी कार्यवाहियो को उकसाने वाले विचारो पर रोक लगा सकता है। सामाजिक रीति-रिवाज भी राज्य के साधारण नियन्त्रणो से बाहर रहते हैं। राज्य सामाजिक रीति-रिवाज को बदल सकता है, परन्तु उचित अवसर पर ही यानि जनमत का समर्थन प्राप्त करके ही। जनता द्वारा समर्थित रस्मो-रिवाज को खत्म करने से राज्य-व्यवस्था के भग होने की सम्भावना बनी रहती है। राज्य को वह कार्य भी नही करने चाहिए जिन्हें व्यक्ति स्वय अच्छी तरह से कर सकता हो, क्योकि ऐसा करने पर राज्य-व्यक्ति के आत्म-विश्वास, स्वाधीनता तथा कार्य प्रारम्भ करने की क्षमता को ही नष्ट कर देगा।

आज राज्य के कर्त्तव्यो का स्वस्थ सिद्धान्त तो व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के मेल से ही बन सकता है। न तो निरा समाजवाद ही अपने आप मे पूर्ण है और न निरा व्यक्तिवाद। समाज मे अर्थ के उत्पादन तथा वितरण पर राज्य का नियन्त्रण जन-कल्याण के लिए आवश्यक है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि राज्य वैयक्तिक जीवन के प्रत्येक पक्ष का ही नियन्त्रण करे और बहुत शक्तिशाली बन जाये। व्यक्ति को अपने स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के सभी अवसर प्राप्त होने चाहिएँ। उसे शिक्षा सम्बन्धी तथा दवा-दारु सम्बन्धी सभी सुविधाएँ राज्य द्वारा मिलनी चाहिएँ। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का ठीक-ठीक इस्तेमाल भी तभी सम्भव है जब कि आर्थिक सुरक्षा हो। मिल

तथा स्पेन्सर का व्यक्तिवाद जाने-अनजाने मे व्यक्ति तथा राज्य मे एक प्रकार की शत्रुता की मौजूदगी स्वीकार करता है, इस कारण वे विचारक राज्य को लोक-कल्याणकारी कर्त्तव्यो को सौंपना ठीक नही समझते। परन्तु आज ऐसा नही माना जाता। अत आज सभी देशो मे राज्य किसी न किसी रूप मे लोक-कल्याणकारी कर्त्तव्यो का पालन करते हैं।

डा० गार्नर ने राज्य के कर्त्तव्यो को तीन भागो मे बाँटा है—(१) **आवश्यक कर्त्तव्य** (Essential functions) के अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जो कि वैयक्तिक सरक्षा तथा देश मे आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिए और उसकी बाह्य आक्रमणो से रक्षा के लिए आवश्यक हैं।

(२) **प्राकृतिक परन्तु अनावश्यक कर्त्तव्यो** के अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध उपर्युक्त आवश्यक कर्त्तव्यों से तो नही, परन्तु जिनका पालन राज्य के लिए प्राकृतिक है, क्योकि यह कार्य व्यक्तियो द्वारा पूरे नही किये जा सकते। डाक-व्यवस्था, सिचाई-व्यवस्था, सडको तथा पुलो का निर्माण इत्यादि।

(३) **वे कार्य जो न तो प्राकृतिक हैं और न आवश्यक** परन्तु जिनका उपयुक्त पालन व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। इस वर्ग के अन्तर्गत डा० गार्नर रेल, तार, टेलीफोन इत्यादि की व्यवस्था तथा वैज्ञानिक शिक्षा तथा सस्कृति सम्बन्धी कार्यो को रखता है।

परन्तु डा० गार्नर का उपर्युक्त मत वैज्ञानिक नही कहा जा सकता। वह केवल सुरक्षा व अमन तथा कानून स्थापना सम्बन्धी नकारात्मक कार्यों को ही राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यो के अन्तर्गत रखता है, जब कि वह समाज कल्याण के कर्त्तव्यो को अनावश्यक मानता है। अन्यत्र गार्नर स्वय स्वीकार करता है कि **"एक बात को सब लोग मानते हैं कि राज्य का कार्य व्यक्तियो मे शान्ति कानून तथा अमन बनाये रखने के पुलिस कार्यों से कहीं उच्चतर है, उसे मनुष्यों की एक-दूसरे से रक्षा करने के कार्य से बढकर अपने नागरिकों के लिए कुछ और भी करना चाहिए।"**[1] वह स्वय मानता है कि राज्य का कर्त्तव्य राष्ट्रीय जीवन को सभी प्रकार से पूर्ण तथा सम्पन्न बनाना है। प्रारम्भिक दिनो मे समाज के सरल सगठन तथा राजनीतिक चेतना के अविकसित अवस्था के फलस्वरूप राज्य के कर्त्तव्यो की एक निश्चित सीमा सम्भव थी, परन्तु आज उसका कर्त्तव्य नैतिक तथा बौद्धिक के अतिरिक्त सामाजिको की शारीरिक उन्नति भी है। **टी० एच० ग्रीन ने इसी बात का समर्थन करते हुए कहा है कि, "राज्य का काम पुलिस का कार्य सम्पन्न करना, अपराधियो को पकडना और समझौते पर निर्दयतापूर्वक अमल करवाना ही नहीं, परन्तु उसका काम यथाशक्ति व्यक्तियो के लिए उनकी बौद्धिक तथा नैतिक प्रवृत्तियों मे जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसे प्राप्त करने का**

---

1 "Upon one point, most men are now agreed, namely that the state has a higher mission than the mere police duty of maintaining peace, order and security of individuals, and that it ought to do more for its citizens than marely prevent them from robbing or murdering one another" —*Garner*

शक्ति तथा कर्त्तव्यो के विकेन्द्रीकरण के हक मे हैं। उनका कथन है कि राज्य को सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के नियन्त्रण का अधिकार नही दिया जा सकता। राज्य की शक्तियो की वृद्धि न केवल व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा उसके व्यक्तित्व विकास की ही शत्रु है अपितु तानाशाही की भी जनक है। हमारे यहाँ महात्मा गाधी ने भी राज्य-शक्ति तथा आर्थिक जीवन के विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया था, बहुसमुदायवादियो ने तो राज्य तथा समुदायो के बीच राजनीतिक शक्ति के बँटवारे का समर्थन किया है। चाहे हम उनके दृष्टिकोण से सहमत हो अथवा न हो एक बात तो आज हमे अवश्य माननी ही पडेगी कि राज्य को बहुत अधिक शक्ति सम्पन्न नही किया जा सकता और न ही उसे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के नियन्त्रण का अधिकार ही दिया जा सकता है। क्योकि बहुत से ऐसे कार्य हैं जिन्हे राज्य कर ही नही सकता और कुछेक कार्यो को वह कर तो लेगा परन्तु भद्दे तरीके से ही। अनेक प्रकार से छोटे-बडे कार्य करने से उनमे सुचारुता भी नही रहती।

राज्य व्यक्ति के आन्तरिक जीवन का नियमन तथा नियन्त्रण नही कर सकता। यही कारण है कि यह कहा जाता है कि विचार, धर्म, साहित्य और सस्कृति राज्य के नियन्त्रण से बाहर रहने चाहिएँ। इनमे मानवात्मा की अभिव्यक्ति होती है। जहाँ कही भी जीवन के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष के नियन्त्रण का प्रयत्न किया गया है, वहीं राज्य असफल रहा है या इस नियन्त्रण का परिणाम सास्कृतिक विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ है। हाँ, राज्य अश्लील साहित्य तथा समाजविरोधी तथा अनैतिक धार्मिक प्रथाओ पर अवश्य रोक लगा सकता है। राज्य को जनमत का नियन्त्रण भी नही करना चाहिए, सब को विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। परन्तु राज्य सामाजिक व्यवस्था को भग करने के अर्थ तथा गैरकानूनी कार्यवाहियो को उकसाने वाले विचारो पर रोक लगा सकता है। सामाजिक रीति-रिवाज भी राज्य के साधारण नियन्त्रणो से बाहर रहते हैं। राज्य सामाजिक रीति-रिवाज को बदल सकता है, परन्तु उचित अवसर पर ही यानि जनमत का समर्थन प्राप्त करके ही। जनता द्वारा समर्थित रस्मों-रिवाज को खत्म करने से राज्य-व्यवस्था के भग होने की सम्भावना बनी रहती है। राज्य को वह कार्य भी नही करने चाहिए जिन्हें व्यक्ति स्वय अच्छी तरह से कर सकता हो, क्योकि ऐसा करने पर राज्य-व्यक्ति के आत्म-विश्वास, स्वाधीनता तथा कार्य प्रारम्भ करने की क्षमता को ही नष्ट कर देगा।

आज राज्य के कर्त्तव्यो का स्वस्थ सिद्धान्त तो व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के मेल से ही बन सकता है। न तो निरा समाजवाद ही अपने आप मे पूर्ण है और न निरा व्यक्तिवाद। समाज में अर्थ के उत्पादन तथा वितरण पर राज्य का नियन्त्रण जन-कल्याण के लिए आवश्यक है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि राज्य वैयक्तिक जीवन के प्रत्येक पक्ष का ही नियन्त्रण करे और बहुत शक्तिशाली बन जाये। व्यक्ति को अपने स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के सभी अवसर प्राप्त होने चाहिएँ। उसे शिक्षा सम्बन्धी तथा दवा-दारु सम्बन्धी सभी सुविधाएँ राज्य द्वारा मिलनी चाहिएँ। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का ठीक-ठीक इस्तेमाल भी तभी सम्भव है जब कि आर्थिक सुरक्षा हो। मिल

तथा स्पेन्सर का व्यक्तिवाद जाने-अनजाने मे व्यक्ति तथा राज्य मे एक प्रकार की शत्रुता की मौजूदगी स्वीकार करता है, इस कारण वे विचारक राज्य को लोक-कल्याणकारी कर्त्तव्यो को सौंपना ठीक नही समझते। परन्तु आज ऐसा नही माना जाता। अत आज सभी देशो मे राज्य किसी न किसी रूप मे लोक-कल्याणकारी कर्त्तव्यों का पालन करते हैं।

डा० गार्नर ने राज्य के कर्त्तव्यो को तीन भागो मे बाँटा है—(१) **आवश्यक कर्त्तव्य** (Essential functions) के अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जो कि वैयक्तिक सुरक्षा तथा देश मे आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिए और उसकी बाह्य आक्रमणो से रक्षा के लिए आवश्यक हैं।

(२) **प्राकृतिक परन्तु अनावश्यक कर्त्तव्यो** के अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध उपर्युक्त आवश्यक कर्त्तव्यो से तो नही, परन्तु जिनका पालन राज्य के लिए प्राकृतिक है, क्योकि यह कार्य व्यक्तियो द्वारा पूरे नही किये जा सकते। डाक-व्यवस्था, सिचाई-व्यवस्था, सडको तथा पुलो का निर्माण इत्यादि।

(३) **वे कार्य जो न तो प्राकृतिक हैं और न आवश्यक** परन्तु जिनका उपयुक्त पालन व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। इस वर्ग के अन्तर्गत डा० गार्नर रेल, तार, टेलीफोन इत्यादि की व्यवस्था तथा वैज्ञानिक शिक्षा तथा सस्कृति सम्बन्धी कार्यो को रखता है।

परन्तु डा० गार्नर का उपर्युक्त मत वैज्ञानिक नही कहा जा सकता। वह केवल सुरक्षा व अमन तथा कानून स्थापना सम्बन्धी नकारात्मक कार्यों को ही राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यो के अन्तर्गत रखता है, जब कि वह समाज कल्याण के कर्त्तव्यो को अनावश्यक मानता है। अन्यत्र गार्नर स्वय स्वीकार करता है कि **"एक बात को सब लोग मानते हैं कि राज्य का कार्य व्यक्तियों मे शान्ति कानून तथा अमन बनाये रखने के पुलिस कार्यों से कहीं उच्चतर है, उसे मनुष्यो की एक-दूसरे से रक्षा करने के कार्य से बढकर अपने नागरिकों के लिए कुछ और भी करना चाहिए।"**[1] वह स्वय मानता है कि राज्य का कर्त्तव्य राष्ट्रीय जीवन को सभी प्रकार से पूर्ण तथा सम्पन्न बनाना है। प्रारम्भिक दिनो मे समाज के सरल सगठन तथा राजनीतिक चेतना के अविकसित अवस्था के फलस्वरूप राज्य के कर्त्तव्यो की एक निश्चित सीमा सम्भव थी, परन्तु आज उसका कर्त्तव्य नैतिक तथा बौद्धिक के अतिरिक्त सामाजिको की शारीरिक उन्नति भी है। **टी० एच० ग्रीन ने इसी बात का समर्थन करते हुए कहा है कि, "राज्य का काम पुलिस का कार्य सम्पन्न करना, अपराधियों को पकडना और समझौते पर निर्दयतापूर्वक अमल करवाना ही नहीं, परन्तु उसका काम यथाशक्ति व्यक्तियो के लिए उनकी बौद्धिक तथा नैतिक प्रवृत्तियों मे जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसे प्राप्त करने का**

---

1 "Upon one point, most men are now agreed, namely that tho state has a higher mission than the mere police duty of maintaining peace, order and security of individuals, and that it ought to de more for its citizens than marely prevent them from robbing or murdering one another" —*Garner*

समान अवसर प्रदान करना है।"[1]

गेटली, विलोब तथा वुडरो विल्सन राज्य के कर्त्तव्यो का विभाजन (१) आवश्यक कर्त्तव्य (Essential functions) तथा (२) ऐच्छिक कर्त्तव्य (Optional functions) के रूप मे करते हैं। आवश्यक कर्त्तव्यो के अन्तर्गत तो वे सभी कार्य आ जाते हैं जिनके पालन के लिए राज्य का उदय हुआ है। इन कर्त्तव्यो के न पालन करने का अर्थ है राज्य तथा राज्य व्यवस्था का विलोप। ऐच्छिक कर्त्तव्यो (Optional functions) के अन्तर्गत वे कार्य आते है जिन्हे राज्य चाहे तो न करे, क्योंकि उनके पालन न किए जाने से राज्य व्यवस्था के खत्म होने की कोई सम्भावना नही रहती।

राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यो के अन्तर्गत हम नीचे लिखे कार्य शामिल कर कर सकते हैं —

(क) वैयक्तिक जीवन की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करना राज्य का सर्व प्रमुख कर्त्तव्य है। वैयक्तिक जीवन को आन्तरिक तथा वाह्य दो प्रकार के खतरे हो सकते हैं। आन्तरिक सुरक्षा के लिए सरकार पुलिस तथा न्यायालयो की व्यवस्था करती है। नागरिकों मे आपस मे झगडे हो सकते हैं। चोरी डाके वगैरा से बचाव की व्यवस्था की जाती है, और कत्ल वगैरा की रोक-थाम के लिए कानून इत्यादि का प्रवन्ध किया जाता है। अपराधियो को सजा देना राज्य के लिए आवश्यक है, ऐसी व्यवस्था की अनुपस्थिति मे राज्य मे अराजकता तथा अव्यवस्था फैल जायगी। राज्य को नागरिको के जीवन तथा उनकी सम्पत्ति को बाहरी आक्रमणो से भी बचाना होता है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए राज्य नौ सेना, वायु सेना तथा स्थल सेना की व्यवस्था करता है।

(ख) वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए राज्य कानून बनाता है। कानून तथा शासन की अनुपस्थिति मे स्वतन्त्रता की अनुभूति असम्भव है। प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य होता है कि वह व्यक्ति को चलने-फिरने, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने और बसने की स्वतन्त्रता की व्यवस्था करे। प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र मे रह अपने अधिकारो का उपभोग करे और मर्यादाओ के अतिक्रमण करने वालो को सजा दी जाय।

गेटल (Gettel) के मतानुसार राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यो के दो भाग हैं— आर्थिक तथा सैनिक। आर्थिक कर्त्तव्यो के अन्तर्गत मुद्रा तथा मुद्राकन (Currency and coinage) का नियन्त्रण करना, कर लगाना आयात तथा निर्यातकर (Tarriffs) का नियमन, शराब का नियन्त्रण, जगल, सार्वजनिक इमारतें, युद्ध

---

1 "The business of the state is not merely the business of a police man, of arresting wrong-doers, or of ruthlessly enforcing contracts, but of providing for men an equal chance as far as possible, of realising what is best in their intellectual or moral natures"

—*T H Green.*

सामग्री तथा डाक, रेल, तार इत्यादि की व्यवस्था है।

सैनिक कर्त्तव्यो के अन्तर्गत स्थल सेना, नौ सेना तथा वायु सेना की व्यवस्था आती है। प्रत्येक राज्य अपने बजट का बहुत बडा भाग सेना पर खर्च करता है।

वुडरो विलसन राज्य के आवश्यक कार्यों के अन्तर्गत नागरिको के जान-माल की रक्षा, पति-पत्नी और माता-पिता तथा सन्तान के पारस्परिक सम्बन्धो की व्यवस्था, जायदाद के बेचने, तबादले तथा दूसरो को देने की व्यवस्था, अपराधो की परिभाषा, दण्ड की व्यवस्था, दीवानी न्यायालयो की स्थापना, नागरिको के अधिकार तथा कर्त्तव्यो का निर्धारण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा बाह्य हमलो से राज्य की सुरक्षा इत्यादि को रखता है।

राज्य के ऐच्छिक कर्त्तव्य (Optional functions of the State)—राज्य के जिन कर्त्तव्यो का जिक्र हमने ऊपर किया है, वे राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यो के अन्तर्गत आते हैं। राज्य के ऐच्छिक कर्त्तव्य वे हैं जिन्हे यदि राज्य न भी पालन करे तो वे खत्म नही हो जाते। परन्तु इस अवस्था मे राज्य का स्वरूप बहुत कुछ अवाछनीय होगा। ऐसा स्वरूप होगा जिसे कि लोग अधिकतर पसन्द नही करेंगे। राज्य का उद्देश्य, अरस्तू के शब्दो मे, उच्च नैतिक जीवन की प्राप्ति है। ऐसा तभी सम्भव है जब कि राज्य केवल-मात्र पुलिस-मैन के ही कार्यों को न करे अपितु समाज के नैतिक तथा आर्थिक कल्याण के लिए भी प्रयत्न करे। राज्य के उपर्युक्त कर्त्तव्य नकारात्मक (Negative) कर्त्तव्य हैं। आज सभी जगह ये यकीन किया जाने लगा है कि राज्य को जनता के सामान्य कल्याण के लिए अधिक-से-अधिक ऐच्छिक कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिए। ऐच्छिक कर्त्तव्यो के अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जिन्हे कुछ व्यक्ति मिलकर नही कर सकते या अगर कर भी सकते हैं तो अच्छी तरह से नही कर पाते। डाक-व्यवस्था, रेल, तार, सडको तथा पुलो का निर्माण यदि सरकार द्वारा न किया जाय तो उन कार्यो का व्यवस्थित रूप से हो सकना ही मुश्किल है। सडकें, पुल, बाँध तथा नहरें इत्यादि बनाने का कार्य तो इतना विस्तृत होता है कि वह साधारणतया सरकार के अतिरिक्त अन्य सस्थाओ द्वारा कभी पूर्ण नही किया जा सकता। व्यापार, वाणिज्य, बैंकिंग इत्यादि का नियन्त्रण सरकारा द्वारा इसलिए लाजमी है क्योकि उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से है। अगर इन कार्यो पर सरकार का नियन्त्रण न हो तो पूंजीपति इनका प्रयोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए करेंगे, सामाजिक हित के लिए नही। धन के उत्पादन तथा उसके वितरण का सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से है, अत समाजहित को सामने रखते हुए सरकार को उसका नियमन तथा नियन्त्रण करना ही चाहिए।

इसी प्रकार राज्य को निर्धन तथा कमजोर व्यक्तियो की सहायता तथा रक्षा भी करनी चाहिए। चोर तथा डाकुओ से वैयक्तिक अधिकार तथा सम्पत्ति की रक्षा राज्य के आवश्यक कर्त्तव्यो मे है। परन्तु इन कर्त्तव्यो का पालन व्यर्थ है, अगर निर्धन तथा बेकार मजदूरो का धनपतियो द्वारा शोषण हो या बेकारी के कारण वे भूखे मर जाये। अगर राज्य का कार्य वैयक्तिक अधिकारो की चोर तथा डाकुओ से रक्षा करना

है तो उसका कार्य निर्धन तथा बेकार मजदूरो को पूजीपतियो के शोषण से बचाना भी है। जनसाधारण के मानसिक विकास तथा उनकी बौद्धिक तथा सास्कृतिक प्रगति के लिए राज्य को शिक्षा के प्रसार तथा कला की अभिवृद्धि का प्रयत्न भी करना चाहिए। इन सभी जन कल्याणकारी कर्त्तव्यो को निभाने वाले राज्यो को लोक-हितकारी राज्य कहा जाता है। आजकल विभिन्न राज्य निम्नलिखित ऐच्छिक परन्तु जन-कल्याणकारी कर्त्तव्यो का पालन करते हैं—

(१) **शिक्षा का प्रचार**—आज के लोक-हितकारी कर्त्तव्यो मे से एक है। राज्य का उद्देश्य अगर व्यक्ति के लिए पूर्ण तथा सर्वश्रेष्ठ नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए सामान्य परिस्थितियो का निर्माण है तो शिक्षा उन परिस्थितियो मे सर्वप्रमुख है। शिक्षा व्यक्ति की बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियो के विकास का बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। पुराने समय में शिक्षा कुछेक लोगो के लिए ही प्राप्य होती थी। अक्सर अमीर-उमरा लोग या उनके बच्चे ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। शिक्षा का प्रबन्ध धार्मिक स्थानो मे किया जाता था। अब परिस्थितियो के बदल जाने के कारण शिक्षा की व्यवस्था धीरे-धीरे राज्य अपने हाथ मे ले रहा है, प्राय सभी प्रगतिशील राज्यों मे प्रारम्भिक शिक्षा राज्य द्वारा ही दी जाती है। सोवियत रूस जैसे समाजवादी राज्य मे तो उच्च शिक्षा की व्यवस्था भी राज्य के हाथ मे है।

सरकार को औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था भी करनी चाहिए। पुस्तकालय तथा कला मन्दिरो की व्यवस्था भी राज्य करते हैं।

(२) **जन-स्वास्थ्य** की देखभाल भी राज्य को करनी चाहिए। आज स्पैन्सर के इस विचार मे कोई यकीन नही करता कि राज्य को रोगी तथा निराश्रित व्यक्तियो को मरने देना चाहिए ताकि केवल स्वस्थ और उपयुक्ततम लोग ही बच सकें। राज्य हस्पतालो की व्यवस्था करता है, महामारियो की रोकथाम के लिए दवा-दारू का भी प्रबन्ध करता है। नगरो तथा गाँवो मे सफाई का प्रबन्ध किया जाता है। खाने-पीने के पदार्थों में मिलावट न हो, कारखानो मे मजदूरो को अधिक समय तक काम न करना पडे, उनके स्वास्थ्य इत्यादि की ठीक-ठीक देखभाल हो सके, इन सभी की व्यवस्था राज्य करता है।

(३) **निर्धन, वृद्ध तथा कमजोर व्यक्तियों की सहायता** करना भी आज राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता है। पुराने समय मे ऐसी कोई व्यवस्था नही रहती थी। आजकल लगभग सभी राज्य गरीब, वृद्ध तथा कमजोर व्यक्तियो को सहारा देते हैं। उन्हें काम-काज देते हैं और उपयुक्त आर्थिक सहायता भी प्रदान करते हैं।

(४) **उद्योग-धन्धो का नियन्त्रण** भी सरकार को करना पडता है। प्राय सभी राज्यो मे रेलवे, डाक-तार, बिजली तथा यातायात के साधनो का नियन्त्रण तथा विकास सरकार द्वारा किया जाता है। इन कामो को जन-साधारण, सीमित आर्थिक साधनो के कारण तथा मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति के कारण अच्छी तरह नही कर पाते है। सरकार ही इन कार्यो को अपने हाथ मे ले लेती है।

(५) **कृषि तथा व्यापार का नियमन** करते हुए सरकार नहर बनाती है,

बीज बाटती है, गोदाम खोलती है, किसानो की सहायता करती है, उनकी फसलें खरीदती है। इसी प्रकार व्यापार के नियमन के लिए प्रमाणिक मानदण्डो का निश्चय करती है, मुद्रा निर्माण करती है तथा व्यापारिक सुविधा के लिए यातायात के साधनों का विकास करती है। कभी-कभी राज्य स्वय बडे-बडे उद्योग-धन्धो को अपने हाथ मे ले व्यापार मे भागीदार होता है। विदेशी व्यापार का नियन्त्रण तो सरकार द्वारा ही किया जाता है।

(६) **श्रम का नियमन** (Regulation of labour) करती हुई सरकार मजदूरो के वेतन, उनके काम करने का समय, उनके स्वास्थ्य इत्यादि की व्यवस्था करती है। आज की उन्नतिशील सरकारें मजदूरो के रोग, बुढापे तथा बेकारी के बीमे का प्रबन्ध भी करती हैं। उनके रहन-सहन तथा उनकी बस्तियो की सफाई की व्यवस्था भी सरकारी कानून द्वारा की जाती है।

(७) **समाज-सुधार तथा निर्धनता निवारण** के लिए राज्य न केवल कानून ही बनाता है अपितु साधारण जनो मे शिक्षा का प्रसार तथा सामाजिक बुराइयो के प्रति जनमत भी तैयार करता है। राज्य का कर्त्तव्य नागरिको की नैतिक तथा बौद्धिक उन्नति करना है। बुरी समाज व्यवस्थाओ तथा बुरे रस्मोरिवाजो की उपस्थिति मे ऐसा हो सकना सम्भव नही, इसलिए राज्य बुरे रिवाजो को तथा सामाजिक बुराइयो को कानून द्वारा खत्म करने का प्रयत्न करता है। राज्य का कार्य जन-साधारण मे फैली गरीबी को दूर करना भी है। गरीब जन-साधारण मे आत्मविश्वास की कमी रहती है। वह स्वतन्त्रता का उपभोग भी नही कर सकता। **उसे अपनी जीविका के लिए सदा दूसरो पर आश्रित रहना पड़ता है, ऐसी अवस्था मे वे अपना नैतिक मान दण्ड ऊँचा नहीं बना पाते।** राज्य को सभी नागरिको के जीवनयापन के मानदण्ड को उठाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(८) **आमोद-प्रमोद की सुविधाओ** का विकास भी आज के राज्य के लिए एक आवश्यक कर्त्तव्य के रूप मे स्वीकार किया जाता है। इस कार्य की पूर्ति के लिए राज्य सिनेमागृह, नाटकघर, रेडियो, सार्वजनिक उद्यान, क्रीडास्थल तथा कला-केन्द्रो की व्यवस्था करते है। सगीत, नाटक तथा साहित्य के विकास के लिए कलाकारो को पुरस्कार देकर उन्हे प्रोत्साहित करते है।

(९) **उपसहार** (Conclusion)—ऊपर हमने राज्य के आवश्यक तथा ऐच्छिक कर्त्तव्यो का विवरण दिया है। उस विवरण को किसी प्रकार से पूर्ण नही कहा जा सकता। राज्य के ऐच्छिक कर्त्तव्यो की सख्या निर्धारित नही की जा सकती। उसका कार्य-क्षेत्र दिन प्रति दिन विस्तृत होता चला जा रहा है। उसका रूप अध्यापक, चिकित्सक, नर्स तथा मनोरजनकर्त्ता के अतिरिक्त रक्षक तथा पालक का भी है। आज यह कहना कि राज्य का कार्य केवल सुरक्षा सम्बन्धी है, उसका उद्देश्य जन-साधारण का नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास नही, एक अन्धविश्वास मात्र समझा जाता है। उनका उद्देश्य बहुत व्यापक है, वह व्यक्ति की सभी प्रकार की प्रगति के लिए उत्तरदायी है।

Important Questions

Question	*Reference*
1 What are your ideas on the subject of State interference, that is, the *functions of Government* ?	Art 164
2 Discuss the functions of the State which, in your opinion the modern State should perform (*Sept 1955*)	Art 164
3 Which of the two concepts of power and service represents the true purpose of the State ? Elaborate (*Pb 1955*)	
Or	
What, in your view, are the limits to State action ? Give reasons for your answer (*Pb 1953*)	
Or	
What limitations, if any, would you like to place on State activity ? Give reasons for your answer (*Pb 1952 Sept*)	Arts 163 and 164
4 Distinguish between the essential and optional functions of Government (*Cal 1943, Bom 1936, Pb 1938*)	Art 164
5 "The function of the State is the hindrance of hindrances" Is this a suitable criterion of State activity ? (*Agra 1943, 1939, 1934*)	Arts 163 and 164
6 Define, and in general terms explain the ends of the State. (*Pb 1942, Bom 1941, C U 1952*)	Arts 163 and 164

२६

राज्य के कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (१)

(THEORIES OF STATE FUNCTIONS)

राज्य का कार्य क्षेत्र क्या हो ? राजनीति शास्त्र का यह एक प्रमुख प्रश्न है। इस पर सदियों से विचार होता चला आ रहा है। विभिन्न युगो मे विभिन्न प्रकार से इस प्रश्न के उत्तर दिए गए हैं। ये सभी उत्तर राजनीति-शास्त्र मे राज्य के कार्य क्षेत्र विषयक सिद्धान्त कहे जाते हैं। ये सभी सिद्धान्त राजनीति शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो मे रखे जाते हैं। ये न केवल राज्य के कर्त्तव्यो की ही विवेचना करते हैं बलिक राज्य के स्वरूप उसकी प्रकृति, उसके नैतिक आधारो का भी विवेचन करते हैं। आगे हम राजनीतिशास्त्र के इन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का क्रमश विवेचन करेगे।

१६५. आदर्शवाद (The Idealistic theory of the State)

राज्य के अधिकार क्षेत्र की विवेचना करने वाले सिद्धान्तो मे आदर्शवाद सर्व प्रमुख है। हिन्दी का 'आदर्शवाद' शब्द अग्रेजी के (Idealism) शब्द का पर्याय है। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त, दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical theory) या आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical theory) भी कहलाता है। सुप्रसिद्ध अमेरिकन समाजशास्त्री मेकाइवर (MacIver) तो इसे रहस्यात्मक सिद्धान्त (Mystical theory) कहता है। राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त के आध्यात्मिक तथा नैतिक आधार अवश्य हैं, क्योकि इस सिद्धान्त के समर्थको ने भौतिक जगत (Material world) तथा आध्यात्मिक जगत (World of ideas) मे भेद किया है और विचार (Idea) को भौतिक जगत से स्वतन्त्र तथा उच्च माना है। उन्होंने राज्य को मानव मस्तिष्क की सृष्टि कहा है।[1] उनका आधार विचार है। इस सिद्धान्त ने राज्य की उच्चतम नैतिक सत्ता को भी स्वीकार किया है, और मनुष्य जीवन के नैतिक विकास के लिए उसे आवश्यक माना है।

परन्तु इसे 'आदर्शवादी सिद्धान्त' इसलिए कहा जाता है कि **'यह राज्य के आदर्शरूप की विवेचना करता है, वास्तविक की नहीं'**। आदर्श राज्य क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? आदर्शवादी विचारक इन प्रश्नो का उत्तर मौजूदा राज्यो के रूप को देखकर नही देता, अपितु अपनी कल्पनाशक्ति के बल पर उसके रूप के चित्रण का प्रयत्न करता है।

---

1. "States do not come out of oak or rock They result from the mind of the people that live in them"—*Plato*.

Important Questions

Reference

1 What are your ideas on the subject of State interference, that is, the functions of Government ? — Art 164

2 Discuss the functions of the State which, in your opinion the modern State should perform (*Sept 1955*) — Art 164

3 Which of the two concepts of power and service represents the true purpose of the State ? Elaborate (*Pb 1955*)

Or

What, in your view, are the limits to State action ? Give reasons for your answer (*Pb 1953*)

Or

What limitations, if any, would you like to place on State activity ? Give reasons for your answer (*Pb 1952 Sept*) — Arts 163 and 164

4 Distinguish between the essential and optional functions of Government (*Cal 1943, Bom 1936, Pb 1938*) — Art 164

5 "The function of the State is the hindrance of hindrances" Is this a suitable criterion of State activity ? (*Agra 1943, 1939, 1934*) — Arts 163 and 164

6 Define, and in general terms explain the ends of the State. (*Pb 1942, Bom 1941, C U 1952*) — Arts 163 and 164

२६

राज्य के कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (१)

(THEORIES OF STATE FUNCTIONS)

राज्य का कार्य क्षेत्र क्या हो ? राजनीति शास्त्र का यह एक प्रमुख प्रश्न है। इस पर सदियो से विचार होता चला आ रहा है। विभिन्न युगो मे विभिन्न प्रकार से इस प्रश्न के उत्तर दिए गए हैं। ये सभी उत्तर राजनीति-शास्त्र में राज्य के कार्य क्षेत्र विषयक सिद्धान्त कहे जाते हैं। ये सभी सिद्धान्त राजनीति शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो मे रखे जाते हैं। ये न केवल राज्य के कर्त्तव्यो की ही विवेचना करते हैं बल्कि राज्य के स्वरूप उसकी प्रकृति, उसके नैतिक आधारो का भी विवेचन करते हैं। आगे हम राजनीतिशास्त्र के इन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का क्रमश विवेचन करेगे।

१६५. आदर्शवाद (The Idealistic theory of the State)

राज्य के अधिकार क्षेत्र की विवेचना करने वाले सिद्धान्तो मे आदर्शवाद सर्व प्रमुख है। हिन्दी का 'आदर्शवाद' शब्द अग्रेजी के (Idealism) शब्द का पर्याय है। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त, दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical theory) या आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical theory) भी कहलाता है। सुप्रसिद्ध अमेरिकन समाजशास्त्री मेकाइवर (MacIver) तो इसे रहस्यात्मक सिद्धान्त (Mystical theory) कहता है। राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त के आध्यात्मिक तथा नैतिक आधार अवश्य हैं, क्योकि इस सिद्धान्त के समर्थको ने भौतिक जगत (Material world) तथा आध्यात्मिक जगत (World of ideas) मे भेद किया है और विचार (Idea) को भौतिक जगत से स्वतन्त्र तथा उच्च माना है। उन्होंने राज्य को मानव मस्तिष्क की सृष्टि कहा है।[1] उनका आधार विचार है। इस सिद्धान्त ने राज्य की उच्चतम नैतिक सत्ता को भी स्वीकार किया है, और मनुष्य जीवन के नैतिक विकास के लिए उसे आवश्यक माना है।

परन्तु इसे 'आदर्शवादी सिद्धान्त' इसलिए कहा जाता है कि **'यह राज्य के आदर्शरूप की विवेचना करता है, वास्तविक की नहीं'**। आदर्श राज्य क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? आदर्शवादी विचारक इन प्रश्नो का उत्तर मौजूदा राज्यो के रूप को देखकर नही देता, अपितु अपनी कल्पनाशक्ति के बल पर उसके रूप के चित्रण का प्रयत्न करता है।

---

1. "States do not come out of oak or rock They result from the mind of the people that live in them." —*Plato*.

आदर्शवादी सिद्धान्त का विकास—राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त का एक लम्बा इतिहास है। इसका स्वरूप निर्धारण प्राचीन ग्रीक विचारको के मन्तव्यो मे मिलता है। पुराने यूनान के सुप्रसिद्ध विचारक प्लेटो तथा अरस्तू दोनो ने ही वर्त्तमान युग की आदर्शवादी विचारधारा के आधारभूत तथ्यो का विवेचन किया है। प्लेटो तथा अरस्तू दोनो ही राज्य को सर्वथा प्रकृत (Natural) मानते है। वे यह नही मानते कि राज्य एक आवश्यक बुराई है या राज्य की रचना पारस्परिक समझौते द्वारा हुई है। उनके मतानुसार मनुष्य का स्वभाव ही उसे समाज निर्माण की ओर प्रवृत्त करता है, जिस प्रकार मनुष्य स्वभाव से ही घटता-वढता है ठीक वैसे ही स्वभाव से ही समाज की रचना करता है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य नैतिक उच्चता की प्राप्ति है जो समाज मे रहकर ही सम्भव है, समाज से वाहर नही। मनुष्य जीवन मे पूर्णता सामाजिक सहयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। राज्य नैतिक सत्त। है। वह साध्य है, साधन नही। वह अपने आप मे पूर्ण है, किसी पर आश्रित नही। सक्षेप मे अरस्तू तथा प्लेटो के मतानुसार राज्य एक जीवित प्राणी की तरह है, उसका अपना व्यवितत्व है और अपनी नैतिक इच्छा है। व्यक्ति का कर्त्तव्य राज्य की उच्चता तथा श्रेष्ठता की प्राप्ति मे सहयोग देना है। उसके अधिकार तथा कर्त्तव्य सभी सामाजिक जीवन की देन हैं और उसी मे खत्म हो जाते हैं। प्लेटो तथा अरस्तू समाज तथा राज्य मे भेद नही करते।

प्लेटो तथा अरस्तू के अनन्तर यूनान की राजनैतिक विचार-धारा मे आदर्श-वाद को अस्वीकार कर दिया गया है। राज्य को अप्राकृतिक रचना समझा जाने लगा। व्यवित को ही साध्य माना गया और राज्य को साधन। साथ ही प्लेटो तथा अरस्तू के सकुचित राष्ट्रवाद का स्थान विश्व वन्धुत्व ने ले लिया। नैतिक तथा सामाजिक अधि-कारो के स्थान पर प्राकृतिक विधान तथा प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त की रचना की गई।

मध्य-युग मे प्लेटो तथा अरस्तू के विचार प्रकाश मे नही आए, न ही उन्हे राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्तो के विवेचन मे ही अपनाया गया। इधर-उधर हम उनसे प्रभावित कुछ राजनैतिक रचनाओ को अवश्य देख पाते हैं परन्तु यूनान के इन आदर्श-वादी विचारको का वर्त्तमान राजनैतिक विचारो पर अटूट प्रभाव तो रूसो से प्रारम्भ होता है। वर्त्तमान युग मे रूसो ने ही सर्व प्रथम राज्य के नैतिक स्वरूप को स्वीकार कर उसे मनुष्य के उच्चतम नैतिक विकास का सावन माना। रूसो से पूर्व लगभग सभी राजनीतिक विचारको ने राज्य को एक वनावटी रचना माना है। वे उसे नैतिक कर्त्तव्य भी नही सौंपते।। उनके विचारो मे व्यवित ही राज्य के रूप का अन्तिम विधायक है। रूसो ने अपने सिद्धान्त का आधार 'सामान्य इच्छा' (General will) की कल्पना को रखा है। जैसा कि हम पीछे ही लिख आए हैं कि राज्य अपनी प्रकृति मे एक जीवित प्राणी की तरह है, उसका अपना व्यक्तित्व है और अपनी इच्छा है, इसी इच्छा को वह 'सामान्य इच्छा' (General will) का नाम देता है। सामान्य इच्छा ममाज के सभी सदस्यो की उच्च तथा नैतिक इच्छा से मिलकर वनी है। राज्य के नियम इसी नैतिक इच्छा के प्रतिनिधि हैं। व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता की

अनुभूति इन्ही नियमो के पालन मे मौजूद है।

रूसो के 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त के आधार पर ही हीगल ने राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त की रचना की। काण्ट तथा बोसांके भी इसी से प्रभावित थे। जर्मनी मे आदर्शवाद के विकास का श्रेय काण्ट, हीगल, तथा ट्रीट्स्के को है। इग्लैण्ड मे इस सिद्धान्त की सर्वप्रियता का श्रेय टी० एच० ग्रीन को दिया जा सकता है, परन्तु इस सिद्धान्त की विशद विवेचना बोसांके की रचना 'The Philosophical Theory of the State' मे मिलती है। हीगल ट्रीट्स्के, वोसाके तथा ब्रैडले ने आदर्शवाद के अतिरजित रूप की विवेचना की है। काण्ट तथा टी० एच० ग्रीन के विचारो मे सयम है। हीगल ने व्यक्ति की अपेक्षा राज्य को अधिक महत्त्व दिया है और व्यक्ति को राज्य का दास बना दिया है। टी० एच० ग्रीन इत्यादि व्यक्ति के अधिकारो की, उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अवहेलना नही करते, न ही वे राज्य को उसी प्रकार दैवगुण सम्पन्न मानते हैं, जिस प्रकार हीगल स्वीकार करता है।

आदर्शवादी सिद्धान्त के मुख्य आधार तो हम प्लेटो तथा अरस्तू के विचारो मे ही पाते है—

(१) सर्व प्रथम तो ग्रीक राजनीति शास्त्रियो ने राज्य को स्वतः पूर्ण माना है। वे राज्य के अन्तर्गत ही मनुष्य के सामाजिक जीवन के सभी पक्षो को समेट लेते है। उनका विश्वास है कि मनुष्य का सम्पूर्ण सामाजिक जीवन राज्य के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार वे समाज तथा राज्य मे अन्तर नही,मानते। राज्य को स्वतः पूर्ण मानने का एक परिणाम यह भी होता है कि राज्य अपने आप मे एक पूर्ण मानवीय समाज है जिसे अन्य किसी समाज की आवश्यकता ही नही। व्यक्ति की नगर राज्य की सदस्यता तथा मानव समाज की सदस्यता एक समान हैं, वस्तुत' वह राज्य की सदस्यता के अतिरिक्त कुछ नही। इस प्रकार एक ओर तो राज्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सभी सामाजिक सस्थाओ की ओर से आँख ही मूद ली गई, दूसरी ओर राज्य को व्यक्ति जीवन के नियन्त्रण की अबाध स्वतन्त्रता प्रदान की गई। इसका कारण भी स्पष्ट है, व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत रहता हुआ ही अपनी सम्पूर्ण कामनाओ तथा आवश्यकताओ की पूर्ति करता है, राज्य के वाहर उसके जीवन का कोई मूल्य नही। अत निश्चय ही राज्य को उसके जीवन के नियन्त्रण का अबाध अधिकार होना चाहिए।

(२) ग्रीक विचारको ने दूसरी ओर राज्य के मनोवैज्ञानिक आधार का सूक्ष्म विवेचन किया है। जहाँ सॉफिस्ट दार्शनिको का विचार था कि राज्य एक अप्राकृतिक तथा बनावटी रचना है, वहाँ प्लेटो तथा अरस्तू उसे प्राकृतिक मानते हैं। अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थको ने मानव प्रकृति के वास्तविक रूप की अभिव्यक्ति प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) मे ही मानी है। उनका कथन है कि मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता तथा अधिकार का उपभोग प्राकृतिक अवस्था मे ही करता रहा है। परन्तु प्लेटो तथा अरस्तू इस बात मे यकीन नही करते। उनका कथन है कि राज्य मे बाहर व्यक्ति का जीवन कभी भी स्वाभाविक नही माना जा सकता। समाज से बाहर या तो पशु रह सकता है या फिर देवता, मनुष्य मात्र के लिए ऐसा सम्भव

नही। मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास समाज मे ही रहकर कर मकता है। उसकी नैतिक स्वतन्त्रता की अनुभूति भी ममाज मे ही सम्भव है। प्राचीन ग्रीक विचारको ने राज्य के सावयव (Organic) रूप को स्वीकार किया है।

१६६. वर्त्तमान युग का आदर्शवाद (Modern Idealism)

उपर्युक्त आधारभूत तथ्यों को स्वीकार करते हुए हीगल के नेतृत्व मे राज्य के दैवीय स्वरूप के विकास और उसकी अवाधशक्ति की धारणा का समर्थन किया गया है। हीगल के मतानुसार राज्य के भीतर रहते हुए ही व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता को अनुभव कर सकता है। राज्य के कानून पालन मे ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सार निहित है। हीगल यह नहीं स्वीकार करता कि मनुष्य प्राकृतिक स्थिति मे स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है या उसे कुछ अधिकार प्राप्त हैं जो कि उसे राज्य से नही अपितु प्रकृति से प्राप्त हुए हैं। व्यक्ति के हित तथा अविकार की प्राप्ति राज्य मे ही सम्भव है, उससे वाहर नही।

राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है। राजकीय शक्ति चाहे किसी भी व्यक्ति के हाथ मे क्यो न हो, वह दैवीय है। वह कभी गलत नही हो सकती। वह हमेशा न्यायपथ का अनुसरण करती है। राज्य तथा व्यक्ति के हितो मे कभी भी कोई विरोध नही होता। कभी कोई विरोध उत्पन्न हो भी तो भी राज्य सदा न्याय-पथ पर होता है, और व्यक्ति गलत होता है। क्योकि राज्य सामूहिक हित का प्रति-निधि है, वह व्यक्ति की नहीं समाज की वुद्धि को प्रतिविम्वित करता है। व्यक्ति तो स्वार्थी भी हो सकता है, परन्तु राज्य नही।

हीगल के ऐसा मानने का कारण रूसो का 'सामान्य इच्छा' (General will) का सिद्धान्त है। 'सामान्य इच्छा' के आधार पर यह यकीन किया जाता है कि मनुष्य की नैतिक तथा श्रेष्ठ इच्छा का प्रतिनिधित्व राज्य द्वारा होता है। 'सामान्य इच्छा' सदा ही तर्कसगत होती है। वह सदा ही समाजहित का ध्यान रखती है और वह सदा ही ठीक होती है। हीगल की स्वतन्त्रता की परिभाषा नकारात्मक नहीं। वह यह नही मानता कि मनुष्य की स्वतन्त्रता का अर्थ पावन्दियो की अनुपस्थिति है। स्वतन्त्रता की ऐसी परिभाषा सकुचित तथा नकारात्मक होती है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह भी नहीं कि मनुष्य जो चाहे करे। दरअसल स्वतन्त्रता **का अर्थ है वुद्धिपूर्वक कार्य करना**। हीगल वैयक्तिक वुद्धि की बजाए सामाजिक या सामूहिक वुद्धि पर अधिक यकीन करता है। वह यह नहीं मानता कि व्यक्ति अपने कार्यो में सदा ही वुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है। अनेक वार वैयक्तिक वुद्धि गलत रास्ता चुन सकती है और इस प्रकार वह अपने ही हित के विरुद्ध जा सकती है। समाज के कार्य सामूहिक वुद्धि के परिणाम होते हैं। कानून इसी सामूहिक वुद्धि पर आधारित होते हैं, अत व्यक्ति का कल्याण इन कानूनो के अनुसरण मे है, उसकी स्वतन्त्रता की सच्ची अनुभूति सामान्य इच्छा द्वारा प्रेरित राजकीय नियमों के पालन से ही सम्भव है। राज्य के वे सभी कार्य जो सामान्य इच्छा के परिणाम हैं और जो सामूहिक प्रतिभा पर आधारित हैं, सदा ही

न्यायपूर्ण और व्यक्ति के सामान्य हित के पोषक होते हैं। दूसरे शब्दो मे राज्य का कोई भी कार्य अनैतिक नही होता, क्योंकि उसके कार्य उस सामान्य इच्छा के परिणाम होते हैं जो व्यक्ति की उच्चतम नैतिक धारणाओ पर आधारित होते हैं।

हीगल इत्यादि आदर्शवादियो का विचार है कि राज्य का अपना व्यक्तित्व होता है, और इसी कारण वह साधन स्वरूप नही बल्कि साध्य है। राज्य के अपने अधिकार हैं और ये अधिकार व्यक्ति के अधिकारो से अधिक यथार्थ हैं। व्यक्ति के अधिकार तो राज्य की रचना मात्र है, राज्य जब चाहे उन्हे समाप्त कर सकता है। वैयक्तिक अधिकार राज्य की देन हैं इसलिए राज्य तथा व्यक्ति मे कभी कोई विरोध नही हो सकता।

हीगल का राज्य वेदान्तियों के ब्रह्म की भान्ति पूर्ण (Absolute) है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आदर्शवाद के अनुसार राज्य के स्वरूप तथा व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे निम्नलिखित तथ्य विशेष विचारणीय हैं—

(क) राज्य के कार्य 'सामान्य इच्छा' द्वारा प्रेरित होते हैं, और सामान्य इच्छा मे प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा मौजूद होती है, अत राज्य सदा ही समाज के नागरिको की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। वह कभी भी अप्रतिनिधिक नही होता। राज्य द्वारा निर्धारित नियमो मे तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य मे कोई विरोध नही है।

(ख) व्यक्तियो के पारस्परिक तथा व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण अग हैं। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व राज्य के व्यक्तित्व का ही भाग है। जिस प्रकार शरीर मे भिन्न अग हैं परन्तु वे अग अन्तिम रूप से शरीर के अभिन्न भाग हैं, उनसे पृथक् उनका कोई जीवन सम्भव नही। राज्य से पृथक् मनुष्य भी कुछ नही सोच सकता।

(ग) वैयक्तिक नैतिकता का सरक्षक तथा नियामक राज्य है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व राज्य मे विलीन हो जाता है। उसी प्रकार व्यक्ति की नैतिकता भी राज्य के नीति-धर्म मे विलीन हो जाती है। राज्य इस नैतिकता का जनक होते हुए भी इसके बन्धन से स्वतन्त्र है। उसके कार्यों पर नैतिक नियम लागू नहीं हो सकते। दूसरे शब्दो मे राज्य के कार्यो को बुरा-भला नही कहा जा सकता। अगर राज्य पर नैतिक नियम लागू हो तो इसका अर्थ है कि राज्य की प्रभुसत्ता ही खत्म हो जाएगी। राज्य की प्रभुता, उसकी सर्वोपरिता तथा उच्चता उसकी अबाध शक्ति के ही कारण है। यही कारण है कि आदर्शवादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून मानने के लिए तैयार नही।

१६७. टी० एच० ग्रीन के आदर्शवादी विचार

आदर्शवाद के उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हमे टी० एच० ग्रीन द्वारा किए गए एतद्विषयक विचारो से अवगत हो लेना चाहिए। ग्रीन पर इग्लैण्ड के व्यक्तिवाद का विशेष प्रभाव था। आदर्शवादी विचारको मे वह प्लेटो तथा हीगल की अपेक्षा अरस्तू और काण्ट के राजनैतिक विचारो के अधिक निकट था। उसने आदर्शवाद के संयमित रूप को प्रस्तुत किया है। प्लेटो व अरस्तू इत्यादि की भाति वह मनुष्य को

सामाजिक प्राणी समझता है और राज्य को कुदरती तथा नैतिक संस्था स्वीकार करता है, **परन्तु वह राज्य को न तो परम पूर्ण ही मानता है और न सर्वशक्तिमान** (Omnipotent)। उसका विचार है कि राज्य की शक्ति आन्तरिक तथा वाह्य दोनों ही दृष्टियों से सीमित है। (१) आन्तरिक दृष्टि से राज्य शक्ति के सीमित होने का कारण तो स्पष्ट है। ग्रीन कहता है कि राज्य-विधान केवल मात्र हमारे वाह्य जीवन का ही नियमन कर सकता है, आन्तरिक का नही। आन्तरिक जीवन उसकी पहुँच से वाहर है। व्यक्ति का उद्देश्य आत्म-ज्ञान (Self-realisation) है। यह नैतिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य है। राज्य इस उद्देश्य की प्राप्ति मे सहायक ही हो सकता है। इस रूप मे राज्य इस उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग मे आने वाली सम्पूर्ण बाधाओ को दूर करता है। ग्रीन यह नही मानता कि व्यक्ति को राज्य के विरोध करने का कोई अधिकार ही नही। वह मानता है कि ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती है, जब कि नागरिक राज्य को अनैतिक कार्य करता देख उसका विरोध करे। परन्तु यह केवल नैतिक अधिकार है। **इसी प्रकार ग्रीन यह भी नहीं स्वीकार करता कि राज्य के अन्तर्गत ही सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धो को समेटा जा सकता है।** राज्य के अन्तर्गत मौजूद रहने वाले विविध समुदायो तथा सघो की स्वतन्त्र स्थिति है, परन्तु उनके सम्बन्धो का नियन्त्रण राज्य द्वारा होता है।

ग्रीन, प्लेटो, अरस्तू तथा हीगल की तरह राज्य को स्वत पूर्ण नहीं मानता। वह यह नही स्वीकार करता कि विभिन्न राज्यो मे मौजूद सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण ही होते हैं। राज्य एक दूसरे पर आश्रित है। वर्तमान काल मे वैज्ञानिक साधनो के विकास के फलस्वरूप यह अन्योन्याश्रिता और भी बढ गई है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से राज्यो का पूर्ण स्वतन्त्र तथा स्वेच्छाचारी हो सकना असम्भव है, उनके पारस्परिक सम्बन्धो का नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा होता है। **हीगल अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवस्थिति को स्वीकार नही करता।** ग्रीन विश्व-बन्धुत्व की भावना मे यकीन करता है। ग्रीन राज्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के सिद्धान्त की सत्ता को भी स्वीकार नही करता। राज्य का व्यक्तित्व तथा जीवन उसके विधायक तत्त्व-व्यक्तियो से स्वतन्त्र तथा पृथक् नही होता।

ग्रीन स्वतन्त्रता के निषेधात्मक (Negative) रूप को स्वीकार नहीं करता। वह यह नही मानता कि स्वतन्त्रता का अर्थ नियमो की पाबन्दियो की अनुपस्थिति है। **स्वतन्त्रता का अर्थ तो आत्मज्ञान हैं।** यह स्वतन्त्रता की आध्यात्मिक या नैतिक परिभाषा है और इनका केन्द्र व्यक्ति है। राज्य का कर्त्तव्य इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उचित परिस्थितियो का निर्माण है। दूसरे शब्दो मे राज्य को अधिकारो की सृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि अधिकार ही मनुष्य के आन्तरिक विकास की बाह्य परिस्थितियो का निर्माण करते हैं। अधिकारो के लिए कानूनी मान्यता ही आवश्यक नही, उनका नैतिक आधार भी होना चाहिए।

राज्य के कार्यो के सम्बन्ध मे ग्रीन वैयक्तिक आदर्शो की प्राप्ति पर अधिक जोर देता है, यानी उसका विश्वास है कि **राज्य को सामान्यतया वही कार्य करने चाहिए**

जिनसे व्यक्ति के आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियां उत्पन्न हो सकें। राज्य को इस उद्देश्य की प्राप्ति मे आने वाली सभी बाधाओ को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। अज्ञान, अशिक्षा, नशेबाजी इत्यादि आत्मज्ञान की प्राप्ति मे कुछेक ऐसी रुकावटे हैं, जिन्हे राज्य को अवश्य दूर करना चाहिए। इस प्रकार **ग्रीन राज्य को सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक कार्यो के करने की छूट देता है।**

राज्य शक्ति का प्रयोग करता है, परन्तु इस प्रकार का शक्ति प्रयोग अनैतिक नही है क्योकि राज्य व्यक्ति की सहमति या इच्छा पर आधारित है। राज्य के कानून इत्यादि 'सामान्य इच्छा' (General will) का प्रतिनिधित्व करते है, परन्तु शक्ति का प्रयोग जनहित के लिए ही किया जाना चाहिए।

आलोचना—आदर्शवादी सिद्धान्त की कडी आलोचना की जाती है। प्रो० हावहाउस, लास्की, ड्युग्वी, मेकआइवर तथा जोड इत्यादि आदर्शवाद के प्रमुख आलोचको मे हैं। इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की जाती है—

(१) आदर्शवाद का सिद्धान्त अनेक भ्रान्त धारणाओ पर आधारित है। उन्होने राज्य तथा समाज को एक समझा है और यही कारण है कि वे राज्य को अबाध शक्ति सम्पन्न बना देते हैं। **राज्य समाज का एक भाग है वह सम्पूर्ण समाज नहीं।** राज्य भी उसी प्रकार हमारी सामाजिक प्रकृति का परिणाम है जैसे अन्य-समुदाय। समाज बहुत विस्तृत है, राज्य सकुचित। समाज व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को अपने भीतर समेट सकता है, परन्तु राज्य नही। समाज प्रमुख है, वह हमारी सामाजिक प्रवृत्ति का प्रथम तथा प्रमुख परिणाम हैं, समाज के भीतर अनेक अन्य समुदाय हैं। वे सभी हमारे जीवन के समुचित विकास के लिए मूल्यवान हैं। राज्य भी उन्ही अनेक आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा कलात्मक और राजनीतिक समुदायो मे से एक है, उनसे नैतिक दृष्टि से या प्रकृति की दृष्टि से किसी भी प्रकार श्रेष्ठ या ऊँचा नही। बहुसमुदायवाद की विवेचना करते हुए हम पीछे स्पष्ट कर आए है कि व्यक्ति के प्रमुख (Primary) तथा गौण (Secondary) स्वार्थो की सन्तुष्टि क्रमश समुदायों तथा राज्य मे होती है। आज के हमारे जीवन मे हम राज्य की अपेक्षा समुदायो के अधिक निकट हैं। राज्य तो एक प्रशासकीय मशीनरी मात्र है जिसे सुविधानुसार भग भी किया जा सकता है।

(२) राज्य की सदस्या मे ही सभी प्रकार के मानवीय सम्बन्धो का अन्त नहीं माना जा सकता। एक राज्य अपने भीतर रहने वाले नागरिको का प्रतिनिधित्व चाहे कर भी ले परन्तु वह अन्य राज्यो मे रहने वाले लोगो का प्रतिनिधित्व नही कर सकता। **दूसरे शब्दो में एक ही राज्य सम्पूर्ण मानवीय समाज का प्रतिनिधि नहीं हो सकता।** राज्य की सर्वव्यापकता का समर्थन नैतिक नियमो से स्वतन्त्र होने के लिए किया जाता है। परन्तु जब राज्य सर्वव्यापी नही और उस जैसे अन्य राज्य भी है और उससे भी विस्तृत एक अन्य समाज है, जिसका कि वह एक हिस्सा मात्र है, तो वह सभी प्रकार के नैतिक नियमो से स्वतन्त्र नहीं हो सकता। राज्यो के पारस्परिक व्यवहार मे नैतिक नियमो का पालन जरूरी है। **राज्य सम्पूर्ण विश्व का सरक्षक नहीं वह तो नैतिक**

नियमो के ससार का एक तथ्य मात्र है। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त इस दृष्टि से अत्यन्त खतरनाक है। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे अराजकता तथा युद्ध को प्रोत्साहित करता है।

(३) आदर्शवादी यथार्थ से दूर है, उनके सिद्धान्त मे कल्पना की प्रधानता है। प्लेटो का कथन है कि आदर्श राज्य का निर्माण इस विश्व मे सम्भव नही, वह स्वप्न-लोक की रचना मात्र है। उसमे व्यावहारिकता का अभाव है।

यही नही आदर्शवादियो का उद्देश्य तो आदर्श राज्य का चित्रण है। ऐसे राज्य का विवरण देना है जो सचमुच आदर्श हो, जिसमे व्यक्ति तथा राज्य के उद्देश्यो मे किसी भी प्रकार का विरोध न हो, जिसमे व्यक्ति की इच्छाएँ राज्य की इच्छा मे ही समा जाएँ, ऐसा राज्य अभी मौजूद नही रहा। परन्तु आदर्शवादी मौजूदा राज्य को ही आदर्श मानते है। उनका कथन है कि राज्य के आदेश का पालन हमारा पवित्र कर्त्तव्य है, क्योकि वह आदेश हमारी ही नैतिक तथा सर्व श्रेष्ठ इच्छा पर आधारित है। राज्य का विरोध अनुचित तथा अनैतिक है। परन्तु वर्तमान राज्य तो अपूर्ण है, उसमे अनेक कमियाँ हैं, जिनका ध्यान आदर्शवादी नही रखते। वे वर्तमान राज्य को ही आदर्शरूप मे स्वीकार कर लेते है। परिणामस्वरूप **आदर्शवाद सुधारवाद बनने के बजाय रूढिवाद तथा प्रतिक्रियावाद बन जाता है। वह यथापूर्व स्थिति का समर्थन करता है।** अरस्तू ने दासप्रथा का, हीगल ने युद्ध का और ग्रीन ने वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था का इसी आधार पर समर्थन किया है।

(४) **आदर्शवाद वैयक्तिक स्वतन्त्रता का शत्रु है,** वह राज्य की अबाध तथा असीम शक्ति का समर्थन करता है। राज्य के लिए सर्वस्व का त्याग व्यक्ति का पवित्र कर्त्तव्य है। व्यक्ति राज्य की बडी मशीन मे एक साधारण पुर्जा मात्र है, जिसे राज्य जैसा चाहे इस्तेमाल कर सकता है। राज्य की सम्पूर्ण आज्ञाएँ व्यक्ति के लिए शिरोधार्य होनी चाहिएँ, ऐसा मानने का अर्थ है नागरिक के व्यक्तित्व तथा अधिकारो का विनाश।

(५) हीगल इत्यादि आदर्शवादी विचारको के सिद्धान्त का आधार सामान्य इच्छा का सिद्धान्त है। सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का आधार वास्तविक (Actual) तथा यथार्थ (Real) इच्छा का भेद है, परन्तु ऐसा भेद निरर्थक है। प्रो० हाबहाऊस इस भेद को अयथार्थ मानता है। हमारा व्यक्तित्व एक अटूट इकाई है। उसका उच्च तथा नीच व्यक्तित्व के रूप मे विभाजन नही हो सकता। दोनो प्रकार की इच्छाएँ हमारे सामान्य व्यक्तित्व का अभिन्न अग है। फिर इस सामान्य इच्छा के जानने का कोई उपयुक्त साधन नही है। 'सामान्य इच्छा' सदा जनहित मे होती है। वह तर्क सम्मत है। परन्तु 'जनहित' क्या है, यह एक पेचीदा प्रश्न है। क्या राज्य 'जनहित' का अन्तिम निर्णायक है ? राज्य अपने आप मे क्या है। अन्तिम रूप से राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति सरकार द्वारा होती है, सरकार चार व्यक्तियो से मिलकर बनती है, वह जरूरी नही 'सामान्य इच्छा' द्वारा प्रेरित हो।

राज्य मे अनेक परस्पर विरोधी समुदाय तथा वर्ग होते है, उनके स्वार्थो मे

मूलभूत विरोध होता है। ऐसी अवस्था मे राज्य के अन्तर्गत विभिन्न वर्गों की वास्तविक तथा यथार्थ इच्छा से सदा ही सघर्ष रहेगा। 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त का प्रयोग बहुत ही गलत तरीके से किया जाता है। राज्य 'सामान्य इच्छा' से प्रेरित होता है, अत वह जो कुछ करे ठीक है वह न तो अनैतिक ही है और न अन्यायपूर्ण। इस प्रकार राज्य कभी गलती कर ही नही सकता। परन्तु यह धारणा कितनी अवैज्ञानिक है, इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि राज्य की इच्छा अपने वास्तविक रूप मे सरकार की इच्छा से भिन्न नही। चन्द व्यक्तियो से मिलकर बनी सरकार कभी गलती न कर सके, यह असम्भव है।

(६) राज्य के व्यक्तित्व की आदर्शवादी धारणा का मेकआइवर, ड्युवी तथा प्रो० गिन्सबर्ग ने खण्डन किया है। मेकआइवर (MacIver) का कथन है कि जिस प्रकार विद्यार्थियो के समूह से किसी नये विद्यार्थी की सृष्टि नही हो पाती या पशुओ का रेवड स्वय पशु नही हो जाता ठीक वैसे ही राज्य व्यक्तियो का समूह अवश्य है, परन्तु वह स्वय व्यक्तित्व सम्पन्न नही है। गिन्सबर्ग का कथन है कि वैयक्तिक उद्देश्यो तथा आदर्शों की पूर्ति व्यक्तियो मे ही सम्भव है, राज्य के तथाकथित व्यक्तित्व मे नही। व्यक्तियो से पृथक् राज्य का कोई व्यक्तित्व नही, व्यक्तियो से पृथक् राज्य का कोई स्वार्थ नही। व्यक्ति ही राज्य तथा समाज की अन्तिम तथा वास्तविक इकाई है, उससे ऊपर या परे किसी अन्य व्यक्तित्व को मानना कोरी कल्पना तथा गप्प मात्र है।

राज्य की इच्छा के अन्तर्गत सभी मनुष्यो की इच्छा नही आ सकती, क्योकि मनुष्य एक जीवित प्राणी है, वह स्वतन्त्र इच्छा शक्ति (Will power) तथा व्यक्तित्व से सम्पन्न है। प्राणी-शरीर के जीव-कोषो (Cell) की तरह यह मृत तथा जड नही।

(७) हीगल, बोसाके तथा हीगल के जर्मन अनुयायी ट्रीट्स्के और बर्नहार्डी ने जिस उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन किया है, वह युद्ध का जनक तथा विश्वशान्ति का परम शत्रु है। हीगल इत्यादी राज्य को नैतिक नियमो से ऊँचा मानते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो की तथा कानून की कोई कानूनी महत्ता नही समझते। राष्ट्र या राज्य ही मानव समाज की सर्वोच्च नैतिक इकाई है, उसके सवर्द्धन के लिए नागरिको को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। परन्तु इस प्रकार का अन्धा राष्ट्रवाद कभी भी अच्छा नही समझा जा सकता। हिटलर तथा मुसोलिनी ने आदर्शवाद द्वारा समर्थित राष्ट्रवाद को अपना उसे व्यवहारिक रूप दिया। **प्रो० हाबहाऊस का कथन है कि राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त युद्ध का सबसे बडा कारण रहा है।**

उपर्युक्त प्रमुख आधारो के अतिरिक्त आदर्शवाद की आलोचना बौद्धिकता के और कल्पनात्मकता की अधिकता के आधार पर भी की जाती है। मनुष्य इतना विवेक-सम्पन्न नही जितना कि आदर्शवादी विचारक उसे मानते हैं। कल्पनात्मकता की अधिकता के कारण आदर्शवादी सिद्धान्त रहस्यपूर्ण तथा असलियत से दूर है, इसमे राज्य के कर्त्तव्य भी नकारात्मक है।

उपसहार (Conclusion)—उपर्युक्त आलोचना अधिकाश मे हीगल, वोसाके तथा वर्नहार्डी वगैरा उग्र आदर्शवादियो पर लागू होती है। काण्ट तथा ग्रीन इत्यादि पर नही। काण्ट तथा ग्रीन दोनो ने आदर्शवाद के सयमित रूप को प्रस्तुत किया है, उन्होंने राज्य को एक आध्यात्मिक नैतिक सस्था मान अनुबन्धवाद या उपयोगितावाद द्वारा फैलाए असत्य का खण्डन किया, दोनो ने युद्ध का विरोध किया, विश्वशान्ति का समर्थन किया और राज्य की निरकुशता की निन्दा की। यही नही उन्होने राज्य के कर्त्तव्यो तथा उसकी कार्यवाहियो के जाचने के नैतिक मूल्य रखे। राजनीतिशास्त्र का विद्यार्थी केवल राज्य के मौजूदा स्वरूप से ही सम्बन्धित नही, वह राज्य के विकास या जन्म का ही अध्ययन नही करता, अपितु राज्य के कार्यों की उचित जाँच के लिए नैतिक मूल्यो की भी परीक्षा करता है। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त इस विषय मे हमारी बहुत सहायता करता है। नैतिक मूल्यों का हमारे जीवन में बहुत महत्त्व है, इस बात को हम किसी भी तरह भूल नही सकते, बिना आदर्शों के हमारी प्रगति मुश्किल है।

Important Questions

		Reference
1	Explain critically the idealist theory of the State (*Pb 1956, 1954, 1946,*	Arts 165 166 and 167
2	Idealist theory postulates 'the identity of the State with the sum total of human society which is obviously false' (*Joad*) Discuss	Arts 165, 166 and
3	Make an examination of T H Green's political philosophy	Art 167

राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (२)

व्यक्तिवाद (Individualism)

१६८. व्यक्तिवाद का स्वरूप

राज्य के कर्त्तव्यो का विवेचन व्यवितवाद के सिद्धान्त के अनुसार पृथक् प्रकार से किया गया है। पिछले पृष्ठो मे हमने राज्य के आदर्शवादी स्वरूप का विवरण दिया और यह दिखाया कि किस प्रकार आदर्शवाद राज्य को प्रकृत सस्था स्वीकार करता है। किस प्रकार से वह उसे उच्च नैतिक समुदाय के रूप मे मानता हुआ असीम तथा अवाध शक्ति सम्पन्न बना देता है। व्यक्तिवाद आदर्शवाद के विपरीत है। व्यक्तिवाद राज्य को नैतिक संस्था नही मानता न ही उसे कुदरती समझता है। व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन, परन्तु वह कोई श्रेष्ठ साधन नहीं है। राज्य एक आवश्यक बुराई (Necessary-evil) है। उसकी उपस्थिति हमारे समाज मे लाजमी है, परन्तु एक लाजमी बुराई के रूप मे ही समाज मे अपराध मौजूद है इसी कारण राज्य की आवश्यकता हैं। मनुष्य स्वार्थी तथा अहकारी होता है अत: अपने साथियो तथा सहयोगियो के अधिकारो पर हमला कर सकता है—इन बातो की रोक-थाम के लिए किसी न किसी राजनीतिक सगठन की आवश्यकता रहती है। वे आवश्यकताएँ राज्य द्वारा पूरी की जाती हैं।

इसी कारण व्यवितवादी विचारको का मत है कि राज्य को थोडे से थोडे कार्य सौंपने चाहिए। राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत सकुचित होना चाहिए। फ्रीमैन का कथन है कि "**शासन का सर्वोत्तम रूप शासन का अभाव है, किसी भी रूप में शासन की अवस्थिति मानव की अपूर्णता की सूचक है।**[1] यही कारण है कि अधिकाश व्यक्तिवादी राज्य को केवल नकारात्मक कार्य ही सौंपते है। उनका कथन है कि राज्य को केवल रक्षात्मक कर्त्तव्य ही देने चाहिए यानी उसे व्यक्ति को बाह्य आक्रमण से बचाना चाहिए, उनके पारस्परिक झगडे निपटाने चाहिए और एतदर्थ न्याय-व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिए। राज्य का कार्य सवर्द्धन तथा पोषण नहीं। दूसरे शब्दो मे राज्य लोक-हितकारी कार्यो को सम्पन्न नही कर सकता। उसे शिक्षा, जन स्वास्थ्य, निर्धनो की रक्षा तथा कला व साहित्य इत्यादि के प्रचार की तथा जन-उपयोगी सेवाओ के प्रचलन की व्यवस्था की आवश्यकता नही है। राज्य के कार्यक्षेत्र की अभिवृद्धि

1 "The ideal form of Government is no Government at all, the existence of Government in any shape is a sign of man's imperfection"—*Freeman*

उपसहार (Conclusion)—उपर्युक्त आलोचना अधिकाश मे हीगल, वोसाके तथा वर्नहार्डी वगैरा उग्र आदर्शवादियो पर लागू होती है। काण्ट तया ग्रीन इत्यादि पर नही। काण्ट तथा ग्रीन दोनो ने आदर्शवाद के मयमित रूप को प्रस्तुत किया है, उन्होंने राज्य को एक आध्यात्मिक नैतिक सस्था मान अनुवन्धवाद या उपयोगितावाद द्वारा फैलाए असत्य का खण्डन किया, दोनो ने युद्ध का विरोध किया, विश्वशान्ति का समर्थन किया और राज्य की निरकुशता की निन्दा की। यही नही उन्होंने राज्य के कर्त्तव्यो तथा उसकी कार्यवाहियो के जाचने के नैनिक मूल्य रखे। राजनीतिशास्त्र का विद्यार्थी केवल राज्य के मौजूदा स्वरूप से ही सम्बन्धित नही, वह राज्य के विकास या जन्म का ही अध्ययन नही करता, अपितु राज्य के कार्यों की उचित जाँच के लिए नैतिक मूल्यो की भी परीक्षा करता है। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त इस विषय मे हमारी बहुत सहायता करता है। नैतिक मूल्यो का हमारे जीवन मे बहुत महत्त्व है, इस बात को हम किसी भी तरह भूल नही सकते, बिना आदर्शों के हमारी प्रगति मुश्किल है।

Important Questions

	Reference
1 Explain critically the idealist theory of the State (*Pb 1956, 1954, 1946*,	Arts 165 166 and 167
2 Idealist theory postulates 'the identity of the State with the sum total of human society which is obviously false' (*Joad*) Discuss	Arts 165, 166 and
3 Make an examination of T H Green's political philosophy	Art 167

द्वारा नही होना चाहिए। राज्य को इन नियमो मे दखल नही देना चाहिए। उत्पादन को स्वतन्त्रतापूर्वक चलते रहने देना चाहिए। उत्पादन व्यवस्था को यदि स्वतन्त्र छोड दिया जाए तो वह स्वय अपना नियन्त्रण कर लेगी। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार होना चाहिए। फिज्योक्रेट्स के उपर्युक्त विचार का समर्थन एडमस्मिथ ने भी किया। एडमस्मिथ प्रत्येक व्यक्ति को इतना समझदार मानता है कि वह स्वय अपना हित प्राप्त कर सकता है। स्वय अपने आर्थिक स्वार्थों की रक्षा कर सकता है। अगर राज्य इसमे दखल दे तो वह समाज के लिए किसी भी तरह हितकारी साबित नही होगा।

नैतिक रूप मे व्यक्तिवाद का समर्थन इग्लैण्ड के उपयोगितावादियो ने बडे जोर-शोर से किया। उपयोगितावादी दर्शन अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख के सिद्धान्त मे यकीन करता है। अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख की प्राप्ति व्यापार की स्वतन्त्रता तथा राज्य द्वारा वैयक्तिक जीवन मे कम-से-कम दखल से ही सम्भव है। राज्य का आधार शक्ति है, और शक्ति का प्रयोग कष्ट देने वाला होता है। वह व्यक्ति स्वातन्त्र्य का भी शत्रु है। राज्यशक्ति का प्रयोग थोडे से थोडा होना चाहिए।

व्यक्तिवाद के स्वरूप का जितना व्यवस्थित तथा जोरदार समर्थन जे० एस० मिल तथा स्पैन्सर के विचारो मे मिलता है, उतना अन्यत्र नही। जे० एस० मिल के व्यक्तिवाद मे नैतिक तर्कों की प्रधानता है जब कि स्पैन्सर मे वैज्ञानिक। मिल का व्यक्तिवाद उदार है, उसमे कठोरता नही है। वह राज्य के कर्त्तव्यो, व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धो का विवेचन करता हुआ कहता है कि **'आत्म-रक्षा ही एक मात्र ऐसा मकसद है जिसके आधार पर मानव-जाति को, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से, अपनी संख्या में से किसी एक की स्वतन्त्रता मे दखल देने का अधिकार हो सकता है। दूसरो की सम्भावित हानि को रोकना ही एक मात्र ऐसा उद्देश्य है जिसके लिए सभ्य समाज के किसी सदस्य पर उसकी इच्छा के विरुद्ध शक्ति का इस्तेमाल किया जा सकता है। व्यक्ति का शारीरिक या नैतिक हित कभी भी राज्य के हस्तक्षेप को उचित नहीं बना सकता। समाज के प्रति व्यक्ति अपने आचरण के उसी भाग के लिए उत्तरदायी है जिसका दूसरो से सम्बन्ध है। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार है। अपने ऊपर, अपने शरीर तथा मन पर उसका पूर्ण प्रभुत्व है।'**[1]

इस प्रकार मिल व्यक्ति के सम्पूर्ण आचारण को दो भागो मे बाँट देता है।

---

1 "The sole end for which mankind are warranted, individually or collectively, in interfering with the liberty of action of any of their number, is self-protection The only purpose for which power can be rightfully exercised on any member of a civilized community, against his will, is to prevent harm to others His own good, either physical or moral, is not sufficient warrant The only part of the conduct of anyone, for which he is amenable to society, is that which concerns others In the part which merely concerns himself, his independence is of absolute on himself on his own body and mind, the individual is sovereign" - *J S Mill.*

का अर्थ है व्यक्ति स्वतन्त्रता का विनाश। राज्य द्वारा वनाया गया प्रत्येक कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर एक पावन्दी है, अत राज्य के कार्यक्षेत्र की वृद्धि नही होनी चाहिए। उसको आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा राजकीय मामलो मे पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का विकास—राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है, वह मनुष्य के आत्मविकास मे वाधक है और वह अप्राकृतिक रचना मात्र है। उसका कोई नैतिक स्वरूप नही। इस प्रकार के विचार तो हमे सम्पूर्ण राजनीति शास्त्र के इतिहास मे मिल जाते हैं। प्राचीन ग्रीस के प्लेटो तथा अरस्तू के विपरीत सॉफिस्टो का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। वे राज्य को एक बुराई के रूप मे ही ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार के विचार का समर्थन एपिक्यूरियन तथा स्टोइक विचारधारा मे भी मिलता है। हॉब्स ने सैद्धान्तिक रूप से अवश्य ही राज्य को अवाधशक्ति सम्पन्न माना है, परन्तु उसका राज्य अन्तिम रूप से वैयक्तिक हित तथा सुरक्षा का दास मात्र है। वह राज्य की नैतिक सत्ता को तो स्वीकार ही नही करता, उसे केवल मात्र साधन समझता है, व्यक्ति ही उसके विचारानुसार साध्य (End) है। लॉक के विचारो मे प्रथम वार व्यक्तिवाद के स्पष्ट रूप मे दर्शन होते हैं। लॉक राज्य को सीमित कर्त्तव्य सौंपता है और उसके अधिकार क्षेत्र पर जवरदस्त पावन्दियाँ लगा देता है। लॉक के दर्शन मे व्यक्ति ही सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र है, वही सम्पूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का केन्द्र विन्दु है। निश्चय ही लॉक के व्यक्तिवाद का आधार मनुष्य के प्रकृत अधिकार (Natural rights) हैं। लॉक तथा रूसो के विचारो के परिणाम स्वरूप जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाओ का विकास हुआ, जिसके अन्तर्गत मानव के व्यक्तित्व तथा उसके अधिकारो को मान्यता प्रदान की गई। इस प्रकार का दर्शन निश्चय ही क्रान्तिकारी दर्शन था, उसने मानवीय इतिहास मे प्रथम वार मनुष्य का मनुष्य के रूप मे मूल्य आँका।

परन्तु वर्त्तमान युग के व्यक्तिवाद का प्रारम्भ कुछ विभिन्न परिस्थितियो मे हुआ, इसके विकास का क्षेत्र औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) द्वारा तैयार किया गया। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इग्लैण्ड मे कुछ ऐसे आर्थिक परिवर्त्तन हुए जिनके लिए व्यक्तिवादी दर्शन का विकास एक अनिवार्य माँग हो गई। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप इग्लैण्ड मे स्वतन्त्र तथा वेरोक-टोक व्यापार की माँग की गई। १८वी सदी के शुरू मे इग्लैण्ड मे यह धारणा प्रचलित थी कि राष्ट्रीय हित की सुरक्षा के लिए सरकार द्वारा व्यापारिक नियन्त्रण की परम आवश्यकता है। परन्तु वाद मे यह अनुभव किया जाने लगा कि व्यापार तथा उद्योग-धन्धो के प्रसार तथा विकास पर राज्य का कोई नियन्त्रण नही होना चाहिए। इस मत का समर्थन फ्रास के फिज्योक्रेटिक (Physiocratic) अर्थशास्त्रियो ने किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार हमारे विश्व मे अन्य प्राकृतिक नियम हैं और उनके सचालन मे हम कोई दखल नही देते। इसी प्रकार हमारे आर्थिक जीवन मे भी कुछ विशेष नियम हैं जिन्हें प्राकृतिक नियम कहा जा सकता है और जिनका नियन्त्रण राज्य

द्वारा नही होना चाहिए। राज्य को इन नियमो मे दखल नही देना चाहिए। उत्पादन को स्वतन्त्रतापूर्वक चलते रहने देना चाहिए। उत्पादन व्यवस्था को यदि स्वतन्त्र छोड दिया जाए तो वह स्वय अपना नियन्त्रण कर लेगी। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार होना चाहिए। फिज्योक्रेट्स के उपर्युक्त विचार का समर्थन एडमस्मिथ ने भी किया। एडमस्मिथ प्रत्येक व्यक्ति को इतना समझदार मानता है कि वह स्वय अपना हित प्राप्त कर सकता है। स्वय अपने आर्थिक स्वार्थो की रक्षा कर सकता है। अगर राज्य इसमे दखल दे तो वह समाज के लिए किसी भी तरह हितकारी साबित नही होगा।

नैतिक रूप मे व्यक्तिवाद का समर्थन इग्लैण्ड के उपयोगितावादियो ने बडे जोर-शोर मे किया। उपयोगितावादी दर्शन अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख के सिद्धान्त मे यकीन करता है। अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख की प्राप्ति व्यापार की स्वतन्त्रता तथा राज्य द्वारा वैयक्तिक जीवन मे कम-से-कम दखल से ही सम्भव है। राज्य का आधार शक्ति है, और शक्ति का प्रयोग कष्ट देने वाला होता है। वह व्यक्ति स्वातन्त्र्य का भी शत्रु है। राज्यशक्ति का प्रयोग थोडे से थोडा होना चाहिए।

व्यक्तिवाद के स्वरूप का जितना व्यवस्थित तथा जोरदार समर्थन जे० एस० मिल तथा स्पैन्सर के विचारो मे मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। जे० एस० मिल के व्यक्तिवाद मे नैतिक तर्कों की प्रधानता है जब कि स्पैन्सर मे वैज्ञानिक। मिल का व्यक्तिवाद उदार है, उसमे कठोरता नही है। वह राज्य के कर्त्तव्यो, व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धो का विवेचन करता हुआ कहता है कि **'आत्म-रक्षा ही एक मात्र ऐसा मकसद है जिसके आधार पर मानव-जाति को, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से, अपनी संख्या मे से किसी एक की स्वतन्त्रता में दखल देने का अधिकार हो सकता है। दूसरो की सम्भावित हानि को रोकना ही एक मात्र ऐसा उद्देश्य है जिसके लिए सभ्य समाज के किसी सदस्य पर उसकी इच्छा के विरुद्ध शक्ति का इस्तेमाल किया जा सकता है। व्यक्ति का शारीरिक या नैतिक हित कभी भी राज्य के हस्तक्षेप को उचित नही बना सकता। समाज के प्रति व्यक्ति अपने आचरण के उसी भाग के लिए उत्तरदायी है जिसका दूसरो से सम्बन्ध है। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार है। अपने ऊपर, अपने शरीर तथा मन पर उसका पूर्ण प्रभुत्व है।'"**[1]

इस प्रकार मिल व्यक्ति के सम्पूर्ण आचारण को दो भागो मे बाँट देता है।

---

1 "The sole end for which mankind are warranted, individually or collectively, in interfering with the liberty of action of any of their number, is self-protection The only purpose for which power can be rightfully exercised on any member of a civilized community, against his will, is to prevent harm to others His own good, either physical or moral, is not sufficient warrant The only part of the conduct of anyone, for which he is amenable to society, is that which concerns others In the part which merely concerns himself, his independence is of absolute on himself on his own body and mind, the individual is sovereign" - *J. S Mill.*

का अर्थ है व्यक्ति स्वतन्त्रता का विनाश। राज्य द्वारा बनाया गया प्रत्येक कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर एक पाबन्दी है, अत राज्य के कार्यक्षेत्र की वृद्धि नही होनी चाहिए। उसको आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा राजकीय मामलो मे पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का विकास—राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है, वह मनुष्य के आत्मविकास मे बाधक है और वह अप्राकृतिक रचना मात्र है। उसका कोई नैतिक स्वरूप नही। इस प्रकार के विचार तो हमे सम्पूर्ण राजनीति शास्त्र के इतिहास मे मिल जाते है। प्राचीन ग्रीस के प्लेटो तथा अरस्तू के विपरीत सॉफिस्टो का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। वे राज्य को एक बुराई के रूप मे ही ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार के विचार का समर्थन एपिक्यूरियन तथा स्टोइक विचारधारा मे भी मिलता है। हॉब्स ने सैद्धान्तिक रूप से अवश्य ही राज्य को अबाधशक्ति सम्पन्न माना है, परन्तु उसका राज्य अन्तिम रूप से वैयक्तिक हित तथा सुरक्षा का दास मात्र है। वह राज्य की नैतिक सत्ता को तो स्वीकार ही नही करता, उसे केवल मात्र साधन समझता है, व्यक्ति ही उसके विचारानुसार साध्य (End) है। लॉक के विचारो मे प्रथम बार व्यक्तिवाद के स्पष्ट रूप मे दर्शन होते है। लॉक राज्य को सीमित कर्त्तव्य सौंपता हैं और उसके अधिकार क्षेत्र पर जबर्दस्त पाबन्दियाँ लगा देता है। लॉक के दर्शन मे व्यक्ति ही सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र है, वही सम्पूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु है। निश्चय ही लॉक के व्यक्तिवाद का आधार मनुष्य के प्रकृत अधिकार (Natural rights) हैं। लॉक तथा रूसो के विचारो के परिणाम स्वरूप जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाओ का विकास हुआ, जिसके अन्तर्गत मानव के व्यक्तित्व तथा उसके अधिकारो को मान्यता प्रदान की गई। इस प्रकार का दर्शन निश्चय ही क्रान्तिकारी दर्शन था, उसने मानवीय इतिहास मे प्रथम बार मनुष्य का मनुष्य के रूप मे मूल्य आँका।

परन्तु वर्त्तमान युग के व्यक्तिवाद का प्रारम्भ कुछ विभिन्न परिस्थितियो मे हुआ, इसके विकास का क्षेत्र औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) द्वारा तैयार किया गया। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इग्लैण्ड मे कुछ ऐसे आर्थिक परिवर्त्तन हुए जिनके लिए व्यक्तिवादी दर्शन का विकास एक अनिवार्य माँग हो गई। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप इग्लैण्ड मे स्वतन्त्र तथा बेरोक-टोक व्यापार की माँग की गई। १८वी सदी के शुरू मे इग्लैण्ड मे यह धारणा प्रचलित थी कि राष्ट्रीय हित की सुरक्षा के लिए सरकार द्वारा व्यापारिक नियन्त्रण की परम आवश्यकता है। परन्तु बाद मे यह अनुभव किया जाने लगा कि व्यापार तथा उद्योग-धन्धो के प्रसार तथा विकास पर राज्य का कोई नियन्त्रण नही होना चाहिए। इस मत का समर्थन फ्रास के फिज्योक्रेटिक (Physiocratic) अर्थशास्त्रियो ने किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार हमारे विश्व मे अन्य प्राकृतिक नियम हैं और उनके सचालन मे हम कोई दखल नही देते। इसी प्रकार हमारे आर्थिक जीवन मे भी कुछ विशेष नियम है जिन्हे प्राकृतिक नियम कहा जा सकता है और जिनका नियन्त्रण राज्य

द्वारा नही होना चाहिए। राज्य को इन नियमो मे दखल नही देना चाहिए। उत्पादन को स्वतन्त्रतापूर्वक चलते रहने देना चाहिए। उत्पादन व्यवस्था को यदि स्वतन्त्र छोड दिया जाए तो वह स्वय अपना नियन्त्रण कर लेगी। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार होना चाहिए। फिज्योक्रेट्स के उपर्युक्त विचार का समर्थन एडमस्मिथ ने भी किया। एडमस्मिथ प्रत्येक व्यक्ति को इतना समझदार मानता है कि वह स्वय अपना हित प्राप्त कर सकता है। स्वय अपने आर्थिक स्वार्थो की रक्षा कर सकता है। अगर राज्य इसमे दखल दे तो वह समाज के लिए किसी भी तरह हितकारी साबित नही होगा।

नैतिक रूप मे व्यक्तिवाद का समर्थन इग्लैण्ड के उपयोगितावादियो ने बडे जोर-शोर से किया। उपयोगितावादी दर्शन अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख के सिद्धान्त मे यकीन करता है। अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख की प्राप्ति व्यापार की स्वतन्त्रता तथा राज्य द्वारा वैयक्तिक जीवन मे कम-से-कम दखल से ही सम्भव है। राज्य का आधार शक्ति है, और शक्ति का प्रयोग कष्ट देने वाला होता है। वह व्यक्ति स्वातन्त्र्य का भी शत्रु है। राज्यशक्ति का प्रयोग थोडे से थोडा होना चाहिए।

व्यक्तिवाद के स्वरूप का जितना व्यवस्थित तथा जोरदार समर्थन जे० एस० मिल तथा स्पैन्सर के विचारो मे मिलता है, उतना अन्यत्र नही। जे० एस० मिल के व्यक्तिवाद में नैतिक तर्कों की प्रधानता है जब कि स्पैन्सर मे वैज्ञानिक। मिल का व्यक्तिवाद उदार है, उसमे कठोरता नही है। वह राज्य के कर्त्तव्यो, व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धो का विवेचन करता हुआ कहता है कि **'आत्म-रक्षा ही एक मात्र ऐसा मकसद है जिसके आधार पर मानव-जाति को, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से, अपनी संख्या मे से किसी एक की स्वतन्त्रता में दखल देने का अधिकार हो सकता है। दूसरों को सम्भावित हानि को रोकना ही एक मात्र ऐसा उद्देश्य है जिसके लिए सभ्य समाज के किसी सदस्य पर उसकी इच्छा के विरुद्ध शक्ति का इस्तेमाल किया जा सकता है। व्यक्ति का शारीरिक या नैतिक हित कभी भी राज्य के हस्तक्षेप को उचित नही बना सकता। समाज के प्रति व्यक्ति अपने आचरण के उसी भाग के लिए उत्तरदायी है जिसका दूसरो से सम्बन्ध है। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार है। अपने ऊपर, अपने शरीर तथा मन पर उसका पूर्ण प्रभुत्व है।"**[1]

इस प्रकार मिल व्यक्ति के सम्पूर्ण आचारण को दो भागो मे बाँट देता है।

---

1 "The sole end for which mankind are warranted, individually or collectively, in interfering with the liberty of action of any of their number, is self-protection The only purpose for which power can be rightfully exercised on any member of a civilized community, against his will, is to prevent harm to others His own good, either physical or moral, is not sufficient warrant The only part of the conduct of anyone, for which he is amenable to society, is that which concerns others In the part which merely concerns himself, his independence is of absolute on himself on his own body and mind, the individual is sovereign." - *J S Mill.*

वे हैं—अपने आप से सम्बन्ध रखने वाले कार्य (Self-regarding-acts) तथा सामाजिक कार्य (Social-acts) राज्य केवल व्यक्ति के सामाजिक कार्यों का ही नियन्त्रण कर सकता है, अपने आप से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों का नही। अपने आप से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों के विषय मे वह पूर्ण स्वतन्त्र है।

स्पेन्सर तो राज्य को एक बहुत बडी बुराई मानता है, उसका कथन है कि राज्य का उदय हमारी दुष्ट प्रकृति के फलस्वरूप हुआ है। वह व्यक्ति के अधिकारो का रक्षक नही, बल्कि उनका भक्षक है। शासन दुराचारी है, यदि पूर्ण नैतिक अवस्था की स्थापना हो जाए तो उसकी आवश्यकता ही नही रह सकती।[1] स्पेन्सर ने विकासवाद तथा प्राणि-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य की अवस्थिति मानव समाज के विकास क्रम के निचले स्तर पर आवश्यक होती है। उसका कथन है कि पुराना समाज 'सैनिक समाज' (Military society) था। उस मे कडे नियन्त्रण की भले ही आवश्यकता रही हो, परन्तु वर्त्तमान युग के औद्योगिक समाज (Industrial society) के लिए उसकी जरूरत नही। वर्तमान युग मे ऐच्छिक सहयोग का अधिक महत्त्व है। प्राणि-विज्ञान के अनुसार स्पेन्सर यह स्वीकार करता है कि समाज मे उपयुक्ततम की अवस्थिति (Survival of the fittest) का सिद्धान्त कार्य कर रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार इस समाज में अपना स्थान बनाने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकृत प्रतियोगिता (Competition) मे वही लोग बच सकते हैं जो कि शक्तिशाली हैं। राज्य को इस स्वाभाविक प्रक्रिया मे किसी प्रकार का दखल नही देना चाहिए। अत स्पेन्सर के मतानुसार राज्य के केवलमात्र नकारात्मक कार्य हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) बाह्य आक्रमण से व्यक्तियो की रक्षा।
(२) आन्तरिक शत्रुओ से व्यक्तियो की रक्षा।
(३) कानून के अनुसार किए गए समझौते का पालन करवाना।

राज्य को शिक्षा, जन-स्वास्थ्य तथा जन-हित के अनेक कार्यों की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए। राज्य को स्कूल नही खोलने चाहिए, हस्पताल नही स्थापित करने चाहिए, सडकें नही बनानी चाहिए, डाकखानो की व्यवस्था नही करनी चाहिए। सक्षेप मे सभी लोक-हित के कार्यों का सम्पादन व्यक्तियो के ही हाथ में छोड देना चाहिए। इन कार्यों को न कर राज्य व्यक्ति की वास्तविक उन्नति मे सहयोग देता है और समाज के प्रकृत विकास के प्रवाह को अबाध गति से बहने देता है।

व्यक्तिवाद के इन प्रमुख समर्थको के अतिरिक्त काण्ट, हमबोल्ड, डी टाकवेल तथा फिचे इत्यादि भी इसके समर्थको मे से हैं।

१६६ व्यक्तिवाद का समर्थन

व्यक्तिवाद का समर्थन अनेक प्रकार के तर्कों के आधार पर किया गया है,

1 "Have we not shown that the Government is essentially immoral? Does it not exist simply because crime exists and must Government not cease when crime ceases?"—*H Spencer*

इन तर्कों मे निम्नलिखित प्रमुख है —

(१) **व्यक्तिवाद का नैतिक आधार पर समर्थन** करने वालो मे काण्ट, फिचे, मिल तथा हमवोल्ड प्रमुख है। इन के तर्कों का आधार न्याय तथा प्राकृतिक नियम सम्बन्धी अमूर्त धारणाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति इतना बुद्धि सम्पन्न है कि वह जान सके कि उसका हित किस कार्य के करने मे है, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि तथा शक्तियो के अनुसार अपने व्यक्तित्व के विकास की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अत. प्रत्येक व्यक्ति को अपने चरित्र निर्माण तथा व्यक्तित्व के विकास की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अगर राज्य व्यक्ति के वैयक्तिक कार्यो मे दखल दे और उसकी विकास की दिशा को निर्दिष्ट करे तो उसमे स्वालम्वन, कार्य प्रारम्भ करने की शक्ति तथा स्वाभाविक उत्साह खत्म हो जाता है। राज्य का नियन्त्रण व्यक्ति के चरित्र मे कमजोरियाँ उत्पन्न करता है, उसकी शक्तियो को नष्ट करता है और उसका प्रकृत-विकास रोक देता है।

प्रकृति का नियम है प्रतियोगिता। इस प्रतियोगिता द्वारा ही वह उपयुक्ततम (Fittest) का चुनाव करती है और उन्हे पुरस्कृत करती है। प्रतियोगिता द्वारा मनुष्य की छिपी हुई शक्तियाँ प्रकाश मे आती हैं और उनका विकास होता है। प्रतियोगिता द्वारा ही समाज मे उच्च या श्रेष्ठ व्यक्तियो का चुनाव किया जा सकता है। जब प्रतियोगिता प्रकृति का नियम है तो उस पर किसी प्रकार की भी रोक-टोक नही होनी चाहिए। आर्थिक क्षेत्र मे भी राज्य के नियन्त्रण का अभाव होना चाहिए, और प्रतियोगिता की भावना के विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

अतः न्याय तथा प्रकृत नियमो का अनुसरण करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। उसे अपनी रुचि, योग्यता तथा शक्ति के अनुसार जीवन की दौड मे भाग लेने की खुली छूट होनी चाहिए।

(२) **व्यक्तिवाद का प्राणि-वैज्ञानिक आधार पर समर्थन** भी किया जाता है। स्पेन्सर का कथन है कि व्यक्तिवाद का सिद्धान्त प्राणियो के विकास-सिद्धान्त के अनुरूप है। पीछे हम स्पेन्सर के सावयव राज्य के सिद्धान्त का अध्ययन कर आए है और यह देख चुके हैं कि किस प्रकार स्पेन्सर प्राणि-विज्ञान के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन करता है। स्पेन्सर का कथन है प्राणि-जगत मे अस्तित्व कायम रखने के लिए बराबर संघर्ष चलता रहता है। जो कमजोर प्राणी होते हैं या जो इस सघर्ष मे पिछड जाते हैं, प्रकृति उन्हे खत्म होने देती है। जिन प्राणियो मे जीवन की शक्ति अधिक होती है, वही बच पाते हैं। प्राणियो के विकास का इतिहास यह सिद्ध करता है कि जो प्राणी इस सघर्ष मे पीछे रह गए वह मिट गए। उनका स्थान अधिक शक्ति सम्पन्न प्राणियो ने ले लिया। उपयुक्ततम के बचने मे तथा आगे आने मे उनकी अपनी शक्ति ने ही उनकी सहायता की, किसी बाहरी एजेन्सी ने नही। जब प्राणि-जगत मे विकासवाद का यह सिद्धान्त कार्य करता है तो मानव-समाज मे भला क्यो नही करेगा ? मानव-समाज मे निर्धन, अयोग्य तथा अक्षम व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं और केवल योग्य तथा सक्षम व्यक्ति ही बच पाते हैं। प्रकृति का नियम है कि जीवित रहने का अधिकार

वे हैं—अपने आप से सम्बन्ध रखने वाले कार्य (Self-regarding-acts) तथा सामाजिक कार्य (Social-acts) राज्य केवल व्यक्ति के सामाजिक कार्यों का ही नियन्त्रण कर सकता है, अपने आप से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों का नहीं। अपने आप मे सम्बन्ध रखने वाले कार्यों के विषय मे वह पूर्ण स्वतन्त्र है।

स्पेन्सर तो राज्य को एक बहुत बडी बुराई मानता है, उसका कथन है कि राज्य का उदय हमारी दुष्ट प्रकृति के फलस्वरूप हुआ है। वह व्यक्ति के अधिकारो का रक्षक नही, बल्कि उनका भक्षक है। शासन दुराचारी है, यदि पूर्ण नैतिक अवस्था की स्थापना हो जाए तो उसकी आवश्यकता ही नही रह सकती।[1] स्पेन्सर ने विकासवाद तथा प्राणि-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य की अवस्थिति मानव समाज के विकास क्रम के निचले स्तर पर आवश्यक होती है। उसका कथन है कि पुराना समाज 'सैनिक समाज' (Military society) था। उस मे कडे नियन्त्रण की भले ही आवश्यकता रही हो, परन्तु वर्तमान युग के औद्योगिक समाज (Industrial society) के लिए उसकी जरूरत नही। वर्तमान युग मे ऐच्छिक सहयोग का अधिक महत्त्व है। प्राणि-विज्ञान के अनुसार स्पेन्सर यह स्वीकार करता है कि समाज मे उपयुक्ततम की अवस्थिति (Survival of the fittest) का सिद्धान्त कार्य कर रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार इस समाज मे अपना स्थान बनाने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकृत प्रतियोगिता (Competition) मे वही लोग बच सकते हैं जो कि शक्तिशाली हैं। राज्य को इस स्वाभाविक प्रक्रिया मे किसी प्रकार का दखल नही देना चाहिए। अत स्पेन्सर के मतानुसार राज्य के केवलमात्र नकारात्मक कार्य हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) बाह्य आक्रमण से व्यक्तियो की रक्षा।
(२) आन्तरिक शत्रुओ से व्यक्तियो की रक्षा।
(३) कानून के अनुसार किए गए समझौते का पालन करवाना।

राज्य को शिक्षा, जन-स्वास्थ्य तथा जन-हित के अनेक कार्यों की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए। राज्य को स्कूल नही खोलने चाहिए, हस्पताल नही स्थापित करने चाहिए, सडकें नही बनानी चाहिए, डाकखानो की व्यवस्था नही करनी चाहिए। सक्षेप मे सभी लोक-हित के कार्यों का सम्पादन व्यक्तियो के ही हाथ में छोड देना चाहिए। इन कार्यों को न कर राज्य व्यक्ति की वास्तविक उन्नति मे सहयोग देता है और समाज के प्रकृत विकास के प्रवाह को अबाध गति से बहने देता है।

व्यक्तिवाद के इन प्रमुख समर्थको के अतिरिक्त काण्ट, हमबोल्ड, डी टाकवेल तथा फिचे इत्यादि भी इसके समर्थको मे से हैं।

१६९ व्यक्तिवाद का समर्थन

व्यक्तिवाद का समर्थन अनेक प्रकार के तर्कों के आधार पर किया गया है,

---

1 "Have we not shown that the Government is essentially immoral? Does it not exist simply because crime exists and must Government not cease when crime ceases?"—*H Spencer*

मे उतने उत्साह से भाग नही ले सकते जितने कि साधारण व्यक्ति। राज कर्मचारी वेतन पर कार्य करते हैं, उनको किसी व्यापार से कोई आर्थिक लाभ की सम्भावना नही होती अतः वे जो काम भी करते हैं, आधे दिल से करते हैं। व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का नियन्त्रण विशेषज्ञो का कार्य है। राज कर्मचारियो मे ऐसी विशेषज्ञता के दर्शन नही होते। राज्य मन्त्री भी साधारण लोग होते हैं उन्हे न तो प्रशासकीय अनुभव ही होता है और न विशेष ज्ञान ही। फिर राज्य को वहुत से कार्य सौंप कर उससे सुचारुता की उम्मीद करना व्यर्थ है। जब उसे वहुत से कार्य करने होंगे तो वह किसी भी कार्य को सावधानी से तथा सुचारुता से नही कर सकेगा। अतः ऐसी व्यवस्था राज्य की अयोग्यता का ही प्रदर्शन करेगी।

व्यक्तिवाद की आलोचना—व्यक्तिवाद सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का जैसा चित्रण करता है वह अधिकाश मे असत्य, अयथार्थ तथा अतिशयोक्ति पूर्ण है। नीचे हम व्यक्तिवाद की विभिन्न आधारो पर आलोचना करेंगे।

(१) स्पेन्सर इत्यादि व्यक्तिवादियो ने राज्य को आवश्यक बुराई माना है और उसके जन्म का कारण मनुष्य की आक्रामक तथा स्वार्थ प्रवृत्ति को स्वीकार किया है। परन्तु यह धारणा सर्वथा निराधार है। राज्य सर्वथा प्रकृत है। वह उसी प्रकार स्वाभाविक है जैसे परिवार। मनुष्य केवल मात्र स्वार्थ प्रवृत्ति से प्रेरित होता हो यह गलत है। मनुष्य प्रकृति वहुत जटिल है। उसकी इतनी सरल तथा सहज व्याख्या सम्भव नही जितनी कि व्यक्तिवादियो ने की है। मनुष्य मे जहाँ समाज विरोधी (Anti-social) तत्त्व है वहाँ सहयोग, सद्भाव तथा मेल-जोल इत्यादि उदार भावनाएं भी मौजूद हैं। राज्य को आवश्यक बुराई कहना सर्वथा गलत है। मनुष्य समुदाय बनाकर ही रह सकता है, समुदाय से भिन्न नही। व्यक्ति तथा समाज के हितो में इतना विरोध नही, न ही उनमे शोषित तथा शोषक का-सा सम्बन्ध है। राज्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने जन कल्याण के लिए अनेक प्रयत्न किए हैं।

(२) व्यक्तिवादी व्यक्ति का एक स्वतन्त्र इकाई के रूप मे चित्रिण करते हैं, ये यह समझते हैं कि व्यक्ति की समाज से या राज्य से एक स्वतन्त्र स्थिति है। उसके कुछेक ऐसे स्वार्थ हैं जो समाज के विरुद्ध हैं या समाज से स्वतन्त्र हैं। मिल ने इस बात को व्यक्ति के आचरण के दो भाग—अपने आपसे सम्बन्ध रखने वाले कार्य तथा सामाजिक कार्य माना है। उसका कथन है कि स्वपरक कार्यों (Self-regarding activities) के नियमन तथा सचालन में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। परन्तु वह यह बतलाने मे असमर्थ है कि व्यक्ति के कौन-कौन से ऐसे कार्य हैं जो केवल मात्र उसी से सम्बन्धित हैं और समाज से नहीं। मिल यह भूल जाता है कि व्यक्ति के जीवन का ऐसा कोई भाग नही जिसका प्रभाव उसके पारिवारिक सदस्यो, सम्बन्धियो, पास पडोसियो तथा समाज के अन्य सदस्यो पर न पडता हो। व्यक्ति का जीवन सामाजिक जीवन का एक अभिन्न तथा अटूट भाग है। मनुष्य के व्यक्तित्व के आधार भूत तत्त्व अह (Self) का विकास समाज मे ही सम्भव है, समाज से वाहर नही। व्यक्ति के विचार, कल्पनाएँ, भावनाएँ तथा विभिन्न दृष्टिकोण सामाजिक वातावरण से ही निर्मित होते है। ऐसी अवस्था मे

केवल सबल तथा शक्तिशाली व्यक्तियो को ही होता है। राज्य की वह तमाम कोशिशें, जिनके द्वारा यह निर्धन तथा अशक्त व्यक्तियो की सहायता करने का प्रयत्न करता है, सफल नही हो सकती। अतएव स्पेन्सर का कथन है कि राज्य को निर्धनो तथा मजदूरो की रक्षा तथा रोगियो की निरोग्यता और अशिक्षितो की शिक्षा इत्यादि की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।

आर्थिक आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन करने वालो मे एडमस्मिथ सर्व-प्रथम है। एडमस्मिथ के एतद् विषयक विचारो से बेन्थम तथा मिल दोनो ही पर्याप्त सीमा तक प्रभावित थे। एडमस्मिथ का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वार्थ भावना से कार्य मे प्रवृत्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थ भावना की पूर्ति के लिए अपनी रुचि के अनुसार उपयुक्त मार्ग का चुनाव करता है। अगर हरेक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपने स्वार्थ की पूर्ति की स्वतन्त्रता हो तो, सम्पूर्ण समाज का कल्याण सम्भव है। अधिक से अधिक लोगो के अधिक से अधिक लाभ की व्यवस्था पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता मे ही सम्भव है। आत्महित की भावना से प्रेरित हो प्रत्येक पूँजीपति उद्योग-धन्धो मे अधिक से अधिक धन लगाएगा और प्रतियोगिता के फलस्वरूप कम वेतन पर उसे मजदूरी भी प्राप्त होगी जो कि विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन मूल्य को कम रखने मे सहायक होगी। इस प्रकार कम से कम लागत पर तैयार हुई वस्तुओ से समाज के अधिक से अधिक व्यक्ति लाभ उठा सकेंगे। उद्योग-धन्धो का समुचित विकास तभी सम्भव है जब कि आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद की स्थापना होगी।

अनुभव के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन भी किया जाता है। यह कहा जाता है कि अतीत मे जब कभी भी राज्य ने व्यक्ति के कार्य क्षेत्र में दखल दिया है तो वह कभी भी सफल नही हुआ। समाज मे वैयक्तिक जीवन के नैतिक आर्थिक तथा पारिवारिक पक्षो के नियन्त्रण के लिए अनेक कानून पास किए गए, परन्तु सभी अपने-अपने उद्देश्य प्राप्ति मे पूर्णतया असफल सिद्ध हुए। इग्लैण्ड मे व्यापार, यातायात, वेषभूषा इत्यादि विषयक अनेक कानूनो को पास किया गया परन्तु उनमें से कोई भी सफल नहीं हुआ। यही नही उन्होंने अनेक अनावश्यक तथा अहितकर सामाजिक दोषो को भी जन्म दिया। स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक 'The Sins of Legislature' मे अतीत काल मे पास किए गए अनेक दोष पूर्ण कानूनों की आलोचना की और उनकी हानियो को भी प्रदर्शित किया। उसमे उसने दर्शाया है कि सामाजिक सुरक्षा के लिए अनेक कानूनो को पास किया गया परन्तु बाद में या तो उनको खत्म ही करना पडा या फिर उन्हे इस प्रकार सशोधित किया गया कि उनका रूप ही बदल गया। व्यापार तथा आर्थिक जीवन मे राज्य द्वारा किया गया दखल तो और भी अहितकर होता है।

राज्य की अयोग्यता के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन इसलिए किया जाता है कि राज्य द्वारा हमारे आर्थिक जीवन का नियन्त्रण दरअसल राज कर्मचारियो का नियन्त्रण है। राज कर्मचारी सर्वज्ञ नही होते, यह आवश्यक नहीं कि वह सभी प्रकार के कार्यो मे दक्ष हो। राज कर्मचारी उत्पादन व्यवस्था तथा व्यापार

उसके जीवन का कौन-सा ऐसा भाग हो सकता है जिसे हम केवल मात्र अपने आप से ही सम्बन्ध रखने वाला कह दें ? हम पीछे देख चुके हैं कि किस प्रकार पुराने समय मे व्यक्ति का जीवन सामाजिक या सामूहिक जीवन का अभिन्न अग था। वर्तमान युग में वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की अन्योन्याश्रयता और भी अधिक बढ गई है। हक्सले का कथन है कि "सभ्यता जितनी उच्च होगी, अन्य व्यक्तियों पर एक व्यक्ति के कार्यो का प्रभाव उतना ही अधिक पडेगा, और इस बात की सम्भावना उतनी ही कम होगी कि एक व्यक्ति की भूल का प्रभाव साथी नागरिको पर न पड़े। अत अगर राज्य के कार्यक्षेत्र का बहुत ही सकुचित स्वरूप भी स्वीकार कर लिया जाए तो भी यह मानना पडेगा कि राज्य के पास उससे अधिक शक्ति होनी चाहिए, जो कि उसे केवल पुलिस का कार्य करने वाली सस्था मानकर दी जाती है।[1]

(३) व्यक्तिवादियो की वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा बहुत सकुचित है। उनका दृष्टिकोण नकारात्मक है, उनके पास कोई ऐसा स्वस्थ सिद्धान्त नही है जिसके आधार पर वे वैयक्तिक अधिकारो की वैज्ञानिक व्याख्या कर सकें। स्वतन्त्रता का इस्तेमाल अधिकारो के आधार पर ही सम्भव है। व्यक्तिवादियो के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ है पाबन्दियो की अनुपस्थिति। राज्य के कानून वैयक्तिक स्वतन्त्रता के शत्रु है। राज्य कार्यों के बढने का अर्थ है व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का छीना जाना। ज्यो-ज्यो राज्य के अधिकार बढते जाते हैं त्यो-त्यो व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी खत्म होती जाती है। राजकीय हस्तक्षेप का अर्थ वैयक्तिक स्वतन्त्रता की समाप्ति नही है। व्यक्तियो की धारणा एक पक्षीय (One-sided) है। राज्य का काम केवल निषेधात्मक नही है। उसका कार्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता की उचित अनुभूति के लिए उपयुक्त सामाजिक परिस्थितियो का निर्माण भी है। ग्रीन ने सर्वथा ठीक भी कहा है कि राज्य को हमारे व्यक्तित्व के विकास मे आने वाली सम्पूर्ण बाधाओ को हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। जब राज्य की शक्ति का प्रयोग इस अर्थ मे किया जाता है तो राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पोषक तथा सरक्षक हो जाता है, उसका शत्रु नही रहता। अगर राज्य शिक्षा की व्यवस्था करता है अथवा हस्पताल बनाता या कानून द्वारा मजदूरो के काम करने के घण्टे निश्चित करता है या नगर गाँव तथा शहर में सफाई की व्यवस्था करता है तो क्या वह हमारी स्वतन्त्रता को छीनता है ? शिक्षा, मनुष्य के व्यक्तित्व की छिपी हुई शक्तियो के विकास मे सहायक होती है, नौकरी की व्यवस्था उसे आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है। सामाजिक स्वतन्त्रता की अनुभूति नैतिक तथा तर्कसगत बन्धनो से ही सम्भव है, उनसे बाहर नही।

---

1 "The higher the state of civilization, the more completely do the actions of one member of the social body influence all the rest, and the less possible is it for any one man to do a wrong without interfering more or less with the freedom of all his fellow citizens So that even upon the narrowest view of thefu nctions of the state it must be admitted to have wider powers than the advocates of the police theory are disposed to admit"—*Huxley*

(४) व्यक्तिवादी प्रतियोगिता को स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था का आधार मानते हैं। परन्तु प्रतियोगिता बराबर के लोगो मे सम्भव है। भूखे मरते मजदूरो मे तथा कारखानेदार पूँजीपतियो मे क्या मुकाबला हो सकता है? मजदूरो की विवशतापूर्ण स्थिति से पूँजीपति पूरा-पूरा फायदा उठाते है, वे उनका जहाँ तक सम्भव हो सकता है जी खोलकर शोषण करते हैं। ऐसी अवस्था मे राज्य को उनके पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन तथा नियन्त्रण करना चाहिए और कानून बनाकर मजदूरो को पूँजीपतियो के शोषण से बचाना चाहिए।

(५) व्यक्तिवादियो का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित तथा अहित को समझता है, वह जानता है कि क्या उसके हित मे है और क्या अहित मे। साथ ही उसमे इतनी शक्ति है कि वह बिना राज्य की सहायता के अपना हित-साधन कर सके। परन्तु यह धारणा भी असत्य है। अधिकांश लोगो मे न तो इतनी सूझ-बूझ या समझ ही है न इतनी क्षमता ही कि वे यह जान सकें कि उनका हित क्या है और उसकी प्राप्ति किस तरह सम्भव है। बच्चे और पागल क्या अपना हित समझते है? गरीब-मजदूर, अज्ञान, अशिक्षा तथा निर्धनता के कारण गुलामी को भी स्वीकार कर लेता है जो कि स्पष्टत उसके स्वार्थो के विपरीत है।

(६) स्पैन्सर ने बडे जोरदार शब्दो मे उपयुक्ततम की अवस्थिति (Survival of the fittest) के सिद्धान्त को सामाजिक जीवन पर लागू किया है। जीवन के लिए सघर्ष (Struggle for existence) सामाजिक जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। प्राणि-जगत का यह सिद्धान्त समाज पर किस प्रकार लागू हो सकता है, स्पैन्सर ने यह स्पष्ट नही किया। 'उपयुक्ततम की अवस्थिति' का सिद्धान्त पशु जगत के लिए है सुसस्कृत मानव-जगत के लिए नही है। मनुष्य जीवन की सर्वश्रेष्ठता का कारण ही पाशविकता का त्याग है। फिर स्पैन्सर यह सिद्ध नही कर पाता कि उसके 'उपयुक्ततम' (Fittest) व्यक्ति कौन है? क्या 'उपयुक्ततम' से शारीरिक शक्ति की उच्चता है या धन का आधिक्य? अगर दोनो को ही स्वीकार कर लिया जाए तो इसका अर्थ है कि मानव समाज मे मानवीय मूल्यो की कोई कीमत नही। मनुष्य की बुद्धि, शिक्षा तथा सस्कृति सभी का कोई अर्थ नही। सामाजिक जीवन ऐसे पाशविक सघर्ष के लिए सगठित नही किया गया। उसका मकसद मनुष्य जीवन की सुरक्षा के साथ-साथ उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक पूर्णता भी है। स्पैन्सर अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर कहता है कि गरीबो, असहायो, अनाथो तथा निर्बलो की सहायता करने की कोई आवश्यकता नही। उनका नाश राज्य के हित मे है। उनके विनिष्ट होने पर ही उच्च मानवीयता का विकास सम्भव है। इसका अर्थ है राज्य को नागरिको की चोरो, डाकुओ तथा हत्यारो से भी रक्षा नही करनी चाहिए और अगर वह हमारी इनसे रक्षा करता है तो क्या उसका कर्त्तव्य नही कि वह गरीब तथा विवश मजदूरो की पूँजीपतियो के शोषण से भी रक्षा करे? इस व्यवस्था के स्वीकार करने का अर्थ होगा कि प्रत्येक मनुष्य पूर्णरूप से स्वार्थी हो जाए और समाज मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला असूल प्रयोग मे लाया जाय।

समाज का आधार सहयोग तथा सद्भावना है, पाशविक सघर्ष नही। हक्सले ने ठीक कहा है कि "पारस्परिक सहायता, सहयोग और हमदर्दी की नैतिक प्रक्रिया के हित मे मनुष्य ने सभ्य समाज मे जीवन-सघर्ष को बन्द कर दिया है। राज्य को—जो एक मानवीय सस्था है—पशु जगत के नियम पर आधारित नहीं होना चाहिए।"[1]

(७) राज्य का वैयक्तिक आचरण मे हस्तक्षेप वैयक्तिक उत्साह तथा कार्यारम्भ की शक्तियो को नष्ट नही करता, न ही वह व्यक्ति के चरित्र को खोखला तथा निकम्मा बना देता है। व्यक्तिवादियो का यह कथन कि राज्य द्वारा व्यक्ति की सहायता उसमे स्वावलम्बन की भावना को खत्म कर देती है, गलत है। राज्य ने जब कभी व्यक्ति की सहायता की है उससे उसकी स्वतन्त्रता के क्षेत्र का विकास ही हुआ है और उससे उसकी आत्मनिर्भरता की भावना को बल ही मिला है। सोवियत रूस में राज्य आर्थिक तथा सामाजिक सस्थाओ तथा गति-विधियो पर सख्त नियन्त्रण करता है। वह व्यक्ति की आर्थिक जगत मे सहायता करता है, उसकी शिक्षा की व्यवस्था करता है और उसे स्वस्थ रखने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है। इन सबमे पिछडे से पिछडे प्रदेश मे रहने वाले लोगो मे न केवल आत्मनिर्भरता की भावना का ही विकास हुआ है अपितु उनको वैयक्तिक स्वतन्त्रता के वास्तविक अर्थ का ज्ञान ही अब हुआ है। अशिक्षा, दरिद्रता तथा अभाव मे रहकर वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उपभोग का विचार एक स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नही।

(८) इसमे सन्देह नही कि कभी किसी समय कुछ विशेष मामलो मे राज्य का दखल हितकर साबित नही हुआ, उससे कुछ नुकसान ही हुआ, परन्तु इसका अर्थ यह कभी नही कि राज्य ने जिस क्षेत्र मे हाथ बढाया वही वह असफल हुआ। आज यह सिद्ध हो गया है कि राज्य को शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, मजदूरो की स्थिति के सुधार इत्यादि विषयो मे बहुत सफलता प्राप्त हुई है। दूसरी तरफ अगर राज्य कुछ विषयो मे असफल रहा है तो वैयक्तिक नियन्त्रण उससे भी अधिक हानिकारक तथा असफल सिद्ध हुआ है। १९वी सदी के शुरू मे इग्लैण्ड इत्यादि देशों मे जहाँ आर्थिक क्षेत्र मे अबाध स्वतन्त्रता के प्रयोग की छूट दी गई थी, गरीब मजदूर पुरुष, स्त्री तथा बच्चो का क्या हाल हुआ उसका ध्यान कर आज भी इस व्यवस्था के खोखलेपन तथा निकम्मेपन को सिद्ध किया जाता है। पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति होती है, जन-कल्याण की नही। उत्पादन व्यवस्था बिना किसी योजना के चलती है। फल यह होता है कि समय-समय पर समाज मे आर्थिक अराजकता फैल जाती है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ को रोकने के लिए और समाज के आर्थिक साधनो को सामाजिक हित मे इस्तेमाल करने के लिए राज्य के दखल तथा नियन्त्रण की परम आवश्यकता रहती है।

---

1 "In civilized society man has stopped the ruthless struggle for existence in the interest of ethical process of mutual sympathy and help The state which is a human institution should not be guided by the laws of the animal world "—*Hnxley*

उपसहार—आज व्यक्तिवाद का सिद्धान्त प्राय सभी जगह अस्वीकृत हो चुका है। इग्लैण्ड ही नही फ्रास तथा अमेरिका जैसे पूंजीवादी देशो मे राज्य दिन-प्रतिदिन सामाजिक हित मे आर्थिक जीवन का अधिक से अधिक नियन्त्रण कर रहा है। वस्तुत वर्तमान युग मे केवल मात्र राज्य के कल्याणकारी रूप को ही मान्यता दी जाती है उसको हमारी अनेक मौजूदा खराबियो का हल माना जाता है।

व्यक्तिवाद ने राज्य की अबाध शक्ति का विरोध कर, मानव समाज मे व्यक्ति के व्यक्तित्व की महत्ता को दर्शाया तथा हमारे जीवन मे मानवीय मूल्यो को मान्यता प्रदान कर आदर्शवादियो तथा निरकुश राज्य सत्ता के समर्थको द्वारा फैलायी गई अनेक भ्रान्तियो को दूर किया। व्यक्तिवाद की सबसे बडी देन यही है कि उसने मानव के मानवीय रूप की महत्ता को स्थापित किया।

१७०. नूतन व्यक्तिवाद (Neo-individualism)

नूतन व्यक्तिवाद राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया है। वस्तुत ऐसा कहना अधिक न्याय सगत तथा वैज्ञानिक होगा कि नूतन व्यक्तिवाद सभी प्रकार के अधिनायक-तन्त्र तथा राज्य के निरकुश रूप के समर्थक सिद्धान्तो के विरुद्ध विकसित हुआ। १९वी सदी मे जिस व्यक्तिवाद का विकास हुआ था उसका विवेचन हमने ऊपर किया है। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आदर्शवाद तथा समाजवाद का विकास हुआ। दोनो ने ही राज्य के कार्यो की वृद्धि का समर्थन किया, यद्यपि दोनो का दृष्टिकोण पर्याप्त भिन्न है। हीगल का आदर्शवाद राज्य को न केवल कानूनी दृष्टि से ही असीम शक्ति सम्पन्न मानता है बल्कि नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि मे भी सर्वश्रेष्ठ समझता है। हीगल के सर्वशक्तिमान राज्य तथा उसके बुद्धिवादी दर्शन के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसको हम नूतन व्यक्तिवाद के नाम मे पुकारते हैं।

परन्तु नूतन व्यक्तिवाद केवल मात्र हीगल के बौद्धिक दर्शन की ही प्रतिक्रिया नही, इसके विकास मे कुछेक अन्य तत्त्वो ने भी सहयोग दिया। प्रथम युद्ध के दौरान मे राज्य की शक्ति का बहुत विकास हुआ। इग्लैण्ड तथा फ्रास जैसे प्रजातन्त्रवादी देशो मे राज्य की शक्ति की पर्याप्त अभिवृद्धि हुई और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र पर्याप्त सीमित हो गया। यही नही, युद्ध के दौरान मे साधारण नागरिको को अपने अनेक हितो का बलिदान करना पडा। युद्ध के कारण प्रत्येक स्थान पर अनेक प्रकार के पदार्थो का अभाव हो गया। सरकार की मशीनरी हृदयहीन होती है, उसका सचालन नौकरशाही के हाथ मे होता है, जन सामान्य के प्रतिनिधि उनके हाथ मे केवल खिलौने मात्र बनकर रह जाते हैं। जनता की आवाज उन तक पहुँच ही नही पाती।

दूसरी ओर राष्ट्रीय ससदो मे बहुमत की तानाशाही की स्थापना हो जाती है। अल्पमत को या तो कुचल दिया जाता है या फिर उनकी उपेक्षा की जाती है। प्रेस, प्लेटफार्म तथा प्रचार के अन्य साधनो द्वारा एक ही प्रकार के विचारो के प्रसार का प्रयत्न किया गया तथा विचार स्वातन्त्र्य की उपेक्षा की गई। राजनीतिक नेता

अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए गलत प्रचार कर जन-साधारण को गुमराह करते है, उनमे भीड-प्रवृति उत्पन्न कर उनकी सूझ-बूझ को खतम कर देते हैं। इस प्रकार लोगो मे केन्द्रीकृत प्रजातन्त्रात्मक शासन के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई। नूतन व्यक्तिवाद के विकास मे नवयुग मे उत्पन्न नवीन सामाजिक सघो ने भी विशेष सहायता की। राज्य की कार्यशक्ति का विस्तार अवश्य हुआ, परन्तु नागरिको के आन्तरिक जीवन मे उसकी महत्ता घट गयी। समाज मे आर्थिक नैतिक, तथा धार्मिक उद्देश्यो से प्रेरित अनेक समुदायो का विकास हुआ। व्यक्ति का सामाजिक जीवन समुदायो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने लगा, उनके व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति इन समुदायो मे होती है, ऐसा सभी जगह माना जाने लगा। राज्य अपनी प्रकृति मे समाज के इन समुदायो से भिन्न नही। राज्य की तरह समुदायो का भी अपना व्यक्तित्व है, नैतिक दृष्टि से भी राज्य अन्य समुदायो से श्रेष्ठ या ऊँचा नही कहा जा सकता। इसी कारण यह महसूस किया जाने लगा कि राज्य को उच्च तथा श्रेष्ठ पद देना किसी भी प्रकार उचित नही। इसे समाज के अन्य समुदायो की भान्ति ही समझना चाहिए और राज्यशक्ति का समुदायो तथा राज्य का बटवारा कर देना चाहिए। नूतन व्यक्तिवादी आदर्शवादियो द्वारा समर्थित राज्य के दैवीय गुणो के या नैतिक श्रेष्ठता के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते।

१९वी सदी मे व्यक्तिवादियो ने राज्य तथा व्यक्ति के पारस्परिक विरोध को उपस्थित किया था, उन्होंने व्यक्ति को एक स्वतन्त्र इकाई माना और उसके अधिकारो को मान्यता देने की माँग की थी। यह दृष्टिकोण अवैज्ञानिक था। नूतन व्यक्तिवादी व्यक्ति को एक स्वतन्त्र तथा पूर्णरूप से आत्मनिर्भर इकाई नही मानते। वह यह मानते हैं कि व्यक्ति समुदाय रूप से सगठित होते है। ये समुदाय धर्म, व्यवसाय और यहाँ तक कि लिंग तथा आयु के आधार पर भी सगठित हो सकते हैं। वर्तमान समय मे राज्य के विरुद्ध इन समुदायों को प्रस्तुत किया जाता है और उनके अधिकारो की स्वीकृति के लिए माँग की जाती है। १९वी सदी का व्यक्तिवाद मनुष्य को पूँजीवादी शोषण व्यवस्था का मुकाबिला करने के लिए अकेला छोड देता था, परन्तु यहाँ समुदाय व्यक्ति के हित तथा स्वार्थों की रक्षा के लिए सगठित किए जाते है। समुदायों का सगठन सामान्य स्वार्थों की पूर्ति के लिए तथा व्यक्तियो के स्वतन्त्र तथा पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए किया जाता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा भी समुदायो की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर सगठित समाज मे ही सम्भव है।

नार्मन एन्जेल तथा ग्राहम वेलेस ने नूतन व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के विकास मे विशेष योग दिया है।

नार्मन एन्जेल (Norman Angell) ने अपनी पुस्तक 'The Great Illusion' मे सामाजिक जीवन का विश्लेषण किया है। उनका कथन है कि मनुष्य समुदायो मे आर्थिक हितो के आधार पर ही एकता उत्पन्न होती है। यह एकता की भावना जरूरी नही कि राष्ट्रीय सीमाओ के अन्तर्गत ही सीमित रहे, यह अन्तर्राष्ट्रीय रूप भी धारण कर सकती है। साधारणतया मनुष्य वही करता है जिसमे उसे

आर्थिक लाभ होता है। परन्तु वर्तमान युग मे अक्सर उसे गुमराह किया जाता है, उसमे राष्ट्रवाद की भावनाओ को भर युद्ध के लिए तैयार किया जाता है, यह निश्चय ही उसके हितो के विरुद्ध है। उसके वास्तविक हित की प्राप्ति सकुचित राष्ट्रीयता से ऊपर उठने से ही सम्भव है। नार्मन एन्जेल का कथन है कि "विश्व व्यापक आर्थिक **समाज जिसका गुण शान्ति है उसकी सदस्यता के नाते व्यक्ति के स्वार्थो की अधिक पूर्ति होती है, बनिस्बत एक सीमित राजनीतिक समाज के, जिसका गुण युद्ध है।"**[1]

राजनीतिक समाज के सदस्य के रूप मे व्यक्ति अपनी तर्क वुद्धि से कार्य नही लेते, वे भावावेश मे आकर कार्य करते है। साधारणतया अपने वैयक्तिक जीवन मे जिन कामो को वे कभी भी करना पसन्द नही करेंगे और जिन्हे वे बुरा समझते हैं उन्ही को वे एक राज्य के सदस्य के नाते कर डालते हैं। परन्तु उसका विश्वास है कि यह स्थिति वहुत समय तक नही रहेगी। राज्य तो केवल एक प्रशासकीय मशीनर है जिसे कभी किसी भी अन्य यन्त्र के मिल जाने पर छोड़ा जा सकता है। उसका ख्याल है कि धीरे-धीरे आर्थिक समुदायो का विकास होगा और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समाज के अन्तर्गत राष्ट्रीय राज्य विलीन हो जायेगा।

ग्राहम वेलस भी केन्द्रीकृत राज्य की शक्ति के विरुद्ध है, परन्तु उसे मुख्य रूप से प्रजातन्त्रात्मक राज्यो की विधान सभाओ के सगठन के प्रति शिकायत है। वर्तमान चुनाव व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिनिधियो का चुनाव भौगोलिक-चुनाव क्षेत्रो के आधार पर होता है। फलत राज्य मे मौजूद विभिन्न-स्वार्थो (Interests) को कहीं भी प्रतिनिधित्व नही मिल पाता। भौगोलिक चुनाव क्षेत्रो के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधिगण किसी भी समुदाय या स्वार्थ का प्रतिनिधित्व नही करते।

अत ग्राहम वेलस चुनाव व्यवस्था तथा विधानपालिकाओ के पुनर्गठन की ही माँग करता है। उसका कथन है कि राज्य की विधानपालिका के एक सदन का चुनाव तो पेशे तथा उद्योग के आधार पर होना चाहिए, दूसरे सदन का चुनाव प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था के अन्तर्गत होना चाहिए। प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था पर आधारित सदन वास्तव मे प्रथम सदन (First chamber) होगा।

कुछ अन्य विचारको ने सघ-व्यवस्था के आधार पर राज्य के पुनर्गठन की माँग की है।

नूतन व्यक्तिवाद समाज में स्थित ऐच्छिक समुदायो के महत्त्व को दर्शाता है और राज्य की अबाध सत्ता का खण्डन करता है।

---

1. "It pays men better to think and feel as members of the universal economic society, whose attribute is peace, than to think and feel as members of limited societies whose attribute is war"

—*Norman Angell.*

अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए गलत प्रचार कर जन-साधारण को गुमराह करते है, उनमे भीड-प्रवृति उत्पन्न कर उनकी सूझ-बूझ को खत्म कर देते है। इस प्रकार लोगो मे केन्द्रीकृत प्रजातन्त्रात्मक शासन के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई। नूतन व्यक्तिवाद के विकास मे नवयुग मे उत्पन्न नवीन सामाजिक सघो ने भी विशेष सहायता की। राज्य की कार्यशक्ति का विस्तार अवश्य हुआ, परन्तु नागरिको के आन्तरिक जीवन मे उसकी महत्ता घट गयी। समाज मे आर्थिक नैतिक, तथा धार्मिक उद्देश्यो से प्रेरित अनेक समुदायो का विकास हुआ। व्यक्ति का सामाजिक जीवन समुदायो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने लगा, उनके व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति इन समुदायो मे होती है, ऐसा सभी जगह माना जाने लगा। राज्य अपनी प्रकृति मे समाज के इन समुदायो से भिन्न नही। राज्य की तरह समुदायो का भी अपना व्य-वितत्व है, नैतिक दृष्टि से भी राज्य अन्य समुदायो से श्रेष्ठ या ऊँचा नही कहा जा सकता। इसी कारण यह महसूस किया जाने लगा कि राज्य को उच्च तथा श्रेष्ठ पद देना किसी भी प्रकार उचित नही। इसे समाज के अन्य समुदायो की भान्ति ही समझना चाहिए और राज्यशक्ति का समुदायो तथा राज्य का बटवारा कर देना चाहिए। नूतन व्यवितवादी आदर्शवादियो द्वारा समर्थित राज्य के दैवीय गुणो के या नैतिक श्रेष्ठता के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते।

१९वी सदी मे व्यक्तिवादियो ने राज्य तथा व्यक्ति के पारस्परिक विरोध को उपस्थित किया था, उन्होने व्यक्ति को एक स्वतन्त्र इकाई माना और उसके अधिकारो को मान्यता देने की माँग की थी। यह दृष्टिकोण अवैज्ञानिक था। नूतन व्यक्तिवादी व्यक्ति को एक स्वतन्त्र तथा पूर्णरूप से आत्मनिर्भर इकाई नही मानते। वह यह मानते है कि व्यक्ति समुदाय रूप से सगठित होते है। ये समुदाय धर्म, व्यवसाय और यहाँ तक कि लिंग तथा आयु के आधार पर भी सगठित हो सकते है। वर्तमान समय मे राज्य के विरुद्ध इन समुदायो को प्रस्तुत किया जाता है और उनके अधिकारो की स्वीकृति के लिए माँग की जाती है। १९वी सदी का व्यक्तिवाद मनुष्य को पूंजीवादी शोषण व्यवस्था का मुकाबिला करने के लिए अकेला छोड देता था, परन्तु यहाँ समुदाय व्यक्ति के हित तथा स्वार्थो की रक्षा के लिए सगठित किए जाते है। समुदायो का सगठन सामान्य स्वार्थो की पूर्ति के लिए तथा व्यक्तियो के स्वतन्त्र तथा पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए किया जाता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा भी समुदायो की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर सगठित समाज मे ही सम्भव है।

नार्मन एन्जेल तथा ग्राहम वेलेस ने नूतन व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के विकास मे विशेष योग दिया है।

नार्मन एन्जेल (Norman Angell) ने अपनी पुस्तक 'The Great Illusion' मे सामाजिक जीवन का विश्लेषण किया है। उनका कथन है कि मनुष्य समुदायो मे आर्थिक हितो के आधार पर ही एकता उत्पन्न होती है। यह एकता की भावना जरूरी नही कि राष्ट्रीय सीमाओ के अन्तर्गत ही सीमित रहे, यह अन्तर्राष्ट्रीय रूप भी धारण कर सकती है। साधारणतया मनुष्य वही करता है जिससे उसे

आर्थिक लाभ होता है। परन्तु वर्तमान युग मे अक्सर उसे गुमराह किया जाता है, उसमे राष्ट्रवाद की भावनाओ को भर युद्ध के लिए तैयार किया जाता है, यह निश्चय ही उसके हितो के विरुद्ध है। उसके वास्तविक हित की प्राप्ति सकुचित राष्ट्रीयता से ऊपर उठने से ही सम्भव है। नार्मन एन्जेल का कथन है कि "विश्व व्यापक आर्थिक समाज जिसका गुण शान्ति है उसकी सदस्यता के नाते व्यक्ति के स्वार्थो की अधिक पूर्ति होती है, बनिस्बत एक सीमित राजनीतिक समाज के, जिसका गुण युद्ध है।"[1]

राजनीतिक समाज के सदस्य के रूप मे व्यक्ति अपनी तर्क बुद्धि से कार्य नही लेते, वे भावावेश मे आकर कार्य करते हैं। साधारणतया अपने वैयक्तिक जीवन मे जिन कामो को वे कभी भी करना पसन्द नही करेंगे और जिन्हे वे बुरा समझते हैं उन्ही को वे एक राज्य के सदस्य के नाते कर डालते हैं। परन्तु उसका विश्वास है कि यह स्थिति बहुत समय तक नही रहेगी। राज्य तो केवल एक प्रशासकीय मशीनर है जिसे कभी किसी भी अन्य यन्त्र के मिल जाने पर छोडा जा सकता है। उसका ख्याल है कि धीरे-धीरे आर्थिक समुदायो का विकास होगा और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समाज के अन्तर्गत राष्ट्रीय राज्य विलीन हो जायेगा।

ग्राहम वेलस भी केन्द्रीकृत राज्य की शक्ति के विरुद्ध है, परन्तु उसे मुख्य रूप से प्रजातन्त्रात्मक राज्यो की विधान सभाओ के सगठन के प्रति शिकायत है। वर्तमान चुनाव व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिनिधियो का चुनाव भौगोलिक-चुनाव क्षेत्रो के आधार पर होता है। फलत राज्य मे मौजूद विभिन्न-स्वार्थो (Interests) को कही भी प्रतिनिधित्व नही मिल पाता। भौगोलिक चुनाव क्षेत्रो के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधिगण किसी भी समुदाय या स्वार्थ का प्रतिनिधित्व नही करते।

अत ग्राहम वेलस चुनाव व्यवस्था तथा विधानपालिकाओ के पुनर्गठन की ही माँग करता है। उसका कथन है कि राज्य की विधानपालिका के एक सदन का चुनाव तो पेशे तथा उद्योग के आधार पर होना चाहिए, दूसरे सदन का चुनाव प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था के अन्तर्गत होना चाहिए। प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था पर आधारित सदन वास्तव मे प्रथम सदन (First chamber) होगा।

कुछ अन्य विचारको ने सघ-व्यवस्था के आधार पर राज्य के पुनर्गठन की माँग की है।

नूतन व्यक्तिवाद समाज मे स्थित ऐच्छिक समुदायो के महत्त्व को दर्शाता है और राज्य की अबाध सत्ता का खण्डन करता है।

---

1. "It pays men better to think and feel as members of the universal economic society, whose attribute is peace, than to think and feel as members of limited societies whose attribute is war"

—*Norman Angell.*

Important Questions

	Reference
1 How does 'modern individualism' differ from old (J S Mill's individualism) *(Pb 1954)*	Art 170
2 Write a short note on Individualism and Socialism *(Pb 1953)*	Arts 168 and 169
3 "The aims of the Socialists and the Individalists do not in the long run differ " Explain how and point out where the difference lies *(Pb 1951 Sep)*	Arts 168 and 169
4 Explain the factors promoting the growth of modern individualism ? *(Pb 1951)*	Art 170
5 Comment on the nature of state activity under individualism *(Pb 1950)*	Arts 168 and 169
6 Trace the causes which contributed to the growth of modern individualism and differentiate it from the individualism of the 14th century *(Pb 1954)*	Art 170
7 Discuss the different arguments which are given in support of Individualism,	Arts 168 and 169

राज्य के कार्य क्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (३)

समाजवाद (Socialism)

१७१ समाजवाद का स्वरूप

समाजवाद का जन्म व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ, परन्तु समाजवाद एक बहुत व्यापक विचारधारा है, जो केवल राजनीतिक तथा आर्थिक ही नही अपितु समाज-वैज्ञानिक और सांस्कृतिक भी है। समाजवाद केवल राज्य के सगठन, उसके कर्त्तव्य, अर्थ-व्यवस्था के सुधार तथा राजनीतिक समस्याओ के सुलझाव का ही हल पेश नही करता है, बल्कि समाज के प्रारम्भ, उसके स्वरूप तथा उसकी परिवर्तन व्यवस्था की व्याख्या भी करता है। वह मानवीय सस्कृति तथा उसके स्वरूप की भी विवेचना करता है। समाजवाद का अपना दर्शन तथा व्यावहारिक प्रोग्राम है। परन्तु समाजवाद केवल-मात्र एक सिद्धान्त ही नही वह एक राजनीतिक आन्दोलन तथा शासकीय प्रणाली भी है। यही कारण है कि आज का प्रत्येक व्यक्ति समाजवादी है। समाजवाद का रूप प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय के साथ बदलता रहता है। जोड का कथन है कि **'समाजवाद उस टोपी की तरह है जिसका अपना स्वरूप समाप्त हो गया है क्योकि सभी लोग उसे पहनते हैं।'**

ऊपर हम कह आये हैं कि समाजवाद व्यक्तिवाद का विरोधी है परन्तु इस का अर्थ यह नही कि वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का शत्रु है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की समाजवादी अपनी व्याख्या करते हैं जो व्यक्तिवादियो की धारणा से अधिक वैज्ञानिक, यथार्थ तथा व्यापक है। समाजवाद राज्य के कर्त्तव्यो के विषय मे व्यक्तिवाद का विरोधी है। समाजवाद राज्य को अधिक शक्ति सम्पन्न बनाना चाहता है। वह उसे सामाजिक कल्याण के सम्पूर्ण कर्त्तव्यो को सौंपना चाहता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति अबाध वैयक्तिक प्रतियोगिता की अपेक्षा सामाजिक नियमन (Social regulation) से अधिक उत्तम तरीके से हो सकती है। उत्पादन के साधनो, उद्योग-धन्धो इत्यादि का वैयक्तिक नियन्त्रण अन्याय तथा शोषण पर आधारित है। वह समाज मे निर्धनता तथा असमानता को उत्पन्न करता है। इसी अन्याय व्यवस्था को खत्म करने के लिए समाजवादी विश्वास करते है कि उत्पादन के साधनो का स्वामित्व तथा प्रयोग और उत्पादन के वितरण की व्यवस्था का नियमन सगठित समाज द्वारा होना चाहिए, चन्द व्यक्तियो द्वारा नही। इस प्रकार राज्य को या समाज को भूमि, पूजी तथा उत्पादन

के साधनो का स्वामी व प्रवन्धकर्त्ता वना दिया जायगा। राज्य उत्पादन के वटवारे के लिए भी जिम्मेदार होगा। वह ऐसी योजनावद्ध उत्पादन व्यवस्था का निर्माण करेगा कि जिसके फलस्वरूप समाज मे समानता की तथा सामाजिक कल्याण की वृद्धि होगी।

समाजवाद की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। इनमे से कुछ विचारणीय हैं—सुप्रसिद्ध भारतीय समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्रदेव का कथन है कि **'समाजवाद का ध्येय वर्गहीन समाज की स्थापना है। वह वर्तमान समाज का इस प्रकार का सगठन करना चाहता है कि वर्तमान परस्पर विरोधी स्वार्थो वाले शोषक तथा शोषित पीडक तथा पीडित वर्ग का अन्त हो जाय। समाज सहयोग के आधार पर सगठित व्यक्तियों का ऐसा समूह वन जाए जिसमे एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावत दूसरे सदस्य की उन्नति हो और सव मिलकर सामूहिक रूप से परस्पर उन्नति करते हुए जीवन गुजार सकें।'**

इग्लैण्ड के प्रसिद्ध समाजवादी रेम्जे मैकडोनल्ड का कथन है कि **'साधारण भाषा में समाजवाद की इससे अच्छी कोई परिभाषा ही नहीं की जा सकती है कि इसका उद्देश्य समाज के भौतिक तथा आर्थिक तत्वो का सगठन व मानवीय शक्तियो द्वारा इसका नियमन है।'**[1] अग्रेज विचारक वर्ट्रेण्ड रसेल का विचार है कि **'मैं समझता हूँ कि अगर समाजवाद को भूमि तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व की एक दलील कहा जाए तो हम समाजवाद के सार-रूप के अधिक निकट पहुँच जाते हैं।'**[2]

समाजवाद की चाहे जितनी परिभाषाएँ दी जाएँ, सभी इन वातो पर सहमत हैं—

(क) वैयक्तिक सम्पत्ति का विलोप (Abolition of private property)

(ख) सम्पत्ति के उत्पादन के तथा वितरण के साधनो पर सामाजिक नियन्त्रण (Socialisation of means of production and distribution of wealth)

(ग) पूजीपतियो द्वारा मजदूरो के शोषण की व्यवस्था का अन्त। समाजवाद के अनेक स्वरूप हैं, उन सव मे पर्याप्त अन्तर है परन्तु इस विभेद का कारण उद्देश्य की भिन्नता नही अपितु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधनों के प्रयोग की भिन्नता है। इसी भेद के आधार पर ही समाजवाद के विभिन्न स्वरूपो का सगठन किया गया है। समाजवाद के निम्नलिखित प्रमुख भेद हैं—

---

1 "No better definition of socialism can be given in general terms than that it aims at the organisation of the material economic forces of society, and their control by the human forces"

—*Ramsay Macdonald.*

2 "I think we come nearest to the essence of socialism by defining it as the advocacy of communal ownership of land and property"

—*Bertrand Russel*

(१) मार्क्सवाद (Marxism)
(२) साम्यवाद (Communism)
(३) विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism)
(४) सिण्डिकलिज्म (Syndicalism)
(५) गिल्ड सोशलिज्म (Guild Socialism)
(६) अराजकतावाद (Anarchism)

इससे पूर्व कि हम समाजवाद के इन सभी प्रकारो पर विस्तारपूर्वक विचार करें हमारे लिए उचित होगा कि हम यहाँ इसके विकास क्रम का अध्ययन कर ले।

समाजवादी विचारधारा का विकास—समाजवादी विचारधारा का प्रचलन राजनीति शास्त्र के इतिहास मे मिल जाता है। अपने आधुनिक रूप मे समाजवाद चाहे पुराने समय मे न मिलता हो, परन्तु सम्पत्ति के सामाजिक नियन्त्रण की न केवल धारणा ही अपितु व्यवस्था भी पुराने समय मे मिल जाती है। पुराने समाजो मे सम्पत्ति के सामूहिक नियन्त्रण की व्यवस्था मौजूद थी। इस व्यवस्था को आदिम समाजवाद (Primitive Communism) के नाम से पुकारा जाता है। प्राचीन स्पार्टा (Sparta) मे राजकीय समाजवाद के नियमो के आधार पर सामाजिक सगठन की व्यवस्था मिल जाती है। प्लेटो ने अपने समय की समाजवादी व्यवस्थाओ से प्रेरित होकर ही साम्यवाद की स्थापना का समर्थन किया था। प्लेटो के साम्यवाद के दो आधार थे—(क) वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था तथा (ख) वैयक्तिक परिवार की समाप्ति (Abolition of private family)। परन्तु प्लेटो का साम्यवाद आदर्शवाद से प्रेरित था उसका आधार आध्यात्मिक तथा नैतिक था, भौतिक नहीं। वह समाज मे फैले अनाचार की समाप्ति के लिए एक विशेष शासक वर्ग के निर्माण के पक्ष मे था। उसका साम्यवाद उसी शासक वर्ग पर ही लागू होता है, सम्पूर्ण समाज पर नही।

मध्यकालीन यूरोप मे चर्च के अन्तर्गत सामूहिक सम्पत्ति की व्यवस्था विद्यमान थी। ऐसी ही व्यवस्था बौद्ध युग मे भी बौद्ध सघो के अन्तर्गत मौजूद थी।

परन्तु मौजूदा आर्थिक व्यवस्था के सुधार तथा परिवर्तन के लिए तैयार किए गए, समाजवादी सिद्धान्तो का प्रचलन तो १९वीं सदी के प्रारम्भ मे ही मिलता है। सर थॉमस मोर (Sir Thomas More), रावर्ट ओवन (Robert Owen), सेंट सिमो (St. Simon) तथा फोरियेर (Fourier) इत्यादि ने समाजवाद के सिद्धान्तो का विविध ढग से विकास किया। थॉमस मोर ने तो प्लेटो के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Republic' के आधार पर एक कल्पनात्मक आदर्श राज्य का विवेचन किया। रोवर्ट ओवन इत्यादि ने न केवल समाजवादी सिद्धान्तो की ही रचना की अपितु समाजवाद के आधार पर आधारित समाजो का परीक्षण भी किया। वस्तुत ये सभी समाजवादी सुधारवाद मे यकीन करते थे। इनका दृष्टिकोण उदार तथा मानव प्रेमी था। इनका विचार था कि यदि वह एक पूर्ण समाजवादी समाज की रचना मे सफल होंगे तो समाज निश्चय ही इनके उदाहरण का अनुसरण करेगा। इनके

विचारो मे कल्पना का आधिक्य तथा यथार्थ की कमी होती थी। इनमे वैज्ञानिकता का अभाव था। यही कारण है कि ये सभी स्वप्नदर्शी (Utopian) समाजवादी कहलाते थे। इन्होने न तो समाजवाद के वैज्ञानिक आधार ही प्रस्तुत किए और न उसकी प्राप्ति के साधन ही बतलाये। वह तो मार्क्स है जिसे वर्तमान युग के समाजवाद का जनक कहा जाता है। उसने समाजवाद को कल्पनात्मक वस्तु नही रहने दिया, उसे एक यथार्थ सत्य बना दिया। जोड का कथन है—'**मार्क्स प्रथम समाजवादी विचारक है जिसके विचारो को विज्ञान-सगत कहा जा सकता है। उसने न केवल उस समाज का ही चित्रण किया जिसको वह आदर्श मानता था, बल्कि विस्तारपूर्वक उसके विकास क्रम का भी विवरण दिया।**"[1] आज समाजवाद के सभी सम्प्रदाय मार्क्स के ही विचारो को अपने विचारो का आदि-स्रोत समझते हैं। मार्क्स ने अपने सहयोगी फ्रेडरिक एन्जेलस के सहयोग से समाजवाद के सभी रूपो का तर्क सम्मत तथा वैज्ञानिक विवेचन किया।

समाजवाद की आर्थिक समानता की धारणा का विकास फ्रेंच क्रान्ति के अनन्तर हुआ। फ्रेंच क्रान्ति के दौरान मे राजनीतिक समानता को महत्त्व दिया गया परन्तु बाद मे पूँजीवादी व्यवस्था के प्रचलन के फलस्वरूप राजनीतिक समानता आर्थिक समानता के बिना निरर्थक समझी जाने लगी। फलत समाजवाद के सिद्धान्त के विकास द्वारा आर्थिक समानता का समर्थन किया गया।

१७२ मार्क्सवाद (Marxism)

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने पूंजीवाद के विकास, उसके ह्रास तथा समाजवाद के जन्म का ऐतिहासिक विवेचन किया। वह अपने दृष्टिकोण को निर्वैयक्तिक तथा वैज्ञानिक कहता है, जो सम्भवत ठीक नही। उसने सम्पूर्ण सामाजिक विकास-क्रम का चित्रण अपने पूर्व निर्धारित विचारो के आधार पर किया है। मार्क्स के सिद्धान्तो को मुख्य रूप से हम उसके '**कम्यूनिस्ट घोषणा पत्र**' (Communist Manifesto) तथा 'Das Kapital' (1867) नामक दो ग्रन्थो मे पाते हैं। कार्ल मार्क्स के विचारो मे मौलिकता नही, परन्तु उसकी शैली अपनी है और उसके विचारो मे प्रभावोत्पादक शक्ति है। यही कारण है कि यूरोप के ही नही विश्व भर के मजदूर आन्दोलन उसके विचारो से प्रभावित हुए है।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं मार्क्स का उद्देश्य यह प्रदर्शित करता था कि पूंजीवाद के आधार पर किस प्रकार समाजवादी समाज की व्यवस्था का जन्म हो सकता है। मार्क्स के निम्नलिखित तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं—

(१) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of surplus value)।

---

1 "Marx is the first socialist writer whose work can be termed scientific He not only sketched the kind of society which he desired, but spoke in detail of the stages through which it must evolve"—*Joad*

(२) इतिहास की भौतिकवादी आर्थिक व्याख्या।

(३) श्रेणी युद्ध (Class war) तथा पूँजीवाद के पतन का सिद्धान्त। अब हम क्रमश इन तीनो पर किंचित् विस्तार से विचार करेंगे।

(१) **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त** (Theory of surplus value)—मार्क्स, श्रम (Labour) को मूल्य का स्रोत मानता है। इस विषय मे मार्क्स डेविड रिकार्डो इत्यादि रूढिवादी अर्थशास्त्रियो से प्रभावित था। उनका यही यकीन था कि अन्तिम रूप से किसी भी पदार्थ का मूल्य उसके उत्पादन मे खर्च हुए समय तथा श्रम के अनुसार निर्धारित होता है। परन्तु सभी प्रकार का श्रम (Labour) किसी वस्तु के मूल्य को निर्धारित नही करता। केवल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक (Socially necessary) श्रम ही मूल्य का उत्पादक होता है। मनुष्य के श्रम का प्रयोग यन्त्रो द्वारा होता है। मजदूर किसी भी वस्तु के उत्पादन मे खर्च किए गए अपने श्रम (Labour) के लिए रुपये पैसे द्वारा पुरस्कृत किया जाता है। उसे अपने श्रम का उचित मूल्य अवश्य मिलना चाहिए। परन्तु पूंजीवादी समाज मे ऐसा सम्भव नही। क्योकि उत्पादन के सभी साधनो—यन्त्रो इत्यादि पर थोडे व्यक्तियो का नियन्त्रण रहता है। मजदूरो के पास अपनी श्रम-शक्ति (Labour power) को बेचने के अतिरिक्त कुछ नही होता। पूँजीपति अपनी पूँजी के बल पर श्रम-शक्ति को खरीदता है और उन्हें वेतन देता है। परन्तु उसका वेतन उस मूल्य मे बहुत कम होता है जो कि उसके श्रम द्वारा तैयार पदार्थो पर पूँजीपति को बाजार मे मिलता है यानी मजदूर श्रम तो अधिक करता है परन्तु उसका पारिश्रमिक उसे अनुपात मे बहुत थोडा मिलता है। लागत के मूल्य को तथा बिक्री के मूल्य के अन्तर को अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) कहा जाता है। अतिरिक्त मूल्य का स्रोत वही बची हुई श्रम-शक्ति है जिसका उचित मूल्य मजदूर को मिलना चाहिए परन्तु पूँजीपति उसे नही देता और उसे वह स्वय हडप जाता है, इस प्रकार यह सरासर अन्याय है।

मार्क्स का उद्देश्य इसी अन्याय तथा शोषण व्यवस्था को खत्म करना है। यह तभी सम्भव है जब पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को खत्म कर समाजवादी अर्थ-व्यवस्था स्थापित की जायगी। समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर वर्ग स्वय उत्पादन का मालिक होगा और सम्पूर्ण समाज उत्पादन के साधनो का नियन्त्रण करेगा। जहाँ उत्पादन के साधनो का नियन्त्रण चन्द व्यक्तियो के हाथ मे रहता है, वहाँ सदा मजदूर वर्ग का शोषण होता है।

(२) **इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या** (Materialistic interpretation of history)—मार्क्स पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता हुआ मानवीय इतिहास की भौतिकवादी आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। राजनीति-शास्त्र को मार्क्स की यह एक विशेष देन है। मार्क्स से पूर्व साधारणतया मानवीय इतिहास के विकास-क्रम का निर्णायक व्यक्तियो अर्थात् राजा महाराजाओ, सेनापतियो या राजनीतिज्ञो और कूटनीतिज्ञो के गुणो या मन की भावनाओ को ही समझा जाता था। परन्तु मार्क्स इतिहास की व्यक्ति प्रधान व्याख्या को स्वीकार नही करता।

मार्क्सवाद इतिहास को गतिमय प्रवाह के रूप मे स्वीकार करता है। मार्क्स की इतिहास की व्याख्या हीगल से प्रभावित है। हीगल ने मानव इतिहास को परिवर्तनशील मान उसकी द्वन्द्वात्मक ढग (Dialectical method) से व्याख्या की है। परन्तु हीगल के इस द्वन्द्ववाद की परम शक्ति चिन्तन क्रिया या विचार वह है, जो कि स्वय पूर्ण (Absolute) है। विश्व का इतिहास इसी विचारमय ब्रह्म (Absolute) का खेल या प्रगटीकरण मात्र है। हीगल अपनी इतिहास की व्याख्या मे धार्मिक आन्दोलनो तथा विवादो को विशेष महत्त्व देता है, परन्तु मार्क्स हीगल द्वारा की गई इतिहास की इस आध्यात्मवादी विचारप्रधान व्याख्या को स्वीकार नही करता। उसने हीगल के द्वन्द्वात्मक प्रकार को तो अवश्य ग्रहण किया परन्तु उसके विचारमय ब्रह्म (Absolute) को नामजूर कर दिया। मार्क्स का कथन है कि "मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगल से मूलत भिन्न ही नहीं वरन् उससे बिलकुल विरोधी दिशा मे है। 'हीगल के लिए भौतिक जगत विचार तत्त्व का ही बाह्य घटनात्मक रूप है। इसके विपरीत मेरी दृष्टि से विचार मानव चित मे प्रतिविम्बित भौतिक ससार को छोडकर कुछ नहीं है। चिन्तन क्रिया मे भौतिक ससार का ही वह रूपान्तर है।'[1]

अत मार्क्स मानवीय इतिहास के अध्ययन मे सवेदन, विचार तथा कल्पना इत्यादि को महत्त्व नही देता, वह पदार्थ (Matter) की प्रमुखता स्वीकार करता है। वह विचार को भी भौतिक मानता है। उसके अनुसार 'मन भी पदार्थ की ही रचना है।'[2] इस प्रकार मार्क्स के मतानुसार समाज के भौतिक जगत की सत्ता ही महत्त्वपूर्ण है, उसका आध्यात्मिक जगत भौतिक जगत की ही रचना है, और मानवीय इतिहास की व्याख्या मे वह मुख्य नही बल्कि गौण है। समाज के राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक तथा दार्शनिक जीवन की व्याख्या समाज के भौतिक जीवन मे ही सम्भव है, उससे बाहर नही।

समाज की यह भौतिक परिस्थितियाँ मुख्य रूप से यान्त्रिक (Machanical) तथा आर्थिक (Economic) हैं। मनुष्य अपने जीवन निर्वाह के लिए प्रकृति के ससर्ग मे आकर कुछ औजारो—यन्त्रो को—जिन्हें मार्क्स उत्पादन के साधन (Means of Production) कहता है—तैयार करता है और उनके द्वारा भौतिक मूल्यो (Material values) को पैदा करता है। दूसरी ओर मनुष्य समाज या समुदाय का सदस्य होता है अत वह दूसरे मनुष्यो से सम्बन्ध स्थापित करता है। ये सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्ध (Production relations) कहलाते हैं। उत्पादन के साधन

---

1 "My dialectic method is not only different from the Hegelian but its direct opposite To Hegel . the process of thinking is the demiurgos (creator) of the real world, and the real world is only the external, phenomental form of the Idea With me on the contrary, the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into forms of thought"

—*Karl Marx*

2 "Matter is not a product of consciousness but consciousness itself is the highest product of matter"—*Karl Marx*

(Means of production) तथा उत्पादन सम्बन्ध मिलकर अर्थ-तन्त्र (Economic Structure) की स्थापना करते है।

मार्क्स का कथन है कि आर्थिक ढाचा ही असली चीज है। क्योंकि समाज और उसकी सारी व्यवस्था अर्थ-तन्त्र की रचना मात्र है। समाजगत परिवर्तन इस आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन के ही परिणाम होते हैं। सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्ध तथा साहित्य, कला, दर्शन व कानून इत्यादि सभी आर्थिक व्यवस्था के प्रतिफलन (Reflection) मात्र हैं। इस प्रकार हमारे विचारो का तथा हमारी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओ का वास्तविक जनक अर्थतन्त्र (Economic Structure) है।

उत्पादन के भौतिक साधन (Material forces of production) कभी स्थिर नही रहते—वे लगातार बदलते रहते है। परन्तु समाज का सम्पूर्ण ढाचा (Structure) जो अर्थ-तन्त्र पर आधारित होता है, अपरिवर्तित रहता है। उत्पादन के परिवर्तनशील भौतिक साधनो मे तथा अर्थ-तन्त्र और सामाजिक संगठन मे ताल-मेल रखने के लिए सामाजिक तथा आर्थिक सगठन का बदलना जरूरी है परन्तु ऐसा सम्भव नही होता क्योंकि हरेक सामाजिक सगठन अपने अनुकूल कुछ निहित स्वार्थो (Vested interests) और आदर्शों की रचना कर लेता है, जो इस परिवर्तन गति मे सर्वथा बाधक होते हैं। फलत सामाजिक सगठन तथा उत्पादन के भौतिक साधनो मे अनुकूलता न होने के कारण सामाजिक सगठन तथा उत्पादन के नवीन भौतिक साधनो (Material forces) मे सघर्ष शुरू होता है जिसका फल क्रान्ति और पुराने सामाजिक और आर्थिक सगठन के पतन मे होता है। नवीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था, यन्त्र-व्यवस्था के अनुकूल होती है। इस प्रकार प्रत्येक नवीन युग का प्रारम्भ सामाजिक क्रान्ति (Social revolution) से होता है।

(२) श्रेणी युद्ध तथा पूंजीवाद के पतन का सिद्धान्त (Theory of struggle and reasons of decline of capitalism)—मानव समाज के प्रारम्भ से ही सामाजिक सम्बन्ध शोषण पर आधारित रहे है। शुरू से ही समाज शोषक तथा शोषित दो श्रेणियो मे बटा रहा है। शोषण के आधारभूत तत्त्वो मे तो कभी परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु विभिन्न युगो मे उसने विभिन्न रूप अवश्य धारण किए हैं। मानव के विकास की मार्क्स ने चार स्थितियां स्वीकार की हैं—

(१) आदिम साम्यवाद (Primitive Communism)।
(२) गुलामी पर आधारित समाज।
(३) सामन्तीय समाज।
(४) पूंजीवादी समाज।

आदिम साम्यवाद को छोड अन्य तीनो प्रकार के समाज मे आधारभूत, शोषक तथा शोषित के सम्बन्धो के स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही हुआ। उत्पादन की प्रत्येक व्यवस्था ने श्रेणी सघर्ष (Class struggle) को जन्म दिया है। समाज मे सघर्ष करते हुए इन श्रेणियो का स्वरूप अर्थ-व्यवस्था द्वारा निर्धारित होता है। जिस प्रकार विचार क्षेत्र में एक

विचार दूसरे विरोधी विचार को जन्म देता है, उसी प्रकार समाज मे भी एक व्यवस्था की स्थापना दूसरी विरोधी व्यवस्था को जन्म देती है। उदाहरणार्थ पूजीवाद की स्थापना ने साम्यवाद को जन्म दिया। सामाजिक विकास इन परस्पर विरोधी वर्गो के सघर्ष द्वारा होता रहता है। **यही कारण है कि मार्क्स मानवीय समाज के इतिहास को वर्ग सघर्ष का इतिहास मानता है।**[1]

आधुनिक युग मे औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के बाद यह सघर्ष बहुत स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष हो गया है। अब यह सघर्ष पूजीपतियो तथा सर्वहारा (Proletariat) वर्ग मे है। उत्पादन के भौतिक साधनो तथा पूजी के एक ही वर्ग मे केन्द्रित होने के कारण सर्वहारा वर्ग दिन प्रतिदिन सगठित हो रहा है और मेहनतकश लोगो की सख्या बढ रही है। वस्तुत मार्क्स का यह यकीन है कि पूजीवादी अर्थ व्यवस्था स्वय अपने विनाश का बीज बो रही है, उसके विनाश के बीज उसकी आधार भूत व्यवस्था मे मौजूद हैं क्योकि—

(१) पूजीवाद का आधार मुनाफाखोरी है, यह मुनाफा मेहनतकश द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) का फल है। अतिरिक्त मूल्य ऐसे श्रम (Labour) से उत्पन्न होता है जिसका वेतन मेहनतकश को नही मिलता (Unpaid labour)।

(२) पूजीवादी व्यवस्था मे प्रतियोगिता के फल स्वरूप छोटे-छोटे पूजीपति कुचल दिये जाते हैं और पूजी का धीरे-धीरे कुछेक हाथो मे केन्द्रीकरण हो जाता है। फलस्वरूप मेहनतकशो की तादाद बढ जाती है।

(३) पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक सकटो (Economic crisis) की आवृति होती रहती है, जिसका परिणाम मेहनतकशो की बेकारी तथा अन्य सकटो की वृद्धि मे होता है। यातायात की सुविधा और एक साथ मिलकर कार्य करने के कारण सर्वहारा वर्ग अपना सगठन न केवल मजबूत ही बनाता है बल्कि उसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे देता है।

इस सगठन का फल पूजीवाद की हार तथा सर्वहारा वर्ग या मजदूरो की जीत होती है। मार्क्स ने दूसरी ओर यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectical Process) से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था आत्मविरोध (Self contradiction) पर आधारित है, इस कारण उसका विनाश लाजमी है। उत्पादन के साधन आज एक व्यक्ति द्वारा इस्तेमाल मे नही लाए जाते न ही एक परिवार द्वारा, बल्कि यह आज सामूहिक (Collective) बन चुके हैं, इसी प्रकार उत्पादन भी सामाजिक रूप धारण कर चुका है, वह वैयक्तिक या पारिवारिक नही, परन्तु दोनो—उत्पादन के साधन (Means of Production) और उत्पादन के वितरण (Distribution of production)—का नियन्त्रण वैयक्तिक है, सामाजिक नही। इस

---

1 'The history of all hitherto existing society is the history of class-struggles"—*Marx*

प्रकार आधुनिक पूजीवाद का आधार ही आत्मविरोध है, अत सघर्ष अनिवार्य है। भविष्य सर्वहारा वर्ग का है, उनकी जीत लाजमी है, उन्हें सगठित होना चाहिए। क्रान्ति के अनन्तर जिस समाज की स्थापना होगी उसे सर्वहारा वर्ग मजदूरो की तानाशाही (Dictatorship of Proletariat) कहा जायगा। अन्तत एक वर्गविहीन तथा राज्यविहीन (Stateless) समाज का उदय होगा। इसी समाज मे उत्पादन-व्यवस्था, वितरण-व्यवस्था (Distribution system) तथा समाज-व्यवस्था मे समन्वय (Harmony) स्थापित होगा।

मार्क्सवाद की आलोचना अनेक प्रकार से की जाती है। हम इसकी त्रुटियो पर नीचे लिखे ढग से विचार करेंगे—

(१) मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की भौतिकवादी—आर्थिक व्याख्या—की इन दिनो कडी आलोचना की जाती है। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री गिडिंग्ज तथा हाबहाऊस ने इसे मानने से इनकार कर दिया है। मेकआइवर का भी यही विचार है। मार्क्स की इतिहास की व्याख्या बहुत सरल तथा निर्णयात्मक (Deterministic) है। वह सामाजिक जीवन की जटिलता को स्वीकार करने मे असमर्थ है। वह एक ही तत्त्व—आर्थिक तत्त्व—को परम तत्त्व मान उसे सामाजिक परिवर्तन तथा ऐतिहासिक विकास का निर्णयात्मक तत्त्व मान लेता है। अर्थतन्त्र के अतिरिक्त मानवीय इतिहास, धर्म, विचार, दर्शन, साहित्य, सस्कृति, भूगोल तथा राजनीति सभी से प्रभावित है। कभी किसी काल मे एक तत्त्व की प्रधानता रही तो दूसरे मे अन्य तत्त्व की। अर्थतन्त्र तो सामाजिक विकास के अनेक तत्त्वो मे से एक है। मार्क्स की आर्थिक व्याख्या एक पक्षीय (One sided) है।

(२) मार्क्स का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी कमजोर है। मनुष्य केवल अर्थ प्राप्ति की इच्छा से ही कार्य मे प्रवृत्त नही होता है। मानव के क्रिया-प्रेरक स्रोत सश्लिष्ट (Complex) हैं। काम (Sex), सत्ता प्राप्ति की इच्छा (Impulse to power) जीवन की इच्छा, सहानुभूति, आत्मरक्षा की भावना इत्यादि अनेक प्रवृत्तियाँ मानव की क्रिया-प्रेरक शक्तियाँ (Motive powers) हैं। सुप्रसिद्ध अग्रेज विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपनी **'पावर (Power) तथा प्रिन्सिपल्स ऑफ सोशल रिकस्ट्रक्शन'**, (Principles of Social Reconstruction) नामक पुस्तको मे इस प्रश्न पर विशेष विचार किया है। उसका कथन है कि मानव की सत्ता प्राप्ति (Impulse to Power) की इच्छा ही मुख्य इच्छा है और इसी के आधार पर मानव इतिहास की व्याख्या की जानी चाहिए। आर्थिक उद्देश्य अपने आप मे पूर्ण नही या वे साध्य नही, बल्कि साधन (Means) हैं। रसेल कहता है मनुष्य या मनुष्य-समाज जब आर्थिक चिन्ता से मुक्त हो जाता है या वह जब आर्थिक साधन सम्पन्न हो जाता है तो वह सत्ता प्राप्ति की इच्छा से कार्य प्रवृत्त होता है, धन प्राप्ति की इच्छा से नही। धन उसके लिए सत्ता प्राप्ति का साधन मात्र है।

वह आगे लिखता है कि **'केवल यह अनुभव करने पर ही कि सत्ता प्राप्ति की इच्छा ही उन कार्यो का कारण है जो समाज मे महत्त्वपूर्ण हैं, हम प्राचीन तथा**

नवीन इतिहास की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते हैं।[1] यह आवश्यक नही कि रसेल का ही दृष्टिकोण ठीक हो, परन्तु वह इस समस्या की जटिलता तथा सश्लिष्टता (Complexity) की ओर अवश्य सकेत करता है।

(३) सामाजिक इतिहास के परिवर्तन-क्रम मे मार्क्स ने व्यक्ति को परिस्थितियों का एक विवश प्रेक्षक (Passive observer) मात्र ही माना है। वह विचार तथा पदार्थ (Matter) का लेन-देन अवश्य स्वीकार करता, परन्तु अन्तत यह आदान-प्रदान एक पक्षीय (One-sided) है क्योकि मनुष्य के विचार उसकी परिस्थितियो की उपज मात्र है। मनुष्य की अपनी सकल्प शक्ति (Will power) भी है, इसे हमे नही भूलना चाहिए। व्यक्ति की इच्छा, वासना, सकल्प, विचार, विश्वास तथा श्रद्धा इत्यादि का मानवीय इतिहास मे विशेष स्थान है। **व्यक्ति केवल परिस्थितियो का कठपुतला ही नहीं, वह परिस्थितियो का निर्माता भी है।**

(४) मार्क्स ने श्रेणीगत स्वार्थो (Class interests) को अन्य प्रकार की भावनाओ से कही अधिक मजबूत समझा है। राष्ट्र, समाज, धर्म, परिवार, कुल तथा बिरादरी के प्रति वफादारी की जो हमारी भावनाएँ है मार्क्स ने उन्हे श्रेणीगत स्वार्थो के अधीन रखा है, परन्तु यह सीधा तथा सरल निर्णय है। राष्ट्रीय, जातीय तथा वर्गगत भावनाएँ वर्गगत भावनाओ से अधिक मजबूत हैं। पिछले दो विश्व युद्धो ने इस बात को साबित कर दिया है। दरअसल मार्क्स की सभी भविष्यवाणियाँ असत्य तथा अर्द्ध सत्य (Half truths) साबित हुई है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध मे सभी देशो के मेहनतकशो ने राष्ट्रीयता का अनुसरण किया और अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की अपीलो को ठुकरा दिया। पूजीवाद के विस्तार के विषय मे मार्क्स की धारणा गलत साबित हुई है। ऐन्जल्स ने भी यह स्वीकार किया था। प्रो० सेबाइन (Sabine) का यह कथन सर्वथा ठीक है कि पूजी का आधुनिक युग मे केन्द्रीकरण अवश्य हुआ है। परन्तु इस केन्द्रीकरण का परिणाम मार्क्सवाद के अनुसार मेहनतकशो के दु ख और सकटो के आधिक्य मे नही हुआ। पूजीवाद ने साम्राज्यवाद के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया परन्तु मेहनतकश राष्ट्रगत तथा देशगत भावनाओ से ऊपर नही उठ सके।

(५) सामाजिक श्रेणियो का मार्क्सवादी विश्लेषण आज समाजशास्त्री स्वीकार नही करते। सामाजिक श्रेणियाँ (Social classes) केवल अर्थ-तन्त्र की ही उपज नही, और भी बहुत से सामाजिक कारण इसके नियामक हैं। न ही सम्पूर्ण मानवीय इतिहास श्रेणी-युद्ध का इतिहास कहला सकता है। इतिहास की ऐसी व्याख्या निराशा-पूर्ण है, साथ ही नाटकीय भी। राज्य भी केवल आक्रमण प्रवृत्तियो का फल नही, न ही वह शोषण की ऐजेन्सी है। राज्य-विहीन तथा वर्गविहीन समाज की कल्पना तो केवल कल्पना मात्र ही है।

---

1 "It is only by realising that love of power is the cause of the activities that are important in the social affairs, that history whether ancient or modern can rightly be interpreted"—*Russel*

मार्क्सवाद की देन—इन सब कमजोरियो के बावजूद मार्क्सवाद एक बहुत बड़ी बौद्धिक शक्ति है जिसकी महत्ता को भुलाया नही जा सकता। मार्क्स ने बहुत सूक्ष्मता से सामाजिक जीवन की विवेचना कर समाज गत परिवर्तन के एक महत्त्वपूर्ण परन्तु उपेक्षित, आर्थिक कारण को उपस्थित किया और अपनी तीव्र अन्तर्दृष्टि द्वारा सामाजिक व्यवस्था और अर्थ-तन्त्र के घनिष्ठ, सम्बन्धो को सिद्ध किया। सेबाइन के शब्दो मे **"इतिहास की आर्थिक व्याख्या निश्चय ही उन्नीसवीं सदी के समाज शास्त्र के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण देनो में से एक थी।"**[1]

मार्क्स के कुछ सिद्धान्त भले ही वैज्ञानिक न हो, परन्तु इससे उसकी महत्ता कम नही होती। रसेल (Russel) का यह कथन सर्वथा ठीक है कि **"मार्क्सवादी सिद्धान्त मनुष्य के अन्य सिद्धान्तों की तरह अशतः सत्य है और अशतः असत्य। बहुत से तत्वो का खण्डन किया जा सकता है, किन्तु उसके सिद्धान्तो मे कुछ ऐसे महत्त्वपर्ण तत्व हैं जो कि उसे एक महान् प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति सिद्ध कर सकते हैं।"**[2]

मार्क्स का उद्देश्य एक नैतिक आदर्श का प्रतिपादन था। वह वर्तमान समाज मे कुछेक व्यक्तियो द्वारा होने वाले अन्यायपूर्ण शोषण के प्रति एक विशिष्ट प्रतिरोध था। जोड के शब्दो मे मार्क्सवाद की महत्ता वर्तमान समाज की अन्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था के प्रति एक नैतिक प्रतिरोध में है।

१७३ साम्यवाद (Communism)

हिन्दी का साम्यवाद शब्द अग्रेजी के कम्युनिज्म (Communism) शब्द का अनुवाद है। साम्यवाद का आधार मार्क्स के विचार हैं, इनका विवेचन हम पीछे कर चुके हैं। हमने पीछे जिक्र किया था कि मार्क्स के विचारो को हम कम्युनिस्ट घोषणापत्र (Communist Manifesto) तथा (Das Kapital) मे पाते हैं। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के आधार पर ही साम्यवाद के सिद्धान्तो की विवेचना की जाती है। मार्क्स के 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' मे कहा गया है कि **"साम्यवाद अपने शाब्दिक अर्थ मे क्रान्तिकारी प्रणाली का सिद्धान्त है। यह उन असूलो को स्थापित करता है जिनके द्वारा पूँजीवाद को साम्यवाद मे बदला जा सकता है। इसके दो आवश्यक सिद्धान्त हैं—श्रेणी-युद्ध तथा सर्वहारा द्वारा क्रान्ति—जिसका अर्थ है 'हिंसात्मक ढंग से सत्ता प्राप्ति।'"**[3] इस अर्थ मे प्रयुक्त साम्यवाद एक ऐसे सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार

---

1. "The economic interpretation of history was certainly one of the most important additions made to social theory in the nineteenth century."—*Sabine*

2 "Marxist doctrine like those of other men, are partly true and partly false There is much that can be controverted, but there are some points in his theory that are of such importance as to prove him a man of supreme intelligence."—*Russel*

3 "Communism in this sense of word is essentially a theory of method, it seeks to lay down the principles upon which the transition from Capitalism to Socialism is to be accomplished, and its two essential doctrines are the class war and revolutionary—that is, the forcible transference of power to the proletariat"—*Marx*.

किया जाता है जिनका उद्देश्य—मजदूरो द्वारा बलपूर्वक राज्यसत्ता पर कब्जा करना है। इस अर्थ मे साम्यवाद तथा समाजवाद के अन्य प्रकारो मे अन्तर है, इस बात को हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे।

पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विश्लेषण—का सकेत हम ऊपर मार्क्स के दर्शन का विवेचन करते हुए कर चुके है। यहाँ हम एक बार फिर मार्क्स के एतद् विषयक विचारो का विवरण देगे। मार्क्स का कथन है कि किसी भी पदार्थ के मूल्य का निर्धारण उसके उत्पादन मे खर्च समय तथा श्रम के आधार पर होता है। श्रम ही वास्तविक मूल्य का स्रोत (Source) है। पूजीपति व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर वर्ग को अपने श्रम के अनुरूप वेतन नही मिलता। इसी शेष बचे हुए बेगार श्रम (Unpaid labour) के आधार पर ही पूजीपति मुनाफा कमाता है। अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) मजदूर को मिलना चाहिए, परन्तु वह पूँजीपति को मिलता है। इस प्रकार पूँजीपति की व्यवस्था अन्याय पर आधारित है।

परन्तु पूजीवाद व्यवस्था अपने पतन के बीज स्वय बोती है। उसमे अनेक प्रति-रोध (Contradiction) है जो उसके पतन का कारण बनते है। पूजीवाद के अन्त-र्गत उत्पादन व्यवस्था के केन्द्रीकरण के फलस्वरूप हजारो मजदूर एक ही जगह इकट्ठे कर दिये जाते है। इस प्रकार वे अपने सामूहिक शोषण को अनुभव कर वर्ग-चेतना (Class conscious) सम्पन्न हो जाते है। यातायात के साधनो का विकास मजदूर आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर सगठित होने का अवसर देता है। मार्क्स का कथन है कि सभी देशो के मजदूरो के समान स्वार्थ है, उनका समानरूप मे शोषण होता है। राष्ट्रीयता, धर्म कानून, सदाचार तथा स्वदेश प्रेम इत्यादि सभी ढकोसले है, जिन्हे पूजीवादी मजदूरो के लूटने के लिए रचते है।

पूजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूरो की सख्या बढती रहती है और पूजी कुछेक लोगो के हाथ मे केन्द्रित हो जाती है। लगातार प्रतियोगिता के फलस्वरूप बडे-बडे पूजीपति छोटे-छोटे पूजीपतियो का दिवाला निकाल देते है और उन्हे मजदूर वर्ग मे शामिल होने को विवश कर देते है। पूजीवाद के अन्तर्गत, दूसरे शब्दो मे, छोटे-छोटे उत्पादको को प्रतियोगिता द्वारा खत्म कर दिया जाता है।

उत्पादन किसी योजना के अनुसार तो होता नही अत अधाधुन्ध माल तैयार किया जाता है। घरेलू बाजारो मे उसे कोई खरीदने वाला नही होता, क्योकि मजदूर वर्ग केवल जीवन-यापन के लिए ही वेतन पाता है, उसके पास इतनी क्रय-शक्ति (Purchasing power) ही नही होती कि वह इस माल को खरीद सके। परिणाम-स्वरूप बाजार मे तैयार माल के ढेर तो लग जाते है, परन्तु उन्हे खरीदने वाला कोई नही होता। पूजीपति कारखानो को या तो बन्द कर देते है या फिर मजदूरो की छटनी करते है। दोनो का यह फल होता है कि हजारो मजदूर बेकार हो जाते है। इस बेकारी मे उनके कष्टो की बहुत वृद्धि हो जाती है, ऐसे ही समय मे वे अपने को सगठित कर राज्य सत्ता के हथियाने का प्रयत्न करते है।

लेनिन ने पूजीवाद के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष का भी विवेचन किया है। मार्क्स

पूजीवाद के इस विकासक्रम को नही देख सका था। साम्यवादियो का कथन है कि जब पूजीपति लोग अपने माल की अपने देशो मे खपत नही कर सकते तो वे अपने उत्पादन की खपत के लिए विदेशो मे बाजार खोजते है। अर्द्धविकसित या अविकसित राष्ट्रो के शोषण के लिए और विदेशी बाजारो पर कब्जा करने के लिए राज्यो मे आपस मे होड लग जाती है। पूजीवाद साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेता है, फलत पूजीवाद अपने चरम रूप मे पहुँच विश्व-युद्ध का कारण बन जाता है। २०वी सदी मे लडे गए दोनो विश्व युद्धो की साम्यवादी यही आर्थिक व्याख्या करते हैं।

मार्क्स यह मानता है कि पूजीवाद का पतन अनिवार्य है परन्तु उसका अर्थ यह नही कि मजदूर वर्ग को हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहना है। उन्हे सगठित हो पूजीपति वर्ग से बलपूर्वक राज्य-सत्ता को प्राप्त करना है। ऐसा हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है।

साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व मजदूर वर्ग करता है परन्तु उसका उद्देश्य मानव-मात्र का कल्याण है। साम्यवादी क्रान्ति के फल-स्वरूप श्रेणीहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी। परन्तु ऐसा एकदम नही हो सकता, इस उद्देश्य का प्राप्ति काफी समय के अनन्तर होगी। साम्यवादी समाज के निर्माण की दो स्थितियाँ हैं—(१) अन्तरिम क्रान्तिकालीन अवस्था (Transitional stage), (२) श्रेणिविहीन साम्यवादी समाज (Communistic classless Society)

(१) **अन्तरिम क्रान्तिकारी अवस्था** (Transitional stage)—इस के अन्तर्गत सम्पूर्ण राजकीय मशीनरी का पुनर्गठन किया जाएगा। अगर मौजूदा राज्य को ज्यो का त्यो रखा जाए तो वह किसी भी अवस्था मे साम्यवादी समाज व्यवस्था को पनपने नही देगा। मार्क्सवादियो का विचार है कि राज्य एक शोषण-यत्र है। इस शोषण-यत्र का प्रयोग पूजीवादी समाज ने सर्वहारा वर्ग के हितो के विरुद्ध किया है। अब सर्वहारा वर्ग को राज्य शक्ति का प्रयोग निशक होकर पूंजीपतियो के विनाश के लिए करना चाहिए। पूजीवादी व्यवस्था का विनाश राज्य के शक्तिशाली प्रयोग के बिना असम्भव है। पूजीवादी वर्ग बहुत चतुर है, यह किसी न किसी ढग से पुन शक्ति प्राप्त करने की कोशिश करेगा। यही कारण है कि अन्तरिम क्रान्तिकारी अवस्था के लिए मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तत्र (Dictatorship of the Proletariat) की स्थापना को आवश्यक माना है। इस अवस्था मे विजयी मजदूर वर्ग को राज्य शक्ति को पूजीवादियो के हृदय मे भय उत्पन्न करने के लिए प्रयोग मे लाना चाहिए। एन्जेल्स (Engels) का कथन है कि **'क्रान्ति मे जो पक्ष विजयी होता है, उसे अपने शासन को कायम रखने के लिए आंतक का प्रयोग करना पड़ता है, और उसके अस्त्र-शस्त्र ही प्रतिक्रियावादियो के हृदय मे भय उत्पन्न करते हैं।'**[1]

---

1 "The party which has triumphed in the revolution is necessarily compelled to maintain its rule by means of that fear with which its arms inspire the reactionaries"—*Engels.*

एन्जेल्स अन्यत्र कहता है कि 'राज्य एक अस्थायी सस्था है। क्रान्तिकाल मे इसका प्रयोग शत्रुओं के दवाने के लिए किया जाता है। स्वतन्त्र तथा सर्वप्रिय राज्य की बात करना मूर्खता है। जब तक मजदूर वर्ग को राज्य की आवश्यकता है, वह इसका प्रयोग स्वतन्त्रता के लिए नहीं करेंगे वल्कि अपने शत्रुओ को दवाने के लिए ही करेंगे, और जब स्वतन्त्रता की अनुभूति सम्भव होगी तब तो राज्य खत्म हो ही जाएगा।'[1] लेनिन उपर्युक्त मत का समर्थन करता हुआ कहता है कि "राज्य तो एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के दवाने के साधन के अतिरिक्त कुछ नहीं है।"[2] अत सर्वहारा वर्ग को राज्य का प्रयोग पूजीवाद को खत्म करने के लिए ही करना चाहिए। राज्य का यह स्वरूप प्रजातन्त्रात्मक नही होगा, जैसा कि ऊपर स्पष्ट ही है और न ही पार्लियामेण्ट्री शासन व्यवस्था की आवश्यकता होगी। अत इस अवस्था मे सभी प्रकार की प्रजातन्त्रात्मक सस्थाओ को समाप्त कर स्वतन्त्रता को छीनकर निरकुश अधिनायकतन्त्र की स्थापना की जाएगी। सर्वहारा वर्ग अपने विरोधियो को हर सम्भव उपायो से दवाने का प्रयत्न करेगा।

राज्य के इस काल मे दो प्रकार के कर्त्तव्य होगे—सहारक (Destructive) तथा रचनात्मक (Constructive)। साम्यवादी राज्य का उद्देश्य पूँजीवाद को खत्म करना है, परन्तु पूँजीवाद एकदम खत्म नही किया जा सकता, उसको खत्म करने के लिए समय लगेगा। 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' के अनुसार पूँजीवाद की समाप्ति के लिए भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्त, यातायात के साधनो के राष्ट्रीयकरण, बैंकिग व्यवस्था के राष्ट्रीय नियन्त्रण, व्यापार तथा वाणिज्य के नियन्त्रण, सम्पत्ति के उत्तराधिकार के उन्मूलन, वाल श्रमनिषेध इत्यादि के लिए राज्य को विशेष कदम उठाने चाहिए।

श्रेणीविहीन साम्यवादी समाज—की स्थापना पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के समाप्त होने के अनन्तर होगी। पूजीवाद के विनाश का अर्थ राज्य का विनाश है। राज्य की तभी तक स्थिति रहती है जब तक समाज मे परस्पर विरोधी वर्ग हो। आर्थिक असमानता ही वर्गवाद की जनक होती है। जब सम्पूर्ण समाज मे समानता हो जाएगी, आर्थिक विभेद खत्म हो जाएगा, झगडे मिट जाएँगे, तब राज्य की क्या आवश्यकता रहेगी ? राज्य का स्थान स्वेच्छापूर्वक स्थापित समुदाय ले लेंगे समुदायो से मिलकर ही समाज की रचना होगी। यह समाज राज्यविहीन तथा श्रेणीविहीन समाज होगा।

---

1 "As the state is only a temporary institution which is to be of much use in the revolution, in order to forcibly supress the opponents, it is a perfect absurdity to speak about the free popular state, so long as the proletariat still needs the state, it needs it, not in the interest of freedom, but in order to supress its opponents and when it becomes possible to speak of freedom, the state as such ceases to exist"—*Engels*

2 "The state is nothing but the machine for the suppression of one class by another"—*Lenin*

प्रजातन्त्र पर आक्षेप—साम्यवादी प्रजातन्त्र शासन प्रणाली मे यकीन नही करते। मौजूदा प्रजातन्त्र राज्य पूजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने का साधन मात्र है। पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूरो का बहुमत हो जाने पर भी आर्थिक अवस्था मे कोई अन्तर नही पडेगा क्योकि उत्पादन के साधन पूजीपति वर्ग के हाथ मे ही रहेगा। यदि समाजवादी दल कानून द्वारा उत्पादन के साधनो पर नियत्रण करने का प्रयत्न करेंगे तो पूजीपति वर्ग उसका हर सम्भव साधन से विरोध करेगा। लेनिन ने अपनी पुस्तक 'राज्य तथा क्रान्ति' मे कहा है कि यदि हम लोग पूँजीवादी शासन व्यवस्था का नजदीक से अध्ययन करे तो हमे मालूम हो जाएगा कि प्रजातन्त्र पर किस प्रकार की पाबन्दियाँ लगाई गई हैं। इन पाबन्दियो के कारण निर्धन जनता राजनीति से अलग हो जाती है और प्रजातन्त्र मे हिस्सा लेने से वचित रह जाती है। वर्तमान राज्यो के आधारभूत नियम जिन मे शासन का स्वरूप, सभा करने की स्वतन्त्रता, समाचारपत्र की स्वतन्त्रता या कानून की दृष्टि मे नागरिको की समानता इत्यादि है, इसमे किसी भी नियम को लीजिए, आपको पग-पग पर पूँजीवादी प्रजातन्त्र की दुष्टता नजर आयेगी, जिसे प्रत्येक सच्चा तथा श्रेणी चेतना सम्पन्न नागरिक जानता है। ऐसा एक भी राज्य नही, चाहे वह कितना भी प्रजातन्त्रवादी क्यो न हो, जिसके सविधान के अन्तर्गत कुछ ऐसी छूट या शर्त न हो जिसके द्वारा पूजीपति हमेशा जब मजदूर सिर उठाए तो उसको दबाने के लिए अपनी फौजें न भेज सके, या फौजी कानून न जारी कर सके।' साम्यवादियो का यकीन है कि राज्य सत्ता की प्राप्ति शान्तिमय साधनो से सम्भव नही। हिंसात्मक साधनो द्वारा ही पूँजीवाद को समाप्त किया जा सकता है।

साम्यवाद की आलोचना—साम्यवाद के आधारभूत मार्क्सवादी सिद्धान्तो की आलोचना तो हम पीछे कर आए हैं। यहाँ हम मार्क्स के साम्यवादी प्रोग्राम तथा उसके द्वारा की गई पूजीवादी व्यवस्था के विश्लेषण की त्रुटियो का विवेचन करेंगे—

(१) सर्वप्रथम तो हम साम्यवादियो की राज्य विषयक धारणा का खण्डन करेगे। साम्यवादी राज्य को एक शोषण का साधन समझते है उनका कथन है कि राज्य निष्पक्ष नही होता, वह पूजीवादी समाज के हाथ मे एक यत्र की तरह है जिसका प्रयोग वे अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए करते है, परन्तु यह धारणा गलत समझी जाती है। राज्य आक्रमण प्रवृति या शोषण की भावना पर आधारित नही, वह हमारी सामाजिक प्रकृति का परिणाम है और उसका आधार जन-सम्मति है। राज्य एक नैतिक सगठन है, उसके कर्त्तव्यो के रूप अवश्य बदलते रहे है परन्तु आज तो यह यकीन किया जाता है कि उसे हमारे व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित परिस्थितियो का निर्माण करना चाहिए।

(२) मार्क्स का कथन है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशो मे होगी, परन्तु उसकी यह भविष्यवाणी गलत साबित हुई है। इग्लैण्ड, सयुक्तराज्य अमेरिका तथा फ्रास इत्यादि औद्योगिक दृष्टि से विकसित राज्यो मे अभी

भी पूजीवादी व्यवस्था मौजूद है। साम्यवादी क्रान्तियाँ तो रूस तथा चीन इत्यादि कृषि प्रधान राज्यो मे हुई हैं।

(३) साम्यवादी अपने उद्देश्यो की प्राप्ति पर अधिक वल देते हैं, साधनो की पवित्रता का उन्हे किंचित ध्यान नही। परन्तु उच्च उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए पवित्र तथा उच्च साधनो को भी अपनाना चाहिए। साम्यवादी हिंसात्मक साधनो मे यकीन करते हैं, वे सवैधानिक तथा शान्तिमय उपायो में यकीन नही करते। परन्तु हिंसात्मक क्रान्तियो के परिणामो के विषय मे कुछ भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। यह जरूरी नही कि हिंसात्मक क्रान्ति के अनन्तर उन्ही उद्देश्यो की प्राप्ति हो सके जिसके लिए यह सब बलिदान किया जाता है। फ्रास मे राज्य-क्रान्ति का उद्देश्य जनवाद की स्थापना तथा राजतन्त्र का विनाश था परन्तु उसका परिणाम नैपोलियन का साम्राज्यवाद हुआ। इस बात की कोई गारण्टी नही कि साम्यवादी क्रान्ति के अनन्तर राजकीय शक्ति मजदूर वर्ग के हाथ मे ही रहेगी। फिर हिंसात्मक साधन सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था मे उथल-पुथल मचा देते हैं, उनसे लाभ की उतनी आशा नही की जा सकती जितना कि उनसे नुकसान होता है।

(४) साम्यवादी आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण के तो विरुद्ध हैं, उनका कथन है कि ऐसा केन्द्रीकरण सामाजिक व्यवस्था मे अन्याय तथा शोषण को जन्म देता है। परन्तु वे भूल जाते हैं कि आर्थिक शक्ति की तरह राज्य शक्ति का केन्द्रीकरण भी खतरनाक है। मजदूर वर्ग के अधिनायक तन्त्र की स्थापना द्वारा वह राज्य शक्ति को केन्द्रित कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा कार्यारम्भ की शक्ति को नष्ट कर देते हैं। राज्य शक्ति का केन्द्रीकरण आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण से भी अधिक खतरनाक है।

(५) साम्यवादी दल क्रान्ति के अनन्तर सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र की स्थापना के पक्ष मे है, परन्तु अधिनायक तन्त्र, चाहे वह किसी भी वर्ग या दल का क्यो न हो, वाँच्छनीय नही। अधिनायक तन्त्र के अन्तर्गत जन साधारण को राजनीतिक अधिकारो से वचित कर दिया जाता है और राज्य शक्ति थोडे से लोगो को सौंप दी जाती है। यह आवश्यक नही कि यह चन्द लोग सदा ही ईमानदारी से शासन कार्य चलाएँ, हो सकता है वे अपने स्वार्थो के वशीभूत हो जन साधारण के हित के विरुद्ध चले जाएँ। इस अधिनायक तन्त्र के अन्तर्गत राज्य की आलोचना का अधिकार तो जन-साधारण के पास होता ही नही, ऐसी अवस्था मे अधिकारी गण अपने दोषो से भी अवगत नही हो सकते। आलोचना सुनने के आदि न होने के कारण जब कभी उनके दोषो को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया जाएगा तो वह उसे बर्दाश्त नही कर सकेंगे और उस स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष आवाज को दवाने का प्रयत्न करेंगे। अधिनायकतन्त्र का सबसे वडा खतरा यह है कि वह अपने स्वार्थो को ही जन साधारण के स्वार्थ मानने लगता है। दूसरा, एक अच्छे अधिनायक का उत्तराधिकारी आवश्यक नही वैसा ही अच्छा हो।

(६) साम्यवादियो का कथन है कि सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकतन्त्र साम्यवाद की स्थापना के अनन्तर एक दिन अपने आप ही खत्म हो जाएगा और उसके

स्थान पर राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज का उदय होगा। मानवीय इतिहास मे ऐसा कोई कही उदाहरण नही मिलता जब कि एक वर्ग राज्य शक्ति को हथिया, स्वेच्छापूर्वक उसका त्याग कर दे। जब पूँजीपति स्वेच्छापूर्वक राज्यशक्ति का नियन्त्रण नही छोड सकते तो सर्वहारा वर्ग कैसे छोड देगा ? वस्तुत इस प्रकार का ऐच्छिक-शक्ति-त्याग तो मनुष्य प्रकृति के ही विरुद्ध है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र के अन्तर्गत तो विचार की, बोलने की तथा अन्य प्रकार की नागरिको की स्वतन्त्रताएँ खत्म कर दी जाती हैं परन्तु साम्यवादी अवस्था को प्राप्त कर समाज मे अपने आप ही सभी स्वतन्त्रताएँ जन सुलभ हो जाएँगी। यह सब आश्चर्यजनक बातें ही हैं।

(७) राज्य का पूर्ण परित्याग मनुष्य प्रकृति के अनुकूल नही, सामाजिक भेद-भाव का पूर्ण विलोप भी सम्भव नही। मार्क्स तथा उसके अनुयायी राज्य तथा मनुष्य प्रकृति को समझने मे असमर्थ हैं। राज्य तो मनुष्य की प्रकृति मे रमा हुआ है। आज तक कोई भी राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज का उदाहरण हमारे इतिहास मे नही मिला। राज्य-विहीन समाज मे सघर्ष खत्म हो जाता है। वर्गगत स्वार्थो की भी समाप्ति हो जाती है। रसेल पूछता है कि ऐसे वर्ग-विहीन समाज मे द्वन्द्वात्मक व्यवस्था का क्या बनेगा। द्वन्द्वात्मक व्यवस्था द्वारा ही समाज का विकास माना गया है। द्वन्द्ववाद यह यकीन करता है कि प्रत्येक समाज व्यवस्था अपने से विरोधी एक अन्य सामाजिक व्यवस्था को जन्म देती है और उन दोनो के पारस्परिक सघर्ष द्वारा ही समाज का विकास होता है। परन्तु मार्क्स का कथन है कि राज्य-विहीन समाज मे यह सघर्ष खत्म हो जायेगा ऐसी अवस्था मे द्वन्द्ववाद क्या होगा और राज्य का विकास कैसे होगा ? क्या वह खत्म हो जाएगा ? साम्यवादी इस प्रश्न का कोई ठीक-ठीक उत्तर नही दे पाते।

(८) साम्यवादी प्रजातन्त्र का विरोध करते हैं, परन्तु अब वे अपने आपको सर्वश्रेष्ठ प्रजातन्त्रवादी कहने लग गए हैं। रूस का स्टालिन सविधान रूस की राजनीतिक व्यवस्था को सैद्धान्तिक रूप से प्रजातन्त्र के आधार पर ही रखता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति साम्यवादियो की अपनी कमजोरी का ही चिह्न है।

१७४. विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism)

विकासवादी समाजवाद के अनेक नामकरण किए गए हैं। बहुत से लोग इसे राज्य समाजवाद (State Socialism), सामूहिक समाजवाद (Collective Socialism), प्रजातन्त्रवादी समाजवाद (Democratic Socialism) इत्यादि नामो से पुकारते हैं। वस्तुतः विकासवादी समाजवाद के ये सभी नाम उसकी विभिन्न विशेषताओ के सूचक हैं।

विकासवादी समाजवाद का जन्म ग्रेट ब्रिटेन मे हुआ, परन्तु इसे जर्मनी के राज्य समाजवाद के सिद्धान्त ने भी पर्याप्त प्रभावित किया।

विकासवादी समाजवाद जैसा कि इसके नाम से विदित हो जाता है, समाज-

वाद के क्रान्तिकारी या हिसात्मक रूप मे नही, अपितु विकासवादी रूप मे यकीन करता है। विकासवादी समाजवादियो का कथन है कि समाजवादी समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए शक्ति प्रयोग की आवश्यकता नही। वे जनता की बुद्धिमत्ता तथा तर्क शक्ति मे यकीन करते है। जन-साधारण मे प्रचार द्वारा समाजवादी प्रोग्राम की उत्कृष्टता को सिद्ध किया जा सकता है; उन्ही की सहायता से बहुमत प्राप्त कर पार्लियामेण्ट मे समाजवादी कानून बनाए जा सकते हैं, उनका साधन सुधारवाद का साधन है, क्रन्तिकारी परिवर्नन का नही। सामाजिक जीवन एक जीवित प्राणी के जीवन के सदृश है। उसमे आकस्मिक परिवर्तन खतरनाक होते है, मानवीय शरीर की तरह समाज-शरीर मे भी धीरे-धीरे परिवर्तन होने चाहिए। इन परिवर्तनो के लिए समुचित प्रचार तथा सगठन की आवश्यकता है, शक्ति प्रयोग की नही। समाज मे परिवर्तन का क्रम तो चल ही रहा है और विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार राज्य स्वय ही समाज की ओर अग्रसर हो रहा है। विकासवादी समाजवाद की परिभाषा इन शब्दो मे की जा सकती है। **"विकासवादी सिद्धान्त वह नीति अथवा सिद्धान्त है, जिसका उद्देश्य केन्द्रीय प्रजातन्त्रात्मक शासन सत्ता की अधीनता मे और उसके माध्यम से वितरण की एक अधिक उचित व्यवस्था तथा उत्पादन की अच्छी प्रणाली की स्थापना हो।"**

विकासवादी समाजवाद का विकास जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं सर्व-प्रथम ग्रेट ब्रिटेन मे हुआ। इस विचारधारा के दो प्रधान स्रोत हैं (१) **फेबियनिज्म** तथा (२) **सशोधनवाद**। फेबियन सोसायटी की स्थापना इग्लैण्ड मे १८८४ मे की गई थी। इस के सदस्य व्यक्तिवाद तथा समाजवाद दोनो से ही प्रभावित थे। इग्लैण्ड मे व्यक्तिवाद का सदा ही बोल-बाला रहा है। फेबियन सोसायटी के सदस्य व्यक्तिवाद से प्रभावित थे परन्तु उनका व्यक्तिवाद सशोधित तथा परिवर्द्धित व्यक्ति-वाद था। इन विचारको ने व्यक्तिवाद का सशोधन मार्क्सवादी विचारधारा के अनु-सार किया। फेबियन सोसायटी के सदस्यो मे श्रीमती एनी बेसण्ट, प्रो० ग्राहम वेलस, एच० जी० वेल्स, सिडनी तथा बेट्रिक्स वेब, जार्ज बर्नाड शा, मैकडानल्ड, हरमन फाइनर तथा प्रो० लास्की इत्यादि थे।

फेबियनिज्म मार्क्स से प्रभावित तो अवश्य है, परन्तु उसके अनेक आधारभूत सिद्धान्तो को स्वीकार नही करता। फेबियनिज्म न तो मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त, वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त को ही मानता है और न ही हिंसात्मक क्रान्ति को ही। लोकतन्त्रवाद के विस्तार के फलस्वरूप समाजवाद की स्थापना प्रजातन्त्रात्मक ढग से हो सकती है, अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) के सिद्धान्त को अस्वीकार करने के भी अनेक कारण हैं। उन्होंने विभिन्न वस्तुओ के मूल्य निर्धारण मे **सामाजिक उपयोगिता** (Public utility) के **सिद्धान्त** को अधिक महत्त्व दिया है। जो वस्तु समाज के लिए जितनी उपयोगिता रखती है उतनी ही वह मूल्यवान होती है। इसी प्रकार स्थिति मूल्य (Site value) के नियम को भी वे स्वीकार करते है। नगर के मध्य मे या बाजार के बीच मे

स्थित जमीन के टुकड़ो की कीमत ज्यादा होती है, इसका कारण उसकी स्थिति है न कि उसके मालिक का श्रम। जमीदार लोगो की 'अनुपार्जित आमदनी (Unearned income)' होती है जो कि उसको अपनी जमीन की मलकीयत के कारण मिलती है। फेबियन उत्पादन के साधनो के सामाजीकरण (Socialisation) का समर्थन करते है, परन्तु एक तो वे मुआवजे (Compensation) की व्यवस्था की स्थापना चाहते है दूसरा वे राज्य की शक्तियो का विकेन्द्रीकरण। राज्य आर्थिक जीवन का ठीक-ठीक तरह से तभी नियत्रण कर सकता है जब वह लोकतन्त्र पर आधारित हो और दूसरा जब उसकी शक्ति का व्यापक रूप से केन्द्रीकरण हो। फेबियन विचारधारा का व्यावहारिक राजनीति मे प्रयोग इग्लैण्ड का मजदूरदल (Labour party) कर रहा है।

सशोधनवादियो ने मार्क्स के राजनीतिक विचारो को अधिकाश रूप मे सत्य स्वीकार किया है, परन्तु उनका कथन है कि मार्क्स ने कही-कही गलती की है, विशेष रूप से शान्तिपूर्ण साधनो की शक्ति को समझने मे। सशोधनवादियो का कथन है कि मार्क्स की यह धारणा सर्वथा गलत है कि मध्य-वर्ग के लोगो की सख्या घट रही है। उनका कथन है कि इन लोगो की सख्या बढ जाने से जन-साधारण को राज्य के रूप-निरूपण का अधिकार प्राप्त हो गया है। अत यदि प्रचार द्वारा जनमत को समाजवाद का समर्थक बना लिया जाए तो कोई बडी बात नही कि पार्लियामेण्ट द्वारा कानून बनाकर ही समाजवाद की स्थापना की जा सके।

विकासवादी समाजवाद के आधारभूत सिद्धान्त—विकासवादी समाजवाद मौजूदा अर्थ-व्यवस्था तथा समाज-व्यवस्था के सगठन की कडी आलोचना करता है। उसका कथन है कि वर्तमान समाज का संगठन कुछेक व्यक्तियो के हित मे बहुमत के शोषण को सम्भव बनाता है। दूसरे शब्दो मे वर्तमान समाज मे थोडे से लोग बहुत से लोगो का शोषण करते है। दूसरा, आधुनिक युग मे राजनीतिक सत्ता तो सर्व-साधारण को प्राप्त है, मतदान ने राज्य के नियन्त्रण को तो लोगो के हाथ मे सौंप दिया है, परन्तु जन-साधारण के पास आर्थिक साधनो का अभाव है या यूँ कहिए कि वर्तमान समाज मे राजनीतिक स्वतन्त्रता अवश्य है परन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता नही। अधिकाश जनता भूख, महामारी तथा गरीबी का शिकार होती है। अत इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का परिवर्तन लाजमी है। प्रारम्भ मे व्यक्तिवादी सिद्धान्त ने जिस स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, वह गरीबों के कष्टो के बढाने मे ही सहायक हुई। वर्तमान व्यवस्था की तबदीली तो जरूरी है, परन्तु हिंसापूर्ण या क्रान्तिकारी साधनो द्वारा नही। जैसा कि हम पीछे लिख आए है, इस व्यवस्था का अन्त शान्तिपूर्ण प्रजातन्त्रात्मक साधनो से ही अधिक लाभदायक है।

विकासवादी समाजवाद के समर्थक इस व्यवस्था की स्थापना राज्य द्वारा ही सम्भव मानते है। राज्य को न वह व्यक्तिवादियो की तरह एक आवश्यक बुराई (Necessary evil) के रूप मे ही स्वीकार करते है और न उसे मार्क्स-वादियो की तरह शोषण का साधन ही। राज्य तो समाज-कल्याण का मूल्यवान

साधन है। उसके द्वारा समाज मे शोषण को खत्म कर न्याय-व्यवस्था को स्थापित किया जा सकता है। राज्य को वह अस्थायी व्यवस्था नही स्वीकार करते, उसको सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक समझा जाता है। अत मार्क्सवादियो की भाँति वे राज्य के अन्तिम विलोप मे तथा अराजक समाज के सगठन मे यकीन नही करते। विकासवादी समाजवाद के सम्पूर्ण प्रोग्राम का केन्द्र राज्य है। वह उसकी शक्ति का विकास चाहता है ताकि सामाजिक शोषण तथा अन्याय को खत्म किया जा सके। हमे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि मार्क्सवादियो की भाँति विकासवादी समाजवाद के समर्थक न तो राज्य को गैरजिम्मेदार ही मानते हैं और न उसकी शक्ति के केन्द्रीकरण का समर्थन करते हैं। विकासवादी समाजवाद राज्य सत्ता के विकेन्द्रीकरण का पक्षपाती है। इनका कथन है कि राज्य के हाथ मे उतनी ही शक्ति रखनी चाहिए जितनी कि उसके कार्य सचालन के लिए आवश्यक है। शेष शक्तियाँ स्थानीय शासन (Local Government) को सौंप दी जानी चाहिएँ। राज्य के अन्तर्गत उत्पादन के न्यायोचित वितरण के लिए नीचे लिखे कदम उठाए जाएँगे —

(१) उत्पत्ति के साधनो के वैयक्तिक स्वामित्व (Individual ownership) की समाप्ति। इसी स्वामित्व के कारण मजदूरो तथा पूजीपतियो के स्वार्थों मे सघर्ष उत्पन्न होता है। जितने भी महत्त्वपूर्ण उद्योग है राज्य उन्हे अपने नियन्त्रण मे लाने का प्रयत्न करेगा।

(२) राज्य स्वय महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धो का सचालन करेगा ताकि सामाजिक आवश्यकताओ की ठीक-ठीक पूर्ति हो सके। रेल, जहाज, कोयला, लोहा इत्यादि राष्ट्रीय उद्योग केन्द्र के हाथ मे रहेगे। जल-गैस, बिजली, गृहनिर्माण, स्थानीय यातायात (Local transport) स्थानीय शासन के अधीन रहेंगे।

(३) ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण, जिसके अन्तर्गत मुनाफाखोरी की भावना के स्थान पर समाज-सेवा की भावना का विस्तार हो।

विकासवादी समाज के समर्थको के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था को बदलने का यही सर्वश्रेष्ठ साधन है। पूजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतियोगिता (Competition) के फलस्वरूप बिना किसी आयोजन के ही उत्पादन प्रक्रिया चलती रहती है। फलस्वरूप जनशक्ति के अतिरिक्त उत्पादन का एक बहुत बडा हिस्सा यूं ही बिना सामाजिक उपयोग के ही नष्ट हो जाता है। राज्य द्वारा उत्पादन के नियन्त्रण के फलस्वरूप ऐसा नही हो सकेगा। दूसरा इसी व्यवस्था के अन्तर्गत ही राज्य अतिरिक्त मूल्य और सामाजिक परिस्थितियो द्वारा उत्पन्न मूल्य का स्वय नियन्त्रण करेगा। वह किसी अन्य व्यक्ति के हाथ मे नही जा सकेगा।

मुनाफाखोरी के स्थान पर सेवाभाव के विकास के फलस्वरूप अधिक से अधिक लोगो को अधिक से अधिक लाभ प्राप्त होगा। जब समाज मे अन्याय तथा शोषण नहीं होगा तो जनसामान्य उत्पादन की वृद्धि के लिए परिश्रम करेगा।

फिर समाजवाद ही वर्तमान प्रजातन्त्र व्यवस्था को उपयोगी तथा सर्व प्रकार से पूर्ण बना सकता है। जन-साधारण को यदि वोट का अधिकार दे दिया जाय

और राजनीतिक समानता के सिद्धान्त को भी मान लिया जाय, परन्तु आर्थिक समानता न हो तो प्रजातन्त्र व्यर्थ हो जाता है, वोट का अधिकार तथा राजनीतिक समानता सभी अर्थहीन बन जाते हैं। समाजवाद प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है। मजदूर दल जो इंग्लैण्ड मे विकासवादी समाज का प्रतिनिधित्व करता है, सामाजिक उन्नति के लिए चार मुख्य उद्देश्य अपने कार्यक्रम मे रखता है—

(१) न्यूनतम (Minimum) राष्ट्रीय आय का निर्धारण,
(२) मुख्य उद्योगो का सामाजीकरण और उनका राज्य द्वारा नियन्त्रण,
(३) राष्ट्रीय राजस्व-व्यवस्था (Revenue system) मे क्रान्तिकारी परिवर्तन,
(४) अतिरिक्त सम्पत्ति का जन-साधारण के हित के लिए इस्तेमाल।

विकासवादी समाजवाद वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का पोषक है, उसका शत्रु नही। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य को वह आर्थिक स्वातन्त्र्य के बिना व्यर्थ समझता है। राज्य को साधन समझ उसके कल्याणकारी तथा समाज हितकारी रूप के पूर्ण विकास का प्रयत्न करता है। इस प्रकार विकासवादी समाजवाद साम्यवाद को अनेक कमजोरियो से बचाने की कोशिश करता है।

विकासवादी समाजवाद की आलोचना—विकासवादी समाजवाद की अनेक प्रकार से आलोचना की जाती है। मार्क्सवादी तो इसे साम्यवादी दर्शन की कोई शाखा ही नहीं समझते। उनका कथन है कि विकासवादी समाजवाद, समाजवाद के वास्तविक दर्शन के प्रति विश्वासघात के अतिरिक्त कुछ नही। इस दर्शन का मजदूर वर्ग से कोई सम्बन्ध नही। इसका विकास अवसरवादी मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियो द्वारा हुआ है। वे कभी भी मजदूर वर्ग का समुचित नेतृत्व नही कर सकते। मार्क्सवादी मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त तथा वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को अटल सत्य के रूप मे स्वीकार करते हैं और विकासवादी समाजवाद के समर्थकों की एतद् विषयक आलोचना को छिछली तथा तर्कहीन कहते है। मार्क्सवादियो का कथन है कि पूजीवाद की समाप्ति साधारण सवैधानिक साधनो (Constitutional means) से सम्भव नही। सवैधानिक साधनो से तो मामूली परिवर्तन किए जा सकते है, आधार भूत सामाजिक परिवर्तन नही हो सकते। विकासवादी समाजवाद के समर्थक पूजीपतियो की शक्ति का तथा उनकी सहनशीलता का गलत अन्दाज लगाते है। पूजीपति अपने अधिकारो के लिए अन्तिम दम तक लडेंगे, वे अपनी आर्थिक शक्ति से न केवल जन-सामान्य को अपितु अनेक नेताओ को भी खरीद सकते हैं। समाजवादी समाज व्यवस्था के निर्माण का यह साधन बहुत लम्बा, अनिश्चित और अस्थायी है। इसके द्वारा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना कठिन ही नही, असम्भव समझी जाती है।

समाजवाद के अन्तर्गत राज्य की जो स्थिति होगी, वह आर्थिक जीवन का जिस प्रकार नियन्त्रण करेगा और उसके अन्तर्गत व्यक्तियो की जो सामान्य स्थिति होगी, उन सबकी कडी आलोचना की जाती है। विकासवादी समाजवाद के अन्तर्गत सम्पूर्ण शक्तियो का केन्द्र राज्य होगा, वह अनियन्त्रित तथा अबाध शक्ति का प्रयोग करेगा। उसका कार्य-क्षेत्र बहुत बढ जाएगा। इन सबके परिणाम-

स्वरूप व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विनाश हो जाएगा। समाजवाद की सभी व्यवस्थाएँ व्यक्ति के उत्साह, परिश्रम करने की इच्छा तथा कार्यारम्भ करने की शक्तियो को कुण्ठित कर देती है। उद्योगो के शासन के नियन्त्रण के अधीन हो जाने के कारण उत्पादन की कमी हो जाएगी और शासन प्रवन्ध मे कुशलता खत्म हो जाएगी। जिन व्यक्तियो के हाथ मे शासन सूत्र होता है, यह आवश्यक नही, वे व्यापारिक मामलो तथा उद्योग-धन्धो के नियन्त्रण मे भी कुशल हो। अक्सर समाजवादी राज्यो के अन्तर्गत इन व्यवसायो का नियन्त्रण अनुभव-विहीन नौसिखियो के हाथ मे चला जाता है।

समाजवादी व्यवस्था पूँजीपति तथा जन-साधारण दोनो की विश्वासपात्र नही होती। पूँजीपति तो उत्पादन मे इस लिए उत्साह प्रदर्शित नही करते कि उनको उससे कोई लाभ नही होता। मजदूरो को केवल मात्र वेतन से मतलव है उत्पादन से नही। इस प्रकार वे भी परिश्रम करने से कतराते हैं। फिर राज्य समाजवाद के अधीन हजारो अवैतनिक कर्मचारियो की नियुक्ति की जाएगी। इस प्रकार राज्य-व्यवस्था तथा उत्पादन व्यवस्था दानो ही नौकरशाही (Bureaucracy) मे परिवर्तित हो जाएँगी। नौकरशाही प्रजातन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए किसी भी प्रकार उपयोगी नही हो सकती।

विकासवादी समाजवाद कभी भी किसी भी आधारभूत आर्थिक परिवर्तन को शीघ्रता से सम्पन्न नही कर सकता क्योकि उन सभी उद्योगो के लिए उसे मुआवजे की व्यवस्था करनी पडती है जिसका वह राष्ट्रीयकरण करता है। दूसरा यह जरूरी नही कि समाजवाद का समर्थक दल सदा ही सत्तारूढ रहे। इग्लैण्ड मे मजदूरदल अभी अपने प्रोग्राम को पूरी तरह लागू भी नही कर पाया था कि उसे चुनाव मे हार अनुदारदल की सरकार के लिए स्थान वनाना पडा। समाजवादी समाज के हित को सामने रखते हुए भी व्यक्तिवादियो की तरह व्यक्ति के ही अधिकारो को अधिक महत्त्व देते हैं। इग्लैण्ड के समाजवादी दल का इतिहास सफलताओ का इतिहास नही है।

१७५ सिण्डिकलिज्म (Syndicalism)

सिण्डिकलिज्म फ्रास के मजदूर वर्ग का समाजवादी सिद्धान्त है। जोड के शब्दो मे "**सिण्डिकलिज्म वह सामाजिक सिद्धान्त है जो ट्रेड यूनियन सगठनों को नये समाज का आधार तथा उसके जन्म का साधन मानता है।**"[1] वहाँ समाज निर्माण के सिद्धान्त के साथ उसकी कार्यनीति की योजना भी है। समाजवाद के सभी सिद्धान्तो की तरह सिण्डिकलिज्म भी समाज के पूँजीवादी आधार की समाप्ति के पक्ष मे है। वह वर्तमान समाज का आधार शोपण तथा वर्ग-सघर्ष को मानता है। साम्यवादियो तथा राज्य समाजवादियो के विपरीत सिण्डिकलिस्टो का कथन है कि पूँजीवाद की समाप्ति के अनन्तर राज्य को एकदम खत्म कर दिया जायगा, मजदूरो के सघ उत्पादन

---

1 "Syndicalism may be defined as that form of social theory which regards the Trade Union Organisations as at once the foundation of the new society and the instrument whereby it is to be brought into being "—*Joad*

के साधनो पर कब्जा कर लेंगे और वही सभी उद्योग-धन्धो का नियमन तथा नियन्त्रण करेंगे।

सिण्डिकलिज्म अंग्रेजी का शब्द है। इसकी उत्पत्ति फ्रेंच शब्द सिण्डिकेट (Syndicate) से हुई है, जिसका अर्थ है मजदूर सघ। मजदूर सघ ही राज्य के रूप परिवर्तन का साधन है और उसी के आधार पर ही नवीन समाज का सगठन होता है, यही कारण है कि इसे सिण्डिकलिज्म या मजदूर सघवाद कहा जाता है। सिण्टिकलिज्म का जन्म फ्रास मे १९वी सदी के अन्त मे और २०वी सदी के प्रारम्भिक चरण मे हुआ। यह शत प्रतिशत मजदूर वर्ग का आन्दोलन कहा जाता है। फ्रास की विशेष प्रकार की आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ इसकी उत्पत्ति का कारण है। फ्रास मे पूंजीवाद मजदूर वर्ग के भाग्य सुधार मे असफल रहा, प्रजातन्त्र शासन व्यवस्था का भी दुरुपयोग किया गया, शासनतन्त्र मे भ्रष्टाचार के फैल जाने से मजदूरो को न तो राज्य मे ही यकीन रहा और न प्रजातन्त्र शासन प्रणाली मे ही। मजदूर वर्ग ने अपने स्वतन्त्र सगठन के अनेक प्रयत्न किये, प्रारम्भ मे तो इन्हे बुरी तरह दबाया गया, परन्तु बाद मे इन्होने अपने आपको 'कान्फेडरेशन जनरल डूट्रेवल'—जिसे सक्षेप मे सी० जी० टी० (C G T.) कहा जाता है—के रूप मे सगठित कर लिया। सिण्डिकलिज्म के प्रचार का यही प्रमुख केन्द्र रहा है।

सिण्डिकलिज्म के दर्शन मे स्पष्टता नही। इसका कारण यह है कि सण्डि कलिस्ट विचारको ने अपने दर्शन का निर्माण किसी एक स्रोत से नही किया। उनके विचारो के स्रोत विभिन्न तथा परस्पर विरोधी हैं। मार्क्सवाद की अपेक्षा सिण्डि-कलिस्टो पर प्रोधा के अराजकतावाद का अधिक प्रभाव है। आश्चर्य की बात तो यह है कि सिण्डिकलिस्ट अन्त. प्रेरणावादी (Intutionist) बर्गसा के दर्शन से भी प्रभावित हैं। बर्गसा अन्त.प्रेरणा (Intution) को वास्तविक ज्ञान का स्रोत समझता है, वह विश्व की समस्याओ के बौद्धिक सुलझाव मे यकीन नही करता। उसका कथन है कि उनका सुलझाव तो अन्त' प्रेरणा से ही सम्भव है। बर्गसा का अबुद्धिवाद (Irrationalism) सिण्डिकलिज्म को रहस्यात्मक रूप दे देता है। जर्मन विद्वान् नीत्शे का प्रभाव भी सिण्टिकलिज्म पर दृष्टिगोचर होता है। सोरेल (Sorel) सिण्डिकलिज्म का मूल दार्शनिक माना जाता हैं। सोरेल ने उपर्युक्त विचारधाराओ के प्रभाव के अन्तर्गत अपने दर्शन की रचना की है। सोरेल के अतिरिक्त एडमण्ट बर्थ (Edmund Berth), पॉल लुई (Paul Luis) तथा फर्डीनिण्ट पेलोतें (Ferdenand Pelloutur) सिण्डिकलिज्म के विशेष उल्लेखनीय दार्शनिक हैं।

सिण्डिकलिज्म के आधारभूत सिद्धान्त—सिण्डिकलिज्म ने राज्य, मध्यमवर्ग तथा पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था का तीव्र विरोध किया है। सिण्डिकलिस्ट विचारको का कथन है कि क्रान्ति के अनन्तर राज्य व्यवस्था को एकदम खत्म कर दिया जाएगा। इस दृष्टि से सिण्डिकलिज्म अराजकतावाद का समर्थक है, वह कम्युनिस्टो से इस बात मे सहमत नही कि क्रान्ति के अनन्तर शासन व्यवस्था की स्थापना के लिए तथा पूंजीवाद की समाप्ति के लिए राज्य की आवश्यकता है। 'राज्य' नाम की सस्था तो

अपने आधारभूत तत्त्वो के कारण ही सर्वथा अस्वीकार्य है। राज्य तो शोषण का यन्त्र है और इसका उपयोग पूँजीपति लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए करते हैं। समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य अपना स्वरूप परिवर्तित नही कर पाता, राज्य-शासन नौकरशाही के सहारे चलता है। नौकरशाही जन-साधारण की आवश्यकताओ को नही समझ पाती, जनता की मांगो के प्रति उसका दृष्टिकोण सदा ही सहानुभूति-विहीन होता है। राज्य की शक्ति एक केन्द्र पर सगठित होती है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एकरूप नीति का अनुसरण करता है। फलत समाज के विभिन्न वर्गो के हितो की वह समान रूप से देखभाल नही कर सकता, सब को एक ही लाठी से हाँकने के कारण सभी के स्वार्थो तथा हितो का पूर्ण प्रकाशन नही हो पाता। राज्य पूँजीवाद की देन है अत नये समाज मे उसे उखाड फेंकना चाहिए।

सिण्डिकलिज्म मध्य वर्ग पर बिलकुल यकीन नही करता। सिण्डिकलिज्म के समर्थको का कथन है कि मजदूर आन्दोलन का नेतृत्व मजदूर वर्ग को ही करना चाहिए। मजदूर वर्ग के आदर्श तथा सिद्धान्तो की रचना भी मजदूर नेताओ को ही करनी चाहिए। मध्यवर्ग (Middle class) के लोग कभी भी सच्चे हृदय से पूँजीवाद के विरोधी नही होते। पूँजीवाद से उनका गहरा सम्बन्ध होता है। वे सदा इस कोशिश मे रहते हैं कि वे स्वय पूँजीपति हो जाएँ। मध्यमवर्ग के बुद्धिजीवी समाजवाद के समर्थक केवल यशोपार्जन के लिए बने रहते है। उनमे क्रान्ति की भावना नही होती, वे क्रान्ति का यूँ ही दम भरते है। समाजवाद के अन्य सभी रूप इन्ही चालक मध्य-वर्गीय बुद्धिजीवियो की देन हैं, इस कारण वे मजदूरो के हित मे नही। मजदूरो का सच्चा दर्शन सिण्डिकलिज्म है, क्यो कि वह मजदूर-नेताओ द्वारा विकसित किया गया है जो मजदूरो की वास्तविक आवश्यकताओ को समझता है।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं सिण्डिकलिज्म पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था तथा उसके अग भूत राजनैतिक पार्टियो का भी विरोधी है। राजनीतिक पार्टियो का सगठन वर्गहित के आधार पर नही होता। उनमे सभी वर्गो से सम्बन्धित अवसरवादी घुस आते है, जिनका मकसद मजदूर वर्ग का या किसी अन्य वर्ग का हित नही अपितु स्वार्थ सिद्धि मात्र है। राजनैतिक दल सदा ही मजदूर वर्ग को धोखा देते हैं। वे विभिन्न नारे लगा और प्रोग्राम द्वारा लोगो को अपनी ओर आकृष्ट कर वोट तो प्राप्त कर लेते हैं परन्तु चुनाव खत्म होने पर जन साधारण की आवश्यकताओ को ही भूल जाते है। राजनैतिक पार्टियो की व्यवस्था राज्य के अन्तर्गत झूठ, दम्भ तथा अनाचार का आधार बन जाती है। मजदूर यदि इनमे भाग लें तो एक तो उनमे वर्ग चेतना खत्म हो जायगी, दूसरे उनमे फूट पड जाएगी। मजदूरो का हित उसी आन्दोलन मे है जिसका नेतृत्व सच्चे अर्थो मे मजदूर नेता करते है। मजदूर आन्दोलन को राजनैतिक पार्टियो से दूर रहना चाहिए। पार्लियामेण्ट्री व्यवस्था समझौतावाद की प्रवृत्ति पर आधारित है उसमे सभी वर्गो के प्रतिनिधि होते है अत उनसे किसी ऐसे कानून की आशा नही की जा सकती जो मजदूरो की हित रक्षा के लिए ही तैयार किए गए हो।

सदस्यो को पूँजीपति अपने धन से खरीद लेते हैं। वैसे ही पार्लियामेण्ट मे मजदूरो को नेतृत्व नही मिल पाता, उसमे मध्य वर्ग और पूँजीवादी वर्ग के लोग होते है। सिण्डिकलिस्टो के अनुसार मजदूरो का कोई अपना देश नही, कोई अपनी मातृ-भूमि नही। मजदूरो के लिए तो वही स्वदेश है जहाँ उन्हे पेट भरने को नौकरी मिल जाए। ससार भर के मजदूरो के समान स्वार्थ है, सभी शोषित है। देश अथवा राष्ट्र के आधार पर उनकी कोई शत्रुता नही हो सकती। उनका एक सामान्य शत्रु है, वह है—पूँजीवाद। यही कारण है कि सिण्डिकलिस्ट स्वदेश प्रेम, राष्ट्रवाद, युद्धवाद तथा सैन्यवाद के प्रवल विरोधी हैं। ये सभी चीजें पूँजीपति अपने स्वार्थ के लिए तैयार करते हैं। स्वदेश प्रेम तथा राष्ट्रवाद की भावना द्वारा वे मजदूर वर्ग को गुमराह करने का प्रयत्न करते है। मजदूरो को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए।

सिण्डिकलिज्म की कार्यपद्धति (Methods of syndicalism) का विवेचन सोरेल इत्यादि विचारको ने पर्याप्त गम्भीरता से किया है। सिण्डिकलिस्ट मार्क्सवादियो से इस बात मे सहमत हैं कि राज्य शक्ति की प्राप्ति तथा पूँजीवाद का अन्त शान्ति पूर्ण तथा सवैधानिक साधनो (Constitutional methods) से सम्भव नही। मार्क्स के श्रेणी युद्ध के सिद्धान्त को भी वे स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि यह वर्ग-सघर्ष आदि काल से चला आया है और इसका अन्त तव तक सम्भव नही जव तक कि पूँजीवाद को ही समाप्त नही कर दिया जाए। परन्तु पूँजीवादी लोग वहुत चतुर हैं वे मजदूरो की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न हैं, उनके पास सेना है, आधुनिक शस्त्र है। अत उनके अन्त के लिए सभी मजदूरो का सगठित होना लाजमी है। समय-समय पर मजदूरो को हडताल वगैरा कर अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए और साथ ही हडताल इत्यादि द्वारा मजदूरो मे वर्ग-चेतना (Class consciousness) को उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। सोरेल का कहना है कि मजदूर वर्ग को सदा ही पूँजीपतियो को आतकित रखना चाहिए।

सिण्डिकलिस्ट अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए दो प्रकार की कार्य पद्धतियो के अपनाने पर जोर देते है, वे हैं—

(१) विध्वसात्मक कार्यवाही (Policy of Ca'canny and Sabotage)।

(२) हडताल (Strike)।

(१) **विध्वंसात्मक कार्यवाही** का प्रयोग तो सामान्य रूप से मजदूर पूँजीपतियो को डराने धमकाने के लिए हमेशा ही करते रहेगे। हडताल तो एक जवरदस्त शस्त्र है जिसका प्रयोग हमेशा सम्भव नही। विध्वसात्मक साधनो का प्रयोग तो तव तक हो सकता है जव तक कि मजदूर अपने उद्देश्य को प्राप्त नही कर लेते।

विध्वसात्मक कार्यवाहियो का उद्देश्य उद्योगपतियो द्वारा प्राप्त किए जाने वाले लाभ मे जान वूझ कर अडचनें उत्पन्न करना है। यह अडचनें कई प्रकार से पैदा की जा सकती हैं—वे जान वूझ कर कम काम करें, काम अच्छा न करें, उत्पादन को कम करने का प्रयत्न करे, मशीन चलाकर विना काम किए वैठ जाएँ, मशीनो को तोट डाले, माल खराव कर दें, कारखानो मे आग लगा दे, ट्रेन देरी से चलाएँ माल को

गलत जगह भेज दें, जनता को माल के दोष बता दें इत्यादि। सोरेल विध्वासत्मक कार्यवाही को अनैतिक समझता है, परन्तु अन्य सिण्डिकलिस्ट इसे ठीक समझते हैं।

(२) हड़ताल जैसा कि हम कह आए हैं एक महत्त्वपूर्ण शस्त्र है। सोरेल इसे ही नैतिक अस्त्र समझता है। हड़ताल का प्रयोग हर सम्भव छोटे-बड़े कार्य के लिए किया जा सकता है। वेतन बढ़वाने के लिए, काम के घण्टे कम करवाने के लिए, कारखानो पर अधिक नियन्त्रण के लिए, छटनी मे आये मजदूरो को काम दिलवाने के लिए इसका प्रयोग किया जा सकता है। हड़ताल, चाहे वह सफल हो चाहे असफल मजदूरो को नैतिक शक्ति प्रदान करती है। हड़ताल द्वारा मजदूरो मे एकता, आत्म-सयम, अनुशासन तथा आत्म-निर्भरता इत्यादि गुण उत्पन्न होते हैं। हड़ताल के दर्शन को सोरेल ने बहुत कुछ रहस्यमय बना दिया है। हड़तालो का क्या उचित समय है और उन्हें किस प्रकार सगठित किया जाना चाहिए, सोरेल इन प्रश्नो का उत्तर नही देता। क्योकि वह मानता है कि हड़ताल मजदूरो की अन्त प्रेरणा का परिणाम होनी चाहिए। यह मजदूर ही फैसला करेंगे कि कब किस समय हड़ताल की जाएगी।

सोरेल ने हड़ताल के एक अन्य प्रकार को भी बतलाया है, जिसे वह **'सामान्य हड़ताल** (General strike) कहता है। 'सामान्य हड़ताल' का दर्शन भी विचित्र है। उसका कहना है कि छोटी-बड़ी सभी हड़तालें 'सामान्य हड़ताल' की तैयारी मात्र हैं। 'सामान्य हड़ताल' कब होगी या किस तरह होगी, सोरेल इस प्रश्न का भी उत्तर नही देता। 'सामान्य हड़ताल' के प्रति मजदूरो के मन में श्रद्धा की भावना होनी चाहिए। उन्हें इसे एक प्रकार का दैवीय अस्त्र समझना चाहिए। एक दिन जब यह 'सामान्य हड़ताल' होगी तो दुनिया भर के सभी मजदूर उस समय अपना काम-काज छोड इसमे शामिल हो जाएँगे। बाद मे इसका कुछ सशोधन किया गया और यह यकीन किया जाने लगा कि 'सामान्य हड़ताल' मे यह आवश्यक नही कि सभी मजदूर हिस्सा लें और उसका क्षेत्र भी इतना विस्तृत हो। अत सामान्य हड़ताल के अन्तर्गत राष्ट्र के प्रमुख उद्योगो के मजदूर भाग लेंगे। क्योकि वर्तमान युग मे सभी उद्योग-धन्धे एक दूसरे के सहारे चलते हैं अत मुख्य उद्योग-धन्धो मे हड़ताल होने के फलस्वरूप—पूजीवादी व्यवस्था शिथिल पड जायगी। 'सामान्य हड़ताल' के आरम्भ होते ही मजदूर वर्ग खाद्य पदार्थो तथा अन्य आवश्यक तथा जीवनोपयोगी वस्तुओ पर अपना कब्जा कर लेंगे। तदनन्तर वे कारखानों पर भी अधिकार जमा सकते हैं।

सिण्डिकलिस्ट समाज का संगठन क्या होगा? क्रान्ति के अनन्तर किस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का जन्म होगा? सोरेल इस प्रश्न का उत्तर नही देता। उनका कथन है कि भविष्य की समाज व्यवस्था का चित्र विवेक के आधार पर नहीं दिया जा सकता, उसका आधार मजदूरो की 'अन्त प्रेरणा' होगी। सिण्डिकलिज्म का मुख्य उद्देश्य वर्ग-चेतना को उत्पन्न करना है, और नए समाज की स्थापना के लिए विभिन्न साधनो का निर्देश करना है। इसके बावजूद कुछेक सिण्डिकलिस्ट विचारको ने भविष्य के समाज के रूप का चित्रण किया है, परन्तु यह चित्रण बहुत धुन्धला है, उसमे स्पष्टता नहीं हैं। क्रान्ति के अनन्तर सगठित समाज मे राज्य का अभाव

होगा । सिण्डकलिस्ट राज्य को मजदूरो का प्रतिनिधि नही मानते । उनके विचार मे राज्य श्रम उपभोक्ताओ (Consumers) का प्रतिनिधित्व करता है । सिण्डिकलिस्ट समाज मे मूल्य के उत्पादको यानी मजदूरो का शासन होगा । राज्य के रहते ऐसा सम्भव नही, अत राज्य को समाप्त कर दिया जायगा । इस प्रकार सिण्डिकलिस्ट इस विषय मे अराजकतावादियो के पथ का अनुसरण करते है, अराजकतावादी भी क्रान्ति के एकदम बाद राज्य के उखाड फेंकने के पक्ष मे है । राज्य की समाप्ति के अनन्तर समाज के संगठन का क्या आधार होगा ? सिण्डिकलिज्म के समर्थक इस दशा मे मजदूर सघो को राष्ट्रीय जीवन की बागडोर सौप देने के पक्ष मे है । प्रत्येक व्यवसाय या उद्योग मे काम करने वाले मजदूर अपना-अपना सगठन करेंगे और उस उद्योग का नियन्त्रण करेंगे । प्रत्येक उद्योग तथा व्यवसाय उन्ही लोगो के अधीन होगा जो कि उनके सञ्चालन मे भाग लेते हैं । मजदूरो का एक केन्द्रीय सघ भी होगा, जिसका सगठन मौजूदा सी० जी० टी० (C. G T) के आधार पर होगा ।

राज्य के सम्पूर्ण कर्त्तव्यो को दो भागो मे बाँट दिया गया है—(१) स्थानीय तथा (२) केन्द्रीय । सिण्डिकलिस्ट उद्योगो के नियन्त्रण के विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे हैं । इस कारण थोडे से उद्योगो तथा व्यवसायो को छोड शेष सभी का नियन्त्रण स्थानीय आधार पर सगठित होगा । स्थानीय ट्रेड यूनियन कारखानो की चल तथा अचल सम्पत्ति के मालिक होगे और वह उत्पादन की मात्रा तथा प्रकृति का निश्चय करेंगे । डाक, तार रेलवे तथा अन्य यातायात के साधनो का नियन्त्रण राष्ट्रीय मजदूर सघ करेंगे । राष्ट्रीय मजदूर सघ विशेष ज्ञान के भी स्रोत होगे । मजदूरो का वेतन, काम करने के घण्टे, बच्चो तथा बूढो की देख-भाल इत्यादि विषयक प्रश्नो का निपटारा भी राष्ट्रीय प्रश्न हैं, और उनका निर्णय केन्द्रीय मजदूर सघ करेंगे । सिण्डिकलिस्ट शासन व्यवस्था के अन्तर्गत विकेन्द्रीकरण तथा स्थानीय संगठन पर अधिक जोर दिया गया है । १९१९ मे इस स्थिति का कुछ सशोधन किया गया और राष्ट्रीय महत्त्व के विषयो के लिए राष्ट्रीयकरण की नीति का समर्थन किया गया । राष्ट्रीयकरण की भी व्याख्या की गई और तदनुसार 'राष्ट्रीयकरण का अर्थ सम्पत्ति का उत्पादको तथा उपभोक्ताओ द्वारा सम्मिलित नियन्त्रण है ।'

सिण्डिकलिस्ट समाज मे पुलिस तथा सैनिक सगठन की व्यवस्था खत्म कर दी जाएगी । वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार ही सभी प्रकार के अपराधो का कारण है, जब यह व्यवस्था ही खत्म हो जायगी तो अपराध कहाँ रहेगे ? इसलिए सिण्डिकलिस्ट समाज मे न तो जेलो की ही आवश्यकता होगी और न न्यायालयो की ही । देश की रक्षा का उत्तरदायित्व रक्षक सेना (Militia) पर होगा जो प्रत्येक संघ स्वय सगठित करेगा । अपराधियो को सजा तो अवश्य दी जायगी, परन्तु वह पूजीवादी राज्य के अन्तर्गत दी गई सजा से सर्वथा भिन्न होगी । पहले तो अपराधी व्यक्ति को चेतावनी दी जायगी, फिर उसका बहिष्कार किया जा सकता है, अन्त मे उसे समाज से निकाला जा सकता है ।

इस प्रकार सिण्डिकलिस्ट समाज मे न राज्य होगा न राज्य के साधन और न

वैयक्तिक सम्पत्ति ।

सिण्डिकलिज्म तथा समाजवाद—दोनो मे पर्याप्त अन्तर है ।

(१) समाजवाद राज्य को खत्म नही करता, न ही उसे वह शोषण का साधन मानता है । वह राज्य को जन-कल्याण की वृद्धि के लिए साधन रूप मे इस्तेमाल करना चाहता है । परन्तु सिण्डिकलिस्ट राज्य को क्रान्ति के एकदम बाद खत्म कर देंगे, क्योंकि उनका विचार है कि समाजवाद के अधीन भी राज्य अपनी प्रकृति नही बदल सकता ।

(२) समाजवाद उत्पादन के साधनो तथा वितरण का नियन्त्रण किसी एक वर्ग को नही सौंपता बल्कि वह राज्य के हाथ मे उसके सचालन का उत्तरदायित्व सौंपता है । राज्य समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधि है किसी एक का नही । परन्तु सिण्डिकलिस्ट वैयक्तिक सम्पत्ति को नष्ट करने के अनन्तर उसका नियन्त्रण मूल्यो के उत्पादक—मजदूरो—के हाथ मे देता है, सम्पूर्ण समाज के नही । यही कारण है कि यह कहा जाता है कि समाजवाद सम्पूर्ण समाज का कल्याण चाहता है, जब कि सिण्डिकलिज्म केवल एक वर्ग के हित की बात सोचता है ।

(३) समाजवाद जन-साधारण का दर्शन है, इसी कारण यह जन-साधारण मे सर्वप्रिय भी है परन्तु सिण्डिकलिज्म तो केवल एक वर्ग का ही दर्शन है जन-साधारण तक उसकी पहुँच नही ।

सिण्डिकलिज्म की आलोचना—आज तो सिण्डिकलिज्म का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं, क्योंकि सिण्डिकलिज्म इस समय राजनीतिक दर्शन की कोई जीवित विचार धारा नही । प्रथम युद्ध के अनन्तर कुछ ही वर्षो बाद यह फ्रास तथा इटली इत्यादि देशो मे राजनीतिक विचारधारा के रूप मे खत्म हो गया । इग्लैण्ड इत्यादि राज्यो मे तो इसका अधिक प्रचार नहीं हो पाया । हाँ, इग्लैण्ड मे सिण्डिकलिज्म के प्रभाव के अधीन गिल्ड सोशलिज्म (Guild Socialism) का जन्म हुआ । सिण्डिकलिज्म की सबसे बडी कमजोरी उसकी अस्पष्टता है । सोरेल इत्यादि विचारक सिण्डिकलिस्ट समाज के स्वरूप की रूप रेखा ही नही दे पाते । यह एक व्यावहारिक कमी भी है । व्यावहारिक रूप से हमारे सामने आने वाले समाज का चित्रण किसी न किसी रूप मे अवश्य होना चाहिए ।

सिण्डिकलिज्म का दृष्टिकोण केवल मजदूरो के हितों तक ही सीमित है । उनका कथन है उत्पादन का नियन्त्रण मजदूर-सघो के हाथ मे होना चाहिए क्योंकि मजदूर ही मूल्यो के उत्पादक हैं । सिण्डिकलिस्ट समाज मे उपभोक्ताओ (Consumers) का क्या बनेगा ? क्या उनके अपने स्वार्थ तथा हित नही हैं ?

सिण्डिकलिज्म में व्यावहारिकता का सर्वथा अभाव है । राज्य की अवस्थिति सभी स्थितियो मे लाजमी है । राज्य किसी एक वर्ग का प्रतिनिधि नही, साधारण मानव समुदायो के मुकाबिले मे उसकी ऊँची स्थिति है । वह सभी समुदायो के कार्य-क्षेत्र का निर्णय करता है उनके पारस्परिक झगडो का निपटारा करता है और जन-साधारण के सामान्य हितो की रक्षा करता है । व्यावहारिक रूप से भी क्रान्ति के

अनन्तर राज्य की समाप्ति किसी भी प्रकार लाभदायक नही हो सकती। क्रान्ति के एकदम बाद पूजीवादी वर्ग अपने नियन्त्रण की पुन स्थापना का प्रयत्न नहीं करेगा ? सेना तथा पुलिस व्यवस्था की समाप्ति भी ठीक नही जचती, क्योंकि अपराध की अवस्थिति समाज मे किसी भी हालत मे खत्म नही हो सकती। अपराध की रोक-थाम के लिए केवल सुधारवादी सजा ही नहीं सख्त सजा भी देनी पडती है।

सिण्डिकलिज्म जब राष्ट्र-प्रेम तथा देश-प्रेम इत्यादि की भावनाओ को मजदूर वर्ग के लिए महत्त्वहीन सिद्ध करने का प्रयत्न करता है तो वह मानवीय प्रकृति सम्बन्धी अपनी अज्ञानता का ही परिचय देता है। केवल मात्र आर्थिक हितो की समानता के आधार पर ही इन भावनाओ को नही कुचला जा सकता। जर्मनी, रूस, फ्रास तथा इग्लैण्ड इत्यादि सभी राज्यो मे प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मे राष्ट्रवादी भावनाओ से अनुप्राणित मजदूर लोग अपने-अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लडे। स्वदेशानुराग की भावना बहुत गहरी है।

सिण्डिकलिज्म के उद्देश्य प्राप्ति के साधन सर्वथा अनैतिक तथा विनाशकारी हैं। एक वार विनाश की लहर चल पडने पर उसका रुकना मुश्किल हो जाता है। विध्वस से पूजीपतियो को इतना नुकसान नहीं पहुँचता जितना सम्पूर्ण समाज को होता है। सदियो के परिश्रम से बनी मशीनरी को खत्म कर देना क्या बुद्धिमत्ता है ? फिर जब यह आशा की जाती है कि वही मशीनरी जन-साधारण के हाथ मे एक न एक दिन अवश्य ही आ जानी है। कल कारखाने सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति हैं, किसी एक खास वर्ग की नही। पीछे हम हिंसात्मक साधनो की कमियो का जिक्र कर आए हैं, हम देख चुके हैं कि हिंसात्मक साधनो से लाभ की बजाय हानि की अधिक सम्भावना रहती है।

सभी तरह की हडताल का समर्थन करना और हडताल को पूँजीवाद के विरुद्ध लडने का सर्वाधिक शक्तिशाली शस्त्र बतलाना भी विवेक-हीनता का ही परिचय देना है। असफल हडतालें, मजदूरो मे अनुशासन तथा आत्म-सयम के गुणो को उत्पन्न नही करती, बल्कि वे उनकी शक्ति को कम करती हैं और उनमे निराशा को भर देती हैं। हडताल से पूँजीवाद को खत्म करना असम्भव है, फिर ऐसी हडतालो से जिनका रूप ही स्पष्ट नही, जिनके सगठन की कोई योजना ही नहीं। हडताल तथा तोड-फोड के अन्य प्रकार जन-साधारण मे सामाजिक व्यवस्था के लिए अनावश्यक अनुशासन को सर्वथा खत्म कर देंगे। ट्रेड यूनियन तो एक मजदूरो का सगठन है जिसका उद्देश्य मिल मालिको से मजदूरो के लिए आवश्यक कुछ सुविधाओ के लिए लडना है। वह भविष्य के समाज के सगठन का आधार कैसे बन सकता है ? राजनीतिक दलो का सगठन अनिवार्य है। वे मजदूर, किसान तथा मध्यवित्त वर्ग (Middle class) सभी का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका उद्देश्य राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के लिए लडना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे प्रोग्राम बनाते हैं और उन्हे जनता के सम्मुख रखते हैं। राजनीतिक चेतना का विस्तार राजनीतिक पार्टियो द्वारा ही सम्भव है। फिर क्रान्ति के एक दम बाद राजनीतिक पार्टियाँ ही एक सगठित शासन व्यवस्था के

निर्माण मे सबसे अधिक सहायक होती है, ट्रेड यूनियन नही।

सिण्डिकलिज्म का अबुद्धिवाद तथा सिद्धान्त के प्रति तिरस्कार भावना किसी भी स्वस्थ राजनीतिक समाज मे सगठन के लिए लाभदायक नही हो सकता। सिद्धान्त पहले विकसित होता है, कार्य बाद मे सम्पन्न किए जाते हैं।

सवैधानिक तथा शान्ति पूर्ण उपायो की तुच्छता की बात भी जल्दबाजी तथा अनावश्यक उग्रता का ही परिणाम है। वह समाज व्यवस्था सदा ही टिकाउ होती है जिसका आधार जोर जबरदस्ती न हो जनता की सक्रिय सहमति (Active consent) होती है।

अबौद्धिकता, अव्यावहारिकता तथा सकुचितता इत्यादि दोषो से दूषित होने के कारण यह सिद्धान्त जन सामान्य मे कभी भी सर्वप्रिय न हो सका।

१७६. गिल्ड सोशलिज्म (Guild Socialism)

गिल्ड सोशलिज्म ग्रेट ब्रिटेन की राजनीति शास्त्र को एक विशेष देन है। इस वाद के विकास स्रोतो मे सिण्डिकलिज्म, विकासवादी समाजवाद तथा मार्क्सवाद है। परन्तु जहाँ विकासवादी समाजवाद से यह नकारात्मक रूप से प्रभावित हुआ है, वहा सिण्डिकलिज्म से अधिकाश रूप मे स्वीकारात्मक रूप से। ये दोनो के मिश्रित प्रभावो का परिणाम है। गेटल के शब्दो मे **"यह आन्दोलन सिण्डिकलिज्म तथा विकासवादी समाजवाद के बीच समझौते का प्रतिनिधित्व करता है।"**[1]

सिण्डिकलिज्म की उग्रता अराजकता तथा क्रान्तिकारी भावना ग्रेट ब्रिटेन के नागरिको के लिए किसी प्रकार भी आकर्षक नही। उनकी मानसिक स्थिति किसी भी ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार नही कर सकती जो राज्य व्यवस्था मे मूलभूत परिवर्तन लाना चाहता हो या जो अराजकता तथा अव्यवस्था का समर्थक हो। दूसरी ओर विकासवादी समाजवाद मे भी कुछ विशेष दोषो की उपस्थिति को स्वीकार किया गया। यह माना गया कि विकासवादी समाज पूंजीवाद की बुराइयो को दूर नही करता। वह राज्य को अधिक से अधिक शक्ति सम्पन्न बनाता है और उद्योग-धन्धो का नियन्त्रण राज्य कर्मचारी वर्ग के हाथ मे सौप देता है जिसके अधीन मजदूरो को उत्पादन के गुण तथा मात्रा से किसी प्रकार का भी ममत्व नही रहता। मजदूर उत्पादक हैं, उन्ही के श्रम से पदार्थों का मूल्य निर्धारित होता है, अत मजदूरो को उत्पादन तथा उद्योग-धन्धो के नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिए। गिल्ड सोशलिज्म के विचारक आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता मे विभेद चाहते हैं। उनका विचार है कि आर्थिक जीवन का नियमन तथा नियन्त्रण मजदूर सघो (Guilds) द्वारा होना चाहिए। प्रत्येक कारखाने या मिल का नियन्त्रण उन व्यक्तियो द्वारा होना चाहिए जो उनमे काम करते हो। कारखाने के प्रत्येक अधिकारी का चुनाव उसमे काम करने वाले मजदूरो द्वारा हो, इस विषय मे गिल्ड समाजवादी सिण्डिकलिज्म से प्रभावित है।

---

1 "Guild Socialism . represents a compromise between yndicalism and Collectivism "—*Gettell*

गिल्ड सोशलिज्म का विकास जैसा कि हम ऊपर कह चुके है इग्लैण्ड मे हुआ। गिल्ड समाजवाद का आधार मध्य-युगीन गिल्ड व्यवस्था थी। राष्ट्रीय राज्यो के विकास तथा औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व सामन्तयुग मे यूरोप मे कारीगरो के छोटे-छोटे सघ मौजूद थे। मोचियो के, जुलाहो तथा दर्जियो के और अन्य प्रकार के उद्योग-धन्धो मे भाग लेने वाले मजदूरो के अपने-अपने सघ होते थे। ये सघ न केवल अपने पेशेवाले लोगो की कार्यवाहियो का ही नियन्त्रण करते थे वल्कि उनकी आर्थिक सहायता भी करते थे। उन को कच्चा माल तथा यत्रादि दे उनके कार्य को व्यवस्थित करने की कोशिश करते तथा उनके तैयार माल को खरीदने-बेचने का भी प्रवन्ध करते थे। भारत मे भी पुराने समय मे अलग-अलग पेशो वाले लोगो की विरादरियाँ होती थी जिनका काम यूरोप मे पाये जाने वाले मजदूर सघो (Guilds) की तरह होता था। इस गिल्ड व्यवस्था ने वर्तमान युग के गिल्ड समाजवादियो को नई प्रेरणा दी। वर्तमान युग के वडे-वडे उद्योग-धन्धो के विस्तार के कारण मजदूरो की स्थिति वहुत खराव हो गई है। उनका न तो उद्योग-धन्धो पर कोई नियन्त्रण ही है और न वह अपने काम-काज पर कोई उत्साह ही दिखाते हैं। उनके कार्यो का कलात्मक मूल्य भी कोई नही। वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था ने उन्हे सवैतनिक दासो की स्थिति मे पहुँचा दिया है। १९०५ मे ए० जे० पेण्टी (A J Penty) ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तक 'The Restoration of Guild Systems' मे मध्य युग की गिल्ड व्यवस्था की उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे पुन स्थापना की माँग की। परन्तु पेण्टी के विचारो मे वैज्ञानिकता का अभाव तथा भावुकता का आधिक्य था। उसने गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का समर्थन कलात्मकता के आधार पर किया। व्यावहारिकता के अभाव मे ही उसके विचारो को सर्वप्रियता प्राप्त न हो सकी। पेण्टी के अनन्तर ए० आर० ओरेज (A. R Orage) तथा एस० जी० हावसन (S G. Hobson) ने इग्लैण्ड मे मजदूर अशान्ति के दिनो मे गिल्ड व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया और यह स्वीकार किया कि उद्योग-धन्धो मे स्वशासन (Self-government) के अपनाने से ही मौजूदा अशान्ति खत्म हो सकती है। उन्होने कारखानो तथा मिलो के प्रवन्ध को मजदूरो को सौंपे जाने की जोरदार अपील की। वर्तमान युग मे जी० डी० एच० कोल (G D H. Cole) ही एक ऐसे विचारक हैं जिसे कि गिल्ड सोशलिज्म का एक मात्र प्रतिनिधि माना जाता है। जी० डी० एच० कोल ने ही गिल्ड सोशलिज्म को एक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। उसने गिल्ड समाजवाद की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सभी तरह की व्याख्या की है। कोल ने अपने मत के समर्थन मे तीन पुस्तकें लिखी हैं—(1) Self Government in Industry. (2) Guild Socialism Restated और (3) Social Theory ये पुस्तकें गिल्ड सोशलिज्म का मुख्य आधार हैं। कोल ने पेण्टी के विचारो का पूर्ण संशोधन किया है। गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का उद्देश्य केवल कलात्मक मूल्यो की पुन स्थापना ही नहीं बल्कि वर्तमान समाज मे मौजूद वेतन व्यवस्था (Wage system), पूजीपतियो द्वारा मजदूर वर्ग का शोषण तथा अन्य सामाजिक तथा आर्थिक अन्यायो को दूर करना भी है।

निर्माण मे सबसे अधिक सहायक होती है, ट्रेड यूनियन नही।

सिण्डिकलिज्म का अबुद्धिवाद तथा सिद्धान्त के प्रति तिरस्कार भावना किसी भी स्वस्थ राजनीतिक समाज मे सगठन के लिए लाभदायक नही हो सकता। सिद्धान्त पहले विकसित होता है, कार्य बाद मे सम्पन्न किए जाते है।

सवैधानिक तथा शान्ति पूर्ण उपायो की तुच्छता की बात भी जल्दबाजी तथा अनावश्यक उग्रता का ही परिणाम है। वह समाज व्यवस्था सदा ही टिकाउ होती है जिसका आधार जोर जबरदस्ती न हो जनता की सक्रिय सहमति (Active consent) होती है।

अबौद्धिकता, अव्यावहारिकता तथा सकुचितता इत्यादि दोषो से दूषित होने के कारण यह सिद्धान्त जन सामान्य मे कभी भी सर्वप्रिय न हो सका।

१७६. गिल्ड सोशलिज्म (Guild Socialism)

गिल्ड सोशलिज्म ग्रेट ब्रिटेन की राजनीति शास्त्र को एक विशेष देन है। इस वाद के विकास स्रोतो मे सिण्डिकलिज्म, विकासवादी समाजवाद तथा मार्क्सवाद है। परन्तु जहाँ विकासवादी समाजवाद से यह नकारात्मक रूप से प्रभावित हुआ है, वहा सिण्डिकलिज्म से अधिकाश रूप मे स्वीकारात्मक रूप से। ये दोनो के मिश्रित प्रभावो का परिणाम है। गेटल के शब्दो मे **"यह आन्दोलन सिण्डिकलिज्म तथा विकासवादी समाजवाद के बीच समझौते का प्रतिनिधित्व करता है।"**[1]

सिण्डिकलिज्म की उग्रता अराजकता तथा क्रान्तिकारी भावना ग्रेट ब्रिटेन के नागरिको के लिए किसी प्रकार भी आकर्षक नही। उनकी मानसिक स्थिति किसी भी ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार नही कर सकती जो राज्य व्यवस्था मे मूलभूत परिवर्तन लाना चाहता हो या जो अराजकता तथा अव्यवस्था का समर्थक हो। दूसरी ओर विकासवादी समाजवाद मे भी कुछ विशेष दोषो की उपस्थिति को स्वीकार किया गया। यह माना गया कि विकासवादी समाज पूँजीवाद की बुराइयो को दूर नही करता। वह राज्य को अधिक से अधिक शक्ति सम्पन्न बनाता है और उद्योग-धन्धो का नियन्त्रण राज्य कर्मचारी वर्ग के हाथ मे सौंप देता है जिसके अधीन मजदूरो को उत्पादन के गुण तथा मात्रा से किसी प्रकार का भी ममत्व नही रहता। मजदूर उत्पादक हैं, उन्ही के श्रम से पदार्थों का मूल्य निर्धारित होता है, अत मजदूरो को उत्पादन तथा उद्योग-धन्धो के नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिए। गिल्ड सोशलिज्म के विचारक आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता मे विभेद चाहते हैं। उनका विचार है कि आर्थिक जीवन का नियमन तथा नियन्त्रण मजदूर सघो (Guilds) द्वारा होना चाहिए। प्रत्येक कारखाने या मिल का नियन्त्रण उन व्यक्तियो द्वारा होना चाहिए जो उनमे काम करते हो। कारखाने के प्रत्येक अधिकारी का चुनाव उसमे काम करने वाले मजदूरो द्वारा हो, इस विषय मे गिल्ड समाजवादी सिण्डिकलिज्म से प्रभावित है।

---

1 "Guild Socialism represents a compromise between Syndicalism and Collectivism"—*Gettell*

गिल्ड सोशलिज्म का विकास जैसा कि हम ऊपर कह चुके है इग्लैण्ड मे हुआ। गिल्ड समाजवाद का आधार मध्य-युगीन गिल्ड व्यवस्था थी। राष्ट्रीय राज्यो के विकास तथा औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व सामन्तयुग मे यूरोप मे कारीगरो के छोटे-छोटे सघ मौजूद थे। मोचियो के, जुलाहो तथा दर्जियो के और अन्य प्रकार के उद्योग-धन्धो मे भाग लेने वाले मजदूरो के अपने-अपने सघ होते थे। ये सघ न केवल अपने पेशेवाले लोगो की कार्यवाहियो का ही नियन्त्रण करते थे वरिक उनकी आर्थिक सहायता भी करते थे। उन को कच्चा माल तथा यत्रादि दे उनके कार्य को व्यवस्थित करने की कोशिश करते तथा उनके तैयार माल को खरीदने-बेचने का भी प्रवन्ध करते थे। भारत मे भी पुराने समय मे अलग-अलग पेशो वाले लोगो की विरादरियाँ होती थी जिनका काम यूरोप मे पाये जाने वाले मजदूर सघो (Guilds) की तरह होता था। इस गिल्ड व्यवस्था ने वर्तमान युग के गिल्ड समाजवादियो को नई प्रेरणा दी। वर्तमान युग के वडे-वडे उद्योग-धन्धो के विस्तार के कारण मजदूरो की स्थिति वहुत खराव हो गई है। उनका न तो उद्योग-धन्धो पर कोई नियन्त्रण ही है और न वह अपने काम-काज पर कोई उत्साह ही दिखाते हैं। उनके कार्यो का कलात्मक मूल्य भी कोई नही। वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था ने उन्हे सवैतनिक दासो की स्थिति मे पहुँचा दिया है। १९०५ मे ए० जे० पेण्टी (A J Penty) ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तक 'The Restoration of Guild Systems' में मध्य युग की गिल्ड व्यवस्था की उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे पुन स्थापना की माँग की। परन्तु पेण्टी के विचारो मे वैज्ञानिकता का अभाव तथा भावुकता का आधिक्य था। उसने गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का समर्थन कलात्मकता के आधार पर किया। व्यावहारिकता के अभाव मे ही उसके विचारो को सर्वप्रियता प्राप्त न हो सकी। पेण्टी के अनन्तर ए० आर० ओरेज (A. R. Orage) तथा एस० जी० हावसन (S G. Hobson) ने इग्लैण्ड मे मजदूर अशान्ति के दिनो मे गिल्ड व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया और यह स्वीकार किया कि उद्योग-धन्धो मे स्वशासन (Self-government) के अपनाने से ही मौजूदा अशान्ति खत्म हो सकती है। उन्होने कारखानो तथा मिलो के प्रवन्ध को मजदूरो को सौंपे जाने की जोरदार अपील की। वर्तमान युग मे जी० डी० एच० कोल (G D H. Cole) ही एक ऐसे विचारक है जिसे कि गिल्ड सोशलिज्म का एक मात्र प्रतिनिधि माना जाता है। जी० डी० एच० कोल ने ही गिल्ड सोशलिज्म को एक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। उसने गिल्ड समाजवाद की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सभी तरह की व्याख्या की है। कोल ने अपने मत के समर्थन मे तीन पुस्तकें लिखी है—(1) Self Government in Industry. (2) Guild Socialism Restated और (3) Social Theory ये पुस्तकें गिल्ड सोशलिज्म का मुख्य आधार हैं। कोल ने पेण्टी के विचारो का पूर्ण सशोधन किया है। गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का उद्देश्य केवल कलात्मक मूल्यो की पुन स्थापना ही नही वल्कि वर्तमान समाज मे मौजूद वेतन व्यवस्था (Wage system), पूजीपतियो द्वारा मजदूर वर्ग का शोषण तथा अन्य सामाजिक तथा आर्थिक अन्यायो को दूर करना भी है।

गिल्ड सोशलिज्म का सैद्धान्तिक आधार—गिल्ड सोशलिस्ट वर्तमान समाज के अन्याय पूर्ण आधार को स्वीकार करते हैं। वे अन्य समाजवादियो की तरह यह भी मानते हैं कि मजदूरो की मौजूदा बुरी हालत की जिम्मेदारी पूंजीवादी व्यवस्था पर है, जिसका आधार मजदूरो का शोषण है। इस व्यवस्था के सुधार के लिए वे दो उपाय वतलाते हैं, सर्वप्रथम तो वेतन व्यवस्था (Wages system) की समाप्ति, दूसरा व्यावसायिक जनतन्त्र (Functional democracy) की स्थापना।

मौजूदा हालत मे श्रमिको की स्थिति मजदूरी कमाने वालो की है। उनके द्वारा पैदा किया गया 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) मजदूरो की जेब मे न जा पूंजीपतियो द्वारा हड़प लिया जाता है। यही नही सम्पूर्ण उत्पादन तथा उत्पादन व्यवस्था पर उनका किसी प्रकार का भी नियन्त्रण नही होता। इस अवस्था मे मजदूरो की स्थिति अत्यन्त शोचनीय वन जाती है। समाज मे उनका कोई आदर-सत्कार नही होता, उनको यन्त्र-व्यवस्था के प्राणविहीन भाग की तरह समझा जाता है। सक्षेप मे पूंजीवाद के अन्तर्गत श्रमिको को मानव नही समझा जाता, मशीन समझा जाता है। इसका कारण यही है कि उनका आर्थिक शक्ति पर किसी प्रकार का भी नियन्त्रण नही होता। वे मार्क्स के साथ इस बात को मानते हैं कि आर्थिक शक्ति ही सभी शक्तियो का स्रोत है। इस व्यवस्था की समाप्ति के लिए ही गिल्ड सोशलिस्ट व्यावसायिक जनतन्त्र की व्यवस्था की स्थापना पर बल देते हैं।

व्यावसायिक प्रजातन्त्र (Functional Democracy)—गिल्ड सोशलिस्ट विचारधारा के अन्तर्गत व्यावसायिक प्रजातन्त्र का विशेष महत्त्व है। जी० डी० एच० कोल ने इस सिद्धान्त का वडा विशद् विवेचन किया है। कोल, रूसो के इस कथन को स्वीकार करता है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नही कर सकता, परन्तु एक व्यक्ति कुछ व्यक्तियो के सामान्य हितो (Common interests) का थोडा बहुत प्रतिनिधित्व कर सकता है। वर्तमान राज्यो मे जिस प्रतिनिधि निर्वाचन व्यवस्था का प्रचलन है उसका आधार प्रादेशिक है। प्रादेशिक आधार (Territorial basis) पर चुने गए प्रतिनिधि अपने सम्पूर्ण चुनाव प्रदेश मे रहने वाले सभी प्रकार के स्वार्थो के प्रतिनिधि होने का दावा करते है, परन्तु यह दावा बिलकुल गलत है। एक अध्यापक या एक वकील जुलाहो, मोचियो, मजदूरो तथा क्लर्को इत्यादि के सामान्य स्वार्थो का कभी भी प्रतिनिधित्व नही कर सकता। मौजूदा समय मे सामान्य स्वार्थो के आधार पर चुनाव नही होते बल्कि भौगोलिक या प्रादेशिक आधार (Territorial basis) पर होते हैं। ऐसी अवस्था मे निर्वाचित प्रतिनिधि अपने हितो के अतिरिक्त अन्य किसी के हित का प्रतिनिधित्व नही करता। एक विशेष व्यवसाय के आधार पर चुना गया प्रतिनिधि अवश्य ही अपने व्यवसाय मे काम करने वाले लोगो के कुछ सामान्य स्वार्थो का प्रतिनिधित्व नही कर सकता है। अध्यापक अध्यापको की कठिनाईयो को जानते हैं, वह उनके हितो से परिचित होते हैं अत उन्हे अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार कपडा उद्योग मे काम करने वाले मजदूर यह जानते हैं कि उनके सामान्य स्वार्थ क्या हैं अत उन्हे प्रादेशिक

चुनाव के स्थान पर व्यावसायिक आधार पर अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। वही उनके सामान्य स्वार्थों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व कर सकेंगे। मौजूदा विधानपालिकाएँ प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था के आधार पर चुनी जाती है, वे समाज मे पाए जाने वाले विभिन्न हितो या स्वार्थो का प्रतिनिधित्व नही करती। अत मौजूदा विधानपालिकाओ के चुनाव की व्यवस्था बदल देनी चाहिए और प्रत्येक व्यवसाय को अपने सामान्य स्वार्थो की रक्षा के लिए प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए।

परन्तु गिल्ड सोशलिस्ट प्रादेशिक चुनाव व्यवस्था को एकदम समाप्त कर देने के पक्ष मे नही। उन का कथन है कि प्रत्येक समाज मे कुछेक ऐसे सामान्य स्वार्थ होते है जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से होता है किसी व्यवसाय विशेष से नही। ऐसे स्वार्थो के अन्तर्गत देश की बाहरी हमलो से रक्षा तथा आन्तरिक शान्ति, वैदेशिक सम्बन्ध, यातायात तथा परिवहन के साधन, न्याय व्यवस्था तथा सामान्य सामाजिक सेवा इत्यादि आ जाते है। इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज मे होता है, इन विषयो का नियमन एक ऐसी विधान सभा द्वारा होना चाहिए जिसके सदस्य भौगोलिक या प्रादेशिक चुनाव क्षेत्रो के आधार पर चुने गए हो। कुछ ऐसे भी हित या स्वार्थ हो सकते है जिनका सम्बन्ध विशेष आबादियो से ही हो, ये विषय स्थानीय (Local) विषय कहलाते है। गलियो तथा सडको का निर्माण तथा मरम्मत, पानी, रोशनी तथा सफाई का इन्तजाम, नागरिको की प्रारम्भिक शिक्षा तथा दवा-दारू की व्यवस्था इत्यादि का नियमन तथा नियन्त्रण स्थानीय सस्थाओ को सौपा गया है। स्थानीय सस्थाओ की रचना आजकल की सी म्युनिसिपल कमेटियो के अनुसार होगी।

आर्थिक प्रजातन्त्र (Economic Democracy) की व्यवस्था भी उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है जिस प्रकार कि व्यावसायिक प्रजातन्त्र की, वस्तुत व्यावसायिक प्रजातन्त्र की पूर्णता आर्थिक प्रजातन्त्र द्वारा ही सम्भव है। आर्थिक प्रजातन्त्र के विभिन्न अर्थ हो सकते है परन्तु गिल्ड सोशलिस्टो के मतानुसार **आर्थिक प्रजातन्त्र का अर्थ है उद्योग-धन्धो के उत्पादन का उनमे काम करने वाले मजदूरो द्वारा नियन्त्रण।** इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था का नियन्त्रण मजदूरो के हाथ मे रहेगा। जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं कि प्रत्येक कारखाने मे काम करने वाले गिल्ड बना लेंगे, यही गिल्ड इस बात का फैसला करेगा कि उत्पादन की मात्रा क्या हो, मजदूरो के कार्य करने के कितने घटे हो, उन्हे किस तरह की मजदूरी दी जाए इत्यादि। उत्पादको के सघो के अतिरिक्त उपभोक्ताओ (Consumers) के भी सघ होगे, उत्पादको तथा उपभोक्ताओ दोनो का ही सहयोग परम आवश्यक है। दोनो ही मिलकर विभिन्न पदार्थो की कीमतो का, उन की उत्पादन मात्रा तथा प्रकृति का फैसला करेंगे।

इस प्रकार दोनो के संघो के स्थानीय तथा केन्द्रीय सगठन होगे। यद्यपि केन्द्रीय सगठन के आन्तरिक मामलो मे कम से कम दखल देंगे तो भी अनेक नीति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का फैसला इन्ही केन्द्रीय सघो द्वारा किया जाएगा। गिल्ड

सोशलिस्ट राज्य की शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध है। उनका विचार है कि राज्य शक्ति तथा आर्थिक नियन्त्रण का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। गिल्ड सोशलिस्टो के समाज मे तीन प्रकार की अधिकार सस्थाएँ है—(१) राजनैतिक सत्ता जिसका इस्तेमाल एक केन्द्रीय पार्लियामेण्ट करेगी और जिसका चुनाव प्रादेशिक चुनाव-व्यवस्था के आधार पर होगा, (२) स्थानीय सस्थाएँ (३) गिल्ड—जो आर्थिक सत्ता का नियन्त्रण करेंगे। गिल्ड व्यवस्था भी स्थानीय तथा केन्द्रीय विभागो मे विभाजित होगी। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि गिल्ड व्यवस्था के अन्तर्गत एक तो राजनैतिक प्रभु होगा, जिसका प्रतिनिधित्व राज्य करेगा, दूसरा आर्थिक प्रभु जिसका प्रतिनिधित्व गिल्ड करेंगे। गिल्ड समाज के अन्तर्गत राज्य की क्या स्थिति होगी, इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत शारीरिक मानसिक या बौद्धिक सभी प्रकार के श्रम करने वालो के स्वार्थो तथा हितो की रक्षा का प्रयत्न किया जाएगा।

गिल्ड समाजवाद के साधन (Methods of Guild Socialism)—ये अन्य प्रकार के समाजवादो से भिन्न हैं। वे हिंसात्मक साधनो के उपयोग की थोडी-बहुत आवश्यकता अवश्य ही स्वीकार करते हैं, अन्यथा उनका यकीन है कि गिल्ड सोशलिस्ट समाज की स्थापना वैधानिक तथा शान्तिपूर्ण साधनो से भी सम्भव है। उनका कथन है कि यह बिलकुल असम्भव नही कि पूजीपति समाजवाद के प्रचार द्वारा पराजित न किए जा सकें। समाजवादी प्रचार द्वारा जन-साधारण मे समाजवादी चेतना के उत्पन्न हो जाने पर पूजीपति स्वय डर कर कारखानो का नियन्त्रण मजदूरो के हाथ में सौंप दें। परन्तु अधिक व्यावहारिक तथा उपयोगी व्यवस्था तो वह है कि मजदूरो का शक्तिशाली सगठन किया जाए, इस सगठन का आधार मौजूदा ट्रेड यूनियन हो सकती हैं। परन्तु ट्रेड यूनियनों का सगठन वैज्ञानिक नही। इनका सगठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि कल गिल्ड समाजवादी व्यवस्था के स्थापित होने पर इन्हें गिल्ड मे बदला जा सके। इस समय ट्रेड यूनियन के सदस्यो मे सभी प्रकार के उद्योग-धन्धो के काम करने वाले व्यक्ति शामिल होते हैं, इस व्यवस्था को बदल देना चाहिए। एक ट्रेड यूनियन मे एक ही उद्योग के सभी कर्मचारी शामिल होने चाहिएँ। कल समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत यही ट्रेड यूनियन उस उद्योग का नियन्त्रण अपने हाथ मे ले लेगी।

मौजूदा हालत मे मजदूरो को ट्रेड यूनियनो द्वारा मिल मालिको के सम्मुख अपनी मागें पेश करनी चाहिएँ और धीरे-धीरे अपना नियन्त्रण उत्पादन व्यवस्था पर बढाकर पूँजीपतियो को उनकी मौजूदा स्थिति से हटाने की कोशिश करनी चाहिए। पहले-पहल तो मजदूर-सघ यह माग करे कि फोरमैन के चुनाव तथा उसको हटाने का अधिकार मजदूरों को होना चाहिए। इसी तरह धीरे-धीरे उन्हे कारखाने में काम करने वाले ओवरसीयर तथा मैनेजर इत्यादि के चुनाव तथा उनको उनके पद से हटाने के अधिकार की माग भी करनी चाहिए। अन्त में एक दिन कारखाने के सभी पदाधिकारियो की नियुक्ति का तथा उनको उनके पद से हटाने का अधिकार

मजदूर वर्ग को मिल जाएगा ।

इस साधन के अतिरिक्त दूसरा साधन 'सामूहिक समझौता' (Collective contract) का है । इस साधन के अन्तर्गत मजदूर-सघ मिल मालिक से समझौता कर लेता है और एक निश्चित रकम को प्राप्त कर सम्पूर्ण उत्पादन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है । तदनन्तर मजदूर सघ ही उत्पादन की प्रकृति वेतन तथा अन्य विषयो का निर्णय करता है ।

गिल्ड समाज मे राज्य का स्थान—क्या होगा ? इस विषय मे मतभेद है । राज्य की प्रकृति तथा अन्य समुदायो की प्रकृति तो एक समान समझी जाती है और इस कारण उसे नैतिक तथा कानूनी रूप से उच्च सत्ता का अधिकारी नही माना जाता । दरअसल यह कहना अधिक सत्य होगा कि गिल्ड सोशलिस्ट प्रभु सत्ता सम्पन्न राज्य के विरोधी है । वे राज्य समाजवाद के इसलिए भी विरोधी हैं कि वह राज्य को पर्याप्त सत्ता सम्पन्न बना देता है । राज्य की शक्ति को कम रखना अधिक उचित समझा जाता है । परन्तु वे राज्य को पूरी तरह खत्म नही कर देना चाहते, इस विषय मे वे सिण्डिकलिस्टो से सहमत नही ।

यह तो हम पहले देख आए हैं कि गिल्ड सोशलिस्ट राज्य को थोडे से राज-नीतिक कर्त्तव्य ही सौपते हैं । इस प्रकार गिल्ड सोशलिस्ट समाज के अन्तर्गत राज्य, देश की अन्दरूनी तथा बाहर की रक्षा, विदेश नीति, कर तथा कानून इत्यदि से सम्बन्धित कुछ विशेष कर्त्तव्य ही पालन करता है ।

गिल्ड सोशलिस्ट विचारको मे स्वय ही राज्य के स्वरूप तथा कर्त्तव्यो के विषय मे एक मत नही । हाबसन का कथन है कि राज्य प्रभुता सम्पन्न है यद्यपि उसका उद्देश्य सामाजिक सेवा है। कोल ऐसा नही मानता । हाबसन राज्य का कल्याणकारी स्वरूप पेश करता है उसका कथन है कि राज्य व्यक्ति की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का प्रमुख साधन है । वह व्यक्ति के नागरिक सम्बन्धो की सामूहिक अभिव्यक्ति है । इस स्थिति मे राज्य का कर्त्तव्य विभिन्न मजदूर-सघो के पारस्परिक झगडो को सुल-झाना है । हाबसन इसके अतिरिक्त राज्य के प्रशासन, न्याय, रक्षा तथा उत्पत्ति और वितरण इत्यादि का नियन्त्रण प्रमुख कर्त्तव्य मानता है । औद्योगिक-सघो के ऊपर भी अन्तिम रूप से राज्य की अवस्थिति रहेगी । परन्तु राज्य का स्वरूप प्रजातन्त्रात्मक होगा, राज कर्मचारी नागरिको के सेवक होगे, उनके स्वामी नही ।

हाबसन के विपरीत कोल की राज्य विषयक कल्पना विभिन्न है । कोल राज्य की प्रभुता का कडा समालोचक है । उसका कथन है कि राज्य को थोडे से थोडे कार्य सौंपने चाहिए और राज्य सत्ता का व्यापक विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए । उत्पादन का कार्य मजदूर सघो को करना चाहिए और उनकी कार्यवाहियो का नियमन केन्द्रीय सघ द्वारा होना चाहिए, किसी भी हालत मे उद्योगो का नियन्त्रण राज्य को नही सौंपना चाहिए । कोल तथा उसके समर्थक उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हैं । गिल्ड समाज व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादको (Producers) तथा उपभोक्ताओ (Consumers) के बीच भेद-भाव या झगड़ा उत्पन्न हो सकता है । उसका फैसला

सोशलिस्ट राज्य की शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध
शक्ति तथा आर्थिक नियन्त्रण का अधिक से अधि
गिल्ड सोशलिस्टो के समाज मे तीन प्रकार की अधि
सत्ता जिसका इस्तेमाल एक केन्द्रीय पार्लियामेण्ट करे
चुनाव-व्यवस्था के आधार पर होगा, (२) स्थानीय
सत्ता का नियन्त्रण करेंगे। गिल्ड व्यवस्था भी स्थ
विभाजित होगी। कभी-कभी यह भी कहा जाता
एक तो राजनैतिक प्रभु होगा, जिसका प्रतिनिधित्व
जिसका प्रतिनिधित्व गिल्ड करेंगे। गिल्ड समाज
होगी, इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत शारीरिक मा
श्रम करने वालो के स्वार्थो तथा हितो की रक्षा का

गिल्ड समाजवाद के साधन (Methods o
प्रकार के समाजवादो से भिन्न हैं। वे हिंसात्मक
आवश्यकता अवश्य ही स्वीकार करते हैं, अन्यथा उ
समाज की स्थापना वैधानिक तथा शान्तिपूर्ण साधन
है कि यह बिलकुल असम्भव नही कि पूजीपति सम
किए जा सकें। समाजवादी प्रचार द्वारा जन-साधार
हो जाने पर पूजीपति स्वय डर कर कारखानो क
सौंप दें। परन्तु अधिक व्यावहारिक तथा उपयोगी
शक्तिशाली सगठन किया जाए, इस सगठन का
सकती हैं। परन्तु ट्रेड यूनियनो का सगठन वैज्ञानिव
से किया जाना चाहिए कि कल गिल्ड समाजवादी
गिल्ड मे बदला जा सके। इस समय ट्रेड यूनियन वे
धन्धो के काम करने वाले व्यक्ति शामिल होते हैं,
एक ट्रेड यूनियन मे एक ही उद्योग के सभी कर्मच
समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत यही ट्रेड यूनियन
हाथ मे ले लेगी।

मौजूदा हालत मे मजदूरो को ट्रेड यूनियन
अपनी मागें पेश करनी चाहिएँ और धीरे-धीरे अप
बढ़ाकर पूँजीपतियो को उनकी मौजूदा स्थिति से
पहले-पहल तो मजदूर-सघ यह माग करे कि फो
का अधिकार मजदूरों को होना चाहिए। इसी
में काम करने वाले ओवरसीयर तथा मैनेजर इ
पद से हटाने के अधिकार की माग भी करनी चा
के सभी पदाधिकारियो की नियुक्ति का तथा उनक

एक तो राजनीतिक और दूसरा आर्थिक। परन्तु दोनो का विभेद व्यावहारिक रूप से सर्वथा असम्भव है। राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध इतने घुले-मिले है कि उन्हे एक दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। राज्य केवल राजनीतिक सम्बन्धो के नियमन के लिए है, उसका कर्त्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की देखभाल, सन्धि तथा युद्ध घोषणा इत्यादि है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध व्यापार इत्यादि अनेक आर्थिक तत्त्वो से भी प्रभावित होते है। युद्धकालीन स्थिति मे राज्य को आर्थिक विषयो का नियन्त्रण करना होता है, विदेशी नीति की सफलता भी राज्य की अर्थ-व्यवस्था के शक्तिपूर्ण सगठन पर आश्रित है। गिल्ड सोशलिस्ट दो पार्लियामेण्ट स्थापित करते हैं --एक राजनीतिक मामलो के लिए, दूसरी आर्थिक मामलो के लिए। दोनो के मतभेद दूर करने की क्या व्यवस्था होगी ? यह स्पष्ट नही।

(६) गिल्ड सोशलिज्म द्वारा समर्थित व्यावसायिक प्रजातन्त्र प्रणाली की भी तीव आलोचना की जाती है। यह समझा जाता है कि यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध है। फिर राष्ट्र की पार्लियामेण्ट मे किन-किन हितो को प्रतिनिधित्व दिया जाना है और किस आधार पर, यह बिलकुल भी स्पष्ट नही।

(७) मजदूरो द्वारा यदि उद्योगो का नियन्त्रण किया जायगा तो उसके फल-स्वरूप उत्पादन मे शिथिलता, अराजकता तथा अनुशासन विहीनता इत्यादि अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाएँगी।

(८) अन्त मे हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि गिल्ड समाजवाद एक व्याव-हारिक सिद्धान्त नही। इसका परिणाम विभिन्न मजदूर सघो मे पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष तथा कलह होगा। सभी उद्योग एक दूसरे पर निर्भर है, यदि उन मे आपस मे सह-योग नही होगा तो राष्ट्रीय उद्योग-व्यवस्था का चल सकना भी असम्भव हो जाएगा।

गिल्ड व्यवस्था की अव्यावहारिकता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि यह मजदूर वर्ग का आन्दोलन नही, बल्कि थोडे से बुद्धिजीवियो के मस्तिष्क की उपज मात्र है। आज इस सिद्धान्त की कोई सर्वप्रियता नही और न ही इसे एक जीवित तथा शक्ति सम्पन्न सिद्धान्त समझा जाता है।

गिल्ड सोशलिस्टो ने राज्य द्वारा औद्योगिक तथा आर्थिक जीवन के नियन्त्रण के बुरे परिणामो की ओर से सचेत कर उनको दूर करने के लिए कुछ उपयोगी सुझाव अवश्य दिए, परन्तु गिल्ड सोशलिज्म की सफलता निषेधात्मक रूप मे अधिक हुई, यानि उसके द्वारा की गई मौजूदा समाज की आलोचना पर्याप्त सन्तुलित तथा यथार्थ है। उसके इस सुझाव मे भी पर्याप्त सत्य है कि मजदूरो को समाज मे आदर तथा सत्कार की स्थिति दी जानी चाहिए, उन्हे केवल मात्र वेतन भोगी ही नही समझना चाहिए। उद्योगो के नियन्त्रण मे उनको कुछ न कुछ अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। असली लोकतन्त्र की स्थापना आर्थिक लोकतन्त्र पर आधारित है, हमे इस आधारभूत सत्य को भी नही भूलना चाहिए।

यायालय द्वारा करवाया जा सकता है, राज्य द्वारा नही। विभिन्न सघो की नीतियो के पारस्परिक मेल-मिलाप के लिए कोल, एक 'कम्यून' की मौजूदगी पर जोर देता है। यह 'कम्यून' ही स्थानीय तथा केन्द्रीय सस्थाओ के सम्बन्धो मे ताल-मेल पैदा करेगा।

कुछेक गिल्ड सोशलिस्ट सिण्डिकलिस्टो की भान्ति राज्य के भावी स्वरूप के विषय मे अभी कुछ कहने को तैयार नही। उनका कथन है कि परिस्थितियो के अनुसार अपने आप सभी कुछ स्पष्ट हो जाएगा।

गिल्ड सोशलिज्म की आलोचना –(१) गिल्ड समाजवाद गलत मनोविज्ञान तथा भ्रान्त धारणाओ पर आधारित है। यह समझा जाता है कि मनुष्य स्वभावत ही समाज सेवा भावना सम्पन्न है और उत्पादन पद्धति पर नियन्त्रण के अधिकार को प्राप्त कर वह एकचित्त से समाज-कल्याण के लिए ही सम्पूर्ण उत्पादन पद्धति का सचालन करेगा। परन्तु यह धारणा गलत है, मनुष्य मे स्वार्थ भावना है और आर्थिक मामलो मे यह और भी अधिक स्पष्ट तथा तीव्र है। इस प्रकार गिल्ड सोशलिजम की सफलता मे सन्देह है।

(२) गिल्ड सोशलिस्ट उत्पादन की व्यवस्था का नियन्त्रण उत्पादको को सौप देता है। परन्तु क्या मजदूर सदा ही उपभोक्ताओ के हितो का ध्यान रख सकेंगे? बहुत सम्भव है मजदूर वर्ग अपने स्वार्थवश उपभोक्ताओ से सहयोग ही न करे?

(३) गिल्ड सोशलिस्टो मे आपस मे बडा तीव्र मतभेद है, विशेष रूप से गिल्ड सोशलिस्ट समाज मे राज्य की स्थिति पर। हम ऊपर देख आए हैं कि हावसन तो राज्य की प्रभुता को स्वीकार करता है, परन्तु कोल उसे सामान्य सामाजिक समुदायो के अनुरूप समझता है। फिर वे राज्य की अन्तिम नियन्त्रण तथा नियमन करने की शक्ति को स्वीकार नही करते। विभिन्न सघो मे मनमुटाव पैदा हो जाने पर उन के झगडो का फैसला कौन करेगा? सघवाद के आधार पर आधारित समाज मे राज्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। विभिन्न समुदाय विभिन्न स्वार्थों तथा हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे सामान्य जनता के हित की बात नही सोच सकते। सामान्य जनता के हितो की रक्षा राज्य द्वारा ही सम्भव है।

(४) गिल्ड समाजवादियो का एक बडा दोष उनकी अस्पष्टता तथा अन्तरविरोध है। अस्पष्टता की ही वजह है कि राज्य के स्वरूप को भी स्पष्ट रूप से हमारे सामने नही रख पाते। यही नही, गिल्ड समाज की स्थापना मे किन साधनो को इस्तेमाल मे लाना चाहिए, इस विषय मे भी मतभेद तथा पर्याप्त अस्पष्टता है। वे स्पष्ट रूप से न तो क्रान्तिकारी साधनो का ही समर्थन करते है और न सवैधानिक साधनो का। उनकी कार्य पद्धति भी पर्याप्त दोषपूर्ण है। उत्पादन पर नियन्त्रण स्थापित करने के जिन साधनो का उन्होंने जिक्र किया है वे बच्चो के से हैं। क्या ऐसे तरीको से वस्तुत उत्पादन के साधनो पर नियन्त्रण स्थापित कर पूँजीपतियो को पदच्युत किया जा सकता है? कभी नही, पूँजीपति वर्ग बहुत चतुर तथा साधन सम्पन्न है। उसकी शक्ति का कभी भी गलत अनुमान नही लगाना चाहिए।

(५) गिल्ड सोशलिस्ट एक राज्य मे दो प्रभुओ की स्थापना करते है।

एक तो राजनीतिक और दूसरा आर्थिक। परन्तु दोनो का विभेद व्यावहारिक रूप से सर्वथा असम्भव है। राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध इतने घुले-मिले है कि उन्हे एक दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। राज्य केवल राजनीतिक सम्बन्धो के नियमन के लिए है, उसका कर्त्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की देखभाल, सन्धि तथा युद्ध घोषणा इत्यादि है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध व्यापार इत्यादि अनेक आर्थिक तत्त्वो से भी प्रभावित होते है। युद्धकालीन स्थिति मे राज्य को आर्थिक विषयो का नियन्त्रण करना होता है, विदेशी नीति की सफलता भी राज्य की अर्थ-व्यवस्था के शक्तिपूर्ण सगठन पर आश्रित है। गिल्ड सोशलिस्ट दो पार्लियामेण्ट स्थापित करते हैं--एक राजनीतिक मामलो के लिए, दूसरी आर्थिक मामलो के लिए। दोनो के मतभेद दूर करने की क्या व्यवस्था होगी ? यह स्पष्ट नही।

(६) गिल्ड सोशलिज्म द्वारा समर्थित व्यावसायिक प्रजातन्त्र प्रणाली की भी तीव्र आलोचना की जाती है। यह समझा जाता है कि यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध है। फिर राष्ट्र की पार्लियामेण्ट मे किन-किन हितो को प्रतिनिधित्व दिया जाना है और किस आधार पर, यह बिलकुल भी स्पष्ट नही।

(७) मजदूरो द्वारा यदि उद्योगो का नियन्त्रण किया जायगा तो उसके फल--स्वरूप उत्पादन मे शिथिलता, अराजकता तथा अनुशासन विहीनता इत्यादि अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाएँगी।

(८) अन्त मे हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि गिल्ड समाजवाद एक व्यावहारिक सिद्धान्त नही। इसका परिणाम विभिन्न मजदूर सघो मे पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष तथा कलह होगा। सभी उद्योग एक दूसरे पर निर्भर है, यदि उन मे आपस मे सहयोग नही होगा तो राष्ट्रीय उद्योग-व्यवस्था का चल सकना भी असम्भव हो जाएगा।

गिल्ड व्यवस्था की अव्यावहारिकता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि यह मजदूर वर्ग का आन्दोलन नही, बल्कि थोडे से बुद्धिजीवियो के मस्तिष्क की उपज मात्र है। आज इस सिद्धान्त की कोई सर्वप्रियता नही और न ही इसे एक जीवित तथा शक्ति सम्पन्न सिद्धान्त समझा जाता है।

गिल्ड सोशलिस्टो ने राज्य द्वारा औद्योगिक तथा आर्थिक जीवन के नियन्त्रण के बुरे परिणामो की ओर से सचेत कर उनको दूर करने के लिए कुछ उपयोगी सुझाव अवश्य दिए, परन्तु गिल्ड सोशलिज्म की सफलता निषेधात्मक रूप मे अधिक हुई, यानि उसके द्वारा की गई मौजूदा समाज की आलोचना पर्याप्त सन्तुलित तथा यथार्थ है। उसके इस सुझाव मे भी पर्याप्त सत्य है कि मजदूरो को समाज मे आदर तथा सत्कार की स्थिति दी जानी चाहिए, उन्हे केवल मात्र वेतन भोगी ही नही समझना चाहिए। उद्योगो के नियन्त्रण मे उनको कुछ न कुछ अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। असली लोकतन्त्र की स्थापना आर्थिक लोकतन्त्र पर आधारित है, हमे इस आधारभूत सत्य को भी नहीं भूलना चाहिए।

१७७ अराजकतावाद (Anarchism)

राज्य के कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित सिद्धान्तो मे अराजकतावाद भी एक प्रमुख सिद्धान्त है। अराजकतावाद के दो रूप मिल जाते हैं, एक तो व्यक्तिवादी है और दूसरा साम्यवादी। दोनो ही राज्य की समाप्ति के पक्ष मे हैं, परन्तु व्यक्तिवादी निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं,। साम्यवाद मे विश्वास करने वाले अराजकतावादी निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के खत्म करने के हक मे हैं। वर्तमान युग के अराजकतावादी अधिकाश मे साम्यवादी हैं, यही कारण है कि हमने अराजकतावाद को भी समाजवाद के अन्तर्गत रखा है।

साम्यवाद और अराजकतावाद मे पर्याप्त साम्य है। मार्क्स का कथन है कि पूंजीवादी व्यवस्था के खत्म होने पर अन्तरिम काल (Interim period) के लिए तो अवश्य ही राज्य मौजूद रहेगा परन्तु अन्त मे राज्य खत्म हो जाएगा और एक वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज उत्पन्न हो जाएगा। मार्क्सवाद का अन्तिम उद्देश्य एक अराजक समाज है। अराजकतावाद तथा साम्यवाद दोनो ही अपनी उद्देश्य सिद्धि के लिए विभिन्न साधनो को अपनाते हैं। साधन के आधार पर और राज्य के स्वरूप के विषय मे दोनो मे काफी मतभेद है।

अराजकतावाद क्या है ? अराजकतावाद समाज के उस सगठन का सिद्धान्त है जो राज्यविहीन होगा। अराजकतावाद के प्रमुख आचार्य प्रिंस क्रोपाटकिन (Kropotkin) के शब्दों मे "**अराजकतावाद जीवन तथा आचरण के उस सिद्धान्त या वाद को कहते हैं, जिसके अधीन राज्यविहीन समाज की कल्पना की जाती है। इस समाज मे व्यवस्था बनाये रखने के लिए किसी कानून अथवा सत्ता के आदेशो का पालन लाजमी नहीं होगा। यह सामजस्य उत्पादन तथा खपत तथा एक सभ्य प्राणी की अनेक प्रकार की अनन्त आवश्यकताओं तथा आकाक्षाओं की सन्तुष्टि के लिए स्वतन्त्र रूप से सगठित विभिन्न प्रादेशिक तथा व्यावसायिक समुदायो के ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र समझौते से उत्पन्न होगा।**"[1] हक्सले (Huxley) के मतानुसार "**अराजकतावाद समाज की वह स्थिति है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपना शासक होगा।**"[2] इस प्रकार अराजकतावाद की स्थिति मे समाज मे न कानून होगा और न शासन।

अराजकतावाद का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के लिए वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्ति की परिस्थितियो को उत्पन्न करना है। उनका कथन है कि व्यक्ति की

---

1 "Anarchism is a principle or theory of life and conduct under which society is conceived without a government—harmony in such a society being obtained not by submission to law, or by obedience to any authority, but by free agreements conducted between the various groups, territorial and professional, freely constituted, for the sake of production and consumption, as also for the satisfaction of the infinite variety of needs and aspirations of a civilized being"—*Kropotkin*

2 "Anarchy is a state of society in which the rule of each individual by himself is the only Government"—*Huxley*

वास्तविक स्वतन्त्रता की मौजूदगी इस समाज मे सम्भव नही, क्योकि मौजूदा समाज मे राज्य अनेक ऐसी पाबन्दियो को लगाता है जो कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य के वास्तविक हित मे नही हो सकती। व्यक्तिवादियो तथा अराजकतावादियो के व्यक्ति स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारो मे पर्याप्त साम्य है। परन्तु अराजकतावादियो का दृष्टिकोण साम्यवादी है, जिसमे व्यक्ति को एक ग्रुप या समुदाय का अनिवार्य सदस्य समझा जाता है। अराजकतावादियो का उद्देश्य व्यक्ति को पूँजीवादी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के बन्धनो से मुक्त करने के अतिरिक्त उसे परम्परागत अन्धविश्वास पूर्ण धार्मिक तथा नैतिक आचरण सम्बन्धी बन्धनो से स्वतन्त्र करवाना भी है। "उनके लिए राज्य तथा पूँजीवाद के अतिरिक्त धार्मिक अन्ध-परम्परा भी व्यक्ति स्वतन्त्रता के लिए बाधक है।"

अराजकतावाद का विकास—अराजकतावादी विचारधारा का प्रचलन नया नही, काफी पुराना है। यूनानी तथा चीनी दार्शनिको के विचारो मे भी अराजकतावाद के दर्शन हो जाते है। यूनान के स्टोइक दार्शनिको का मत है कि राज्य की उपस्थिति आत्मानुभूति (Self-realisation) के लिए घातक है। सब प्रकार से सुखी तथा सद्गुणी जीवन की अनुभूति राज्य मे रहते हुए सम्भव नही। इस प्रकार चीनी विचारक "च्वांग जू का विचार था कि एक व्यक्ति का दूसरे पर शासन मानव प्रकृति के सर्वथा विपरीत है।" इसी प्रकार के विचार हमे पुराने क्रिश्चियन विचारको मे भी मिल जाते है।

परन्तु आधुनिक युग मे अराजकतावादी दर्शन का प्रारम्भ औद्योगिक उन्नति के अनन्तर हुआ। उद्योगवाद के प्रचलन के अनन्तर सभी जगह मजदूरो की स्थिति बहुत खराब थी। उनकी स्थिति का विभिन्न प्रकार से अध्ययन किया गया। फ्रेंच विचारक प्रोधा ने वैयक्तिक सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्वेषण करते हुए उसे चोरी माना। उसके मतानुसार राज्य इस चोरी का सरक्षक है, राज्य के अन्तर्गत ही अन्याय, अत्याचार तथा शोषण सम्भव है। राज्य के खत्म करने पर यह सब अत्याचार पूर्ण व्यवस्थाएँ खत्म हो सकती हैं। अगर आवश्यकतावश राज्य को रखना भी पड़े तो भी उसे थोडी-से थोडी मात्रा मे रहना चाहिए।

प्रोधा के अतिरिक्त बाकुनिन तथा प्रिंस क्रोपाटकिन अराजकतावाद के प्रमुख विचारक हैं। बाकुनिन (Bakunin) तथा क्रोपाटकिन (Kropotkin) दोनो ही रूस के साम्यवादी आन्दोलन से सम्बन्धित थे। बाकुनिन प्रारम्भ मे मार्क्स से मिलकर कार्य करता रहा, उसके बाद भावी साम्यवादी समाज मे राज्य की स्थिति के विषय मे मतभेद उत्पन्न होने पर दोनो एक दूसरे से अलग होगए। बाकुनिन के विचारो मे स्पष्टता नही, उनमे शिथिलता भी मिल जाती है, कही-कही आत्म विरोध भी। प्रिंस क्रोपाटकिन ही अराजकतावाद का सब से अधिक कुशल तथा प्रबल समर्थक है, उसने अराजकतावाद के रूप की सविस्तार बुद्धिसगत विवेचना की है। महात्मा गाधी तथा टालस्टाय अराजकतावादी समझे जाते हैं, परन्तु दोनो ही समाज मे अहिंसा तथा शान्ति पूर्ण साधनो से परिवर्तन के समर्थक हैं। गाडविन, मेक्स टर्नर, बेंजामिन टकर इत्यादि अन्य विचारको ने भी अराजकतावाद का समर्थन किया है। परन्तु प्रिंस

क्रोपाटकिन की सी स्पष्टता उनके विचारों मे नही मिलती। प्रिंस क्रोपाटकिन ने भावी अराजकतावादी समाज की रूप-रेखा का भी स्पष्ट विवरण दिया है।

अराजकतावाद के मूल सिद्धान्त—अराजकतावाद का विवेचन करते हुए प्रिंस क्रोपाटकिन उसे ऐतिहासिक तथा विकासवादी स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न करता है। उसके मतानुसार विकासवाद के दो रूप हैं—(१) एक तो प्राकृतिक तथा सहज विकास, (२) दूसरा आकस्मिक विकास। दोनो की मौजूदगी मानव समाज तथा मानव शरीर मे मिल जाती है। वैयक्तिक जीवन मे यू तो विकास की लहर अपने प्रकृत रूप मे धीरे-धीरे से चलती रहती है, परन्तु जब कभी उसका स्वाभाविक विकास कुछ विशेष बाधाओ के कारण रुक जाता है तो उस समय अचानक परिवर्तन हो जाते हैं। मानवीय शरीर के विकास का यही क्रम समाज पर भी लागू होता है। समाज मे जब कभी नये विचारो तथा आदर्शों का निहित स्वार्थों द्वारा विरोध होता है तो उस समय क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं। समाज मे विकासवादी तथा क्रान्तिकारी दोनो ही प्रकार के परिवर्तन लाजमी है। क्रान्तिकारी परिवर्तन भी दरअसल विकासवादी परिवर्तन का एक प्रकार ही है।

सामाजिक विकास मे क्रोपाटकिन के अनुसार पारस्परिक सहयोग (Co-operation) का विशेष महत्त्व है। सहयोग मानवीय जीवन का ही नही अपितु पाशविक जीवन का भी एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। क्रोपाटकिन स्पैन्सर के इस मत को नही मानता कि सघर्ष ही सामाजिक जीवन का प्रमुख तत्त्व है और प्रतियोगिता द्वारा ही स्वस्थ् सामाजिक तत्वो का विकास सम्भव है। स्पैन्सर का कथन है कि सघर्ष द्वारा उपयुक्ततम का चुनाव होता है। क्रोपाटकिन इन बातो को नही मानता। क्रोपाटकिन का यकीन है कि मानव जीवन का विकास ही नही अपितु उसका पृथ्वी पर जिन्दा रह सकना भी पारस्परिक सहयोग से ही सम्भव है। अपनी पुस्तक 'Mutual Aid a Factor of Education' मे क्रोपाटकिन ने बड़े विस्तारपूर्वक इस बात को साबित करने का प्रयत्न किया है कि पारस्परिक सहयोग का असूल मानवीय जीवन मे ही नही अपितु पशु जीवन मे भी काम कर रहा है और उसी से ऊँचे उद्देश्यो की प्राप्ति सम्भव है। सहयोग की भावना सामाजिक न्याय, सामाजिक सगठन तथा सामाजिक एकता इत्यादि उद्देश्यो के रूप में प्रगट होती है।

अराजकतावाद का मुख्य आधार आपस का सहयोग है। इस सहयोग की भावना के विस्तार मे प्रिंस क्रोपाटकिन के विचार के अनुसार तीन मुख्य बाधाएँ हैं—

(१) राज्य (State)
(२) निजी सम्पत्ति का अधिकार (Private property)
(३) धर्म (Religion)

अराजकतावादियों द्वारा राज्य का विरोध—सभी अराजकतावादी एक बात पर सहमत हैं, वह है राज्य का विरोध। वे सभी राज्य को न केवल अनावश्यक समझते हैं अपितु अप्राकृतिक भी। प्रिंस क्रोपाटकिन ने राज्य की अप्राकृतिकता तथा अनावश्यकता का बड़ा विशद् विवेचन किया है। उसका कथन

है कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक सहयोग भावना के विरुद्ध है। राज्य के सगठन, कार्य तथा प्रकृति का आधार मानव मन की गलत मनोवैज्ञानिक व्याख्या है, राज्य समझता है कि मनुष्य परस्पर झगडने तथा लडने वाला प्राणी है, यह बिलकुल गलत है। राज्य दवाव तथा हिंसापूर्ण साधनो मे यकीन करता है परन्तु मनुष्य व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास स्वैच्छिक कार्यो द्वारा ही सम्भव है, दण्ड के डर से किए कार्यो द्वारा सम्भव नही।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी राज्य का उदय बहुत पहले नही हुआ। राज्य के बिना भी मनुष्य रहते आए है और अच्छी तरह रहते आए हैं। सदियो तक मानवीय समाज मे उनके आपस के सम्बन्धो के नियमन के लिए राजनीतिक कानूनो की मौजूदगी नही थी। लोगो के आपसी सम्बन्धो का नियमन परम्परागत रीति-रिवाजो से होता था। इस दशा मे लोग मौजूदा हालत से अधिक सुखी, समृद्ध तथा सतुष्ट थे। राज्य तथा राज्य के वनाए हुए कानूनो का उदय तो वर्तमान युग मे हुआ जबकि समाज का दो विभिन्न वर्गो मे बँटवारा हो चुका था। राज-नियम तथा राज्य-शासन व्यवस्था का प्रयोग आर्थिक दृष्टि से ऊँचे वग ने अपने हित मे किया। उसने राज्य शक्ति द्वारा शोषण-व्यवस्था को वनाए रखा और गरीबो को दवाने का हर सम्भव प्रयत्न किया, ऐसे कानून वनाए गए जिनकी या तो आवश्यकता ही नही थी या फिर जिन द्वारा शोषको के अधिकारो की ही रक्षा की जा सकती थी, यानि जो निजी सम्पत्ति व्यवस्था की रक्षा करते थे।

राज्य का कोई भी रूप अराजकतावादियो को पसन्द नही। राज्य का प्रत्येक कार्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नष्ट करता है। राज्य का कोई भी स्वरूप हो, वह राजतन्त्र हो, कुलीनतन्त्र हो, प्रजातन्त्र हो, धनियो का ही हितैषी होता है। लोकतन्त्र की व्यवस्था असन्तोषजनक है, इसके अनेक कारण हैं, प्रथम तो कोई किसी का प्रतिनिधित्व नही कर सकता। वर्तमान काल की निर्वाचन व्यवस्था बहुत ही दोष पूर्ण है, वह मजदूरो को किसी भी हालत मे प्रतिनिधित्व नही देती। चुनाव व्यवस्था के कारण राजनीति कुछ लोगो का पेशा ही बन जाता है, वे लोग तरह-तरह की राजनैतिक पार्टियाँ वना लोगो को गुमराह करते है उनमे फूट डालते हैं और राजनीतिक जीवन मे झूठ, दम्भ तथा अनैतिकता को भरते हैं। प्रतिनिधि सस्थाओ की आवश्यकता ही नही, प्रत्येक प्रश्न पर जनता के मत को जानने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

इतिहास यह वात सावित करता है कि राज्य कभी भी किसी महान् मकसद को प्राप्त नही कर सका। इसके विपरीत इसके द्वारा मानव समाज के लिए अनेक कष्टो की ही वृद्धि हुई है। क्रोपाटकिन का कहना है कि क्या राज्य मजदूरो को पूँजीपतियो के शोषण से वचा सका है? क्या राज्य वेकार, अक्षम तथा वृद्ध लोगो की भूख तथा महामारियो से रक्षा कर सका है? राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता, भाषण तथा प्रेस की स्वतन्त्रता की तभी तक गारण्टी देता है जव तक कि उनका इस्तेमाल शोषक वर्ग के विरुद्ध नही किया जाता। अराजकतावादियो का विश्वास है कि राज्य

किसी भी रूप मे शोषितो के लिए इन्साफ प्राप्त नही कर सकता। समाजवादी राज्य भी इसी प्रकार दूषित है जिस प्रकार पूंजीवादी राज्य। राज्य की आवश्यकता तभी तक होती है जब तक कि निजी सम्पत्ति की व्यवस्था रहती है। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को खत्म करते ही राज्य की आवश्यकता भी खत्म हो जाती है। प्रिंस क्रोपाटकिन का कथन है कि राज्य लोगो की आन्तरिक तथा बाह्य खतरो से रक्षा भी नही कर सकता। अनेक बार राज्य द्वारा सगठित सेनाएँ तो हार गईं परन्तु स्वेच्छा पर आधारित जन-सेना ने बाहर के शत्रुओ को हरा दिया। इसी प्रकार आन्तरिक मामलो मे राज्य सेना की मौजूदगी मे भी जन-क्रान्तियां हुई और अन्याय तथा शोषण के आधार पर खडी व्यवस्थाओ को उखाड दिया गया। राज्य तो केवल मात्र शोषण का साधन है। जनता की इच्छा पर आधारित ग्रुपो या समुदायो मे ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का वास्तविक विकास सम्भव है।

राज-सत्ता का दूषित प्रभाव—एक मनुष्य का अन्य मनुष्य पर शासन दोष-है। शक्ति या सत्ता को पा कर मनुष्य का दिमाग विगड जाता है। शासन शक्ति अनेक अच्छे-भले मनुष्यो को भी दूषित कर देती है और उनमे अधिकार का मद उत्पन्न कर देती है। प्रिंस क्रोपाटकिन कहता है यह या वह मन्त्री आज लोगो को पसन्द नही। वह एक अत्यन्त उत्तम मनुष्य हो सकता था अगर उसके हाथ मे राज्य सत्ता न होती। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी एक बार निर्वाचित हो जाने पर और मन्त्री बन जाने पर वे यह सब भूल जाते है कि वे जनता के सेवक हैं, वे अपने आपको स्वामी ही समझने लग जाते है। राज्य सत्ता पाकर वे दूषित हो जाते है।

निजी सम्पत्ति व्यवस्था (System of private property) को प्रिंस क्रोपाटकिन ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भी अनुभूति मे दूसरी बडी बाधा माना है। दरअसल तो इसी अधिकार की रक्षा के लिए ही सम्पूर्ण शासक व्यवस्था की रचना की जाती हैं।

निजी सम्पत्ति व्यवस्था अन्याय पर आधारित है। इस के अन्तर्गत अल्पमत बहुमत द्वारा सदियो के परिश्रम से तैयार किए गए मूल्यो को हडप जाता है। क्रोपाट-किन फेवियन सोसाइटी की तरह सामाजिक मूल्य के सिद्धान्त में यकीन करता है। उसका कथन है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य सदियो के सामाजिक परिश्रम द्वारा उत्पन्न किया जाता है। सदियों के परिश्रम का फल इस तरह होता कि प्रत्येक पदार्थ के उत्पादन मे जिन मशीनो तथा साधनो को इस्तेमाल मे लाया जाता है, वे किसी एक मनुष्य द्वारा एक ही काल या युग मे तैयार नही किए जाते, वे सामूहिक प्रतिभा तथा सामूहिक परिश्रम के ही फल होते है।

जन साधारण मे वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था के फलस्वरूप गरीबी, बीमारी, अभाव, अशिक्षा, बेकारी इत्यादि अनेक दोषो का प्रादुर्भाव हुआ है। अत निजी सम्पत्ति व्यवस्था को जन-हित मे खत्म करना चाहिए। दूसरे शब्दो मे अराजकतावाद पूंजी-वाद की समाप्ति चाहता है।

समझते हैं, वे राज्य तथा निजी सम्पत्ति व्यवस्था के साथ-साथ धर्म के वहिष्कार के पक्ष मे भी है। धर्म का इस्तेमाल शासक तथा शोषक वर्ग ने अपनी उच्चता तथा शासन शक्ति को कायम रखने के लिए किया है। वे धर्म द्वारा जन-साधारण को बेवकूफ बनाते हैं। वह मनुष्य की तर्क शक्ति को कुण्ठित करता है और सत्य पर पर्दा डाल देता है। प्रिंस क्रोपाटकिन का कथन है कि धर्म जन-साधारण मे अज्ञान, मूढता तथा अन्धविश्वास फैलाता है। इसी मूढता तथा अन्धविश्वास के कारण जन-साधारण दूषित तथा भ्रष्ट व्यवस्थाओ को भी ईश्वरीय देन समझकर बर्दाश्त कर लेते है। धनी तथा निर्धन का भेद ईश्वर ने बनाया है, गरीब लोगो को अपने भाग्य से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए, अपने अधिकारो को प्राप्त करने के लिए सघर्ष नही करना चाहिए, इत्यादि शिक्षाएँ धर्म द्वारा दी जाती है। जब तक ऐसा अन्धविश्वास जन-साधारण मे फैला रहेगा, न तो शोषण व अन्याय ही खत्म होगा और न ही भ्रष्ट सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था ही खत्म होगी।

अराजकतावादी समाज की व्यवस्था—प्रिंस क्रोपाटकिन ने अराजकतावादी समाज की व्यवस्था का पर्याप्त विस्तृत विवरण दिया है। क्रोपाटकिन तथा बाकुनिन दोनो ने अराजकतावादी समाज का लगभग एक जैसा चित्र प्रस्तुत किया है। अराजकतावादी समाज की क्या रूप-रेखा होगी? प्रिंस क्रोपाटकिन का कथन है कि लोग सदा की तरह एक दूसरे के साथ मिलकर रहेगे, परन्तु उनका नियमन तथा नियन्त्रण सरकार द्वारा नही होगा। **प्रो० जोड ने इस स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस समाज की विशेषता व्यवस्था का अभाव नहीं वल्कि बल प्रयोग का अभाव होगा।** अराजकतावादी समाज का सगठन ऐच्छिक (Voluntary) समुदायो के आधार पर होगा। क्रोपाटकिन का कथन है कि ऐच्छिक समुदाओ का निर्माण मनुष्य की प्रवृति है। मौजूदा हालत मे भी हर जगह अनेक ऐच्छिक समुदाय होते है, इनका सम्बन्ध हमारे कलात्मक, सास्कृतिक तथा आर्थिक जीवन से होता है। ये राज्य के नियमन के विना ही पर्याप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए अपना कार्य करते है। इसी प्रकार राज्यविहीन (Stateless) समाज मे भी ऐसे अनेक समुदायो का सगठन रहेगा। ये समुदाय दो प्रकार के होते हैं—व्यवसायिक तथा प्रादेशिक। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य होगा। इन समुदायो के अधिकारियो का चुनाव समुदायो के सदस्य स्वय करेंगे, ये समुदाय अपने सघ बना सकते हैं। जो सदस्य समुदायो के नियमो को भग करेंगे उनका वहिष्कार किया जा सकता है। समुदायो के पारस्परिक झगडो का निपटारा पचायती अदालतो द्वारा हो जाएगा।

अराजकतावादी समाज मे अपराधो की सख्या बहुत घट जाएगी, क्योकि समाज का निर्माण न्याय तथा बराबरी के आधार पर होगा। अपराधो का कारण पूँजीवादी व्यवस्था है। इस व्यवस्था की अनुपस्थिति मे अपराधो की सख्या का घट जाना लाजमी है। यहाँ कही ऐसे अपराध हो, वहाँ प्रारम्भ मे नैतिक उपायो को इस्तेमाल मे लाना चाहिए। बाद मे अपराधी व्यक्ति को समाज से निकाला जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए सामूहिक हस्तक्षेप भी किया जा सकता है।

अराजकतावादी समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) है। आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के सभी क्षेत्रो मे विकेन्द्रीकरण के इस नियम का अनुसरण किया जायगा। अराजकतावादी समाज का आर्थिक सगठन साम्यवाद के आधार पर होगा। उत्पादन के सभी साधनो पर समाज का अधिकार होगा, प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन मे भाग लेगा। प्रत्येक व्यक्ति को समाज की प्रत्येक वस्तु पर अधिकार होगा। उत्पादन मे भी सभी हिस्सेदार होगे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार उत्पादन क्रिया में हिस्सा बटाना चाहिए, परन्तु सामाजिक उत्पादन का बटवारा आवश्यकता के अनुरूप होगा। आवश्यकता को कार्य से भी ऊपर रखना चाहिए और जीवित रहने के अधिकार को सर्वोच्च समझना चाहिए, तदनन्तर उन सभी लोगो के लिए जो काम करते हैं सुविधाजनक जीवन के अधिकार को स्वीकार करना चाहिए। प्रथम तो जीवन की आवश्यकता है उसके बाद दूसरी कोई चीज।

साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन बढेगा और मजदूरो के काम करने के घण्टे घट जाएँगे। वर्तमान समय मे भी उत्पादन तो जन-सख्या से अधिक होता है परन्तु पूजीवाद व्यवस्था के कारण उसका ठीक-ठीक बटवारा नही हो पाता। विज्ञान की सहायता से सबकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के निमित्त प्रचुर मात्रा मे उत्पादन हो सकता है। वर्गविहीन (Class-less) समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को इतना धन अवश्य मिल जाएगा कि जिससे वह अपना जीवन सुख पूर्वक बिता सके। सन्तुष्ट जीवन मे विज्ञान तथा सस्कृति का पूर्ण विकास हो सकेगा।

अराजकतावादियों के साधन क्या होंगे ? इस विषय मे मतभेद है। कुछ अराजकतावादी तो शान्तिपूर्ण साधनो के हक मे हैं। जोड का कथन है कि अराजकतावादी यह नही स्पष्ट कर पाते कि वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किन साधनों को इस्तेमाल मे लाएँगे।

प्रिंस क्रोपाटकिन का कथन है कि समाज विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार ही अराजकतावाद की ओर बढ रहा है। दिन प्रतिदिन समाज मे हजारो ऐसे ऐच्छिक समुदायो का विकास हो रहा है जो राज्य के अनेक कार्यो को अपने हाथ मे ले रहे हैं। ऐसे समुदायो के कार्य, व्यवहार तथा सगठन मे राज्य किसी प्रकार का भी दखल नही देता। यही समुदाय अपने आप राज्य की आवश्यकता को खत्म कर सकते हैं। परन्तु क्रोपाटकिन यह यकीन नही करता कि विकासवाद की इस प्रक्रिया (Process) का नतीजा राज्य के स्वाभाविक अन्त मे होगा। विकासवाद की प्रक्रिया का अन्तिम नतीजा क्रान्ति होगा। यह क्रान्ति यूरोप के किसी भी राज्य मे शुरू होकर सम्पूर्ण यूरोपीय महाद्वीप मे फैल सकती है। इस प्रकार की क्रान्ति प्रारम्भ मे अत्यन्त विध्वसक होगी, इसका फल मौजूदा समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था की समाप्ति मे होगा। परन्तु इस क्रान्ति का अग्रदूत कौन होगा ? क्रोपाटकिन, यह स्पष्ट नही कर पाता। प्रिंस क्रोपाटकिन ने अराजकतावाद के विषय में फैली अनेक भ्रान्तियो को दूर करने का प्रयत्न भी किया है। उसका कथन है अराजकतावाद का अर्थ अव्यवस्था नही, इसका मुख्य उद्देश्य राज्य की समाप्ति है। राज्य तथा शासन की समाप्ति का अर्थ यह नही कि राज्य मे

अव्यवस्था फैल जाएगी। राज्य मे व्यवस्था की स्थापना अनेक ऐच्छिक समुदायो द्वारा हो जाएगी। वह यह नही स्वीकार करता कि राजनीतिक अधिकारियो की अनुपस्थिति मे लोग समाज-विरोधी कार्य करेंगे, अपने समझौते तोड देंगे और किसी नियम का पालन नही करेंगे। क्रोपाटकिन मार्क्सवादियो की अन्तरिम सरकार की बात नही मानता। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना का अर्थ होगा क्रान्ति के सम्पूर्ण गुणो का अन्त।

क्रोपाटकिन अराजकतावाद के विरोधियो की इस बात को भी नही स्वीकार करता कि मनुष्य आम तौर पर काम चोर है, वह काम करना पसन्द नही करता। वह तो यह मानता है कि मनुष्य बेकार रहने के बजाय काम करना अधिक पसन्द करता है। आज लोगो के मन मे काम करने के प्रति उत्साह की भावना नही, परन्तु इसका कारण यह है कि लोगो को काम तो बहुत देर तक करना पडता है, मेहनत बहुत करनी पड़ती है परन्तु उसकी प्राप्ति कुछ नही होती। उसके श्रम का उपभोग पूंजी-पति करते हैं। अराजक समाज मे तो यह हालत नही रहेगी। अत स्वाभाविक रूप से ही लोगो मे काम करने की आदत होगी। अराजकतावादी यह भी नही मानते कि मनुष्य मे अपराध करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है या वह जान-बूझकर सामाजिक व्यवस्था को भग करने का प्रयत्न करता है। वस्तुत ये सब खराबियां मौजूदा समाज की शोषण तथा अन्याय व्यवस्था का ही फल है। मौजूदा समाज की समाप्ति के अनन्तर मनुष्य मे अपराध करने की प्रवृत्ति भी खत्म हो जाएगी। क्रोपाटकिन मनुष्य की स्वाभाविक उत्तरदायित्व भावना (Sense of responsibility) तथा सहयोग को बहुत महत्त्व देता है।

अराजकतावाद की आलोचना—(१) अराजकतावाद की कडी आलोचना की जाती है और यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त सर्वथा अव्यावहारिक तथा कल्पनावादी है। इतना ही नही खतरनाक भी है। राज्य को शोषण तथा अन्याय का अस्त्र मानना सर्वथा गलत है। हम पीछे भी देख चुके हैं कि राज्य द्वारा अनेक समाजोपयोगी कर्त्तव्य पूर्ण किये जाते हैं। राज्य केवल मात्र शारीरिक शक्ति की उच्चता पर आधारित नही, उसका नैतिक आधार भी है। वह हमारी इच्छा तथा सहमति पर कायम है। अगर ऐसा न हो तो वह आज तक कब का खत्म हो गया होता। यह कहना भी गलत है कि राज्य का प्रत्येक कार्य मनुष्य की स्वतन्त्रता पर एक पाबन्दी है। मनुष्य की स्वतन्त्रता की ऐसी परिभाषा बहुत संकुचित है, साथ ही वह भ्रम पूर्ण भी। स्वतन्त्रता का अर्थ जो कुछ हमारे मन मे आए उसको करना नहीं। सच्ची स्वतन्त्रता थोडे-बहुत बन्धनो के अधीन ही सम्भव है। राज्य नियमो की उपस्थिति के बिना किसी भी सामाजिक व्यवस्था का कायम रह सकना असम्भव है।

(२) अराजकतावादी मनुष्य प्रकृति की भ्रम पूर्ण व्याख्या करते हैं। वे उनकी सहयोग भावना को अधिक महत्त्व देते हैं, परन्तु उसकी असामाजिकता को भूल जाते हैं। हमे भूलना नही चाहिए कि सामाजिक मनुष्य मे उसका पशु भी छिपा हुआ है जो सामाजिक नियन्त्रण के अभाव मे उस पर हावी हो जाता है। हम हाब्स

की मनुष्य प्रकृति की एक पक्षीय व्याख्या के लिए उसकी चाहे कितनी निन्दा कर ले परन्तु हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि उसमे कुछ न कुछ सत्यांश अवश्य है। सच्चाई तो दरअसल यही है कि मनुष्य प्रकृति मे विरोधात्मकता है। उसके दैवीय तथा आसुरी दोनो ही पक्ष हैं। दोनो के नियमन तथा नियन्त्रण के लिए राज्य की परम आवश्यकता हैं। समाज मे असामाजिक तत्वो की कमी नहीं रहती उनकी उपस्थिति अनिवार्य सी है। उनके बिना तो पृथ्वी-लोक देव-लोक ही बन जाएगा, अत राज्य की उपस्थिति सुसभ्य, शील-सम्पन्न तथा शान्तिप्रिय सामाजिको की रक्षा के लिए आवश्यक है।

(३) अराजकतावादियो की सम्पूर्ण योजना अव्यावहारिक है। मनुष्य मे स्वाभाविक रूप से कार्य करने की प्रेरणा नही होती। वह आलस्य प्रिय है, काम काज किए बिना ही वह अपना जीवन बिताना चाहता है। काम करने वाले लोगो की सख्या थोडी और आलस्य पूर्ण जीवन बिताने वालो की सख्या अधिक होगी।

यह कहना भी गलत है कि मनुष्य सभी कार्यो को अपने विवेक के अनुसार करेगा और इस तरह नैतिक नियमो के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास करेगा। नैतिकता आन्तरिक है, बाह्य नही। इस कारण राज्य की नैतिक कर्त्तव्यो की पालना के लिए आवश्यकता ही नही। कुछ अश तक तो यह बात ठीक है परन्तु हम यह कैसे कह सकते है कि प्रत्येक मनुष्य अपने कल्याण के विषय मे स्वय ज्ञान सम्पन्न है।

(४) अराजक समाज वर्तमान युग के समाज के लिए ठीक नही। वर्तमान समाज अपने सगठन मे बहुत जटिल है, उसकी अनेक समस्याएँ है जिन का सुलझाव राज्यविहीन समाज द्वारा सम्भव नही। आज के औद्योगिक युग मे उत्पादन व्यवस्था भी सरल नही रही, उसका नियन्त्रण राज्य की सहायता से ही सम्भव है, उनके बिना नही। राज्य मे अपराध इत्यादि अनेक असामाजिक कार्यो के होने की सम्भावना रहती है, उनका निवारण कौन करेगा ?

अराजकतावाद ने राज्य तथा शासन के अनेक दोषो की ओर हमारा ध्यान खैंचा है, उनको दूर करने से ही राज्य के कल्याणकारी रूप का पूर्ण विकास सम्भव है। साथ ही हमे यह नही भूलना चाहिए कि राज्य बल का प्रयोग केवल कुछ विशेष अवस्थाओ मे ही कर सकता है, सर्वत्र नही।

Important Questions

	Reference
1 "Socialists are divided into a number of opposing schools, which are separated by acute differences both as regards their '*aims*' and their '*methods*'"—*Joad*	
Discuss with reference to the more important schools of socialism of recent times (*Pb 1944*)	Art 171 and others
2 "Marx is the first socialist writer whose work can be termed scientific He, not only sketched the kind of society which he desired, but he spoke in detail of the stages through which it must evolve"—*Joad* Discuss (*Pb 1945*)	Art 172

3 Compare and contrast the various forms of Socialism as regards aims, methods and programmes of action (*Agra 1942*) — Art 171 and others

4 Describe the theory of Communism as expounded by Marx What are the chief difficulties of the doctrine ? (*Pb 1943, 1941*) — Arts 172 and 173

5 Explain what is exactly meant by 'Communism' Examine the theory of the Dictatorship of the Proletariat (*Pb 1946*) — Art 173

6 Examine either Karl Marx's theory of surplus value or his materialist conception of history (*Pb 1949, 1954*) — Art 172

7. Explain the aims and objects of state socialism (*Pb 1947*)

Or

Make comparison between Socialism and Individualism

Or

Discuss the socialist s case for the extension of the functions of the government. (*Pb. 1937, Nag. 1942*) — Art 174

8 Write a short note on Syndicalism (*Pb 1949, 1952*)

Or

What is Syndicalism ? Discuss. (*Pb 1955 Sept*)

Or

Give some account of political theory of Sorel (*Pb 1944*) — Art 175

9 Briefly discuss theory of Guild Socialism (*Sept 1950*) (*Pb 1945*)

Or

What is Guild Socialism ? Discuss (*Pb 1955*) — Art 176

10. Write short note on the theory of Communism. (*Pb 1949, 1950*)

Or

"Communism is essentially a theory of method" Discuss (*Pb 1951*) — Art 173

11 "Anarchy is not the absence of order it is the absence of force "(Lowes Dickinson) Explain and discuss (*Pb 1943*)

Or

Write a short note on Anarchism (*Pb 1949, 1959*)

Or

What are the arguments used in support of Anarchism ? Are they convincing ? (*Pb 1951*)

Or

"The goals of Modern Communism and Anarchism are the same." Discuss (*Pb 1954*)

Or

Critically examine the theory of Anarchism. How does it differ from Communism and Socialism ? (*Ag. 1940, Pb. 1941 & 1939*) — Art 177

राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (४)

फासिज्म (Fascism)

१७८ फासिस्ट-दर्शन का परिचय

राज्य के कर्त्तव्यो की व्याख्या करने वाले अनेक आधुनिक सिद्धान्तो मे फासिज्म प्रमुख है। फासिज्म क्या है और उसके स्वरूप को किस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है, इसका उत्तर काफी कठिन है। क्योकि फासिस्ट दर्शन का आधार एक ओर तो व्यावहारिक राजनीति है, दूसरी ओर अनेक दार्शनिक मतवाद। फासिज्म का उदय एक ओर तो प्राचीनकाल से चले आ रहे राजनैतिक मतवाद के फलस्वरूप हुआ, दूसरी ओर मौजूदा राजनीतिक परिस्थितियो के परिणाम स्वरूप। फासिज्म एक प्रकार के राजनीतिक आन्दोलन के रूप मे पहले आया तत्पश्चात् उसके समर्थन के लिए सिद्धान्त की रचना की गई। यही कारण है कि यह कहा जाता है कि फासिज्म का कोई दर्शन नही। इस बात का समर्थन फासिस्ट आन्दोलन के प्रवर्त्तक मुसोलिनी के इस कथन द्वारा भी किया जाता है कि "**फासिज्म कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसकी प्रत्येक बात को विस्तार पूर्वक पहले ही स्थिर कर लिया गया हो। फासिज्म का उदय कार्य के औचित्य को साबित करने की आवश्यकता के कारण हुआ—इसी लिए फासिज्म सैद्धान्तिक होने की बजाए व्यावहारिक है।**" फासिस्ट नेता सिद्धान्त मे यकीन भी नही करते। मुसोलिनी सैद्धान्तिक वादविवाद से नफरत करता था। उसका कथन था कि "मेरा प्रोग्राम काम करना है वाद-विवाद नही।" दूसरी जगह वह कहता है कि "**फासिज्म वास्तविकता पर आधारित है, बोल्शविज्म सिद्धान्त पर · हम स्पष्ट तथा यथार्थ होना चाहते हैं। हम वाद-विवाद तथा सिद्धान्त के बादलो से बाहर निकलना चाहते हैं।**"[1]

यह ठीक है कि फासिज्म का कोई दर्शन नही जैसा कि कम्युनिज्म का है। साम्यवादी विचारधारा तर्क पर आधारित है, अनेक वर्षो तक उस पर वादविवाद होता रहा और उसके विभिन्न रूपो को स्पष्ट किया गया। फासिज्म की ऐसी कोई भी निखरी हुई विचारधारा नही। इस अस्पष्टता का एक कारण फासिज्म की अबौद्धिकता (Irrationalism) भी है। परन्तु इन सब के बावजूद भी फासिज्म का एक दार्शनिक आधार है। भारत के सुप्रसिद्ध राजनीति विचारक एम० एन० राय

---

1 "Fascism is based on reality, Bolshevism is based on theory ... we want to be definite and real We want to come out of the clouds of discussion and theory"—*Mussolini*

का कथन है कि फासिज्म यूरोप की अनेक ऐसी दार्शनिक पद्धतियो का विकसित तथा व्यावहारिक रूप है कि जिसका विकास पिछली अनेक सदियो से वहां होता रहा है। हीगल का आदर्शवाद; वर्गसा का अन्त प्रेरणावाद (Intutionism) तथा अबुद्धि-वाद (Irrationalism), नीत्शे का शक्ति सिद्धान्त (Will to Power) तथा अतिमानववाद का सिद्धान्त (Theory of superman) और सोरेल, परेटो तथा जेम्स का व्यवहारवाद सभी फासिज्म के आधार वनते हैं। सेवाइन तथा जार्ज काटलिन दोनो ही फासिज्म के दाशनिक आधार को स्वीकार करते है।"[1] यह वात अवश्य है कि फासिज्म के सिद्धान्त मे आत्मविरोध भरे पडे है, उसमे अवसर-वादिता के दर्शन हो जाते है।

नकारात्मक रूप से फासिज्म, व्यक्तिवाद, समाजवाद, उदारतावाद, पूंजीवाद तथा प्रजातान्त्रिक विचारधाराओ का विरोधी है। वह न तो व्यक्तिवाद तथा प्रजातन्त्र के आधार भूत सिद्धान्तो को ही स्वीकार करता है और न समाजवाद के। वह दोनो का विरोधी है। अपने व्यावहारिक रूप मे वह एक प्रकार के राज्य के नए रूप का समर्थन करता है।

१७६ फासिज्म की परिभाषा, उत्पत्ति तथा विकास

अग्रेजी के फासिज्म शब्द का विकास इटालियन भाषा मे 'फासियो' (Fascio) शब्द से हुआ जिसका अर्थ है लकडियो का समूह। इस प्रकार का सगठन एकता, अनुशासन तथा शक्ति का प्रतीक है। पुराने रोम मे लकडियो के समूह के साथ कुल्हाडी भी रहती थी, इस प्रकार प्राचीन रोमन भी इसे अनुशासन तथा शक्ति का प्रतीक मानते थे।

फासिज्म की एक निश्चित परिभाषा कर सकना अत्यन्त कठिन है, क्योकि ये एक राजनीतिक आन्दोलन के साथ-साथ एक राजनीतिकवाद भी वन गया है इसका रूप अस्पष्ट है और विचारो मे आत्म विरोध। जे० एम० वर्न्स (J S Burns) ने इसका रूप विवेचन इन शब्दो मे किया है "फासिज्म की परिभाषा करते हुए उसकी एक ऐसे राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलन के रूप मे व्याख्या की जा सकती है कि जिसका मक्सद एक नवीन राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है। इस व्यवस्था का आधार वे परम्पराएँ हैं जो हमारी यूरोपीयन सभ्यता का निर्माण करती है! इन परम्पराओ की रचना सर्वप्रथम तो रोमन साम्राज्य द्वारा हुई और तदनन्दर रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा। इसके विपरीत फासिज्म उस व्यक्तिवादी विचारधारा का खण्डन भी है जिसका प्रारम्भ सर्वप्रथम मतिवादी आन्दोलन मे हुआ, तदनन्तर धार्मिक सुधारवाद और फिर फ्रास की राज्यक्रान्ति मे!"[2]

---

1 "For better or worse it belonged to the evolution of European political ideas and practice and in that sense it was a philosophy."
—*Sabine*

2 "Fascism may be defined generally as a political and social movement having as its objects the re-establishment of a political

परन्तु फासिज्म के वास्तविक रूप का विवेचन तब तक सम्भव नहीं जब तक कि हम उन परिस्थितियो का विवरण न दे दें जिनके फलस्वरूप उसका उदय हुआ है। फासिज्म मुख्य रूप से एक राजनीतिक आन्दोलन है, उसका एक व्यवहारिक रूप है, अत उसकी आधारभूत मान्यताओ के विवेचन से पूर्व उसके जन्म के लिए उत्तरदायी परिस्थितियो का विश्लेषण आवश्यक है।

फासिस्ट विचारधारा का उदय इटली मे हुआ। विचारधारा के रूप मे इसके जन्म स्रोत भले ही अलग-अलग राज्यो मे मिल जाएँ, परन्तु एक विशुद्ध राजनीतिक आन्दोलन के रूप में इसका जन्म इटली मे हुआ। तत्पश्चात् वही इसकी विचारात्मक व्याख्या के प्रयत्न भी किये गये।

प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर इटली की राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ अत्यन्त निराशापूर्ण थी। इटली ने साम्राज्य निर्माण की आशा से प्रथम युद्ध मे ब्रिटेन तथा फ्रास का साथ दिया, परन्तु वर्साई सन्धिवार्ता के दौरान मे उसमे शामिल होने वाले इटेलियन प्रतिनिधियों को बहुत ही अपमानजनक परिस्थितियो का सामना करना पडा। उसके साम्राज्य निर्माण के स्वप्न टूट गये और युद्ध समाप्ति के अनन्तर मित्र राज्यो ने उससे अच्छा व्यवहार भी न किया।

इटली की आन्तरिक अवस्था तो महायुद्ध मे हारे राष्ट्रो से अधिक खराब थी। लोगो मे वर्साई की सन्धि के प्रति गहरा असन्तोष था। इधर युद्ध से लौटे सैनिको के लिए सरकार किसी काम काज की व्यवस्था न कर सकी, देश मे बेकारी फैली हुई थी। राजनीतिक दलो मे विद्वेष था, पार्लियामेण्ट्री शासन व्यवस्था असफल हो गई थी मुद्रा प्रसार (Inflation) से महगाई बढ गई थी, मजदूरो तथा किसानो मे अशान्ति तथा असन्तोष था। ऐसा कोई धन्धा नही था जहाँ की हडताल न हुई हो और जहाँ मालिको तथा मजदूरो मे सघर्ष न चल रहा हो। उत्पादन व्यवस्था सर्वथा टूट गई थी। इस अवस्था मे समाजवादी दल की सर्वप्रियता बढ चली, उसी के नेतृत्व मे जगह-जगह हडतालें भी करवाई गई। पार्लियामेण्ट मे भी उन्हे पर्याप्त बहुमत प्राप्त हुआ, परन्तु वे इस हालत मे न थे कि सम्पूर्ण देश को अपने साथ ले चल सकें और शासन को चला सकें। समाजवादियो के साथ-साथ सिण्डिकलिस्ट भी मजदूर आन्दोलनो मे शरीक होते थे। इस कारण मजदूर आन्दोलन अक्सर विध्वसात्मक होते।

ऐसे समय में मुसोलिनी के नेतृत्व मे एक नये आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ जिसे फासिज्म कहा गया। मुसोलिनी के सामने प्रारम्भ मे कोई विशेष रचनात्मक प्रोग्राम

---

and social order based upon the main currents of traditions that have formed European civilization, traditions created by Rome first by the Empire and subsequently by the Catholic Church Conversely *Fascism* may be described as the repudiation of the individualist mentality that found expression first in Pagan Renaissance then in the Reformation and later in the French Revolution" —*J S Burns.*

नही था। परन्तु वह अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का विरोधी था, साथ ही राष्ट्रीयता का प्रवल समर्थक। इटली मे फैलते हुए समाजवादी विचारो के विरोध मे उसने अपने फासिस्ट दल का सगठन किया। शीघ्र ही देश का असन्तुष्ट तथा उग्रवर्ग फासिस्टो के झण्डे के तले एकत्रित हो गया, मुसोलिनी की शक्ति बढने लगी, देश भर मे उनके दल की शाखाएँ खुल गईं। जगह-जगह फासिस्ट दल के स्वयसेवक काली वर्दियो मे सैनिक सगठन के रूप मे सगठित होकर परेड करते हुए नजर आने लगे। मुसोलिनी के दल मे सिण्डिकलिस्टो की भी एक बडी सख्या शामिल हो गई। मुसोलिनी स्वय सोरेल से पर्याप्त प्रभावित था। सन् १९२२ मे मुसोलिनी ने अपने 'काली कुर्ति' (Black Shirt) वाले स्वय-सेवको सहित रोम मे प्रवेश किया और शासनसत्ता को अपने हाथ मे ले लिया। शीघ्र ही राजा विक्टर एमेन्युअल की स्वीकृति पा मुसोलिनी ने अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर लिया। तदनन्तर इटली मे पालिया-मेण्ट्री शासन व्यवस्था खत्म हो गई, राजतन्त्र भी समाप्त कर दिया गया, मुसोलिनी स्वय इटली का डिक्टेटर हो गया। मुसोलिनी ने इटली को प्राचीन रोमन साम्राज्य के गौरव की याद दिलायी और यह वायदा किया कि इटली को पुराने गौरव पूर्ण पद पर एक बार फिर स्थापित कर देगा। फासिस्ट शासन मे इटली की औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी पर्याप्त उन्नति हुई। जनता मे एक नया उत्साह तथा जोश भर गया देश मे अनेक रचनात्मक योजनाएँ जारी की गई।

प्रारम्भ मे मुसोलिनी की कुछ विरोधी दलो ने कडी आलोचना की, परन्तु शीघ्र ही उसने उन्हे अपने फासिस्ट दल की सहायता से दवा दिया। बाद मे सभी विरोधी दल गैर-कानूनी घोषित कर दिये गये, उनके अनेक नेता या तो इटली से भाग खडे हुए या फिर वे वन्दी बना लिए गये। एक बार सत्तारूढ होने पर मुसोलिनी ने अपनी स्थिति को सभी प्रकार से मजबूत बनाने की कोशिश की।

फासिज्म का जर्मन रूप नाजिज्म या नाजीवाद कहलाता है। फासिज्म एक प्रकार का राष्ट्रीय आन्दोलन है, अत इसके विभिन्न रूपो मे थोडा बहुत अन्तर होना लाजमी है। परन्तु यह अन्तर इतना महत्त्वपूर्ण नही कि हम दोनो को दो स्वतन्त्र विचार धाराएँ मानें। फासिज्म और नाजिज्म मे कोई आधारभूत भेद नही। जर्मनी में भी फासिज्म का उदय लगभग उन्ही हालतो मे हुआ जिनमे कि इटली मे हुआ था। जर्मनी युद्ध मे हारा हुआ था, इसके साथ ही वर्साई की शान्ति सन्धि मे उसे अनेक अपमानजनक शर्तें मानने को मजबूर किया गया। इधर जर्मनी मे जबरदस्त आर्थिक सकट उपस्थित हुआ था, तिस पर उसे युद्ध का हर्जाना पूरा करने को कहा जा रहा था। खाद्य पदार्थों की जबरदस्त कमी थी, मुद्रा प्रसार के कारण मजदूर वर्ग तथा मध्यवर्ग दोनो की ही अवस्था खराब हो गई थी। देश मे व्यापक असन्तोष फैला हुआ था। ऐसी अवस्था मे राज्य के कुछ भागो में, विशेष रूप से पूर्वी जर्मनी मे साम्यवादी विचारधारा कीसर्व-प्रियता बढ़ने लगी। युद्ध के अनन्तर प्रजातन्त्रात्मक वायमर सविधान (Weimer constitution) के अधीन जिस ससदीय शासन प्रणाली की स्थापना की गई थी, वह आर्थिक मामलो के हल करने मे नाकामयाब रही।

परन्तु फासिज्म के वास्तविक रूप का विवेचन तब तक सम्भव नहीं जब तक कि हम उन परिस्थितियो का विवरण न दे दें जिनके फलस्वरूप उसका उदय हुआ है। फासिज्म मुख्य रूप से एक राजनीतिक आन्दोलन है, उसका एक व्यवहारिक रूप है, अत उसकी आधारभूत मान्यताओ के विवेचन से पूर्व उसके जन्म के लिए उत्तरदायी परिस्थितियो का विश्लेषण आवश्यक है।

फासिस्ट विचारधारा का उदय इटली मे हुआ। विचारधारा के रूप मे इसके जन्म स्रोत भले ही अलग-अलग राज्यों मे मिल जाएँ, परन्तु एक विशुद्ध राजनीतिक आन्दोलन के रूप मे इसका जन्म इटली मे हुआ। तत्पश्चात् वही इसकी विचारात्मक व्याख्या के प्रयत्न भी किये गये।

प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर इटली की राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ अत्यन्त निराशापूर्ण थी। इटली ने साम्राज्य निर्माण की आशा से प्रथम युद्ध मे ब्रिटेन तथा फ्रास का साथ दिया, परन्तु वर्साई सन्धिवार्ता के दौरान मे उसमे शामिल होने वाले इटेलियन प्रतिनिधियो को बहुत ही अपमानजनक परिस्थितियो का सामना करना पडा। उसके साम्राज्य निर्माण के स्वप्न टूट गये और युद्ध समाप्ति के अनन्तर मित्र राज्यो ने उससे अच्छा व्यवहार भी न किया।

इटली की आन्तरिक अवस्था तो महायुद्ध मे हारे राष्ट्रो से अधिक खराब थी। लोगो मे वर्साई की सन्धि के प्रति गहरा असन्तोष था। इधर युद्ध से लौटे सैनिको के लिए सरकार किसी काम काज की व्यवस्था न कर सकी, देश में बेकारी फैली हुई थी। राजनीतिक दलो मे विद्वेष था, पार्लियामेण्ट्री शासन व्यवस्था असफल हो गई थी मुद्रा प्रसार (Inflation) से महगाई बढ गई थी, मजदूरो तथा किसानो मे अशान्ति तथा असन्तोष था। ऐसा कोई धन्धा नही था जहाँ की हडताल न हुई हो और जहाँ मालिको तथा मजदूरो मे सघर्ष न चल रहा हो। उत्पादन व्यवस्था सर्वथा टूट गई थी। इस अवस्था मे समाजवादी दल की सर्वप्रियता बढ चली, उसी के नेतृत्व मे जगह-जगह हडतालें भी करवाई गई। पार्लियामेण्ट मे भी उन्हे पर्याप्त बहुमत प्राप्त हुआ, परन्तु वे इस हालत में न थे कि सम्पूर्ण देश को अपने साथ ले चल सकें और शासन को चला सकें। समाजवादियों के साथ-साथ सिण्डिकलिस्ट भी मजदूर आन्दोलनो मे शरीक होते थे। इस कारण मजदूर आन्दोलन अक्सर विध्वसात्मक होते।

ऐसे समय मे मुसोलिनी के नेतृत्व मे एक नये आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ जिसे फासिज्म कहा गया। मुसोलिनी के सामने प्रारम्भ मे कोई विशेष रचनात्मक प्रोग्राम

---

and social order based upon the main currents of traditions that have formed European civilization, traditions created by Rome first by the Empire and subsequently by the Catholic Church Conversely Fascism may be described as the repudiation of the individualist mentality that found expression first in Pagan Renaissance then in the Reformation and later in the French Revolution" —*J S Burns.*

१८० फासिज्म के आधारभूत सिद्धान्त

हम ऊपर लिख आये हैं फासिज्म की कोई सुनिश्चित विचारधारा नही थी। मुसोलिनी के शासनसत्ता हथियाने पर अनेक बुद्धिवादियो की सहायता द्वारा इस अबुद्धिवादी दर्शन की व्याख्या के प्रयत्न किये गये। ऐल्फ्रेडो राको (Alfredo Rocco) तथा जेण्टाइल (Gentile) दोनो ने मिलकर मुसोलिनी के नेतृत्व मे फासिस्ट विचारधारा के दर्शन का विवेचन किया। फासिज्म के आधारभूत विचारात्मक मन्तव्यो को हम नीचे लिखे प्रकार से रख सकते है।

फासिज्म द्वारा व्यक्तिवाद तथा प्रजातन्त्रवाद का विरोध—व्यक्तिवाद तथा प्रजातन्त्रवाद राज्य के जिस रूप की व्याख्या करते हैं, फासिस्ट दार्शनिक उसमे यकीन नहीं करते। व्यक्तिवादी दर्शन राज्य को साधन रूप मे स्वीकार करता हुआ व्यक्ति को साध्य मानता है। राज्य का मकसद समाज के सदस्य-व्यक्तियो-का कल्याण है। वह अधिक से अधिक व्यक्तियो के अधिक से अधिक कल्याण के लिए मौजूद है। परन्तु फासिज्म व्यक्तियो के जीवन का यथार्थ मूल्य राज्य या राष्ट्र की सेवा मे समझता है। उनका कथन है कि समाज या राष्ट्र ही पूर्ण है, वह व्यक्तित्व सम्पन्न है, और वह साध्य है। **व्यक्ति साधन स्वरूप हैं। राको का कथन है कि "समाज साध्य है, व्यक्ति साधन और राज्य का सम्पूर्ण जीवन व्यक्तियो को साधन रूप मे इस्तेमाल करने मे निहित है।"**[1] हीगल के आदर्श मे यकीन करते हुए फासिस्ट कहते हैं कि मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व का विकास एक बडी इकाई जैसे राज्य इत्यादि मे अपने आपको मिटा देने मे होता है। उसकी स्वतन्त्रता का असली मूल्य अपनी इच्छाओ के अनुसरण करने मे नही। व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धो की अभिव्यक्ति राज्य के इस आधारभूत सिद्धान्त मे हो जाती है कि **"सभी (व्यक्ति) राज्य के भीतर है, राज्य के बाहर कोई नहीं, और राज्य के विरुद्ध कोई नहीं।"**[2]

फासिस्ट विचारक व्यक्ति की महत्ता से इनकार करते हैं और यही कारण है कि वे उसे शासनतन्त्र मे किसी भी प्रकार का भाग देने के हक मे नही। जनतन्त्र सर्वथा झूठी धारणाओ पर आधारित है। जनतन्त्र का आधार स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व भावना की धारणाएँ हैं, परन्तु ये धारणाएँ तो अर्थहीन हैं। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तो वही है जो राज्य निश्चिय करे। समाज मे सभी की समानता असम्भव हैं। प्रकृति से सभी विभिन्न प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक शक्तियो से युक्त होते है। राज्य-शासन तो कुछ विशेष शासको का कार्य है, सभी लोगो का नही। जन-साधारण के पास न तो इतनी बुद्धि है और न इतना अवसर कि वे सभी

---

1 "Society is the end, individual the means, and its whole life consists in using individuals as instruments for its ends"—*Rocco.*

2 "All within the state, none outside the state, none against the state"—*Mussolini*

जनता मे प्रजातन्त्र शासन के प्रति न तो उत्साह ही था और न विशेष प्रेम ही। इस हालत मे हिटलर ने नाजीदल की स्थापना की। देखते ही देखते जर्मनी मे इस दल की लोक-प्रियता बढ गई, बहुमत प्राप्त करने पर हिटलर ने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया, तदनन्तर वह स्वय जर्मनी का प्रधान बन गया और सम्पूर्ण शासन व्यवस्था उसके नेतृत्व मे सगठित नाजीदल के हाथ मे आ गई। मुसोलिनी की तरह हिटलर ने भी अपने दल की सहायता से सभी विरोधी दलो को दबाने का प्रयत्न किया। अपने देश, जर्मनी को साम्यवाद से बचाने का श्रेय हिटलर ने नाजीपार्टी को दिया। हिटलर ने जर्मन राष्ट्र की उच्चता का नारा लगाया और कहा कि युद्ध मे जर्मनी कभी हार नही सकता, इस हार का कारण यहूदियो का देशद्रोह था। जर्मन राष्ट्र अजेय है, उसने वायदा किया कि वह जर्मनी को वर्साई की शान्ति सन्धि की अपमानजनक शर्तो से स्वतन्त्र करायेगा।

इस प्रकार इटली और जर्मनी मे अधिकाश मे अन्दरूनी परिस्थितियाँ ही फासिज्म के विकास का कारण बनी। तथापि हमे बाह्य शक्तियो के प्रभाव को भी नही भूलना चाहिए। जर्मनी मे यह बाह्य प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान मे यूरोप के पूर्वी भाग मे एक महान् ऐतिहासिक घटना घटित हो गई थी, वह थी रूस मे साम्यवादी क्रान्ति। प्रारम्भ मे रूस के साम्यवादी दल ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की स्थापना की घोषणा की थी, जिससे पश्चिम मे सभी पूँजी-वादी राज्य भयभीत हो उठे थे। प्रारम्भ मे तो उन्होंने नवजात कम्युनिस्ट राष्ट्र को चारो ओर से सैनिक घेरा डाल खत्म ही करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसमे वे सफल न हो सके। अपनी इस असफलता के बावजूद भी वे सदा इस कोशिश मे थे कि रूसी साम्यवाद को खत्म किया जाये। हिटलर तथा उसका नाजीदल साम्यवाद को अपना प्रबल शत्रु समझते थे। ब्रिटेन तथा फ्रास दोनों ही हिटलर के सभी अपराधो को केवल यही समझकर माफ करने लगे कि वह रूसी साम्यवाद के विरुद्ध एक रक्षात्मक दीवार के रूप मे काम कर सकेगा। साम्यवाद के विरुद्ध खडा करने के लिए उन्होने न केवल हिटलर के अपराधो को माफ ही किया बल्कि उसे सक्रिय रूप से प्रोत्साहित भी किया। वर्साई की सन्धि को भी कुछ हद तक फासिज्म के प्रादुर्भाव के बाह्य कारणो मे गिना जा सकता है।

इटली तथा जर्मनी के अतिरिक्त स्पेन, पुर्तगाल, पोलेण्ड तथा आस्ट्रिया इत्यादि मे भी फासिज्म का प्रसार हुआ। जापान मे फासिस्ट विचारधारा अपने स्वदेशी रूप मे पर्याप्त लोकप्रिय थी। इग्लैण्ड तथा फ्रास इत्यादि पुराने प्रजातन्त्रात्मक देशो मे फासिस्ट आन्दोलनो का भी प्रचलन हुआ था। फासिस्ट राष्ट्रो का उद्देश्य अपनी सैनिक शक्ति को बढाकर साम्राज्यवाद का प्रसार करना था। उनका बडा मकसद राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए राज्यो को उपनिवेश (Colonies) बनाकर साम्राज्य-वाद की स्थापना करना था।

१८० फासिज्म के आधारभूत सिद्धान्त

हम ऊपर लिख आये है फासिज्म की कोई सुनिश्चित विचारधारा नही थी। मुसोलिनी के शासनसत्ता हथियाने पर अनेक बुद्धिवादियो की सहायता द्वारा इस अबुद्धिवादी दर्शन की व्याख्या के प्रयत्न किये गये। ऐल्फ्रेडो राको (Alfredo Rocco) तथा जेण्टाइल (Gentile) दोनो ने मिलकर मुसोलिनी के नेतृत्व मे फासिस्ट विचारधारा के दर्शन का विवेचन किया। फासिज्म के आधारभूत विचारात्मक मन्तव्यो को हम नीचे लिखे प्रकार से रख सकते हैं।

फासिज्म द्वारा व्यक्तिवाद तथा प्रजातन्त्रवाद का विरोध—व्यक्तिवाद तथा प्रजातन्त्रवाद राज्य के जिस रूप की व्याख्या करते हैं, फासिस्ट दार्शनिक उसमे यकीन नहीं करते। व्यक्तिवादी दर्शन राज्य को साधन रूप मे स्वीकार करता हुआ व्यक्ति को साध्य मानता है। राज्य का मकसद समाज के सदस्य-व्यक्तियो-का कल्याण है। वह अधिक से अधिक व्यक्तियो के अधिक से अधिक कल्याण के लिए मौजूद है। परन्तु फासिज्म व्यक्तियो के जीवन का यथार्थ मूल्य राज्य या राष्ट्र की सेवा मे समझता है। उनका कथन है कि समाज या राष्ट्र ही पूर्ण है, वह व्यक्तित्व सम्पन्न है, और वह साध्य है। व्यक्ति साधन स्वरूप हैं। **राको का कथन है कि "समाज साध्य है, व्यक्ति साधन और राज्य का सम्पूर्ण जीवन व्यक्तियो को साधन रूप मे इस्तेमाल करने मे निहित है।"[1]** हीगल के आदर्श मे यकीन करते हुए फासिस्ट कहते हैं कि मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व का विकास एक बडी इकाई जैसे राज्य इत्यादि मे अपने आपको मिटा देने मे होता है। उसकी स्वतन्त्रता का असली मूल्य अपनी इच्छाओं के अनुसरण करने मे नही। व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धो की अभिव्यक्ति राज्य के इस आधारभूत सिद्धान्त मे हो जाती है कि **"सभी (व्यक्ति) राज्य के भीतर हैं, राज्य के बाहर कोई नहीं, और राज्य के विरुद्ध कोई नहीं।"[2]**

फासिस्ट विचारक व्यक्ति की महत्ता से इनकार करते है और यही कारण है कि वे उसे शासनतन्त्र मे किसी भी प्रकार का भाग देने के हक मे नही। जनतन्त्र सर्वथा झूठी धारणाओ पर आधारित है। जनतन्त्र का आधार स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व भावना की धारणाएँ हैं, परन्तु ये धारणाएँ तो अर्थहीन हैं। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तो वही है जो राज्य निश्चिय करे। समाज मे सभी की समानता असम्भव है। प्रकृति से सभी विभिन्न प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक शक्तियो से युक्त होते है। राज्य-शासन तो कुछ विशेष शासको का कार्य है, सभी लोगो का नही। जन-साधारण के पास न तो इतनी बुद्धि है और न इतना अवसर कि वे सभी

---

1 "Society is the end, individual the means, and its whole life consists in using individuals as instruments for its ends"—*Rocco.*

2 "All within the state, none outside the state, none against the state"—*Mussolini*

प्रकार के राजनीतिक मामलो को समझ सके । फासिस्ट जन-सम्मत प्रभु-सत्ता (Popular soveregnity) के सिद्धान्त मे यकीन नही करते न ही वह सामान्य इच्छा (General will) के सिद्धान्त को मानते है। किसी भी विषय पर जनमत सग्रह करा जनता की सामान्य इच्छा को जान लेना सर्वथा अव्यावहारिक है। मतदाताओ का अपना कोई मत नही होता, वे तो विभिन्न राजनीतिक दलो के हाथ मे खेलते हैं । प्रजातन्त्र राष्ट्रीय हितो के विरुद्ध होता है, वह ज-नसाधारण मे फूट डाल देता है । लोगो मे गरीब तथा अमीर के भेद-भाव को पैदा कर वर्ग सघर्ष (Class-struggle) की भावना को उत्पन्न कर देता है ।

फासिस्ट विचारको का कथन है कि राज्य एक नैतिक इकाई (Moral unit) है । उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक पवित्रता को कायम रखने के लिए राज्यशक्ति कुछ एक विशेष व्यक्तियों के हाथ मे रहनी चाहिए । ये कुछ विशेष व्यक्ति जन-साधारण की आवश्यकताओ को समझ सकते हैं । जन-साधारण की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होने के कारण उन्हें राज-काज चलाने का उत्तरदायित्व सौंपना चाहिए। प्लेटो के शासको (Rulers) की तरह यह वर्ग समाज मे एक विशेष महत्ता रखता है ।

फासिस्ट अबुद्धिवादी हैं। वे विभिन्न राजनीतिक समस्याओ के सुलझाव मे तर्कपूर्ण विवेचन को महत्ता नही देते। यही कारण है कि उनका ससदीय शासन व्यवस्था मे यकीन नही। विचार-विमर्श तथा बहस द्वारा किसी भी राजनीतिक समस्या को हल नही किया जा सकता । राजनीतिक सत्ता का सगठन वैयक्तिक आधार पर होना चाहिए, सस्थात्मक आधार पर नही । दूसरे शब्दो मे वैयक्तिक प्रतिभा तथा अन्त: प्रेरणा पर यकीन करते हुए राज्य शासन का सचालन कुछ एक विशेष व्यक्तियो के हाथ मे सौप देना चाहिए । फासिज्म कुलीन वर्ग के शासन को ही श्रेष्ठ शासन व्यवस्था समझता है ।

यह कहना भी गलत है कि सभी व्यक्ति एक समान हैं, प्रजातन्त्र का समानता का सिद्धान्त भ्रान्त धारणा पर आधारित है। वह समाज में यान्त्रिक एकता को स्थापित करने का प्रयत्न करता है। फासिज्म बालिग मताधिकार का भी विरोधी है। वह उपयुक्ततम की अवस्थिति (Survival of the fittest) के नियम मे यकीन करता है। **जीवन सघर्ष में केवल शक्तिशाली व्यक्ति ही बच रहते हैं** । फासिज्म जातीय उच्चता (Racial superiority) के सिद्धान्त मे भी यकीन करता है।

फासिज्म द्वारा समाजवाद का विरोध—मार्क्स द्वारा स्थापित इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या तथा वर्ग सघर्ष के सिद्धान्त को फासिस्ट लोग बिलकुल नही मानते । उनका कथन है कि सामाजिक परिवर्तन मे आध्यात्मिक तथा नैतिक तत्त्वो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । राज्य मे मौजूद विभिन्न वर्ग पारस्परिक सहयोग के लिए हैं, सघर्ष के लिए नही । दोनो राज्य के अभिन्न तथा अटूट भाग हैं । दोनों के सहयोग से ही समाज का कल्याण सम्भव है । वस्तुत फासिस्ट विचारकों के अनुसार दोनों वर्गो मे सघर्ष पैदा ही नही होता, यह सघर्ष भावना तो साम्यवादियो तथा पूंजीवादियो द्वारा पैदा की गई हैं । फासिस्ट विचारक वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था के विरोधी नहीं,

वे इसे नैतिक मानते है, और ये स्वीकार करते है कि इसी द्वारा राज्य के अन्तर्गत उत्पादन की वृद्धि हो सकती है। परन्तु वे पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता के पक्ष मे भी नही है। वह राष्ट्रीय हित को सामने रखते हुए राज्य उत्पादन का नियन्त्रण तथा नियमन कर सकता है।

राष्ट्र की नैतिक उच्चता तथा उसकी सर्वशक्तिमत्ता—फासिस्ट विचारको ने राज्य, राष्ट्र तथा समाज का एकीकरण कर दिया है। नैतिक दृष्टि से राज्य व्यक्ति के जीवन का चरम लक्ष्य है। व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण विशेषताओ को अपनी सभ्यता तथा सस्कृति को, आर्थिक तथा राजनीतिक सस्थाओ को राज्य से हासिल करता है। राष्ट्र अपने आप मे साध्य है, साधन नही। यही कारण है कि फासिस्ट व्यक्ति को साधन रूप स्वीकार करते हुए राष्ट्र हित के लिए उसके सम्पूर्ण हितो के बलिदान कर देने के हक मे है। राष्ट्रीय-राज्य (Nation-state) एक सामान्य सगठन नही, उनका अपना व्यक्तित्व है और अपनी इच्छा है वह केवल व्यक्तियो का समुदाय मात्र ही नही है, जैसा कि व्यक्तिवादी यकीन करते हैं। फासिस्ट विचारको के अनुसार "राज्य **मौजूदा पीढी के सम्पूर्ण व्यक्तियो का केवल समूह मात्र ही नहीं है, अपितु उसका अपना एक व्यक्तित्व है जिसका अस्तित्व भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनो पर आधारित है।**"[1] फासिस्ट राज्य के सावयव (organic) सिद्धान्त मे यकीन करते है। जिस प्रकार प्राणी शरीर मे हाथ, पैर, मुख इत्यादि केवल मात्र सम्पूर्ण शरीर के लिए मौजूद होते है, वैसे ही व्यक्ति भी सम्पूर्ण समाज के लिए जीवित रहता है। राष्ट्र से पृथक् इसका कोई जीवन नही, कोई हित नही, कोई स्वार्थ नही।

ऐसी स्थिति मे राज्य को व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षो के नियन्त्रण का अधिकार है। राज्य अपने कर्त्तव्यपालन के निमित किसी व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय के प्रति जिम्मेवार नही। वह जो चाहे कर सकता है, जो कुछ करता है वह सर्वथा उचित है। राज्य के कार्यक्षेत्र को किसी प्रकार भी सीमित नही किया जा सकता, वह सर्वव्यापी और सर्व शक्ति सम्पन्न है। व्यक्ति के अधिकारो का उदय राज्य मे ही होता है। अत. कोई भी व्यक्ति राज्य के विरुद्ध अपने अधिकार नही रख सकता।

फासिस्ट राज्य अपरिमित तथा अबाधशक्ति सम्पन्न राज्य था, उसको सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के नियन्त्रण का अधिकार था।

फासिस्ट राज्य का आर्थिक संगठन—हम ऊपर ही सकेत कर आए है कि फासिज्म का आर्थिक सिद्धान्त व्यक्तिवाद तथा समाजवाद दोनो से भिन्न है। उन्होने कुछ तथ्यो के आधार पर जहाँ पूंजीवाद का विरोध किया है, वहाँ दूसरी ओर अन्य तत्त्वो के आधार पर समाजवाद का भी। उनका कथन है कि प्रत्येक आर्थिक प्रश्न का

---

1 "The state is more than the sum of its individuals of one generation, it has an actual entity of its own, a transcendental existence deriving from the past, from the present and the future"

निपटारा राष्ट्रीय उपयोगिता को सामने रखकर किया जाना चाहिए। राष्ट्र मे राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियो का बराबर सहयोग होना चाहिए। इसी मकसद को सामने रखते हुए एक ओर तो उन्होने सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का समर्थन किया और दूसरी ओर पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता का विरोध किया है। फासिस्ट पूजीवाद को एक गिरती हुई अर्थ-व्यवस्था मानते हैं, वे पूंजीवाद विषयक समाजवादी आलोचना से सहमत हैं। परन्तु वह व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति और उसके स्थान पर अर्थतन्त्र पर पूर्ण राष्ट्रीय नियन्त्रण की नीति को स्वीकार नही करते। वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था का फासिज्म समर्थक हैं, क्योकि उससे उत्पादन कार्य को बहुत बढावा मिलता है। वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक भी माना गया है, वह पारिवारिक सगठन तथा शक्ति का स्रोत है। परन्तु राष्ट्रीय हित को दृष्टि मे रखते हुए राज्य वैयक्तिक सम्पत्ति का नियन्त्रित कर सकता है। राष्ट्रोपयोगी व्यवसायो को फासिस्ट राष्ट्रो ने सभी जगह अपने नियन्त्रण मे ले लिया था। पूंजीपतियो के लिए भी यह आवश्यक था कि वे अपने कार्य सचालन मे मजदूरों का सहयोग प्राप्त करे। अनेक महत्त्वपूर्ण आर्थिक मसलो का फैसला पूंजीपति तथा मजदूरो के सिण्डिकेट मिलकर करते थे। उत्पादन के क्षेत्र मे फासिज्म पूंजीपतियो तथा मजदूरो के सक्रिय सहयोग (Active Co-operation) मे यकीन करता है, परन्तु यह नही मानता कि मजदूरो को मिलो के नियन्त्रण का अधिकार है। वह मजदूरो के सगठनो का भी नियन्त्रण करता है और उन्हे हडताल करने का अधिकार नही देता। मजदूरों का मुख्य कर्त्तव्य है—राष्ट्रीय उत्पादन मे पूंजीपतियो का सहयोग करना। पूंजीपतियो को भी अपने उद्योगो को मनमाने ढग से चलाने का अधिकार नही। जिस प्रकार मजदूरो को हडताल करने का अधिकार नहीं ठीक वैसे ही पूंजीपतियों को भी मिलो की तालाबन्दी का अधिकार नही। फासिज्म राष्ट्र हित में पूंजी तथा श्रम दोनो के नियन्त्रण के पक्ष है, इस प्रकार फासिज्म पूंजीवाद तथा समाजवाद दोनो के बीच की चीज है।

राज्य का निगमात्मक रूप—(The Corporative State) फासिस्ट विचारको ने राज्य के निगमात्मक रूप पर काफी गहराई से विचार किया है। उनका कथन है कि राज्य का आधार वैयक्तिक नही, जैसा कि व्यक्तिवादी मानते हैं। प्रत्येक राज्य मे अनेक समुदाय होते हैं और राज्य के नागरिक इन्ही समुदायो के सदस्य होते हैं। व्यक्ति कभी भी स्वतन्त्र, स्वय पूर्ण तथा अकेला नही होता। उनका सगठन अनेक आर्थिक, औद्योगिक तथा सास्कृतिक समुदायो मे हुआ होता है। यही समुदाय राज्य के आधार हैं। प्रत्येक राज्य का आधार ये निगम (Corporations) होने चाहिए जो कि सामाजिक जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा लगता है कि फासिस्ट बहुसमुदायवाद (Pluralism) तथा सिण्डिकलिज्म के समर्थक हैं और ऐसा समझते हैं कि राज्य का सगठन निगमात्मक (Corporative) आधार पर होना चाहिए। परन्तु ऐसा सोचना गलत है। यह ठीक है कि फासिस्ट विचारक विभिन्न समुदायो को राज्य के जीवन का एक स्वाभाविक भाग समझते हैं, तथापि उन्हें स्वायत्त शासन (Autonomy) का अधिकार नही सौंपते।

सभी निगम राज्य द्वारा नियन्त्रित किये जायेंगे, क्योकि राज्य अपने सगठन मे सावयव (Organic) हैं, निगम इसके हिस्से हैं। परन्तु स्वतन्त्र हिस्से नही, वे अपने जीवन के लिए राज्य पर आश्रित हैं। अतः राज्य को उनके नियन्त्रण तथा नियमन का पूरा अधिकार है। निगमो का सगठन स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय आधार पर होगा। व्यावसायिक समुदायो का भी ऐसा ही सगठन होगा। इनके कार्यो का नियन्त्रण राज्य करेगा उनके अधिकारियो का चुनाव नही होगा, बल्कि राज्य द्वारा नियुक्त किए जायेंगे। इनकी सदस्यता पर भी कुछ पाबन्दियाँ हैं, सभी इनके सदस्य नही हो सकते। ये समुदाय फासिस्ट राज्य के सगठन के मूलभूत आधार हैं, और राज्य की नीति के पालन तथा अनुसरण करवाने के प्रमुख साधन हैं। इनका मुख्य कर्त्तव्य पारस्परिक सघर्ष नही अपितु आपसी सहयोग है। इन्हे राज्य मे मौजूद मिल-मालिको तथा मजदूरो दोनो के बीच कडी का काम करना होता है और उत्पादन मे राज्य की नीति का पालन करवाना होता है जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं। इन निगमो की कोई स्वतन्त्र स्थिति नही, वे राज्य द्वारा ही सगठित किये जाते हैं उसी द्वारा भग किये जाते हैं और उसी के नियन्त्रण मे कार्य करते हैं।

फासिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता तथा शान्तिवाद का विरोधी है—हीगल तथा नीत्शे का अनुसरण करते हुए फासिस्ट राज्य को अपने आप मे पूर्ण मानते हैं, वे अन्तर्राष्ट्रीयता मे यकीन नही करते। राज्य एक जीवित प्राणी की तरह वृद्धि को प्राप्त करता है, अत साम्राज्यवाद राज्यो का स्वाभाविक उद्देश्य है। एक राज्य का दूसरे राज्यो के प्रति कोई विशेष कर्त्तव्य नही। इसका उद्देश्य अपने आपका विकास तथा विस्तार करना है, राज्य से बाहर या परे कुछ नही। अन्तर्राष्ट्रीय नियम व्यर्थ हैं, उनका कोई आधार नही। हिटलर तथा मुसोलिनी दोनो ही अपने देश की बढती हुई जनसंख्या के लिए उपनिवेश माँगते थे, दोनो का दृष्टिकोण साम्राज्यवादी था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राष्ट्रो मे कभी समानता नही हो सकती, क्योकि आर्य जाति के लोग ही ससार पर शासन करने के अधिकारी हैं। जर्मन जाति ससार पर शासन करने के लिए उत्पन्न हुई है क्योकि वह आर्य है।

यही कारण है कि फासिज्म सैनिकवाद तथा युद्ध मे यकीन करता है, युद्ध राष्ट्रो के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जैसे स्त्रियो के लिए मातृत्व। ऊँचे मानवीय गुणो के विकास के लिए युद्ध लाजमी है। शान्ति की बातें करना तो मूर्खता है, युद्ध द्वारा ही राष्ट्रो का विकास सम्भव है। प्रत्येक सगठन का आधार शक्ति है। राज्य को अधिक से अधिक शक्ति का सगठन करना चाहिए। शक्ति के सगठन द्वारा ही राज्य उच्चता को प्राप्त कर सकता है। शक्ति का सगठन केवल मात्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ही नही होना चाहिए। राज्य आन्तरिक सगठन के लिए अधिक से अधिक शक्ति का प्रयोग कर सकता है। जो व्यक्ति शक्ति प्रयोग करने मे असमर्थ है उसे राज्य के सबसे ऊँचे पद पर आसीन होने का कोई अधिकार नही। राज्य मे विरोधियो का दमन किया जाना चाहिए, विचार-विमर्श या वाद-विवाद द्वारा उन्हे अपनी ओर नही मिलाया जा सकता। इस प्रकार फासिज्म युद्ध का तथा बल प्रयोग का खुलमखुला

समर्थन तथा प्रचार करता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति ढकोसला मात्र ही है। युद्ध ही से मनुष्य का विकास होता है, शान्ति तो उसे कबरिस्तान मे ही मिल सकती है, जीवन सम्पन्न मानव समाज मे नही। संघर्ष जीवन का लक्षण है, शान्ति मृत्यु का।

अन्धश्रद्धावाद तथा एकतन्त्रवाद—फासिज्म अबुद्धिवाद मे यकीन करता है। उसका आधार श्रद्धावाद है, अन्धश्रद्धावाद कहना अधिक ठीक होगा। तर्क, वाद-विवाद इत्यादि किसी प्रकार भी राष्ट्रीय समस्याओ के सुलझाव मे सहायक नही हो सकते। राज्यो का भाग्य-निपटारा एक या दो व्यक्ति ही कर सकते है, बहुमत या प्रजातन्त्रात्मक संसद नही, क्योकि नेता अन्त प्रेरणा से काम करते हैं। जन सामान्य पशुओ की तरह बिना सोचे समझे एक दूसरे के पीछे चलते हैं। नेता में या अधिनायक मे लोगो को पूर्ण विश्वास होना चाहिए। फासिज्म एक प्रकार के धार्मिक विश्वास को उत्पन्न करना चाहता है। जैसा कि जार्ज काटलिन ने कहा है "फासिज्म एक प्रकार का नया धर्म था, तलवार मे यकीन करने वाला राजनीतिक धर्म, एक प्रकार का नया इस्लाम, जिसमें हिटलर स्वयं मुहम्मद था।"[1] नेता को सदा ही ठीक समझा जाता है। मुसोलिनी के लिए उसके देशवासी कहते थे कि 'मुसोलिनी हमेशा ठीक सोचता है और ठीक कहता है'। श्रद्धावाद पर बल देते हुए हिटलर ने कहा था कि हम रोमन कैथोलिक चर्च से (इस विषय मे) बहुत कुछ सीख सकते हैं।

उसके सहायक गोयरिंग (Goering) ने इसी अन्धविश्वास को इस प्रकार प्रकट किया है "हम नाजी यकीन करते है कि राजनीतिक मामलो में हिटलर कभी गलती नहीं कर सकता, ठीक इसी तरह जिस प्रकार रोमन कैथोलिक यह यकीन करता है कि धार्मिक मामलों में पोप कभी गलती नहीं कर सकता।"[2] हिटलर प्लेटो के दार्शनिक शासक (Philosopher king) की तरह एक पूर्ण शासक मान लिया जाता है। उसके आदेशो का पालन धार्मिक कर्त्तव्य से भी ऊँचा है। वह देश सेवा के परम पुनीत तथा उच्च नैतिक उद्देश्यो से प्रेरित होता है, वही जनता का सच्चा पथ प्रदर्शन कर सकता है। फासिज्म एक ऐसे एकतन्त्रवाद का समर्थन करता है जो सरसरी तौर पर तो एक राजनैतिक दल का एकतन्त्रावाद दिखता है, परन्तु अच्छी तरह देखने पर एक पार्टी के कुछ व्यक्तियो का और अन्तत एक व्यक्ति का अधिनायकतन्त्र होता है। यह अधिनायक सम्पूर्ण राजकीय शक्ति का अन्तिम स्रोत है। अपने कार्य संचालन मे उसका सहयोग एक विशेष प्रकार का कुलीन वर्ग करता है जो उसी की रचना होता है।

फासिज्म के उद्देश्य प्राप्ति के साधन—फासिज्म लोकतन्त्र मे यकीन नही करता, विचार विमर्श तथा वाद-विवाद द्वारा मत परिवर्तन सम्भव नही, वैधानिक

1 "He has accomplished this as a leader of a movement, which was a new religion, a political religion of sword, a new Islam with himself as its Mohammad"—*George Catline*

2 "We Nazies believe that, in political affairs, Adolf Hitler is infallible, just as the Roman Catholic believes that in religious matters the Pope is infallible"—*Goering*

साधनो का अपनाना व्यर्थ है। अत फासिज्म खुल्लमखुला बल-प्रयोग का प्रचार करता है, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे निधडक शक्ति प्रयोग की जा सकती है। सरकार का कार्य जनता मे भय तथा आतक उत्पन्न करना है। जनता यदि राज्य को चाहती नही तो उससे डरती अवश्य हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए फासिज्म हर तरह के शक्ति-प्रयोग के साधनो की खुली छुट्टी देता है। संक्षेप मे फासिज्म अच्छे तथा उच्च उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए उच्च साधनो के प्रयोग मे यकीन नही करता। सफलता ही साधनो की उच्चता को सिद्ध करती है।

फासिज्म जनता की भावात्मक प्रक्रिया का बडा सुन्दर प्रयोग करता है। प्रोपेगण्डा या प्रचार के साधनो द्वारा फासिस्ट जनता को गुमराह करते हैं, उनके विचारो का पूर्ण नियन्त्रण करते हैं। फासिज्म प्रचार के साधनो द्वारा बडे-से-बडे झूठ को भी सत्य सिद्ध करने की कोशिश करता है।

फासिज्म शिक्षा-साहित्य तथा अन्य प्रकार के सास्कृतिक साधनो का नियन्त्रण करता है और बचपन मे ही बच्चो मे फासिस्ट विचारो के भरने का प्रयत्न करता है।

फासिज्म के अन्य पक्ष—फासिज्म तो एक व्यावहारिक दर्शन है, वह विचारात्मकता पर अधिक बल नही देता। प्रजातन्त्र की स्वतन्त्रता, समता तथा भ्रातृत्व की धारणा के स्थान पर वह व्यवस्था, अनुशासन तथा श्रद्धा को रखता है। राष्ट्र की आन्तरिक नीति के अनुसरण मे वह मध्यवित्त वर्ग का प्रबल समर्थक है और मजदूर वर्ग का दुश्मन। समाजवाद, साम्यवाद तथा प्रजातन्त्रवाद इत्यादि सभी उदार तथा प्रगतिशील आन्दोलनो का विरोधी है और बल-प्रयोग मे यकीन करता हुआ विरोधी दलो को कुचलना कोई बुरा नही समझता। फासिस्ट देशो के अन्तर्गत अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) की आलोचना का अर्थ है कैद या मृत्यु-दण्ड।

जर्मनी मे हिटलर ने जन-सामान्य को गुमराह करने के लिए एक नयी भ्रान्ति का विकास किया था, वह भ्रान्ति थी—जर्मन राष्ट्र की जातीय उच्चता। (Racial superiority of the Germany)। हिटलर ने बार-बार यह बात कही कि जर्मन जाति विश्व के शासन के लिए उत्पन्न हुई है, वह स्वभावत उच्च है, उसका उद्देश्य विश्व मे आर्य-सस्कृति का प्रचार है। जर्मनी मे यहूदियो के प्रति अत्यन्त उग्र जातीय विद्वेष फैलाया गया और उन पर अनेक अमानवीय अत्याचार किए गए।

फासिज्म ने इटली तथा जर्मनी दोनो मे ही पर्याप्त सफलता प्राप्त की और दोनो देशो मे उसी द्वारा पर्याप्त आर्थिक तथा औद्योगिक उन्नति सम्भव हो सकी। परन्तु फासिस्ट शासन-प्रणाली तथा उसका दर्शन कितना खतरनाक सिद्ध हुआ, इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

१८१. कम्युनिज्म तथा फासिज्म

कम्युनिज्म तथा फासिज्म मे अनेक बार तुलना की जाती है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि दोनो मे पर्याप्त समानताएँ हैं। सरसरी तौर से

देखने पर हमे दोनो मे नि सन्देह पर्याप्त समानताएँ नजर आयेंगी।

फासिज्म तथा कम्युनिज्म दोनो ही प्रजातन्त्र, व्यक्तिवाद तथा ससदीय शासन व्यवस्था के विरोधी हैं। दोनो ही राज्य के अन्तर्गत एक पार्टी व्यवस्था के समर्थक हैं और अन्य राजनीतिक पार्टियो का दमन करते हैं। फासिस्ट देश भी भाषण की स्वतन्त्रता, प्रेस तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रबल विरोधी हैं, ठीक वैसे ही कम्युनिस्ट देश भी राजनीतिक स्वतन्त्रता को अच्छा नही समझते।

कम्युनिज्म अहिंसक तथा वैधानिक साधनो मे यकीन नही करता, वह सामाजिक जीवन के सगठन के लिए पूँजीवाद को खत्म करने के लिए और मजदूर वर्ग के हित की रक्षा के लिए शक्ति के इस्तेमाल का समर्थन करता है। फासिज्म भी शक्ति पर आधारित है। दोनो ही अधिनायक तन्त्र मे यकीन करते है और अधिनायक को अबाध शक्ति-सम्पन्न बना देते हैं। देखने मे तो यह अधिनायकतन्त्र एक पार्टी का अधिनायकतन्त्र होता है, परन्तु वास्तव मे वह कुछ व्यक्तियो का और अन्तत एक व्यक्ति का अधिनायकतन्त्र होता है। फासिस्ट तथा कम्युनिस्ट दोनो प्रकार के राज्यो मे पार्टी-सगठन का एक ही आधार है, दोनो मे पार्टी के सदस्यो से बहुत त्याग और आत्म-सयम की आशा की जाती है। फासिस्ट तथा कम्युनिस्ट राज्यो के अन्तर्गत सैनिकवाद का प्रचार बढता है, गुप्तचरो तथा गुप्त पुलिस की व्यवस्था रहती है। दोनो ही प्रकार के देशो में आतक का राज्य होता है। जनता के मन मे विविध साधनों द्वारा भय को बढाया जाता है। दोनो के अन्तर्गत राज्य अपार शक्ति-सम्पन्न होता है, और सामाजिक जीवन के सभी पक्षो का नियन्त्रण करता है। दोनो के अन्तर्गत शिक्षा इत्यादि विचार-प्रसारण के साधनो का सरकार कडा नियन्त्रण करती है और उन द्वारा आबाल-वृद्धो के विचारो को बनाती है। फासिस्ट तथा कम्यूनिस्ट विचार-धारायें सघर्ष मे विश्वास करती हैं—एक राष्ट्रीय सघर्ष मे, दूसरा वर्ग सघर्ष मे।

अन्तर—इन समानताओ के बावजूद भी दोनों मे आधारभूत भेद है जैसा कि हम पीछे कह आये है कम्युनिस्ट विचारधारा परिपक्व विचारधारा है, उसका आधार तर्क तथा बुद्धिवाद है। उसका विकास अनेक वर्षों के विचार-विमर्श के अनन्तर हुआ। परन्तु फासिस्ट विचारधारा का निर्माण उसके व्यावहारिक रूप को उचित ठहराने के लिए हुआ।

फासिज्म तथा कम्युनिज्म के उद्देश्यो मे आधारभूत अन्तर है। कम्युनिज्म का मकसद एक वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज का निर्माण है, उसका उद्देश्य वर्तमान समाज मे मौजूद मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की व्यवस्था को खत्म करना है। ऐसे समाज मे पूजीपतियो, जमीदारो तथा अन्य प्रकार के शोषको का कोई स्थान नही होगा।

परन्तु फासिज्म वर्गवाद मे यकीन नही करता, न ही वह राज्य-विहीन समाज की स्थापना को ही सम्भव मानता है। वह राज्य को ही अन्तिम वस्तु समझता है। उसके मतानुसार राज्य तो स्वय साध्य है, वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति मे साधन नही।

फासिज्म पूँजीवाद की समाप्ति के हक मे नही। वस्तुत. वह पूजीवाद का पोषक है। वह वर्ग-विभेद को खत्म नही करना चाहता, वल्कि उसे वनाये रखना चाहता है।

कम्युनिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता मे यकीन करता है, वह सभी जातियो तथा राष्ट्रो की समानता को स्वीकार करता है। वह उपनिवेशवाद (Colonialism) का विरोधी है और साम्राज्यवाद को समाप्त करना चाहता है, परन्तु फासिज्म का जन्म ही शोषण व्यवस्था तथा जातीय असमानता को वनाये रखने के लिए हुआ। फासिज्म का उद्देश्य उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद की स्थापना है, वह राष्ट्र की समानता के सिद्धान्त को भी नही मानता।

कम्युनिज्म द्वारा समर्थित अधिनायकतन्त्र तो अन्तरिमकाल के लिए है, वह तो वर्ग-विहीन, राज्य-विहीन समाज की स्थापना के लिए एक पडाव मात्र है। उसका अन्तिम उद्देश्य एक शोषण-विहीन समाज की स्थापना है। कम्युनिज्म राज्य को अपने उद्देश्य की प्राप्ति का एक साधन मात्र समझता है, वह स्वय साध्य नही। न ही कम्युनिज्म राज्य को दैवीय गुण सम्पन्न कोई आध्यात्मिक तथा नैतिक ईकाई मानता है। फासिस्ट अधिनायकतन्त्र मजदूर वर्ग का अधिनायकतन्त्र नही, न ही मजदूर वर्ग का समर्थक है। वह तो पूजीवादी वर्ग का पोषक है। फासिस्ट राज्य को वहुत उच्च स्थान देते है, फासिज्म वहुत संकुचित राष्ट्रवाद पर आधारित है।

कम्युनिज्म वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त मे भले ही यकीन करता हो परन्तु वह न तो युद्धवाद का ही समर्थक है और न अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का। वर्ग-सघर्ष भी तभी तक है जव तक कि पूँजीवाद है। पूँजीवाद की समाप्ति के अनन्तर वर्ग-संघर्ष खत्म हो जाता है, दरअसल तो कम्युनिज्म का मकसद स्थायी शान्ति की स्थापना है। फासिज्म युद्धो को अनिवार्य मानता है।

कम्युनिज्म धर्म तथा ईश्वर मे विश्वास नही करता। वह समझता है धर्म के आधार पर तथा ईश्वर के नाम से गरीव जनता का शोषण किया जाता है। धर्म जन-साधारण मे अज्ञान और उसके फलस्वरूप विवशता की भावना को भर देता है। वह धर्म को राज्य मे विशेष स्थान नही देता, वह उसका उन्मूलन चाहता है। परन्तु फासिज्म धर्म तथा राजनीति का मेल करता है। कम्युनिज्म वास्तविक प्रजातन्त्र तथा वास्तविक स्वतन्त्रता का समर्थक है। वह मानव-मात्र की वरावरी मे यकीन करता हुआ, सभी को आर्थिक स्वतन्त्रता की गारण्टी देना चाहता है। वह असली प्रजातन्त्र का विरोधी नही यद्यपि वह पूजीवादी प्रजातन्त्र व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता। १९३५ के अनन्तर स्टालिन विधान के अधीन सोवियत रूस में एक प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली की स्थापना की गई थी।

कम्युनिज्म मानवीय मूल्यो का त्याग नही करता, वह राज्य को मानवता से उच्च नही समझता वह मानवता को सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोच्च समझता है। राज्य तो एक साधन-मात्र है। फासिज्म मानवता मे यकीन ही नही करता, वह राष्ट्रीय हितो के लिए मानवता तथा उनसे सम्वन्धित सभी मूल्यो की वलि दे देता है।

१८२. आलोचना

फासिज्म का जन्म निराशा की परिस्थितियो मे हुआ, उसका मकमद वदला लेने की भावना था। जर्मनी तथा इटली मे उसने भले ही पर्याप्त औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति को प्राप्त किया हो, परन्तु उसका आधार स्वस्थ तथा मवल भावनाएँ नही थी। उसके दर्शन मे आत्म-विरोध है, उसमे गहराई का अभाव है और अस्पष्टता है। यही नहीं फासिज्म उन सभी मानवीय मूल्यों को स्वीकार करने से इन्कार करता है। जिनकी प्राप्ति के लिए आज तक मानव-समाज लडता चला आया है। वह प्रजा-तन्त्र का शत्रु है, स्वतन्त्रता पर यकीन नही करता, व्यक्ति को कोई महत्त्व नही देता, उसे केवल साधन-मात्र मानता है, युद्ध को मानवीय जीवन का लाजमी भाग मानता है, शान्ति को कायरो का स्वप्न समझता है, मानवीय एकता को गप्प-मात्र और अन्तर्राष्ट्रीयता को वकवास-मात्र। द्वितीय युद्ध के भले ही अन्य कारण भी हों, परन्तु उनका सर्वप्रमुख कारण फासिज्म था। फिर युद्ध के दौरान मे फासिस्टो ने जिस वर्बरता, निरीहता तथा पशुता का परिचय दिया उसके फलस्वरूप वह मानव-मात्र का शत्रु ही वन गया। युद्ध मे फासिज्म की हार हुई, परन्तु फासिस्ट विचारधारा अभी खत्म नही हो पायी। अनेक अन्य प्रजातन्त्रवादी देशो मे भी असहिष्णुता इत्यादि फासिस्ट प्रवृत्तियो का जन्म हो रहा है। मानवीय कल्याण के लिए इन प्रवृत्तियो का त्याग आवश्यक है।

फासिज्म अधिनायकतन्त्र का समर्थक है और प्रजातन्त्र का विरोधी है। प्रजा-तन्त्र के विरोध में पेश की गई फासिज्म की सभी दलीलें निराधार हैं। एकतन्त्रवाद के दोषो पर हम पीछे विचार कर चुके हैं और देख चुके हैं कि स्वशासन प्रणाली (Self Govt) के सामने अन्य कोई भी शासन-व्यवस्था नही टिक सकती। अधिनायक-तन्त्र व्यर्थ मे निरकुशता तथा आतक का प्रसार करता है। फासिज्म की अबुद्धिवादिता गलत धारणाओ पर आधारित है। कोई भी नेता पूरी तरह से ठीक नही हो सकता, त्रुटियाँ स्वाभाविक हैं। इस प्रकार का धार्मिक कट्टरपन तर्क के विरुद्ध है। मनुष्य तर्क तथा विवेक से भी काम लेता है और शासन-सचालन मे ऐसा होना ही चाहिए, वहाँ श्रद्धावाद से काम नहीं चलता। राज्य, समाज तथा राष्ट्र का एकीकरण सर्वथा गलत है। हम पीछे ही यह देख चुके हैं कि यह तीनो अलग-अलग हैं। राज्य तो समाज का एक भाग-मात्र है। राज्य मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को अपने अधीन नही कर सकता। ऐसे एकीकरण का अर्थ समग्रतावादी राज्य (Totalitarian State) की स्थापना होगा, जिसमे आलोचना तथा मतभेद को राजद्रोह समझा जायेगा। राज्य मनुष्य के सामाजिक जीवन की सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति नही है। फासिज्म का जातीय न्चता का सिद्धान्त भी सारहीन है, आज की कोई भी जाति अपने आपको विशुद्ध हीं कह सकती। जातीय उच्चता की बात करना पागलपन है। सभी जातियों मे ापक रूप मे रक्त-मिश्रण हो चुका है।

फासिज्म शक्ति का उपासक है, वह राज्य के बाह्य तथा आन्तरिक दोनो ही त्रो मे पशु-शक्ति के प्रयोग का समर्थक है। शक्ति का प्रयोग राज्य में लाजमी है,

इससे इन्कार नही किया जा सकता, परन्तु केवल मात्र शक्ति को ही राज्य का आधार मानना सर्वथा गलत है। शक्ति की उपासना का अर्थ है शारीरिक या पाशविक शक्ति की पूजा। राज्य का आधार सहमति भी है, उसका एक नैतिक रूप भी है जो पशु-शक्ति पर आधारित नही। शक्ति-सचय का परिणाम यह होता है कि नागरिक सरकार के हाथ मे कठपुतली-मात्र बन जाते हैं, उनका अपना कोई व्यक्तित्व नही रहता। नागरिको का स्वाभाविक विकास रुक जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शक्ति का प्रयोग युद्धो का जनक है, युद्ध मानवता के लिए अनिवार्य नही, उन्ही द्वारा राष्ट्रो का विकास नही होता। आज के युग मे युद्ध इतने सहारक बन चुके है कि उन्हे मानवीय विकास का कारण मानना पागलपन के अतिरिक्त कुछ नही। जब राष्ट्रीय क्षेत्र मे पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसका ऐसा हो सकना क्यो सम्भव नही ?

फासिज्म साहित्य, कला तथा सस्कृति पर भी नियन्त्रण करता है और उन्हें राज्य के हाथ मे केवल प्रचार का साधन-मात्र बना देता है। उसका मकसद मानवता की स्वस्थ अभिव्यक्ति तथा मनुष्य-चरित्र का विकास नही रह जाता बल्कि एक विशेष प्रकार के राजनीतिक उद्देश्य का प्रचार हो जाता है। ऐसी अवस्था मे साहित्य, कला तथा संस्कृति सर्वथा शक्ति-विहीन तथा निर्धन हो जाते हैं।

फासिज्म एक प्रकार का प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त है, वह उन सभी प्रगतिशील विचारो का विरोधी है जिनका जन्म १९वी तथा २०वी सदी मे हुआ। वह पूंजीवाद का उग्रतम तथा निकृष्टतम रूप है, वह पूजीवाद को साम्राज्यवाद के रूप मे बदल देना चाहता है। साम्राज्यवाद द्वारा अविकसित तथा औद्योगिक दृष्टि से पिछडे हुए राज्यो पर, उनके आर्थिक शोषण के लिए, नियन्त्रण स्थापित करने के प्रयत्न किए जाते है। इन सबका परिणाम युद्ध, शोषण तथा उपनिवेशवाद की स्थापना होगा।

फासिज्म मे राज्य-शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है। स्वशासन का अभाव रहता है, परन्तु पीछे हम देख चुके है कि राज्यशक्ति का केन्द्रीकरण सदा ही स्वस्थ राजनीतिक सस्थाओ के विकास के लिए घातक होता है। आज के युग की बडी आवश्यकता राज्य-शक्तियो का विकेन्द्रीकरण तथा स्वशासन-व्यवस्था का विकास है। उसी द्वारा जन-सामान्य की रचनात्मक शक्तियो का विकास होता है।

इस प्रकार फासिज्म मानवीय हितो के लिए घातक तथा सामाजिक जीवन का विरोधी होने के कारण त्याज्य है।

Important Questions

References

1. What do you understand by Fascism ? State and criticise its main tenets *(Agra 1937, 1938)*

Or

Write a short essay on Fascism *(Pb 1959)*

Or

Comment on the nature of state activity under Fascism *(Pb. 1950)*	Arts 178 179, 180 and 182
2 "Fascism is the antithesis of all that is democratic liberal and socialistic" Explain the above	Arts 178, 180 and 182
3 Discuss Fascism with special reference to the circumstances which led to its development	Arts 178, 179 and 180
4 Make a comparative study of Fascism and Communism	Art 181

राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त (५)

गाधीवाद (Gandhism)

१८३. राजनीति तथा गांधी जी

भारतीय राजनीति मे महात्मा गाधी का विशेष महत्त्व रहा है। उन्होंने न केवल भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया और उसे स्वतन्त्र कराया बल्कि भारत के भविष्य के राजनीतिक सगठन के विषय मे भी अपने विचार प्रगट किए। जन-साधारण महात्मा गाधी को एक राजनीतिक नेता या महान् राष्ट्रनायक के रूप मे ही जानता है, वह उनके राजनीतिक विचारो से परिचित नही। महात्मा गाधी के राज्य तथा समाज के सगठन सम्बन्धी इन्ही विचारो को 'गाधीवाद' का नाम दिया जाता है। परन्तु गाधी जी के राजनीतिक विचार उनके व्यावहारिक राजनीतिक जीवन का ही फल हैं। व्यावहारिक राजनीतिक जीवन भी उन्होंने एक आवश्यक बुराई के रूप मे ही स्वीकार किया था। वह मुख्य रूप से अध्यात्म तथा धर्म-प्रधान जीवन को पसन्द करते थे, परन्तु उनका यह विश्वास था कि राजनीतिक गुलामी की हालत मे आध्यात्मिक उन्नति की आशा व्यर्थ है। उनके विचारो के अनुसार व्यक्ति के चारित्रिक विकास के लिए राजनीतिक स्वाधीनता की उपस्थिति जरूरी है। व्यावहारिक राजनीतिक जीवन को स्वीकार कर उन्होंने उसमे अनेक सुधार करने के प्रयत्न किए और राज्य के संगठन तथा कर्त्तव्य के विषय मे अपने विचारो को प्रकट किया। उन्होंने अरस्तू, मेकियावली या हाब्स की तरह किन्ही विशेष प्रकार के राजनीतिक सिद्धान्तो की रचना का प्रयत्न नही किया था, न ही ऐसा करना उनका मक़सद था।

महात्मा गाधी के विचारो को किसी 'वाद' का नाम देना भी गलत है। 'वाद' के अन्तर्गत बँधी विचारधारा मे कठोरता (Rigidity) तथा अप्रगतिशीलता आ जाती हे, उसमे प्रवाह नही रह पाता। परन्तु महात्मा गाधी ने ऐसी किसी भी विचारधारा का विकास नही किया जिसमे कि परिवर्तनशीलता का अभाव हो या जिसमें कठोरता या अप्रगतिशीलता का समावेश हो सके। वह स्वयं अपने विचारो को किसी भी वाद विशेष के अन्तर्गत बाँधे जाने के विरुद्ध थे। गाधी जी का सम्पूर्ण जीवन प्रयोगशीलता (Experimentation) तथा सत्य की खोज मे बीता। सत्य का कोई भी सच्चा उपासक कभी भी अपने विचारो को अपरिवर्तनशील तथा कठोर नही बना सकता। वह सदा ही सीखने की कोशिश करता है, हमेशा जिज्ञासु ही रहता है। महात्मा गाधी ने भी अपने विचारो के लिए कभी पूर्णता का दावा नही किया, न ही गाधीजी ने अपने विचारो को सर्वथा मौलिक ही कहा। महात्मा

बुद्ध की तरह महात्मा गाधी भी समन्वयवादी थे, उन्होने भारत की विभिन्न परम्पराओं तथा विचारधाराओ मे ही नही बल्कि पूर्वी तथा पश्चिमी विचारो के समन्वय (Synthesis) का भी प्रयत्न किया। उनके जीवन की सफलता का बडा रहस्य उनकी यह समन्वयवादी प्रवृत्ति ही है। भारतीय जन-जीवन मे सफलता-प्राप्ति का इसे मूल मन्त्र ही कहा जा सकता है। यही कारण है कि हम गाधी जी के विचारो को 'वाद' न कह 'जीवन के प्रति एक प्रकार का दृष्टिकोण' कह सकते है। परन्तु गाधी जी के भक्त तथा अनुयायी इस स्थिति से सन्तुष्ट नही, वे उसे 'वाद' का रूप देना चाहते हैं। आज का 'गाधीवाद' महात्मा जी के इन्ही श्रद्धावान भक्तो की रचना है। 'गाधीवाद' के विवेचको मे सर्वश्री पट्टाभि सीतारमैया, आचार्य कृपलानी, काका साहब कालेलकर और मशरूवाला विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आज की भारतीय राजनीति मे महात्मा गाधी के विचारो का व्यावहारिक प्रयोग अनेक प्रकार से हो रहा हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प० नेहरू की शान्ति-नीति, पचशील तथा सह-जीवन (Co-existence) के सिद्धान्तो का आधार गाधी जी के व्यावहारिक राजनीति के सिद्धान्त ही हैं। विदेशी मामलों मे भारत साम्यवाद तथा प्रजातन्त्र दोनो के प्रति उदारता का दृष्टिकोण रखता है, वह दोनो के समन्वय तथा मेल-जोल के पक्ष मे है।

इधर हमारे सामाजिक तथा आर्थिक जीवन मे परिवर्तन लाने के लिए आचार्य विनोवा भावे तथा श्री जयप्रकाश नारायण जिन अहिंसात्मक साधनो का प्रयोग कर रहे हैं, वे भी महात्मा गाधी की ही देन हैं। गाधी जी सामाजिक तथा आर्थिक अन्याय के विरोधी थे, परन्तु वह इन सभी का विरोध अहिंसात्मक साधनो (Non-violent methods) द्वारा ही करना उचित समझते थे। बडी-से-बडी सामाजिक क्रान्ति के लिए भी उन्होंने 'हृदय-परिवर्तन' (Change of heart) के साधन को अपनाने के लिए ही कहा, अनैतिक साधनो को नही। भू-दान का आन्दोलन नैतिक अधिक और आर्थिक कम है।

१८४ महात्मा गाधी के विचारो का आधार

जैसा कि हम पीछे ही कह आये हैं कि गाधी जी समन्वयवादी है, उन्होने परस्पर विरोधी विचारो तथा परम्पराओ मे मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनके जीवन मे अध्यात्म, नैतिकता तथा धार्मिकता की प्रधानता है। इस प्रकार के उनके विचारो के निर्माण में भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओ का विशेष हाथ रहा है। गीता से गाधी जी ने कर्मयोग का पाठ पढा, गीता से ही गांधी जी ने आत्म-सयम तथा निष्काम-कर्म के महत्त्व को समझा। गाधी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके जीवन के निर्माण मे गीता का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा हैं। 'गीता मे भोग तथा त्याग, तप तथा कर्म के समन्वय का उपदेश दिया गया है।'

घरेलू वातावरण से जिस धार्मिकता को उन्होने सीखा था उसमे जैन-धर्म द्वारा प्रस्तुत और वैष्णववाद द्वारा समर्थित अहिंसा का प्रमुख स्थान था। परन्तु गाधी जी

की अहिंसा जैन-धर्म की निष्क्रिय अहिंसा नही, न ही उसमे जैनियो का अतिवाद था। उसका आधार तर्क और विवेक है, साथ ही उसमे गीता के कर्मयोग का समन्वय किया गया है। गाधी जी से पूर्व भी अहिंसा का समर्थन अनेक प्रकार से किया गया था। पातजलि के 'योग-दर्शन' मे तथा जैन-धर्म के अतिरिक्त बुद्ध-धर्म मे भी अहिंसा का प्रमुख स्थान है। परन्तु इन सभी मे 'अहिसा' को एक वैयक्तिक गुण के रूप मे ही अपनाया गया था। गाधी जी ने ही उसे सामाजिक रूप दिया। उनका कथन था कि प्रत्येक समाज तथा देश को सत्य तथा अहिंसा के सनातन नियमो को व्यावहारिक रूप मे अपनाना चाहिए।

विदेशी महापुरुषो मे जॉन रस्किन (John Ruskin), अमेरिकन अराजकतावादी फक्कड दार्शनिक डेविड थोरो (David Thoreau) तथा रूस के विचारक तथा साहित्यकार टाल्सटाय (Tolstoy) ने भी महात्मा गाधी को विशेष प्रभावित किया। टाल्सटाय एक धार्मिक प्रवृत्ति का विचारक था, वह राज्य का विरोधी तथा अहिंसा का कट्टर समर्थक था। महात्मा गाधी के सत्याग्रह सम्बन्धी विचारो का टाल्सटाय ने भी समर्थन किया।

१८५ महात्मा गांधी के राजनीतिक विचार

गाधी जी के राजनीतिक विचारो की एक बडी विशेपता उनकी नीतिमत्ता है। गाधी जी के उद्देश्य आध्यात्मिक तथा नैतिक थे। उन्होंने राजनीति मे और आचार-शास्त्र मे विशेष अन्तर नही माना, न ही वह अध्यात्म और धर्म को ही राजनीति से पृथक् समझते थे। उन्होने धर्म तथा राजनीति मे आत्मा तथा शरीर के-से सम्बन्धो की उपस्थिति को स्वीकार किया है। अत सामाजिक तथा राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति धार्मिक तथा नैतिक मन्तव्यो के अनुसार होनी चाहिए। परन्तु गाधी जी के धर्म तथा अध्यात्म की परिभापा वहुत विस्तृत है। वह सभी धर्मो के उच्च तथा श्रेष्ठ सिद्धान्तो से मिलकर बनी है। उसमे अन्धविश्वास, कट्टरता तथा सकुचितता का अभाव है। उनका धर्म विश्व-धर्म है। उसका सभी अनुसरण तथा पालन कर सकते है। उसका आधार सत्य, अहिसा तथा मानवता-प्रेम है।

गाधी जी के अध्यात्मवाद के वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनो ही पहलू है। उसमे प्लेटो के न्याय भाव (Conception of Justice) तथा प्राचीन हिन्दू-समाज का धर्म-भाव, दोनो का समान रूप से समावेश हो जाता है। उसमे व्यक्ति के नैतिक तथा सामाजिक दोनो प्रकार के कर्त्तव्य शामिल है। यही कारण है कि गाधी जी के राजनीतिक मिशन का उद्देश्य सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का नैतिक तथा आध्यात्मिक सुधार है। राजनीतिक जीवन का ऐसा उद्देश्य निश्चय ही महान् तथा अभूतपूर्व है।

राज्य का स्वरूप तथा कर्त्तव्य—गाधी जी का मिशन भारत की स्वतन्त्रता था, भविष्य के समाज-संगठन के प्रति उन्होंने विरले ही अपने विचार प्रकट किए। राज्य की प्रकृति विपयक अपने विचारो मे उन्होने रूस के अराजकतावादी विचारक टाल्सटाय का अनुसरण किया। टाल्सटाय की तरह ही उन्होने राज्य-संस्था

का विरोध किया। गाधी जी के मतानुसार राज्य के कार्यो मे नैतिकता का अभाव होता है। एक नैतिक कार्य वही है, जो स्वाभाविक हो तथा जिसे स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाए। वह कार्य, जिसे व्यक्ति किसी भी दवाव मे विवशतापूर्वक करता है, नैतिक नही कहला सकता। राज्य व्यक्ति को कुछ कार्य करने के लिए विवश करता है, अत वह नैतिकता को प्रोत्साहित नही करता वल्कि उसे खत्म करता है।

इस तरह राज्य किसी भी रूप मे वाछनीय नही, क्योकि उसका आधार हिंसा तथा वल-प्रयोग है। यहाँ गाधी जी के विचार अराजकतावादियो से बहुत मिलते हैं। अहिंसा तथा वल-प्रयोग के आधार पर कायम होने के कारण राज्य अन्याय तथा शोषण करने वाली सस्था है। वर्तमान सभ्यता का सम्पूर्ण ढाँचा राज्य के आधार पर खडा है, इसी कारण वह वदल दिया जाना चाहिए। गाधी जी राज्य के विषय मे अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि **"राज्य हिंसा के मूर्त तथा सगठित रूप का प्रतिनिधित्व करता है। मनुष्य मे आत्मा होती है, परन्तु राज्य एक ऐसी मशीन की तरह है जिसमें आत्मा का निवास नहीं। राज्य को हिंसा से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका आधार ही हिंसा है।"**[1] आजकल सर्वत्र राज्य के कर्त्तव्य बढ रहे हैं, और इन कर्त्तव्यो को पूरा करने के लिए राज्य को अधिक से अधिक शक्तिशाली वनाया जा रहा है। गाधी जी राज्य के शक्तिशाली रूप के कडे विरोधी थे।

अराजकतावादियो की तरह गाधी जी एक राज्यविहीन तथा वर्गविहीन (Classless) समाज के सगठन के पक्ष मे थे। ऐसे आदर्श राज्य के चित्र का आभास उन्होंने थोडा-वहुत इधर-उधर अवश्य दिया है। इस आदर्श समाज के सगठन का आधार ऐच्छिक समुदाय है। प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपने आपको विभिन्न समुदायो मे सगठित करेगा। प्रत्येक व्यक्ति को स्वशासन का अधिकार होगा। गाधी जी मनुष्य-स्वभाव की उच्चता तथा उदारता मे यकीन करते थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य सभी आवश्यक मानवीय गुणो से युक्त होता है, स्वभाव से वह अहिंसा-प्रेमी तथा परोपकारी होता है। अगर ठीक-ठीक परिस्थितियो मे वह रहे तो उसके चरित्र मे कोई खराबी नहीं आ सकती। राज्य-शक्ति द्वारा मनुष्यो को सत्यपथ का अनुगामी नही वनाया जा सकता। गाधी जी का विश्वास था कि अराजक समाज मे प्रत्येक व्यक्ति पारस्परिक सहयोग द्वारा सामाजिक जीवन को पूर्ण वनाने का प्रयत्न करेगा। इस आदर्श समाज मे सामाजिक सहयोग प्रत्येक व्यक्ति का पुनीत कर्त्तव्य समझा जाएगा।

गाधी जी का आदर्श समाज अहिंसा पर आधारित ग्राम-समाज है। इस ग्राम-समाज के संगठन का आधार शारीरिक शक्ति तथा वल-प्रयोग नही होगा। सेना, पुलिस

1 "The state represents violence in concentrated and organised form The individual has a soul, but the state is a soulless machine, it can never be weaned from violence to which it owes its very existence"—*M K. Gandhi*

तथा न्यायालय इत्यादि मौजूदा राज्य के महत्त्वपूर्ण अंग, इस समाज मे नही होंगे। बडे-बडे कल-कारखानो का अभाव होगा। ग्रामीण-समाज आत्म-निर्भर होगा, उसमे छोटे-मोटे घरेलू उद्योग-धन्धे तो अवश्य होंगे, परन्तु बडे-बडे कल-कारखाने दासता के जनक होते हैं। गाधी जी आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता के पूर्ण विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे थे। तभी सच्चे अर्थों मे मनुष्य राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो सकेगा।

परन्तु गाधी जी अपने विचारो तथा आदर्शों मे पर्याप्त व्यावहारिक थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि एक पूर्ण हिंसात्मक समाज का सगठन असम्भव-सा है। वह स्वीकार करते हैं कि **"कोई भी सरकार पूर्ण रूप से अहिंसात्मक बनने में सफल नहीं हो सकती, क्योंकि उसका आधार सम्पूर्ण जन-समाज होता है, आज ऐसे स्वर्ण-युग की कल्पना मैं नहीं कर सकता। परन्तु मैं एक ऐसे राज्य की कल्पना अवश्य करता हूँ जो मुख्य रूप से अहिंसात्मक हो।"**[1]

राज्य के कर्त्तव्य—इस प्रकार स्पष्ट है कि गाधी जी व्यक्तिवादियो की तरह राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप मे ही स्वीकार करते हैं। गाधी जी की दृष्टि मे राज्य की कोई नैतिक उपयोगिता नही। यही कारण है कि गाधी जी राज्य को थोडे-से-थोडे कार्य सौंपने के पक्ष मे हैं। गाधी जी का कथन है कि **"स्वशासन का अर्थ सरकार—विदेशी या राष्ट्रीय दोनो—के नियन्त्रण से अधिक-से-अधिक मुक्ति है। वह स्वशासन-व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय होगी जिसमे कि लोग अपने वैयक्तिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर सरकारी नियन्त्रण की आशा रखें।"** अधिकाश राजनीतिक कर्त्तव्यो का पालन ऐच्छिक समुदायो (Associations) द्वारा होना चाहिए। गाधी जी यह स्वीकार करते हैं कि अनेक कार्यों की प्रकृति ही ऐसी होती है कि जिनका पालन राज्य द्वारा ही सम्भव होता है, परन्तु ऐसे कार्यो की सख्या को घटाना चाहिए। राजनीतिक शक्ति का अत्यधिक सग्रह हमारी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए घातक है। वास्तविक लोकतन्त्र के विकास की सम्भावना तभी है जबकि राज्य हमारे कार्यो मे कम-से-कम हस्तक्षेप करे।

राज्य का मुख्य कर्त्तव्य शासन-व्यवस्था को बनाए रखना है। उनका विचार है कि जब राज्य-सस्था अहिंसा तथा सत्य पर आधारित होगी तो अपराधो की संख्या अपने-आप कम हो जाएगी। हाँ, हिंसात्मक प्रवृत्तियो वाले लोगो के लिए समुचित दण्ड-व्यवस्था होनी चाहिए।

महात्मा गांधी वर्तमान न्याय-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था के विरोधी थे। उनका विचार था कि मौजूदा कानून-व्यवस्था बहुत जटिल है, उसे जन-साधारण समझ ही नही पाता। उस द्वारा वकील लोग ही पैसा कमा सकते हैं। कानूनों को

1. "A Government cannot succeed in becoming entirely non-violent, because it represents all the people. I do not today conceive of such a golden age. But I do believe in the possibility of a predominantly non-violent society."—*M. K. Gandhi.*

सुगम तथा सरल बनाना चाहिए। अदालतो को खत्म कर पच-न्याय-व्यवस्था कायम की जानी चाहिए। इससे एक तो खर्च की कमी होगी, दूसरे, लोगो मे आत्म-विश्वास तथा आत्म-निर्णय की भावना बढ़ेगी। पुलिस के अधिकारियो मे केवल उन्हे ही शामिल किया जाना चाहिए जो अहिंसा मे यकीन करते हो और जो अपने आपको जनता का सेवक समझते हो।

महात्मा गाधी मौजूदा प्रतिनिधि व्यवस्था को भी अच्छा नही समझते, उन्होंने अनेक स्थानो पर अग्रेजी पार्लियामेण्ट व्यवस्था की कडी आलोचना की है। वह प्रजातन्त्र व्यवस्था के समर्थक हैं, परन्तु वोट का अधिकार केवल उन्ही लोगो को देने के हक मे हैं जो मेहनत द्वारा अपनी रोटी कमाते हैं। गाधी जी का मत है कि चुनाव के लिए उम्मीदवार बनने का अधिकार भी उन्ही लोगो को होना चाहिए जो सच्चे अर्थो मे निस्वार्थी तथा जनसेवक हो।

आर्थिक व्यवस्था—महात्मा गाधी मौजूदा अर्थ-व्यवस्था के भी विरोधी हैं। उन्होने मौजूदा समाज मे पाये जाने वाली आर्थिक असमानता की कडी आलोचना की है। उनका कथन है कि एक अहिंसात्मक समाज का निर्माण तब तक असम्भव है जब तक कि गरीब तथा अमीर मे भारी आर्थिक अन्तर मौजूद रहता है। मौजूदा अर्थ-व्यवस्था का बडा दोष पूंजी का केन्द्रीकरण तथा कल-कारखानो की स्थापना है। उनके विचारानुसार मशीन पर आधारित अर्थ-व्यवस्था मनुष्य को निकम्मा बना देती है, समाज मे आर्थिक भेद-भाव को उत्पन्न करती है और मजदूरो की स्वतन्त्रता का अपहरण करती है।

महात्मा गाधी आत्मनिर्भर ग्रामीण-समाज के सगठन के हक मे हैं। उनका कथन है कि देश के विस्तृत औद्योगीकरण (Large scale industrialisation) के स्थान पर छोटे-छोटे उद्योग-धन्धो, विशेष रूप से घरेलू उद्योगो (Cottage Industries) के विकास को प्रोत्साहित करना चाहिए। प्रत्येक गाँव को भोजन, वस्त्र तथा रहने के मकानो के मामले में आत्मनिर्भर होना चाहिए। घरेलू उद्योग-धन्धो के विकास के फलस्वरूप बेकारी की सम्भावना खत्म हो जाएगी, साथ ही पूँजी का केन्द्रीकरण भी नही होगा। मौजूदा समाज की इन दो बडी कमियो को इस ढग से दूर किया जा सकता है। उत्पादन की वृद्धि के लिए गाधी जी बिजली इत्यादि मौजूदा आविष्कारो के प्रयोग के विरोधी नही थे, न ही उन्होने सार्वजनिक प्रयोग मे आने वाली आवश्यक वस्तुओ के निर्माण के लिए कल-कारखानो के इस्तेमाल का ही विरोध किया है।

गाँधी जी ने मौजूदा अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत पाये जाने वाले आर्थिक भेद-भाव की दूरी के लिए 'ट्रस्टीशिप' (Trusteeship) की व्यवस्था तथा हृदय-परिवर्तन के साधन को अपनाने का समर्थन किया है। गाधी जी वैयक्तिक सम्पत्ति व्यवस्था को स्वीकार नही करते, परन्तु मौजूदा व्यवस्था के हिंसात्मक साधनो द्वारा परिवर्तन के भी विरोधी हैं। गाधी जी का कथन है कि जमींदारो तथा कारखानेदारो को अपने आपको अपनी सम्पत्ति का स्वामी नही समझना चाहिए, सम्पत्ति तो भगवान

की है, सम्पत्तिशाली लोग तो उस सम्पत्ति के केवल सरक्षक या ट्रस्टी हैं, और उन्हे उसका प्रयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नही, वल्कि जन-साधारण के कल्याण के लिए करना चाहिए। इस प्रकार की भावना का विकास हृदय-परिवर्तन द्वारा ही सम्भव है, जोर-जवर्दस्ती से नही। अगर मनुष्य के हृदय मे परिवर्तन न हो और सम्पत्ति का जर्ददस्ती राष्ट्रीयकरण हो जाए तो भी समाज मे न्याय तथा शान्तिपूर्ण स्थिति को उत्पन्न नही किया जा सकता। परन्तु जमीदार तथा पूँजीपति की प्रवृत्ति को वदलने के लिए गाधी जी ने नैतिक वल के प्रयोग का विरोध नही किया। शोषण की समाप्ति के लिए जन-साधारण असहयोग (Non-Co-operation) के साधन का प्रयोग कर सकते हैं।

गाधी जी का विश्वास है कि 'ट्रस्टीशिप' की व्यवस्था द्वारा मौजूदा पूंजीवादी समाज को एक ऐसे समाज मे वदला जा सकता है, जहाँ आर्थिक स्वतन्त्रता तथा समानता हो और जहाँ मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का सर्वथा अभाव हो। 'ट्रस्टीशिप' का साधन शान्तिपूर्ण व सुधारवादी है। यह वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार को उसी रूप मे मान्यता प्रदान करता है जहाँ तक कि वह समाज के हित मे है। उत्पादन के प्रकार तथा मात्रा का निर्णय समाज स्वय करेगा, और कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति का प्रयोग अपने ही हित के लिए नही कर सकेगा। 'ट्रस्टीशिप' की व्यवस्था के अन्तर्गत समाज स्वय सम्पत्ति के सरक्षको तथा मजदूरो और किसानो की आमदनी निश्चित करेगा। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं गाधी जी विकेन्द्रीकृत (Decentralised) अर्थ-व्यवस्था को ही आदर्श अर्थ-व्यवस्था मानते हैं, उद्योग-धन्धो के राज्य द्वारा या पूँजीपतियो द्वारा नियन्त्रण मे वह कोई विशेष अन्तर नही मानते।

१८६. सामाजिक परिवर्तन के साधन

गाधी जी ने सामाजिक तथा राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधनो की महत्ता पर विशेष विस्तार से विचार किया है। हम पीछे देख चुके हैं कि गाधी जी मुख्य रूप से आध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, इसी कारण उन्होने जीवन मे नैतिक मूल्यों को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने साध्य (End) तथा साधन (Means) मे मतभेद नही किया। नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति अनैतिक साधनो द्वारा सम्भव नही। 'जैसा वोओगे वैसा ही काटोगे'। भारतीय स्वतन्त्रता-सग्राम के दौरान मे भी उन्होने अनैतिक तथा हिंसात्मक साधनो के अपनाने का तीव्र विरोध किया और साधनो की पवित्रता पर विशेष जोर दिया। अच्छे उद्देश्यो को हासिल करने के लिए अच्छे साधनो को अपनाना लाजमी है। यही कारण है कि उन्होंने सत्य तथा अहिंसा के आधार पर 'सत्याग्रह' के दर्शन का विकास किया। सत्य तथा अहिंसा का घनिष्ठ सम्वन्ध है, दोनो एक दूसरे पर आश्रित हैं। जहाँ अहिंसा है, वहीं सत्य भी है। जो कुछ सत्य है उसकी प्राप्ति के लिए आग्रहपूर्वक अहिंसात्मक साधनो द्वारा प्रयत्न करना ही 'सत्याग्रह' है। महात्मा जी के विचार के अनुसार सत्याग्रही

की अहिंसा कायर या डरपोक की अहिंसा नही। एक वीर पुरुष युद्ध मे विना प्राण-भय से लडता है। सत्याग्रही भी प्राणो का भय गँवाकर अपने उद्देश्य के लिए लडता है, वह केवल दूसरे के प्राण लेने की वजाए अपने प्राणो की आहुति देने के लिए तैयार रहता है। सत्याग्रही अन्याय, असत्य, शोषण तथा दुराचार का विरोधी है, और उनको दूर करने के लिए वडे-से-वडे कष्ट सहने के लिए सदा तैयार रहता है। इस प्रकार गाधी जी की अहिंसा को अपनाने के लिए विशाल हृदय तथा साहस की आवश्यकता है। सत्याग्रही के लिए मन तथा कर्म से अहिंसक होना लाजमी है। ऐसा कर गाधी जी ने सत्याग्रह का एक उच्च नैतिक आधार दे दिया है।

सत्याग्रह के विभिन्न स्वरूप—सत्याग्रह के साधन का वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से अनेक प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है, इनमे मे निम्नलिखित प्रमुख हैं—

१. **असहयोग** (Non-co operation)—सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन मे असहयोग का विशेष महत्त्व है। गाधी जी का यह विचार सर्वथा ठीक है कि किसी भी राष्ट्र या समाज का शोषण तभी सम्भव है जव कि उसी समाज के सदस्य पोषक के साथ सहयोग करें। अगर किसी भी शोषक को चाहे वह व्यक्ति हो या सरकार—जनता का सहयोग प्राप्त न हो सके तो उसे स्वय जनता के सम्मुख घुटने टेकने पडेंगे। असहयोग का शस्त्र वहुत महत्त्वपूर्ण है और वह वहुत कारगर भी सिद्ध होता है। असहयोग आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए गाधी जी ने निम्न साधनो के अपनाए जाने का समर्थन किया है—

(क) हडताल।

(ख) **सामाजिक बहिष्कार**—यह साधन उन लोगो के प्रति अपनाया जा सकता है जो राष्ट्र या समाजद्रोही हो। इस साधन को वहुत सोच-समझकर इस्तेमाल मे लाना चाहिए। अनेक बार इस साधन द्वारा अनुचित तथा अनैतिक दवाव भी डाला जा सकता है।

(ग) धरना देना (Picketing)।

२ **भद्र अवज्ञा आन्दोलन** (Civil Disobedience)—इसका अर्थ है अनैतिक भ्रष्ट तथा अन्यायपूर्ण कानूनो का शान्तिपूर्ण साधनों से भग करना। गाधी जी इस साधन को सशस्त्र क्रान्ति से किसी तरह भी कम प्रभावपूर्ण नही मानते। गाधी जी का कथन है कि इस साधन द्वारा गन्दे-से-गन्दे कानून को निकम्मा बनाया जा सकता है और कठोर-से-कठोर शासन-व्यवस्था को प्रभावहीन किया जा सकता है। परन्तु भद्र अवज्ञा का यह आन्दोलन किसी भी अवस्था मे अशान्तिपूर्ण तथा हिंसात्मक नही होना चाहिए।

(३) **भूख-हडताल तथा हिजरत**—ये सत्याग्रह के दो अन्य रूप हैं। भूख-हडताल को सत्याग्रह-पद्धति का एटम वम कहा जा सकता है। इसको सामूहिक तथा वैयक्तिक दोनो ही रूप मे इस्तेमाल किया जा सकता है, परन्तु गाधी जी इसके वैयक्तिक प्रयोग के ही पक्ष मे हैं। गाधी जी का कथन है कि अनशन व्रत या भूख-हडताल उसी

व्यक्ति को करना चाहिए जो मन, वचन तथा कर्म से अहिंसक हो, जिसके मन मे अपने शत्रु के प्रति भी द्वेष न हो। अनशन आत्मशुद्धि तथा सामाजिक शुद्धि, दोनो के लिए ही किया जा सकता है। भूख-हडताल के अस्त्र का दुरुपयोग हो सकता है, इसलिए गाधी जी ने इसके विचारपूर्वक प्रयोग का ही समर्थन किया है।

हिजरत का अर्थ है स्वेच्छापूर्वक किसी स्थान विशेष का छोड देना। गाधी जी का कथन है कि जब कभी कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय किसी विशेष प्रदेश मे आत्म-सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत नही कर सकता या अन्याय तथा अत्याचार का विरोध नही कर सकता तो उस समय उसे आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए स्वेच्छा से उस स्थान को छोड देना चाहिए।

गाधी जी ने मजदूरो को भी अपने हितो की रक्षा के लिए सत्याग्रह के साधन के प्रयोग की सलाह दी है।

सामाजिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्र मे ही नही वल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी गाधी जी ने सत्याग्रह तथा अहिंसात्मक साधनो के प्रयोग का सुझाव दिया है। उनका विश्वास था कि अगर कोई देश विश्वासपूर्वक अहिंसात्मक साधनो का इस्तेमाल करे तो उस पर कोई विदेशी आक्रमण सम्भव नही हो सकता। साम्राज्यवादी देशो के आक्रमण का मुकाबला भी असहयोग इत्यादि सत्याग्रह के अहिंसात्मक साधनो द्वारा किया जा सकता है। गाधी जी मनुष्य-स्वभाव की अच्छाई मे यकीन करते है, उनका विश्वास है कि कोई भी हमलावर किसी भी अहिंसक सेना का व्यर्थ खून नही वहायेगा, उनका हृदय अवश्य पिघल जाएगा। हिंसा तो हिंसा को ही वढाती है। उन्होंने द्वितीय युद्ध के दौरान मे चीन को जापान का मुकावला करने के लिए अहिंसात्मक साधनो के प्रयोग की सलाह दी थी।

१८७. गांधीवाद तथा साम्यवाद

साम्यवाद आज विश्व की आर्थिक तथा राजनीतिक बुराइयो को दूर करने का प्रमुख साधन माना जाता है। गाधीवाद भी हमारे आर्थिक और राजनीतिक जीवन की बुराइयो को दूर करने के अनेक सुझाव देता है, यहाँ दोनो की तुलना कर लेना असगत न होगा। गाधीवाद तथा साम्यवाद दोनो ही समानता के समर्थक हैं, दोनो ही वर्गगत, जातिगत तथा वर्णगत भेदो को खत्म करना चाहते है। गाधीवाद तथा साम्यवाद आर्थिक समानता के पोषक हैं। गाधीवाद सम्पत्ति को भगवान् की देन मानता है और उसका प्रयोग सामाजिक हित मे होना चाहिए—इस वात का प्रवल समर्थन करता है। साम्यवाद सम्पत्ति को सामूहिक श्रम का फल मान उसका सामूहिक हित मे प्रयोग करना उचित समझता है।

गांधीवाद तथा साम्यवाद दोनो ही 'एक राज्य-विहीन' समाज के सगठन के समर्थक है। दोनो ही ऐसे समाज मे सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन का नियन्त्रण स्वेच्छा से सगठित समुदायो के हाथ सौप देना चाहते हैं, परन्तु दोनो ही मौजूदा हालत मे राज्य की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।

गाधीवाद तथा साम्यवाद दोनो मानवता-प्रेमी है और दोनो का उद्देश्य ऐसी परिस्थितियो की रचना करना है जिनमे यह मनुष्य भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति कर सके, और जीवन के सर्वोच्च उद्देश्यो को पा सके। साम्यवाद तथा गाधीवाद दोनो के ही अन्तर्गत मानवीय श्रम को श्रेष्ठ समझा जाता है।

इन समानताओ के बावजूद भी गाधीवाद तथा साम्यवाद मे अनेक आधारभूत भेद हैं। कम्युनिज्म का आधार भौतिकवाद है, उसमे अर्थतन्त्र (Economic structure) तथा यन्त्र-व्यवस्था (Technology) को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इसके विपरीत गाधीवाद आध्यात्मिक तथा नैतिक है। इसमें मन (Individual mind) तथा आत्मा का विशेष स्थान है। यही कारण है कि मार्क्स तथा उसके अनुयायी साधन (Means) को महत्त्व नही देते और साध्य (End) को ही सब-कुछ समझते हैं। वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सभी प्रकार के साधनो का प्रयोग उचित समझते हैं। इसके विपरीत, गाधी जी, ऊँचे उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए विशुद्ध साधनो को अपनाना आवश्यक मानते हैं। वह साधन (Means) तथा साध्य (End) को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। गाधी जी अहिंसा का समर्थन करते हैं जबकि कम्युनिस्ट सशस्त्र क्रान्ति का। वर्तमान समाज दोनो की दृष्टि मे त्रुटिपूर्ण है, दोनो ही इसके परिवर्तन के समर्थक हैं, परन्तु जहाँ कम्युनिस्ट इसके लिए बल-प्रयोग का समर्थन करते हैं, वहाँ गाधी जी अहिंसा तथा हृदय-परिवर्तन (Change of heart) का।

महात्मा गाधी सामाजिक सुधार के लिए व्यक्ति के चरित्र का सुधार आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि तब तक कोई भी सामाजिक सुधार की योजना पूर्ण नही हो सकती जब तक कि मनुष्य की मनोवृत्ति में परिवर्तन न हो जाए। अगर सामाजिक सदस्य स्वार्थी हैं, वे सामाजिक सेवा को अधिक महत्त्व नही देते तो साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था भी शोषण तथा अत्याचार का साधन बन जाएगी। सार्वजनिक हित के लिए मनुष्य तभी प्रेरित हो सकता है जब उसकी मनोवृत्तियो का भी सुधार हो।

मार्क्स तथा उसके कम्युनिस्ट अनुयायी वर्ग-सघर्ष (Class-war) के सिद्धान्त में यकीन करते हैं। उनका विश्वास है कि सामाजिक प्रगति विभिन्न आर्थिक वर्गों के पारस्परिक सघर्ष से ही होती है। इसके विपरीत महात्मा गाधी विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सहयोग में यकीन करते हैं। उनका विचार है कि अगर समाज का प्रत्येक समुदाय अपने-अपने कर्त्तव्यो का पालन करे, तो किसी भी प्रकार के झगडे तथा परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं।

कम्युनिस्ट पूंजी के वैयक्तिक नियन्त्रण के स्थान पर राजकीय नियन्त्रण की स्थापना के पक्ष में हैं। महात्मा गाधी उत्पादन के साधनो के राजकीय नियन्त्रण के विशेष पक्ष में नही। गाधी जी घरेलू उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहित करने के हक मे हैं, वह देश के विस्तृत औद्योगिकरण के पक्ष में नही, न ही गाधी जी यन्त्र-व्यवस्था के विकास को ही बहुत अच्छा समझते हैं। महात्मा गाधी का दृष्टिकोण सयम तथा आत्म-निग्रह को विशेष महत्त्व देता है। उनका विचार है कि मनुष्य को अपनी

आवश्यकताओ को घटाना चाहिए और जीवन मे सरलता व सादगी पर अधिक बल देना चाहिए । परन्तु कम्युनिस्ट महात्मा गाधी से इन बातो पर सहमत नही ।

महात्मा गाधी राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे है। परन्तु कम्युनिस्ट जिस अन्तरिम सरकार की स्थापना करते है, उसे समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के नियन्त्रण का पूर्ण अधिकार दे देते है। कम्युनिस्टो का सक्रान्तिकालीन (Interim state) राज्य अत्यन्त खतरनाक है। वह मनुष्य के जीवन के विभिन्न पक्षो के नियन्त्रण की असीम सत्ता से सम्पन्न है। ऐसा राज्य व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता को खत्म कर देता है, गाधी जी इस प्रकार के राज्य की स्थापना का कभी समर्थन नही करते।

निष्कर्ष—ऊपर लिखे तथ्यो से स्पष्ट है कि गाधीवाद तथा साम्यवाद एक ही चीज नही, दोनो मे पर्याप्त अन्तर है।

गाधीवाद की सबसे बडी देन उसकी नैतिक अपील है। राजनीति केवल आर्थिक तथा राजनीतिक तथ्यो का संग्रह ही नही होनी चाहिए और न ही राष्ट्रो का जीवन केवल इन तथ्यो से प्रभावित होना चाहिए। नैतिक नियमो की उपस्थिति जिस प्रकार वैयक्तिक जीवन मे आवश्यक है उसी प्रकार सामूहिक जीवन मे भी उन्हें लागू करना चाहिए। सदाचरण के सिद्धान्त केवल व्यक्ति के आचरण के लिए ही नही, सरकारो तथा राज्यो को भी उनके अनुसार चलना चाहिए। आज के युद्ध के भय से भयभीत विश्व मे केवल नैतिक नियम ही हमे बचा सकते हैं, अन्यथा राष्ट्रो का आपस का अविश्वास किसी भी क्षण विश्व को युद्ध की आग मे झोक सकता है।

गाधी जी के अनेक आदर्श अव्यावहारिक हो सकते हैं। उन्होने मनुष्य के स्वभाव के उज्ज्वल रूप को ही अधिक देखा और उसी को अधिक महत्त्व दिया। उन्होने अहिंसा-प्रधान जिस आदर्श राज्य की कल्पना की है, वह बहुत-कुछ अयथार्थ है। परन्तु उनका कथन कि राजनीतिक बुराइयो का, अन्याय तथा शोषण का, शान्ति-पूर्ण नैतिक साधनो से भी विरोध हो सकता है, काफी हद तक सही है। उनका यह-विश्वास भी बिलकुल ठीक है कि साध्य तथा साधन मे समानता होनी चाहिए। उच्च उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए उच्च साधनो का प्रयोग आवश्यक है। व्यावहारिक राजनीति मे हमे सदाचरण के नियमो को अपनाना ही होगा, तभी मानव-समाज मे शान्तिपूर्ण परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं।

Important Questions

		Reference
1	Write a short essay on Gandhism. *(Pb. 1956)*	Arts 183, 185 and 186
2	Write an essay on the Political theory of Mahatma Gandhi *(Pb 1954)*	Arts 183, 185 and 186
3	Make a comparative study of Communism and Gandhism	Art 187

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन
(INTERNATIONAL ORGANISATIONS)

१८८ राज्यों का पारस्परिक सम्बन्ध

राज्यों की अबाध प्रभुता (Unlimited Sovereignty) कानून की दृष्टि मे चाहे एक परम सत्य हो परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह अर्द्ध सत्य ही है। कोई भी राज्य अपने आप में पूर्ण नही, राज्य मनुष्यों का सगठन है, और कोई भी मानवीय सगठन अपने आप मे पूर्ण नही हो सकता। उनके पारस्परिक सम्बन्ध स्वाभाविक हैं। प्राचीन यूनानी विचारको का अथवा हीगल इत्यादि आदर्शवादी विचारको का यह मन्तव्य कि प्रत्येक राज्य अपने आप मे एक 'पूर्ण समाज' है बिलकुल गलत है। उस जमाने में भी जबकि यातायात के साधनो (Means of communication) का विकास नही हो पाया था और राज्यो के आकार भी छोटे थे तब भी राज्यों मे पारस्परिक सम्बन्ध थे, और वे एक दूसरे पर आश्रित रहते थे। वर्तमान युग की वैज्ञानिक उन्नति ने विश्व के राज्यो को एक दूसरे के बहुत निकट ला दिया है। रेल, तार, रेडियो तथा हवाई जहाज इत्यादि क्रान्तिकारी आविष्कारो ने विश्व की आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो मे मौलिक परिवर्तन कर दिए हैं। कोई राज्य आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर नही हो सकता।

वर्तमान युग मे विज्ञान का प्रयोग युद्ध-कला के विकास के लिए भी किया गया है। फलत ऐसे-ऐसे खतरनाक तथा विनाशकारी शस्त्रो का विकास किया गया है कि जो सम्पूर्ण मानवता के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। पिछले दो विश्व-युद्धो से यह साबित हो गया है कि एक तो कोई भी राज्य युद्धो के प्रभाव से अछूता नही रहता और दूसरा, इनमे अपार सम्पत्ति तथा जीवन का विनाश होता है।

राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो मे तनाव उत्पन्न हो जाना या उनमे झगडो का पैदा हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। प्रारम्भ से ही यह महसूस किया जाता रहा है कि झगडो का निपटारा आपस के विचार-विनिमय इत्यादि शान्तिपूर्ण साधनो से होना चाहिए। शुरू शुरू मे तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला हिसाब चलता रहा और निबल राज्यो को सदा ही पराजित होना पडा। उन्नीसवी सदी की समाप्ति के अनन्तर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे इस असूल के प्रचलन का मतलब था—विश्व युद्ध का छिडना।

इस प्रकार मौजूदा जमाने मे राज्यो के पारस्परिक झगडो के सुलझाव के लिए और कमजोर राज्यो की रक्षा तथा उन्नति के लिए राज्यो के अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के निर्माण की आवश्यकता को अनुभव किया।

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान मे जब सयुक्त राज्य अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध

युद्ध-घोषणा की तो उस समय अमेरिका के आदर्शवादी राष्ट्रपति विल्सन ने प्रजातन्त्र की सुरक्षा तथा विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के निर्माण की योजना रखी। राष्ट्रपति विल्सन का विचार था कि विश्व को युद्धो के भय से छुटकारा दिलाने के लिए युद्ध की समाप्ति के अनन्तर एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का निर्माण किया जाना चाहिए। राष्ट्रपति विल्सन की इस शान्ति-योजना का सभी जगह स्वागत किया गया।

अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन के इस प्रयत्न से पूर्व भी लगभग २०० ऐसे असफल प्रयास किए गए कि जिनका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सगठन कायम करना था। समय-समय पर अनेक राजनीतिक विचारको ने विश्व-शान्ति के उद्देश्य को अपने सामने रख अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की योजनाएँ पेश की। इस प्रकार हेग कॉन्फ्रेन्स (The Hague Conference) तथा 'हॉली अलायन्स' (Holy Alliance) इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन भी कायम किए गए, इन्हे अपने-अपने क्षेत्र मे थोडी-बहुत सफलता भी प्राप्त हुई, परन्तु अनेक कारणो से ये सगठन अधिक सफलता प्राप्त न कर सके। 'हॉली अलायन्स' के सदस्य तो यूरोप के प्रतिक्रियावादी राज्य थे जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय भावनाओ तथा प्रजातन्त्रवादी आन्दोलनो को दबाना था। 'हेग अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स' का परिणाम पंच न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना था।

१८९. राष्ट्र-सघ (The League of Nations)

ऊपर हमने सक्षेप से अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास को प्रदर्शित किया है। हमने ऊपर लिखा है कि किस प्रकार प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान मे राज्यों के आपसी झगड़ो के निपटारे के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के सगठन की माँग जोर पकड रही थी। अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन ने इस माँग को मूर्त रूप देने का निश्चय किया। अतः प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर वर्साई की शान्ति-सन्धि के साथ ही राष्ट्र-सघ (The League of Nations) के सगठन के आधारभूत नियमो (Covenent) पर भी हस्ताक्षर किए गए। राष्ट्र-सघ की स्थापना को अन्तर्राष्ट्रीयता के इतिहास में एक महान् घटना के रूप मे याद किया जाता है। यह सगठन वास्तविक अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय था। इससे पूर्व के संगठनो मे न तो विश्व के सभी महाद्वीपो को और न विश्व की सभी जातियो को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ था। राष्ट्र-संघ मे पाँचों महाद्वीपो को तथा संसार की गोरी तथा रगीन सभी जातियो को प्रतिनिधित्व दिया गया।

संघ के सविधान में इसके आधारभूत उद्देश्यो को इस प्रकार रखा गया—

(१) अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में आपसी सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा शान्ति व सुरक्षा की स्थापना करना।

(२) हथियारों में कमी करना।

(३) युद्धो को रोकना तथा राज्यों के आपसी झगड़ों का शान्तिपूर्ण साधनों से निपटारा करना।

इन प्रमुख उद्देश्यो के अतिरिक्त राष्ट्र-सघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास, राज्यो मे पारस्परिक सम्बन्धो मे न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो के प्रति आदर-भावना का तथा राज्यो मे खुले सम्बन्धो के विकास को भी अपना उद्देश्य माना।

प्रारम्भ मे राष्ट्र-सघ के सदस्यो की सख्या २७ थी, बाद मे धीरे-धीरे यह सख्या ५६ तक जा पहुँची। जर्मनी तथा रूस को प्रारम्भ मे राष्ट्र-सघ की सदस्यता प्राप्त नही थी, परन्तु बाद मे इन दोनो राज्यो को भी सदस्य बना लिया गया। सयुक्त राज्य अमेरिका अवश्य ही राष्ट्र-सघ से बाहर रहा।

राष्ट्र-सघ का सगठन (The Organisation of the League of Nations) राष्ट्र-सघ का सगठन एक सरकार के सगठन की तरह था। सरकार के तीन अगो की तरह राष्ट्र-सघ के भी तीन अग थे। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) असेम्बली (The Assembly),
(२) कौंसिल (The Council),
(३) स्थायी कार्यालय (The Secretariat)।

इन प्रमुख अगो के अतिरिक्त राष्ट्र-सघ का अपना न्यायालय भी था जिसका सगठन 'स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय' (The Permanent Court of International Justice) के रूप मे किया गया था। नीचे हम इनके सगठन का विवरण देंगे।

असेम्बली (The Assembly)—असेम्बली एक प्रकार के सघ की विधान-पालिका थी, और वह लगभग वही कार्य पूर्ण करती थी जो कि एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य मे विधानपालिका करती है। असेम्बली कानूनी दृष्टि से सघ का सर्वोच्च भाग थी। सभी सदस्य राज्यो को एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजने का अधिकार था। यह प्रतिनिधि मण्डल अधिक-से-अधिक तीन सदस्यो का हो सकता था। प्रत्येक सदस्य राज्य को एक से अधिक वोट देने का अधिकार नही था। असेम्बली का कोई भी निश्चय तब तक वैधानिक नही माना जाता था जब तक कि सभी राज्य उस पर सहमत न हो। राज्यो की वैधानिक प्रभुता को सम्मुख रखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि बहुमत द्वारा समर्थित कोई भी निश्चय अन्य राज्यो पर लागू न किया जाय।

दो-तिहाई सदस्यों की अनुमति से नये राज्यो को सदस्य बनाया जा सकता था। सभी राज्य अपनी इच्छानुसार सघ की सदस्यता का त्याग कर सकते थे।

असेम्बली का एक साल मे एक ही अधिवेशन बुलाने की व्यवस्था थी, परन्तु आवश्यकता पडने पर और कुछ निश्चित सदस्यो की प्रार्थना पर असेम्बली के विशेष अधिवेशन की व्यवस्था की जा सकती थी।

(२) **कौंसिल** (The Council)—कौंसिल राष्ट्र-सघ की कार्यकारिणी थी। असेम्बली मे सदस्यो की काफी बडी सख्या थी, किसी भी सकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए असेम्बली का अधिवेशन बुलाना कठिन था। साथ ही इतनी बडी सख्या वाली सस्था का प्रत्येक स्थिति मे काम कर सकना और शीघ्र ही किसी निश्चय पर पहुँच सकना मुश्किल था। अत एक निश्चित सख्या वाली इस छोटी सस्था

की रचना की गई। शुरू-शुरू मे कौंसिल के सदस्यों की कुल सख्या आठ थी। इन आठ मे से चार तो स्थायी सदस्य (Permanent members) थे और चार अस्थायी। चार स्थायी सदस्यो मे इंग्लैण्ड, फ्रास, इटली तथा जापान थे। अस्थायी सदस्यो का चुनाव प्रत्येक वर्ष असेम्वली द्वारा किया जाता था। कौंसिल उन सभी मामलों पर विचार करती थी जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते थे और जिनका सम्वन्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा से होता था।

प्रारम्भ मे कौंसिल ने अनेक महत्त्वपूर्ण मामलो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू किया और विश्व मे शान्ति कायम रखने मे सहायता की।

सन् १६२६ मे कौंसिल के सदस्यो की सख्या वढा दी गई, स्थायी सदस्यों की सख्या चार से वढाकर पाँच कर दी गई, पाँचवा स्थायी सदस्य जर्मनी वना।

कौंसिल का प्रत्येक सप्ताह एक अधिवेशन होता था, परन्तु सकटकालीन स्थिति पर विचार करने के लिए कौंसिल का अधिवेशन किसी भी समय वुलाया जा सकता था।

(३) स्थायी कार्यालय (The Secretariat)—राष्ट्र-सघ के प्रशासकीय कारोबार की देखभाल के लिए सेक्रेटरी जनरल के अधीन एक स्थायी कार्यालय की व्यवस्था की गई थी। राष्ट्र-सघ का प्रमुख कार्यालय जिनेवा मे था। महामन्त्री (Secretary General) का चुनाव असेम्वली करती थी, वही प्रधान कार्यालय की देखभाल करता था। प्रधान कार्यालय की व्यवस्था पर जो खर्च आता था उसे राष्ट्र-सघ के सभी सदस्य-राज्य आपस मे वाँट लेते थे।

प्रधान कार्यालय मे प्रत्येक राज्य के नागरिक कर्मचारी भर्ती किए जाते थे। वस्तुत. इस अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का प्रधान कार्यालय सभी नसलो, धर्मों, भाषाओ और सस्कृतियो का प्रतिनिधित्व करता था।

स्थायी कार्यालय कौंसिल तथा असेम्वली की कार्यवाही का रिकार्ड रखता और विभिन्न राज्यो मे की गई पारस्परिक सन्धियो को प्रकाशित करता। स्थायी कार्यालय ही सूचना-केन्द्र था और अन्य राज्यो से एतद्विषयक पत्र-व्यवहार भी इसी कार्यालय द्वारा किया जाता था।

सघ के इन प्रधान सगठनो के अतिरिक्त दो अन्य प्रमुख अग भी थे। ये थे, (१) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The Permanent Court of International Justice), (२) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ (The International Labour Organisation)।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा मजदूर-सघ दोनो का सगठन सघ से स्वतन्त्र था और दोनो को ही स्वायत्त शासन प्राप्त था। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना संघ के शान्तिपूर्ण उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ही की गई थी। राज्यों के पारस्परिक झगड़ो का निपटारा पहले पंचायत-अदालतें करती थी, परन्तु उनके निश्चय की मान्यता राज्यों की स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित होती थी। सघ ने इस स्थिति मे कुछ परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया। सघ के समर्थकों की इच्छा थी कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निश्चय सभी राज्यो को मान्य हों और सघ इसके निश्चयों को लागू

करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले। सघ के सदस्य तथा अन्य राज्य आपसी झगडो के फैसले के लिए उन्हे न्यायालय के सम्मुख पेश करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो की तथा कानून की अधिकारपूर्ण व्याख्या भी यही सस्था करती थी। कभी-कभी सघ की असेम्वली तथा कौंसिल भी किसी कानूनी झगडे के निपटारे के लिए न्यायालय की सम्मति ले लेती थी।

न्यायालय के नौ न्यायाधीश तथा चार उप-न्यायाधीश थे। इनका चुनाव असेम्वली तथा कौंसिल दोनो ही करती थी। इस न्यायालय का प्रधान कार्यालय हेग (Hague) मे था।

मजदूरो के हितो तथा स्वार्थो की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सघ की स्थापना की गई। इस सघ मे लगभग सभी राज्यो के प्रतिनिधि मण्डल भाग लेते थे, ये प्रतिनिधि मण्डल मजदूर, मिल-मालिक तथा राज्य-सरकार तीनो के प्रतिनिधियो से मिलकर वनते थे। मजदूर सघ ने मजदूरो की स्थिति सुधारने मे तथा वच्चो और औरतो के हित-साधन मे विशेष प्रयत्न किए।

१९० राष्ट्र-संघ के कार्य का मूल्यांकन

राष्ट्र-सघ का निर्माण निश्चय ही मानवीय इतिहास मे एक महान् घटना थी। प्रथम वार विश्व के राज्यो ने मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए और आपसी झगडो के निपटारे के लिए एक ऐसे शक्तिशाली सगठन की स्थापना की। नि सन्देह राष्ट्र-सघ अपने गैर-राजनीतिक कार्यो मे पर्याप्त सफल रहा। राष्ट्र-सघ के अधीन मजदूरो की स्थिति के सुधार के लिए जिस मजदूर सघ की स्थापना की गई थी उसके सन्तोषजनक कार्य की सराहना सभी जगह की गई। यह संघ न केवल मजदूरो की स्थिति के विषय मे सूचना-केन्द्र ही था वल्कि इसने अनेक स्थानो पर मजदूरो के काम करने के घण्टो की सख्या भी घटवायी और उनके लिए दवा-दारू की व्यवस्था के प्रयत्न भी किए। इसी प्रकार सघ ने महामारियो तथा वाढ इत्यादि प्राकृतिक सकटो से ग्रस्त लोगो की सहायता के भी प्रशसनीय प्रयत्न किए। सभी सदस्य राज्यो के सहयोग से सघ ने अफीम के निषिद्ध व्यापार की भी रोक-थाम की।

प्रारम्भ मे सघ ने हगरी, आस्ट्रिया तथा ग्रीस की आर्थिक सहायता की और इन देशो की अर्थ-व्यवस्था की पुनर्स्थापना के अनेक प्रशसनीय प्रयत्न किए। युद्ध के दौरान में निराश्रित हुए विभिन्न राज्यो के नागरिको की सहायता के लिए भी सघ ने काफी प्रयत्न किए।

राजनीतिक क्षेत्र मे राष्ट्र-सघ अधिक सफलता प्राप्त न कर सका। अवश्य ही राष्ट्र-सघ ने आलैण्ड द्वीपो (Aaland Islands) तथा अपरसिलेशिया (Upper-Silesia) के मामलों के निपटाने मे सफलता प्राप्त की। ग्रीस तथा बल्गारिया के झगडे का निपटारा कर दोनो मे युद्ध छिडने की सम्भावना को खत्म किया। परन्तु वडे राजनीतिक मामलो मे राष्ट्र-सघ कुछ न कर सका।

राष्ट्र-सघ का मुख्य कर्त्तव्य विश्व मे शान्ति-व्यवस्था वनाए रखना और युद्ध

की सभी सम्भावनाओ को खत्म करना था। एतदर्थ राष्ट्र-सघ निशस्त्रीकरण (Disarmament) की योजनाएँ पेश कर सकता था और राज्यो को इन योजनाओ पर बहस करने के लिए आमन्त्रित कर सकता था। राष्ट्र-सघ ने ऐसा किया भी, परन्तु वह सफल न हो सका। वही राज्य जो सघ के अधिवेशन मे निशस्त्रीकरण की योजनाओ का समर्थन करते, गुप्त रूप से युद्ध की तैयारियाँ कर रहे थे। राष्ट्र-संघ की निशस्त्रीकरण की नीति मे उनका बिलकुल यकीन नही था। वे कहते कुछ और करते कुछ थे। बडे राष्ट्र, जिनके कन्धो पर राष्ट्र-सघ के सविधान को लागू करने का उत्तरदायित्व था, वे साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर उपनिवेश-स्थापना के लिए गुप्त सन्धियो को करने मे और गुटबन्दियाँ बनाने मे सलग्न थे।

जब कभी युद्ध की बुराई की गई और युद्ध को गैर-कानूनी करार दिया गया तो वह सघ मे नही बल्कि सघ से बाहर ही हुआ। केलोग-ब्रायण्ड समझौता (Kellog-Briand Pact) तथा लोकॉरनो सन्धियाँ (The Treaties of Locarno) इसका उदाहरण है। इन दोनो सन्धियो द्वारा कुछ राज्यो ने मिलकर पारस्परिक सम्बन्धो मे शान्ति-स्थापना के निश्चय की तथा युद्ध को गैर-कानूनी करार देने की घोषणाएँ की थी। इनसे राष्ट्र-सघ की महत्ता बढी नही, बल्कि घट गई।

राष्ट्र-सघ से यह आशा की जाती थी कि वह युद्धो को रोकने का एक शक्तिशाली यन्त्र होगा, परन्तु शुरू मे ही सघ ने इस विषय मे अपनी कमजोरी का परिचय दे दिया। १६२० मे पौलेण्ड ने विल्ना (Vilna) पर कब्जा कर लिया और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन किया, परन्तु राष्ट्र-संघ कुछ न कर सका। १६२३ मे इटली ने यूनान के कोर्फ्यू (Corfeu) द्वीप पर कब्जा कर लिया और इस बार भी राष्ट्र-संघ कुछ न कर सका।

जापान राष्ट्र-सघ के स्थायी तथा प्रमुख सदस्यो मे से था, परन्तु संघ के नियमो को भग कर जब १६३१ मे उसने मचूरिया पर आक्रमण किया तो राष्ट्र-सघ जापान के इस कार्य के लिए उसकी निन्दा का एक प्रस्ताव भी पास न कर सका। १६३७ मे जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया, इस बार चीन ने राष्ट्र-सघ की सहायता माँगी और जोरदार शब्दो मे जापान के विरुद्ध कार्यवाही करने की माँग की, परन्तु कुछ भी परिणाम न हुआ।

इधर जर्मनी मे हिटलर के उदय के अनन्तर धीरे-धीरे वर्साई की सधि शर्तो का उल्लघन किया जाने लगा, परन्तु राष्ट्र-सघ यह सब हैरानी से देखता रह गया।

राष्ट्र-संघ के दिवालियेपन का प्रदर्शन तो तब हुआ जब मुसोलिनी के इटली ने सभी अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को एक ओर रख, गरीब अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। अबीसीनिया का बादशाह अपने आप सघ के दरबार मे उपस्थित हुआ, उसने पश्चिमी राज्यो से सघ की शक्ति के प्रयोग की माँग की। प्रारम्भ मे कुछ हलचल हुई, यह कोशिश की गई कि इटली को दण्ड दिया जाय। इग्लैण्ड तथा फ्रांस की जनता अबीसीनिया के पक्ष मे थी और उसको इस प्रकार दिन-दहाडे लुटता हुआ नहीं देख सकती थी। सघ का अधिवेशन हुआ और इटली की आर्थिक नाकाबन्दी की योजना

बनायी गई। परन्तु फ्रास तथा इग्लैण्ड की सरकारो ने मुसोलिनी से गुप्त समझौता कर अबीसीनिया की स्वतन्त्रता को बेच दिया और इस प्रकार सघ की रही-सही साख पर भी पानी फेर दिया। इसके बाद तो सघ का इतिहास असफलताओं का इतिहास ही है। हिटलर ने मुसोलिनी की देखा-देखी पहले आस्ट्रिया और बाद मे चेकोस्लोवाकिया को जीत जर्मनी मे मिला लिया।

हाँ, जब रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण किया तो उस समय सघ ने अवश्य कुछ सरगर्मी दिखायी, परन्तु स्पेनिश गृह-युद्ध मे सघ हाथ पर हाथ रखकर ही बैठा रहा।

१९३१ मे जब जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया तब तक सघ समाप्त हो चुका था। द्वितीय विश्व-युद्ध के तूफान में सघ कब खत्म हो गया, किसी को मालूम ही नहीं पडा।

सघ की असफलता के कारण—राष्ट्र-सघ के सगठन के आन्दोलन के प्रारम्भ मे जो प्रेरणा थी वह उसकी स्थापना का आधार न बन सकी। राष्ट्र-सघ की स्थापना वर्साई की सन्धि का ही परिणाम थी, और वर्साई की सन्धि का आधार राजनीतिक द्वेष के अतिरिक्त बदले की भावना थी। वर्साई की सन्धि द्वारा विजित राष्ट्रो ने जर्मनी को पगु बनाने का प्रयत्न किया था, वे राष्ट्र-सघ को भी इसी व्यवस्था के बनाए रखने के लिए एक साधन के रूप मे इस्तेमाल करना चाहते थे। फ्रास तथा इग्लैण्ड का यही मन्तव्य रहा। परन्तु फ्रास तथा इग्लैण्ड दोनो ही इस विषय मे विभिन्न नीतियो का अनुसरण कर रहे थे। फ्रास वर्साई-सन्धि के परिणाम-स्वरूप स्थापित स्थिति को कायम रखना चाहता था और यूरोपीय महाद्वीप पर अपनी शक्ति को स्थापित करने के लिए वह राष्ट्र-सघ का एक सामूहिक सैनिक-शक्ति के रूप में इस्तेमाल करना चाहता था। ग्रेट ब्रिटेन यूरोपीय महाद्वीप पर शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) के लिए जर्मनी के पुनर्संगठन का समर्थक था।

पूर्व में सोवियत सघ की स्थापना ने फ्रास तथा इग्लैण्ड दोनो की विदेश-नीतियों को बदल दिया। साम्यवाद के भय ने फ्रास तथा ग्रेट ब्रिटेन दोनो को उस जर्मनी का पोषक और समर्थक बना दिया जो कि राष्ट्र-सघ का जन्मजात शत्रु था।

राष्ट्र-सघ की सबसे बडी कमजोरी उसकी अपनी स्थिति ही थी। राष्ट्र-सघ कोई नई तरह की सरकार नही थी, न ही इसे हम 'विश्व-सघ-राज्य' (World Federation) ही कह सकते थे। यह तो राज्यो का एक ऐसा ढीला सगठन था जिसमें प्रत्येक राज्य अपनी प्रभुता तथा स्वतन्त्रता का मालिक था। यह सघ वस्तुत राज्यो की वाद-विवाद सभा ही थी, क्योंकि इसे अपने निश्चयो को लागू करने का कोई अधिकार नही था, न ही इसके पास अपनी सैनिक-शक्ति और पुलिस-सगठन था। प्रत्येक राज्य अपने आन्तरिक तथा बाह्य मामलो मे पूर्ण स्वतन्त्र था।

सघ के सभी निश्चयो के लिए सभी सदस्यो की सहमति जरूरी थी। इसका अर्थ स्पष्ट है कि छोटे से छोटा राज्य भी बहुमत के निश्चय को खत्म कर सकता

था। साथ ही सघ की नीतियो का नियन्त्रण यूरोपीय शक्तियाँ कर रही थी, परन्तु इन यूरोपीय शक्तियो का प्रभाव विश्व-राजनीति मे घट चुका था। विश्व के दो वडे राष्ट्र, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस प्रारम्भ मे राष्ट्र-सघ से सम्वन्धित नही थे। इन दोनो राज्यो की अनुपस्थिति मे राष्ट्र-सघ को विश्व के राज्यो की प्रतिनिधि सस्था कैसे कहा जा सकता था ?

वडे राष्ट्रो की नीयत राष्ट्र-सघ के साथ नही थी, वे कहते कुछ और करते कुछ थे। वे एक ऐसी कूटनीति का अनुसरण कर रहे थे जोकि नये जमाने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थी। ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रास के अपने स्वार्थ टकराते थे, उन के उद्देश्य साम्राज्यवादी थे। वे अपने साम्राज्य को कायम रखने के लिए और अपने आर्थिक हितो को पूर्ण करने के लिए राष्ट्र-सघ के नियमो को एक ओर रख सकते थे, और ऐसा करते भी रहे।

प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर जिस आर्थिक राष्ट्रवाद तथा आर्थिक आत्म-निर्भरता का प्रचलन हुआ, उसने विश्व के राज्यो मे अविश्वास तथा विद्वेप को उत्पन्न किया।

इन सभी कारणो से यह महान् सस्था अपने उद्देश्यो की प्राप्ति मे असफल रही।

१६१. संयुक्त राष्ट्र-संघ (The United Nations Organisation)

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान मे एक वार फिर स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए एक सुदृढ अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। प्राय. सभी मित्र देशो मे जनता ने युद्ध के उद्देश्यो का स्पष्टीकरण माँगा और सर्वत्र यह माँग की गई कि यह युद्ध अन्तिम युद्ध होना चाहिए और भविष्य मे अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को निपटाने के लिए राष्ट्र-सघ से मजवूत किसी अन्य सस्था का सगठन किया जाना चाहिए।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने यह और भी अधिक जोरदार तरीके से सावित कर दिया कि युद्ध किसी भी समस्या का सुलझाव नही कर पाते और उससे पराजित तथा विजयी दोनो ही दलो का लगभग वरावर नुकसान होता है। युद्ध की भयकरता एटम वम इत्यादि सहारक शस्त्रो के तैयार हो जाने मे और भी अधिक वढ गई। यही कारण था कि अमेरिकन प्रेजीडैण्ट रूजवेल्ट ने अनेक वार राष्ट्र के नाम अपने सन्देशो मे युद्ध पर रोक लगाने तथा स्थायी शान्ति की स्थापना की माँग को दोहराया।

१६४३ की मास्को कॉन्फ्रेन्स मे सर्वप्रथम सयुक्त-राष्ट्र के सगठन पर सरकारी तौर पर वातचीत की गई। इस कॉन्फ्रेन्स मे उपस्थित चारो राष्ट्रो ने सयुक्त-राष्ट्र की स्थापना के लिए प्रयत्न करने का निश्चय किया।

सितम्वर, १६४० मे ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य तथा सोवियत रूस के प्रतिनिधि अमेरिका के डम्वार्टन ओक्स (Dumbarton Oaks) नामक स्थान पर

एकत्रित हुए और यहाँ उन्होंने सयुक्त राष्ट्र के सगठन की पूर्ण योजना तैयार की। यही उन्होने सुरक्षा परिषद् (The Security Council) के सगठन का आयोजन किया और साथ ही यह स्वीकार किया कि सुरक्षा-परिषद् की मांग पर सभी राज्यो को अपनी सेनाएँ उसके अधीन कर देनी होंगी। यह उनका सुरक्षा परिषद् के प्रति एक आवश्यक कर्त्तव्य होगा।

डम्बार्टन ओक्स योजना पर सभी मित्र राष्ट्रो मे पर्याप्त बहस हुई। सभी जगह उस पर वाद-विवाद किए गए। रेडियो तथा समाचार-पत्रो द्वारा उनका प्रचार तथा प्रकाशन किया गया। इधर क्रीमिया मे स्थित याल्टा नगर मे स्टालिन, रूजवेल्ट तथा चर्चिल ने मिलकर सुरक्षा-परिषद् की मतदान-व्यवस्था का निर्णय कर अमेरिकन नगर सान-फ्रॉन्सिस्को (San-Francisco) मे संयुक्त-राष्ट्र के अधिवेशन की व्यवस्था की। अप्रैल, १९४५ मे उपर्युक्त योजनाओ के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना के लिए सयुक्त राष्ट्रो का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। पचास राज्यो के प्रतिनिधियो ने लगभग दो मास तक इस अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के सगठन पर विचार विनिमय किया। अन्त मे २६ जून को सयुक्त राष्ट्र-सघ के चार्टर को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया। तदनन्तर ग्रेट ब्रिटेन, फास, सयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, सोवियत रूस तथा अन्य राज्य-सरकारो द्वारा औपचारिक रूप से चार्टर के स्वीकार किए जाने पर सयुक्त राष्ट्र-सघ की स्थापना कर दी गई।

प्रारम्भ मे सयुक्त राष्ट्र-सघ के सदस्यो की सख्या ५१ थी। अब तक वह लगभग ६० से ऊपर पहुँच गई है। सयुक्त राष्ट्र के नियमो का अनुसरण करने के इच्छुक सभी शान्तिप्रिय राज्य इसके सदस्य बन सकते हैं। सदस्यता के लिए की गई प्रार्थना पर सुरक्षा परिषद् विचार करती है और उसी की सिफारिश पर जनरल असेम्बली सदस्यता की स्वीकृति देती है।

सयुक्त राष्ट्र-सघ के उद्देश्य—सयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यो की व्याख्या इसके चार्टर की प्रथम धारा मे ही की गई है, वह इस प्रकार है—

(१) शान्ति तथा सुरक्षा को कायम रखना। एतदर्थ आक्रामक कार्यवाही की रोक-थाम के लिए 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective Security) के साधन का प्रयोग सम्भव है। झगडे के निपटाने के लिए शान्तिपूर्ण साधनो को इस्तेमाल किया जाएगा।

(२) ऐसे मित्रतापूर्ण सम्बन्धो का विकास करना जिनका आधार राष्ट्रो के समान अधिकार तथा आत्म-निर्णय का अधिकार हो।

(३) आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक तथा मानवीय समस्याओ के सुलझाव मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग-भावना का विकास करना, तथा मानवीय अधिकार (Human Rights) और मौलिक स्वतन्त्रताओ (Fundamental Freedoms) की प्राप्ति का प्रयत्न करना।

(४) एतद्विषयक सामान्य उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किए जा रहे विभिन्न राज्यो के प्रयत्नो मे ताल-मेल उत्पन्न करने के लिए सयुक्तराष्ट्र से एक

प्रमुख केन्द्र के रूप मे कार्य करना।

सयुक्त राष्ट्र-संघ के चार्टर की दूसरी धारा द्वारा कभी सदस्य राज्य-प्रतिज्ञा करते है कि वे पारस्परिक झगडो के सुलझाव के लिए शान्तिपूर्ण साधनो का प्रयोग करेंगे और अन्य राज्यो के प्रति शक्ति का प्रयोग नही करेंगे और सयुक्त राष्ट्र के निश्चयो को लागू करने के लिए उसकी प्रत्येक प्रकार से सहायता करेंगे। इसके साथ ही सभी सदस्य राज्यो की कानूनी समता तथा असीम प्रभुता के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया है। यह भी स्वीकार किया गया कि सयुक्त राष्ट्र-सघ राज्यो के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप नही करेगा।

संयुक्त राष्ट्र-सघ के विभिन्न अग--राष्ट्र-संघ की तरह सयुक्त राष्ट्र-सघ का सगठन भी एक सरकार की तरह किया गया है। इसके प्रमुख अंगो मे (१) जनरल असेम्बली (The General Assembly), (२) सुरक्षा परिषद् (The Security Council), (३) कार्यालय (Secretariat) आ जाते है।

इनके अतिरिक्त सयुक्त राष्ट्र-सघ के अनेक साधारण अग भी हैं जिनका विवेचन हम यथास्थान करेंगे। यहाँ हम सर्वप्रथम सघ के प्रमुख अगो के सगठन का विवरण देंगे।

(१) जनरल असेम्बली (The General Assembly)—जनरल सयुक्त राष्ट्र-सघ का सर्वप्रमुख भाग है। जनरल असेम्बली (साधारण सभा) का निर्माण उन सभी राज्यो से मिलकर हुआ है जो सयुक्त राष्ट्र-सघ के सदस्य हैं। सभी सदस्य-राज्यो को पाँच प्रतिनिधियो का एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजने का अधिकार है, परन्तु हरेक राज्य एक ही वोट देने का अधिकारी है, एक से अधिक नही। परिणामस्वरूप सयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य एक समान हैं और छोटे-बडे सभी राज्यो को जनरल असेम्बली मे एक समान अधिकार प्राप्त हैं।

जनरल असेम्बली के कार्य चलाने के नियम असेम्बली स्वय बनाती है, परन्तु महत्त्वपूर्ण मामलो पर निश्चय करने की व्यवस्था का विवरण सयुक्त राष्ट्र के चार्टर (सविधान) मे मिल जाता है। सयुक्त राष्ट्र-सघ ने राष्ट्र-सघ की उस व्यवस्था का अनुसरण नही किया जिसके अनुसार असेम्बली मे किए जाने वाले सभी निश्चयो के लिए सभी सदस्यो की सहमति अनिवार्य थी। सयुक्त राष्ट्र-सघ की जनरल असेम्बली मे अधिकाश निश्चय सदस्यो के बहुमत से होते हैं। हाँ, सयुक्त राष्ट्र-सघ मे ऐसी व्यवस्था अवश्य की गई है कि जिसके अधीन कुछ महत्त्वपूर्ण विषयो पर केवल दो तिहाई बहुमत से ही फैसले हो सकते हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयो की परिगणना चार्टर मे कर दी गई है। इन महत्त्वपूर्ण विषयो की सख्या जनरल असेम्बली स्वय भी बढा सकती है।

जनरल असेम्बली का अधिवेशन प्रति वर्ष सितम्बर मे होता है। प्रत्येक वर्ष इस के सदस्य-राज्य एक प्रधान का निर्वाचन करते हैं जो असेम्बली के अधिवेशनो का सभापतित्व करता है। वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त असेम्बली के सकटकालीन

अधिवेशन भी हो सकते हैं। सकटकालीन अधिवेशन की मांग कोई भी राज्य सेक्रेटरी जनरल से आवेदन-पत्र द्वारा कर सकता है। सेक्रेटरी जनरल इस आवेदन-पत्र को अन्य राज्यो के पास भेजता है, वहुमत की स्वीकृति से अधिवेशन वुलाया जा सकता है।

जनरल असेम्वली के अनेक प्रकार के कर्तव्य हैं। इसमे सन्देह नही कि असेम्वली मुख्य रूप से एक विवेचनात्मक सभा है तथापि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए यह सुरक्षा परिषद् को किसी भी प्रकार की विशेष कार्यवाही करने का आदेश दे सकती है। असेम्वली सुरक्षा परिषद् के छ अस्थायी सदस्यो का दो साल के लिए निर्वाचन करती है। आर्थिक व सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council), ट्रस्टीशिप कौंसिल, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय इत्यादि के सदस्यो के चुनाव मे भी असेम्वली विशेष हिस्सा लेती है। सयुक्त राष्ट्र-सघ के जनरल सेक्रेटरी का चुनाव भी असेम्वली द्वारा ही होता है।

सयुक्त राष्ट्र-सघ के विशिष्ट कर्त्तव्यो की पूर्ति के लिए असेम्वली अनेक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ की स्थापना करती है, उनके अधिकार निश्चित करती है और उनके कार्य की देखभाल करती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विकास तथा सग्रहकरण (Codification) के लिए और मौलिक मानवीय अधिकारो की अनुभूति के लिए असेम्वली विशेष प्रयत्न करती है।

(२) **सुरक्षा परिषद्** (The Security Council)—सघ का सव से शक्तिशाली भाग सुरक्षा परिषद् है। सुरक्षा परिषद् सयुक्त राष्ट्र की कार्यपालिका समझी जा सकती है, क्योकि जनरल असेम्वली के निश्चयो को लागू करने की जिम्मेदारी इसी पर है। प्रत्येक सदस्य-राज्य का यह कर्तव्य है कि वह सुरक्षा परिषद् के निश्चयो तथा आदेशो का पालन करे।

जनरल असेम्वली की अपेक्षा सुरक्षा परिषद् के सदस्यो की सख्या थोडी है और वह निश्चित तथा मर्यादित है। सुरक्षा परिषद् के कुल ११ सदस्य हैं, इनमे से पाँच स्थायी सदस्य हैं और शेष छ अस्थायी सदस्य, जिनका चुनाव सयुक्त राष्ट्र की जनरल असेम्वली करती है। स्थायी सदस्यो मे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास, सयुक्त राज्य अमेरिका चीन तथा सोवियत रूस हैं। अस्थायी सदस्यो का निर्वाचन दो साल के लिए किया जाता है। दो साल की अवधि समाप्त होने पर जव नए चुनाव होते हैं तो अवकाश-प्राप्त सदस्य-राज्य १ वर्ष के लिए दुबारा चुनाव नही लड सकते।

विश्व मे शान्ति तथा व्यवस्था वनाए रखने की मुख्य जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद् पर है। यही कारण है कि सुरक्षा परिषद् का अधिवेशन किसी भी समय वुलाया जा सकता है। सुरक्षा परिषद् के सदस्य-राज्यो को अपना एक प्रतिनिधि स्थायी रूप से परिषद् के प्रधान कार्यालय पर रखना पडता है।

सुरक्षा परिषद् अपने निश्चय कैसे करे? काफी समय तक यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त वना रहा है और आज भी जो व्यवस्था प्रचलित है वह सन्तोषजनक नही समझी जाती। यह कहा जाता है कि विश्व मे शान्ति-सुरक्षा स्थापित करने की जिम्मेदारी

मुख्य रूप से वडे राष्ट्रो पर है, अत सुरक्षा परिषद् द्वारा किए जाने वाले निर्णयो पर उनकी स्वीकृति की मोहर अवश्य लगनी चाहिए। सभी राज्यो की स्वीकृति वाली पुरानी व्यवस्था अव्यावहारिक समझी गई। परिषद् के निश्चयो को लागू करने के लिए वल-प्रयोग की सम्भावना भी मानी गई, ऐसी हालत मे सम्भव है परिषद् के सभी सदस्य सहमत न हो सके, अत किसी अन्य व्यवस्था की खोज की गई। 'याल्टा कॉन्फ्रेन्स' के निश्चय के अनुसार पाँच वडे राज्यो (Great Powers) को वीटो (Veto) का अधिकार दिया गया। इस व्यवस्था के अनुसार ससार मे अमन तथा कानून कायम रखने तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयो पर निश्चय करने के लिए पाँच वडो का सहमत होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दो मे इन मामलो पर सुरक्षा परिषद् तव तक कोई फैसला नही कर सकती जव तक कि सभी वडे राज्य—रूस, चीन, ब्रिटेन, फ्रास तथा सयुक्त राज्य अमेरिका—सहमत न हो। अगर एक भी राज्य असहमत हो तो वहुमत द्वारा किया गया फैसला भी रद्द हो सकता है। हाँ, जव कभी कोई स्थायी सदस्य उस झगड़े से सम्वन्धित होता है जिस पर कि सुरक्षा परिषद् विचार कर रही होती है तो उस समय वह राज्य अपने वोट का प्रयोग नही करता।

सुरक्षा परिषद् की इस मतदान व्यवस्था (Voting System) की कडी आलोचना की जाती है, क्योकि इस द्वारा कोई भी वडा राज्य किसी भी ऐसे छोटे राज्य के अनैतिक तथा गैर कानूनी कार्य को क्षमा कर सकता है जिससे कि उसको लाभ पहुँचता हो। अनेक वार छोटे राज्य वडे राज्यो के उकसाने पर ऐसे कार्य कर सकते हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध हो। ऐसी अवस्था मे सुरक्षा परिषद् अगर उनके विरुद्ध कोई निर्णय करे तो वडे राज्य उसको वीटो द्वारा रद्द कर सकते हैं।

सुरक्षा परिषद् के निश्चयो के लिए सात सदस्यो की स्वीकृति आवश्यक है, इनमे पाँच वडे राज्य भी शामिल होने चाहिएँ।

जैसा कि हम पीछे ही लिख आए हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा व्यवस्था वनाए रखने की जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद् पर है, अत एतद्विषयक सम्पूर्ण कार्यवाही सुरक्षा परिषद् द्वारा की जाती है। सयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार सभी सदस्य-राज्यो का यह कर्तव्य है कि वे आपस के झगडो का निपटारा सुरक्षा परिषद् तथा जनरल असेम्वली की सहायता से करवाएँ। सुरक्षा परिषद् इन झगडो के निपटारे के लिए मध्यस्थ नियुक्त कर सकती है और अन्य प्रकार के शान्तिपूर्ण साधन भी सुझा सकती है। जव कभी कोई राज्य किसी अन्य राज्य पर आक्रमण करता है तो सुरक्षा परिषद् यदि उचित समझे तो उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही भी कर सकती है और इस विषय मे सदस्य राज्यो से सैनिक सहायता माँग सकती है। परिषद् नये सदस्यों की सहायता के लिए जनरल असेम्वली से सिफारिश करती है, आक्रमक राज्य के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही की व्यवस्था करने का अधिकार रखती है, किसी सदस्य राज्य को सयुक्त राष्ट्र की सदस्यता से वचित करने की सिफारिश कर सकती है, जनरल असेम्वली के विशेष अधिवेशन की व्यवस्था करती है तथा स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्यो के निर्वाचन मे भाग लेती है। इन महत्त्वपूर्ण कार्यो के अतिरिक्त

अणु-शक्ति के नियन्त्रण तथा ट्रस्टीशिप के मताहत प्रदेशों के राज-काज के देख-भाल की जिम्मेदारी भी सुरक्षा परिषद् पर है।

(३) **कार्यालय** (Secretariat)—संयुक्त राष्ट्र के प्रशासकीय कार्यों की देख-भाल कार्यालय द्वारा की जाती है। कार्यालय का अध्यक्ष सेक्रेटरी जनरल होता है। सेक्रेटरी जनरल का चुनाव सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर जनरल असेम्बली करती है। कार्यालय ही सुरक्षा परिषद्, जनरल असेम्बली तथा आर्थिक तथा सामाजिक कौंसिल इत्यादि की कार्यवाही का रिकार्ड रखता है। सेक्रेटरी जनरल इन सभी संस्थाओं के महामन्त्री के रूप मे कार्य करता है, वह इनके अधिवेशन बुलाता है और किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मामले की ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान खींच सकता है। जनरल सेक्रेटरी ही असेम्बली द्वारा निर्धारित नियमो के आधार पर कार्यालय के अन्य कर्मचारियो की नियुक्ति करता है।

कार्यालय के आठ विभाग हैं जिनके आठ उपाध्यक्ष हैं। इनमे प्रमुख विभाग इस प्रकार हैं—(१) सुरक्षा परिषद् विभाग (The Security Council affairs), (२) आर्थिक विभाग (Economic affairs), (३) सामाजिक विभाग (Social affairs), (४) ट्रस्टीशिप के मताहत प्रदेश के शासन की देखभाल करने वाला विभाग (Trusteeship and Information from-non-self governing territories), (५) सार्वजनिक सूचना विभाग (Public information), (६) वह विभाग जो संघ के अधीन संस्थाओं के अधिवेशन की व्यवस्था करता है (Conference and general service), (७) कानून विभाग (Legal affairs), (८) वित्तीय तथा प्रशासकीय विभाग (Administrative and financial services)।

संयुक्त राष्ट्र-संघ के दैनिक कार्य की सुचारुता बहुत कुछ कार्यालय के संगठन तथा सेक्रेटरी जनरल की प्रशासकीय योग्यता पर आश्रित है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त नीचे लिखी संस्थाओं की स्थापना की भी व्यवस्था करता है—

(१) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय** (The International Court of Justice)—हम पीछे देख चुके है कि राष्ट्र-संघ (The League of Nations) का विधान भी राज्यो के पारस्परिक झगडो के शान्तिपूर्ण सुलझाव के लिए एक न्यायालय की व्यवस्था करता था। संयुक्त राष्ट्र भी यह महसूस करते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिए तथा राज्यो के आपसी झगडो के शान्तिपूर्ण निर्णय के लिए वैसी ही एक न्याय व्यवस्था होनी चाहिए। वे पुराने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को जारी रखने के विरुद्ध थे। अत संयुक्त राष्ट्र-संघ (U N O) के चार्टर के अधीन एक नए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के कुल १५ न्यायाधीश हैं। इन्हे सुरक्षा परिषद तथा जनरल असेम्बली दोनो अलग-अलग बैठकर चुनती हैं। केवल वही व्यक्ति न्यायाधीश चुने जाते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विद्वान हो और जो सब प्रकार से निष्पक्षता तथा न्याय-भावना-पूर्ण हो। एक राज्य मे से एक से अधिक न्यायाधीश नही चुना जा

सकता। न्यायालय का मुख्य कार्यालय हेग मे है। न्यायालय का कोरम नौ न्यायाधीशो की उपस्थिति है, सभी निर्णय बहुमत से किए जाते हैं। न्यायालय का एक प्रधान होता है जिसे न्यायाधीश स्वयं चुनते हैं और जिसका कार्यकाल तीन वर्ष है।

सयुक्त राष्ट्र के सदस्यो का यह कर्त्तव्य है कि वे आपसी झगडो के निपटारे के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सहायता प्राप्त करें, परन्तु यह आवश्यक नही कि सभी झगडे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने ही पेश किए जाएँ। सभी राज्य प्रभु-सत्ता सम्पन्न (Sovereign) हैं, अत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपने निश्चयो को लागू करने के लिए बल-प्रयोग नही कर सकता। वह दोनो दलो की सहमति से ही किसी झगडे पर विचार कर सकता है। न्यायालय के सम्मुख तीन प्रकार के मामले पेश किए जा सकते हैं—

(१) सभी राज्यो का यह अधिकार है कि वे आपसी झगडो के लिए उन्हें न्यायालय के सम्मुख ले आएँ।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो, समझौतो ,तथा परम्परागत रीति-रिवाजो के विषय मे अगर कोई झगडा हो तो फैसले के लिए उन्हे न्यायालय के सम्मुख पेश किया जा सकता है।

(३) कुछ राज्य अगर यह मान ले कि उनके एक विशेष प्रकार के मामले कुछ समय के लिए न्यायालय के सम्मुख पेश हो सकते हैं तो वे पेश होते रहेगे।

इनके अतिरिक्त जनरल असेम्बली तथा सुरक्षा परिषद् दोनो ही किसी भी कानूनी मामले पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मत जान सकती हैं।

(२) **आर्थिक तथा सामाजिक कौंसिल** (The Economic and Social Council)—सयुक्त राष्ट्र के गैर राजनीतिक कर्त्तव्यो को पूरा करने के लिए इस सस्था का जन्म हुआ है। यह सस्था निम्नलिखित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए स्थापित की गई है—

(१) जन-सामान्य के रहन-सहन को ऊँचा उठाना, बेकारी दूर करना तथा आर्थिक व सामाजिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना।

(२) राज्यो की आर्थिक, सामाजिक तथा स्वास्थ्य और इनसे सम्बन्धित अन्य समस्याओ के सुलझाव का प्रयत्न करना। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सास्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी सहयोग की प्राप्ति।

(३) बिना जाति, लिंग, भाषा तथा धर्म इत्यादि के भेदभाव के मनुष्य-मात्र की मौलिक स्वतन्त्रताओ (Fundamental Freedoms) के प्रति सामान्य आदर-भाव को उत्पन्न करना।

इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र की इस सस्था का कार्य सास्कृतिक है, इसकी स्थापना मानव-समाज के सामान्य हित की प्राप्ति के लिए की गई है और इसका उद्देश्य युद्ध के आर्थिक तथा सास्कृतिक कारणो को दूर करना है।

कौंसिल ने अपने कार्य की सुविधा के लिए अपने आप को अलग-अलग

कमेटियो मे बाँट रखा है। ये कमेटियाँ विभिन्न विषयो पर अत्यन्त उपयोगी काय कर रही है।

कौंसिल के कुल १७ सदस्य है, इनका चुनाव असेम्बली करती है। साल मे तीन अधिवेशनो की व्यवस्था है, परन्तु विशेप अधिवेशन किसी भी समय किया जा सकता है।

इन सस्थाओ के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सघ (International Labour Organisation) भी सयुक्त राष्ट्र-सघ का एक स्वायत-सत्ता प्राप्त भाग है। हम पीछे देख चुके है कि मजदूर सघ राष्ट्र-सघ का भी एक प्रमुख भाग था। राष्ट्र-सघ तो द्वितीय युद्ध के दौरान मे खतम हो गया परन्तु मजदूर सघ बचा रहा। १९३९-४५ के अर्से के दौरान मे यह एक स्वतन्त्र सस्था के रूप मे कार्य करता रहा। १९४५ मे सयुक्त राष्ट्र-सघ के अधीन इसका पुन सगठन किया गया। इसका प्रधान कर्त्तव्य मजदूरो की आर्थिक तथा नैतिक स्थिति का सुधार है।

ट्रस्टीशिप कौंसिल (Trusteeship Council) की स्थापना उन प्रदेशो के प्रशासन के लिए की गई है जो कि अभी तक स्व-शासन के योग्य नही समझे जाते। इनमे से अनेक ऐसे प्रदेश है जिन्हे द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान मे शत्रु राज्यो से छीना गया है, कुछ प्रदेश स्वेच्छा से ट्रस्टीशिप के मताहत आ गए हैं।

सयुक्त राष्ट्र-सघ की शिक्षा, विज्ञान तथा सस्कृति परिपद् (United Nations, Educational, Scientific and Cultural Organisation), विश्व-स्वास्थ्य-सघ (World Health Organisation) और भोजन तथा कृषि-परिपद् (Food & Agriculture Organisation) इत्यादि अनेक सस्थाएँ है, जो सयुक्त राष्ट्र-सघ के अधीन गैर-राजनीतिक कार्य कर रही है।

१९२. सयक्त राष्ट्र-सघ का भविष्य

हमने पीछे देखा है कि किस प्रकार प्रथम विश्व-युद्ध के अनन्तर स्थापित राष्ट्र-सघ अपने कार्यकाल मे अनेक कारणो से कमजार हो अन्त मे नष्ट हो गया और अपने महान् उद्देश्यो की प्राप्ति मे असफल रहा। सयुक्त राष्ट्र-सघ अपनी प्रकृति मे राष्ट्र सघ से भिन्न नही, दोनो मे समानताएँ है। इसलिए यह प्रश्न स्वाभाविक है कि सयुक्त राष्ट्र-सघ का भविष्य क्या है ? सयुक्त राष्ट्र-सघ के हम इतने नजदीक हैं कि उसके कार्य का ठीक-ठीक मूल्याकन हमारे लिए सम्भव नही। निश्चय ही सयुक्त राष्ट्र अपने सगठन मे उन अनेक दोषो से मुक्त है जो कि राष्ट्र सघ मे मौजूद थे। सयुक्त राष्ट्र-सघ के विधान मे वास्तविकता है। यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि विश्व मे शान्ति-स्थापना की जिम्मेदारी बडे राष्ट्रो पर है, अत उन्हे विशेष स्थिति मे रखा जाना चाहिए। राष्ट्र-सघ मे ऐसा नहीं था।

सयुक्त राष्ट्र-सघ के अन्तर्गत सुरक्षा-परिषद् की विशेष स्थिति है। सुरक्षा-परिषद् एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के रूप मे कार्य कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून

की दृष्टि मे अपराधी राज्य को दण्ड देने के लिए सुरक्षा-परिषद् अनेक उपाय कर सकती है।

इन सबके बावजूद भी सयुक्त राष्ट्र सघ मे लगभग वे सभी दोष उपस्थित हैं जो राष्ट्र संघ मे भी थे और जो उसके पतन का कारण बने। सयुक्त राष्ट्र सघ-राष्ट्र सघ (League of Nations) की ही तरह प्रभुता सम्पन्न राज्यो का एक समुदाय मात्र है। सभी अपनी आन्तरिक तथा विदेशी नीतियो के निर्माण मे पूर्ण स्वतन्त्र हैं। उनके लिए यह जरूरी नही कि वे सयुक्त राष्ट्र के सभी निर्णयो को मानें। उनकी सदस्यता भी स्वेच्छा पर आधारित है, वे जब चाहे उसे छोड सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र के पास अपने निर्णयो को लागू करवाने के लिए कोई सेना या पुलिस नही। वह अगर बल प्रयोग करना चाहे तो उसे अपने सदस्य-राज्यो की सैनिक शक्ति पर ही आश्रित रहना पडता है। इस शक्ति का प्रयोग बडे राज्य छोटे राज्यो के विरुद्ध इस्तेमाल कर सकते है, किसी बडे राज्य के विरुद्ध नही। ऐसा करने पर युद्ध छिड जाने की सम्भावना रहती है।

सयुक्त राष्ट्र के प्रमुख सदस्यो मे गहरा मतभेद है, वे दो वडो मे बटे हुए है। सयुक्त राज्य अमेरिका पूँजीवादी और साम्राज्यवादी राज्यो का प्रतिनिधित्व करता है, रूस साम्यवादी राज्यो का। दोनो दलो मे पर्याप्त द्वेष तथा मनमुटाव है और दोनो दल एक दूसरे को पराजित करने तथा अपमानित करने की चिन्ता मे रहते हैं। अमेरिका अपने हितो की सुरक्षा के लिए रूस के चारो ओर युद्ध-स्थलो की रचना कर रहा है और अपने सैनिक शक्ति के केन्द्र बना रहा है। सयुक्त राज्य सम्पूर्ण विश्व मे युद्ध जैसी स्थिति को कायम किए हुए है, उसकी विदेशी नीति ऐसे राज्यो को सैनिक गुट-बन्दियाँ करने के लिए प्रोत्साहित कर रही है जो कि सभी तरह से पिछडे हुए हैं जो प्रतिक्रियावादी शासन व्यवस्थाओ के अधीन हैं।

यही कारण है कि सयुक्त राष्ट्र के सभी निश्चय दलगत भावनाओ से किए जाते है। न्याय तथा सच्चाई को एक ओर रख दिया जाता है। राज्यो के पारस्परिक व्यवहार मे नैतिकता का अभाव है। काश्मीर कोरिया इण्डोचायना से सम्बन्धित तथा दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो की स्थिति इत्यादि के विषय मे किए गए निश्चय इस बात के प्रमाण हैं।

सयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा-परिषद् का निर्माण सर्वथा अस्वाभाविक है, वह मौजूदा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का प्रतिनिधित्व नही करता। उसके स्थायी सदस्यो मे साम्राज्यवादी तथा प्रतिक्रियावादी राज्यो का बहुमत है। इग्लैण्ड तथा फ्रान्स दोनो साम्राज्यवादी राज्य है और द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर तो वे अमेरिका के पिछलग्गु बन गए हैं, उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र नीति नही रही। सुरक्षा-परिषद् मे चीन की जिस सरकार को प्रतिनिधित्व दिया गया है, उसका अस्तित्व इस समय फारमोसा के छोटे से द्वीप तक ही सीमित है, वह न तो चीन राज्य के प्रदेश पर ही अधिकार रखती है और न चीनी जनता ही उसे स्वीकार करती है। केवल सयुक्त राज्य अमेरिका की हठधर्मी के कारण चीन की साम्यवादी सरकार को इस महान अन्तर्राष्ट्रीय

सस्था मे स्थान नही मिल रहा । इससे सघ की स्थिति कमजोर ही हुई है, उसकी शक्ति वढी नही । साथ ही हमें यह भी याद रखना चाहिए कि सघ विश्व के सभी बडे राज्यो को प्रतिनिधित्व नही देता । अभी वहुत से ऐसे राज्य हैं जिन्हें सयुक्त राष्ट्र सघ मे शामिल ही नहीं किया गया । न ही सघ एशिया के नवजाग्रत महान् राज्य, जैसे— भारत, इण्डोनेशिया, वर्मा, मिश्र, लका इत्यादि को ही सुरक्षा-परिषद् मे कोई स्थान देता है । एशिया की जनता का प्रतिनिधित्व सयुक्त राष्ट्र की शक्तिशाली सभा सुरक्षा-परिषद् में च्याग की फारमोसा सरकार द्वारा ही किया जा रहा है । इस प्रकार की स्थिति सघ के लिए वहुत खतरनाक है ।

सुरक्षा-परिषद् के सम्पूर्ण नियमो के लिए पांच वडो की सहमति आवश्यक है. इस सहमति के विना कोई भी निर्णय मान्य नही समझा जाता । परन्तु रूस तथा अमेरिका मे जो भेदभाव है उस वजह से दोनो का किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर एकमत हो सकना असम्भव है ।

अनेक वार वडे राज्यो ने जान-बूझकर सयुक्त राष्ट्र की उपेक्षा की है । कोरिया तथा हिन्द चीन के सवाल पर हुई जिनेवा कॉन्फ्रेन्स, सयुक्त राष्ट्र के तत्वविधान मे नहीं हुई, इससे सयुक्त राष्ट्र को पर्याप्त हानि पहुँची । यही नही हाल ही मे स्वेज नहर के मामले पर हो रही लन्दन कॉन्फ्रेन्स भी सयुक्त राष्ट्र से वाहर हो रही है और इससे भी सयुक्तराष्ट्र की प्रतिष्ठा को वडा धक्का लगा है । इस प्रकार से जान-बूझकर की गई उपेक्षा सयुक्त राष्ट्र को कमजोर करती है ।

वडे राज्य पारस्परिक वैमनस्य के कारण किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सवाल पर एकमत नही हो पाते, न ही वे अपने स्वार्थों का त्याग करने को तैयार हैं । विश्व में नयी राष्ट्रीय शक्तियो का जागरण हो रहा है, परन्तु वे अभी तक उन्हे मान्यता प्रदान नही कर सके । उनका दृष्टिकोण पुराना प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है, उसमे अभी परिवर्तन नहीं हो पाया ।

फिर भी हम सयुक्त राष्ट्र की उपयोगिता से इनकार नही कर सकते । सयुक्त-राष्ट्र के मच से लोकमत का निर्माण किया जा सकता है । सयुक्तराष्ट्र को एक महान् नैतिक शक्ति के रूप मे अगर बडे राज्य नही तो छोटे राज्य अवश्य प्रयुक्त कर सकते हैं । सयुक्त राष्ट्र ही छोटे राज्यो को इकट्ठा होकर सोच-विचार का मौका देता है और उसी द्वारा वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकते हैं आज के विश्व मे सयुक्त-राष्ट्र ही मानव समाज की आशाओ का केन्द्र है ।

Important Questions

	Reference
1 What do you regard as the principal structual weakness in the U N O ? (*Pb 1955*)	
2 What are the principal organs of the U N O ? Discuss their composition and main functions (*Pb 1954*)	Arts No 191 and 192
3 Discuss the causes, which led to the down fall of the League of Nations	Art No 190

अनुक्रमणिका

स

ह

—+—

स

ह